उपाध्यायश्री यशोविजयजीकृत

अध्यात्मसार

(हिन्दी अनुवाद एवं विवेचना)

सम्पादक
डॉ. सागरमल जैन

अनुवाद एवं विवेचना
साध्वी डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री

प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)
पर उपलब्ध प्रकाशन

1. जैन दर्शन के नव तत्व
2. Peace and Religious Hormony
3. अहिंसा की प्रासंगिकता
4. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा
5. जैन गृहस्थ के षोडशसंस्कार
6. जैन मुनि जीवन के विधि–विधान
7. अनुभूति एवं दर्शन
8. जैन विधि–विधानों के साहित्य का बृहद् इतिहास
9. प्रतिष्ठा, शान्तिककर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान
10. प्रायश्चित, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि
11. जैन दर्शन में समत्व योग
12. जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा
13. जैनधर्म में ध्यान की ऐतिहासिक विकास यात्रा
14. प्राकृत और संस्कृत जैन साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा
15. उपदेश पुष्पमाला
16. सुक्तिरत्नावली
17. अध्यात्मसार
18. उपा. यशोविजयजी का अध्यात्मवाद
19. ऋषिभाषित का दार्शनिक अध्ययन
20. सागर जैन विद्या भारती भाग 1 से 7
21. जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म दशर्न के संदर्भ में भारतीय आचार शास्त्र – एक अध्ययन खण्ड 1 एवं 2

महावीर स्वामी

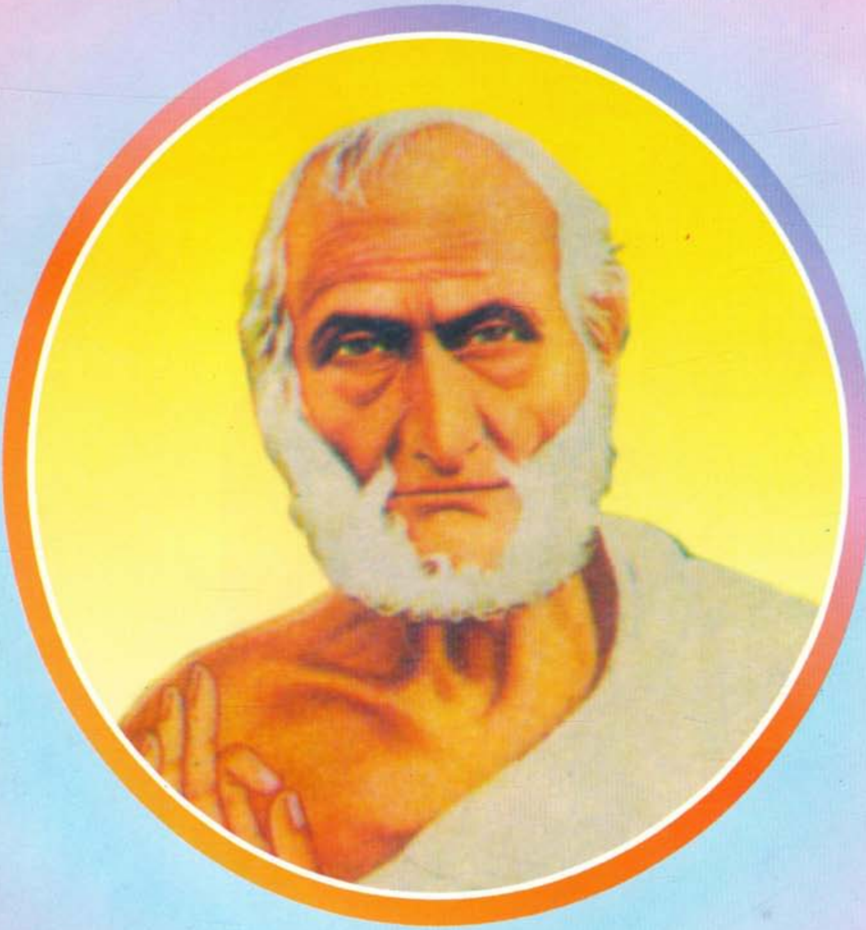

विश्वपूज्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

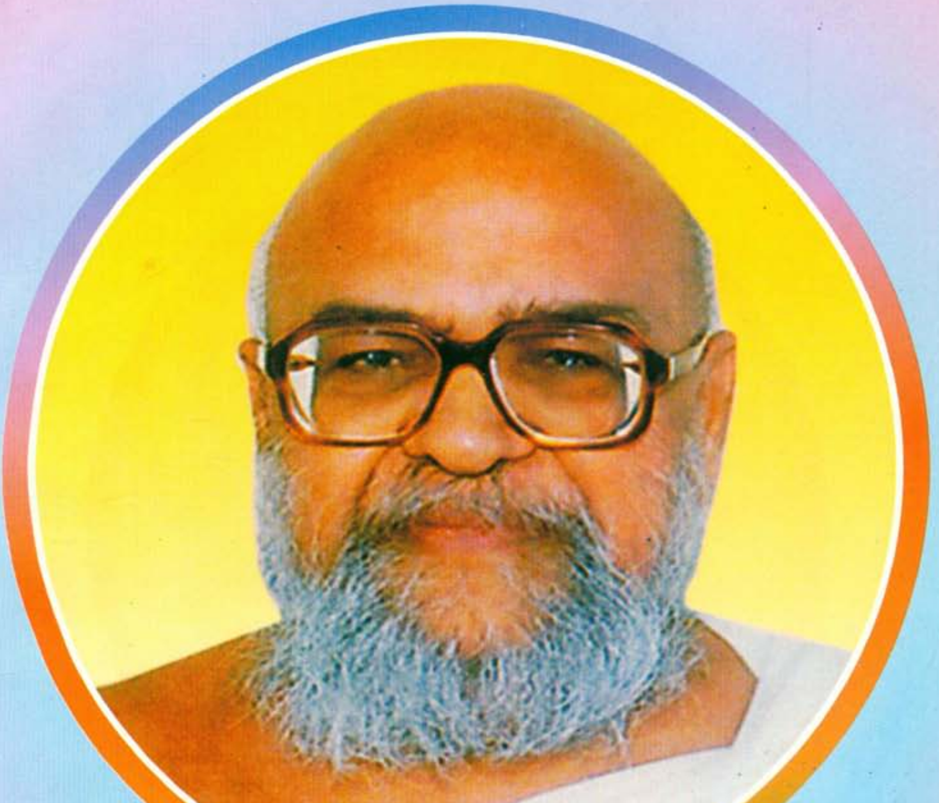

आ. श्री विजय जयन्तसेन सूरिजी म.सा.

समत्व साधिका परम पूज्य महाप्रभाश्रीजी म. सा.

उपाध्यायश्री यशोविजयजीकृत

अध्यात्मसार

(हिन्दी अनुवाद एवं विवेचना)

◈ **दिव्य आशीर्वाद** ◈

प.पू. विश्वपूज्य प्रातःस्मरणीय गुरुदेव श्रीमज्जैनाचार्य
श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.

◈ **आशीर्वाद** ◈

प.पू. राष्ट्रसंत आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.

◈ **दिव्य आशीर्वाद** ◈

पू. गुरुणीजी दादीजी म. सुसाध्वीश्री महाप्रभाश्रीजी म.सा.

◈ **आशीर्वाद** ◈

मालवमणि पू. सुसाध्वीश्री स्वयंप्रभाश्रीजी म.सा.

◈ **अनुवाद एवं विवेचना** ◈

साध्वी डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री

◈ **सम्पादक** ◈

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक

श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट

शेखनो पाड़ो, रिलीफ रोड, अहमदाबाद (गुज.)

अध्यात्मसार
(हिन्दी अनुवाद एवं विवेचना सहित)

अनुवाद एवं विवचेना -
साध्वी डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री

प्रकाशक -
श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट
शेखनो पाड़ो रिलीफ रोड, अहमदाबाद (गुज.)

प्राप्ति स्थान -
१. श्री राजराजेन्द्र तीर्थ दर्शन पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट
श्री जयन्तसेन म्युजियम, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ
राजगढ़, जिला-धार (म.प्र.)
२. श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मन्दिर
नयापुरा, उज्जैन (म.प्र.)
३. प्राच्य विद्यापीठ
दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)

अवतरण -
गुरु सप्तमी पर्व सं. २०६५
दिनांक ३ जनवरी २००९

मूल्य : रुपये ३५१/-

मुद्रक -
आकृति ऑफसेट
५, नईपेठ, उज्जैन (म.प्र.)
दूरभाष : ०७३४-२५६१७२०
मो. : ९८२७२-४२४८९, ९८२७६-७७७८०
Email : akratioffset@rediffmail.com

समर्पण

जिनके मुख पर तेज
और तेज से सौम्यता
जिनकी वाणी में ओज
और ओज में मधुरता
जिनके कार्य में शौर्य
और शौर्य में दक्षता
जिनके हृदय में वात्सल्य
और वात्सल्य में पवित्रता
जिनके जीवन में अध्यात्म
और अध्यात्म में सरलता
गुणों के सागर ओ'मधुकर !
कहूँ मैं कौन-सी विशेषता
आपके ही आशीर्वाद से
यह श्रुतधारा प्रवाहित हुई
आपकी ही कृपा से
यह कृति अनूदित हुई
कृतज्ञता के भाव हैं जितने
अभिव्यक्ति के शब्द न हैं उतने
तव चरणों में मेरा समर्पण
यह लघु प्रयास कर कमलों में अर्पण

परम श्रद्धेय परम पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में सश्रद्धा, सविनय, सादर, समर्पित

-साध्वी प्रीतिदर्शनाश्री

ममाशीर्वचनम्

साहित्य-सृजन की हमारी अपनी भारतीय परम्परा शताब्दियों से प्रवाहित है। सृजन परम्परा में जैन आचार्यों एवं श्रमणों का अपना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर उन सभी साहित्य सृजकों ने निश्चित रूप से बहुत बड़ा अभिवन्दनीय अवदान प्रदान किया है।

उन पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित बहुत सारा साहित्य प्रकाश में आने के बाद भी प्रकाशित से अधिक अप्रकाशित साहित्य सुरक्षित है, जिसकी सूची बहुत लम्बी हो सकती है।

उनके द्वारा अध्यात्म के साथ योग दर्शन पर जो लिखा गया है वह निश्चित अलौकिक है। जैनाचार्यों का चिन्तन विविध विधाओं को स्पर्श करते हुए अनेक विषयों का उद्घाटक रहा है।

इस प्रकार के ग्रन्थ लेखन करने वालों में जैसे ही आचार्य हरिभद्रसूरि, श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, श्री सिद्धसेन दिवाकरजी के नामोल्लेख करते हैं वैसे ही उपाध्याय यशोविजयजी का नाम स्मरण हो आता है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों पर अपना चिन्तन एवं लेखन करके सचमुच अध्यात्म को आत्मसात् करने जैसा अनुभव कराया है। उनके ग्रन्थों में अध्यात्म पर लिखे गये ग्रन्थ अपना प्रभुत्व रखते हैं।

उन्होंने अध्यात्म के क्षेत्र में वैराग्य सम्भावना, वैराग्य के भेद, त्याग, समता, सद्नुष्ठान, समन्वय, मिथ्यात्व त्याग, योग, ध्यान, आत्म, द्रव्य, गुण, पर्याय एवं व्यवहार निश्चय पर अपना साधिकार निरूपण किया है।

आपका लिखा 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ आध्यात्मिक साधना का सौपान है, जिसके सहारे साधक निरन्तर आत्मिक विकास करते हुए मोक्ष मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

ममज्ञानुवर्तिनी साध्वीजीश्री प्रीतिदर्शनाश्रीजी ने उपाध्याय श्री यशोविजयजी के अध्यात्मवाद विषय पर एक विशद शोध प्रबन्ध लिखकर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। उनका यह अभिनन्दनीय कार्य है एवं उपाध्यायजी के आध्यात्मिक साहित्य के मूल्यांकन का उत्कृष्ट प्रयास है।

अपने शोध प्रबन्ध को लिखते हुए साध्वीजी ने अध्यात्म विषय की अनुभूति करते हुए 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ सरल भाषा में अनुवाद भी कर दिया। ऐसा करना उनका तद्विषय के प्रति लगाव का प्रतीक है।

अध्यात्म प्रेमी जैन श्वेताम्बर मतावलम्बियों के लिये यह ग्रन्थ निश्चित ही आत्मशौर्य में प्रकृष्ट सहायक है। यद्यपि इसके हिन्दी अनुवाद के अभाव में अनेक अध्यात्म प्रेमी इस ग्रन्थ की गरिमा से अपरिचित थे। उन सभी के लिए यह प्रयास अवश्य उपकारक बनेगा।

साध्वीजी प्रीतिदर्शनाश्रीजी अध्ययन के साथ स्वाध्याय साधना में संलग्न रहकर अपने जीवन में उत्तरोत्तर प्रगति करती स्व पर उत्थान के साथ जैन शासन एवं गुरुगच्छ के गौरव को बढ़ायेगी। इन्हीं भावों के साथ मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

गुन्टूर
दिनांक : ७-६-२००८

आचार्यश्री विजय जयन्तसेन सूरि

जैन अध्यात्मवाद भूमिका

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही सभी साधना पद्धतियों का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मूल किसमें है। इसे स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति में है। यद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है, किन्तु वह उस कारण को उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे दुःख का यह स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं को परितृप्त करना चाहता है, किन्तु यह अग्नि में डाले गये घृत के समान उसे परिशान्त करने की अपेक्षा बढ़ाता ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चाहे स्वर्ण और रजत के कैलास के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जाये, किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को पूरा करने में असमर्थ हैं। न केवल जैनधर्म अपितु सभी आध्यात्मिक धर्मों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्व बुद्धि है किन्तु तृष्णा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद हमें सुख और सुविधा के साधन तो दे सकता है, किन्तु वह मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उसका प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान हैं। जैन आगमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। यदि हम मानव जाति को स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का त्याग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है?

किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि+आत्म से है अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांग में इसके लिये अज्झप्प या अज्झत्थ शब्द का प्रयोग है, जो आन्तरिक पवित्रता या आन्तरिक विशुद्धि का सूचक है। जैन धर्म के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है, जो यह मानती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की

उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों के परे उच्च मूल्य भी हैं और इन उच्च मूल्यों की उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जैन विचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को परम मूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है उसके अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य है। भौतिकवादी सुखों की लालसा में वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है। इसके विपरीत जैन अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख और दुःख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। जैन दर्शन के अनुसार सुख-दुःख आत्मकृत हैं। अतः वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से न होकर आत्मा से होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टरूप से कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुख-दुःखों का कर्त्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है। आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रन्थ में अध्यात्म का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन से युक्त शाश्वत आत्मतत्त्व ही मेरा है, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं। इसलिये वे मेरे अपने नहीं हैं। इन संयोगजन्म उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममत्व रखने के कारण ही जीव दुःख परम्परा को प्राप्त होता है अतः उन सांयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिए। संक्षेप में जैन अध्यात्मवाद के अनुसार देह आदि सभी आत्मेत्तर पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग ही साधना का मूल उत्स है। वस्तुतः जहाँ अध्यात्मवाद पदार्थ के स्थान पर आत्मा को अपना साध्य मानता है, वहाँ भौतिकवाद में पदार्थ ही परम मूल्य बन जाता है। अध्यात्मवाद में आत्मा का ही परम मूल्य होता है। जैन अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिये पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है। उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (Equanimity) का सर्जन होता है।

अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धि

जैनधर्म में ममत्व के विसर्जन को ही आत्मोलब्धि का एकमात्र उपाय इसलिये माना गया है कि जब तक व्यक्ति में ममत्व बुद्धि या आसक्ति भाव रहता है तब तक व्यक्ति की दृष्टि 'स्व' में नहीं अपितु 'पर' अर्थात् पदार्थ में केन्द्रित रहती है। वह पर में स्थित होता है। यह पदार्थ केन्द्रित दृष्टि ही या पर में स्थित होना ही भौतिकवाद का मूल आधार है। जैन दर्शनिकों के अनुसार 'पर' अर्थात् आत्मेत्तर वस्तुओं में अपनत्व का भाव और पदार्थ को परम मूल्य मानना यही भौतिकवाद या मिथ्या दृष्टि का लक्षण है। आत्मवादी या अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि पदार्थ-केन्द्रित

न होकर आत्म-केन्द्रित होती है। वह आत्मा को ही परम मूल्य मानता है और अपने स्वस्वरूप या स्वभावदशा की उपलब्धि को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाता है इसे ही जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यक् दृष्टि कहा गया है। भौतिकवाद मिथ्या दृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक् दृष्टि है।

आत्मा का स्वरूप एवं साध्य

यहाँ स्वभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है कि जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप क्या है? आचारांगसूत्र में आत्मा के स्वरूप स्पष्ट लक्षण को करते हुए कहा गया है कि जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इस प्रकार ज्ञाताभाव में स्थित होना ही स्वस्वभाव में स्थित होना है। आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं- ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक, उसमें भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष वस्तुतः भोक्ताभाव और कर्त्ताभाव के सूचक हैं। जब तक आत्म कर्त्ता (doer) या भोक्ता (enjoyer) होता है तब तक यह स्वस्वरूप को उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि यहाँ चित्त-विकल्प या आकांक्षा बनी रहती है। अतः उसके द्वारा चित्त समाधि या आत्मोपलब्धि सम्भव नहीं है। विशुद्ध ज्ञाताभाव या साक्षी भाव ही ऐसा तथ्य है जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थिर कर दुःखों से मुक्त कर सकता है।

एक अन्य दृष्टि से जैनधर्म में आत्मा का स्वरूप-लक्षण समत्व (equanimity) भी बताया गया है। भगवतीसूत्र में गौतम ने महावीर के सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित किये। आत्मा क्या है और उसका साध्य क्या है? महावीर ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे वे जैनधर्म के हार्द को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने कहा था कि आत्मा समत्व स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना यही आत्मा का साध्य है। आचारांगसूत्र में भी समता को धर्म कहा गया है। वहाँ समता को धर्म इसलिये कहा गया है कि वह हमारा स्व स्वभाव है और वस्तु स्वभाव ही धर्म है (वत्थु सहावो धम्मो)। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। जो हमारा मूल स्वभाव और स्वलक्षण है वही हमारा साध्य हो सकता है। जैन परिभाषा में नित्य और निरपवाद वस्तु धर्म ही स्वभाव है। आत्मा का स्वस्वरूप और आत्मा का साध्य दोनों ही समता है। यह बात जीव वैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य सिद्ध होती है। आधुनिक जीव विज्ञान में भी समत्व के संस्थापन को जीवन का लक्षण बताया गया है। यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद 'समत्व' के स्थान पर 'संघर्ष' को जीवन का स्वभाव बताता है और कहता है कि "संघर्ष ही जीवन का नियम है, मानवीय इतिहास वर्ग संघर्ष की कहानी है।" किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। संघर्ष सदैव निराकरण का विषय रहा है। कोई भी चेतन सत्ता संघर्षशील दशा

में नहीं रहना चाहती, वह संघर्ष का निराकरण करना ही चाहती है। यदि संघर्ष निराकरण की वस्तु है तो उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। संघर्ष मानव इतिहास का एक तथ्य हो सकता है किन्तु वह मनुष्य के विभाव का इतिहास है, स्वभाव का नहीं। चैतसिक जीवन में तनाव या विचलन पाये जाते हैं किन्तु वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं क्योंकि जीवन की प्रक्रिया सदैव ही उन्हें समाप्त करने की दिशा में प्रयासशील है। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यही है कि वह बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर, समत्व को बनाये रखने का प्रयास करता है। अतः जैनधर्म में समता को आत्मा या चेतना का स्वभाव कहा गया है और उसे ही धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है। यह सत्य है कि जैनधर्म में धर्मसाधना का मूलभूत लक्ष्य कामना, आसक्ति, राग-द्वेष और वितर्क आदि मानसिक असन्तुलनों और तनावों को समाप्त कर अनासक्त और निराकुल वीतराग चेतना की उपलब्धि माना गया है। आसक्ति या ममत्व बुद्धि राग और द्वेष के भाव उत्पन्न कर व्यक्ति को पदार्थापक्षी बनाती है। आसक्त व्यक्ति अपने को 'पर' में खोजता है। जबकि अनासक्त या वीतराग दृष्टि व्यक्ति को स्व में केन्द्रित करती है। दूसरे शब्दों में, जैनधर्म में वीतरागता की उपलब्धि को ही जीवन का परम लक्ष्य घोषित किया गया है। क्योंकि वीतराग ही सच्चे अर्थ में समभाव में अथवा साक्षी भाव में स्थित रह सकता है। जो चेतना समभाव या साक्षी भाव में स्थित रह सकती है वही निराकुल दशा को प्राप्त होती है और जो निराकुल दशा को प्राप्त होती है, वही शाश्वत सुखों का आस्वाद करती है। जैनधर्म में आत्मोपलब्धि या स्वरूप-उपलब्धि को, जो जीवन का लक्ष्य माना गया है, वह वस्तुतः वीतराग दशा में ही सम्भव है और इसलिये प्रकारान्तर से वीतरागता को भी जीवन का लक्ष्य कहा गया है। वीतरागता का ही दूसरा नाम समभाव या साक्षीभाव है। यही समभाव हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही हमारे जीवन का परम साध्य है।

साध्य और साधना मार्ग का आत्मा से अभेद

जैनधर्म में साधक, साध्य और साधना मार्ग तीनों ही आत्मा से अभिन्न माने गये हैं। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधना मार्ग है। अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा गया है कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है, जब तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, वह संसार है। किन्तु जब वह इन्हें अपने वशीभूत कर लेता है तो मुक्त कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि समयसार की टीका में लिखते हैं कि द्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी साध्य और साधक में भेद बताते हुए योगशास्त्र में कहा है कि कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा बद्ध और उनको

विजित करने वाला आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मुक्त कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा की वासनाओं से युक्त अवस्था ही बन्धन है और वासनाओं तथा विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मदशा ही मोक्ष हैं। जैन अध्यात्मवाद का कथन है कि साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन् उसके अन्दर है। धर्म साधना के द्वारा जो कुछ पाया जाता है वह बाह्य उपलब्धि नहीं अपितु निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। हमारी मूलभूत क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में समान ही है। साधक और सिद्ध अवस्थाओं में अन्दर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं का योग्यताओं में बदल देने का है। जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में विकसित होने की क्षमता रखता है और वह वृक्ष रूप में विकसित होकर वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वैसे ही आत्मा भी परमात्म दशा प्राप्त करने की क्षमता रखता है और उसे उपलब्ध कर पूर्ण हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार अपनी ही बीजरूप क्षमताओं को पूर्ण रूप से प्रकट करना ही मुक्ति है। जैन साधना 'स्व' के द्वारा 'स्व' को उपलब्ध करना है, निज में प्रसुप्त जिनत्व को अभिव्यक्त करना है। आत्मा को ही परमात्मा के रूप में पूर्ण बनाना है। इस प्रकार आत्मा का साध्य आत्मा ही है।

जैनधर्म का साधना मार्ग भी आत्मा से भिन्न नहीं है। हमारी ही चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होकर साधनामार्ग बन जाते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को, जो मोक्ष मार्ग कहा गया है, उसका मूल हार्द इतना ही है कि चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष क्रमशः सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के रूप में साधना मार्ग बन जाते हैं।

इस प्रकार साधना मार्ग भी आत्मा ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, कि मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिए और आत्मा को ही अनुभूति (अनुचरितव्यश्च) करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (संयम) और योग में है। जिन्हें व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है कि वे निश्चयनय से तो आत्मा ही हैं।

त्रिविध साधनामार्ग और आत्मा

सम्भवतः यह प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म में त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुतः त्रिविध साधना मार्ग के विधान में जैनाचार्यों की एक गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गये हैं- १. ज्ञान २. भाव और ३. संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के सम्यक् विकास के लिए ही त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक

पक्ष के सही दिशा में नियोजन के लिए ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया गया है।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन आदेश उपलब्ध होते हैं- १. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)। पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्मनिर्माण में चारित्र का तत्त्व उपस्थित है।

जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन आत्मश्रद्धान है सम्यग्ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे भेद विज्ञान कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध हैं वे इस आत्म-अनात्म के विवेक या भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बन्धन में हैं, वे इसके अभाव के कारण ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद विज्ञान का अत्यन्त गहन विवेचन किया है, किन्तु विस्तारपूर्वक यह समग्र विवेचना यहाँ सम्भव नहीं है। जैन परम्परा में साधना का तीसरा चरण सम्यक् चारित्र है। इसके दो रूप माने गये हैं- १. व्यवहार चारित्र और २. निश्चय चारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि-विधान व्यवहार चारित्र कहे जाते हैं। जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चारित्र कही जाती है।

निश्चय दृष्टि (Real view point) से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानसिक चैतिसिक जीवन में समत्व की उपलब्धि- यही चारित्र का पारमार्थिक या नैश्चयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल प्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गये हैं। चेतना में जब राग, द्वेष कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती है तभी सच्चे आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है। साधना जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में आत्म जाग्रत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चलित नहीं होता है तभी वह सच्चे अर्थों में नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्त्ता माना जाता है। यही नैश्चयिक चारित्र जैन अध्यात्म की आधारशिला है और मुक्ति का अन्तिमकारक है।

जैन पर्वों की आध्यात्मिक प्रकृति

न केवल जैन साधना-पद्धति की प्रकृति ही अध्यात्मवादी है अपितु जैन पर्व भी मूलतः अध्यात्मवादी ही है। जैन पर्व आमोद-प्रमोद के लिए न होकर आत्म साधना और तप साधना के लिये होते हैं। उनमें मुख्यतः तप, त्याग, व्रत एवं उपवासों की प्रधानता होती है। जैनों के प्रसिद्ध पर्वों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्यूषण पर्व और दिगम्बर परम्परा में दशलक्षण पर्व है जो भाद्रपद में मनाये जाते हैं। इन दिनों में जिन प्रतिमाओं की पूजा, उपवास आदि व्रत तथा धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय यही साधकों की दिनचर्या के प्रमुख अंग होते हैं। इन पर्वों के दिनों में जहाँ दिगम्बर परम्परा में प्रतिदिन क्षमा, विनम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्मों (सद्गुणों) की विशिष्ट साधना की जाती है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में इन दिनों में प्रतिक्रमण के रूप में आत्म पर्यावलोचन किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा का अन्तिम दिन संवत्सरी पर्व के नाम से मनाया जाता है और इस दिन समय वर्ष के चारित्रिक स्खलन या असदाचरण और वैर-विरोध के लिये आत्म पर्यावलोचन (प्रतिक्रमण) किया जाता है एवं प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इस दिन शत्रु-मित्र आदि सभी से क्षमा-याचना की जाती है। इस दिन जैन साधक का मुख्य उद्घोष होता है- मैं सभी जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ और सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरी सभी प्राणीवर्ग से मित्रता है और किसी से कोई बैर-विरोध नहीं है। इन पर्व के दिनों में अहिंसा का पालन करना और करवाना भी एक प्रमुख कार्य होता है। प्राचीनकाल में अनेक जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से शासकों द्वारा इन दिनों को अहिंसक दिनों के रूप में घोषित करवाया था। इस प्रकार पर्व के अतिरिक्त अष्टाह्निका पर्व, श्रुत पंचमी तथा विभिन्न तीर्थंकरों के गर्भ प्रवेश, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति एवं निर्वाण दिवसों को भी पर्व के रूप में मनाया जाता है। इन दिनों में भी सामान्यतया व्रत रखा जाता है और जिन प्रतिमाओं की विशेष समारोह के साथ पूजा की जाती है। दीपावली का पर्व भी भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में जैन समुदाय के द्वारा बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

जैन अध्यात्मवाद और लोक कल्याण का प्रश्न

यह सत्य है कि जैनधर्म संन्यासमार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर अधिक जोर दिया गया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनधर्म में लोक मंगल या लोक कल्याण का कोई स्थान नहीं है। जैनधर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त है, किन्तु इसके साथ-ही-साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं

इस बात का साक्षी है कि १२ वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवनभर उसका मार्गदर्शन करते रहे। जैनधर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधार की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तब तक समाज नहीं सुधर सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। लोकसेवक और जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें- यह जैन आचार-संहिता का आधारभूत सिद्धान्त हैं। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण के क्षेत्र प्रवृत्ति का आधार बन सकती है। प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिये है। जैन साधना में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये जो पाँच व्रत माने गये हैं वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं है, वे सामाजिक मंगल के लिए भी हैं। वे आत्म शुद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास भी हैं। जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैनधर्म में तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली के जो पदार्थ स्थापित किये गये हैं और उनमें जो तारतम्यता निश्चत की गयी है उसका आधार विश्व कल्याण, वर्ण कल्याण और व्यक्ति कल्याण की भावना ही है। इस त्रिपुटी में विश्व कल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांगसूत्र (स्थान १०) में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है वरन् उसमें लोकहित या लोक कल्याण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।

जैनधर्म का अध्यात्मवाद जीवन का निषेध सिखाता है?

जैनधर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है, उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अतः यहाँ इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैनधर्म के तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की

स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाय। जैनधर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य (४७/६१) में कहा गया है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत् आनन्द के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्त्व भी है और उसकी सार-सम्भाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होना है, नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है, जो अध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर करती है। भौतिकवाद में उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अन्तिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन हैं। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों ही साधना के लिए है। जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है, जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अतः जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान् महावीर ने आचारांग एवं उत्तराध्ययनसूत्र (३२/१०१) में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियांनुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष करना है क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय का आसक्तचित्त या वीतराग के लिये नहीं (उत्तरा. १२/४४)। अतः जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन अध्यात्मवाद की विशेषताएँ

(अ) **ईश्वरवाद से मुक्ति-** जैन अध्यात्मवाद ने मनुष्य को ईश्वरीय दासता से मुक्त कर मानवीय स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा की है। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न तो कोई अन्य शक्ति ही मानव की निर्धारक है। मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। जैनधर्म ने किसी विश्वनियन्ता ईश्वर को स्वीकार करने के स्थान पर मनुष्य में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की और यह बताया कि व्यक्ति ही अपनी साधना

के द्वारा परमात्म दशा को प्राप्त कर सकता है। उसने कहा 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। मनुष्य को किसी का कृपाकांक्षी न बनकर स्वयं ही पुरुषार्थ करके परमात्म-पद को प्राप्त करना है।

(ब) **मानव मात्र की समानता का उद्घोष-** जैनधर्म के अध्यात्मवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उसने वर्णवाद, जातिवाद आदि उन सभी अवधारणाओं की जो मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न करती थी, अस्वीकार किया। उसके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों में श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार न तो जाति विशेष या कुल विशेष में जन्म लेना है और न सत्ता और सम्पत्ति ही। वह वर्ण, रंग, जाति, सम्पत्ति और सत्ता के स्थान पर आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। उत्तराध्ययनसूत्र के १२वें एवं २५वें अध्याय में वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मण की श्रेष्ठता की अवधारणा पर करारी चोट करते हुए यह कहा गया है कि जो सर्वथा अनासक्त, मेधावी और सदाचारी हैं वही सच्चा ब्राह्मण है और वही श्रेष्ठ है। न कि किसी कुल विशेष में जन्म लेने वाला व्यक्ति।

(स) **यज्ञ आदि बाह्य क्रिया-काण्डों का आध्यात्मिक अर्थ-** जैन अध्यात्म ने यज्ञ, तीर्थ-स्थान आदि धर्म के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्डों की न केवल आलोचना की अपितु उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थ भी प्रदान किया। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। उसमें कहा गया है कि जीवात्मा अग्निकुण्ड है; मन, वचन, काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) है और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है, यही यज्ञ शान्तिदायक है और ऋषियें ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है। तीर्थ-स्थान को भी आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करते हुए उत्तराध्ययन (२/४६) में कहा गया है- धर्म जलाशय है, ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है, उसमें स्नान करने से ही आत्मा निर्मल और शुद्ध हो जाती है।

(द) **दान, दक्षिणा आदि के स्थान पर संयम की श्रेष्ठता-** यद्यपि धर्म के चार अंगों में दान को स्थान दिया गया है किन्तु जैन आध्यात्मिक दृष्टि यह मानती है कि दान की अपेक्षा भी संयम ही श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन (९/४०) में कहा गया है कि प्रतिमास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा संयम का पालन अधिक श्रेष्ठ है।

अध्यात्म और विज्ञान : वर्तमान सन्दर्भ

औपनिषदिक ऋषिगण, बुद्ध और महावीर भारतीय अध्यात्म परम्परा के उन्नायक रहे हैं। उनके आध्यात्मिक चिन्तन ने भारतीय मानस को आत्मतोष प्रदान किया है। किन्तु आज हम विज्ञान के युग में जीवन जी रहे हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी आज हमें उद्वेलित कर रही हैं। आज का मनुष्य दो तलों पर जीवन जी रहा

है। यदि विज्ञान को नकारता है तो जीवन की सुख-सुविधा और समृद्धि के खोने का खतरा है। दूसरी ओर अध्यात्म को नकारने पर आत्म-शान्ति से वंचित होता है। आज आवश्यकता है इन ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रतिस्थापित आध्यात्मिक मूल्यों और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय की। निश्चय ही 'विज्ञान और अध्यात्म' की चर्चा आज प्रासंगिक है।

सामान्यतया आज विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर विरोधी अवधारणाओं के रूप में देखा जाता है। जहाँ अध्यात्म को धर्मवाद और पारलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है, वहीं विज्ञान को भौतिकता और इहलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है। आज दोनों में विरोध माना जाता है, लेकिन यह अवधारणा भी भ्रान्त है। प्राचीन युग में तो विज्ञान और अध्यात्म ये शब्द भी परस्पर भिन्न अर्थ के बोधक नहीं थे। महावीर ने आचारांगसूत्र में कहा है कि जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। यहाँ आत्मज्ञान और विज्ञान दोनों एक ही हैं। वस्तुतः विज्ञान शब्द वि+ज्ञान से बना है। 'वि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है अर्थात् विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। आज जो विज्ञान शब्द केवल पदार्थ-ज्ञान के रूप में रूढ़ हो गया है, वह मूलतः विशिष्ट ज्ञान या आत्मज्ञान ही था। आत्मज्ञान ही विज्ञान है। पुनः अध्यात्म शब्द भी अधि-आत्म से बना है। 'अधि' उपसर्ग भी विशिष्टता का ही सूचक है, जो आत्मा की विशिष्टता है, वही अध्यात्म है। चूँकि आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है, अतः ज्ञान की विशिष्टता ही अध्यात्म है और वही विज्ञान है। फिर भी आज विज्ञान पदार्थ-ज्ञान के अर्थ में और अध्यात्म आत्मज्ञान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। मेरी दृष्टि में विज्ञान साधकों का ज्ञान है तो अध्यात्म साध्य का ज्ञान। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं रूढ़ अर्थों में विज्ञान और अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। एक हमें बाह्य-जगत् में जोड़ता है तो दूसरा हमें आत्म-जगत् से। दोनों ही 'योग' हैं। एक साधन-योग है तो दूसरा साध्य-योग। एक हमें जीवन-शैली (Life style) देता है तो दूसरा हमें जीवन-साध्य (Goal of life) देता है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि जो एक-दूसरे के पूरक हैं उन्हें हमने एक-दूसरे का विरोधी मान लिया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इनकी परस्पर पूरक शक्ति या अभिन्नता को समझा जाये।

आज हम विज्ञान को पदार्थ विज्ञान मानते हैं। यद्यपि आज हमने 'पर' या 'अनात्म' के सन्दर्भ में इतना अधिक ज्ञान अर्जित कर लिया है कि 'स्व' या 'आत्म' को विस्मृत कर बैठे हैं। हमने परमाणु के आवरण को तोड़कर उसके जर्रे-जर्रे को जानने का प्रयास किया, किन्तु दुर्भाग्य यही है कि अपनी आत्मा के आचरण को भेदकर अपने आपको नहीं जान सके। हम परिधि को व्यापकता देने में केन्द्र को ही

भुला बैठे। मनुष्य की यह परकेन्द्रितता ही उसे अपने आपसे बहुत दूर ले गयी है। यही आज के जीवन की त्रासदी है। वह दुनिया को समझता है, जानता है, परखता है, किन्तु अपने प्रति तन्द्राग्रस्त है। उसे स्वयं यह बोध नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरा कर्त्तव्य क्या है? लक्ष्य क्या है? वह भटक रहा है, मात्र भटक रहा है। आज से २५०० वर्ष पूर्व महावीर ने मनुष्य की उस पीड़ा को समझा था। उन्होंने कहा था कि कितने ही लोग ऐसे हैं जो नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है? यह केवल महावीर ने कहा हो ऐसी बात नहीं है। बुद्ध ने भी कहा था- 'अदानं गवेस्सेथ' अपने को खोजो। औपनिषदिक ऋषियों ने कहा- 'आत्मानं विद्धि', अपने आपको जानो यही जीवन परिशोध का मूलमन्त्र है। आज हमें पुनः इन्हीं प्रश्नों के उत्तर को खोजना है। आज का विज्ञान आपको पदार्थ जगत् के सन्दर्भ में सूक्ष्मतम सूचनाएँ दे सकता है। किन्तु वे सूचनाएँ हमारे लिए ठीक उसी तरह अर्थहीन हैं। जिस प्रकार जब तक आँख न खुली हों, प्रकाश का कोई मूल्य नहीं। विज्ञान प्रकाश है, किन्तु अध्यात्म की आँख के बिना उसकी कोई सार्थकता नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा था- अन्धे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने से क्या लाभ? जिसकी आँख खुली हो उसके लिए एक ही दीपक पर्याप्त है। आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह विज्ञान और तकनीक के सहारे बाह्य-जगत् में चकाचौंध विद्युत फैल रहा है किन्तु अपने अन्तर्चक्षु का उन्मीलन नहीं कर पा रहा है। प्रकाश की चकाचौंध में हम अपने को ही नहीं देख पा रहे हैं। यह सत्य है कि प्रकाश आवश्यक है, किन्तु आँखें खोले बिना उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति दी है। आज वह ध्वनि से भी अधिक तीव्र गति से यात्रा कर सकता है। किन्तु स्मरण रहे विज्ञान जीवन के लक्ष्य का निर्धारण नहीं कर सकता। लक्ष्य का निर्धारण तो अध्यात्म ही कर सकता है। विज्ञान साधन देता है, लेकिन उनका उपयोग किस दिशा में करना होगा यह बतलाना अध्यात्म का कार्य है। पूज्य विनोबा जी के शब्दों में- 'विज्ञान में दोहरी शक्ति होती है एक विनाश-शक्ति और दूसरी विकास-शक्ति। वह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्नि नारायण की खोज हुई तो उससे रसोई भी बनाई जा सकती है और उससे आग भी लगाई जा सकती है। अग्नि का प्रयोग घर फूँकने में करना या चूल्हा जलाने में यह अक्ल विज्ञान में नहीं है। अक्ल तो आत्मज्ञान में है। आगे वे कहते हैं- आत्मज्ञान है- आँख और विज्ञान है- पाँव। अगर मानव को आत्मज्ञान नहीं है तो वह अन्धा है। कहाँ चला जायेगा कुछ पता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो अध्यात्म देखता तो है, लेकिन चल नहीं सकता। उसमें लक्ष्य बोध तो है, किन्तु गति की शक्ति नहीं। विज्ञान में शक्ति तो है किन्तु गति की शक्ति नहीं। विज्ञान में शक्ति तो है किन्तु आँख नहीं है, लक्ष्य का बोध नहीं है। जिस प्रकार अन्धे और लंगड़े दोनों ही परस्पर सहयोग

के अभाव में दावानल में जल मरते हैं, ठीक इसी प्रकार यदि आज विज्ञान और अध्यात्म परस्पर एक-दूसरे के पूरक नहीं होंगे तो मानवता अपने ही द्वारा लगाई गई विस्फोटक शस्त्रों की इस आग में जल मरेगी। बिना विज्ञान के संसार में सुख नहीं आ सकता और बिना अध्यात्म के शन्ति नहीं आ सकती। मानव समाज की सुख (Pleasure) और शान्ति (Peace) के लिए दोनों का परस्पर होना आवश्यक है। वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग मानव-कल्याण में हो या मानव-संहार में, इस बात का निर्धारण विज्ञान से नहीं, आत्मज्ञान या अध्यात्म से करना होगा। अणु शक्ति का उपयोग मानव के संहार में हो या मानव के कल्याण में, यह निर्णय करने का अधिकार उन वैज्ञानिकों को भी नहीं है, जो सत्ता, स्वार्थ और समृद्धि के पीछे अन्धे राजनेताओं के दास हैं। यह निर्णय तो मानवीय विवेक सम्पन्न निःस्पृह साधकों को ही करना होगा। यह सत्य है कि विज्ञान के सहयोग से तकनीक का विकास हुआ है और उसने मानव के भौतिक दुःखों को बहुत कुछ कम कर दिया है, किन्तु दूसरी ओर उसने मारक शक्ति के विकास के द्वारा भय या संत्रास की स्थिति उत्पन्न कर मानव की शान्ति को भी छीन लिया है। आज मनुष्य जाति भयभीत और संत्रस्त है। आज वह विस्फोटक अस्त्रों के ज्वालामुखी पर खड़ी है, जो कब विस्फोट कर हमारे अस्तित्त्व को निगल लेगी, यह कहना कठिन है। आज हमारे पास जिन संहारक अस्त्रों का संग्रह है, वे पृथ्वी के सम्पूर्ण जीवन को अनेक बार समाप्त कर सकते हैं।

पूज्य विनोबा जी लिखते हैं- जो विज्ञान एक ओर क्लोरोफार्म की खोज करता है जिससे करुणा का कार्य होता है, वही विज्ञान अणु अस्त्रों की खोज करता है जिससे भयंकर संहार होता है। एक बाजू सिपाही को जख्मी करता है दूसरा बाजू उसको दुरुस्त करता है, ऐसा गोरखधन्धा आज विज्ञान की मदद से चल रहा है। इस हालत में विज्ञान का सारा कार्य उसको मिलने वाले मार्गदर्शन पर आधारित है। उसे जैसा मार्गदर्शन मिलेगा, वह वैसा कार्य करेगा।

यदि विज्ञान पर सत्ता के आकांक्षियों का, राजनीतिज्ञों का और अपने स्वार्थ की रोटी सेंकने वालों का अधिकार होगा तो वह मनुष्य-जाति का संहारक ही बनेगा। किन्तु इसके विपरीत यदि विज्ञान पर मानव-मंगल के द्रष्टा अनासक्त ऋषियों-महर्षियों का अधिकार होगा, तो वह मानव के विकास में सहायक होगा। आज हम विज्ञान के माध्यम से तकनीकी प्रगति की ऊँचाई तक पहुँच चुके हैं जहाँ से लौटना भी सम्भव नहीं है। आज मनुष्य उस दोराहे पर खड़ा है, जहाँ पर उसे हिंसा और अहिंसा दो राहों में से किसी एक को चुनना है। आज उसे यह समझना है कि वह विज्ञान के साथ किसको जोड़ना चाहता है, हिंसा को या अहिंसा को।

आज उसके सामने दोनों विकल्प प्रस्तुत हैं। विज्ञान+अहिंसा=विकास। विज्ञान+हिंसा=विनाश। जब विज्ञान अहिंसा के साथ जुड़ेगा तो वह समृद्धि और शान्ति लायेगा, किन्तु जब उसका गठबन्धन हिंसा से होगा तो संहारक होगा और अपने ही हाथों अपना विनाश करेगा।

आज विज्ञान के सहारे मनुष्य ने इतना पाशविक बल संग्रहित कर लिया है कि वह उसका रक्षक न होकर कहीं भक्षक न बन जाये, यह उसे सोचना है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था- 'अत्थि सत्थेन परंपरं, नत्थि असत्थेन परंपरं।' शस्त्र एक से बढ़कर एक हो सकता है किन्तु अहिंसा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। आज सम्पूर्ण मानव समाज को यह निर्णय लेना होगा कि वे वैज्ञानिक शक्तियों का प्रयोग मानवता के कल्याण के लिये करना चाहते हैं या उसके संहार के लिए। आज तकनीकी प्रगति के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कम हो गयी है। आज विज्ञान ने मानव समाज को एक-दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। आज हम परस्पर इतने निर्भर बन गये हैं कि एक-दूसरे के बिना खड़े भी नहीं रह सकते। किन्तु दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव के कारण हमारे हृदयों की दूरी अधिक विस्तीर्ण हो गयी है। हृदय की इस दूरी को पाटने का काम विज्ञान नहीं अध्यात्म ही कर सकता है।

विज्ञान का कार्य है- विश्लेषित करना और अध्यात्म का कार्य है- संश्लेषित करना। विज्ञान तोड़ता है, अध्यात्म जोड़ता है। विज्ञान वियोजक है तो अध्यात्म संयोजक। विज्ञान पर-केन्द्रित है तो अध्यात्म आत्म-केन्द्रित। विज्ञान सिखाता है कि हमारे सुख-दुःख का केन्द्र वस्तुएँ हैं, पदार्थ हैं, इसके विपरीत अध्यात्म कहता है कि सुख-दुःख का केन्द्र आत्मा है। विज्ञान की दृष्टि बाहर देखती है, अध्यात्म अन्दर में देखता है। विज्ञान की यात्रा अन्दर से बाहर की ओर है तो अध्यात्म की यात्रा बाहर से अन्दर की ओर। मनुष्य को आज यह समझना है कि यदि यात्रा बाहर की ओर होती रही तो वह शान्ति, जिसकी उसे खोज है, कभी नहीं मिलेगी। क्योंकि बहिर्मुखी यात्री शान्ति की खोज वहाँ करता है जहाँ वह नहीं है। शान्ति अन्दर है उसकी खोज बाहर व्यर्थ है।

इस सम्बन्ध में एक रूपक याद आता है। एक वृद्धा शाम के समय कुछ सी रही थी। संयोग से अन्धेरा बढ़ने लगा और सूई उसके हाथ से छूटकर कहीं गिर पड़ी। महिला की झोपड़ी में प्रकाश का साधन नहीं था और प्रकाश के बिना सूई की खोज असम्भव थी। बुढ़िया ने सोचा क्या हुआ, अगर प्रकाश बाहर है तो सूई को वहीं खोजा जाये। वह उस प्रकाश में सूई खोजती रही, खोजती रही, किन्तु सूई वहाँ कब मिलने वाली थी, क्योंकि वह वहाँ थी ही नहीं। प्रातः होने वाली थी कि कोई

यात्री उधर से निकला। उसने वृद्धा से उसकी परेशानी का कारण पूछा। उसने पूछा- अम्मा सूई गिरी कहाँ थी? वृद्धा ने उत्तर दिया- बेटा, सूई तो झोपड़ी में गिरी थी, किन्तु वहाँ उजाला नहीं था अतः वहाँ खोजना सम्भव नहीं था। उजाला बाहर था, इसलिए मैं यहाँ खोज रही थी। यात्री ने उत्तर दिया- यह सम्भव नहीं है अम्मा! जो चीज जहाँ नहीं है, वहाँ खोजने पर मिल जाये। सूर्य का प्रकाश होने को है उस प्रकाश में सूई वहीं खोजें जहाँ गिरी है। आज मानव समाज की स्थिति भी उसी वृद्धा के समान है। हम शान्ति की खोज वहाँ कर रहे हैं, जहाँ वह होती ही नहीं। शान्ति आत्मा में है, अन्दर है। विज्ञान के सहारे आज शान्ति की खोज के प्रयत्न के उस बुढ़िया के प्रयत्नों के समान निरर्थक ही होंगे। विज्ञान, साधन दे सकता है, शक्ति दे सकता है, किन्तु लक्ष्य का निर्धारण तो हमें ही करना होगा।

आज विज्ञान के कारण मानव के पूर्व स्थापित जीवन मूल्य समाप्त हो गये हैं। आज श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया है। आज मनुष्य पारलौकिक उपलब्धियों के स्थान पर इहलौकिक उपलब्धियों को चाहता है। आज के तर्क प्रधान मनुष्य को सुख और शान्ति के नाम पर बहलाया नहीं जा सकता, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आज हम अध्यात्म के अभाव में नये जीवन मूल्यों का सृजन नहीं कर पा रहे हैं। आज विज्ञान का युग है। आज उस धर्म को, जो पारलौकिक जीवन की सुख-सुविधाओं के नाम पर मानवीय भावनाओं का शोषण कर रहा है, जानना होगा। आज तथाकथित वे धर्म परम्पराएँ जो मनुष्य को भविष्य के सुनहरे सपने दिखाकर फुसलाया करती थीं, अब तर्क की पैनी छेनी के आगे अपने को नहीं बचा सकतीं। अब स्वर्ग में जाने के लिए नहीं जीना है अपितु स्वर्ग को धरती पर लाने के लिए जीना होगा। विज्ञान ने में वह शक्ति दे दी है, जिससे स्वर्ग को धरती पर उतारा जा सकता है। अब यदि हम इस शक्ति का उपयोग धरती पर स्वर्ग उतारने के स्थान पर, धरती को नरक बनाने में करेंगे तो इसकी जवाबदेही हम पर ही होगी। आज वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग इस दृष्टि से करना है कि वे मानव-कल्याण में सहभगी बनकर इस धरती को ही स्वर्ग बना सकें। विनोबा जी ने सत्य ही कहा है- आज विज्ञान का तो विकास हुआ, किन्तु वैज्ञानिक उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि वैज्ञानिक वह है जो निरपेक्ष होता है। आज का वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों और पूँजीपतियों के इशारे पर चलने वाला व्यक्ति है। वह पैसे से खरीदा जा सकता है। यह तो वैज्ञानिक की गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक हैं यदि वैज्ञानिक (Scientist) वैज्ञानिक (Sceintific) नहीं बना तो विज्ञान मनुष्य के लिये ही घातक सिद्ध होगा। आज विज्ञान का उपयोग कैसे किया जाय, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं अध्यात्म के पास है। विनोबा जी लिखते हैं कि आज युग की माँग से विज्ञान की जितनी ही शक्ति बढ़ेगी, आत्मज्ञान को उतनी ही शक्ति बढ़ानी होगी।

आज अमेरिका इसलिये दुःखी है कि वहाँ विज्ञान तो है, पर अध्यात्म है नहीं, अतः सुख तो है, शान्ति नहीं। इसके विपरीत भारत में आध्यात्मिक विकास के कारण मानसिक शान्ति तो है, किन्तु समृद्धि नहीं। आज जहाँ समृद्धि है वहाँ शान्ति नहीं और जहाँ शान्ति है वहाँ समृद्धि नहीं। इसका समाधान अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में निहित है। अध्यात्म शान्ति देगा तो विज्ञान समृद्धि। जब समृद्धि और शान्ति दोनों ही एक साथ उपस्थित होंगी, मानवता अपने विकास के परम शिखर पर होगा। मानव स्वयं अतिमानव के रूप में विकसित हो जायेगा। किन्तु इसके लिये प्रयत्न करना होगा। बिना अडिग आस्था और सतत पुरुषार्थ के यह सम्भव नहीं।

आज विज्ञान ने मनुष्य को सुख-सुविधा और समृद्धि तो प्रदान कर दी है, फिर भी मनुष्य भय और तनाव की स्थिति में जी रहा है। उसे आन्तरिक शान्ति उपलब्ध नहीं है उसकी समाधि भंग हो चुकी है। यदि विज्ञान के माध्यम से कोई शान्ति आ सकती है तो वह केवल श्मशान की शान्ति होगी। बाहरी साधनों से न कभी आन्तरिक शान्ति मिली है, न उसका मिलना सम्भव ही है। इस प्रसंग में उपनिषदों का एक प्रसंग याद आ रहा है-नारद जीवनभर वेद-वेदांग का अध्ययन करते रहे। उन्होंने अनेक विद्याएँ (भौतिक विद्याएँ) प्राप्त कर ली, किन्तु उनके मन को कहीं सन्तोष नहीं मिला। वे सनत्कुमार के पास आये और कहने लगे मैंने अनेक शास्त्रों का अध्यन किया। मैं शास्त्रविद् तो हूँ किन्तु आत्मविद् नहीं। आज के वैज्ञानिक भी नारद की भाँति ही हैं। वे शास्त्रविद् तो हैं, किन्तु आत्मविद् नहीं। आत्मविद् हुए बिना शान्ति को नहीं पाया जा सकता। यद्यपि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम विज्ञान और उसकी उपलब्धियों को तिलांजलि दे दें। वैज्ञानिक उपलब्धियों का परित्याग न तो सम्भव है, न औचित्यपूर्ण है। किन्तु अध्यात्म ही विज्ञान का अनुशासक हो तभी एक समग्रता या पूर्णता आयेगी और मनुष्य एक साथ समृद्धि और शान्ति को पा सकेगा। ईशावास्योपनिषद् में जिसे हम पदार्थ-ज्ञान या विज्ञान कहते हैं, उसे अविद्या कहा गया है और जिसे हम अध्यात्म कहते हैं, विद्या कहा गया है। उपनिषद्कार दोनों के सम्बन्ध को उचित बताते हुए कहता है-जो पदार्थ-विज्ञान या अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में, तमस में प्रवेश करता है, क्योंकि विज्ञान या पदार्थ-विज्ञान अन्धा है। किन्तु साथ ही वह यह भी चेतावनी देता है कि जो केवल विद्या में रत हैं, वे उससे अधिक अन्धकार में चले जाते हैं (अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः)। वस्तुतः वह जो अविद्या और विद्या दोनों की एक साथ उपासना करता है वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करता है अर्थात् वह सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाता है और विद्या द्वारा अमृत प्राप्त करता है। विद्या चाविद्यां च यस्तवेदोमयं सह। अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। वस्तुतः यह अमृत आत्म-शान्ति या

आत्मतोष ही है। अतः जब विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा तभी मानवता का कल्याण होगा। विज्ञान जीवन के कष्टों को समाप्त कर देगा और अध्यात्म आन्तरिक शान्ति को प्रदान करेगा। आचारांगसूत्र में महावीर ने अध्यात्म के लिये 'अज्झत्थ' शब्द का प्रयोग किया है और यह बताया है कि इसी के द्वारा आत्म-विशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः अध्यात्म कुछ नहीं है, वह आत्म-उपलब्धि या आत्म-विशुद्धि की ही एक प्रक्रिया है; उसका प्रारम्भ आत्मज्ञान से है और उसकी परिनिष्पत्ति आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अटूट निष्ठा में है। वस्तुतः आज जितनी मात्रा में पदार्थ-विज्ञान विकसित हुआ है उतनी ही मात्रा में आत्मज्ञान को विकसित होना चाहिए। विज्ञान की दौड़ में अध्यात्म पीछे रह गया है। पदार्थ को जानने के प्रयत्नों में हम अपने को भुला बैठे हैं। मेरी दृष्टि में आत्मज्ञान कोई अमूर्त्त, तात्त्विक आत्मा की खोज नहीं है, बल्कि अपने आपको जानना है। अपने आपको जानने का तात्पर्य अपने में निहित वासनाओं और विकारों को देखना है। आत्मज्ञान का अर्थ होता है- हम यह देखें कि हमारे जीवन में कहाँ अहंकार छिपा पड़ा है और कहाँ किसके प्रति घृणा-विद्वेष के तत्त्व पल रहे हैं। आत्मज्ञान कोई हौव्वा नहीं है, वह तो अपने अन्दर झाँककर अपनी वृत्तियों और वासनाओं को पढ़ने की कला है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त तकनीक के सहारे हम पदार्थों का परिशोधन करना तो सीख गये और परिशोधन से कितनी किसे शक्ति प्राप्त होती है यह भी जान गये, किन्तु आत्मा के परिशोधन की जो कला अध्यात्म के नाम से हमारे ऋषि-मुनियों ने दी, आज हम उसे भूल चुके हैं।

फिर भी विज्ञान ने आज हमारी सुख-सुविधा प्रदान करने के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा उपकार किया है, वह यह कि धर्मवाद के नाम पर जो अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास पल रहे थे, उन्हें तोड़ दिया है। इसका टूटना आवश्यक भी था, क्योंकि परलोक की लोरी सुनाकर मानव समाज को अधिक समय तक भ्रम में रखना सम्भव नहीं था। विज्ञान ने अच्छा ही किया हमारा यह भ्रम तोड़ दिया। किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भ्रम का टूटना ही पर्याप्त नहीं है। इससे जो रिक्तता पैदा हुई है उसे आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठा के द्वारा ही भरना होगा। यह आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठ उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा है, जो जीवन को शान्ति और आत्मसन्तोष प्रदान करते हैं।

अध्यात्म और विज्ञान का संघर्ष वस्तुतः भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष है। अध्यात्म की शिक्षा यही है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आत्मिक मूल्यों से परे सामाजिकता और मानवता के उच्च मूल्य भी हैं। महावीर की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परम

मूल्य न मानकर आत्मा को ही परम मूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार सुख और दुःख वस्तुगत तथ्य हैं। अतः भौतिकवादी सुखों की लालसा में वह वस्तुओं के पीछे दौड़ता है तथा उनकी उपलब्धि हेतु शोषण और संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है, जिससे वह स्वयं तो संत्रस्त होता ही है, साथ ही साथ समाज को भी सन्त्रस्त बना देता है। इसके विपरीत अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। सुख-दुःख आत्म-केन्द्रित है। आत्मा या व्यक्ति ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित आत्मा मित्र है और दुःप्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है। वस्तुतः आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों में न होकर सद्गुणों में स्थित आत्मा में होती है। अध्यात्मवाद के अनुसार देहादि सभी आत्मेत्तर पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का विसर्जन साधना का मूल उत्स है। ममत्व का विसर्जन और समत्व का सृजन यही जीवन का परम मूल्य है। जैसी ही ममत्व का विसर्जन होगा समत्व का सृजन होगा और जब समत्व का सृजन होगा तो शोषण और संग्रह की सामाजिक बुराइयाँ समाप्त होंगी। परिणामतः व्यक्ति आत्मिक शान्ति का अनुभव करेगा। अध्यात्मवादी समाज में विज्ञान तो रहेगा, किन्तु उसका उपयोग संहार में न होकर सृजन में होगा, मानवता के कल्याण में होगा।

अन्त में पुनः मैं यही कहना चाहूँगा कि विज्ञान के कारण जो एक सन्त्रास की स्थिति मानव समाज में दिखाई दे रही है उसका मूलभूत कारण विज्ञान नहीं, अपितु व्यक्ति की संकुचित और स्वार्थवादी दृष्टि ही है। विज्ञान तो निरपेक्ष है, वह न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है और इस उपयोग का निर्धारण व्यक्ति के अधिकार की वस्तु है। अतः आज विज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उसे सम्यक्-दिशा में नियोजित करने की और यह सम्यक्-दिशा अन्य कुछ नहीं, यह सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की व्यापक आकांक्षा ही है और इस आकांक्षा की पूर्ति अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में है। काश मानवता इन दोनों में समन्वय कर सके बस यही कामना है।

अध्यात्मवाद और उपाध्याय यशोविजयजी का साहित्य

जैन आचार्यों में विपुल अध्यात्मवादी साहित्य सृजन की दृष्टि से श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र के पश्चात् यदि कोई महत्त्वपूर्ण लेखक हुए हैं तो वे उपाध्याय यशोविजयजी हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने जैनधर्म-दर्शन और साधना के विविध पक्षों पर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। उनका चिन्तन और लेखन बहुआयामी है।

'अध्यात्मसार' ज्ञानसार और अध्यात्मोपनिषद् के पश्चात् उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रायः प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और मरुगुर्जर (प्राचीन हिन्दी) आदि में अपने ग्रन्थ लिखे हैं।

अध्यात्मसार नामक प्रस्तुत कृति में संस्कृत भाषा में निबद्ध ९४९ श्लोक हैं। प्रस्तुत कृति का उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना को विकसित करना ही है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से उन्होंने जिन ग्रन्थों की रचना की उनमें अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, आत्मख्याति, ज्ञानसार, ज्ञानार्णव आदि प्रमुख हैं। इनमें भी अध्यात्मसार का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है, क्योंकि यह ग्रन्थ आकार और विषय विस्तार दोनों की अपेक्षा से ही महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से आध्यात्मिक साधना के प्रमुख बिन्दुओं को स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ता है।

अध्यात्मसार की विषय-वस्तु – अध्यात्मसार में निम्न सात प्रबन्ध अर्थात् विभाग हैं। अध्यात्मसार नामक प्रथम प्रबन्ध में अध्यात्म का महत्त्व उसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए दम्भ त्याग तथा भवस्वरूप चिन्ता ऐसे चार अधिकार श्लोक क्रमांक १ से लेकर १०२ तक इन चारों अधिकारों पर विवेचना प्रस्तुत की गयी है। अध्यात्मसार का दूसरा प्रबन्ध मुख्यतया वैराग्य से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत तीन अधिकार है। वैराग्य की सम्भावना वैराग्य के भेद और वैराग्य के बिना आध्यात्मिक विकास की सम्भावना ही नहीं होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय प्रबन्ध में क्रमशः चार अधिकार हैं। ममत्व त्याग अधिकार, समत्व साधना अधिकार, सदनुष्ठानाधिकार, मनःशुद्धि अधिकार। प्रथमतया इस प्रबन्ध में इस बात पर बल दिया गया है कि ममत्व के त्याग के बिना जीवन में समता का आविर्भाव नहीं होता है और बिना समता के सदनुष्ठान नहीं होता और बिना सदनुष्ठान के मनःशुद्धि नहीं होती है और मनःशुद्धि के बिना आत्मशुद्धि भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः यह तृतीय प्रबन्ध आत्मविशुद्धि के ही चार चरणों को स्पष्ट करता है, जिसमें ममत्व त्याग, समत्व की साधना, सदनुष्ठान और मनःशुद्धि में चार आधार स्तम्भ है। अध्यात्मसार का चौथा प्रबन्ध सम्यक्त्व से सम्बन्धित है। इसमें लगभग १५८ श्लोक हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध निम्न तीन अधिकारों में विभक्त है। सम्यक्त्व अधिकार, मिथ्यात्व त्याग अधिकार और असद्ग्रहत्याग अधिकार। इनमें असद् आग्रह का त्याग और मिथ्यात्व का त्याग ही सम्यक्त्व की भूमिका को स्पष्ट करता है। जब मिथ्या आग्रहों का त्याग होता है। तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है और मिथ्यात्व के त्याग से ही सम्यक्त्व का प्रकटन होता है और बिना सम्यक्त्व को प्राप्त किये आत्मविशुद्धि और आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं है इस प्रकार यह चतुर्थ प्रबन्ध आध्यात्मिक विकास के लिए आधारभूत है।

अध्यात्मसार का पाँचवाँ प्रबन्ध योग अधिकार से प्रारम्भ होता है। इसमें मुख्यतया योग और ध्यान से सम्बन्धित विषय की चर्चा की गयी है। यह अधिकार ८२ श्लोकों में निबद्ध है और योग और ध्यान की विस्तार से चर्चा करता है। इसमें तीन अधिकार है- योग अधिकार, ध्यान अधिकार और ध्यान स्तुति अधिकार। इस प्रबन्ध को भी हम आध्यात्मिक साधन का एक प्रमुख अंग मान सकते हैं, क्योंकि अध्यात्मिक साधन बिना योग और ध्यान के सम्भव नहीं होते हैं। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध आत्मविशुद्धि के साधना मार्ग को प्रस्तुत करता है। अध्यात्मसार के छह प्रबन्ध में दो अधिकार हैं- आत्मनिश्चय अधिकार और जिनमत स्तुति अधिकार। आत्मनिश्चय अधिकार योग और ध्यान की उपलब्धि रूप है। आत्मनिश्चय ही जिनमत का सारभूत तत्त्व है और वस्तुतः यह आत्मोपलब्धि ही जिनमत स्तुति का आधार बनती है क्योंकि साध्य की सिद्धि साधन के महत्त्व को स्पष्ट कर देती है।

अध्यात्मसार का साँतवाँ प्रबन्ध अतिसंक्षिप्त है और इसमें मात्र ६० श्लोक है। यह दो भागों में विभक्त है। अनुभव अधिकार और सज्जन स्तुति अधिकार। ध्यान और योग के माध्यम से जो आत्मनिश्चय होता है वही आत्मानुभूति के रूप में परिणत हो जाता है। यह आत्मानुभूति ही समग्र साधना का आधारभूत है और इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व एक अन्यरूप में ही प्रकट होता है, उसी को सज्जनस्तुति के नाम से इस ग्रन्थ में अभिव्यक्त किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का एक समग्र चित्र प्रस्तुत करती है।

आज से लगभग ४ वर्ष पूर्व साध्वी श्री प्रीतिदर्शनाजी से उनके शोध विषय के सम्बन्ध में चर्चा हुई तो मैंने उनकी आध्यात्मिक रुचि को देखते हुए उन्हें उपाध्याय यशोविजयजी के अध्यात्मवाद पर शोध कार्य करने के लिए कहा। इस हेतु उनके आधारभूत ग्रन्थों की खोज की तो पता चला कि उपाध्याय यशोविजयजी के आध्यात्मिक दृष्टि से युक्त निम्न तीन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं- अध्यात्मसार, ज्ञानसार और अध्यात्मोपनिषद्। मैंने उन्हें इन्हीं तीन ग्रन्थों के आधार पर अपने शोधकार्य को आगे बढ़ाने को कहा। किन्तु अध्यात्मसार का कोई भी हिन्दी रूपान्तरण न होने से सर्वप्रथम यही निश्चय किया गया कि इस शोधकार्य की दिशा में आगे बढ़ने के पूर्व इसका हिन्दी अनुवाद करने का प्रयत्न किया जाये। अतः मैंने यह कार्य उन्हें ही सौंपा और इस प्रकार मेरे मार्गदर्शन एवं सहयोग से ग्रन्थ का अनुवाद भी पूर्ण हुआ और उनका शोध-प्रबन्ध भी तैयार हुआ।

मेरी दृष्टि में श्वेताम्बर परम्परा में जो आध्यात्मिक दृष्टि सम्बन्धी ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें अध्यात्मसार का स्थान सर्वोपरि कहा जा सकता है। स्वाध्यायरसिक

पाठकों के लिये उनकी आध्यात्मिक अभिरुचि जीवन्त रखने के लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। अतः इसका प्रकाशन हो, यह भी आवश्यक समझा गया। यद्यपि डॉ. रमणलाल पी. शाह का अध्यात्मसार गुजराती अनुवाद सहित उपलब्ध होता है। किन्तु हिन्दी अनुवाद सहित इस ग्रन्थ का कोई भी संस्करण उपलब्ध नहीं था अतः इसके प्रकाशन के लिए प्रयास किये गये। आचार्यश्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. से निवेदन किया गया और उन्होंने राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद के द्वारा इसके प्रकाशन की अनुमति प्रदान की। आज यह प्रसन्नता का विषय है कि उक्त प्रकाशन से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। निश्चय ही यह प्रकाशन साध्वीश्री प्रीतिदर्शनाजी के श्रम को सार्थक करेगा और स्वाध्याय रसिकों के लिये न केवल उनकी स्वाध्याय रुचि को विकसित करने वाला होगा अपितु उसके माध्यम से वे अपने आध्यात्मिक विकास के मार्ग में आगे बढ़ेंगे। इसी शुभकामना के साथ ...।

शाजापुर (म.प्र.)
कार्तिक पूर्णिमा
विक्रम संवत् २०६५
१३-११-२००८

डॉ. सागरमल जैन

स्वकथ्य

आज भौतिक विकास की दृष्टि से मानव चरम सीमा पर पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। विज्ञान ने अनेक सुख-सुविधाओं के साधन उपलब्ध करा दिए हैं, लेकिन सारे विश्व में अशान्ति ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि किसी भी वस्तु की कामना मनुष्य के मन में अशान्ति को उत्पन्न करती है। जितनी इच्छाएँ अधिक होंगी, उतना ही दुःख भी अधिक होगा। वर्तमान में व्यक्ति आवश्यकताओं के लिए नहीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए दौड़ रहा है। आवश्यकताओं की पूर्ति तो सीमित साधनों से भी हो जाती है। किन्तु इच्छाओं या कामनाओं की पूर्ति कभी नहीं होती है। इच्छाओं के जाल में फँसकर आज व्यक्ति अपनी शान्ति, सन्तोष, सुख आदि को गँवा देता है। हजारों मीठे पानी की नदियाँ सागर में गिरती हैं, फिर भी सागर न तो कभी मीठा हुआ और न तृप्त हुआ। उसी प्रकार हमारी इन्द्रियों का स्वभाव भी अतृप्ति का है। अल्पकाल के लिए क्षणिक तृप्ति अवश्य प्रतीत होती हैं। किन्तु क्षणिक तृप्ति की इस गिरी शिखा में अतृप्ति का लावा तो बुदबुदाहट करता रहता है। विषयों और कषायों के जाल में फँसा सम्यक् दर्शन के अभाव में भोगासक्त मानव कभी सुख को प्राप्त नहीं पाता है। प्रमाद की गहरी नींद में सोई हुई मानव जीत के लिये किसी कवि ने सन्देश दिया-

> भाई सूरज जरा इस आदमी को जगाओ
> भाई पवन जरा इस आदमी को हिलाओ
> यह आदमी जो सोया पड़ा है
> सच से बेखबर जो सपनों में खोया पड़ा है
> भाई पंछी जरा इसके कान पर गीत गाओ।

अध्यात्म रूपी पंछी ही प्रमाद में सोए हुए मानव को जागृत कर सकता है, उसे सजगता का पाठ पढ़ा सकता है। आध्यात्मिक जीवन शैली से ही जीवन में वास्तविक शान्ति एवं प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। जिसके हृदय में अध्यात्म प्रतिष्ठित है, उसके विचार निर्मल, वाणी निर्दोष और वर्तन निर्दंभ होता है। अध्यात्म का मार्ग ऐसा मार्ग है, जो व्यक्तियों की मानसिक वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का परिष्कार, परियार्जन और अन्ततः परिशोधन कर साधक को परम निर्मल शुद्ध परमात्म स्वरूप तक पहुँचा देता है। अध्यात्म के अभाव में सम्पूर्ण विद्या-वैभव एवं विज्ञान शान्ति देने

में समर्थ नहीं है। इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करके समय-समय पर कई महात्माओं ने आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना की।

मानसिक सन्ताप से सन्तप्त प्राणियों को देखकर ज्ञानियों के मन में करुणा उभर आती है। उपाध्याय यशोविजयजी के हृदय में भी ऐसा ही करुणा का बीज आप्लावित हुआ होगा, जो उन्होंने भटके हुए प्राणियों को मार्गदर्शन देने हेतु अध्यात्मसार जैसे कि विशाल ग्रन्थ की रचना की । संयमी जीवन में आध्यात्मिक ग्रन्थों के प्रति प्रारम्भ से मेरी रुचि रही है। जब विद्वद्वर्य डॉ. सागरमलजी जैन के निर्देशन में उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद विषय पर शोध का कार्य चल रहा था, तब उपाध्याय यशोविजयजी विरचित अध्यात्मसार नामक ग्रन्थ का गहन अध्ययन करने का अवसर मिला। डॉ. रमणलालजी जैन ने भी इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करवाया। उस समय मुझे प्राच्य विद्यापीठ के शान्त वातावरण में अध्यात्म के क्षेत्र में चिन्तन, मनन करने का बहुत अवसर मिला। मेरे आत्मिक आनन्द में भी वृद्धि हुई। मुझे यह अनुभव हुआ कि आज के तनाव ग्रसित मानव के लिए इस तरह के आध्यात्मिक ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। (Neccessity is Mother of Invention) इस तरह इस ग्रन्थ को सरल हिन्दी में भाषा में अनूदित करने की भावना हुई। देव गुरु की कृपा से और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आगम मूर्धन्य विद्वान् से और डॉ. सागरमलजी जैन के सहयोग से इस भावना को साकार रूप दिया। उनके कुशल मार्गदर्शन के बिना इस अनुवाद का पूर्ण होना मुश्किल था। मेरा अपना कोई सामर्थ्य नहीं था कि मैं इस कार्य को पूर्ण कर सकती, परन्तु मेरे परम आराध्य अभिधान राजेन्द्र कोष के रचयिता प्रातः स्मरणीय विश्वपूज्य राजेन्द्र सूरीश्वर जी गुरुदेव की अदृश्य कृपादृष्टि निरन्तर बरसती रही, जो मेरे इस कार्य को निरन्तर ऊर्जा प्रदान करती रही। साथ ही बहुमुखी प्रतिभा के धनी मेरी अनन्त आस्था के केन्द्र मेरी जीवनधारा के दिशा निर्णायक संयम प्रदाता राष्ट्रसंत प.पू. आचार्य सम्राट् श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म. के आशीर्वाद से मुझे बल मिलता रहा, यह अनुवाद अध्यात्मसार का आपश्री की असीम कृपा का सुफल है। मैं उनके चरणों में शत्-शत् वन्दना सहित यह प्रकाशन करती। मेरे पूर्व जनम के संचित पुण्यों का फल है कि समता मूर्त्ति पूज्या गुरुवर्या सरल स्वभाविनी पू. महाप्रभा श्रीजी की दिव्य कृपा से मुझे यह अनुवाद करने की पात्रता प्राप्त हुई। परम पूज्या ज्येष्ठ भगिनीद्वय प.पू. डॉ. प्रियदर्शना श्रीजी एवं डॉ. सुदर्शना श्रीजी की प्रेरणा ने मुझे सदैव पुरुषार्थ के लिये प्रेरित किया है। जिन्होंने अध्ययन हेतु प्रेरणा देकर सतत अनुग्रह आशीर्वाद बरसाया। उन पूज्या वात्सल्य निर्झरा, मालवमणि स्वयंप्रभा श्रीजी एवं मम जीवनोपकारी सरल स्वभावी मातृवत्सला परम पूज्या कनकप्रभा श्रीजी म.सा. के स्नेहिल और सहयोग पूर्ण क्षणों को अनेक जन्मों तक मेरे हृदयकोष में संचित रखकर मैं आभारी हूँ । ज्ञानपिपासु अध्ययनरता, स्नेहसिक्ता अनुजाद्वय रुचिदर्शना श्रीजी एवं श्रुतिदर्शना श्रीजी की प्रति

जिन्होंने मेरे अध्ययन एवं अनुवाद कार्य के दौरान हर तरह की सेवाएँ प्रदान करने की भूमिका अदा की और ज्ञानोपासना के पलों में निरन्तर मेरी सहचरी बनी रहीं।

मैं उन सभी चरित्रात्माओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सका, लेकिन जिनके आशीर्वाद से यह कार्य निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हुआ।

मैं चेतनजी सोनी (व्याख्याता, उ.मा.वि., शाजापुर) के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने प्रुफ चेक करके त्रुटियों को सुधारने में सहयोग प्रदान किया है। डॉ. तेजसिंहजी गौड़ के आत्मीय सहयोग को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रुत सहयोगी श्री राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद भी साधुवाद के पात्र हैं, ग्रन्थ प्रकाशन में सहयोग देकर उसने अपनी श्रुत भक्ति तथा उदारता का परिचय दिया है एवं त्रिस्तुतिक संघ का गौरव बढ़ाया है। मैं इस हेतु ट्रस्ट की हृदय से आभारी हूँ।

उपाध्याय यशोविजयजी के अध्यात्म से भरपूर इस आध्यात्मिक ग्रन्थ में ७ प्रबन्ध, २१ अधिकार तथा ६४६ श्लोक हैं।

प्रत्येक श्लोक में बिन्दु में सिंधु की तरह विषय को संग्रहित कर लिया गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाठकों की जीवन-शैली में सुधार हो, दृष्टिकोण सम्यक् बने और वे आत्मोपलब्धि के मार्ग की ओर आगे बढ़ें, यही जिनेश्वर परमात्मा के चरणों में प्रार्थना।

प्राच्य विद्यापीठ
शाजापुर (म.प्र.)

– साध्वी प्रीतिदर्शनाश्री

अनुक्रमणिका

(i) समर्पण

(ii) ममाशीर्वचनम – आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरि

(iii) भूमिका – डॉ.सागरमल जैन

(vi) स्वकथ्य – साध्वीश्री प्रीतिदर्शनाश्री

1. प्रथम–अधिकार

(i) अध्यात्म माहात्म्य अधिकार 1

2. द्वितीय–अधिकार

(i) अध्यात्म–स्वरूप–अधिकार 20

3. प्रबन्ध–प्रथम

(i) तृतीय अधिकार–दम्भ त्याग 42

(ii) चौथा अधिकार–भवस्वरूप चिन्ता–अधिकार 58

4. प्रबन्ध–द्वितीय

(i) पाँचवाँ अधिकार–वैराग्य सम्भव अधिकार 88

(ii) छठवाँ अधिकार–वैराग्य भेद–अधिकार 120

(iii) सातवाँ अधिकार–वैराग्य–विषय अधिकार 157

5. प्रबन्ध–तृतीय

(i) आठवाँ अधिकार–ममत्व त्याग अधिकार 183

(ii) नवाँ अधिकार–समता अधिकार 214

(iii) दसवाँ अधिकार–सदनुष्ठान अधिकार 240

(iv) ग्यारहवाँ अधिकार–मनशुद्धि अधिकार 277

6. **प्रबन्ध–चतुर्थ**

(i)	बारहवाँ अधिकार–सम्यक्त्व अधिकार	300
(ii)	तेरहवाँ अधिकार–मिथ्यात्व त्याग अधिकार	355
(iii)	चौदहवाँ अधिकार–असद् ग्रहत्याग अधिकार	440

7. **प्रबन्ध–पाँचवाँ**

(i)	पन्द्रहवाँ अधिकार–योग अधिकार	460
(ii)	सोलहवाँ अधिकार–ध्यान अधिकार	541
(iii)	सत्रहवाँ अधिकार–ध्यान स्तुति अधिकार	629

8. **प्रबन्ध–छठवाँ**

(i)	अठारहवाँ अधिकार–आत्मनिश्चय अधिकार	644
(ii)	उन्नीसवाँ अधिकार–जिनमत स्तुति अधिकार	821

9. **प्रबन्ध–सातवाँ**

(i)	बीसवाँ अधिकार–अनुभव अधिकार	840
(ii)	इक्कीसवाँ अधिकार–सज्जन स्तुति अधिकार	893

प्रथम अधिकार

!! अध्यात्म माहात्म्य अधिकार !!

(१) ऐन्द्रश्रेणिनतः श्रीमान्नन्दतान्नाभिनन्दनः।
उद्दधार युगादौ यो जगदज्ञानपङ्कतः।।१।।

<u>अनुवाद</u> - इन्द्रों के समूह द्वारा वन्दित केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त युग के प्रारंभ में अज्ञानरूपी कीचड़ में से जगत् का उद्धार करने वाले नाभिराजा के पुत्र ऋषभदेव भगवान् सभी को आनन्द-प्रदाता हों।

<u>विशेषार्थ</u> - ग्रंथकर्त्ता ने प्रथम श्लोक में प्राचीन भारतीय-परंपरा के अनुसार ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवाधिदेव श्री ऋषभदेव भगवान् को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है। इस प्रथम श्लोक के प्रारम्भ में 'ऐ' स्वर आया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अपनी अनेक कृतियों का प्रारंभ ऐं शब्द से किया है। कहा जाता है कि 'ऐं नमः' - यह मंत्र श्रुतदेवी की उपासना के लिए है, जो उन्हें अत्यंत प्रिय था।

इन्द्र, अर्थात् सौधर्म आदि देवलोकों के स्वामी - ऐसे इन्द्रों की श्रेणी, अर्थात् पंक्ति। उनके द्वारा नमस्कृत श्री ऋषभदेव भगवान्, केवलज्ञान अष्टप्रतिहार्य और चौंतीस अतिशय रूपी लक्ष्मी से युक्त हैं। नाभि कुलकर के पुत्र श्री ऋषभदेव ने इस अवसर्पिणी में युग के प्रारंभ में, अज्ञानरूपी कीचड़ में फँसे हुए लोगों को अपनी दिव्यवाणी से बोधामृत प्रदान कर, उनका उद्धार किया।

प्रथम राजा के रूप में उन्होंने लोगों को असि-मसि-कृषि की विद्या सिखाई तथा व्यावहारिक-जीवन की उपयोगिता समझाकर उनको संस्कारी बनाया। इस प्रकार तीसरे आरे के अंत में संस्कार-युग का प्रारंभ उनके द्वारा हुआ।

इस प्रकार मंगल-स्तुति के साथ-साथ उ. यशोविजयजी ने गर्भित रूप से परमात्मा के चारों अतिशय भी बताए हैं। 'सर्वप्रथम देवों के द्वारा पूज्य' कहकर उन्होंने पूजातिशय दर्शाया है। दूसरे चरण में उन्होंने परमात्मा को केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त बतलाकर ज्ञानातिशय को सूचित किया है। तीसरे एवं चौथे चरण में परमात्मा की वाणी का अतिशय बतलाकर उन्हें अज्ञानरूपी कीचड़ में से जगत् का उद्धार करने वाला कहा है, जिससे परमात्मा के वचनातिशय तथा दूसरे चरण के नन्दतान् शब्द से अपायपगमातिशय को सूचित किया है।

उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मसार नामक इस ग्रंथ की रचना साधक के अन्दर रहे हुए अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करने के उद्देश्य से की है।

(२) श्रीशान्तिस्तान्तिभिद्भूयाद्भविनां लांछनः।
गावः कुवलयोल्लासं कुर्वते यस्य निर्मलाः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> जो मृग के चिह्न से युक्त हैं तथा जो चन्द्रमा के समान निर्मल हैं और जिनकी वाणी या ज्ञानरूपी किरणें भू-मण्डलरूप कुमुदिनी का विकास करने वाली है, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान् भव्यजीवों के संताप को दूर करें।

<u>विशेषार्थ -</u> दूसरे श्लोक में सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान् की स्तुति की गई है। इस श्लोक में मृगलांछन, गावः, कुवलय आदि शब्दों का श्लेष-अलंकार के रूप में विशिष्ट अर्थों में प्रयोग किया गया है। मृगलांछन-मृग (हरिण) शान्तिनाथ भगवान् का चिह्न है और चन्द्र में भी हरिण का चिह्न दिखाई देता है, अतः मृगलांछन का दूसरा अर्थ चन्द्र भी होता है।

गो (गावः) का अर्थ वाणी है, किन्तु गो का अन्य अर्थ किरण, अर्थात् ज्ञानरूपी किरण भी होता है। कुवलय का एक अर्थ कुमुदिनी है और दूसरा अर्थ पृथ्वी होता है।

जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी निर्मल किरणों द्वारा कुमुदिनी को विकसित करता है, उसी तरह श्री शान्तिनाथ भगवान् की वाणी पृथ्वीमंडल को उल्लसित करती है। चन्द्र जिस तरह अपनी शीतल किरणों द्वारा प्राणियों के ताप को दूर करता है, शीतलता प्रदान करता है, उसी तरह शान्तिनाथ

भगवान् भी भव्य जीवों का संताप दूर करने वाले हैं। उनकी निर्मल वाणी द्वारा अज्ञान का नाश होकर भव्य जीवों को परम सुख की प्राप्ति होती है।

शान्तिनाथ भगवान् का जब जन्म हुआ था, तब जनता के रोग शान्त हो गए थे, इसलिए उनको संताप दूर करने वाला भी कहा गया है।

इस प्रकार उ. यशोविजय ने शान्तिनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए उनकी महिमा को दर्शाया है।

(३) **श्री शैवेयं जिनं स्तौमि, भुवनं यशसेव यः।**
मारुतेन मुखोत्थेन पांचजन्यमपूपुरत्।।३।।

<u>अनुवाद</u> - जिसने अपने मुख से निकली वायु द्वारा पांचजन्य शंख को फूंका था तथा जिसका शंख के समान उज्ज्वल यश जगत् में व्याप्त है, ऐसे शिवादेवी माता के पुत्र नेमिनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

<u>विशेषार्थ</u> - बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान् ने बचपन में खेल-खेल में श्रीकृष्ण वासुदेव के पांचजन्य शंख को अपने मुख से बजाया था और अपने पराक्रम से श्रीकृष्ण को और अन्य लोगों को आश्चर्यमुग्ध कर दिया था, ऐसे श्री नेमिनाथ भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त कर अपने शंख जैसे उज्ज्वल यश द्वारा जगत् को व्याप्त कर दिया था, अर्थात् उनका उज्ज्वल यश सम्पूर्ण जगत् में वायु की तरह फैल गया था। उन श्री नेमिनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

(४) **जीयात्फणिफणप्रान्त संक्रान्ततनुरेकदाः।**
उद्धर्तुमिव विश्वानि श्रीपार्श्वो बहुरूपभाक्।।४।।

<u>अनुवाद</u> - सर्प के फणों के अग्रभाग में (स्थित मणियों में) एक ही समय में जिनके शरीर के अनेक प्रतिबिंब प्रतिबिंबित हैं और उससे ऐसा आभासित होता है कि जैसे तीनों लोकों का उद्धार करने के लिए उन्होंने अनेक रूप धारण किए हों, ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् जयवंत हों।

<u>विशेषार्थ</u> - पूर्वजन्म के वैरी कमठ नामक असुर ने तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् पर मूसलाधार वृष्टि सहित अनेक उपसर्ग किए। उस समय भगवान् के प्रति अतिशय भक्ति के कारण धरणेन्द्रदेव ने सर्प का रूप

धारण किया और भगवान् के मस्तक के ऊपर छत्र के आकार में अपने फणों को फैला दिया। इन फणों के अग्रभाग में रही हुई मणियों में भगवान् के शरीर की अनेक आकृतियाँ दिखाई दे रही थीं। कवि यहाँ उत्प्रेक्षा-अनुप्रास से यह बताता है कि फणों में प्रतिबिम्बित अनेक आकृतियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों भगवान् ने जगत् के उद्धार के लिए अनेक रूप धारण किए हों।

(५) जगदानन्दनः स्वामी जयति ज्ञातनन्दनः।
उपजीवन्ति यद्वाचमद्याऽपि विबुधाः सुधाम्।।५।।

अनुवाद - जो जगत् को आनंद प्रदान करने वाले हैं तथा जिनकी वाणीरूपी अमृत का सेवन वर्तमान में भी प्राज्ञ-पुरुष कर रहे हैं, ऐसे ज्ञातनंदन सदैव जयवंत हों।

विशेषार्थ - सिद्धार्थ राजा ज्ञातृ कुल के थे। वर्तमान चौबीसी के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी, सिद्धार्थ राजा के पुत्र के रूप में ज्ञातृवंश में उत्पन्न होने के कारण ज्ञातनंदन कहलाए। 'सवि जीव करुं शासन रसि'- इस करुणा-भाव से ओतप्रोत भगवान् महावीर सभी जीवों को आनंद देने वाले हैं। भगवान् महावीर ने छब्बीस सौ वर्ष पूर्व भव्य जीवों के आत्मकल्याण के लिए जो देशना दी थी, वही श्रुत-परंपरा आज तक चल रही है। वर्तमान में आगमों के रूप में विद्यमान् भगवान् महावीर की अनेकांतमय वाणी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को बताने वाली, सभी संशयों को दूर करने वाली तथा अमृत के समान है। ऐसी अमृतमय दिव्य वाणी का सेवन प्राज्ञपुरुष आज तक कर रहे हैं, क्योंकि वर्तमान में भी महावीर स्वामी का ही शासन चल रहा है और यह शासन पाँचवें आरे के अन्त तक विद्यमान रहेगा।

(६) एतानन्यानपि जिनान्नमस्कृत्य गुरूनपि
अध्यात्मसारमधुना प्रकटीकर्तुमुत्सहे।।६।।

अनुवाद - उनको (महावीर स्वामी को) और अन्य जिनेश्वरों तथा गुरुजनों को नमस्कार करके मैं इस अध्यात्मसार नामक ग्रंथ की रचना के लिए उत्साहित हुआ हूँ।

विशेषार्थ - ऋषभदेव आदि पाँच तीर्थंकर की स्तुति करने के बाद ग्रंथकार अन्य सभी तीर्थंकरों और गुरुजनों को नमस्कार कर कहता है- "मैं अब अध्यात्मसार नामक इस ग्रंथ की रचना के लिए उद्यत हुआ हूँ।" यहाँ ग्रन्थकार ने ग्रंथ का नाम निर्देश करने के साथ-साथ अपना उत्साह भी प्रकट किया है, क्योंकि दृढ़ संकल्प और उत्साह के बिना कार्य की पूर्णता में शंका बनी रहती है, जबकि मन का तीव्र उत्साह कार्य में गति प्रदान करता है। 'आत्मानम् अधिकृत्य यद्वर्तते तद् अध्यात्मम्', अर्थात् आत्मा को लक्ष्य करके जो भी क्रिया की जाती है, वह अध्यात्म कहलाती है। 'अध्यात्म' शब्द अधि+आत्म से बना है। 'अधि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है। जो आत्मा को विशिष्ट महत्त्व देता है, वही अध्यात्म है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अतः जो ज्ञाता-दृष्टाभाव की ओर ले जाता है, वही अध्यात्म है। दूसरे शब्दों में, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिंतन, मनन, निदिध्यासन अध्यात्म है। जो शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय या क्रम बताता है, वह शास्त्र अध्यात्मशास्त्र है। ग्रंथकार अंतर की स्फुरणा से उत्साहपूर्वक इस ग्रंथ की रचना करने में संलग्न हुआ। उत्साह किसी कार्य में चार चाँद लगा देता है, वह कार्य को भव्य बना देता है, यही कारण है कि यह ग्रंथ भी अध्यात्म से भरपूर और प्राणवान् है।

(७) शास्त्रात् परिचितां सम्यक् सम्प्रदायाच्च धीमताम्।
इहानुभवयोगाच्च प्रक्रियां कामपि ब्रुवे।।७।।

अनुवाद - मैं यहां शास्त्र में गीतार्थ पुरुषों की परम्परा और स्वानुभव के आधार पर अध्यात्म-साधना की इस प्रक्रिया के विषय में किंचित् कथन करूंगा।

विशेषार्थ - आध्यात्मिक-साधना के प्रत्येक कथन के लिए शास्त्र की सहमति प्राथमिक शर्त है, क्योंकि शास्त्रों से विरूद्ध निरूपण करने में अनेक दोषों की सम्भावना है। शास्त्र-विरूद्ध कथन करने वाला ग्रन्थ शिष्ट पुरुषों के मध्य आदरणीय नहीं बनता है, अतः ग्रंथ के लिए शास्त्र का आधार आवश्यक है। कई बातें ऐसी भी होती हैं, जिनका रहस्य मात्र शास्त्र पढ़ लेने से ही ज्ञात नहीं होता। उन्हें गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान के द्वारा विस्तार से जाना जाता है, अतः संक्षिप्त रहस्यमय सूत्रों का स्पष्टीकरण

गुरुजनों की साक्षी में होता है। सम्प्रदाय, अर्थात् जो गुरु-परम्परा द्वारा सम्यक् रूप से ज्ञान प्रदान करें, वह सम्प्रदाय है। गीतार्थ गुरुजनों की परम्परा को सम्प्रदाय कहा जाता है, किन्तु किसी भी विषय की कुशलतापूर्वक अभिव्यक्ति तब ही हो सकती है, जब उसका स्वानुभव हो। जब तक किंचित् भी स्वानुभव न हो, उस विषय को अधिकारपूर्वक तथा दृढ़ता से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है, अतः ग्रन्थकार शास्त्र, गुरु-परंपरा और स्वानुभव-तीनों के समन्वयसहित विनयपूर्वक अध्यात्म के विषय में किंचित् प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा करता है। किंचित् शब्द ग्रंथकार की विनम्रता का सूचक है। अध्यात्म जैसे विराट् विषय का सम्पूर्ण कथन तो भगवान् द्वारा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वे भी शब्द और समय की सीमा में बंधे हुए हैं। साथ ही, अध्यात्म तो अनुभूति का विषय है, शाब्दिक-अभिव्यक्ति का नहीं। अध्यात्म को वही जान सकता है, जो उसका अनुभव करता है।

(८) **योगिनां प्रीतये पद्यमध्यात्मरसपेशलम्।**
भोगिनां भामिनीगीतं संगीतकमयं यथा।।८।।

<u>अनुवाद</u> - जिस प्रकार स्त्री का संगीतमय गीत भोगी पुरुषों की प्रीति का विषय होता है, उसी प्रकार अध्यात्म-रस से युक्त विशिष्ट पद्य योगीजनों की प्रीति के विषय होते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - योगी और भोगी ये दोनों परस्पर विरुद्ध शब्द हैं। जो भोग में रुचि रखता है, उसके लिए शरीर साध्य है और आत्मा साधन है। उसकी दृष्टि शरीर पर केन्द्रित होती है, जबकि योग के शिखर पर आरूढ़ योगी के लिए आत्मा साध्य तथा शरीर मात्र साधन होता है। साधन का उपयोग साध्य तक पहुँचने के लिए किया जाता है। इस पद्य में ग्रंथकार ने योगी और भोगी को किसमें रस या आनंद आता है, यह बताया है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श - इन पांचों इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध भोगी को नृत्य-संगीत से युक्त स्त्रियों के मधुर गीत से जो आनंद प्राप्त होता है, उससे कई गुना अधिक आनंद आध्यात्मिक-पुरुषों को अध्यात्म-रस से परिपूर्ण पदों को सुनने से होता है। दोनों के आनंद में बहुत अन्तर है। एक संसार का कारण है और दूसरा मोक्ष का हेतु। एक निम्न-स्तरीय दैहिक-सुख है, तो दूसरा उच्चस्तरीय आत्मिक-आनंद।

(६) कान्ताधरसुधास्वादाद्यूनां यज्जायते सुखम्।
बिन्दुः पार्श्वे तदध्यात्मशास्त्रस्वादसुखोदधेः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> युवा पुरुषों को स्त्री के अधरामृत के आस्वाद से जिस सुख की प्राप्ति होती है, वह सुख अध्यात्मशास्त्र के आस्वादन से मिलने वाले सुख के सागर के समक्ष, मात्र एक बिंदु के समान है।

<u>विशेषार्थ -</u> कामासक्त युवकों को स्त्री के अधरपान में अमृतपान के आस्वादन जैसे सुख का अनुभव होता है। इन्द्रियजन्य, भौतिक सुख स्थूल है, पराधीन है, कृत्रिम व सांयोगिक है। मोहनीय-कर्म के उदय से जीव को विषयभोग की उत्सुकता होती है। विषयभोगों के सेवन से उत्पन्न सुख मात्र भूख-प्यास आदि के प्रतिकाररूप है। जैसे खुजली के रोगी को शरीर खुजलाने से सुख का अनुभव होता है, किंतु खुजलाने से वास्तविक सुख उत्पन्न नहीं होता, वह मात्र खुजली का कुछ समय के लिए निरोध होने का औपचारिक सुख है, कामभोगजन्य सुख भी उसी प्रकार का ही है। अति भोग शारीरिक एवं मानसिक-रोग उत्पन्न करता है। भोगों से कभी भी पूर्ण तृप्ति नहीं होती है, वे बार-बार भोगाकांक्षा उत्पन्न करते रहते हैं। सच्चा सुख तो वह है, जिसे अनुभव करने में किंचित् भी दुःख या भय न हो, जो इच्छा किए बिना ही प्राप्त हो, जिसके लिए बाह्य-साधनों की आवश्यकता न हो, अर्थात् जो स्वाधीन हो, इन्द्रियातीत हो, जो चिरकालीन हो, वही वास्तविक सुख है, ऐसा सुख ही एकमात्र आध्यात्मिक-आनंद है। आध्यात्मिक-आनंद और इन्द्रियजन्य आनंद-दोनों की तुलना करना व्यर्थ है। फिर भी अगर कहना हो, तो कह सकते हैं कि आत्मिक-आनंद सागर के समान है, किन्तु विषयभोग का सुख, सागर के एक बिंदु के समान है।

इस प्रकार यहाँ ग्रंथकार ने यह सूचित किया है कि यदि वास्तविक आनंद की अनुभूति करना हो, तो वह विषयभोगों से निवृत्त होकर ही की जा सकती है।

(१०) अध्यात्मशास्त्रसंभूत-संतोषसुखशालिनः।
गणयन्ति न राजानं न श्रीदं नापि वासवम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> अध्यात्म-शास्त्र से उत्पन्न हुए संतोषरूपी सुख को प्राप्त योगियों को राजा, कुबेर या इन्द्र के भौतिक सुखों की कोई अपेक्षा नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> राजा के पास ऐश्वर्य की कोई कमी नहीं होती है। कई दास-दासियाँ उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं। वह कितने ही याचकों की इच्छा पूरी करता है। कुबेर को धन का भंडारी कहा गया है। वह श्रीदं, अर्थात् लक्ष्मी को प्रदान करने वाला है। इन्द्र, अर्थात् देवों का स्वामी, अन्य देवगण उसकी आज्ञा में रहते हैं। उसका दिव्य रूप, ऐश्वर्य आदि अद्भुत भौतिक सुखों का प्रदाता होता है। फिर भी, संतोषरूपी सुख को प्राप्त योगी के आगे सभी भौतिक सुख नगण्य हैं, क्योंकि उन सुखों को प्राप्त करने के लिए दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। 'पराधीन सपनेहुं सुख नाही'- पराधीनता में सुख दिखाई देता है, परंतु होता नहीं है। जहाँ-जहाँ 'पर' की स्पृहा है, वहाँ-वहाँ दुःख है और जहाँ-जहाँ 'पर' की स्पृहा का अभाव है, वहाँ-वहाँ सन्तोषरूपी सुख है। इस कथन में न तो अतिव्याप्ति का और न अव्याप्ति का और न असंभवता का दोष है। जिसका जीवन निस्पृह है, वही सुखी है। तृष्णा में दुःख है और संतोष में सुख। 'इच्छा हु आगास समा अणन्तिया', अर्थात् इच्छाएँ तो आकाश के समान अनंत हैं। एक इच्छा पूरी होने पर दूसरी जाग्रत हो जाती है और अपनी पूर्ति की अपेक्षा रखती है, अतः उनकी पूर्ति की आकांक्षा के कारण व्यक्ति हमेशा दुःखी बना रहता है। चाहे राजा का सुख हो, चाहे देवों का, सभी पराधीन और अल्पकालीन हैं। वैभव के बीच रहकर भी आत्मतोष के बिना व्यक्ति अशांत बना रहता है, इसलिए सच्चा सुख तो आत्मतोष या अध्यात्मरस में ही रहा हुआ है। इस सुख का जिसको अनुभव हो जाता है, उसकी सारी इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं और उसे संतोषरूपी ऐसे सुख का अनुभव होता है कि राजा, कुबेर और इन्द्र का सुख भी उसे तुच्छ लगता है। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार ने अध्यात्म का महत्त्व एवं उसकी उपादेयता समझाई है।

(११) यः किलाशिक्षिताध्यात्मशास्त्रः पाण्डित्यमिच्छति।
उत्क्षिपत्यंगुलीं पंगुः स स्वर्दुफललिप्सया।।११।।

अनुवाद - जो व्यक्ति अध्यात्मशास्त्र के अनुभव के बिना पांडित्य प्राप्त करने की इच्छा रखता है, वह किसी अपंग व्यक्ति के कल्पवृक्ष-फल को प्राप्त करने की इच्छा से अपनी अंगुली ऊँची करने के समान है। फल-प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करना होता है, मात्र इंगित करने से फल प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ - शास्त्र अनेक प्रकार के होते हैं। उनका अध्ययन करने से विद्वत्ता प्राप्त होती है, लेकिन ये सभी शास्त्र 'पर' के विषय में जानकारी देने वाले हैं। सारे जगत् को जान लेने पर भी जिसने स्वयं को नहीं जाना, उस व्यक्ति का पांडित्य अधूरा है। अध्यात्मशास्त्र 'स्व' का ज्ञान कराता है, इसलिए अध्यात्मशास्त्र के अभ्यास के बिना व्यक्ति को ज्ञान की पूर्णता प्राप्त नहीं होती है। विज्ञान, खगोलशास्त्र, भूगोल, व्याकरणशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, शिल्पशास्त्र - ये सभी शास्त्र भौतिक-विद्या से जुड़े हुए हैं। इनसे बुद्धि का विकास तो होता है, परंतु आत्मा का विकास नहीं होता। जो शास्त्र आत्मा के स्वरूप को बताए, जिससे जड़ तथा जीव में भेदभाव हो, वह शास्त्र अध्यात्मशास्त्र कहलाता है। भौतिक-शास्त्रों का ज्ञान कम-अधिक हो, तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा, किंतु मिले हुए मानवभव को सफल करने के लिए और आत्मिक-सुख का अनुभव करने के लिए अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास अनिवार्य है। अध्यात्मशास्त्र के अभ्यास के बिना बड़े-बड़े विद्वान भी बेचैन, अशांत व दुःखी देखे गए हैं, इसलिए ग्रंथकार कहता है कि अध्यात्मशास्त्र के अभ्यास के बिना कोई व्यक्ति पंडित बनने की इच्छा करता है, तो वह उपहास का पात्र बनता है। उपाध्यायजी ने यहाँ एक सुंदर उपमा देते हुए कहा है कि, कोई अपंग व्यक्ति ऊँचे वृक्ष पर लटकते हुए फल को तोड़ने के लिए हाथ ऊँचा करे, तो वह उपहास का पात्र बनता है। जिस प्रकार पृथ्वी पर रहे हुए अपंग व्यक्ति को फल पाने के लिए, मात्र एक अंगुली-निर्देश करने से वह फल कभी प्राप्त होने वाला नहीं है, उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र के अभ्यास के बिना बाह्य-सूचनात्मक ज्ञान को प्राप्त करके भी व्यक्ति अपंडित ही रहता है।

(१२) दम्भपर्वतदम्भोलिः सौहार्दाम्बुधि चन्द्रमाः।
अध्यात्मशास्त्रमुत्ताल - मोहजालवनानलः।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> अध्यात्मशास्त्र शास्त्र-दम्भरूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान, सौहार्दरूपी समुद्र के लिए चंद्रमा के समान और घनीभूत मोहजालरूपी वन के लिए अग्नि के समान है।

<u>विशेषार्थ -</u> अध्यात्मशास्त्र का महत्त्व बताने के लिए और उसकी उपयोगिता क्या है, यह समझाने के लिए ग्रंथकार ने यहाँ तीन रूपक दिए हैं। उन्होंने अध्यात्मशास्त्र को वज्र, अग्नि और चन्द्रमा के समान बताया है।

अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास मायारूपी पर्वत की शिलाओं को तोड़ने के लिए वज्र के समान है। जिस व्यक्ति के कदम अध्यात्म की दिशा में उठ गए हैं, उस व्यक्ति में सरलता, निर्दोषता, सत्यता प्रवेश करने लगती है। 'धम्मो शुद्धस्स चिट्ठई'-धर्म शुद्ध हृदय में ही निवास करता है - इस उक्ति के अनुसार आध्यात्मिक-व्यक्ति में दंभ, छल, कपट, अहंकार आदि कम होते जाते हैं। उसके विषय और कषाय मंद हो जाते हैं तथा आत्मिक-विशुद्धि बढ़ती जाती है। मिथ्यात्वरूपी अंधकार दूर हो जाता है और सम्यक्त्व का निर्मल प्रकाश फैल जाता है। फलतः, सभी जीवों के प्रति उसमें मैत्रीभाव प्रकट होता है। अध्यात्मशास्त्र उसके मैत्रीरूपी सागर के लिए चन्द्रमा का काम करता है। जैसे चन्द्रमा के विकास से समुद्र में ज्वार आता है, वैसे ही आध्यात्मिक-ज्ञान से उसकी मैत्री-भावना उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती है।

'सर्वे ते प्रिय बान्धवा न हि रिपुरिह, कोऽपि',- सभी प्राणी उसे प्रिय, बान्धव या मित्र के समान दिखाई देते हैं, कोई भी उसे शत्रुरूप में नहीं दिखाई देता।

मोहजालरूपी वन के लिए अध्यात्मशास्त्र दावानल का काम करता है। मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह, षोडश कषाय तथा नौ नोकषाय - ऐसा अट्ठाईस प्रकार का मोहनीय-कर्म है। मोह को सभी कर्मों का राजा कहा गया है। इसका जाल बहुत फैला हुआ होता है। मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम है। दुर्जेय महामोह को

जलाकर भस्म करने के लिए अध्यात्मशास्त्र दावाग्नि का काम करता है। अध्यात्मशास्त्र के अभ्यास से ही सोई चेतना जाग्रत होती है, इसलिए व्यक्ति को अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

(१३) अध्वा धर्मस्य सुस्थः स्यात्पापचौरः पलायते।
अध्यात्मशास्त्र सौराज्ये न स्यात्कश्चिदुपप्लवः।।१३।।

अनुवाद - अध्यात्मशास्त्ररूपी सुराज्य में धर्म का मार्ग सुगम होता है, पापरूपी चोर भाग जाते हैं और अन्य कोई उपद्रव भी नहीं होता है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने इस श्लोक में अध्यात्मशास्त्र का एक सुराज्य के रूप में रूपक दिया है। जहाँ का राजा उदार, प्रजापालक, दयालु और न्यायप्रिय होता है, वह सुराज्य कहलाता है। ऐसा राज्य अपराधी व्यक्ति को कठोर दण्ड और सज्जन व्यक्ति को प्रोत्साहन देने में सदा तत्पर रहता है। उस राज्य में चोर-डाकू आदि का उपद्रव नहीं होता है तथा प्रजा बिल्कुल निर्भय होती है। राज्य के सारे मार्ग सुगम होते हैं, जहाँ भटकने की भी चिंता नहीं होती है और अन्य कोई भय भी नहीं होता। ऐसे ही अध्यात्मरूपी सुराज्य में जब व्यक्ति प्रवेश करता है, तो उसे व्रत-नियमरूपी या रत्नत्रयीरूपी सत्य मार्ग मिल जाता है। उस मार्ग पर पापरूपी चोरों का भय भी नहीं होता तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान-रूपी उपद्रव भी विकल नहीं करते। अध्यात्मरूपी राज्य में सर्वत्र शांति और सुख रहता है, अमन-चैन की बंशी बजती रहती है।

(१४) येषामध्यात्मशास्त्रार्थ-तत्त्वं परिणतं हृदि।
कषायविषयावेशक्लेशस्तेषां न कर्हिचित्।।१४।।

अनुवाद - जिसके हृदय में अध्यात्मशास्त्र के अर्थ का तत्त्व परिणत हो गया है, उसको कषायों और विषयों के आवेश का क्लेश कभी नहीं होता है।

विशेषार्थ - सांसारिक-जीवों में क्लेश उत्पन्न होने के कई निमित्त होते हैं। उनमें मुख्य रूप से क्रोध, मान, माया, लोभ-रूपी कषाय तथा शब्द, वर्ण, रस, रूप, गंध जैसे पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सम्पर्क है। संसार में चारों ओर संघर्ष, क्लेश और युद्ध का वातावरण चलता रहता है। कषाय, अज्ञान और तुच्छ स्वार्थों के कारण प्रायः इस प्रकार की स्थिति निर्मित होती

रहती है। प्राचीनकाल में जितने भी युद्ध हुए और वर्तमान में भी जो युद्ध हो रहे हैं, उनके पीछे व्यक्ति की विषय-तृष्णा तथा राग-द्वेष का ही हाथ है। जब व्यक्ति का भोगोपभोग पर कोई संयम नहीं होता है, तब असंतोष में से अनेक अनर्थों का जन्म होता है और जीवन क्लेशमय हो जाता है।

अध्यात्मशास्त्र के अभ्यास से व्यक्ति की दृष्टि निर्मल हो जाती है। वह अपने मन तथा इन्द्रियों पर काबू पा लेता है। फिर वह मन के अनुसार नहीं चलता है, मन उसके अनुसार चलता है। यहाँ अध्यात्मशास्त्र का अर्थ मात्र शाब्दिक-ज्ञान नहीं है, अपितु उसका तात्पर्य आत्मा के शुद्धस्वरूप की अनुभूति है। आध्यात्मिक-तत्त्वों को जानने के साथ-साथ जीना या आचरण करना आवश्यक है, यही हृदयस्थ करना है। जैसे-राम जिन सुख-सुविधाओं के बीच अयोध्या में आनंद से रहते थे, उसी आनंद के साथ सुख-सुविधाओं के बिना वन में भी रहे। आध्यात्मिक-पुरुषों के जीवन से क्लेश सदा दूर रहता है और आनंद स्थायी रूप से निवास करने लगता है।

(१५) निर्दयः कामचण्डालः पण्डितानपि पीडयेत्।
यदि नाध्यात्मशास्त्रार्थ - बोधयोधकृपा भवेत्।।१५।।

अनुवाद - जब तक अध्यात्मशास्त्र के अर्थबोधरूपी योद्धा की कृपा न हो, तब तक कामदेवरूपी निर्दय चांडाल पंडितों को भी दुःखी करता है।

विशेषार्थ - अध्यात्मशास्त्र को हृदयंगम किए बिना जीव द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में रखना दुष्कर है, इसलिए ग्रंथकार ने अध्यात्मशास्त्र के हृदयंगम होने को योद्धा की उपमा दी और कामवासना को चाण्डाल की। चाण्डाल निम्नवृत्ति का और क्रूर तथा अधम होता है, हिंसक प्रवृत्ति वाला होता है। पापकार्य करते हुए वह बिल्कुल भी नहीं डरता है। अवसर मिलने पर वह सज्जन व्यक्तियों को भी लूट लेता है, उन्हें सताते हुए उसे लज्जा या भय भी नहीं होता है, किंतु चाण्डाल व्यक्ति भी राजा के सैनिक से डरता है। उन्हें देखकर वह दूर भाग जाता है। कामदेव भी चाण्डाल है। वह अवसर देखकर व्यक्ति के चित्त में कामवासना उत्पन्न कर देता है। कामवासना उत्पन्न होने पर व्यक्ति विवेक-शून्य हो जाता है। वह लज्जा का त्याग कर देता है। दुनिया में कई सुशिक्षित और विद्वान् कहलाने वाले, यहाँ तक कि धर्माचार्य और धर्मोपदेशक भी कामवासना पर विजय प्राप्त नहीं कर

पाते हैं, किंतु जिसने अध्यात्मशास्त्रों का रसपान किया है, उनको केवल समझा ही नहीं, बल्कि अनुभूत भी किया है, ऐसी जाग्रत आत्मा काम-विजेता बनती है। वह दुर्गति के साधनरूप कामवासना के वशीभूत नहीं होती है। अध्यात्मरसिक स्थूलिभद्र मुनि तथा विजय सेठ और विजया सेठानी आदि सद्गृहस्थों का नाम जैन-इतिहास में इसलिए अमर हो गया है कि वे काम के घर में रहकर भी अध्यात्म में रमण करते रहे। कामवासना उन पर अपना अधिकार नहीं जमा सकी।

(१६) **विषबल्लिसमां तृष्णां वर्धमानां मनोवने।**
अध्यात्मशास्त्रदात्रेण छिन्दन्ति परमर्षयः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> मनरूपी वन में बढ़ती हुई तृष्णा-रूपी विष की बेल को परम ऋषि अध्यात्मशास्त्ररूपी दराती (दंतारी) द्वारा काट देते हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> ग्रंथकार ने यहाँ मन को वन की, तृष्णा को विषबेल की और अध्यात्मशास्त्र को दराती (दंतारी) की उपमा दी है। जिस प्रकार वन में अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार मनरूपी वन में भी अनेक प्रकार के तृष्णाजन्य संकल्प-विकल्प उठते हैं, इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। यह तृष्णारूपी विषबेल इतनी भयंकर होती है कि व्यक्ति को दुर्गति में ले जाती है। इस तृष्णा का पोषण करते-करते व्यक्ति यम की शरण में चला जाता है। यदि विषबेल खाने में आ जाए, तो व्यक्ति एक ही बार मृत्यु को प्राप्त होता है, किंतु तृष्णारूपी विषबेल व्यक्ति को हर भव में प्रत्येक-पल मारती है। तृष्णा से ग्रसित व्यक्ति कभी आनंद को प्राप्त नहीं कर पाता। अध्यात्म में गहन उतरे हुए परम ऋषि इस तृष्णारूपी बेल को अध्यात्मरूपी दराती से समूल नष्ट कर देते हैं। अध्यात्मरस का आस्वादन करने वाले ऋषियों को इच्छाएँ या तृष्णाएँ नहीं सताती हैं।

(१७) **वने वेश्म धनं दौस्थ्ये तेजो ध्वान्ते जलं मरौ।**
दुरापमाप्यते धन्यैः कलावध्यात्मवाङ्मयम्।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> वन में घर, दरिद्रता में धन, अंधकार में प्रकाश और मरुस्थल में जल का मिलना जिस प्रकार दुर्लभ है, उसी प्रकार इस कलियुग में कोई भाग्यशाली व्यक्ति ही अध्यात्म-शास्त्र को प्राप्त कर पाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जैन-दर्शन के अनुसार उत्सर्पिणी-काल का पाँचवां 'दुखम' नाम का आरा चल रहा है और हिन्दू-धर्म के अनुसार सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि- इन चार युगों में से अभी कलियुग चल रहा है। मिथ्यात्व के महांधकार से ग्रसित और भौतिक सुखों में तीव्र आसक्ति के इस युग में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश बहुत ही दुर्लभ है। चारों और भोग-विलास से युक्त वातावरण में अध्यात्मशास्त्र के प्रति प्रेम, उसमें रसानुभूति, बहुत ही कठिन है। कोई भाग्यशाली व्यक्ति ही, जिसके प्रबल पुण्य का उदय हो, अध्यात्मशास्त्र के रस को प्राप्त कर पाता है, अर्थात् अध्यात्मरसिक बन सकता है। अध्यात्मशास्त्र की दुर्लभता को बताते हुए ग्रंथकार ने चार दृष्टान्त दिए है। घोर वन में भटकते हुए पथिक को आवास का मिलना, जन्म से ही दरिद्रता में जीने वाले व्यक्ति को अचानक धन का मिलना, अंधकार में भटके हुए प्राणी को प्रकाश का मिलना और मरुस्थल में परिश्रम से क्लान्त तृषार्त्त व्यक्ति को पानी का मिलना जैसा दुर्लभ है, उससे भी अधिक दुर्लभ कलियुग में अध्यात्मविद्या में रस उत्पन्न होना है।

(१८) **वेदान्यशास्त्रवित् क्लेशं रसमध्यात्मशास्त्रवित्।**
भाग्यभृद् भोगमाप्नोति वहते चंदनं खरः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> वेदों तथा अन्य अनेक शास्त्रों के जानने वाले व्यक्ति भी भोगाकांक्षा के कारण क्लेश का अनुभव करते हैं, जबकि अध्यात्मशास्त्र में रुचि रखने वाले आनंद का अनुभव करते हैं। गधा चंदन की लकड़ियों का भार तो वहन करता है, परंतु उसकी सुगंध का अनुभव तो भाग्यशाली पुरुष ही करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस दुनिया में बहुत से शास्त्र हैं, किंतु अध्यात्मशास्त्र की तुलना किसी भी शास्त्र से नहीं की जा सकती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद - ये चारों वेद तथा सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, आदि अनेक दर्शनों के जटिल ग्रंथ तथा व्याकरण, छंद, अलंकार, नाटक आदि शास्त्रों का अध्ययन करते-करते व्यक्ति वादविवाद में ही उलझ जाता है। वह शांति अनुभव करने के बजाय, क्लेश अनुभव करता है। अध्यात्म को पाए बगैर अन्य शास्त्रों का ज्ञान, अहंकार को उत्पन्न करता है। वह ज्ञान मात्र बुद्धि-विलास होता है। मनुष्य के अन्दर की

वृत्ति अध्यात्म के बिना सम्यक् नहीं होती। अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले की आत्म-परिणति अत्यन्त निर्मल हो जाती है। वह आत्म-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है, अध्यात्मरस का आस्वादन करता है। अध्यात्म के बिना ज्ञान उस चम्मच की तरह होता है, जो खीर के पात्र में रहते हुए भी खीर के आस्वादन से वंचित रहती है।

(१६) **भुजास्फालनहस्तास्य - विकाराभिनयाः परे।**
अध्यात्मशास्त्रविज्ञास्तु वदन्त्यविकृते क्षणाः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> अन्य वक्ता हाथ ऊँचे-ऊँचे करके और हाथ तथा मुख की अनेक भाव-भंगिमा बनाकर नाटकीय-ढंग से बोलते हैं, जबकि अध्यात्मशास्त्र में निमग्न महापुरुष नेत्र में भी विकास लाए बिना ही बोलते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> अध्यात्मशास्त्र के अध्ययन से जीवन में शांति एवं गंभीरता का अनुभव होता है। 'अधजल गगरी छलकत जाय'- यह लोकोक्ति है। जिन्होंने अध्यात्म को स्पर्श नहीं किया, ऐसे विद्वान इसी लोकोक्ति को सार्थक करते हैं। वे जब बोलते हैं, तो अपने वक्तव्य को महत्त्वपूर्ण बताने के लिए, हाथ उठाते हैं, मुख की भंगिमाओं से अनेक प्रकार के हावभाव करते हैं, अभिनय करते है; लेकिन आत्मिक-अनुभव के रसिक, अध्यात्मशास्त्र को जानने वाले, अपना वक्तव्य स्वाभाविक रूप से तथा शान्तभाव से प्रकट करते हैं। उनकी मुखाकृति सौम्य, शान्त और अविकारी रहती है। उन्हें कुछ भी अभिनय करने की आवश्यकता ही नहीं रहती हैं। वे सदा आत्मिक-आनंद में डूबे रहते हैं।

(२०) **अध्यात्मशास्त्रहेमाद्रि - मथितादागमोदधेः।**
भूयांसि गुणरत्नानि प्राप्यन्ते विबुधैर्न किम्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> अध्यात्मशास्त्ररूपी समुद्र को हिमाचलरूपी मथानी द्वारा मंथन करके प्राज्ञ-पुरुष क्या अनेक गुणरत्नों को प्राप्त नहीं करते ? अर्थात् प्राप्त करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जितना बड़ा पात्र हो, मथानी भी उतनी ही बड़ी चाहिए। समुद्र का मन्थन करना हो, तो मथानी भी मेरु पर्वत जितनी बड़ी होना चाहिए। पौराणिक-कथा के अनुसार देवों ने मेरु पर्वत की मथानी से समुद्र

का मन्थन किया और चौदह रत्न प्राप्त किए। 'विबुध' शब्द का अर्थ देव और प्राज्ञ-पुरुष- दोनों ही हैं। आगमरूपी समुद्र का मन्थन प्रज्ञा-रूपी मथानी से कोई प्राज्ञ-पुरुष ही करता है और मन्थन करके उसमें से गुणरूपी रत्न प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र क्षमा, आर्जव आदि अनेक प्रकार के गुणों की प्राप्ति ज्ञानी पुरुषों को प्रज्ञारूपी मथानी से आगमरूपी समुद्र के मंथन द्वारा ही होती है।

(२१) रसो भोगावधिः कामे सद्भक्ष्ये भोजनावधिः।
अध्यात्मशास्त्रसेवायामसौ निरवधिः पुनः।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> मैथुन-सेवन की रसानुभूति भोग की अवधि तक ही रहती है। उत्तम भोजन की रसानुभूति जब तक भोजन करते हैं, तब तक रहती है, परंतु अध्यात्मशास्त्र के सेवन की रसानुभूति तो निरवधि, अर्थात् सदैव ही रहती है।

<u>विशेषार्थ -</u> इन्द्रियजन्य विषय-सेवन से मिलने वाला कोई भी सुख क्यों न हो, वह एक सीमित अवधि तक ही रहता है। मात्र यही नहीं, इन सुखों को अधिक समय तक भोगने पर ये विकृत हो जाते हैं, अर्थात् सुख नहीं देते हैं। प्रायः, लोगों में स्वादिष्ट भोजन और विषय-सेवन के प्रति आकर्षण अधिक रहता है। तात्त्विक-दृष्टि से अगर चिन्तन किया जाए, तो उत्तम-से-उत्तम मनपसंद पदार्थ का स्वाद भी जब तक उसका सेवन करते हैं, या रसनेन्द्रिय से उसका सम्पर्क रहता है, तब तक ही अनुभव होता है। भोजन गले से नीचे उतर जाने के बाद उसका स्वाद भी नहीं आता है। स्वाद के लालच में अगर व्यक्ति भोजन का अधिक मात्रा में सेवन कर भी ले, तो वह रोग का शिकार हो जाएगा। कभी-कभी तो अधिक मात्रा में स्वादिष्ट पदार्थों का सेवन करने से मृत्यु भी हो जाती है। अगर कोई व्यक्ति विचार करे कि मैं अपनी मनपसंद वस्तु को जीभ पर रखकर निरन्तर स्वाद लेता ही रहूँ, गले में उतारूँ ही नहीं, तो यह भी संभव नहीं है। ठीक उसी प्रकार, विषय-सेवन का आनंद भी जब तक व्यक्ति भोग का सेवन करता है, तब तक ही रहता है, बाद में तो वह खेद व थकान का ही अनुभव करता है। अतिभोग भी कई रोगों को जन्म देता है, इसलिए इन्द्रियजन्य कोई भी सुख हो, उसकी अपनी काल-मर्यादा होती है। दूसरे, इन्द्रिय-सुख

के अति सेवन से उसे वितृष्णा भी हो जाती है। इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक होता है, जबकि अध्यात्मशास्त्र के रस की कोई अवधि नहीं है, उसमें तो जितना-जितना व्यक्ति गहरा उतरता जाता है, उतना-उतना ही अधिक आनंद का अनुभव करता है। आत्मिक-आनंद ही सर्वोच्च कोटि का है, जो व्यक्ति को मोक्ष तक ले जा सकता है। भौतिक-सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ ही रहता है, जबकि अध्यात्मरस में डूबे महापुरुषों को एकान्त-सुख का अनुभव होता है।

(२२) कुतर्कग्रंथसर्वस्व - गर्वज्वरविकारिणी।
एतिं दृग्निर्मलीभावमध्यात्मग्रंथभेषजात्।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> कुतर्कों से युक्त ग्रंथों के अध्ययन से उत्पन्न गर्वरूपी ज्वर, अर्थात् ज्ञान का मिथ्या अहंकार अध्यात्मरूपी औषधि के सेवन से मिट जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> कुतर्क से युक्त ग्रंथों का अध्ययन करने पर मिथ्यात्व की जड़ अधिक मजबूत होती है। सत्य में असत्य और असत्य में सत्य का आभास कराने की शक्ति कुतर्क में होती है। तर्क के इन दोषों को पकड़ने की शक्ति सामान्य व्यक्ति में नहीं होती। वह गलत राह पर चला जाता है। तर्क-शक्ति का विकास जैसे-जैसे होता जाता है, वैसे-वैसे अध्यात्म के अभाव में उसका ज्ञानाहंकार भी बढ़ता जाता है। ज्ञान का अहंकार एक प्रकार का ज्वर है। जैसे-इन्द्रभूति ज्ञान के मिथ्याभिमान के ज्वर से पीड़ित होकर ही समवशरण में भगवान् महावीर को विजित करने हेतु गए थे, किन्तु जिनवाणी की अध्यात्मरूपी औषधि का जैसे ही उन्होंने सेवन किया, उनका मिथ्या अहंकाररूपी ज्वर उतर गया, अभिमान ठंडा पड़ गया, दृष्टि निर्मल हो गई। अध्यात्मरूपी औषधि में ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञान के अहंकार के ज्वर को उतारकर दृष्टि को अविकारी बना देती है। अध्यात्म तथा अहंकार -दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं।

(२३) **धनिनां पुत्रदारादि यथा संसारवृद्धये।**
तथा पांडित्यदृप्तानां शास्त्रमध्यात्मवर्जितम्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> धनवानों के पुत्र, स्त्री आदि जैसे उनके संसार की वृद्धि के लिए होते हैं, वैसे ही पांडित्य से गर्वित बने हुए व्यक्ति का अध्यात्म से रहित शास्त्र-ज्ञान भी संसार की वृद्धि के लिए ही होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> धनवान् व्यक्तियों के पास प्रायः सभी अनुकूलताएँ रहती हैं। बंगला, मोटर-गाड़ी, नौकर-चाकर आदि की कोई कमी नहीं होती है। वह पुत्रादि परिवार तथा स्त्री के प्रति आसक्त होकर अनेक प्रकार का पापाचरण करता है। प्रायः, धनवान् पुरुष परिश्रम से रहित होते हैं, पौष्टिक आहार का सेवन करते हैं और भोग-विलास में डूबे रहते हैं। उनकी कामाभिलाषा भी तीव्र होती है, अतः रूप तथा रुपया में आसक्त होकर वे संसार की वृद्धि करते हैं। धन-वैभव से अहंकार बढ़ता जाता है। 'जहा लाहो तहा लोहो', अर्थात् लाभ के साथ-साथ लोभ भी बढ़ता जाता है। उनके अनेक कारखाने तथा उद्योग होने पर भी संतोष नहीं होता है। धन के संवर्धन के लिए वे हमेशा मानसिक-क्लेश से पीड़ित रहते हैं। अन्य प्रतिस्पर्धियों से आगे बढ़ने की होड़, विरोधियों से वैर, ऐश्वर्य का अहंकार आदि के कारण आर्त्तध्यान में तत्पर रहने से कई प्रकार के क्लिष्ट कर्मों का बन्धन करते हैं, जिससे उनके संसार-परिभ्रमण में वृद्धि होती है। कोई भी व्यक्ति अनेक प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन करके पांडित्य प्राप्त कर लेता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रों के बिना वह अन्तर्मुख होकर आत्मचिन्तन नहीं करता है, इसलिए अनेक शास्त्रों के अध्ययन से उसमें तीव्र ज्ञान के अहंकार का जन्म होता है, जिससे उसकी भवपरंपरा बढ़ जाती है।

(२४) **अध्येतव्यं तदध्यात्मशास्त्रं भाव्यं पुनः पुनः।**
अनुष्ठेयस्तदर्थश्च देयो योग्यस्य कस्यचित्।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन बार-बार करना चाहिए। उसका पुनः-पुनः चिंतन करना चाहिए। उसमें कहे हुए अर्थों को धारण करना चाहिए और कोई योग्य पात्र मिले, तो उसको वह ज्ञान देना भी चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> इस प्रकार इन श्लोकों में अध्यात्मशास्त्र की महिमा को समझाया गया है। साथ ही, इस अधिकार के इस अंतिम श्लोक में उन्होंने अध्यात्मरसिकों को निर्देश दिया है कि अध्यात्मशास्त्र में आए हुए तत्त्वों का बार-बार चिंतन-मनन और भावन करना चाहिए। आत्म-तत्त्व का विषय ही ऐसा है कि जैसे-जैसे व्यक्ति अपने स्वरूप में लीन होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी अन्तःकरण की परतें खुलती जाती हैं और विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए ग्रंथकार ने व्यक्ति के आन्तरिक-प्रकाश की वृद्धि के लिए और मिथ्यात्व के अंधकार को दूर करने के लिए आध्यात्मिक-सत्यों का बार-बार चिंतन-मनन करने को कहा है। अध्यात्म-विद्या गूढ़ तथा गहन है। केवल ऊपरी तौर पर चिंतन-मनन करने से इसकी रसानुभूति नहीं हो सकती है, अतः एकाग्रतापूर्वक इसकी रसानुभूति करने से ही अलौकिक आनंद का अनुभव होता है। आध्यात्मिक-विद्या योग्य शिष्य को प्रदान करने की परंपरा प्राचीन-काल से चली आ रही है। इसे अयोग्य व्यक्ति को प्रदान करने से अनेक अनर्थों का जन्म हो सकता है, इसलिए प्राचीन-काल से ही चली आ रही भारतीय-परम्परा में कितनी ही गुप्त विद्याओं को देने के अधिकार हेतु योग्य व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। कहा भी गया है - शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहर सकता है। योग्य वस्तु को धारण करने के लिए योग्य पात्र का होना आवश्यक है।

-----oooo-----

द्वितीय अधिकार

अध्यात्म-स्वरूप-अधिकार

(२५) भगवन् ! किं तदध्यात्मं यदित्थमुपवर्ण्यते।
श्रृणु वत्स ! यथाशास्त्रं वर्णयामि पुरस्तव।।१।।

अनुवाद - "हे भगवन् ! आप जिस अध्यात्म का वर्णन कर रहे हैं, वह अध्यात्म क्या है ?" गुरु कहते हैं- "हे वत्स ! मैं तेरे समक्ष शास्त्र के अनुसार उसका जो वर्णन कर रहा हूँ, तू उसे सुन।"

विशेषार्थ - इस दूसरे अधिकार का प्रारंभ ग्रंथकार प्राचीन भारतीय अध्ययन-पद्धति के अनुसार गुरु और शिष्य के संवाद के रूप में करता है। इस शैली का एक लाभ यह है कि इससे उस विषय के सम्बन्ध में सामान्य व्यक्ति के मन में उठती हुई शंका का भी समाधान हो जाता है। इस प्रणाली में एक ही विषय का अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है, जिससे पढ़ने वाले को भी संतोष होता है। इस श्लोक में शिष्य ने केवल इतना ही प्रश्न किया है कि अध्यात्म किसे कहते हैं ? गुरु शिष्य को शास्त्रानुसार उत्तर देने का प्रयत्न करता है, जिससे चर्चा की प्रमाणभूतता का निर्णय हो सके। यदि अपनी कल्पना के अनुसार अर्थ किया जाए, तो उससे प्रश्न पूछने वाले को संतुष्टि नहीं होती। यहाँ गुरु शिष्य को सावधान होकर सुनने के लिए कहता है। साथ ही, उसे 'वत्स' शब्द से वात्सल्यपूर्वक संबोधित करता है, ताकि शिष्य निःसंकोच होकर प्रश्न पूछ सके।

(२६) गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः।।२।।

अनुवाद - आत्मा पर मोह का आधिपत्य समाप्त होने पर उसकी आत्मकेन्द्रित जो शुद्ध क्रियाएं होती हैं, उन क्रियाओं को जिनेश्वर भगवान् ने अध्यात्म कहा है।

विशेषार्थ - इस श्लोक में ग्रंथकार ने संक्षेप में अध्यात्म का स्वरूप बताया है। आत्म-केन्द्रित शुद्ध क्रियाओं को अध्यात्म कहते हैं। यहाँ अध्यात्म हेतु तीन शर्तें बताई गईं हैं। प्रथम शर्त है- क्रिया का मोहभाव से रहित होना, दूसरी है- क्रिया का शुद्ध होना, अर्थात् राग-द्वेष से प्रेरित नहीं होना और तीसरी शर्त है- क्रिया का आत्मकेन्द्रित होना। देहभाव से दूर रहकर आत्मस्वरूप को लक्ष्य बनाकर की गई शुद्ध क्रिया ही अध्यात्म कहलाती है। ऐसा तब ही हो सकता है, जबकि मोहनीय-कर्म निर्बल हो गया हो, जीव का ममत्व समाप्तप्राय हो गया हो। जब तक जीव का मोहनीय-कर्म प्रबल रहता है, तब तक उसकी 'पर' वस्तुओं में राग-द्वेष की तीव्र परिणति रहती है, तब तक सांसारिक-सुख की अभिलाषा भी तीव्र बनी रहती है। जब तक अज्ञान और मिथ्यात्व का गाढ़ अंधकार आत्मा पर छाया हुआ है और सम्यक्त्वरूप प्रकाश की किरण प्रकट नहीं होती है, तब तक आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए शुद्ध क्रिया नहीं होती है। व्रतादि कई प्रकार की क्रियाएँ मिथ्यात्वी जीव भी करता है, परंतु उन व्रतादि के पालन के पीछे उसकी इहलौकिक या पारलौकिक-सुख को प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। उसका देहभाव समाप्त नहीं होता है, क्रियाओं के फल के प्रति भ्रम एवं संशय बना हुआ रहता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान की पकड़ मजबूत होती है। जब तक आत्मा पर मोह का अधिकार है, तब तक जीव को आत्मस्वरूप को जानने की इच्छा ही जाग्रत नहीं होती है, इसलिए मोह की पकड़ ढीली होने के बाद ही व्यक्ति अध्यात्म का अधिकारी होता है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ'- इस भाव की निरंतर प्रतीति मोह के मंद होने पर ही होती है। उस समय स्वरूप की प्राप्ति के लिए जिनेश्वर की आज्ञानुसार जो सम्यक् क्रिया की जाती है, उसे अध्यात्म कहते हैं।

(२७) **सामायिकं यथा सर्वचारित्रेष्वनुवृत्तिमत्।**
अध्यात्मं सर्वयोगेषु तथाऽनुगतमिष्यते।।३।।

अनुवाद - जिस प्रकार सभी प्रकार के चारित्र में सामायिक अनुस्यूत होता है, उसी प्रकार सभी योगों में अध्यात्म अनुगत है।

विशेषार्थ - सामायिक के बिना कोई भी चारित्र संभव नहीं है। चारित्र के कई प्रकार हैं। मुख्य रूप से चारित्र के दो प्रकार बताए गए हैं-

१. द्रव्य-चारित्र और २. भाव-चारित्र, अथवा १. सर्वविरति और २. देशविरति। अन्य अपेक्षा से चारित्र के पाँच प्रकार भी बताए गए हैं- १. सामायिक-चारित्र २. छेदोपस्थापनीय-चारित्र ३. परिहारविशुद्धि-चारित्र ४. सूक्ष्मसंपराय-चारित्र और ५. यथाख्यात-चारित्र। चारित्र का कोई भी भेद हो, प्रत्येक में सामायिक-चारित्र अनुस्यूत है। जिस प्रकार से समता की साधनारूप सामायिक के बिना कोई भी चारित्र सम्भव नहीं होता है, उसी प्रकार सभी योगों में अर्थात् प्रवृत्तियों में अध्यात्म संयुक्त है। मन-योग, वचन-योग और काय-योग तीनों योगों की प्रवृत्ति आत्मा के बिना नहीं होती है, इसलिए आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से ही मन-वचन और काया के योग का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है। मोक्ष-प्राप्ति की कोई भी क्रिया आत्मज्ञान के बिना संभव नहीं है। चारित्र और योग, अर्थात् साधनात्मक प्रवृत्तियों में अध्यात्म अनिवार्य रूप से अनुस्यूत है।

(२८) अपुनर्बन्धकाद्यावद् गुणस्थानं चतुर्दशम्।
क्रमशुद्धिमती तावत् क्रियाऽध्यात्ममयी मता।।४।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा की अपुनर्बन्धक अवस्था से चौदहवें गुणस्थान तक अनुक्रम से जो-जो शुद्ध क्रियाएं की जाती हैं, वे सभी क्रियाएँ आध्यात्मिक-क्रियाएं कहलाती हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> अपुनर्बन्धक, अर्थात् जो जीव कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध अब एक भी बार नहीं करने वाला हो, वह अपुनर्बन्धक जीव कहलाता है। दर्शन-सप्तक, अर्थात् अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने तथा तीव्र पापकर्म करने के परिणाम नहीं होने से अपुनर्बन्धक जीव चतुर्थ गुणस्थान पर आता है। शास्त्रों में आत्मविकास की चौदह श्रेणियां बताई गईं हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। इनके नाम क्रमशः मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरतिसम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-बादर, सूक्ष्म-संपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगीकेवली और अयोगीकेवली हैं। अपुनर्बन्धक की व्याख्या करते हुए कहा गया है - जो जीव प्रायः तीव्र कषाय न करे तथा सांसारिक भोग-विलास को अधिक महत्त्व नहीं दे, साथ ही सर्वत्र उचित प्रवृत्ति करे, वह

अपुनर्बन्धक कहलाता है। अपुनर्बन्धक स्थिति से लेकर चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थानक तक की आत्मशुद्धि करने वाली सभी क्रियाओं को अध्यात्म कहते हैं।

(२६) आहारोपधिपूजर्द्धि - गौरवप्रतिबंधतः।
भवाभिनंदी यां कुर्यात् क्रियां साध्यात्मवैरिणी।।५।।

अनुवाद - आहार, उपधि, पूजा-सत्कार, ऋद्धि तथा गौरव प्राप्त करने के आशय से भवाभिनंदी जीव जो क्रियाएँ करता है, वे सभी अध्यात्म की विरोधी हैं।

विशेषार्थ - भव + अभिनंदी - इन शब्दों के योग से भवाभिनंदी बना है। भव अर्थात् संसार, अभिनंद अर्थात् स्वागत करना या महत्त्व प्रदान करना। जो जीव संसार को ही महत्त्व देने वाला हो, संसार में ही आनंद मानने वाला हो, संसार ही जिसे इष्ट हो, वह जीव भवाभिनंदी कहलाता है। ऐसे जीवों का लक्ष्य सांसारिक भोग-विलास के साधन, सुख, यश, कीर्ति, पद, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि प्राप्त करना ही होता है। षड्रस भोजन, उपधि अर्थात् अच्छे-अच्छे वस्त्र, पात्र, उपकरणादि, पूजा अर्थात् सम्मान-सत्कार और यश प्राप्त करने की इच्छा; ऋद्धि अर्थात् वैभव या विशिष्ट शक्ति, वैक्रिय आदि विभिन्न प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त करने की आकांक्षा; गौरव अर्थात् अभिमान, अथवा गारव-रसगारव, ऋद्धि-गारव, शाता-गारव - ऐसी तीन प्रकार की आसक्ति-इन सभी को प्राप्त करने के लक्ष्य से संसाराभिमुख जीव व्रत, तप, त्याग, ज्ञान, ध्यान आदि अनुष्ठान करता है, वे सभी अनुष्ठान या क्रियाएँ संसार की वृद्धि करने वाली हैं और अध्यात्म की शत्रु हैं, क्योंकि उपर्युक्त आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए की गई क्रिया से आत्मा की विशुद्धि नहीं होती है, आत्मा की मलिनता दूर नहीं होती है, अपितु कर्मबन्ध ही होता है। इस प्रकार की क्रियाएँ संसार में परिभ्रमण करवाने वाली होती हैं, अतः ये अध्यात्म की शत्रु कही गई हैं।

(३०) क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारंभसंगतः।।६।।

<u>अनुवाद</u> - क्षुद्र, लोभ में रत, दीन, ईर्ष्यालु, डरपोक, शठ, अज्ञानी और निरर्थक आरंभ में प्रवृत्ति करने वाला जीव भवाभिनंदी कहलाता है।

<u>विशेषार्थ</u> - इस श्लोक में भवाभिनंदी के लक्षण बताए गए हैं। भवाभिनंदी जीव तुच्छ और कृपण स्वभाव वाला, अपने थोड़े से लाभ के लिए विरोधी या विपक्षी का अधिक अहित करने वाला, लोभ में रत, धन की तीव्र लालसा से युक्त, परधन का हरण करने वाला, दीनता की प्रवृत्ति वाला, दूसरे के सुख को देखकर दुःखी होने वाला अर्थात् ईर्ष्यालु, डरपोक, कपटी, अज्ञानी, मूर्ख अर्थात् वस्तु-तत्त्व की वास्तविकता को नहीं जानने वाला तथा निष्प्रयोजन क्रिया करने वाला होता है। ऐसे भवाभिनंदी द्वारा की गई क्रिया अशुद्ध होती है तथा अध्यात्म का नाश करने वाली होती है।

(३१) शान्तो दान्तः सदा गुप्तो मोक्षार्थी विश्ववत्सलः।
निर्दम्भां यां क्रियां कुर्यात् साऽध्यात्मगुणवृद्धये।।७।।

<u>अनुवाद</u> - शान्त, जितेन्द्रिय, सदा गुप्त, मोक्षार्थी और विश्ववत्सल जीव निष्कपट होकर जो भी क्रिया करता है, वह अध्यात्म-गुण की वृद्धि के लिए होती है।

<u>विशेषार्थ</u> - ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में भवाभिनंदी के लक्षण बताते हुए उसकी क्रिया को अध्यात्म की विरोधी बताया है। अब इस श्लोक में मोक्षार्थी के लक्षण बताते हुए उसकी क्रिया को अध्यात्मगुण की वृद्धि करने वाला निरूपित किया है। जो शान्त प्रकृति का है, अर्थात् जिसके क्रोधादि कषाय शान्त हैं, जिसके अशुभ विकल्पों का ज्वार शान्त हो गया है, जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, अर्थात् जो इन्द्रियों का गुलाम नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ अनुशासित हैं, जो सदा गुप्त है, अर्थात् जिसने मन, वचन और काया की स्थिरता प्राप्त की है, जो एकमात्र मोक्ष की ही अपेक्षा रखता है, जिसे संसार एक कारागृह के समान प्रतीत होता है, जो विश्ववत्सल, अर्थात् विश्व के सभी प्राणियों का कल्याण चाहता हो, अपने ही समान विश्व के सभी प्राणियों पर जिसका निश्छल प्रेम हो, मैत्री हो तथा जो छल,

कपट आदि किसी प्रकार की दूषित प्रवृत्ति से रहित हो - ऐसे निर्दम्भ व्यक्ति की क्रियाएँ अध्यात्म-गुण की वृद्धि करने वाली होती हैं, साथ ही आत्मिक-आनन्द को प्रदान करने वाली होती हैं।

(३२) **अत एव जनः पृच्छोत्पन्नसंज्ञः पिपृच्छिषु।**
साधुपार्श्वे जिगमिषुर्धर्मं पृच्छन् क्रियास्थितः।।८।।

(३३) **प्रतिपित्सुः सृजन् पूर्व-प्रतिपन्नश्च दर्शनम्।**
श्राद्धो यतिश्च त्रिविधोऽनन्तांशक्षपकस्तथा।।६।।

(३४) **दृग्मोहक्षपको मोहशमकः शान्तमोहकः।**
क्षपकः क्षीणमोहश्च जिनोऽयोगी च केवली।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए ऐसा जीव प्रश्न का समाधान पाने की इच्छा से साधुओं के पास जाने की इच्छा वाला होता है। वह उनके पास जाकर धर्म-तत्त्व के विषय में जिज्ञासा रखता है। वह धर्म को प्राप्त करने का इच्छुक तथा धर्म-क्रिया में स्थिर रहने वाला होता है। वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर श्रावक, यति, तीन प्रकार के दर्शनमोह तथा अनन्तानुबंधी-कषाय का शमक, दर्शनमोहनीय का क्षपक, चारित्रमोहशमक, उपशान्तमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह, जिन (सयोगीकेवली) और अयोगीकेवली होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जब जीव के मोहनीय-कर्मों की सत्ता का प्रभाव कम होता है, तब जीव का आत्मिक-विकास प्रारम्भ होता है। इन तीनों श्लोकों में मोक्षार्थी जीव की निर्दम्भ और शुद्ध क्रियाओं से उसके आत्मिक-गुणों में किस प्रकार वृद्धि होती है और क्रमशः गुणों में वृद्धि करते हुए वह अनंत ज्ञानादि गुणों का प्रकटीकरण कैसे करता है, इसका चित्रण किया गया है। ग्रंथकार ने आत्मगुणों की वृद्धि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से बताया है।

१. सर्वप्रथम उसको धर्म के विषय में जिज्ञासा (पूछने की संज्ञा) उत्पन्न होती है।

२. फिर धर्म के सम्पूर्ण स्वरूप को जानने की इच्छा होती है।

३. धर्म के स्वरूप को जानने के लिए सद्गुरु के समीप जाने की इच्छा होती है।

४. सद्गुरु के पास जाकर वह विभिन्न दृष्टिकोणों से धर्म का स्वरूप, उसके लक्षण, उसके भेद आदि के विषय में जानता है तथा क्षमादि गुणों को जीवन में उतारकर शुद्धक्रिया में स्थिर होता है।

५. पूर्व में जो सम्यक्त्व प्राप्त किया था, उस सम्यक्त्व को फिर से प्राप्त करने की इच्छा होती है।

६. वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चतुर्थ गुणस्थानक पर पहुँच जाता है।

७. अब उसे व्रत स्वीकारने की इच्छा होती है और वह स्थूलव्रत ग्रहण कर देशविरत श्रावक होता है।

८. तत्पश्चात् वह मोह-माया के जाल को तोड़कर महाव्रत ग्रहण कर साधु बन जाता है।

९. वह अनंतानुबंधी-कषाय का क्षपक होता है।

१०. दर्शनमोह का क्षपक होता है। दर्शनमोहनीय-कर्म के तीन प्रकार हैं-

१. मिथ्यात्व-मोहनीय २. मिश्र-मोहनीय ३. सम्यक्त्व-मोहनीय।

११. फिर वह चारित्रमोह का शमक, अर्थात् बारह कषाय और नौ नोकषायरूप चारित्रमोहनीय-कर्म का उपशम करने वाला होता है।

१२. तत्पश्चात् वह समग्र चारित्रमोहनीय-कर्म को शांत करने वाला होता है।

१३. क्षपक, अर्थात् चारित्रमोहनीय-कर्म की सत्ता का क्षय करने वाला होता है। फिर वह क्षीणमोहदशा को प्राप्त होता है।

१४. वह सर्वघाति कर्मों का क्षय करके सयोगी केवली होता है।

१५. अंत में, मन-वचन और काया के समस्त व्यापारों का निरोध कर अयोगीकेवलि होता है और ५ ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय में वह चार अघातीकर्मों का क्षय कर अष्टकर्मों से मुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। यह उसके आध्यात्मिक-विकास की अंतिम मंजिल है, जहाँ से वह जीव फिर कभी संसार में नहीं आता है।

(३५) **यथाक्रमममी प्रोक्ता असंख्यगुणनिर्जराः।**
यतितव्यमतोऽध्यात्मवृद्धये कलयाऽपि हि।।११।।

अनुवाद - अनुक्रम से ये जो गुण कहे गए हैं, वे असंख्यगुणा कर्म-निर्जरा करने वाले हैं, इसलिए आध्यात्मिक-गुणों की वृद्धि के लिए उनके अभ्यास का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

विशेषार्थ - आध्यात्मिक-विकास के लिए जो गुण बताए गए हैं, वे अनुक्रम से एक-के-पश्चात्-एक असंख्यातगुणा कर्म-निर्जरा करने वाले हैं। उदाहरणार्थ- धर्म के स्वरूप को जानने की इच्छा करने से उसके समाधान हेतु साधु के पास जाने की इच्छा वाले व्यक्ति की असंख्यातगुणा अधिक कर्म-निर्जरा होती है। इस प्रकार प्रत्येक पूर्व गुण की अपेक्षा उसके बाद वाले गुण को धारण करने वाले की असंख्यातगुणा अधिक कर्म-निर्जरा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर आत्मिक-गुणों में वृद्धि होती है, इसलिए इन गुणों का बार-बार अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि कर्मों की अधिक-से-अधिक निर्जरा होने पर घातीकर्मों का क्षय हो जाता है और केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अंत में, आयुष्यकर्म के अन्तिम क्षण में मन-वचन और काया की प्रवृत्तियों का निरोध कर, जीव सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(३६) **ज्ञानं शुद्धं क्रिया शुद्धेत्यंशौ द्वाविह संगतौ।**
चक्रे महारथस्येव पक्षाविव पतत्रिणः।।१२।।

अनुवाद - शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया - ये दो अंग रथ के दो चक्रों की तरह तथा पक्षी की दो पाँखों की तरह हमेशा साथ रहते हैं।

विशेषार्थ - 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः', अर्थात् श्रद्धायुक्त शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन दोनों में से पृथक्-पृथक् कोई भी एक मोक्ष को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। जो विचारक यह मानते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए केवल ज्ञान ही पर्याप्त है, क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं, उनके लिए उ. यशोविजयजी ने कहा है कि जैसे कोई सिर पर पगड़ी बाँधकर रखे और पहनने के लिए लंगोटी भी नहीं हो, उस व्यक्ति की तरह ही वह होता है, जो क्रिया की उपेक्षा करके ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करता है। जैसे- केवल मार्ग को जानने मात्र से मंजिल पर

नहीं पहुँच सकते हैं, उसके लिए चलने की क्रिया करना आवश्यक है, वैसे ही मोक्षरूपी मंजिल को धर्म के स्वरूप का मात्र ज्ञान कर लेने से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, उस तक पहुँचने के लिए शुद्ध ज्ञान के साथ-साथ शुद्ध क्रिया भी आवश्यक है। उसी प्रकार, जो ज्ञान को उपेक्षित कर केवल क्रिया को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे भी गलत हैं। ज्ञान के बिना अकेली क्रिया अंधी है तथा क्रिया के बिना अकेला ज्ञान पंगु है। दोनों मिलकर ही मोक्षरूपी मंजिल को प्राप्त कर सकते हैं। ग्रंथकार ने शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध क्रिया को एक रथ के दो चक्रों की तथा पक्षी के दो पंखों की उपमा दी है। रथ का अगर एक ही चक्र हो, तो वह गति नहीं कर सकेगा, साथ ही रथ के दोनों चक्र हों, परंतु एक चक्र बहुत बड़ा और दूसरा छोटा हो, तो भी रथ सीधा नहीं चलेगा। दोनों पहिए एक जैसे और साथ-साथ ही गति करते हैं। उसी प्रकार, अगर पक्षी का भी एक ही पंख हो, तो वह उड़ नहीं सकेगा, उसे उड़ने के लिए दोनों पंखों की आवश्यकता है। अतः शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध क्रिया- दोनों ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक हैं। उपर्युक्त श्लोक में ज्ञान तथा क्रिया- इन दोनों के विशेषण के रूप में जो शुद्ध शब्द रखा है, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञान और क्रिया- दोनों शुद्ध हों, तो ही दोनों मिलकर मोक्ष को साध सकते हैं। संशय, विपर्यय, कुतर्क, उत्सूत्र, प्ररूपणा आदि से रहित ज्ञान शुद्ध ज्ञान है। उसी प्रकार आशंसा, निंदा, कषाय, निदान आदि से रहित क्रिया शुद्ध क्रिया है। अध्यात्म-मार्ग में प्रगति करने के लिए पूर्वापर अविरुद्ध यथार्थ-ज्ञान और शुद्ध क्रिया- दोनों आवश्यक हैं।

(३७) **तत्पंचमगुणस्थानादारभ्यैवैतदिच्छति।**
निश्चयो व्यवहारस्तु पूर्वमप्युपचारतः।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> निश्चयनय पाँचवें गुणस्थानक से आध्यात्मिक-विकास-यात्रा का प्रारम्भ मानता है, परंतु व्यवहारनय तो उससे भी पहले, प्रथम गुणस्थान से उपचार से आध्यात्मिक-विकास-यात्रा का प्रारम्भ मानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी भी वस्तु या तत्त्व के स्वरूप को समझने के लिए नय और प्रमाण- दोनों को समझना आवश्यक है। प्रमाण वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को ग्रहण करता है, जबकि नय वस्तु के अंश को, अर्थात् एक

पक्षविशेष को ग्रहण करता है। एक ही वस्तु का अलग-अलग दृष्टिकोणों से विचार किया जाए, तो उसमें रहे हुए अनेक गुणधर्मों का बोध होता है। साथ ही, एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी गुणधर्म भी रहे हुए हैं। उन विरोधी गुणधर्म को समझाने के लिए शास्त्रों में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त बताया गया है। अनेकान्त और नय उसके अंग हैं। वस्तु में रहे हुए अनेक धर्मों में से कोई एक धर्म का बोध हो, तो वह नय कहलाता है। नय अर्थात् अपेक्षा या दृष्टिकोण। वस्तु में रहे हुए अनेक धर्म में से जिस समय जिस धर्म का प्रयोजन हो, उस समय उस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, लेकिन अन्य धर्मों का निषेध नहीं करते। वस्तु-तत्त्व को समझने या कथन करने की जितनी विधियाँ हो सकती हैं, उतने नय होते हैं। कथन करने और समझने की शैलियां अनंत हैं, इसलिए नय भी अनंत हैं। महापुरुषों ने सभी नयों का समावेश सात नयों में किया है, जो इस प्रकार हैं- १. नैगम २. संग्रह ३. व्यवहार ४. ऋजुसूत्र ५. शब्द ६. समभिरूढ़ और ७. एवंभूत।

प्रथम तीन नय व्यवहारनय हैं और अंतिम चार नय निश्चयनय। निश्चयनय अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि। यह नय उस विषय में गहराई से उतरकर तत्त्वस्पर्शी विचार करता है, जबकि व्यवहारनय स्थूलदृष्टि या उपचार-दृष्टि से विचार करता है। ग्रंथकार का कहना है कि दोनों ही नय को स्वीकार करने पर ही वस्तु का स्वरूप समझ में आता है। कोई भी एक नय को स्वीकार करके दूसरे का त्याग करने पर, तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन नहीं होता है। अपेक्षा के आधार पर, अथवा वक्ता के प्रयोजन या उसकी कक्षा के अनुसार तथा दूसरे अनेक कारणों से एक नय को प्रधान तथा एक नय को गौण करके कथन कर सकते हैं, अथवा वक्ता के प्रयोजन को समझ सकते हैं।

इस श्लोक में बताया गया है कि शब्दादि निश्चयनय तो देशविरति नामक पाँचवें गुणस्थानक से शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रियारूपी अध्यात्मभाव का प्रारंभ मानते हैं, परंतु नैगमादि व्यवहारनय तो उपचार से अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि आदि की क्रियाओं को भी अध्यात्मरूप में स्वीकार करते हैं, अर्थात् अध्यात्म के पात्र माने जा सकते हैं।

(३८) चतुर्थेऽपि गुणस्थाने शुश्रुषाद्या क्रियोचिता।
अप्राप्तस्वर्णभूषाणां रजताभरणं यथा।।१४।।

अनुवाद - चतुर्थ गुणस्थानक में भी सम्यक् शुश्रूषा आदि क्रियाएँ पाई जाती हैं। जिसके पास स्वर्ण के आभूषण नहीं हों, उसके लिए चाँदी के आभूषण भी आभूषण ही हैं।

विशेषार्थ - अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानक पर जीवात्मा का विचार-पक्ष शुद्ध होता है, निर्मल होता है, किन्तु आचार-पक्ष निर्बल होता है। इस गुणस्थानक पर अप्रत्याख्यानी-कषायों का उदय होने से वह विरति, अथवा कषाय-प्रत्याख्यानरूप शुद्ध तथा सम्यक् क्रिया का आचरण नहीं कर पाता है, किन्तु देव-गुरु-धर्म की भक्ति, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, दान, जिनेश्वर की पूजा, धर्मश्रवण की इच्छा, सामायिक आदि क्रियाओं को वह निपुणता से करता है। विरतिरूप क्रियाओं के नहीं होने पर भी व्यवहारनय से यहाँ भी अध्यात्म-भाव सिद्ध होता है। उ. यशोविजयजी ने अध्यात्मोपनिषद् में भी कहा है कि बाह्य-व्यवहार से पुष्ट तथा मैत्रादि भावना से युक्त निर्मल चित्त अध्यात्म है। यहाँ ग्रंथकार ने एक व्यावहारिक-दृष्टांत देकर समझाया है कि यदि किसी व्यक्ति के पास स्वर्ण के आभूषण नहीं हों, तो उसके लिए चाँदी के आभूषण भी आभूषण का ही काम करते हैं। इस प्रकार व्यवहारनय और निश्चयनय- दोनों का यथार्थ स्वरूप समझने की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने वस्तु के दोनों रूपों का समर्थन किया है और भिन्न-भिन्न दृष्टि से दोनों को यथार्थ बताया है। दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय ही उत्तम मार्ग है। कुछ विचारक एकान्त निश्चयनय का आश्रय लेकर चतुर्थ गुणस्थानक पर रहे हुए जीवों की, देव-गुरु-भक्ति, जिनप्रतिमा-पूजन, सामायिक आदि क्रियाओं को अधर्म के रूप में देखते हैं, जो उचित नहीं है।

(३६) अपुनर्बन्धस्यापि या क्रिया शमसंयुता।
चित्रा दर्शनभेदेन धर्म-विघ्नक्षयाय सा।।१५।।

अनुवाद - अपुनर्बन्धक की भी जो शमयुक्त क्रिया होती है, वह दर्शन-भेद से अनेक प्रकार की होती है और वह भी धर्म के विघ्न का क्षय करने वाली है।

विशेषार्थ - जो जीव मोहनीयकर्म की तीव्रतम स्थित का बन्ध भविष्य में एक बार भी न करे, ऐसा जीव अपुनर्बन्धक कहलाता है, वह जीव तीव्र अध्यवसायपूर्वक पापकर्म का बन्ध नहीं करता है। ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि हों ही, यह आवश्यक नहीं है, किन्तु वे मार्गानुसारी अवश्य ही होते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने आठ दृष्टियों का वर्णन "योगदृष्टि समुच्चय" में किया है, उसमें प्रथम चार दृष्टियों के अधिकारी को सम्यग्दर्शन नहीं होता है, लेकिन ऐसा जीव समत्वभाव से ओतप्रोत होकर जो भी क्रिया करता है, वे सभी क्रियाएँ धर्म में विघ्न उत्पन्न करने वाले रागादि भावों का क्षय करने वाली हो सकती हैं। ये क्रियाएँ दृष्टिभेद से अनेक प्रकार की हो सकती हैं, जो अध्यात्म का कारण भी बन सकती हैं। मैत्र्यादि की भावनाओं को भाते-भाते, जीव धीरे-धीरे आत्म-चिन्तन की ओर मुड़ जाता है और अध्यात्म को प्राप्त कर सकता है।

(४०) अशुद्धापि हि शुद्धायाः क्रिया हेतुः सदाशयात्।
ताम्रं रसानुवेधेन स्वर्णत्वमधिगच्छति।।१६।।

अनुवाद - अशुद्ध क्रिया भी निर्मल आशय से की जाने पर शुद्ध क्रिया का हेतु होती है। तांबा भी रस के अनुवेध से स्वर्ण बन जाता है।

विशेषार्थ - अपुनर्बन्धक आत्मा सम्यग्दर्शन के बिना भी जो क्रियाएँ करती है, वे अशुद्ध होती हैं, किन्तु यदि वे अशुद्ध क्रियाएँ भी मोक्ष की अभिलाषा से और निर्मल अध्यवसाय से की जाएं, तो वे ही क्रमशः शुद्ध क्रिया की प्राप्ति का हेतु बन जाती हैं। पवित्र लक्ष्य से की गई क्रियाओं में परिणाम की निर्मलता बहुत अधिक रहती है। ग्रंथकार ने एक दृष्टान्त देकर बताया कि धातुवाद नामक शास्त्र के अनुसार ताँबे को पारे के रस के अनुवेधन से सिद्ध किया जाए, तो वह स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार

शुभाशय और निर्मल अध्यवसायरूपी रस से सिंचित अशुद्ध क्रिया समयान्तर से शुद्ध क्रिया का हेतु हो जाती है।

(४१) **अतो मार्गप्रवेशाय व्रतं मिथ्यादृशामपि।**
द्रव्यसम्यक्त्वमारोप्य ददते धीरबुद्धयः।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> यही कारण है कि मोक्ष-मार्ग में प्रवेश कराने के लिए अपार धैर्य के स्वामी द्वारा मिथ्या-दृष्टि जीवों को भी द्रव्य-सम्यक्त्व का आरोपण करके व्रत प्रदान किए जाते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> निर्मल आशय वाले मंदबुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव की क्रिया अशुद्ध हो, तो भी क्रम से शुद्ध हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर गंभीरता और अपार धैर्य के स्वामी महापुरुष मिथ्यादृष्टि आत्माओं को भी द्रव्य-सम्यक्त्व का आरोपण करके उनको अणुव्रत या महाव्रत दिलवाते हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में प्रवेश कराते हैं। कई मिथ्यात्वी जीव इतने गुणानुरागी होते हैं कि सम्यक्त्वधारी जीवों की शुद्ध तथा उत्कृष्ट क्रियाओं को देखकर उनकी अनुमोदना करते हैं तथा उनकी क्रियाओं के प्रति आकृष्ट होते हैं, क्योंकि वे कदाग्रही नहीं होते हैं। उनका मिथ्यात्व अति मंद होता है। ऐसे जीवों को देखकर विशिष्ट ज्ञानी को यह अनुभव हो जाता है कि ये पात्र योग्य हैं और इन्हें सरलता से रत्नत्रय के मार्ग में प्रवेश करा सकते हैं, इसलिए ज्ञानी भगवन्त उनमें सुदेव, सुगुरु, सुधर्म एवं आत्मा के प्रति श्रद्धा का दीपक प्रकटाने के लिए उनको व्रत ग्रहण करवाते हैं। सुयोग्य जीव हो, सरल हो, विनयवान् हो और कदाग्रही न हो, तो उसे महाव्रत की प्रतिज्ञा करवा कर दीक्षा भी प्रदान करते हैं।

(४२) **यो बुध्वा भवनैर्गुण्यं धीरः स्याद्व्रतपालने।**
स योग्यो भावभेदस्तु दुर्लक्ष्यो नोपयुज्यते।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> जो जीव संसार की निर्गुणता को समझकर व्रत-पालन के लिए दृढ़ (धैर्यवान्) होता है, उसे योग्य जानना चाहिए। परिणाम का भेद दुर्लक्ष्य होता है, इसलिए यहाँ वह उपयोगी नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> यहाँ ग्रंथकार ने महाव्रतों को ग्रहण करने का अधिकारी कौन है ? उसकी परीक्षा किस प्रकार की जाए या उसकी योग्यता को किस

प्रकार जाना जाए कि वह व्रतों को ग्रहण करने योग्य है या नहीं ? इसकी पहचान के लिए उन्होंने दो बाहरी लक्षण बताए हैं - १. संसार की असारता की प्रतीति और २. व्रत-पालन की दृढ़ता। इन दो गुणों का आविर्भाव जिस जीव में हो, उसे स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रतादि अणुव्रतों को प्रदान कर श्रावक-धर्म में या अहिंसादि महाव्रतों को प्रदान कर मुनि-धर्म में दीक्षित कर सकते हैं। कई जीवों को पूर्वजन्म के संस्कार होने से बचपन में संसार के प्रति वैराग्य रहता है तथा कई जीवों को साधु भगवन्त के उपदेश सुनकर या संसार के दुःखद अनुभवों का स्वयं अनुभव करके तथा दूसरों के संसार के कटु अनुभवों को सुनकर संसार की असारता समझ में आ जाती है, फिर उसके मन में भौतिक सुखों के प्रति आकर्षण नहीं रहता है।

किसी व्यक्ति के मन में अगर यह प्रश्न उठे कि ऐसे जीव के हृदय में संसार की असारता का भाव, त्याग और वैराग्य के परिणाम सच्चे हैं या नहीं ? क्षणिक हैं या स्थायी ? सम्यक्त्व है या नहीं ? यह सब जाने बिना ही दीक्षा कैसे दे सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहता है कि किसी जीव के आन्तरिक-परिणाम को समझना दुःशक्य है। आन्तरिक-परिणाम को छद्मस्थता के कारण जानना सरल नहीं है। केवल बाह्य-लक्षण के आधार पर ही निर्णय कर सकते हैं कि वह व्रतों के धारण करने योग्य है या नहीं ? केवलज्ञान या विशिष्टज्ञान के बिना गुणस्थान के योग्य आन्तरिक-परिणाम का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है।

(४३) **नो चेद्भावाऽपरिज्ञानार्तसद्ध्यसिद्धिपराहतेः।**
दीक्षाऽदानेन भव्यानां मार्गोच्छेदः प्रसज्यते।।१६।।

<u>अनुवाद</u> - भाव को नहीं जानने से सिद्धि और असिद्धि का नाश हो जाता है, इससे तो भव्य जीवों को भी दीक्षा नहीं देने से मार्ग का उच्छेद हो जाएगा।

<u>विशेषार्थ</u> - मन में उत्पन्न भावों को जाने बिना दीक्षा नहीं देना- इस प्रकार का आग्रह रखा जाए, तो योग्य व्यक्ति को भी दीक्षा नहीं दी जा सकेगी, क्योंकि किसी भी जीव की अंतरंग परिणति को जानना शक्य नहीं है और इस प्रकार जिनमार्ग का ही उच्छेद हो जाएगा, अतः दीक्षा की योग्यता का आधार तो बाह्याचार ही दिखाई देता है। प्रायः जैसा विचार

होता है, वैसा ही उस व्यक्ति का आचरण भी होता है। उसके अंतरंग-परिणाम प्रत्यक्ष रूप से निश्चित तौर पर तो नहीं जान सकते, लेकिन उसके बाह्य-व्यवहार के आधार पर अंतरंग-परिणति का भी अनुमान कर सकते हैं। वर्तमान में पंचम आरा चल रहा है, जिसमें न कोई केवलज्ञानी है, न मनःपर्यवज्ञानी, जो अंतरंग-भावों को जान सके, अतः अंतरंग-परिणति निर्मल है या नहीं, इसका निश्चित ज्ञान होने पर ही दीक्षा दी जाए- इस प्रकार का आग्रह रखना उपयुक्त नहीं है।

(४४) अशुद्धानादरेऽभ्यासायोगान्नो दर्शनाद्यपि।
सिद्धयेन्निसर्गजं मुक्त्वा तदप्याभ्यासिकं यतः।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> यदि अशुद्ध का अनादर किया जाए और शुद्ध की साधना का योग प्राप्त न हो, तो निसर्ग-सम्यक्त्व को छोड़कर दूसरे प्रकार के सम्यग्दर्शनादि सम्भव नहीं होंगे, क्योंकि ये तो साधना (अभ्यास) से ही प्राप्त होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इस प्रकार अशुद्ध क्रिया का पूर्णतः अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि अभ्यास-काल में तो क्रिया अशुद्ध ही होती है। प्रारंभ में स्कूल जाने वाला बालक टेढ़ी- मेढ़ी लकीरें ही खींचता है। ऐसा करते-करते ही वह सही लिखना सीख जाता है। कहा भी गया है - "करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान", अभ्यास करते-करते ही मूर्ख भी विद्वान् बन जाता है। जिन्होंने अभी अध्यात्म-मार्ग में प्रवेश ही किया है, ऐसे लोगों की क्रिया प्रारंभ में अशुद्ध ही रहती है। उन क्रियाओं का अनादर करके, उन्हें व्रत आदि नहीं दिए जाएं, तो फिर प्रारंभिक-अभ्यास का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा। सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ने से ही मंजिल पर पहुँच सकते हैं। व्यावहारिक-जीवन में भी हम देखते हैं कि प्रायः कोई भी क्रिया हो, अभ्यास करते-करते ही उसमें सुधार आता है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- "तन्निसर्गादधिगमाद् वा", अर्थात् सम्यक्त्व दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक- निसर्ग से, अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त सम्यक्त्व। दूसरे- अधिगमज, अर्थात् गुरु के पास धर्मोपदेश सुनकर तथा शास्त्रों का अभ्यास करते-करते प्राप्त सम्यक्त्व। अभ्यास काल में क्रिया अशुद्ध रहती है। अगर इसे नहीं स्वीकार किया जाएगा, तो

अधिगमज-सम्यक्त्व सम्भव नहीं होगा, इसलिए अशुद्ध क्रिया का भी तिरस्कार या अनादर नहीं करना चाहिए।

(४५) शुद्धमार्गानुरागेणाशठानां या तु शुद्धता।
गुणवत्परतन्त्राणां सा न क्वापि विहन्यते।।२१।।

अनुवाद - जो छल-कपट से रहित हैं और गुणवानों के अधीन रहते हैं, ऐसे जीवों की शुद्धता, शुद्ध मार्ग के अनुराग के कारण कभी भी नष्ट नहीं होती है।

विशेषार्थ - इस श्लोक में ग्रंथकार ने जीव के चित्त की शुद्धता नष्ट नहीं होने के तीन कारण बताए हैं - १. जीव में निष्कपटता, सरलता का होना, अर्थात् दंभ (ढोंग) का अभाव होना २. शुद्ध मार्ग के प्रति तीव्र अनुराग का होना ३. गुणवान् के सान्निध्य में रहना। इन तीन गुणों से युक्त जीव की निर्मलता, शुद्धता नष्ट नहीं होती है, अतः वह धर्म-मार्ग में क्रमशः आगे बढ़ता जाता है।

जिस प्रकार छोटा बालक माँ की अंगुली पकड़कर चलता है, तो उसकी सुरक्षा को कोई खतरा नहीं होता है, उसी प्रकार बालजीव बहुश्रुत, गीतार्थ गुरु की निश्रा में रहने पर उसके गुणों में वृद्धि हो, वह उन्नति-मार्ग में आगे बढ़े, इस पर गुरु विशेष रूप से ध्यान देता है। उसमें प्रमाद, कषायादि दोषों को दूर करने के लिए या उन्हें मंद करने के लिए उसे प्रेरणा देता है। जो जीव शल्यरहित है, वह दोष को तुरंत स्वीकार कर लेता है, अपने दोषों को छिपाता नहीं है और शुद्ध मार्ग के प्रति रुचि होने के कारण वह उन दोषों को गुरु की आज्ञानुसार दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह स्वयं को उत्तरोत्तर अधिक योग्य बनाने के लिए परिश्रम करता है। इससे एक तरफ उसके अवगुण कम होते जाएंगे तथा दूसरी ओर उसके गुणों की वृद्धि होगी, उनकी हानि भी नहीं होगी।

इस प्रकार की शुद्धता, चाहे शिष्य में हो या दीक्षार्थी में, किसी जैन व्यक्ति में हो या अन्य व्यक्ति में, वह नष्ट नहीं होती है।

(४६) विषयात्मानुबंधैर्हि त्रिधा शुद्धम् यथोत्तरम्।
ब्रुवते कर्म तत्राद्यं मुक्त्यर्थं पतनाद्यपि।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> विषय, आत्मा और अनुबंध की अपेक्षा से कर्म तीन प्रकार के हैं। ये उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हैं। इनमें मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से देहासक्ति का त्याग करना प्रथम विषयशुद्ध कर्म कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने तीन प्रकार के कर्म अथवा क्रियाओं का उल्लेख किया है। यहाँ 'कर्म' शब्द अन्य दर्शनों को लक्ष्य में रखकर सामान्यतः लोकप्रचलित अर्थ में प्रयोग किया गया है। कर्म शब्द जैन-दर्शन में जिस पारिभाषिक-अर्थ में प्रयोग किया गया है, वह अर्थ यहाँ नहीं है। यहाँ कर्म का अर्थ क्रिया है।

क्रिया तीन प्रकार की बताई गई है। सर्वप्रथम विषयशुद्ध-क्रिया, दूसरी आत्मशुद्ध-क्रिया और तीसरी अनुबंधशुद्ध-क्रिया। ये तीनों क्रियाएँ क्रमशः एक-दूसरे से अधिक शुद्ध हैं। इस श्लोक में सिर्फ विषयशुद्ध क्रिया का उदाहरण देकर उसे स्पष्ट किया गया है। कितने ही व्यक्ति अपने धर्म की मान्यता के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसी पर्वत से कूदकर अपने जीवन का अन्त कर लेते हैं, कोई अग्नि-प्रवेश करता है, कितने ही जलसमाधि लेते हैं। इस प्रकार की प्रत्येक क्रिया में साध्य ध्येय या प्रयोजन शुद्ध है- मुक्ति प्राप्त करने की भावना, किन्तु क्रिया शुद्ध नहीं है, साध्य शुद्ध है, किन्तु साधन अशुद्ध, इसलिए इस क्रिया को विषयशुद्ध-क्रिया कहते हैं। हालांकि, इस प्रकार की क्रिया में साधन के अशुद्ध होने के कारण साध्य के शुद्ध होने पर मुक्तिरूपी साध्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, परंतु लक्ष्य शुद्ध होने से मुक्ति प्राप्त करने के लिए योग्य साधन भवांतर में प्राप्त हो सकते हैं।

(४७) अज्ञानिनां द्वितीयं तु लोकदृष्ट्या यमादिकम्।
तृतीयं शांत-वृत्त्या तत् तत्त्वसंवेदनानुगम्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> दूसरी क्रिया लौकिक-दृष्टि से यम, नियम आदि के पालन करने रूप है। यह क्रिया भी अज्ञानियों को होती है। तृतीय क्रिया शांत वृत्ति द्वारा, अर्थात् निष्कामभाव से तत्त्वसंवेदन का अनुसरण करती है।

विशेषार्थ - दूसरे प्रकार की क्रिया आत्मशुद्धि की क्रिया है। यहाँ 'आत्म' शब्द अन्य दर्शनों को लक्ष्य में रखकर व्यवहार-दृष्टि से प्रयोग किया गया है। आत्म, अर्थात् स्वयं के लिए। लौकिक-दृष्टि से स्वयं को शुद्ध करने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का आधार लिया जाता है। कभी देहशुद्धि के लिए, आरोग्य के लिए या चित्तशांति के लिए इनका उपयोग किया जाता है। अज्ञानी भी यम-नियमादि क्रियाएँ करते हैं। यहाँ क्रियाएँ करने पर भी चिंतन-मनन का अभाव रहता है। प्रायः दोष-हानि और गुणवृद्धि कैसे हो, इस ओर लक्ष्य नहीं होता है, फिर भी प्रथम प्रकार की विषयशुद्ध-क्रिया की अपेक्षा आत्मशुद्ध-क्रिया श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें यम-नियमादि उपयोगी और शुद्ध हैं और क्रिया का लक्ष्य भी मुक्ति का होता है।

तीसरे प्रकार की क्रिया अनुबंधशुद्ध-क्रिया है। इस क्रिया में मोक्ष का लक्ष्य तो होता ही है, परंतु साथ चिंतन-मनन भी होता है। इसमें विवेक पूर्णतया जाग्रत होता है, इन्द्रियों के संयम के साथ विषय और कषाय बहुत मंद होते हैं, जिससे ऐसे साधकों के मुख पर प्रशान्तता दिखाई देती है। वे शांत वृत्ति से तत्त्व के स्वरूप का चिंतन करते हैं। हरिभद्रसूरि ने अष्टक-प्रकरण में बताया है कि ऐसे साधक को हेय, ज्ञेय और उपादेय तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान होता है। वे हेय का त्याग करके तथा उपादेय को स्वीकार करके शांत चित्त से, अर्थात् निष्कामभाव से क्रियाओं को करते हैं। उनका लक्ष्य रहता है कि अधिक-से-अधिक दोषों का क्षय हो और गुणों की वृद्धि हो। इस प्रकार का तत्त्व-संवेदन प्रायः सर्वविरति साधुओं को होता है। इस प्रकार की क्रिया से जो अनुबंध होता है, वह शुद्ध होता है, अतः अनुबंधशुद्ध-क्रिया उन दोनों क्रियाओं से श्रेष्ठ है।

(४८) **आद्यान्नाज्ञानबाहुल्यान्मोक्षबाधकबाधनम्।**
सद्भावाशयलेशेनोचितं जन्म परे जगुः।।२४।।

अनुवाद - अज्ञान की अधिकता के कारण प्रथम क्रिया से मोक्ष में बाधक तत्त्वों का नाश नहीं होता है। कितने ही लोग इस प्रकार कहते हैं कि ऐसे साधक आंशिक रूप से सद्भाव होने से उन क्रियाओं को करने वाले को भी भवान्तर में उचित कुलादि में जन्म मिलता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में बताया गया है कि विषयशुद्ध-क्रिया में लक्ष्य शुद्ध होने पर भी अज्ञान की अधिकता है। अग्नि-प्रवेश, जलसमाधि, काशीकरवत आदि विषयशुद्ध-क्रियाओं में व्यक्ति का विवेक जाग्रत नहीं होता है। जीवन में आई हुई अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ, जैसे- आर्थिक-समस्या, पारिवारिक-कलह, गंभीर व्याधि, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, आदि भी इस प्रकार की क्रिया को प्रोत्साहित करती हैं। इन दुःखों के कारण उसे संसार से वैराग्य हो जाता है, किन्तु अज्ञानता के कारण राग, द्वेष, कषाय आदि मोक्ष-मार्ग को अवरुद्ध करने वाले तत्त्वों का नाश नहीं होता है, इसलिए इन क्रियाओं को अध्यात्मस्वरूप की क्रिया नहीं कह सकते हैं। आध्यात्मिक-क्रिया नहीं होने पर भी ये क्रियाएँ सर्वथा निरर्थक नहीं होती हैं। यदि गुणात्मक-दृष्टि से विचार करें, तो मोक्ष का लक्ष्य, साथ ही देह के प्रति ममत्व का अभाव, संसार की असारता का बोध, वैराग्यभाव इत्यादि शुभ अंश रहे हुए हैं। इस प्रकार के शुभांशों के होने से ऐसे जीवों को भवान्तर में मोक्ष के अनुकूल साधन, जैसे-आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल आदि प्राप्त होना संभव है।

(४६) द्वितीयाद्दोषहानिः स्यात्काचिन्मण्डूकचूर्णवत्।
आत्यंतिकी तृतीयात्तु गुरुलाघवचिंतया।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> दूसरे प्रकार की क्रिया में मण्डूक-चूर्ण की तरह दोष कुछ कम होते हैं। तीसरे प्रकार की क्रिया में गुरुलाघव, अर्थात् गुण-दोष के चिंतन से दोषों की आत्यंतिक हानि होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> दूसरी, आत्मशुद्ध-क्रिया से मेंढक के चूर्ण की तरह रागादि दोषों की कुछ हानि होती है। यम, नियम आदि क्रियाओं से क्रोधादि कषाय में कमी होती है, किन्तु यह कमी चिरस्थायी नहीं होती, इसलिए ग्रंथकार ने इसे मेंढक के चूर्ण की उपमा दी है। गर्मी में मेंढक का शरीर बिल्कुल सूख जाता है और मिट्टी में मिट्टी जैसा होकर मिल जाता है, किन्तु मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, जैसे ही वर्षा होती है, वैसे ही मेंढक पुनर्जीवित हो जाता है, अर्थात् उसमें चेतना आ जाती है, उसी प्रकार दूसरी आत्मशुद्धि नामक क्रिया से तात्कालिक-दोषों में कमी दिखाई देती है, लेकिन ये दोष राख से

ढंकी हुई अग्नि के समान उपशमित होते हैं। जैसे ही कोई निमित्त मिलता है, इन दोषों की वृद्धि हो जाती है।

तीसरी, अनुबंधशुद्ध-क्रिया में दोषों की आत्यंतिक हानि होती है, अर्थात् उनका पूर्णतः क्षय हो जाता है, क्योंकि यह क्रिया पूर्णतः विवेक की जाग्रतिपूर्वक की जाती है। आत्मा का ध्यान ही इस ओर होता है कि वह इस प्रकार क्रिया करे, जिससे गुणों में वृद्धि हो और दोषों का नाश हो। ऐसे व्यक्ति का गुणों और गुणवानों के प्रति तीव्र अनुराग होता है, साथ ही वे सदा आत्मनिरीक्षण करते रहते हैं। इससे उनके अनेक दोषों का नाश हो जाता है।

हरिभद्रसूरि ने अनुबंधशुद्ध-क्रिया को मंडूक-भस्म की उपमा दी है। मंडूक-चूर्ण में से वर्षा होते ही मेंढक उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु मंडूक-भस्म में से मेंढक उत्पन्न नहीं हो सकते।

(५०) **अपि स्वरूपतः शुद्धा क्रिया तस्माद्विशुद्धिकृत्।**
मौनीन्द्रव्यवहारेण मार्गबीजं दृढ़ादरात्।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए स्वरूप से शुद्ध क्रिया ही (आत्मा की) विशुद्धि करने वाली होती है। जिनेन्द्रदेव ने जो आचार-मार्ग बताया है, उस पर दृढ़ श्रद्धा से सम्यक्त्व (मार्गबीज) की प्राप्ति होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो क्रिया स्वरूप से शुद्ध होती है, वह क्रिया आत्मा की शुद्धि करने वाली होती है, इसलिए उस क्रिया को आध्यात्मिक-क्रिया के रूप में जानना चाहिए। भगवान् ने जो आचार-मार्ग बताया है, उसके अनुसार आदर और श्रद्धापूर्वक क्रियाएं की जाएं, तो वे क्रियाएँ सम्यक्त्व को प्राप्त कराने वाली होती हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग-स्तोत्र में कहा है- 'आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च', भगवान की आज्ञा की आराधना ही मोक्ष है और विराधना ही संसार है, अतः जो परमात्मा की आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक क्रिया करता है, उसे मोक्ष-मार्ग के बीजरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

(५१) **गुर्वाज्ञापारतंत्र्येण द्रव्यदीक्षाग्रहादपि।**
वीर्योल्लासक्रमात्प्राप्ता बहवः परमं पदम्।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> (द्रव्य-दीक्षा लेकर) गुरु-आज्ञा के अधीन रहने से भी अनेक जीव क्रमशः वीर्योल्लास की वृद्धि करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> शास्त्रों में कतिपय ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि किसी ने किसी के प्रति राग के कारण या परिस्थितिवश या लालचवश मात्र साधु-वेश धारण कर एवं रजोहरण ग्रहण कर द्रव्यदीक्षा ले ली। ऐसे जीव जो क्रिया करते हैं, उनका अशुद्ध होना संभव है, किन्तु उनमें भी अगर एक गुण गुरु की अधीनता का है, गुरु के प्रति पूर्णतः समर्पण-भाव का है, तो उनके वीर्योल्लास में वृद्धि होती जाती है। उनका चारित्रमोहनीय-कर्म निर्बल होता जाता है, जिससे उनकी उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। इस प्रकार प्रारंभ में द्रव्यदीक्षा धारण करके भी गुरु की अधीनता स्वीकार करने के कारण द्रव्यदीक्षा भी भावदीक्षा में परिणत हो जाती है और ऐसे जीव भी साधना करते हुए परमपद, अर्थात् मुक्तिपद को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ ग्रंथकार का कहने का आशय यही है कि अभ्यास-दशा में की जा रही अशुद्ध क्रिया भी उपचार से अध्यात्म की ही क्रिया है। उसका अनादर नहीं करना चाहिए। साथ ही, इस श्लोक में गुरु के प्रति शरणागति का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है।

(५२) **अध्यात्माभ्यासकालेऽपि क्रिया काप्येवमस्ति हि।**
शुभौघसंज्ञानुगतं ज्ञानमप्यस्ति किंचन।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> अध्यात्म के अभ्यासकाल में भी कुछ क्रिया रही हुई है। साथ ही, शुभ और ओघ-संज्ञा का अनुसरण करने वाला कुछ ज्ञान भी रहा हुआ है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव संसार में अनादि-काल से परिभ्रमण कर रहा है। जब उसका संसार में रहने का काल एक पुद्गलपरावर्तन शेष रहता है, तब किसी जीव में धर्म करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। वह कुछ सत्कार्यों से जुड़ जाता है। वह देव-गुरु-धर्म के निकट आता है। उसमें दया, दान,

विनय, वैयावृत्य आदि क्रियाओं के प्रति रुचि जाग्रत होती है। वह धीरे-धीरे अध्यात्म का अभ्यास शुरू करता है, तब अध्यात्म के उस आरंभिककाल में कुछ शुद्ध क्रियाएँ भी होती हैं तथा शुभ और ओघ-संज्ञा वाला कुछ ज्ञान भी रहता है। {वस्तु-तत्त्व का सामान्य ज्ञान ओघज्ञान कहलाता है, अर्थात् उसमें गहराई से तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु अल्प ज्ञान होता है। वह अल्प ज्ञान भी शुभ होता है, अर्थात् मिथ्याज्ञान नहीं होता है। वह जितना भी जानता है, विपरीत ज्ञान नहीं होता है।}

(५३) **एवं ज्ञानक्रियारूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते।**
एतत्प्रवर्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम्।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार ज्ञान और क्रिया- इन दोनों रूपों में अध्यात्म रहा हुआ है। यह अध्यात्म कपटरहित आचरण से शोभित मनुष्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> अभ्यासकाल में ज्ञान तथा क्रिया- दोनों रूपों में अध्यात्म रहता है। जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया, ऐसे अपुनर्बन्धक जीवों में भी इस प्रकार का अध्यात्म हो सकता है, परंतु शर्त यह है कि उनके आचरण में छल-कपट नहीं हो। निर्दम्भी जीव का सामान्य ज्ञान तथा क्रिया भी उसके अध्यात्म की उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाले होते हैं।

-----oooo-----

प्रबंध-प्रथम

तृतीय अधिकार - दंभत्याग

(५४) **दंभो मुक्तिलतावह्निर्दंभो राहुः क्रियाविधौ।**
दौर्भाग्यकारणं दंभो दंभोऽध्यात्मसुखार्गला।।१।।

अनुवाद - दंभ मुक्तिरूपी लता के लिए अग्नि है। दंभ क्रियारूपी चंद्रमा के लिए राहु के समान है। दंभ दुर्भाग्य का कारण है और आध्यात्मिक-सुख की अर्गला है, अर्थात् उसमें बाधक है।

विशेषार्थ - दंभ का अर्थ है- छल, कपट या मायाचार। जिसके मन में कुछ हो, वचन कुछ अन्य हो और काया की प्रवृत्ति भी अलग हो, अर्थात् जो कहता कुछ है, करता कुछ है, ऐसे लोगों के लिए कहा गया है - 'मुख में राम बगल में छुरी।' ऐसे लोगों के मुख पर तो भगवान् का नाम होता है, किन्तु अन्तर में विषय-कषाय की आग जल रही होती है। ऐसा व्यक्ति किसी मनुष्य के समक्ष में तो प्रशंसा के पुल बांध देता है, किन्तु पीठ पीछे उसकी घोर निंदा, ईर्ष्या तथा द्वेष करता है। दंभी व्यक्ति अपने दोषों को छुपाता है, असत्य का सहारा लेता है। अगर उसके दोष किसी भी व्यक्ति की पकड़ में आ जाएं, तो वह उत्तेजित हो जाता है, दूसरे पर आक्षेप लगाता है। कपटी मनुष्य का चित्त कभी शांत नहीं होता है, निर्मल नहीं होता है, इसलिए दंभ अध्यात्ममार्ग में प्रवेश के लिए अन्तरायभूत या अर्गला है, जिसे ग्रंथकार ने विभिन्न उपमाएँ देकर समझाया है।

दंभ मुक्तिरूपी लता को जलाने के लिए अग्नि जैसा है। जिस तरह लता ऊर्ध्वगामी होती है, किन्तु अग्नि से जलने पर उसका विकास रुक जाता है, उसी प्रकार कर्मों से मुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करना आत्मा का स्वभाव है, किन्तु दंभ के कारण जीव का मुक्ति-मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। दंभ धार्मिक-क्रियारूपी चन्द्रमा के प्रकाश को ढंक देने वाले, उसे ग्रसित

करने वाले, राहु के समान है। दंभ से दुर्भाग्य आता है, दुःख आता है। दंभी व्यक्ति की विचारधारा प्रायः अशुभ होती है, जिससे अशुभ कर्मों का ही बंध होता है और वह दुःख तथा चिंता से घिरा हुआ रहता है। दंभ आध्यात्मिक-सुख की अर्गला है। प्राचीन समय में दरवाजे को बंद करने के लिए अर्गला होती थी, जिससे दरवाजा बिल्कुल मजबूती से बंद हो जाता था। दंभ अध्यात्म-सुख के लिए उसी प्रकार की अर्गला है, क्योंकि धर्म तो शुद्ध-सरल चित्त में निवास करता है। जहाँ मायाचार है, वहाँ अध्यात्म का प्रवेश ही नहीं हो पाता है। दंभ जाए, तो ही आध्यात्मिक-जीवन में प्रवेश संभव होता है। इसके लिए मन-वचन और काया की प्रवृत्ति एकरूप होना चाहिए, अर्थात् जैसे विचार हों, वैसा ही आचार व वाणी हो। इसके साथ ही मन-वचन और काया- तीनों की पवित्रता या निर्मलता होना भी आवश्यक है। दंभ के जाने पर ही समत्वभाव प्रकट होता है, सत्य का आचरण होता है और तत्त्व-विचार में आनंद आता है। सरल चित्तवाले को ही आध्यात्मिक-आनंद की अनुभूति होती है, इसलिए अध्यात्म-मार्ग में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नपूर्वक दंभ को जीवन से निकाल देना चाहिए।

(५५) **दंभो ज्ञानाद्रिदंभोलिर्दंभः कामानले हविः।**
व्यसनानां सुहृद् दंभो दंभश्चौरो व्रतश्रियः।।२।।

<u>अनुवाद</u> - दंभ ज्ञानरूपी पर्वत के लिए वज्र के समान है। कामनारूपी अग्नि के लिए घी के समान है। दंभ व्यसनों का मित्र है और व्रतरूपी लक्ष्मी का चोर है।

<u>विशेषार्थ</u> - पर्वत का पर्यायवाची एक शब्द 'अचल' भी है, अर्थात् जिसे कोई चलित न कर सके, तोड़ न सके, परन्तु वज्र में पर्वत को तोड़ने की ताकत है। ज्ञान भी पर्वत के समान निश्चल है। ज्ञानी व्यक्ति में पर्वत के समान दृढ़ता होती है। प्रतिकूल वातावरण में भी कोई उसे विचलित नहीं कर सकता है, परन्तु दंभ अगर हृदय में प्रवेश कर जाए, तो फिर ज्ञान भी क्षीण हो जाता है, विवेक कुण्ठित हो जाता है। यहाँ कामवासना को अग्नि का रूपक दिया गया है। अग्नि को शांत करने के लिए जल की आवश्यकता होती है, किंतु उसके बदले अग्नि में घी डाला जाए, तो अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार मायाचार करने से कामवासना शांत नहीं होती, बल्कि

अधिक तीव्र हो जाती है। जहाँ दंभ है, वहाँ दुःख है, कष्ट है। दंभ-कष्टों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। लक्ष्मी पर अनेकों की नजर होती है। दंभ व्रतरूपी लक्ष्मी का चोर है। व्रतधारी के जीवन में भी दंभ आने पर व्रतरूपी लक्ष्मी चलित हो जाती है। वह व्रतपालन भी मायाचार से करता है। कपटी व्यक्ति के हृदय से सद्विचार बिदाई ले लेते हैं। छल-कपट में चित्तवृत्ति रहने से उसका तात्त्विक-ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। व्रत-आराधना में उसकी रुचि खत्म हो जाती है। उसके काम-विकारों में वृद्धि होती है और वह अनेक संकटों से घिर जाता है, इसलिए दंभ से हमेशा दूर रहना चाहिए।

(५६) **दंभेन व्रतमास्थाय यो वांछति परं पदम्।**
लोहनावं समारूह्य सोऽब्धेः पारं यियासति।।३।।

<u>अनुवाद -</u> कपटपूर्वक व्रतग्रहण करके जो परमपद को प्राप्त करने की इच्छा करता है, वह लोहे की नाव में बैठकर समुद्र को पार करने की इच्छा करने के समान है।

<u>विशेषार्थ -</u> मुख्यतः, हृदय की वक्रता का नाम दंभ है। जैसे बंजरभूमि में बोया बीज निष्फल हो जाता है, खटाई से युक्त बर्तन में दूध विकृत हो जाता है, उसी प्रकार दंभपूर्वक किया गया धर्मकार्य भी सफल नहीं हो पाता है। कितने ही लोग अपने दोषों को छुपाने के लिए भी व्रत ग्रहण कर लेते हैं या व्रत धारण करने के बाद भी कपट का आचरण करते हैं, कई बार यश-कीर्ति के लोभ में आकर व्रतों को दूषित करते हैं। यहाँ ग्रंथकार ने बताया है कि लोहे की नाव में बैठकर मनुष्य समुद्र के दूसरे किनारे जाने की इच्छा करे, तो वह नहीं जा सकता है। जिस प्रकार लोहे की नाव डूबती तो स्वयं ही है, बैठने वाले को भी डुबो देती है, उसी प्रकार कपटपूर्वक व्रत ग्रहण करके संसाररूपी समुद्र को पार कर यदि कोई मोक्षरूपी किनारे पर जाना चाहे, तो वह असंभव है। शास्त्रों में लक्ष्मणा साध्वी एवं रूक्मी साध्वी का उदाहरण प्राप्त होता है, जिसके अनुसार सामान्य-सी माया करने पर उनका उत्कृष्ट तप व चारित्र भी उन्हें मुक्ति नहीं दिला सका, अपितु उनका भवभ्रमण अनंतकाल के लिए बढ़ गया।

(५७) **किं व्रतेन तपोभिर्वा दंभश्चेन्न निराकृतः।**
किमादर्शेन किं दीपैर्यद्यान्ध्यं न दृशोर्गतम्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> यदि दंभ का त्याग नहीं किया हो, तो व्रत और तप द्वारा भी क्या मिलेगा ? जो कि दृष्टिहीन के लिए काँच और दीपक किस काम के?

<u>**विशेषार्थ -**</u> धर्म को हृदय में धारण करने के लिए प्रथम शर्त है- हृदय की सरलता। जिसके हृदय में सरलता नहीं हो, छल-कपट से जिसका हृदय अशुद्ध हो, ऐसा व्यक्ति व्रतों-महाव्रतों को ग्रहण करे, अथवा दीर्घ तपश्चर्या करे, तो भी उन व्रतों या तपश्चर्याओं से उसे तात्त्विक-फल की प्राप्ति नहीं होती है। जहाँ दंभ होता है, वहाँ ध्येय की विशुद्धि नहीं रहती है, इसलिए आचरण में भी पवित्रता नहीं आती है। माया महादोष है। यह अकेला ही ऐसा दोष है, जो अन्य गुणों को निष्फल कर देता है। जिस तरह अंधे व्यक्ति के सम्मुख दर्पण रखने पर भी वह अपना मुख देख नहीं सकता, अंधेरे में अंधे व्यक्ति के समक्ष दीपक रखा जाए, तो भी वह देख नहीं सकता, अर्थात् उसके लिए दीपक और दर्पण कुछ फल प्रदान नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार मायावी व्यक्ति द्वारा किए गए आचरण का वास्तविक फल उसे प्राप्त नहीं होता है।

(५८) **केशलोचधराशय्या - भिक्षाब्रह्मव्रतादिकम्।**
दंभेन दूष्यते सर्वं त्रासेनेव महामणिः।।५।।

<u>अनुवाद -</u> केश-लोच, भूमि पर शयन, भिक्षा और ब्रह्मचर्यादि व्रत दंभ के कारण (उसी तरह) दूषित हो जाते हैं, जिस तरह त्रास (तिड़) द्वारा महामणि।

<u>**विशेषार्थ -**</u> जो व्यक्ति पंचमहाव्रतों को स्वीकार करता है, दीक्षा ग्रहण करता है, उसे कुछ दुष्कर नियमों का पालन करना आवश्यक होता है, जैसे-भिक्षा के लिए घूमना, केश-लोच करना, पैदल विहार करना, भूमि-शयन आदि। ये मुनि-जीवन के बाह्य-लक्षण हैं, जिन्हें वह स्वेच्छा से स्वीकार करता है और इनसे बहुल कर्मों की निर्जरा होती है, किन्तु इन नियमों का पालन करते हुए भी यदि साधु छल-कपट से युक्त आचरण करे, तो उसके महाव्रत दूषित हो जाते हैं और संसार का परिभ्रमण बढ़ जाता

है। जिस प्रकार मणि मूल्यवान् होती है, किन्तु उसमें कोई त्रास, दाग आदि हो, तो उसका मूल्य घट जाता है, उसी प्रकार महामूल्यवान् महाव्रतों का पालन करते हुए भी यदि दंभ को नहीं छोड़े और सरलता नहीं अपनाए, तो मुनि-जीवन का गौरव कम हो जाता है, महाव्रतों का मूल्य घट जाता है।

(५६) सुत्यजं रसलाम्पट्यं सुत्यजं देहभूषणम्।
सुत्यजाः कामभोगाश्च दुस्त्यजं दंभसेवनम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> रस के प्रति आसक्ति का त्याग करना सरल है, देह के आभूषण का भी सरलता से त्याग कर सकते हैं। काम-भोगों का भी त्याग करना सरल है, किंतु दंभ-सेवन अर्थात् जीवन में दोहरेपन का त्याग करना बहुत मुश्किल है।

<u>विशेषार्थ -</u> रस-लम्पटता, अर्थात् स्वादिष्ट भोजन के प्रति तीव्र आसक्ति। यहाँ ग्रंथकार ने दंभ को त्याग करने की प्रवृत्ति को अति कठिन बताया है, अन्य बाह्य-त्याग सरल हैं। स्वादिष्ट भोजन, मिठाई, मिर्च-मसाले वाले पदार्थ आदि षड्रस भोजन के प्रति राग का त्याग करना आसान है। दूध, घी आदि स्वादिष्ट पदार्थों को छोड़ना कठिन नहीं है। स्नान, विलेपन, वस्त्र, आभूषण आदि के प्रति आकर्षण का त्याग करना भी सरल है। इन्द्रियों के विभिन्न विषयों के प्रति राग, कामभोग के प्रति आसक्ति को भी दृढ़ मनोबली आसानी से छोड़ देते हैं, किन्तु अपने दोषों को प्रकट करने *का साहस, अपनी मलिन मनोवृत्तियों को उजागर करने का साहस करना* बहुत मुश्किल है। अपनी स्वार्थी वृत्तियों को कोई जान न पाए, कोई अपनी गुप्त प्रवृत्तियों को देख न पाए, कोई अपने अन्दर के असली स्वरूप, अर्थात् मलिन भावनाओं को पहचान न पाए, इस प्रकार के छल-कपट का त्याग करना बहुत ही कठिन है।

(६०) स्वदोषनिह्नवो लोकपूजा स्याद् गौरवं तथा।
इयतैव कदर्थ्यन्ते दंभेन बत बालिशाः।।७।।

<u>अनुवाद -</u> स्वदोष को छिपाने वाला, लोक में स्वयं की पूजा होगी और गौरव बढ़ेगा-इस प्रकार मानता है, परंतु ऐसे मूर्ख व्यक्ति वास्तव में दंभ करके कदर्थना को प्राप्त करते है।

विशेषार्थ - कितने ही मुनि लोगों के बीच पूजा-सत्कार प्राप्त करने के लिए, लोक में प्रशंसा पाने के लिए अपने दोषों को प्रकट नहीं होने देते हैं, कपट करके उन दोषों को छिपाते हैं। वे दोषों को नष्ट करने के लिए प्रयास नहीं करते, बल्कि अपकीर्ति के भय से उन दोषों को ढंकने का प्रयत्न करते हैं। मेरी चारों ओर प्रतिष्ठा हो, जय-जयकार हो, मेरे अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हो, मेरा गौरव बढ़े- इस प्रकार की भावना से वे अपने दोषों को बुद्धिपूर्वक छिपाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जिस प्रकार रूई लपेटी आग दब नहीं सकती, उसी प्रकार पाप भी अधिक दिनों तक नहीं छिप सकता है। वह कभी-न-कभी लोगों के बीच प्रकट हो ही जाता है। दंभ के प्रकट हो जाने पर लोग उसकी कदर्थना करते हैं, निंदा करते हैं। कई बार पापाचार प्रकट होने पर बड़े-बड़े ख्याति-प्राप्त साधुओं को भी समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है, उनकी सर्वत्र आलोचना होती है, इसलिए दंभ करने वाले को ग्रंथकार ने बालिश अर्थात् मूर्ख कहकर संबोधित किया है।

(६१) **असतीनां यथा शीलमशीलस्यैव वृद्धये।**
दंभेनाव्रतवृद्ध्यर्थं व्रतं वेषभृतां तथा।।८।।

अनुवाद - असती स्त्रियों का शील, अशील की वृद्धि के लिए ही होता है, उसी प्रकार वेशधारी साधुओं का व्रत भी दंभ के कारण अव्रत की वृद्धि के लिए ही होता है।

विशेषार्थ - असती स्त्री, अर्थात् कुलटा या व्यभिचारिणी स्त्री। ऐसी स्त्री अपने दुराचार को कपटपूर्वक छिपाती है। स्वयं व्यभिचार का सेवन करते हुए भी पतिव्रता होने का नाटक करती है, लोगों के सामने शीलवती कहलाती है। वह यह भी मानती है कि उसके दुराचरण का किसी को क्या पता चलेगा ? वह तो अपनी बुद्धि से, चतुराई से पतिव्रता नारी ही कहलाएगी। उसका शीलपालन का यह नाटक उसके अशील अर्थात् दुराचरण की वृद्धि ही करता है। इसी प्रकार मात्र वेशधारी साधु व्रतों का पूर्णतः पालन नहीं करता है, पापाचार का सेवन करता है, फिर भी वह बाहर से श्रेष्ठ संयमधारी, व्रतधारी होने का नाटक करता है। वह लोगों के बीच मान-सम्मान, पूजा-सत्कार पाता है। वह बाह्यतः चारित्र-चूड़ामणि का विरूद धारण करके कपटपूर्वक माया के आवरण में अधिक-से-अधिक पापाचार का

सेवन करता है, व्रतों को खण्डित करता है, अतः उसके व्रतपालन का वह नाटक भी अव्रत की वृद्धि के लिए ही होता है।

(६२) जानाना अपि दंभस्य स्फुरितं बालिशः जनाः।
तत्रैव धृतविश्वासाः प्रस्खलन्ति पदे पदे।।६।।

<u>अनुवाद -</u> मूर्ख व्यक्ति दंभ के परिणामों को जानते हुए भी उस पर विश्वास धारण करके कदम-कदम पर स्खलना को प्राप्त होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> मूर्ख लोग दंभ या कपटवृत्ति के बुरे परिणाम को जानते हुए भी उसे छोड़ नहीं पाते हैं। दंभ करने वाले व्यक्ति का मन हमेशा तनावग्रस्त रहता है। उसे लोगों के बीच उसका दंभ प्रकट न हो, इसकी चिंता हमेशा रहती है, किंतु दंभ अर्थात् कपटवृत्ति प्रकट होने पर वह व्यक्ति बुरी तरह दुत्कारा जाता है, निंदित होता है। इस प्रकार दंभ के कटु फल से पीड़ित होने पर भी उसके प्रति उसका मोह नहीं छूटता है। चूंकि दंभपूर्वक आचरण करने पर, अर्थात् जैसा पवित्र आचरण है नहीं, वैसा दिखावा करने पर उसे तात्कालिक-लाभ, अर्थात् पूजा-सत्कार आदि प्राप्त हो जाते हैं, इस कारण दंभ के प्रति उसका आकर्षण बना रहता है। मायाचार प्रकट होने पर और स्वयं अपमानित होने पर भी दंभ से लाभ तो होता ही है- इस प्रकार का विश्वास करके वह पुनः दंभाचार करता है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में महामूर्ख हैं और अपनी आत्मा को मलिन बनाकर पतन के गर्त में गिराता है।

(६३) अहो मोहस्य माहात्म्यं दीक्षां भागवतीमपि।
दंभेन यद्विलुंपन्ति कज्जलेनेव रूपकम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> अहो ! मोह का कैसा माहात्म्य है। भागवती-दीक्षा ग्रहण करने पर भी व्यक्ति कपटपूर्वक आचरण से उसे वैसे ही नष्ट कर देता है, जिस तरह काजल गिराकर कोई सुन्दर चित्र को बिगाड़ देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मोहनीय-कर्म सभी कर्मों का राजा है। इसका प्रभाव बहुत प्रबल है। अच्छे-अच्छे पंडितजन भी इसके फेर में आ जाते हैं। वे महामूल्यवान् दीक्षा ग्रहण करके भी दंभ से आत्म-कल्याण के अमूल्य अवसर खो देते हैं, आत्मा को विशुद्ध करने के बजाय उसे मलिन कर देते हैं। दम्भी व्यक्ति जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित अणगार-धर्म को स्वीकार करके भी

उस पर कालिख पोत देते हैं, महाव्रतों को दूषित कर देते हैं। जिस तरह कोई चित्रकार बहुत प्रयत्न से सुन्दर चित्र बनाता है और फिर स्वयं ही उस पर काजल पोत देता है, उसी प्रकार कुछ लोग स्वेच्छा से उत्तम संयम-जीवन को अपनाकर दंभ से उसकी विडम्बना करते हैं।

(६४) अब्जे हिमं तनौ रोगो वने वह्निर्दिने निशा।
ग्रंथे मौर्ख्यं फलिः सौख्ये धर्मे दंभ उपप्लवः।।११।।

<u>अनुवाद -</u> कमल के ऊपर हिम, शरीर में रोग, वन में अग्नि, दिन में रात्रि, ग्रंथ में मूर्खता, सुख में कलह जिस तरह उपद्रवरूप हैं, उसी तरह धर्म में दंभ उपद्रवरूप है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने इस श्लोक में दंभ को धर्म के लिए उपद्रवकारी मानते हुए उसे अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाया है। कमल सुन्दर तथा कोमल होता है, किन्तु उस पर बर्फ गिर जाए, तो वह मुरझा जाता है। कितना ही सुन्दर शरीर हो, किन्तु भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाएं, तो शरीर का आकर्षण समाप्त हो जाता है। रोग शरीर को हानि पहुँचाते हैं। वन में यदि आग लग जाए, तो उसे बुझाना बहुत मुश्किल होता है। वह अग्नि वन के बहुत बड़े भूभाग को नष्ट कर देती है। दिन में रात्रि, अर्थात् सूर्यग्रहण हो जाए या बादलों से सूर्य घिर जाए और दिन में रात्रि जैसा अंधकार हो जाए, तो उसे अमंगल माना जाता हैं। वह विपत्ति का सूचक होता है। मूर्ख व्यक्ति के हाथ कोई सद्ग्रन्थ लग जाए, तो वह अर्थ का अनर्थ कर उसे नष्ट कर देता है। सुख के दिनों में या खुशी के वातावरण में कोई कलह उत्पन्न हो जाए, तो प्रसन्नता गायब हो जाती है, सुख विलुप्त हो जाता है। उसी तरह इन उदाहरणों के अनुसार ही धर्म के क्षेत्र में दंभ करना भी बहुत अहितकर है, आत्मा के लिए उपद्रवकारी है। जो क्षेत्र आत्म-विशुद्धि करने का है, उसी क्षेत्र में प्रवेश कर दंभ का आचरण किया जाए, तो वह बहुत ही अनर्थकारी होता है।

(६५) अत एव न यो धर्तुं मूलोत्तरगुणानलम्।
युक्ता सुश्राद्धता तस्य न तु दंभेन जीवनम्।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए जो मूलगुण और उत्तरगुण को धारण करने में समर्थ न हों, उसे अच्छा श्रावक बनना योग्य है, किन्तु दंभ या कपटपूर्वक साधु की तरह जीना योग्य नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> शुद्ध संयमी-जीवन का पालन मोम के दांतों से लोहे के चने चबाना है। मूलगुण और उत्तरगुण की रक्षा के लिए अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ प्रसन्नतापूर्वक सहन करना होती हैं। यहाँ ग्रंथकार ने शिथिल साधुओं को चुनौती देते हुए कहा है कि यदि वे मूलगुणों और उत्तरगुणों का यथावत् पालन नहीं कर सकते हों, अनेक प्रकार के दोषों का सेवन करते हुए दंभपूर्वक जीवन जी रहे हों, अर्थात् महाव्रतों का भंग करते हुए भी लोगों के बीच महाव्रती होने का छलावा कर रहे हों, तो उससे तो अच्छा है कि वे अच्छे श्रावक बन जाएं, क्योंकि दंभपूर्वक आचरण करना स्वयं को और दूसरों को धोखा देना है, विश्वासघात करना है। दोहरे जीवन जीने की अपेक्षा कपट का त्याग करके, सरल हृदय से अणुव्रतों का पालन किया जाए, तो वह भी उत्तम है।

सम्यक्त्वसहित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- इन पाँच महाव्रतों की गणना मूलगुण में होती है। चरणसत्तरी, अर्थात् चारित्र के सत्तर भेदों में इनका समावेश हो जाता है। पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप अष्टप्रवचनमाता की गणना उत्तरगुण में होती है। इनका समावेश करणसत्तरी में होता है। मूलगुण की रक्षा के लिए उनका यथावत् पालन करने के उद्देश्य से ही उत्तरगुणों का निर्देश किया गया है।

(६६) परिहर्तुं न यो लिंगमप्यलं दृढ़रागवान्।
संविग्नपाक्षिकः स स्यान्निर्दंभः साधु सेवकः।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> जिन्हें संयमी-जीवन के प्रति दृढ़ अनुराग है और मुनिवेश का त्याग करने में समर्थ न हों, तो उन्हें दंभ का त्याग करके संविग्न-पाक्षिक होकर साधुओं की सेवा में लग जाना चाहिए।

विशेषार्थ - यहाँ ग्रंथकार ने आत्मा के लिए महा अनर्थकारी दंभ का त्याग करना आवश्यक बताया है। संयमी-जीवन ग्रहण करने के बाद भी चारित्र-पालन यथावत् नहीं होता हो, उसमें अनेक दोषों का सेवन करना पड़ता हो, साथ ही संयम-जीवन के प्रति दृढ़ अनुराग होने से उसे छोड़ने की इच्छा भी न होती हो, क्योंकि इससे जिनशासन की अवहेलना होना भी संभव है, तो ऐसी स्थिति में दंभ का त्याग करके, गुरु के पास या किसी गीतार्थ साधु के पास जाकर सरलतापूर्वक अपनी कमजोरी बता देना चाहिए। साथ ही, जो साधु संवेगी हैं, चारित्र-धर्म का दृढ़ता से पालन करते हैं, उनकी अनुमोदना करते हुए उनकी सेवा में तत्पर हो जाना चाहिए, क्योंकि गुणों के प्रति सद्भाव और गुणीजनों की सेवा करने से उन सद्गुणों के प्रति आकर्षण बना रहता है और धीरे-धीरे उन गुणों को ग्रहण करने का सामर्थ्य भी उत्पन्न हो जाता है। अतः, साधुवेश को छोड़ भी न सकें और संयम का यथावत् पालन भी न कर सकें, तो ऐसी स्थिति में दंभ का त्याग करके गुणीजनों की सेवा करना चाहिए।

(६७) **निर्दंभस्यावसन्नस्याप्यस्य शुद्धार्थभाषिणः।**
निर्जरां यतना दत्ते स्वल्पापि गुणरागिणः।।१४।।

अनुवाद - शिथिलाचारी होने पर भी जो निर्दोष हो, शुद्ध अर्थ कहने वाला हो, गुणानुरागी हो, ऐसे मुनि की थोड़ी भी यतना निर्जरा का कारण होती है।

विशेषार्थ - यहाँ ग्रंथकार ने, निर्दंभता या निष्कपटवृत्ति का कितना अधिक महत्व है- यह बताया है। चारित्रिक-क्रियाओं में शिथिल होने पर भी जो साधु सरल हो और शिथिलता का पक्षपाती नहीं हो, झूठे तर्क-वितर्क करके अपनी शिथिलता का बचाव नहीं करता हो, शास्त्रों के शुद्ध और वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन करता हो, गुणानुरागी हो, संयम का उत्कृष्ट पालन करने वालों के प्रति दृढ़ आस्थावान् हो, साथ ही अपनी शिथिलता का जिसे खेद हो - ऐसे मुनि की अल्प यतना भी बहुत निर्जरा का कारण होती है, क्योंकि दंभरहित होने पर मन की निर्मलता बनी रहती है। कई बार व्याधि के कारण या वृद्धावस्था के कारण शारीरिक-स्थिति ऐसी हो जाती है कि साधु आचरण में शिथिल हो जाता है, किन्तु वह अपनी त्रुटियों

को स्वीकार करके उनके प्रति खेद व्यक्त करता है तथा आत्मनिंदा करते हुए जिनकी चारित्रिक-शक्ति उन्नत है, उनके प्रति अहोभाव रखता है। मन की ऐसी सरलता के कारण उसकी अल्प क्रिया से भी निर्जरा अधिक होती है।

(६८) व्रतभारासहत्वं ये विदन्तोऽप्यात्मनः स्फुटम्।
दंभाद्यतित्वमाख्यान्ति तेषां नामापि पाप्मने।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> जो, व्रतों का भार सहन करने में सक्षम नहीं है- ऐसा प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करते हैं, फिर भी दंभ से यति के रूप में अपनी पहचान देते हैं, उनका नाम लेना भी पाप है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> मन-वचन-काया से हिंसादि पाँच पापों का सेवन नहीं करना, नहीं करवाना और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना - इस प्रकार नवकोटि से निरतिचार पंच महाव्रतों का पालन करना बहुत ही दुष्कर है। कितने ही मुनि इन महाव्रतों का पालन अच्छी तरह से नहीं कर पाते हैं। इसका वे स्वयं अनुभव भी करते हैं, किन्तु फिर भी वे उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने वाले के रूप में अपनी पहचान देते हैं और लोगों के बीच अपनी झूठी आत्मप्रशंसा करते हैं। यह सत्य है कि धर्म के नाम पर लोगों को ठगना बहुत आसान है। अधिकतर बालजीव, जो मात्र साधुवेश से ही प्रभावित हो जाते हैं, उनसे अपने संयम-साधना की बड़ी-बड़ी बातें करके ऐसे छली साधु उनका विश्वास जीत लेते हैं और अंदर-ही-अंदर अपनी पाप-प्रवृत्तियाँ जारी रखते हैं, इस प्रकार उनको धोखा देना महापाप है। ग्रंथकार कहता है कि ऐसे शिथिलाचारी, कपटी तथा जिनशासन को हानि पहुँचाने वाले मुनियों का नाम लेना भी पाप है, क्योंकि उनकी अनुमोदना करना, उनके दंभ की अनुमोदना करना है। इससे उनकी पाप-क्रिया को अधिक प्रोत्साहन मिलता है, इसलिए उनको वंदन आदि भी नहीं करना चाहिए।

(६९) कुर्वते ये न यतनां सम्यक् कालोचितामपि।
तैरहो यतिनाम्नैव दांभिकैर्वंच्यते जगत्।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> जो काल के अनुसार यतनापूर्वक आचरण नहीं करते हैं- ऐसे दांभिक मुनि, 'मुनि' नाम धारण कर जगत् को धोखा देते हैं।

विशेषार्थ - यतना धर्म है, क्योंकि वह सर्वथा हिंसा-त्यागरूप मुनि-जीवन का मुख्य आचार है। एक अहिंसा महाव्रत में ही सारे महाव्रतों का समावेश हो जाता है। साधुओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार यतनापूर्वक, अर्थात् पूर्ण सावधानी एवं सजगतापूर्वक साधुजीवन जीना चाहिए। उनकी भिक्षाचर्या, उनका आहार, विहार, निहार आदि प्रवृत्तियों में यतना या सावधानी की ही प्रमुखता है, किंतु दंभी मुनि मात्र वेश का लाभ उठाते हैं। वेश के अनुसार आचरण करना उन्हें कष्टमय प्रतीत होता है, दुष्कर लगता है, किंतु उन्हें वेश ही अच्छा लगता है, क्योंकि इसी वेश के कारण उन्हें अन्न, पान, वस्त्र, मान-सम्मान आदि मिलता है। ऐसे मुनि सजगता या अप्रमत्ततापूर्वक उचित आचार का पालन नहीं करते हुए लोगों के साथ विश्वासघात करते हैं। वे जगत् के लोगों को ठगते हैं और लोग भी भोले बनकर उनकी ठगाई में आ जाते हैं- यह एक महा आश्चर्य है।

(७०) **धर्मीतिख्यातिलाभेन प्रच्छादितनिजाश्रवः।**
तृणाय मन्यते विश्वं हीनोऽपि धृतकैतवः।।१७।।

अनुवाद - धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करके जिसने अपने आश्रवों, अर्थात् पापकर्मों को छिपा लिया है, ऐसे हीन और हृदय में कपट धारण करने वाले मुनि विश्व, को अर्थात् दूसरे आत्मार्थी मुनियों को तृण के समान, अर्थात् तुच्छ मानते हैं।

विशेषार्थ - कितने ही साधु गुण से रहित होने पर भी गुणवान् होने का दिखावा करते हैं। वे जगत् को ठगने में इतने कुशल होते हैं कि आचरणहीन होने पर भी धार्मिक व्यक्ति के रूप में जगत् में ख्याति प्राप्त कर लेते हैं। उनके सम्बन्ध में 'ये बहुत धर्मात्मा है, संयम का उत्कृष्ट पालन करने वाले हैं'- इस प्रकार की प्रसिद्धि लोगों में हो जाती है। वस्तुतः, वे अपने पापों को या अपने दोषों को कपटपूर्वक छिपा लेते हैं। यद्यपि आध्यात्मिक-दृष्टि से ऐसे मुनियों का कोई मूल्य नहीं होता है, किन्तु ऐसे दंभी मुनियों की जब बहुत अधिक प्रसिद्धि हो जाती है और उनके अनुयायी-वर्ग की वृद्धि हो जाती है, तो वे अभिमान से फूलकर कुप्पा हो

जाते हैं। तब वे अपने-आपको सर्वस्व मान लेते हैं तथा जगत् के दूसरे आत्मार्थी साधकों को तृण के समान तुच्छ समझते हैं।

(७१) आत्मोत्कर्षात्ततो दंभी परेषां चापवादतः।
बध्नातिकठिनं कर्म बाधकं योगजन्मनः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> उसके बाद ऐसे दंभी साधु स्वयं का उत्कर्ष तथा अन्य का अपकर्ष दिखाने के कारण योगोत्पत्ति में, अर्थात् सम्यक्-चारित्र में बाधक- ऐसे कठोर कर्म का बन्ध करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> उसके बाद ऐसे दंभी साधु स्वयं का उत्कर्ष तथा अन्यों का अपकर्ष दिखाने हेतु दूसरों की निंदा करके योगोत्पत्ति, अर्थात् सम्यक् साधना में बाधक ऐसा कठोर कर्म बांधते हैं। आत्मप्रशंसा तथा परनिंदा करके दूसरों को नीचा दिखाने वाले वे अहंकारी, दंभी साधु ऐसे पापकर्म का बन्धन करते हैं, जिससे उनके मन-वचन-काया के शुभ योगों का बन्ध नहीं होता है। फलतः, भवान्तर में वे पापकर्मा कुलों में जन्म लेते हैं, इस कारण उनकी आत्मोन्नति अवरुद्ध हो जाती है, अतः आत्मप्रशंसा और परनिंदा से दूर रहकर जो कपटरहित सरलतापूर्वक आत्मसाधना करता है, वही साधु क्रमशः अपना आध्यात्मिक- विकास करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(७२) आत्मार्थिना ततस्त्याज्यो दंभोऽनर्थनिबंधनम्।
शुद्धि स्यादृजुभूतस्येत्यागमे प्रतिपादितम्।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> इस कारण आत्मार्थी को अनर्थों के मूल कारणरूप दंभ का त्याग करना चाहिए, क्योंकि सरल चित्तवाले व्यक्ति की ही शुद्धि होती है, ऐसा आगम में प्रतिपादित किया गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार यहाँ विशेष रूप से आत्मार्थी साधक को निर्देश देते हुए कहता है कि दंभ का त्याग अवश्य करना चाहिए, क्योंकि दंभ का त्याग किए बिना आत्मा की शुद्धि संभव नहीं है। आत्मशुद्धि के बिना धर्म हृदय में शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता है और मोक्ष-मार्ग दुर्गम हो जाता है। मायाचार अनेक प्रकार के अनर्थों को जन्म देता है। मायाचार से क्रूर कर्मों का बन्धन होता है और जीव दुर्गति में भटकता रहता है।

जहाँ दंभ है, वहाँ सरलता नहीं होती है और जहाँ सरलता है, वहाँ दंभ नहीं होता है। दंभ और सरलता परस्पर विरुद्ध हैं। दंभ से आत्मा मलिन होती है, जबकि सरलता से आत्मा पवित्र होती है, इसलिए सरल चित्तवाले जीवों की ही सुगति होती है। अकर्म-भूमि के युगलिक- मनुष्य और तिर्यंच व्रतादि आचारणरूप किसी भी प्रकार की धर्माराधना नहीं करते हैं, किन्तु हृदय की सरलता के कारण वे दूसरे देवलोक मे उत्पन्न होते हैं, अतः कपटपूर्वक की गई उत्कृष्ट आराधना से भी जीव की सुगति तथा मुक्ति नहीं होती है।

(७३) जिनैर्नानुमतं किंचिन्निषिद्धं वा न सर्वथा।
कार्ये भाव्यमदंभेनेत्येषाज्ञा पारमेश्वरी।।२०।।

अनुवाद - जिनेश्वरदेव ने एकांतरूप से किसी बात का विधान या निषेध नहीं किया है। कैसी भी साधना करो, किन्तु दंभरहित होकर करो- यह परमात्मा की आज्ञा है।

विशेषार्थ - महाव्रतों या अणुव्रतों का पालन, व्यवहारनय से, अथवा निश्चयनय से, अथवा उत्सर्गमार्ग से या अपवादमार्ग से, अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा से अलग-अलग रूपों में हो सकता है, इसलिए जिनेश्वरदेव ने 'इस क्रिया को इसी प्रकार ही करो'- ऐसा ऐकान्तिक प्रतिपादन नहीं किया है। इसी प्रकार से 'धर्म क्रिया करो या नहीं करो'- ऐसा सर्वथा विधि-निषेध भी नहीं किया है। भगवान् ने अनेकान्तवाद की दृष्टि प्रदान की, जैसे- सामने लाया हुआ आहार या मुनि के लिए बनाया गया आहार ग्रहण करना मुनि को निषिद्ध है, लेकिन प्रतिकूल परिस्थिति में संयम की रक्षा के लिए ऐसा आहार अपवाद-मार्ग में ग्रहण किया भी जा सकता है। इसके बाद भी परमात्मा की ऐसी आज्ञा तो अवश्य ही है कि कुछ भी करो, कपटरहित होकर करो। इसका अर्थ यही हुआ कि कपटसहित धर्म-क्रिया करने वाले परमात्मा की आज्ञा के उत्थापक ही माने जाएंगे।

(७४) अध्यात्मरतचित्तानां दंभः स्वल्पोऽपि नोचितः।
छिद्रलेशोऽपि पोतस्य सिंधु लंघयताभिव।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> जिसका मन अध्यात्म में डूबा हुआ है, उसे तो थोड़ा भी कपट (दंभ) करना उचित नहीं है। यदि नौका में छोटा-सा भी छिद्र हो, तो *उससे समुद्र को पार नहीं किया जा सकता है।*

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मविकास के लिए प्रथम शर्त है- कपट या दंभरहित होना, इसलिए जिसका मन अध्यात्म में लीन है, जो अपना आत्मविकास चाहता है, ऐसे आराधक जीवों के लिए मायाचार सर्वथा वर्जित है। चूंकि दंभ आत्मा को मलिन कर देता है, आध्यात्मिक- जीवन को दूषित कर देता है, मोक्षमार्ग का अवरोधक है, अतः थोड़ा भी दंभ करने वाला भवसागर को पार करने में समर्थ नहीं होता। यहाँ ग्रंथकार ने एक दृष्टान्त देकर बताया है कि जैसे- नौका में छोटा-सा भी छिद्र हो, तो वह समुद्र को पार करने में सहायक नहीं हो सकती है, बल्कि वह स्वयं भी डूबती है और उसमें बैठने वालों को भी डुबो देती है, उसी प्रकार कपटपूर्वक आचरण करने वाला मुनि स्वयं तो संसार-सागर में डूबता ही है साथ ही अपना आश्रय लेने वाले शिष्यगणों को भी डुबो देता है, इसलिए जो भवसागर को पार करने का इच्छुक हैं, उसे दंभरूपी छिद्र को बंद कर देना चाहिए और निष्कपट होकर धर्माराधना करना चाहिए।

(७५) दंभलेशोऽपि मल्ल्यादेः स्त्री त्वानर्थनिबंधनम्।
अतस्तत्परिहाराय यतितव्यं महात्मना।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> कपट (दंभ) का थोड़ा-सा अंश भी मल्लिकुमारी को स्त्रीवेद के उदय का कारण बना था, इसलिए महात्माओं को उसका त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> दंभ, छल, कपट या मायाचार छुपे रुस्तम की तरह हैं। दंभ प्रकटरूप में दिखाई नहीं देता है, किन्तु यह गुप्त रहकर आत्मा में विकार पैदा करता है। जिस तरह छोटा-सा कांटा भी यदि शरीर के अन्दर हो, तो वह बड़े व्रण का कारण बन जाता है, उसी प्रकार दंभ का थोड़ा-सा अंश भी आत्मा को विकारी बना देता है और अशुभ कर्मबंध का कारण होता है।

व्रती (मुनि) होने पर भी निःशल्यता न हो, तो वह वास्तविक रूप में व्रती नहीं कहलाता है। ग्रंथकार ने यहाँ उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ का दृष्टान्त दिया है। मल्लिनाथ अपने पूर्वभव में महाबल नामक राजकुमार थे। उन्होंने अपने छः मित्रों के साथ वरधर्म नामक गुरु के पास दीक्षा ली थी तथा सातों मुनियों ने ऐसा संकल्प किया था कि सभी को एक जैसा ही तप करना है। महाबल मुनि कपट रखकर तथा कुछ बहाना बनाकर, गुप्त रीति से अधिक तप कर लेते थे। इस प्रकार कपट करके उन्होंने तप की वृद्धि तो की, किन्तु इस आंशिक कपट के कारण स्त्रीवेद नाम कर्मबंध किया। दूसरी तरफ, बीस स्थानक की अपूर्व आराधना करके उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन भी किया।

उसके बाद सातों मुनि आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में उत्पन्न हुए। देवायु पूर्ण कर महाबल के जीव ने मिथिला नगरी में कुंभ राजा के गृह में कन्या के रूप में जन्म लिया। उस कन्या का नाम मल्लि रखा गया। इस प्रकार मायाचार करने पर तीर्थंकर-नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का उदय होने पर भी उन्हें स्त्रीवेद प्राप्त हुआ।

अतः, छल-कपट का थोड़ा अंश भी विपरीत परिणाम को उत्पन्न करता है। इस प्रकार जानने के बाद कौन समझदार व्यक्ति दंभपूर्वक आचरण करेगा ? जो मोक्षाभिलाषी हैं और संसाररूपी सागर से पार होना चाहते हैं, उन महान् आत्माओं को अपने जीवन से दंभ या मायाचार दूर करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

-----oooo-----

प्रबंध-प्रथम

चौथा अधिकार - भवस्वरूपचिन्ता-अधिकार

(७६) तदेवं निर्दंभाचरणपटुना चेतसि भव।
स्वरूपं संचिन्त्यं क्षणमपि समाधाय सुधिया।।
इयं चिन्ताऽध्यात्मप्रसरसरसीनीर लहरी।
सतां वैराग्यास्थाप्रियपवनपीना सुखकृते।।१।।

अनुवाद - इस प्रकार दंभरहित आचरण करने में कुशल ऐसे बुद्धिमान् पुरुष को अपने चित्त को कुछ समय के लिए स्थिर रखकर संसार के स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। यह चिन्तन विस्तृत अध्यात्मरूपी सरोवर के जल की लहर की तरह है। यह लहर वैराग्य की आस्थारूपी प्रिय पवन से पुष्ट हुई है, इसलिए सत्पुरुषों के लिए यह सुख का कारण है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने चौथे अधिकार का नाम 'भवस्वरूपचिंता' दिया है, क्योंकि संसार के स्वरूप का जब तक चिंतन नहीं किया जाए, तब तक वैराग्य पुष्ट नहीं होता। जगत् का बाह्य-स्वरूप चित्त को आकर्षित करता है, किन्तु वह परिणाम में किंपाक-फल के समान विषतुल्य एवं दुःखदायक है। ऐसे व्यक्ति का मोह इतना प्रबल होता है कि वह बुद्धि से संसार की असारता को, अनित्यता को समझता है, फिर भी उसका हृदय उस वास्तविकता को स्वीकारने को तैयार नहीं होता। यदि हृदय द्वारा उसे स्वीकार कर भी लिया जाए, तो भी तदनुसार जीवन-शैली में परिवर्तन करना बहुत मुश्किल है।

ग्रंथकार ने भवस्वरूप के यथार्थ दर्शन के लिए निर्दंभ होना आवश्यक बताया है, क्योंकि जब तक हृदय में निश्छलता नहीं होगी, तब तक चित्त स्थिर नहीं होगा। चित्त की स्थिरता के बिना जगत् के वास्तविक स्वरूप का चिंतन नहीं किया जा सकता। व्यक्ति जिस भूमिका पर प्रतिष्ठित

है, उसमें जो योग्यता एवं क्षमता है, उससे अधिक श्रेष्ठ दिखाने की लालसा जब तक उसके मन में रहती है, तब तक उसके जीवन में मायाचार या कपटपूर्ण व्यवहार बना रहता है। निर्दंभ आचरण से व्यक्ति में निपुणता आती है। ऐसा स्वस्थचित्त व्यक्ति समाधिपूर्वक संसार के स्वरूप का चिंतन करता है, तो उसका वैराग्य दृढ़ होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में संसार का दुःखमय स्वरूप बताते हुए कहा गया है - "जन्म दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगो य मरणाणि य। अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जंतुणो।"

चार गतिरूप इस संसार में जन्म का दुःख, वृद्धावस्था का दुःख, रोगों का दुःख, मृत्यु का दुःख आदि अनेक दुःख रहे हुए हैं। वास्तव में यह संसार दुःखमय है। अनेक प्रकार के क्लेश का अनुभव करते हुए भी जीव इसमें आसक्त है। यह महान् आश्चर्य है। आधि-व्याधि-उपाधि से परिपूर्ण संसार में कोई भी रक्षण करने में समर्थ नहीं है। इस संसार में कर्माधीन जीव की एक जैसी स्थिति नहीं रहती है। जो इस भव में माता है, वह भवान्तर में स्त्री भी हो सकती है, जो स्त्री है, वह भवान्तर में माता भी बन सकती है। जो पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, वह भवान्तर में शत्रु भी हो सकता है। संसार में अनादिकाल से भ्रमण करते हुए देव, मनुष्य आदि ने सर्व-समृद्धि या संपदा को प्राप्त किया, लेकिन उन्हें आज तक उससे तृप्ति नहीं हुई। इस प्रकार पराधीन, भययुक्त, अनित्य, असार- ऐसे सांसारिक-भोगजन्य सुखों से कभी चिरस्थाई आनंद की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं, ये दुःखरूप ही होते हैं। स्वार्थ से युक्त संसार का जब यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाता है, तो चित्त में आनंद की लहरें उठती हैं, वैराग्य पुष्ट होता है। जैसे- कोई व्यक्ति सरोवर के किनारे बैठकर उसमें उठती हुई लहरों को देखता है और उस समय शीतल पवन बह रहा हो, तो उसका मन प्रफुल्लित हो जाता है, उसी प्रकार संसार के स्वरूप का चिंतन अध्यात्मरूपी सरोवर की लहरें हैं। वैराग्य की दृढ़तारूपी मनोहर वायु द्वारा पुष्ट हुआ यह चिंतन सज्जन पुरुषों के लिए परमानंददायक होता है।

(७७) इतः कामौर्वाग्निर्ज्वलति परितो दुःसह इतः।
पतन्ति ग्रावाणो विषयगिरिकूटाद्विघटिताः।।
इतः क्रोधावर्तो विकृतितटिनी संगमकृतः।
समुद्रे संसारे तदिह न भयं कस्य भवति।।२।।

<u>अनुवाद -</u> इस संसाररूपी समुद्र में एक तरफ दुःसह कामरूपी बड़वानल चारों तरफ जल रहा है, दूसरी तरफ विषयरूपी पर्वत के शिखर से टूटे हुए पत्थर गिर रहे हैं, इधर विकाररूपी नदियों के संगम में क्रोधरूपी भँवर उत्पन्न हो रहे हैं। ऐसे संसाररूपी समुद्र से किसे भय उत्पन्न न हो ?

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने संसार को समुद्र की उपमा देकर 'वह भयंकर क्यों है ?'- यह बताया है। जैसे- समुद्र के तल में बड़वानल (समुद्र की आग) होती है, जो बहुत विकराल होती है, उस पर काबू पाना बहुत मुश्किल होता है। वह समुद्र के जल का शोषण करती है। समुद्र के बीच या किनारे पर स्थित पर्वतों के शिखरों से बड़े-बड़े पत्थर टूटकर नीचे गिरते है तथा समुद्र के जल में अवरोध उत्पन्न करते हैं। वेग से आती हुई नदियों का जब समुद्र के साथ संगम होता है, तो बड़े-बड़े भंवर उत्पन्न होते हैं, जिनमें फंसे हुए जहाज आदि भी डूब जाते हैं। इसी प्रकार इस संसाररूपी समुद्र में कामवासनारूपी बड़वानल सतत जल रहा है। यह संयम और उपशमरूपी जल का शोषण कर रहा है। इस पर काबू पाना बहुत मुश्किल है। पाँच इन्द्रियों के विषयरूपी पर्वतों पर से गिरने वाले आसक्ति-रूपी पत्थर आराधक के लिए विघ्नरूप बनते हैं। पाँचों इन्द्रियों के तेईस विषयों में आसक्त व्यक्ति चाहते हुए भी आराधना नहीं कर सकता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के प्रति तीव्र आसक्ति व्यक्ति के तप, संयम आदि के पालन में अवरोधक बनती है। वासनाजन्य विकाररूपी नदियों के संगम में क्रोधरूपी भंवर उत्पन्न होते हैं। इन भंवरों में फंसकर व्यक्ति संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है, दुर्गति में चला जाता है। ऐसे भयानक संसार के स्वरूप पर चिंतन-मनन करने पर किसे संसार से विरक्ति नहीं होगी ? कौन संसार से भयभीत नहीं होगा ? अर्थात् होगा ही।

(७८) प्रियाज्वाला यत्रोद्वमति रतिसंतापतरला।
कटाक्षान् धूमौघान् कुवलयदलश्यामलरूचीन्।।
अथांगान्यंगाराः कृतबहुविकाराश्च विषया।
दहन्त्यस्मिन् वह्नौ भववपुषि शर्म क्व सुलभम्।।३।।

अनुवाद - जिसमें रति (विषय) रूपी संताप से चपल प्रियारूपी ज्वाला निकलती है, जिसमें नीलकमल-दल के समान श्याम कान्तिवाला कटाक्षरूपी धुआं निकलता रहता है तथा जिसके विषय-विकाररूपी अंगारे अंग को जला देते हैं, ऐसी इस संसाररूपी अग्नि में शरीर को सुख कहाँ से सुलभ हो।

विशेषार्थ - जैसे अग्नि में उठती हुई ज्वालाएं सम्पर्क में आने वाले को भस्म कर देती हैं, उसी तरह संसाररूपी अग्नि से कामभोग की अभिलाषारूपी संताप से, अर्थात् ऊष्णता से चंचल बनी हुई प्रियारूपी ज्वाला तीव्र वेग से बाहर निकल रही है। जिस प्रकार ज्वालाओं से निकलता हुआ धुआं व्यक्ति को अंधे के समान बना देता है, अर्थात् देखने में अवरोधक बनता है, उसी तरह स्त्री के नीलकमल - पत्र के समान श्याम कान्तिवाले नयन कटाक्षरूपी धुएँ से व्यक्ति को मोहांध कर देते हैं। स्त्री के मोहजाल में फंसे हुए व्यक्ति को हित-अहित कुछ दिखाई नहीं देता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें कई योद्धाओं ने स्त्री के मोहजाल में फंसकर बड़े-बड़े युद्ध किए तथा कुल को कलंकित करते हुए अन्त में वे मृत्यु के मुख में समा गए। जिस तरह धधकती हुई अग्नि से बड़े-बड़े अंगार निकलते हैं, वैसे ही स्त्री के अंगोपांग अंगार के समान हैं, जिनसे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। विषयरूपी अंगार अंग को जला देते हैं, आत्मवीर्य को नष्ट कर देते हैं। स्त्री के मोह में अंधा बना व्यक्ति अपना सर्वस्व खो देता है, जैसे- रावण ने सीता के रूप की आसक्ति में अपना सर्वस्व लुटा दिया और दुर्गति का अधिकारी बन बैठा।

(७९) गले दत्त्वापाशं तनयवनितास्नेहघटितम्।
निपीड्यन्ते यत्र प्रकृतिकृपणाः प्राणिपशवः।।
नितान्तं दुःखार्ता विषमविषैर्घातक भटै-
र्भवः सूनास्थानं तदहह महासाध्वसकरम्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> अहो! जिसमें पुत्र-स्त्री आदि के स्नेहरूपी रस्सी को गले में बांधकर अत्यंत दुःखार्त्त और स्वभाव से कृपण जीवरूपी पशु, विषम विषयरूपी घातकी सुभटों द्वारा पीड़ा को प्राप्त करते हैं, ऐसा यह संसार महाभयंकर कसाईखाने जैसा है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने संसार को कसाईखाने की उपमा दी है। जिस प्रकार कत्लखाने में मूक, दीनहीन, प्रकृति से लाचार बने हुए पशुओं के गले में कसकर रस्सी बांधकर उन्हें खींचा जाता है, प्रगाढ़ बन्धन में उन्हें जकड़ दिया जाता है, फिर खूंखार कसाई बड़े-बड़े छुरे द्वारा उनकी ग्रीवा का छेदन कर उनके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, संसार में फंसे हुए मनुष्य की भी ऐसी ही दशा होती है। इस संसार में व्यक्ति पुत्र, पत्नी आदि की स्नेहरूपी रस्सी से बंधा हुआ है। अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हुए भी वह उनसे मुक्त नहीं हो सकता है। विषयरूपी खूंखार कसाइयों द्वारा वह भयंकर पीड़ा को प्राप्त करता है। विषय-वासनारूपी कसाइयों के बीच घिरकर वह कई बार अनेक रोगों का शिकार होकर, तड़पता रहता है। वस्तुतः, खेद की बात यह है कि व्यक्ति इस प्रकार के दारुण कष्टों को भोगते हुए भी उससे मुक्ति के लिए प्रयास नहीं करता है।

(८०) अविद्यायां रात्रौ चरति वहते मूर्ध्नि विषमम्।
कषायव्यालौघं क्षिपति विषयास्थीनि च गले।।
महादोषान् दन्तान् प्रकटयति वक्रस्मरमुखो।
न विश्वासार्होऽयं भवति भवनक्तंचर इति।।५।।

<u>अनुवाद -</u> जो अविद्यारूपी रात्रि में विचरण करता है, जो मस्तक के ऊपर भयंकर कषायरूपी सर्पों के समूह को वहन करता है, जो गले में विषयरूपी हड्डियों को डालकर रखता है, जो कामदेवरूपी विकृत मुखवाला है तथा महादोषरूपी दांतों को प्रकट किए हुए है, ऐसा संसाररूपी यह राक्षस विश्वास करने योग्य नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> राक्षस का नाम सुनते ही एक भयंकर डरावनी आकृति का चित्र हमारे मानस-पटल पर उभर आता है। ग्रंथकार ने संसार को राक्षस की उपमा देते हुए उसके ऐसे ही भयंकर स्वरूप को प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार राक्षस रात्रि में भटकता है, उसी प्रकार संसाररूपी राक्षस अज्ञान-दशारूपी रात्रि में भटकता है। जैसे- चोर-डाकू अंधेरे का लाभ उठाकर यात्रियों को लूट लेते हैं, उसी तरह संसाररूपी राक्षस मनुष्य की मोहदशा या अज्ञान-दशा का लाभ उठाकर उसके आत्मधन को लूट लेता है। यह राक्षस दिखने में भयंकर है। उसे देखते ही मनुष्य घबरा जाता है, डर जाता है और उसके चरणों में अपने को समर्पित कर देता है। यह राक्षस अपने मस्तक पर क्रोधादि कषायरूपी सर्प को धारण किए हुए है, इसके गले में विषयरूपी हड्डियों की माला है। कामवासनारूपी इसका मुख विकराल बना हुआ है, जिसमें सारे प्राणी फंसे हुए हैं। अपने तीक्ष्ण दांतों को दिखाने के लिए यह अपना मुख खोले हुए है।

अज्ञान अंधकार के समान होता है, इसलिए उसे रात्रि की उपमा दी गई है। क्रोध, मान, माया, लोभ विषरूप होने से उन्हें सर्प की उपमा दी गई है। जैसे- राक्षस के दांत बड़े-बड़े होने से बाहर प्रकट होते हैं, उन्हें छिपा नहीं सकते हैं, उसी प्रकार दोष भी छिपाने पर छिपते नहीं हैं, इसलिए इन दोषों को राक्षस के दांतों की उपमा प्रदान की गई है। कामदेव का मुख वक्र है, क्योंकि वह अनाचाररूपी द्रव्यों का भक्षण करता है। इस प्रकार यह संसार विश्वास रखने के योग्य बिल्कुल नहीं है।

(८१) जना लब्ध्वा धर्म्मद्रविणलवभिक्षा कथमपि।
प्रयान्तो वामाक्षीस्तनविषमदुर्गस्थितिकृता।।
विलुट्यन्ते यस्यां कुसुमशरभिल्लेन बलिना।
भवाटव्यां नाऽस्यामुचितमसहायस्य गमनम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> इस संसाररूपी अटवी में सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियों के स्तनरूपी विषम दुर्ग में रहा हुआ कामदेवरूपी बलवान् भिल्ल हमारी आत्मा को लूट लेता है, इसलिए जिसने महाकष्ट से थोड़ी-सी भी धर्मरूपी सम्पदा (भिक्षा) प्राप्त की है, उसे अध्यात्मरूपी साथी के बिना अकेले गमन करना उचित नहीं है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने संसार को एक भयंकर जंगल की उपमा दी है। घोर जंगल में अकेले जाना खतरे से खाली नहीं होता। वहाँ बाघ, सिंह आदि हिंसक प्राणियों का भय रहता है। वहाँ छुपकर रहे हुए भिल्ल वहां से गुजरने वाले पथिकों का धन, गहने आदि लूट लेते हैं। यदि जंगल से गुजरना हो, तो पथिक रास्ते में खाने के लिए कुछ सामग्री भी साथ रखता है। अचानक आवश्यकता पड़े, इस हेतु वह थोड़ा धन भी साथ रखता है। अगर मनुष्य समुदाय में हो, तो हिंसक पशु भी डरकर भाग जाते हैं और भील आदि भी लूटने की हिम्मत नहीं करते, लेकिन यदि वह अकेला हो, तो उपद्रव का भय रहता है। उसी प्रकार इस संसाररूपी अटवी में मनुष्य दान, शील, तप, भाव आदि के द्वारा धर्म (पुण्य) रूपी द्रव्य इकट्ठा करता है और उसे लेकर प्रयाण करता है, किंतु कामदेवरूपी बलवान् भिल्ल जो स्त्रियों के स्तनरूपी मजबूत किले में छुपकर रहे हुए हैं, वे सभी पुण्य-द्रव्य को लूट लेते हैं, इसलिए संसाररूपी अटवी में धर्मरूपी साथी के बिना अकेले जाना योग्य नहीं है। देव-गुरु और धर्म के सान्निध्य में रहे हुए व्यक्ति की पुण्य-सामग्री सुरक्षित रहती है। उसमें वृद्धि होती है, फिर उसे विषय-कषायरूपी शत्रुओं का तथा कामवासनारूपी भीलों का भय नहीं रहता है, क्योंकि सत्संगति के कारण उस पर संयम और सदाचार का सम्यक् पहरा रहता है।

(८२) **धनं मे गेहं मे मम सुतकलत्रादिकमतो।**
विपर्यासादासादितविततदुःखा अपि मुहुः।।
जना यस्मिन् मिथ्यासुखमदभृतः कूटघटना।
मयोऽयं संसारस्तदिह न विवेकी प्रसजति।।७।।

अनुवाद - यह धन मेरा है, यह घर मेरा है, ये पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं- इस प्रकार की विपरीत बुद्धि के कारण बार-बार दुःख प्राप्त करने पर भी मिथ्या सुख के अहंकार को धारण करने वाले लोग जहाँ रहते हैं, ऐसा संसार कूटकपट वाला है, इसलिए विवेकी पुरुष उसमें आसक्त नहीं होते हैं।

विशेषार्थ - जिस पुरुष का विवेक जाग्रत है, वह इस मोह-माया से युक्त संसार में आसक्त नहीं होता है, क्योंकि यह संसार कपट-रचना से युक्त है। यह जैसा दिखता है, वैसा है नहीं, अर्थात् संसार में सुख नहीं है,

फिर भी व्यक्ति को उसमें सुख दिखाई देता है। चूंकि उसकी आँखों पर मोह का पर्दा पड़ा हुआ रहता है, इस कारण वह पुत्र, पत्नी, मित्र, माता-पिता, परिवार तथा धन, मकान, दुकान, जमीन आदि पर ममत्वभाव रखता है। मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा धन- इस प्रकार 'मेरा'-'मेरा' कहकर उन साधनों के कारण वह अपने को सुखी मानता है, अभिमान धारण करता है, परंतु उसका यह अभिमान अधिक ठहरता नहीं है, अर्थात् क्षणिक होता है। पाप का उदय होने पर पत्नी, पुत्र आदि विपरीत हो जाते हैं, धोखा दे देते हैं। लक्ष्मी भी चंचल है, कब चली जाए, कुछ कह नहीं सकते, स्वयं की काया भी धोखा दे देती है। जो सुख मनुष्य अनुभव करता है, वह तो क्षणिक सातावेदनीयकर्म का अनुभव है, वह सच्चा आत्मिक-सुख नहीं है। वह मात्र सुखाभास है और इसके पीछे सैकड़ों विपत्तियाँ लगी हुई हैं, जिन्हें यह व्यक्ति संसार में कदम-कदम पर अनुभव करता है। फिर भी, विपरीत बुद्धि के कारण वह मिथ्या सुख का अहंकार करता है, किंतु विवेकी पुरुष इन पौद्गलिक-सुख में आसक्त नहीं होता।

(८३) **प्रिया स्नेहो यस्मिन्निगडसदृशो यामिक भटो-**
पमः स्वीयो वर्गो धनमभिनवं बंधनमिव।।
मदामेध्यापूर्णं व्यसनबिलसंसर्गविषमम्।
भवः कारागेहं तदिह न रतिः क्वापि विदुषाम्।।८।।

<u>अनुवाद -</u> यह संसार कारागृह है। इसमें प्रिया का स्नेह बेड़ी के समान है। पुत्र, स्वजन, परिजन आदि पहरा लगाने वाले सिपाही हैं, धन नव-बंधन जैसा है। यहाँ अभिमानरूपी अशुचि से भरे हुए अनेक स्थल हैं, इसमें व्यसनरूपी बिल हैं और स्त्री-संसर्गरूपी भयंकर गड्ढे हैं। विद्वान् पुरुष को प्रीति हो, ऐसा कोई भी स्थान इसमें नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में उ. यशोविजयजी ने संसार को कारागृह की उपमा दी है। कारागृह में कैदियों के हाथ और पैरों में जंजीर बांध दी जाती है, जिससे वह कारागृह से भाग न सके, साथ ही उन पर नजर रखने के लिए पहरेदार नियुक्त किए जाते हैं। कारागृह में कैदी जिस कक्ष में रखे जाते हैं, उसमें ही वे एक तरफ मल-मूत्र का त्याग करते हैं, इसलिए वह स्थान दुर्गंधमय एवं अशुचि से परिपूर्ण रहता है और उस

जमीन में जगह-जगह गड्ढ़े हो जाते हैं, जिनमें सर्प आदि विषैले जीवों के रहने की सम्भावना रहती है। इस संसाररूपी कारागृह में मनुष्य प्रिया की स्नेहरूपी बेड़ी में जकड़ा हुआ है। स्नेह का बन्धन बहुत सबल होता है। छोड़ने का प्रयास करने पर भी वह छूटता नहीं है। पुत्रादि स्वजन पहरेदार के समान हैं। ये सांसारिक-जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं होने देते, धर्माराधना में अवरोध उत्पन्न करते हैं। धन नवीन बंधन के समान है। धन के मोह में फंसकर व्यक्ति अपना सुख-चैन सब खो देता है। धन के लिए व्यक्ति रात-दिन परिश्रम करता है। धन, यौवन, रूप आदि का गर्व दुर्गंधमय विष्ठा से युक्त स्थान के समान है। जैसे- दुर्गंधमय स्थान पर रहना कोई पसंद नहीं करता, उसी प्रकार अहंकारी व्यक्ति के साथ मित्रता भी कोई पसंद नहीं करता। 'व्यसन' शब्द के दो अर्थ होते हैं। व्यसन का एक अर्थ है- किसी का आदी बन जाना तथा दूसरा अर्थ है- आपत्ति, अर्थात् विपत्ति। इस संसार में धनादि के नष्ट हो जाने पर, पत्नी-पुत्रादि का वियोग हो जाने पर, शरीर में रोगादि उत्पन्न हो जाने पर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं। ऐसे विपत्तिरूपी बिलों से यह संसार युक्त है। जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। संसार में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जिसके प्रति विवेकी पुरुषों की कोई रुचि हो, अर्थात् विवेकी पुरुष इस संसार के प्रति किसी भी प्रकार का राग-भाव नहीं रखते।

(८४) महाक्रोधो ग्रधोऽनुपरति शृगाली च चपला।
स्मरोलूको यत्र प्रकट कटु शब्दः प्रचरति।।
प्रदीप्तः शोकाग्निस्ततमपयशो भस्म परितः।
श्मशानं संसारस्तदभिरमणीयत्वमिह किम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जहाँ भयंकर क्रोधरूपी गिद्ध उड़ रहे हों, जहाँ अरतिरूपी चंचल शृंगालिकाएं (सियारन) घूम रही हों, कामरूपी उल्लू प्रकटरूप से कटु आवाज कर रहें हों, शोक-रूपी अग्नि जल रही हो, चारों और अपयशरूपी राख के ढेर लगे हुए हों, ऐसा श्मशानरूपी यह संसार है, इसमें रमणीयता कैसे हो सकती है।

<u>विशेषार्थ -</u> संसार की भयंकरता बताने के लिए तथा उसकी असारता सिद्ध करने के लिए ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में संसार को श्मशान की

उपमा दी है। श्मशान में गिद्ध उड़ते दिखाई देते हैं, क्योंकि मृतदेह का भक्षण गिद्धों को अत्यंत प्रिय है। वहाँ शृंगालिका भी मृतदेह के भक्षण के लिए घूमती रहती है। रात के समय उल्लू कर्कश आवाज करते रहते हैं। जहाँ अग्नि की ज्वालाएं उठती रहती हैं तथा चारों तरफ राख बिखरी हुई होती है, ऐसे श्मशान की तुलना संसार से करते हुए यशोविजयजी ने कहा है कि इस संसार में अनंतानुबंधी महाक्रोध गिद्ध के समान है। क्रोध स्वयं का तथा अन्य का मांस खाने वाला होता है, क्योंकि क्रोध के कारण शरीर के मांस का शोषण होता है। क्रोध वह गिरता हुआ मकान है, जो स्वयं तो नष्ट होता ही है, साथ ही वह जिस पर गिरता है, उसे भी हानि पहुँचाता है। अरति, अर्थात् द्वेष-बुद्धि भी व्यक्ति को अन्दर-ही-अन्दर जलाती है। कामदेव उल्लू है, क्योंकि कामेच्छा प्रायः रात्रि में प्रबल रूप से उत्पन्न होती है। संसार में शोकरूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है। संसार में इष्ट के वियोगजन्य शोक और अनिष्ट के संयोगजन्य संताप सदैव रहते हैं। जिस तरह राख क्षुद्र होती है, उसी तरह अपयश भी क्षुद्र होता है, किसी को अच्छा नहीं लगता है। संसार में अच्छे कार्यों में भी कोई-न-कोई दोष निकालने वाले व्यक्ति होते ही हैं। यश के साथ अपयश भी चारों ओर बिखरा हुआ है। स्वजन आदि के लिए व्यक्ति कितने ही पापकर्म करता है। उनको सुख-सुविधा आदि देने के लिए मोहवश स्वयं कष्ट सहन करता है, फिर भी अगर उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ घटित हो जाए, तो स्वजनों की ओर से भी उसे अपयश ही मिलता है। इस प्रकार श्मशान जैसे इस संसार में कहीं भी रमणीयता, सुन्दरता दिखाई नहीं देती है। सारांश यही है कि संसार में आत्मिक-सुख का या सच्चे सुख का अनुभव नहीं हो सकता है।

(८५) **धनाशा यच्छायाप्यतिविषममूर्च्छाप्रणयिनी।**
विलासो नारीणां गुरुविकृतये यत्सुमरसः।।
फलास्वादो यस्य प्रखरनरकव्याधिनिवह-
स्तदास्था नो युक्ता भवविषतरावत्र सुधियाम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> यह संसार विषवृक्ष जैसा है, धनाशारूप इसकी छाया भी अति विषम, अर्थात् मूर्च्छा उत्पन्न कराने वाली है। स्त्री-विलासरूपी पुष्प-रस बड़े विकारों को जन्म देता है। इसके फलों का आस्वाद नरक के भयंकर

दुःखों की प्राप्ति का हेतु है, अतः बुद्धिमान् पुरुषों को विषवृक्षरूपी इस संसार का विश्वास नहीं करना चाहिए।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में संसार को विषवृक्ष की उपमा दी गई है। विषवृक्ष की छाया भी जहरीली होती है। अगर कोई व्यक्ति विषवृक्ष की छाया में विश्राम करे, तो उस छाया का भी उसके स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव होता है। वह मूर्च्छित हो जाता है और कभी-कभी तो उसकी मृत्यु तक हो जाती है। विषवृक्ष के पुष्पों की सुगंध लेने पर व्यक्ति का चित्त भ्रमित हो जाता है तथा शरीर में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उसके फल खाने से या तो मृत्यु हो जाती है, या शरीर भयंकर व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। ठीक वैसे ही इस संसाररूपी विषवृक्ष के भी सभी अंग मनुष्य में विकृति को जन्म देते हैं। धनाशा इस संसाररूपी विषवृक्ष की छाया है। धनाशा व्यक्ति को दिग्भ्रमित कर देती है। इससे व्यक्ति में लोभरूपी ऐसी विकृति जन्म लेती है, जिससे उसके सारे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। लोभ उस सरिता की तेज धारा के सदृश है, जो आगे बढ़ना जानती है, पीछे हटना नहीं। धन की तृष्णा व्यक्ति को विवेकहीन कर देती है। स्त्रियों के हाव-भाव, शृंगार, भोग-विलास आदि इस विषवृक्ष के पुष्पों के रस के समान हैं। उनमें आसक्त होकर व्यक्ति महामोहनीय-कर्म का बन्ध करता है, जिसके फलस्वरूप उसका संसार परिभ्रमण बढ़ता जाता है, साथ ही उसे अनेक प्रकार के दारुण कष्टों को भोगना पड़ता है। स्त्री-विलासरूपी फलों के रस का आस्वादन नरक के सभी दुःखों का हेतु है, दुर्गति में ले जाने वाला है, इसलिए विषवृक्षरूपी इस संसार के भौतिक-सुखों में सुज्ञ व्यक्तियों को आसक्त होना उचित नहीं है।

(८६) क्वचित्प्राज्यं राज्यं क्वचन धनलेशोऽप्यसुलभः।
क्वचिज्जातिस्फातिः क्वचिदपि च नीचत्वकुयशः।।
क्वचिल्लावण्यश्रीरतिशयवती क्वापि न वपुः।
स्वरूपं वैषम्यं रतिकरमिदं कस्य नु भवे।।११।।

अनुवाद - संसार में किसी के पास विस्तृत राज्य है, तो किसी के पास अल्प धन भी नहीं है। किसी की जाति उत्तम है, तो किसी का जन्म नीच कुल में हुआ है। किसी की कीर्ति चारों ओर फैलती है, तो कोई

अपयश प्राप्त करता है। किसी के पास देहलावण्यरूपी अतिशय लक्ष्मी है, तो किसी का शरीर वीभत्स है। संसार की इस प्रकार की विषमताएं किसको सुख प्रदान करती हैं ? अर्थात् किसी को भी नहीं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में उ. यशोविजयजी ने कर्म की विषमता का चित्रण किया है। सभी जीव शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा से समान हैं, किंतु कर्म की विचित्रता के कारण सभी संसारी जीवों में कितनी विषमता दिखाई देती है। कोई जीव अपने प्रबल पुण्य के कारण बड़े राज्य का अधिकारी होता है, उसे धन-सम्पत्ति की कोई कमी नहीं होती। उसकी यश-पताका चारों ओर फहराती है, किन्तु दूसरी ओर, कोई अत्यन्त निर्धन है, उसे आजीविका चलाने के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त नहीं होता है। कोई प्रशंसनीय कुल में, उत्तम कुल में जन्म लेता है, जहाँ स्वतः संस्कार मिलते हैं, पूजा-सम्मान आदि प्राप्त होता है। दूसरी तरफ, किसी जीव को निम्न कुल में जन्म प्राप्त होता है, जिसके कारण उसे मानहानि, अनादर, अपयश का अनुभव होता रहता है। किसी को दिव्य रूप मिलता है, जिसे देखकर सभी आकर्षित होते हैं, तो कोई कुरूप होता है, जिसे कोई देखना भी पसंद नहीं करता। किसी के शरीर की आकृति, मुख की आकृति इतनी विचित्र होती है कि वह जीवजगत् में उपहास का पात्र बनता है। इस प्रकार अलग-अलग जीवों में स्वकर्मों के आधार पर इस प्रकार की विषमताएं दिखाई देती हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो एक जीव के एक ही जीवन में इतनी विषमताएं दिखाई देती हैं कि वह आश्चर्य का विषय होता है। प्रत्यक्ष में हम यह अनुभव करते हैं कि कुछ समय पूर्व तक जो व्यक्ति करोड़पति था, जिसके यहाँ दस-बीस नौकर-चाकर थे, बंगला, गाड़ी आदि किसी बात की कमी नहीं थी, उसी व्यक्ति के जीवन में ऐसा समय भी आ जाता है, जब वह अपनी उदरपूर्ति भी नहीं कर पाता। किसी समय समाज में जिसकी बहुत प्रतिष्ठा थी, परिस्थितिवश आज उसे कोई पहचानता भी नहीं है। किसी व्यक्ति को सुंदर रूप मिलता है, किन्तु आकस्मिक दुर्घटना के कारण या किसी रोग के कारण उसका शरीर वीभत्स हो जाता है। एक ही भव में इतनी विषमताओं का अनुभव होता है, तो फिर एक ही जीव ने जन्म-जन्मांतर की अपेक्षा से कितनी विषमताओं या कितनी असमानताओं

का सामना किया होगा, यह तो कहना भी कठिन है। ऐसे विचित्र संसार में रहना किसे रुचिकर लगेगा ? ज्ञानीजन संसार के स्वरूप का चिंतन करते हुए, कर्मों से मुक्त होने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

(८७) **इहोद्दामः कामः खनति परिपंथी गुणमही-**
मविश्रामः पार्श्वस्थितकुपरिणामस्य कलहः।
बिलान्यन्तः क्रामन्मदफणभृतां पामरमतं।
वदामः किं नाम प्रकटभवधामस्थितिसुखम्।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> संसाररूपी घर में रहने वाले अज्ञानी लोगों द्वारा कल्पित सुखों का हम किस रूप में वर्णन करें ? क्योंकि इस भव, अर्थात् संसाररूपी घर में तो कामदेवरूपी उद्धत शत्रु गुणरूपी आधार-भूमि को ही खोदने में लगा हुआ है, कुपरिणामरूपी पड़ोसी से कलह चलता रहता है तथा इस घर में प्रवेश करने पर अहंकाररूपी सर्पों के बिल देखने को मिलते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने संसार को घर की उपमा दी है और यह बताया है कि यह घर रहने लायक नहीं है। अगर किसी को पता चले कि किसी घर में सर्प के बिल हैं, तो मनुष्य एक रात भी वहाँ नहीं रहेगा। यदि कोई नया मकान खरीदने निकले, लेकिन उसे यह पता चले कि उस घर के पड़ोसी दिन-रात झगड़ा करते रहते हैं, वहां कर्कश आवाजें आती रहती हैं, निरंतर अशांति बनी रहती हैं, तो क्या वह उस घर को खरीदना पसंद करेगा ? यदि व्यक्ति को यह पता चले कि वहाँ चोर आदि का भय सदा बना रहता है और उस मकान की दीवार में चोर आसानी से सेंध लगाकर वहां लूटपाट कर सकते हैं, तो उस व्यक्ति की ऐसे घर में रहने की इच्छा भी नहीं होगी और यदि वह वहां रहेगा भी, तो भयभीत होकर ही। यह संसार भी ऐसा ही घर है। यहाँ उद्धत कामनाओंरूपी चोर गुणरूपी दीवार में सेंध लगा रहे हैं और इन कामवासनारूपी लुटेरों का दमन करना भी अत्यंत कठिन है। अशुभ परिणामरूपी पड़ोसियों के कलह से जीवन में निरंतर अशांति बनी रहती है। इस संसार में प्रायः मनुष्य के चित्त में कषाय से युक्त अशुभ परिणाम चलते रहते हैं। उन अशुभ परिणामों के कारण चित्त में उद्वेग बना रहता है। आठ प्रकार के मद (अहंकार) रूपी सर्पों के कारण व्यक्ति भयभीत रहता है। प्रतिष्ठा, धन,

यौवन, रूप, ऐश्वर्य आदि के अहंकार से व्यक्ति सदैव ग्रसित रहता है। साथ ही इन नश्वर पदार्थों के नष्ट होने का या इनके वियोग का भय भी उसे सदैव सताता रहता है। अज्ञानी लोग ही जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि से युक्त ऐसे संसार में सुख का आभास कर सकते हैं। इस सुखाभास को किस सुख के नाम से पहचानें ? सांसारिक-सुखाभास को सुखरूप में मानना ही योग्य नहीं है।

(८८) **तृषार्त्ताः खिद्यन्ते विषयविवशा यत्र भविनः।**
करालक्रोधार्काच्छमसरसि शोषं गतवति।।
स्मरस्वेदक्लेदग्लपित गुणमेदस्यनुदिनम्।
भवग्रीष्मे भीष्मे किमिह शरणं तापहरणम्।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> भव-भ्रमणरूप भयंकर ग्रीष्म में अत्यंत विकराल क्रोधरूपी सूर्य के ताप से समतारूपी सरोवर सूख गया है। विषयों से परवश हुए संसारी-प्राणी तीव्र तृषा से पीड़ित हो रहे हैं। कामदेवरूपी प्रस्वेद से पूर्णरूपेण भींगे हुए जीवों के गुण गलित हो रहे हैं। इस ताप को दूर करने वाली शरण कहाँ से प्राप्त हो ?

<u>विशेषार्थ -</u> यह संसार असह्य ग्रीष्म-ऋतु के समान है। ग्रीष्म-ऋतु में मध्याह्नकाल में सूर्य आग की तरह तपता है, गरम-गरम लू चलती है तथा नदी, तालाब आदि का पानी सूख जाता है, लोगों की तृषा शान्त नहीं होती है, वे पसीने से लथपथ हो जाते हैं। इसी प्रकार इस संसाररूपी ग्रीष्म-ऋतु में क्रोधरूपी सूर्य प्रखर रूप से तपता है। इससे उपशम-भाव और समतारूपी सरोवर सूख जाते हैं। संसार में प्रायः व्यक्ति अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन - ऐसे चार प्रकार के क्रोध से ग्रसित रहता है। संसार में प्रायः इस प्रकार के निमित्त मिलते रहते हैं, जिनके कारण व्यक्ति बारबार उत्तेजित होता है, क्रोध करता है। कषाय व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ते हैं, इससे व्यक्ति अपने क्षमारूपी स्वभाव को भूल ही जाता है। ऐन्द्रिक-विषयों के दास बने व्यक्तियों की तृष्णा कभी शांत नहीं होती है। द्रोपदी के चीर की तरह तृष्णा बढ़ती जाती है और व्यक्ति पीड़ा से तड़पता रहता है। समता और संतोष का सरोवर सूख जाने से उसकी प्यास शांत नहीं होती है। कामदेवरूपी प्रस्वेद (पसीना) से सद्गुण

विगलित हो जाते हैं, अर्थात् कामवासना में आसक्त होकर व्यक्ति अपने आत्मगुणों को विस्मृत कर देता है। उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, अतः धर्माराधना में भी उसका उत्साह नहीं रहता है। ऐसी भयंकर कष्टप्रद ग्रीष्म-ऋतु के समान संसार के ताप से पीड़ित हो रहे जीवों को ऐसी शीतल छाँह या शरण कहाँ मिल सकती है, जो जीव के कष्टों का हरण कर सके, अर्थात् कषायों के ताप से बचाने के लिए इस संसार में कोई भी स्थल शरणरूप नहीं है।

(८६) **पिता माता भ्राताऽप्यभिलषितसिद्धावभिमतो।**
गुणग्रामज्ञाता न खलु धनदाता च धनवान्।।
जनाः स्वार्थस्फातावनिशमवदाताशयभृतः।
प्रमाता कः ख्यातविह भवसुखस्यास्तु रसिकः।।१४।।

<u>अनुवाद</u> - इस संसार में पिता, माता, भाई आदि का सम्बन्ध भी अपनी इच्छाओं की पूर्ति या स्वार्थपूर्ति होती रहे, तभी तक रहता है। गुणों से युक्त गरीब व्यक्ति को भी धनवान् अपना धन नहीं देता है। सभी लोग अपने स्वार्थों को साधने में हमेशा प्रवृत्त रहते हैं। ऐसे संसार के सुखों का वर्णन करने में किस योग्य पुरुष की रुचि होगी ? अर्थात् किसी की भी नहीं।

<u>विशेषार्थ</u> - इस संसार में सारे सम्बन्ध स्वार्थमूलक ही होते हैं। स्वजनों आदि के सम्बन्ध भी, जब तक उनके स्वार्थों की पूर्ति होती रहे, तब तक ही मधुर बने रहते हैं। पिता और पुत्र के बीच, पति और पत्नी के बीच, पुत्र और माता के बीच, भाई-भाई के बीच, भाई और बहन के बीच तब तक ही सम्बन्ध मधुर रहते हैं, जब तक कि उनके हितों को कोई आघात न पहुँचे तथा उनके स्वार्थ का पोषण होता रहे। अल्प भी स्वार्थ को आघात पहुँचता है, तो सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो जाती है। प्राचीन समय से लेकर वर्तमान तक ऐसे कितने ही उदाहरण पढ़ने, सुनने या अनुभव में आए हैं, जिनमें पुत्र ने पिता का खून कर दिया या पिता को जेल में डाल दिया या भाई ने भाई की हत्या कर दी या भाई ने भाई की सम्पत्ति हड़प ली। इस प्रकार की घटनाएँ किसी के स्वार्थ की हानि होने पर ही होती है। यह स्वार्थ धन का, आभूषणों का, कामभोग का या अन्य किसी वस्तु का हो

सकता है। अपने पति को प्राणों से भी अधिक चाहने वाली सूर्यकान्ता ने कामभोग की पूर्ति नहीं होने से स्वयं अपने हाथों से अपने पति राजा प्रसेनजित् की हत्या कर दी, कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक को तथा औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को राज्य के लोभ में कारागार में डाल दिया। पुत्र जब तक छोटा रहेगा, माँ के आसपास ही घूमेगा, क्योंकि उस समय उसकी स्वार्थपूर्ति माता से ही होती है, लेकिन जैसे ही उसका विवाह हो जाता है, वैसे ही उसे पत्नी अधिक प्यारी हो जाती है और माता बोझ लगने लगती है। जिन माता-पिता के पास सम्पत्ति नहीं होती, उनकी हालत तो और भी दयनीय हो जाती है। जैसे- पक्षी भी उसी पेड़ पर बैठते हैं, जो हरा-भरा हो, फल-फूल से युक्त हो, लेकिन जो वृक्ष सूखा हो, जिस पर फल-फूल-पत्ते आदि कुछ न हों, ऐसे वृक्ष पर वे भी नहीं बैठते, उसी प्रकार इस संसार में भी जब तक रूप, यौवन या सम्पत्ति है, तब तक सभी सम्बन्ध मधुर बने रहते हैं, पुत्रादि भी सेवा करते हैं, लेकिन शक्तिहीन या निर्धन होने पर कोई भी नहीं पूछता। भूतकाल में माता-पिता ने कितना ही भोग दिया हो, कृतघ्न व्यक्ति सब भूल जाता है। फिर तो उसे माता-पिता द्वारा किए गए उपकार में भी उनका स्वार्थ नजर आने लगता है। इस स्वार्थी संसार में अनेक गुणों से युक्त निर्धन व्यक्ति को भी अपनी आजीविका चलाने में कठिनाई आती है। उसके गुणों को जानते हुए भी धनवान् व्यक्ति उसे अपना धन नहीं देते और न ही उसकी सहायता करते हैं। सभी व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में लगे हुए हैं। स्वार्थपूर्ति के लिए व्यक्ति विश्वासघात, अन्याय, अत्याचार आदि करने में संकोच नहीं करता है। यह संसार अशांति, चिंता, बेचैनी, भय और पीड़ा से युक्त है, अतः इस संसार में आसक्त बना व्यक्ति भी सांसारिक-सुखों के विषय में अधिकारपूर्वक, प्रमाणपूर्वक यह नहीं कह सकता है कि वे सुख वास्तव में सुखरूप हैं। यदि संसार के सुखों की इस प्रकार दयनीय स्थिति हो, तो कौन बुद्धिमान् पुरुष इन सांसारिक-सुखों में रस लेगा ?

(६०) **पणैः प्राणैगृह्णात्यहह महति स्वार्थ इह यान्।**
त्यजत्युच्चैर्लोकस्तृणवदघृणस्तानपरथा।।
विषं स्वान्ते वक्त्रेऽमृतमिति च विश्वासहतिकृद्।
भवादित्युद्वेगो यदि न गदितैः किं तदधिकैः।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> आश्चर्य है ! जब तक किसी व्यक्ति से लोगों का विशेष स्वार्थ जुड़ा होता है, तब तक लोग उसे अपना सर्वस्व अर्पण करके भी उसकी रक्षा करते हैं और जब स्वार्थ नहीं रहता है, तब अत्यंत निर्ममता से तृण की तरह उसे त्याग देते हैं। ऐसे व्यक्ति हृदय में विष और मुख में अमृत धारण करते हैं। ऐसे विश्वासघात करने वाले व्यक्तियों से युक्त इस संसार से यदि तुझे उद्वेग न होता हो, तो फिर अधिक कहने से भी क्या ? अर्थात् उसे उपदेश देने का भी कोई अर्थ नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस स्वार्थी संसार में सभी व्यक्ति एक-दूसरे से अपना काम निकालना चाहते हैं। संसार की विचित्रता ही ऐसी है कि यहां का व्यक्ति, जिससे अपना कोई बड़ा स्वार्थ सिद्ध होता हो, उसे अपने प्राण से भी अधिक मानता है। कोई उच्च पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति हो या बड़ा राजनेता, उससे यदि अपना कोई काम निकलवाना हो, तो लोग उसकी कृत्रिम प्रशंसा करते हैं, उसके आगे-पीछे घूमते हैं, यहाँ तक कि उसे भगवान् के समान मान लेते हैं, उसे विविध प्रकार के उपहार भेंट करते हैं, किन्तु वही व्यक्ति अगर अपने पद या प्रतिष्ठा से च्युत हो जाए, तो उसकी ओर कोई देखता भी नहीं है। उसकी जय-जयकार करने वाले ही उसकी घोर उपेक्षा करने लगते हैं। जब उससे अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है, तो लोग उसे तृण के समान मूल्यहीन जानकर उसका त्याग कर देते हैं। इस प्रकार उसके पदच्युत होने पर उसे एक सामान्य मनुष्य के जितना भी सम्मान प्राप्त नहीं होता। स्वार्थ के कारण व्यक्ति क्या-क्या नहीं करता है। परम हितैषी, परम मित्र होने का नाटक करता है, हृदय में तो द्वेष पल रहा है, किन्तु मुख से मधुर वचन ही बोलता है। "मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदये तु हलाहलम्" ऐसा व्यक्ति विश्वास करने लायक भी नहीं होता है। कितनी ही बार व्यक्ति जिन्हें अपना समझता है, उन्हीं से धोखा खाता है। आश्चर्य यह है कि इस दुनिया में व्यक्ति प्रचण्ड दुःख की ज्वाला सहन करता रहता

है, किन्तु फिर भी उसे इस संसार से उद्वेग नहीं होता, अतः ऐसे व्यक्ति को अधिक कहने से क्या लाभ है ?

(६१) **दृशांप्रान्तैः कान्तैः कलयति मुदं कोपकलितै।**
रमीभिः खिन्नः स्याद् धनधननिधीनामपि गुणी।।
उपायैः स्तुत्याद्यैरपनयति रोषं कथमपी-
त्यहो मोहस्येयं भवभवनवैषम्यघटना।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> गुणवान् व्यक्ति भी धनवानों की आँख की कोर की मनोहरता देखकर, अर्थात् उसकी कृपादृष्टि पाकर आनंद का अनुभव करते हैं। यदि वे रोषयुक्त हों, तो खेदित होते हैं और स्तुति आदि के द्वारा उनका रोष दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अहो! इस भवरूपी भवन में, अर्थात् संसार में मोह रूपी राजा की यह कैसी विषमतायुक्त रचना है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> इस संसार की विषमता देखकर आश्चर्य होता है। जो व्यक्ति अनेक गुणों का भण्डार है, विविध कलाओं में पारंगत है व अनेक शास्त्रों का ज्ञान रखता है, वह गुणवान् होता है किन्तु ऐसा व्यक्ति भी, जिसके पास धन का भण्डार हो, फिर वह चाहे मूर्ख हो या अविवेकी, उसकी कृपादृष्टि चाहता है। उससे धन प्राप्त करने के लिए वह चाटुकारिता युक्त वचन बोलता है, उसकी खुशामद करता है, अपने स्वाभिमान को त्यागकर उसके गलत विचारों का समर्थन भी करता है। उसे खुश देखकर वह भी हर्षित होता है। उसको दुःखी देखकर या रोष से युक्त देखकर वह स्वयं भी खेद प्रकट करता है। उसे शांत करने के लिए, प्रसन्न करने के लिए, जो गुण उसमें नहीं हैं, उन गुणों द्वारा उसकी स्तुति करता है और यह प्रदर्शित करता है कि उसके जैसा अन्य कोई नहीं है। वास्तव में, इस मोहनीय-कर्म ने संसार की कैसी दुर्दशा की है, इसलिए कहा गया है- 'नास्ति मोहसमो रिपुः', अर्थात् मोह के समान कोई शत्रु नहीं है। गुणवान् होते हुए भी व्यक्ति अपने स्वार्थ के कारण, धनवानों की दासता को भी हँसते-हँसते सहन कर लेता है।

(६२) **प्रिया प्रेक्षा पुत्रो विनय इह पुत्री गुणरति-**
र्विवेकाख्यस्तातः परिणतिरनिंद्या च जननी।।
विशुद्धस्य स्वस्य स्फुरति हि कुटुम्बं स्फुटमिदं।
भवे तन्नो दृष्टं तदपि बत संयोगसुखधीः।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> जिसकी प्रेक्षा (तत्त्व चिन्तन) नाम की पत्नी है, विनय नामक पुत्र है, गुणरति नामक पुत्री है, विवेक नामक पिता है, शुद्ध परिणति नामक माता है - ऐसे विशुद्ध आत्मा के परिवार को संसार के प्राणियों ने देखा ही नहीं है। यही खेद की बात है और इसलिए ही उनकी सांयोगिक-सुखों के प्रति आकर्षक बुद्धि रही हुई है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने शुद्धात्मा के आभ्यंतर-परिवार का वर्णन किया है। ज्ञानियों का परिवार कैसा होता है ? जिसकी ज्ञानदृष्टि खुल गई है, जो अंतर्मुख हो गया हैं, उसे अपने विलक्षण परिवार के दर्शन होते हैं। यह एक ऐसा दिव्य एवं अद्भुत परिवार है, जो कभी विश्वासघात नहीं करता, जिसके साथ प्रीति रखने से निरंतर आनंद में वृद्धि होती है। इस परिवार में शुद्धात्मा की प्रेक्षा नाम की पत्नी है। सांसारिक-पत्नी तो कदाचित् विश्वासघात कर सकती है, दुःख में कलह करके और अधिक दुःखी बना सकती है, उसका वियोग भी दुःख देने वाला होता है, जबकि प्रेक्षा नामक आध्यात्मिक-पत्नी व्यक्ति को दुःख में भी दुःख का आभास नहीं होने देती। प्रेक्षा, अर्थात् स्वात्मदर्शन में व्यक्ति जैसे-जैसे गहरा उतरता जाता है, वैसे-वैसे उसे दिव्य सुख की अनुभूति होती है। यहाँ ग्रंथकार ने शुद्धात्मा का विनय नामक पुत्र बताया है। पुत्र जिस तरह पिता की भौतिक सम्पत्ति आदि में वृद्धि करके उसके नाम को रोशन करता है, उसी तरह विनय भी ज्ञानरूपी सम्पत्ति में वृद्धि करता है, उसकी सुरक्षा करता है और व्यक्ति के यश को फैलाता है। शुद्धात्मा की गुणरति नामक पुत्री है। यह परमानंद को प्राप्त कराने वाली है। जिस प्रकार सांसारिक-पुत्री माता-पिता के मन को आनंदित करती है, उसी प्रकार गुणों के प्रति प्रीति भी परम आह्लाद प्रदान करती है। विवेक उस शुद्धात्मा का पिता है। जिस तरह पिता पुत्र को योग्य-अयोग्य, हित-अहित आदि का मार्गदर्शन प्रदान करता है, उसे कुमार्ग पर जाने से बचाता है, उसी प्रकार विवेक भी व्यक्ति को हेय-ज्ञेय-उपादेय

आदि का ज्ञान कराता है, कुमार्ग पर जाने से रोकता है। जिस तरह माता वात्सल्यपूर्वक पुत्र का पालन करती है, पुत्र को अल्प भी कष्ट नहीं होने देती, उसी प्रकार शुभ परिणतिरूपी उसकी माता भी उसे अल्प कष्ट भी नहीं होने देती तथा पापाश्रवों से उसकी निरंतर रक्षा करती है। यह आध्यात्मिक-परिवार परम सुख को देने वाला है। जैसे-जैसे व्यक्ति अपने इस आत्म-परिवार में डूबता जाता है, वैसे-वैसे उसके आनंद का भी विस्तार होता जाता है। उसके भय, अशांति, चिंता एवं दुःख नष्ट हो जाते हैं।

खेद की बात यह है कि इतना अच्छा परिवार प्राप्त होने के बाद भी व्यक्ति इस परिवार की ओर ध्यान नहीं देता है और बाह्य-कुटुंब के संयोग में ही सुख मानता है।

(६३) **पुरा प्रेमारंभे तदनु तदविच्छेदघटने।**
तदुच्छेदे दुःखान्यथ कठिनचेता विषहते।।
विपाकादापाकाहितकलशवत्तापबहुलात् -
जनो यस्मिन्नस्मिन्क्वचिदपि सुखं हन्त न भवे।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> मनुष्य पहले प्रेम को प्राप्त करने के प्रयासों में दुःखी होता है, फिर उसका विच्छेद न हो, इसकी चिंता में दुःखी होता है। पश्चात् उसका वियोग होने पर दुःखी होता है, फिर चाहे वह कितना भी कठोर हृदयवाला क्यों न हो। इस प्रकार कुम्हार के निंभाड़े में डाले हुए घट की तरह तपता हुआ उसके विपाक के समय भी, अर्थात् भवान्तर में भी वह दुःखी होता है। अतः, इस संसार में सुख तो नाममात्र भी नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> संसार में प्राणी सदैव सुख की खोज करता रहता है, फिर भी उसे दुःख ही प्राप्त होता है। संसार में विविध प्रकार के दुःख हैं, किन्तु यहाँ उनमें से केवल प्रेम से सम्बन्धित दुःख की चर्चा है। व्यक्ति अपने प्रिय पात्र के साथ प्रेम-संबंध जोड़ने के लिए क्या-क्या नहीं करता ? कितने ही कष्ट उठाने के बाद वह जैसे-तैसे सम्बन्ध जोड़ पाता है, लेकिन दुःख यहाँ समाप्त नहीं हो जाता। अब उस सम्बन्ध को बनाए रखने की चिंता होती है। कहीं प्रिय पात्र रूठ न जाए, कहीं उसका वियोग न हो जाए, इसके लिए वह दिन-रात चिंतित रहता है। अत्यंत सावधानी के बाद भी कोई आकस्मिक दुर्घटना या बीमारी आदि के कारण उसकी मृत्यु हो जाए, तो यह

दुःख उसे असह्य हो जाता है, तब वह दारुण विलाप करता है और वियोगजन्य दुःख को सहन करता है। उसके दुःख का यहाँ भी अंत नहीं होता, बल्कि प्रेम के निमित्त से आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान करके जो अशुभ कर्म बांधे हैं, उनका विपाक होने पर भवान्तर में भी कुम्हार के निंभाड़े में रहे हुए घट की तरह वह असह्य वेदना सहन करता है। इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति, स्थिति (भोगकाल) और वियोग- तीनों ही कष्टप्रद होते हैं, ऐसे सांसारिक-सुख में व्यक्ति क्यों फँस जाता है? यह सब मोहनीय-कर्म का ही कमाल है।

(६४) **मृगाक्षीदृग्बाणैरिह हि निहतं धर्मकटकं।**
विलिप्ता हृद्देशा इह च बहुलै रागरुधिरैः।।
भ्रमन्त्यूर्ध्वं क्रूरा व्यसनशतगृध्राश्च तदियं।
महामोहक्षोणीरमणरणभूमिः खलु भवः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> यह संसार वास्तव में महामोहराजा की युद्धभूमि जैसा है, जिसमें स्त्रियों के दृष्टिरूपी बाणों से धर्मराजा की सेना घायल हो गई है और अत्यंत रागरूपी रुधिर से हृदयप्रदेश लिप्त हो गया है तथा सैकड़ों प्रकार के व्यसनरूपी (कष्टरूपी) क्रूर गिद्ध मस्तिष्क के ऊपर उड़ रहे हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> यह संसार मोहराजा की समर-भूमि जैसा है। युद्धभूमि को देखने पर हमें चित्र-विचित्र दृश्य दिखाई देंगे। जब दो पक्ष की सेनाओं के बीच घमासान युद्ध होता है, तब वहाँ अनेक सैनिक घायल होकर धराशायी हो जाते हैं। शस्त्रों से उनके शरीर बिंध जाते हैं। शरीर से रूधिर बहता है और भूमि रक्तरंजित हो जाती है। कई सैनिक मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। युद्धभूमि में चारों ओर मुर्दे पड़े रहते हैं, दुर्गन्ध फैलती है और उन पर गिद्ध मंडराते रहते हैं, ऐसा युद्धभूमि का चित्र है।

इस संसार में मोहराजा एकछत्र राज करना चाहता है, अतः मोहराजा और धर्मराजा के सैनिकों के मध्य घमासान युद्ध होता है। मोहराजा के इस युद्ध में मोहनीय- कर्मरूपी शत्रुओं ने सारे जगत् के लोगों को मूर्च्छित कर दिया है। मोहनीय-कर्म के साथ इस युद्ध में मुख्य शत्रु कामदेव है। कामदेव अपने बाणों के द्वारा धर्मराज के बड़े-बड़े योद्धाओं को भी घायल कर देता है। प्रश्न है कि ये बाण कौनसे हैं ? ग्रंथकार ने प्रस्तुत

श्लोक में बताया है कि ये स्त्रियों के नयनों के कटाक्षरूपी बाण हैं। स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाणों के सामने सामान्य प्राणी तो टिक ही नहीं सकते, वे तो क्षणभर में ही घायल हो जाते हैं, लेकिन कितने ही वीर, पराक्रमी, ब्रह्मचर्य-व्रतधारी धर्मसैनिक भी उनसे घायल हो जाते हैं, कितने ही पूर्णरूपेण मूर्च्छित हो जाते हैं और कितने ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कितने ही, जो कामदेव के बाण से बच जाते हैं, उनका हृदय भी घायल सैनिकों के रागरूपी रुधिर से लिप्त हो जाता है, रणभूमि रक्तरंजित हो जाती है, मुर्दों की गंध आने पर सैकड़ों कष्टरूपी गिद्ध मंडराने लगते हैं। मोहमाया के चंगुल में फंसने तथा कंचन और कामिनी के गुलाम होने के बाद प्राणियों को कितनी ही विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। एक दुःख को दूर करे, तो दूसरे सैकड़ों दुःख उपस्थित हो जाते हैं। इतने कष्टों को झेलने के बाद भी न जाने मोहराजा के ये सैनिक प्राणियों को किस तरह से सम्मोहित करके रखते हैं कि वे इस चंगुल से छूटने की कोशिश भी नहीं करते। ऐसी भयंकर कष्टमयी संसार की रणभूमि में किसे आनंद आए ?

(६५) **हसन्ति क्रीडन्ति क्षणमथ च खिद्यन्ति बहुधा।**
रूदन्ति क्रन्दन्ति क्षणमपि विवादं विदधते।।
पलायन्ते मोदं दधति परिनृत्यन्ति विवशा।
भवे मोहोन्मादं कमपि तनुभाजः परिगताः।।२०।।

__अनुवाद -__ इस संसार में मोह से उन्मत्त प्राणी पराधीन होकर क्षण में हँसते हैं, क्षण में अत्यंत खेद करते हैं, क्षण में आक्रंदन करते हैं, क्षण में क्रीड़ा करते हैं, क्षण में कलह करते हैं, क्षण में हर्षित हो जाते हैं, क्षण में मैदान छोड़कर भाग जाते हैं और क्षण में नृत्य करते हैं।

__**विशेषार्थ -**__ जब सूक्ष्म दृष्टि से संसार का निरीक्षण करते हैं, तो उसमें कितनी विशिष्टताएँ, विचित्रताएँ और निरर्थकताएँ दृष्टिगत होती हैं। मोहनीय-कर्म का गुलाम व्यक्ति बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार क्षण में हँसता है, आनंद और हर्ष से उछलता है और क्षण में रुदन करने लगता है। जिसे वह सुख के रूप में मानता है, वही दूसरे क्षण में दुःख के रूप में बदल जाता है। आनंद की घड़ियाँ क्षण में ही विषाद में बदल जाती हैं। हँसता-खिलता चेहरा क्षणभर में मुरझा जाता है। पुण्य के उदय में जो फूला

नहीं समाता है, वही पाप के उदय में बिल्कुल मायूस हो जाता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख- यह क्रम चलता रहता है। व्यक्ति भी परिस्थितियों के अनुरूप अपना अभिनय करता रहता है। किसी क्षण वह तुष्ट होता है, तो किसी क्षण रुष्ट हो जाता है और किसी क्षण कलह करने लगता है। आज वह जिसे प्राणों से प्रिय मानता है, कल उसे ही दुश्मन मानने लगता है। अनुकूल परिस्थितियों में हर्ष से प्रफल्लित हो जाता है, तो प्रतिकूल परिस्थितियों में घबराकर कभी मैदान छोड़कर भी भाग जाता है। आज जिसकी डोली सजी है, कल उसकी अर्थी भी उठ जाती है। कर्मों की यह कैसी विचित्रता है, जिसमें कहीं भी स्थायित्व नहीं है। पामर प्राणी उस संसाररूपी रंगमंच पर विभिन्न प्रकार के अभिनय करता हुआ, उसे ही वास्तविक मान लेता है, लेकिन ज्ञानी पुरुष को यह सब हास्यास्पद लगता है। ज्ञानी पुरुष इन परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता है।

(६६) अपूर्णा विद्येव प्रकटखलमैत्रीव कुनय-
प्रणालीवास्थाने विधववनितायौवन मिव।।
अनिष्णाते पत्यौ मृगदश इव स्नेहलहरी।
भवक्रीडा व्रीडा दहति हृदयं तात्त्विकदृशाम्।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> अपूर्ण विद्या की तरह, शठ व्यक्ति की दोस्ती की तरह, राज्यसभा में अन्याय, विधवा स्त्री का यौवन, मूर्ख पति के समक्ष सुंदर नयनरूपी बाणों से बींधने वाली स्त्री का प्रेम जिस तरह पीड़ादायक होता है, उसी तरह सांसारिक भोग-विलास के प्रति लज्जा का भाव ज्ञानियों (तत्त्वदृष्टियों) के हृदय को जलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने ज्ञानियों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि संसार के सुखों में लिप्त होकर आनंद-प्रमोद की क्रीड़ाओं में रत रहना- यह ज्ञानदृष्टि वाले महापुरुषों के लिए अत्यंत लज्जास्पद तथा दुःखप्रद होता है। भूतकाल में अज्ञान के वश होकर, मोहनीय-कर्म के प्रबल उदय के कारण इस प्रकार की क्रीड़ाएँ की भी हों, किन्तु उनकी स्मृति होने पर भी उसे गहरा आघात पहुँचता है, लज्जा महसूस होती है। वह उनके हृदय को उसी प्रकार जलाती है, जैसे विद्वानों की सभा में वाद-विवाद करते समय अपूर्ण ज्ञानवाला व्यक्ति खेदित होता है,

लज्जा का अनुभव करता है। दुष्ट व्यक्ति के साथ अनजाने में मित्रता हो जाने के बाद जब उसकी दुष्ट प्रकृति या कपटवृत्ति का पता चलता है, तब वह मैत्री दुःखदायी हो जाती है। जहाँ, जिस सभा में सज्जन पुरुष बैठे हुए हों, वहाँ किसी के साथ अन्याय हो, तो सज्जन पुरुषों को उसी प्रकार गहरा आघात लगता है, जिस प्रकार दुर्योधन की सभा में द्रौपदी के साथ हुए अन्याय को देखकर उस सभा में बैठे हुए भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य आदि को भयंकर आघात लगा था। कोई स्त्री यदि युवावस्था में विधवा हो गई हो, तो उसका यौवनकाल उसे संताप देता है, अथवा मूर्ख पति के समक्ष युवा सुंदर स्त्री के हाव-भाव प्रेम संकेत निष्फल हो जाते हैं और वह स्त्री दुःखी होती है, उसी तरह पूर्व में की गई संसार के प्रति प्रीति या वर्तमान में भी चारित्रमोहनीय-कर्म के वश हो रही क्रीड़ाएँ तत्त्वज्ञानी को पीड़ित करती हैं।

(६७) **प्रभाते संजाते भवति वितथा स्वापकलना।**
द्विचन्द्रज्ञानं वा तिमिरविरहे निर्मलदशाम्।।
तथा मिथ्यारूपः स्फुरति विदिते तत्त्वविषये।
भवोऽयं साधूनामुपरतविकल्पस्थिरधियाम्।।२२।।

<u>अनुवाद</u> - प्रभात होते ही जाग जाने पर स्वप्न-रचना निष्फल हो जाती है, अथवा जिसे नेत्रव्याधि के कारण दो चंद्र दिखाई देते हों, किन्तु उसकी दृष्टि के निर्दोष होते ही उसका दो चन्द्रमा का मिथ्याज्ञान समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्व का ज्ञान होते ही जिसके विकल्प समाप्त हो गए हैं और जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है, ऐसे साधुजनों को यह संसार मिथ्यारूप लगता है।

<u>विशेषार्थ</u> - जब तक अज्ञान है, तब तक अंधकार है और अंधकार में व्यक्ति रस्सी को भी सर्प समझ लेता है। ठीक उसी प्रकार अज्ञानरूपी अंधकार में व्यक्ति सांसारिक-सुखों को ही उपादेय मानता है और शरीर के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व समझता है। यह मिथ्या भ्रम तब तक बना रहता है, जब तक उसे तत्त्वज्ञान न हो। स्वप्न में मनुष्य अनेक प्रकार के दृश्य देखता है। कभी-कभी वह स्वप्न में कोई भयानक दैत्यादि देखकर भयभीत हो जाता है। स्वप्न में उस स्थिति को वह सत्य ही समझता है, लेकिन जैसे ही प्रभात होता है और उसका स्वप्न भंग होता है, वैसे ही

उसकी भ्रान्ति समाप्त हो जाती है और उसे वास्तविकता का भान होता है तथा उसे राहत का अनुभव होता है। दूसरा दृष्टान्त, जैसे- किसी व्यक्ति को तिमिर नामक नेत्र-रोग हो गया हो, तो उसे आकाश में दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, परंतु नेत्र-रोग दूर होते ही उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है और उसे आकाश में एक ही चन्द्रमा स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान का प्रकाश पाते ही व्यक्ति का मोहांधकार दूर हो जाता है, उसके अहंकार और ममत्व नष्ट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप, उसके विकल्प भी शांत हो जाते हैं और उसका मन एकाग्र हो जाता है, उसकी आत्म-रमणता बढ़ती जाती है, तब ज्ञानी पुरुषों को यह संसार मिथ्या लगता है, अर्थात् सांसारिक-सुखाभास से उनका मन विरक्त हो जाता है।

(६८) **प्रियावाणीवीणाशयनतनुसंबाधनसुखै।**
र्भवोऽयं पीयूषैर्घटित इति पूर्वं मतिरभूत्।।
अकस्मादस्माकं परिकलिततत्त्वोपनिषदा-
मिदानीमेतस्मिन्न रतिरपि तु स्वात्मनि रतिः।।२३।।

अनुवाद - पहले अज्ञानदशा में व्यक्ति यह मानता है कि यह संसार प्रिया, वाणी, वीणा, शयन, शरीरमर्दन आदि के सुखरूपी अमृत से परिपूर्ण है, किन्तु तत्त्वज्ञान से संसार का रहस्य जानने के बाद उसकी संसार के प्रति रुचि नहीं रह जाती है, परंतु एकमात्र आत्मरमण में ही उसकी रुचि होती है।

विशेषार्थ - सामान्यतया लोगों को भौतिक सुख वास्तविक लगते हैं। वे उन्हीं की प्राप्ति के लिए दिन-रात प्रयासरत रहते हैं। उन्हें लगता है कि संसार में अगर कुछ प्राप्त करना है, तो स्त्री, धन-दौलत, प्रतिष्ठा आदि ही प्राप्त करने जैसा है। नश्वर वस्तुओं को प्राप्त करने में वह परमात्मा (शुद्ध आत्म-दशा) को बिल्कुल भूल जाता है या कभी परमात्मा को स्मरण भी करता है, तो सिर्फ इन्हीं भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए। अनादिकाल से जीव की यही प्रवृत्ति चल रही है। बहुत ही कम जीवों को बाह्य-इन्द्रियों के क्षणिक सुखों में सुखाभास की प्रतीति होती है। वे यह मानने लगते हैं कि वास्तविक सुख तो आन्तरिक-सुख है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति, अथवा मोक्ष की प्राप्ति ही वास्तविक सुख है, लेकिन इस

आन्तरिक आत्मिक-सुख की प्रतीति होना अत्यंत दुर्लभ है, क्योंकि व्यक्ति कभी भी अपने भीतर झांकता ही नहीं है। अंदर सुख का भण्डार छिपा हुआ है, लेकिन वह कभी उसे खोजने का प्रयास ही नहीं करता। वह पराधीनता में, परवस्तुओं में ही सुख मानता है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए कहता है कि एक समय ऐसा था जब वह स्वयं भी पूरी तरह मोहजाल में फंसा हुआ था। प्रिया की मधुर वाणी, सुंदर शय्या, भोगविलास के साधन, शारीरिक-सौन्दर्य या सौष्ठवता बनाए रखना, उसके लिए अनेक प्रकार के सुगन्धित तेलादि मर्दन करवाना आदि में ही सुख समाया हुआ है, यही सब कुछ है - ऐसा मानता था। उसे ये पदार्थ अमृततुल्य प्रतीत होते थे, असार वस्तुओं में ही 'सार' नजर आता था, किंतु जब ज्ञानचक्षु खुले, सुप्त सिंहत्व जाग्रत हुआ, आत्मा का स्वरूप समझ में आया तथा शरीर और आत्मा का भेदज्ञान स्पष्ट हुआ, तब उसकी संसार के प्रति रुचि नहीं रही। वह संसार से उदासीन हो गया उसमें केवल एक आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की ही रुचि शेष रही।

{ ग्रंथकार उ. यशोविजयजी ने बचपन में ही संयम ग्रहण कर लिया था और तभी से उनकी ज्ञानदृष्टि खुल गई थी। उन्होंने इस प्रकार के सांसारिक सुखों के प्रति कभी प्रीति की ही नहीं, किन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कल्पना से या अन्यों के अनुभवों के आधार पर यह चित्रण किया है। }

(६६) **दधानाः काठिन्यं निरवधिकमाविद्यकभव-**
प्रपंचाः पांचालीकुचकलशवन्नातिरतिदा।।
गलत्यज्ञानाभ्रे प्रसृमररुचावात्मनि विधौ।
चिदानन्दस्यन्दः सहज इति तेभ्योऽस्तु विरतिः।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> पुतली के कठोर स्तन कलश की तरह सदैव कठिनता को धारण करने वाले होने से प्रीतिकारक नहीं होते हैं। अज्ञान से उत्पन्न हुए ऐसे सांसारिक-प्रपंच भी प्रीतिकारक नहीं होते हैं। अज्ञानरूपी बादलों के हट जाने से शुक्ल-पक्ष के चन्द्र के उदय के समान आत्मरूपी चन्द्रमा का उदय होने पर, अर्थात् चिदानंद के रस की प्राप्ति होने पर सांसारिक-प्रपंचों से मन विरक्त हो जाता है।

विशेषार्थ - सांसारिक-प्रपंच अविद्या के कारण ही उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति का अज्ञान जितना गहरा होगा, उतना ही अधिक उसके मायाजाल का विस्तार होगा। ये प्रपंच अत्यंत कठोर हैं, इस कारण इनसे अंशमात्र भी आनंद की प्राप्ति नहीं होती है। फिर भी, व्यक्ति आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, सुख की प्राप्ति होगी- इसी आशा के साथ इस मायाजाल में फँसा हुआ है। पुतली के स्तनों की कठोरता से किसे आनंद प्राप्त होता है? लकड़ी या पत्थर की पुतली के कलश जैसे स्तन सुन्दर प्रतीत होने पर भी प्रीतिकर नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें अत्यंत कठोरता है। 'मैं' और 'मेरे' में उलझे हुए सारे प्राणी पीड़ित हो रहे हैं। जब तक अज्ञानता है, तब तक दुःख है। जैसे- बादल के हट जाने पर चन्द्रमा प्रकाशित होता है और अपने शीतल प्रकाश से सबको आनंद प्रदान करता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी बादल के हट जाने पर आत्मरूपी चन्द्र का उदय होता है और सहज-स्वाभाविक चिदानंद की प्राप्ति होती है। जब आत्मस्वरूप का अनुभव होता है, तब सांसारिक-प्रपंचों से स्वाभाविक रूप से निवृत्त होने का मन उसी प्रकार होता है, जैसे- मोदक विष-मिश्रित हैं- यह जानकारी प्राप्त होने पर वे मोदक चाहे कितने ही मनोहर हों, स्वादिष्ट हों, उन्हें खाने का मन नहीं होता।

(१००) **भवे या राज्यश्रीर्गजतुरगगोसंग्रहकृता।**
न सा ज्ञानध्यानप्रशमजनिता किं स्वमनसि।।
बहिर्याः प्रेयस्यः किमु मनसि ता नात्मरतय।
स्ततः स्वाधीनं कस्त्यजति सुखमिच्छत्यथ परम्।।२५।।

अनुवाद - यदि संसार में हाथी, घोड़े, गाय आदि का समूह राज्यलक्ष्मी है, तो फिर ज्ञान, ध्यान तथा प्रशमभाव से चित्त में उत्पन्न शांति लक्ष्मी क्यों नहीं है जैसे- बाह्य-जगत् के सुख प्रिय हैं, वैसे ही चित्त में आत्मरतिजन्य सुख प्रिय क्यों नहीं होगा ? तो फिर ऐसे स्वाधीन सुख का त्याग करके पराधीन सुख की कौन इच्छा करे ?

विशेषार्थ - लक्ष्मी दो प्रकार की होती है- बाह्य-लक्ष्मी और आंतरिक-लक्ष्मी। सामान्यजन बाह्य-लक्ष्मी को ही सर्वस्व मानते हैं, जबकि योगियों के पास आन्तरिक-लक्ष्मी होती है। बाह्य-लक्ष्मी, अर्थात् हाथी, घोड़े,

गाय, हीरा-मोती-माणिक्य, आज की परिस्थिति में बंगला-गाड़ी आदि अनेक प्रकार के सुख-सुविधाओं के साधन। इन्हें राज्यलक्ष्मी भी कहते हैं। अध्यात्म-योगियों के पास भी राज्यलक्ष्मी होती है। उनके अध्यात्म-राज्य में तप, त्याग, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, विनय, वैयावृत्य, उपशम, क्षमा, सरलता, मधुरता, पवित्रता, स्थिरता, शांति, विवेक, उदारता, भेदज्ञान आदि आन्तरिक-राज्यलक्ष्मी होती है। बाह्य-लक्ष्मी और आभ्यंतर-लक्ष्मी-दोनों में आभ्यंतर-लक्ष्मी श्रेष्ठ है। भौतिक राज्यलक्ष्मी तो चंचल है, नाशवंत है, कब नष्ट हो जाए ? कुछ कह नहीं सकते, जबकि आभ्यंतर-लक्ष्मी प्राप्त होने के बाद जाती नहीं है और भवांतर में भी साथ ही जाती है। भौतिक सुख तो पराधीन हैं, ये अन्य व्यक्तियों या अन्य पदार्थों पर निर्भर करते हैं, जबकि आत्मिक-सुख स्वाधीन हैं, इनके लिए बाह्य-पदार्थों या अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक भौतिक सुख के पीछे दुःख छिपा हुआ होता है, जबकि आध्यात्मिक-सुख, दुःख-रहित होता है। इसमें निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जगत् में राजाओं या श्रेष्ठियों के पास रूपवती पत्नी होती है, तो ज्ञानियों के पास आत्मरति नामक पत्नी होती है। सांसारिक-पत्नी तो विश्वासघात कर सकती है, सुख के स्थान पर कभी-कभी दुःख प्रदान करने वाली भी होती है, वह स्वर्ग जैसे जीवन को नरक-सा भी बना देती है। उसका रूप-लावण्य भी वृद्धावस्था आने पर मुरझा जाता है, क्षीण हो जाता है, जबकि आत्मरति नामक आध्यात्मिक-प्रिया का रूप-लावण्य तो निरंतर वृद्धिगत होता रहता है। वह हमेशा एकान्तिक-सुख प्रदान करने वाली होती है। इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति स्वाधीन सुख को छोड़कर पराधीन सुख की इच्छा नहीं करता। कहा भी गया है- 'पराधीन सपनेहुं सुख नाही'।

(१०१) पराधीनं शर्म क्षयि विषयकांक्षौघमलिनम्।
भवे भीतिस्थानं तदपि कुमतिस्तत्र रमते।।
बुधास्तु स्वाधीनेऽक्षयिणि करणौत्सुक्यरहिते।
निलीनास्तिष्ठन्ति प्रगलितभयाध्यात्मिक सुखे।।२६।।

<u>अनुवाद</u> - संसार का सुख पराधीन है, साथ ही वह क्षरणशील भी होता है। विषयों की इच्छा स्वरूपतः मलिन है तथा भय का स्थान है, फिर भी कुबुद्धिवाले उसी में रमण करते हैं, परंतु जो ज्ञानी पुरुष हैं, उनका

आत्मरतिरूप सुख तो स्वाधीन है, अविनाशी है, इन्द्रियों की उत्सुकता से रहित है, भयरहित है। ज्ञानीजन ऐसे आध्यात्मिक-सुखों में ही लीन रहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं। चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, सामान्य मानव हो या उत्कृष्ट योगी, सभी का प्रयास सुख-प्राप्ति के लिए होता है, किन्तु ज्ञानी के सुख और अज्ञानी के सुख में बहुत अन्तर है। ज्ञानी जिन्हें दुःखरूप मानता है, दुःख का हेतु मानता है, अज्ञानी उन्हें ही सुख का हेतु समझता है और ज्ञानी जिस आत्मसुख में मग्न होते हैं, उसे ही अज्ञानी कष्टकारी समझता है। अतः, ज्ञानी और अज्ञानी- दोनों के सुख-प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हैं। अज्ञानी जीव जिन भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए रात-दिन प्रयत्न करता है, वे भौतिक सुख तो निम्न स्तर के हैं, पराधीन हैं, अल्पकालीन हैं, विषय-भोग की इच्छाओं से मलिन हैं। ऐसे विषय-भोगों के सुखों को कितना ही भोग लें, किन्तु उनसे कभी तृप्ति नहीं होती है। इन सुखों में भय रहा हुआ है। अतिभोग में रोग का भय है, अतिशय धन हो, तो चोरादि का भय बना रहता है, रूपवती स्त्री हो, तो शीलरक्षण का भय रहता है। इस प्रकार भौतिक सुखों से मन को शांति नहीं मिलती है, मन में चंचलता और बेचैनी बनी रहती है। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि जीव ही इस प्रकार के निंदनीय सुखों में मग्न रहते हैं, जबकि ज्ञानी जीव संसार के स्वरूप को समझते हैं। वे विष्ठा के समान इन सांसारिक-सुखों में मग्न नहीं होते हैं। वे तो, जो सुख स्वाधीन है, आत्मा से उत्पन्न हुआ है, भयरहित है, विषयों की अभिलाषा से रहित या निरपेक्ष है, निर्मल है, ज्ञानादि गुणों से युक्त है, शाश्वत है - ऐसे सुख के लिए प्रयास करते हैं और उसी में मग्न रहते हैं।

(१०२) तदेतद्भाषन्ते जगदभयदानं खलु भव-
स्वरूपानुध्यानं शमसुखनिदानं कृतधियः।।
स्थिरीभूते ह्यस्मिन्विधुकिरणकर्पूर विमला।
यशः श्री प्रौढ़ा स्याज्जिनवचनतत्त्वस्थितिविदाम्।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि संसार के स्वरूप का चिंतन जगत् को अभयदान प्रदान करने वाला है, समत्व-सुख की प्राप्ति का हेतु है। इस चिंतन (ध्यान) में प्राप्त स्थिरता से, जिनागम के तत्त्वों के

स्वरूप को जानने वाले पुरुषों के लिए, चंद्र की किरणों जैसी और कर्पूर जैसी उज्ज्वल यशलक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) की वृद्धि होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने इस भवरूप चिंता-अधिकार में संसार के वास्तविक स्वरूप का चित्रण किया है। इस अधिकार के अंतिम श्लोक में कहा गया है कि जो इस प्रकार से संसार के स्वरूप का चिंतन-मनन करता है, वह प्रज्ञावान्, मनुष्यों के लिए प्रशम सुख का कारण बनता है और जगत् को अभयदान देने वाला है, क्योंकि संसार की विषमता का, उसकी चित्र-विचित्र घटनाओं का, उसकी असारता का चिंतन-मनन करने पर मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और भौतिक सुख को प्राप्त करने की इच्छाएँ या आकांक्षाएं भी समाप्त हो जाती हैं। इच्छाओं के समाप्त होने पर जीवन में एक अनूठी शांति का अनुभव होता है और मन में उठते हुए संकल्प-विकल्प, विषय-विकार तथा कषायों के आवेग शांत हो जाते हैं। मन की एकाग्रता बढ़ती जाती है। भवस्वरूप का चिंतन करने से उसका ध्यान स्थिर हो जाता है, इससे उसकी यशरूपी लक्ष्मी का विस्तार होता है। यह यशरूपी लक्ष्मी चन्द्र की किरणों जैसी, अथवा कर्पूर जैसी धवल और निर्मल है।

यह प्रथम प्रबंध का अंतिम श्लोक है, जिसमें उ. यशोविजयजी ने अपना नाम 'यश' के रूप में उल्लेखित किया है।

-----ooo-----

प्रबंध-द्वितीय

पाँचवा अधिकार - वैराग्यसंभव अधिकार

(१०३) भवस्वरूपविज्ञानाद्द्वेषान्नैर्गुण्ययदृष्टिजात्।
तदिच्छोच्छेदरूपं द्राग् वैराग्यमुपजायते।।१।।

अनुवाद - संसार का स्वरूप जानने से 'वह निस्सार है'- ऐसी दृष्टि उत्पन्न होती है तथा उसके प्रति द्वेष, अभाव और अचि हो जाती है। इस कारण से संसार की इच्छा का नाश होने, रूप वैराग्य तत्काल उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ :- संसार से वैराग्य उत्पन्न होने के अनेक कारण हो सकते है। कोई व्यक्ति संसार में पूर्णतः आसक्त है और असमय अचानक धनहानि या मानहानि हो गई, शरीर को रोगों ने घेर लिया, किसी ने विश्वासघात कर दिया या किसी प्रियस्वजन की मृत्यु हो गई तब व्यक्ति को संसार से अरुचि हो जाती है और संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, परंतु इस प्रकार के वैराग्य क्षणिक होते हैं। वापस अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुई कि वह वैराग्य भी गायब हो जाता है। दूसरी तरफ अगर व्यक्ति संसार के स्वरूप का चिंतन करे तो कर्मजन्य विषमताओं से युक्त यह संसार उसे एक नाटक के मंच की तरह प्रतीत होगा। उसे अपनी विकसित बुद्धि और विशाल दृष्टि से संसार की असारता की दृढ़ प्रतीति होगी। पौद्गलिक सुखों को भोगने की अभिलाषा नहीं रहेगी। जिसने अपनी सांसारिक भोग-विलास की इच्छाओं को नष्ट कर दिया हो, उसे जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह स्थिर होता है। उसकी इन्द्रियाँ विषयों की तरफ नहीं जाती है। वह बाहरी जगत् के प्रति उदासीन होकर अपने आन्तरिक जगत् में प्रवेश करता है। ऐसा वैराग्य, आत्मा को उन्नति की ओर ले जाता है।

(१०४) सिद्धया विषयसौख्यस्य वैराग्यं वर्णयन्ति ये।
मतं न युज्यते तेषां यावदर्थाप्रसिद्धितः।।२।।

अनुवाद :- विषय सुख की सिद्धि हो जाने पर वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है। जो यह मानते है उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जब तक विषयों की लालसा है, तब तक उनके प्रति वैराग्य सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ :- सिद्धि अर्थात् पूर्णरूपेण प्राप्ति। कितने लोग ऐसा मानते हैं कि एक वस्तु भोग लेने के बाद मनुष्य का मन उससे तृप्त हो जाता है और उससे निवृत्त हो जाता है। उसके बाद उस वस्तु की तरफ उसकी आसक्ति नहीं रहती है। उसके प्रति वैराग्य हो जाता है और भोगे बिना अगर सीधे ही वैराग्य प्राप्त हो जाये तो उसकी नहीं भोगे गये विषयों के प्रति जिज्ञासा और आकर्षण बना रहता है। कब विषयेच्छा जाग्रत हो जाये, कुछ कह नहीं सकते। इसलिए प्रथम विषयभोग फिर वैराग्य यह स्वाभाविक क्रम है। इस पर अगर चिंतन किया जाये तो वास्तव में ऐसा नहीं है। विषय तो अनेक प्रकार के हैं और प्रत्येक को भोगकर फिर वैराग्य की ओर कदम बढ़ाएँ तो यह कभी संभव नहीं होगा। दूसरी बात इन्द्रियाँ और मन का स्वभाव ही अतृप्ति का है। इन्द्रियाँ विषयों से कभी तृप्त नहीं होती। ऐसा प्रायः होता नहीं है कि किसी व्यक्ति या वस्तु आदि का एक बार भोग कर लिया और इन्द्रियाँ तृप्त हो गई। बार-बार उन विषयों को प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है। लेकिन जिसे यह समझ में आ जाता है कि विषयों में सुख है ही नहीं मात्र वैसा ही सुखाभास है जैसा कुत्ते को सुखी हड्डी चबाते हुए होता है, उसने चाहे विषयों का भोग एक बार भी नहीं किया हो तो भी विषयों की तरफ उसका मन आकर्षित नहीं होता है। अगर एक अज्ञानी व्यक्ति आग को स्पर्श करे और वह जल जाए तो प्रत्येक व्यक्ति को अग्नि का स्वभाव जानने के लिए उसमें हाथ डालने की आवश्यकता नहीं होती है। बुद्धिमान व्यक्ति तो अन्य की प्रतिक्रिया को देखकर ही स्वयं समझ जाता है कि अग्नि का स्वभाव जलाने का है। उसी प्रकार संसार में आसक्त दूसरे प्राणियों की व्यथा, अशांति, अतृप्ति को देखकर ही ज्ञानी यह जान लेता है कि विषयभोग के द्वारा वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

(१०५) अप्राप्तत्वभ्रमादुच्चैरवाप्तेष्वप्यनंतशः।
कामभोगेषु मूढानां समीहा नोपशाम्यति।।३।।

<u>अनुवाद :-</u> कामभोग अनंत बार प्राप्त होने पर भी उनकी अप्राप्ति (एक बार भी प्राप्त नहीं हुए) के भ्रम से अर्थात् उनकी चाह से मूर्ख जीवों की कामभोग की इच्छा शांत नहीं हाती है।

<u>विशेषार्थ :-</u> जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। भिन्न-भिन्न देह धारण कर अनंत बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त हुआ। सुख के इतने पदार्थ और प्रकार है कि वर्तमान जीवन में सभी प्रकार के भौतिक सुखों को भोगने की इच्छा करे तो आयुष्य पूरी हो जाएगी परंतु पदार्थ समाप्त नहीं होगे। उन एक-एक विषय-सुखों को जीव ने अनंत जीवन में अनंत बार भोगा है फिर भी जीव को तृप्ति नहीं हुई। अज्ञानी जीव को यह प्रतीत होता है कि वर्तमान जीवन में जो कामभोग प्राप्त हुए वह प्रथम बार ही प्राप्त हुए। भोगों का स्वरूप ही ऐसा है कि बार-बार भोगने पर भी उसे आभास होता है कि यह नया स्वरूप धारण कर प्रथम बार पास में आया है। वह उसी आसक्ति के साथ विषयों को भोगता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इन विषयों के द्वारा इन्द्रियाँ कभी तृप्त नहीं होती है।

(१०६) विषयैः क्षीयते कामो नेन्धनैरिव पावकः।
प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्तिर्भूय एवोपवर्द्धते।।४।।

<u>अनुवाद :-</u> जैसे ईंधन से अग्नि का क्षय नहीं होता है उसी प्रकार विषयों के सेवन से वासनाएँ क्षीण नहीं होती हैं, परंतु वे विषयासक्ति से शक्तिशाली होकर वृद्धि को प्राप्त होती है।

<u>विशेषार्थ :-</u> अगर कोई व्यक्ति ऐसा तर्क करे कि किसी भी वस्तु का उपयोग करते-करते वह क्षीण होती जाती है, कम होती जाती है और अंत में बिल्कुल समाप्त हो जाती है उसी प्रकार कामवासना या भोगेच्छा भी भोगते-भोगते क्षीण हो जाती हैं। यह तर्क कुछ स्थूल निर्जीव वस्तु के लिए यथार्थ है कि उनका उपयोग करने पर वे जीर्ण होती जाती हैं किन्तु कामभोग के विषय में यह तर्क उपयुक्त नहीं है क्योंकि कामभोग तो अग्नि

के समान है। जैसे अग्नि में ईंधन डालने से वह शांत नहीं होती है बल्कि अधिक प्रज्ज्वलित हो जाती है। शांत होने ही वाली अग्नि में यदि फिर से ईंधन डाला जाये तो वह और अधिक उल्लसित होकर बढ़ती जाएगी। जैसे-जैसे ईंधन डालेंगे वैसे-वैसे वह बढ़ती जाएगी। उसी प्रकार विषयों के सेवन से काम वासना शांत नहीं होती है, बल्कि बढ़ती जाती है। यदि भोगेच्छा के मंद होने पर अगर कोई अनुकूल व्यक्ति या अनुकूल परिस्थिति, अनुकूल पदार्थ प्राप्त हो जाये तो वह शांत होने की बजाय पुनः प्रज्वलित हो जाती है। कहा गया है कि - 'न जातु काम कामाणां उपभोगेन शाम्यति', अर्थात् कामवासना काम के उपभोग से शान्त नहीं होती है। रावण के अन्तःपुर में दिव्य रूप और लावण्य से युक्त हजारों रानियाँ थी फिर भी रावण की कामवासना शान्त नहीं हुई और सिर्फ एक स्त्री (सीता) के लिए महासंग्राम किया। कामभोगों का स्वरूप ही ऐसा है। अतः विषयों को भोगकर उससे तृप्त होकर वैराग्य प्राप्त करने की मान्यता मूर्खता से परिपूर्ण है।

(१०७) सौम्यत्वमिव सिंहानां पन्नगानामिव क्षमा।
विषयेषु प्रवृत्तानां वैराग्यं खलु दुर्वचम्।।५।।

<u>अनुवाद :-</u> जैसे सिंहो में सौम्यता तथा सर्पों में क्षमा असंभव है वैसे ही विषयों के सेवन में प्रवृत्ति करने वाले को वैराग्य प्राप्त हो, यह असंभव है।

<u>**विशेषार्थ :-**</u> प्राचीन कहावत है कि -

"बारे कोस बोली पलटे, वीशे पलटे वेश।
बढ़ापे में केश पलटे, लक्खण न पलटे लेश।।"

कितने ही जीवों में उनके प्रकृतिगत लक्षण होते है जैसे सिंह कभी भी सौम्य प्रकृति वाला नहीं बन सकता है। अपने शिकार को देखते ही विकराल रूप धारण कर लेता है। सर्प कभी भी क्षमा भाव धारण नहीं करता है। जैसे ही किसी का पैर उस पर लगा कि उसको डंक मार देता है। कहा भी जाता है कि सर्प अपना वैर का बदला लेकर ही रहता है। क्योंकि क्षमा उसकी प्रकृति में ही नहीं है। जैसे सिंह की प्रकृति में सौम्यता नहीं है, सर्प की प्रकृति में क्षमाभाव नहीं है उसी प्रकार भोगेच्छा का लक्षण वैराग्य नहीं है। तीव्र भोगेच्छा के साथ-साथ वैराग्यभाव नहीं रह सकता है।

अतः हम कह सकते हैं कि जिन-जिन में वैराग्य है उन-उन में भोगेच्छा नहीं है और जिन-जिन में भोगेच्छा है उन-उन में वैराग्य नहीं है। दोनों साथ-साथ संभव नहीं है। यह विषयों का स्वभाव नहीं है कि वे उनको भोगने वाले को शाश्वत तृप्ति प्रदान करें। उनका स्वभाव तो तृष्णा अर्थात् भोगोकांक्षा को बढ़ाने का है।

(१०८) अकृत्वा विषयत्यागं यो वैराग्यं दिधीर्षति।
अपथ्यमपरित्यज्य सा रोगोच्छेदमिच्छति।।६।।

<u>अनुवाद :-</u> विषयों की भोगेच्छा का त्याग किए बिना जो व्यक्ति वैराग्य धारण करने की इच्छा रखता है तो वह अपथ्य का त्याग किए बिना ही रोग का उन्मूलन करना चाहता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> कहावत है कि एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती है। विषय के भोग की इच्छा भी हो और वैराग्य की भी हो ये दोनों एक साथ सम्भव नहीं है। दोनों में से एक ही सम्भव है अर्थात् एक की ही पूर्ति हो सकती है। प्रस्तुत श्लोक में विषयों के भोग की इच्छा का त्याग किए बिना ही वैराग्य के इच्छुक व्यक्ति की तुलना एक ऐसे रोगी से की जो रोग से मुक्ति तो चाहता है परंतु चिकित्सक के द्वारा बताए गए पथ्य का पालन नहीं करना चाहता है। जैसे मधुमेह का रोगी खूब मिठाई खाये और इच्छा करे कि रोग से मुक्त हो जाऊँ, भयंकर सर्दी में तेज बुखार हो और वह आइस्क्रीम खाये, दस्त लग रहे हो और दूधपाक खाये और रोग मुक्ति की इच्छा करे तो यह संभव नहीं है, इससे तो रोग में वृद्धि ही होगी। रोग से मुक्त होने के लिए कुपथ्य का त्याग करना जरूरी है। उसी प्रकार विषयों के भोग की इच्छा वैराग्य के लिए कुपथ्य है। इसलिए वैराग्य की सुरक्षा के लिए विषयभोगों की आसक्ति का त्याग आवश्यक है।

(१०९) न चित्ते विषयासक्ते वैराग्यं स्थातुमप्यलम्।
अयोधन इवोत्तप्ते निपतन्बिंदुरंभसः।।७।।

<u>अनुवाद :-</u> जिस प्रकार अग्नि से तप्त लोहे के पिण्ड के ऊपर गिरा हुआ बिंदु तत्काल नष्ट हो जाता है उसी तरह विषयवासना से युक्त चित्त में वैराग्य नहीं रह सकता है।

विशेषार्थ :- विष्यासक्ति और वैराग्य इन दोनों में सर्प-नैवले जैसा, बिल्ली और चूहे जैसा जन्मजात वैर है। अतः दोनों का साथ रहना संभव नहीं है। जैसे लोहे के तपे हुए पिण्ड के ऊपर पानी की एक बूंद डाली जाए तो वह तुरंत नष्ट हो जाती है उसका अस्तित्व नहीं रहता है उसी प्रकार विषय-भोग में रत बने हुए व्यक्ति के चित्त में वैराग्य ठहर नहीं सकता। कोई व्यक्ति रूप और यौवन से सम्पन्न हो, साथ में सम्पत्ति हो, सुंदर पत्नी हो सभी प्रकार की अनुकूलताए हो और वह विषयों में आसक्त हो, ऐसे समय कोई उसे शील-सदाचार के पालन का उपदेश देने आए तो वह उस पर क्रोधित ही होगा और कहेगा कि यह रूप-यौवन संपत्ति भोगने के लिए ही तो मिली है, इस उम्र में भोग नहीं भोगे, तो फिर कब भोगेगे, हमें उपदेश की आवश्यकता नहीं है। भोजन में कई तरह के स्वादिष्ट व्यंजन बने हो शरीर में गरिष्टतम पदार्थों के पचाने की शक्ति हो और खाने की तीव्र लालसा हो, ऐसा व्यक्ति जब भोजन करने बैठे, उस समय कोई तप की बात करे तो वह प्रतिकूल लगती है। उस समय वैराग्यमय बोध-वचन प्रिय नहीं लगते हैं। भोगोपभोग के समय इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों से जुड़ी हुई रहती है किन्तु वैराग्य के लिए तो अंतर्मुख होना पड़ता है। विषयासक्ति के साथ वैराग्य क्षणभर भी नहीं ठहर सकता है।

(११०) यदीन्दुः स्यात् कुहूरात्रौ फलं यद्यवकेशिनि।
तदा विषयसंसर्गिचित्ते वैराग्यसंक्रमः।।८।।

अनुवाद :- चाहे अमावस की रात्रि में चंद्रमा का उदय हो जाए और बंध्य (अवकेशी) वृक्ष को फल आ जाये किन्तु विषयों में आसक्त हुए चित्त में वैराग्य का संक्रमण (प्रवेश) नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में विषयासक्ति के साथ वैराग्य को असंभव बताते हुए पुनः दो दृष्टान्त दिए गए है। अमावस की घोर अंधेरी रात्रि में चन्द्र दर्शन संभव नहीं है और वंध्य वृक्ष को फल नहीं आते है। यदि ये दोनो बाते संभव भी हो जाये अर्थात् अमावस की रात्रि में चंद्रोदय हो जाये और वंध्य वृक्ष को फल आ जाये तो भी विषयासक्त चित्त में वैराग्य संभव नहीं है। इसलिए विषयासक्ति के साथ वैराग्य भी कभी संभव नहीं है।

वैराग्य का जन्म किस प्रकार होता है - इस तथ्य को ग्रंथकार ने निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है।

(१११) भवहेतुषु तद्द्वेषा-द्विषयेष्वप्रवृत्तितः।
वैराग्यं स्यान्निराबाधं भवनैर्गुण्यदर्शनात्।।६।।

<u>अनुवाद :-</u> सांसारिक भोगों में अरुचि होने से, विषयों में प्रवृत्ति नहीं होने से और सांसारिक भोगो की निस्सारता देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

<u>**विशेषार्थ :-**</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने वैराग्योत्पत्ति के तीन प्रमुख कारण बताए है - १. भव-भ्रमण के हेतुओं के प्रति अरुचि २. विषयभोगों में निवृत्ति और ३. संसार की असारता का ज्ञान।

जब व्यक्ति चतुर्गति रूप संसार के परिभ्रमण से मुक्त होने की इच्छा करता है तो उसे संसार में परिभ्रमण के हेतुओं का ज्ञान आवश्यक है। शास्त्रों में भव-भ्रमण के पाँच हेतु बनाए गए हैं - १. मिथ्यात्व २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय और ५. योग।

मिथ्यात्व अर्थात् वस्तु-स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान न होना, अविरति अर्थात् हिंसादि पापो से विरत न होना या इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त न होना। प्रमाद अर्थात् आलस्य, निंदा, विकथा आदि कषाय जिससे संसार की वृद्धि हो, यह मूल रूप से चार प्रकार की होती है १. क्रोध २. मान ३. माया और ४. लोभ। योग अर्थात् मन-वचन और काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति। ये भवभ्रमण के प्रमुख हेतु है। इनके कारण ही कर्मबन्ध होता है। अतः इन हेतुओं को जानकर उनसे दूर रहना चाहिए। उनके प्रति अरूचि होना चाहिए। ऐन्द्रिक विषयों के सेवन मे आसक्ति और उस दिशा में प्रवृत्ति नहीं होना चाहिए। किंपाक फल के समान दिखने में सुंदर, रसीले एवं मधुर किंतु परिणाम में भयंकर ऐसे विषयों से इन्द्रियों को सदा निवृत्त रखना चाहिए। संसार के स्वरूप पर तात्विक ढंग से चिंतन करते हुए उसकी निस्सारत की प्रतीति होना चाहिए। अन्य लोगों को संसार में जो सुख या गुण दिखाई देते हैं वस्तुतः परमार्थ दृष्टि से तो वे दोषरूप ही है। वे मात्र सुखाभास और गुणाभास है, इस प्रकार समझना चाहिए। उपर्युक्त

वैराग्योत्पत्ति के तीनों कारणों के उपस्थित होने पर जो भव-वैराग्य उत्पन्न होता है वह स्थिर होता है। संसार के स्वरूप को समझने के बाद भी अगर इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त नहीं किया, मन विषयों की ओर प्रवृत्त होता रहा तो वैराग्य स्थिर नहीं रहेगा। चित्त की संघर्षमय स्थिति हो जाएगी, कभी वैराग्य तो कभी विषयभोग। जब व्यक्ति विवेकपूर्वक और श्रद्धासहित विषयों से निवृत्त हो जाए तब निराबाध वैराग्य प्रकट होता है और वही स्थिर रहता है।

(११२) चतुर्थेऽपि गुणस्थाने नन्वेवं तत् प्रसज्यते।
युक्तं खलु प्रमाप्तॄणां भवनैर्गुण्यदर्शनम्।।१०।।

<u>अनुवाद :-</u> जो इस प्रकार हो तो चतुर्थ गुणस्थान पर भी वैराग्य की उत्पत्ति होना चाहिए क्योंकि संसार के यथार्थ स्वरूप को जानने वालो को संसार की निस्सारता का दर्शन हो सकता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> उपर्युक्त श्लोक में वैराग्य उत्पत्ति के कारणों में एक कारण 'भवनैर्गुण्यता का दर्शन' बताया गया। यहाँ एक तात्त्विक प्रश्न उत्पन्न होता है कि अगर संसार की निर्गुणता के दर्शन से वैराग्य की उत्पत्ति होती हो तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीवों को वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। क्योंकि उनको संसार में कोई सार नजर नहीं आता है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव संसार के सत्य स्वरूप को जानने वाले होते है। इस दृष्टि से वे संसार के यथार्थ स्वरूप को अच्छी तरह समझते है, परंतु चतुर्थगुणस्थान अविरतसम्यग्दृष्टि का है। इस गुणस्थान पर रहे हुए जीव को विरति नहीं होती अर्थात् पाप-प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान नहीं होता है। वे कामभोग से निवृत्त भी नहीं होते हैं तो फिर वैराग्य किस प्रकार संभव है ? एक ही गुणस्थान पर वैराग्य और अवैराग्य दोनों को स्वीकार किया जाए तो असंगति का दोष आएगा।

ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में की गई शंका का समाधान निम्न श्लोक में किया है।

(११३) सत्यं चारित्रमोहस्य महिमा कोऽप्ययं खलु।
यदन्यहेतुयोगेऽपि फलायोगोऽत्र दृश्यते।।११।।

अनुवाद :- यह बात सत्य है क्योंकि चारित्र मोह की महिमा ही ऐसी है कि अन्य हेतु का योग होने पर भी यहाँ उनके फल का अर्थात् वैराग्य का अयोग (अभाव) दिखाई देता है।

विशेषार्थ :- यह बात सत्य है कि चतुर्थ गुणस्थान पर भव की निर्गुणता के दर्शन होने पर भी पाप-प्रवृत्ति से अविरति रहती है। सामान्य रूप से जहाँ कारण हो वहाँ वह कार्य अवश्य होता है। परंतु चतुर्थ गुणस्थान पर भवनिर्गुणता का हेतु उपस्थित होने पर भी कार्य वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती है। उसका कारण चारित्र मोहनीय कर्म की प्रबलता है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है- १. दर्शनमोहनीय २. चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के कारण सभी तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। संसार के यथार्थ स्वरूप को जानने के बाद भी अगर चारित्रमोहनीय कर्म का उदय हो तो वह वैराग्य की प्राप्ति में बाधक बनता है।

चारित्रमोहनीय कर्म अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा नौ नो-कषाय ऐसा पच्चीस प्रकार का होता है। अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय से जीव जानते हुए भी आचरण नहीं कर पाता है। इसलिए चतुर्थगुण- स्थानवर्ती जीव को संसार के स्वरूप का ज्ञान, भवनिर्गुणता का दर्शन, तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा आदि कारण उपस्थित होने पर भी वे वैराग्य में परिणत नहीं हो पाते है। वहाँ हेतु का योग होने पर भी फल का योग नहीं होता है। न्यायशास्त्र के अनुसार सामान्य रूप से जहाँ हेतु हो वहाँ फल होता है परंतु एक या अधिक हेतुओं के होने पर भी अगर कोई प्रबल प्रतिबंधक हो तो वे सभी हेतु मिलकर भी प्रतिबंधक को हटाने में समर्थ नहीं होते है। चतुर्थ गुणस्थान पर चारित्रमोहनीय कर्म प्रतिबंधक भाव रूप में रहता है। इसलिए वहाँ वैराग्य पर श्रद्धा होने पर भी सम्पूर्ण वैराग्य प्रगट नहीं होता है।

(११४) **दशाविशेषो तत्रापि न चेदं नास्ति सर्वथा।**
स्वव्यापारहृतासंगं तथा च स्तवभाषितम्।।१२।।

<u>अनुवाद :-</u> विशिष्ट दशा में चतुर्थ गुणस्थान में वैराग्य सर्वथा न हो ऐसा नहीं है। वहाँ भी स्वभाव रमणता (स्व-व्यापार) के द्वारा आसक्ति को कम किया जाता है। वीतरागस्तोत्र में भी यही बात कही गयी है।

<u>विशेषार्थ :-</u> विशिष्टदशा में अर्थात् जब समकिती जीव आठ योगदृष्टि में से छठी कान्ता नामक दृष्टि प्राप्त कर लेते है, तब उनकी दशा विशिष्ट होती है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थान पर भी ऐसी विशिष्ट दशा हो तो वैराग्य संभव हो सकता है। योग दृष्टिसमुच्चय में हरिभद्रसूरि ने तथा आठ दृष्टि की सज्झाय में उपाध्याय यशोविजयजी कान्ता दृष्टि के लक्षण बताते है कि इस दृष्टि का बोध तारे के प्रकाश के समान स्थिर होता है, अन्यमुद् नामक दोष नष्ट हो जाता है अर्थात् हास्य, रति-अरति, भय, शोक एवं दुर्गंछा - इस हास्यषटक का तथा तद्जन्य राग-द्वेष नहीं होता है। सतत् शुभ परिणाम होते है। एकांत प्रशस्त अव्यक्त कषाय युक्त विवेक के परिणाम स्वरूप पुद्गल के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति उनके मन में नहीं होती है। इनमें तत्त्वमीमांसा नामक गुण रहता है जिसके कारण ये अनासक्त भाव को सुरक्षित रख सकते है। सदा शुभभाव में परिणमन करते है। इनका अनुष्ठान निरतिचार होता है। इनका व्यवहार विवेक युक्त और औचित्य से परिपूर्ण होता है। चौथे, पाँचवे और छठे गुणस्थानवर्ती जीवों को यह दृष्टि हो सकती है। समकिति जीव अगर इस दृष्टि में हो तो वे दर्शनाचार में एक भी अतिचार नहीं लगने देते हैं। श्री तीर्थंकर परमात्मा जब गृहस्थ अवस्था में रहते है तब छठी दृष्टि में रहते हैं। पृथ्वीचन्द्र, गुणसागर, समरादित्य आदि अन्तिम भव में गृहस्थ अवस्था में इसी दृष्टि में थे। इसी कारण वे जलकमलवत् संसार में निर्लिप्त रह सके। चतुर्थगुणस्थानवर्ती अनुत्तरविमानवासी देव भी इसी दृष्टि में रहते है। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य ने भी वीतरागस्तोत्र में यही बात कही है।

ग्रंथकार द्वारा निम्नलिखित श्लोक वीतरागस्तोत्र से ही लिया है।

(११५) यदा मरून्नरेन्द्रश्रीस्त्वया नाथोपभुज्यते।
यत्र तत्र रतिर्नाम विरक्तत्वं तदापि ते।।१३।।

<u>अनुवाद :-</u> हे नाथ ! जब आप पूर्व भवों में देवेन्द्र की या नरेन्द्र की लक्ष्मी को भोगते हो तब वहाँ जो रति (राग) दिखाई देती है वह भी वैराग्य रूप ही होती है।

<u>विशेषार्थ :-</u> तीर्थंकर परमात्मा का जीव देवलोक में से च्युत होकर माता के गर्भ में आता है। पूर्व पुण्योदय से देवगति में भी चतुर्थ गुणस्थान पर होते है और तीर्थंकर के भव में भी जब तक संयम ग्रहण नहीं करते है तब तक चतुर्थ गुणस्थान पर ही होते है। देवलोक में भी दिव्य सुखों को भोगते है परंतु वहाँ भी विरक्ति रहती है। तीर्थंकर परमात्मा जन्म से ही कान्ता दृष्टि में होते है। उनको बचपन से ही भोगो में रस नहीं रहता है। बालक होने पर भी वे गंभीर, धीर, उदार, शांत, भावो से विरक्त और विवेकशील होते हैं। कछुआ जिस प्रकार अपने अंगो का संवरण कर अंदर कर लेता है फिर उस पर चाहे कितने प्रहार किए जाए उस पर असर नहीं होता है, उसी प्रकार इस दृष्टि में रहे हुए जीव की इन्द्रियाँ और मन इस प्रकार उनके नियंत्रण में रहते हैं कि कोई भी अच्छे बुरे निमित्त का उनके मन पर असर नहीं होता है। ये जीव चाहे राजा हो या सेठ हो, माता- पिता हो या पिता-पुत्र हो, स्वयं जिस भूमिका पर है जिस अवस्था में है उस अवस्था की जिम्मेदारी बराबर समझकर निर्लेप भाव से पूर्ण करते हैं। इस प्रकार कर्म के उदय के निमित्त मिले हुए भोगों को भोगने पर भी उससे निर्लेप रहते हैं। अनासक्त भाव से भोगो को भोगते हैं। इन जीवों का मन तो हमेशा आत्मा में ही रमण करता है दूसरी चेष्टा तो मन बिना मात्र काया से ही करते है। चारित्रमोहनीय कर्म और शातावेदनीय कर्म उदय में होने के कारण ही इन जीवों की काया संसार में प्रवृत्ति करती है। सांसारिक प्रवृत्ति भी शास्त्र से निरपेक्ष होकर नहीं करते है। लाभालाभ के विचारपूर्वक ये सभी प्रवृत्ति करते हैं। नेमिनाथ भगवान कृष्ण महाराजा की सहायता के लिए युद्ध में गये किंतु वहाँ भी इस प्रकार विवेकपूर्वक युद्ध किया कि कोई भी जीव की हिंसा नहीं हुई। वे श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियों के आग्रह से जलक्रीड़ा करने भी गए,

उसमें भी विवेक को नहीं खोया। उन्होंने जलक्रीड़ा भी अंशमात्र भी आसक्ति के बिना की।

श्री महावीरस्वामी भगवान् ने गर्भ में जो अभिग्रह धारण किया कि 'माता-पिता के जीवित रहते दीक्षा नहीं लूंगा', यह अभिग्रह माता-पिता के प्रति राग के कारण या उनकी शारीरिक चिंता के कारण नहीं बल्कि उनके आत्महित की चिंता के कारण (आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान कर दुर्गति में न जाए) और अपना दायित्व पूर्ण करने के लिए किया।

इस प्रकार छठी कान्ता दृष्टि में रहे हुए विशिष्ट जीवों को रूचिरूप और रतिरूप दोनों प्रकार की आसक्ति का अभाव होता है। भगवद्गीता में जो स्थितप्रज्ञ का वर्णन है, वह लगभग इस दृष्टि वाले जीव से समानता रखता है।

(११६) **भवेच्छा यस्य विच्छिन्ना प्रवृत्तिः कर्मभावजा।**
रतिस्तस्य विरक्तस्य सर्वत्र शुभवेद्यतः।।१४।।

अनुवाद :- जिनकी संसार की इच्छा नष्ट हो गई है उनकी जो कुछ भी प्रवृत्ति है वह कर्म के उदय से उत्पन्न हुई है। ऐसे विरक्त पुरुष की जो रति दिखाई देती है वह सर्वत्र शुभवेदनीय कर्म के उदय से ही है।

विशेषार्थ :- जिसे संसार अच्छा नहीं लगता है तथा संसार के विच्छेद करने की तीव्र अभिलाषा है ऐसे विरक्त पुरुषों की सांसारिक प्रवृत्तियों में जो रति होती है वह कर्म के उदय से ही है। ये कर्म प्रायः निकाचित होते हैं इसलिए भोगने ही पड़ते हैं। यह उदय भी प्रायः सातावेदनीय कर्मों का होता है। जब जिस जिस रूप में उदय में आते है वे भोगते है किंतु भोगते समय उनके नए कर्मों का बंध नहीं होता है, क्योंकि उनके हृदय में वैराग्य ही होता है। इसलिए तीर्थंकर परमात्मा के जीव ने क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद के भवों में जो भी भोग-विलास की प्रवृत्ति की, उसमें उनका दायित्व बोध एवं सातावेदनीय का उदय ही मुख्य रहा हुआ है।

चतुर्थ गुणस्थान पर रहे हुए सभी जीवों में इस प्रकार का वैराग्य नहीं होता है किन्तु जिसने विशिष्ट दशा (छठवीं दृष्टि) प्राप्त कर ली हो, उसमें ही इस प्रकार का वैराग्य होता है। जैसे मधुमेह के रोगी को

मजबूरीवश कड़वा नीम पीना पड़ता है, तो वह जिस प्रकार अनिच्छा से उसको पीता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से युक्त जीव बिना मन के (आसवित) भोग में प्रवृत्ति करता है। पाँचवी और छठवीं, क्रमशः स्थिरा और कान्ता दोनों दृष्टि में चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान वाले जीव होते है। दोनों दृष्टि में अंतर यह है कि स्थिरा दृष्टि में दर्शनमोहनीय के उदय के अभाव के कारण रुचिरूप आसक्ति तो नहीं होती है, क्योंकि रुचिरूप आसक्ति तो मिथ्यादृष्टि को ही होती है, किन्तु इस दृष्टि में रतिरूप आसक्ति होती है। पाँचवीं दृष्टि पर स्थित जीव में विवेक होने के कारण भोग में रुचि नहीं होती है। वे भोग को अच्छा नहीं समझते, किन्तु उसके उपभोग में चारित्रमोहजन्य आनंद होता है, जबकि छठवीं दृष्टि वाले जीव में पुद्गल की प्रवृत्ति में रुचिरूप और रतिरूप दोनों प्रकार की आसक्ति का अभाव होता है। इस प्रकार के जीव उदय में आए हुए शातावेदनीय कर्म को भोगते हैं, अतः चतुर्थ गुणस्थान पर रहे हुए विशिष्ट (कान्ता दृष्टि से युक्त) जीवों में ही यह वैराग्य होता है।

(११७) **अतश्चाक्षेपकज्ञानात् कान्तायां भोगसंनिधौ।**
न शुद्धि प्रक्षयो यस्माद्धारिभद्रमिदं वचः।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए आक्षेपक ज्ञान के कारण भोगों के समीप रहते हुए भी उनकी शुद्धि का नाश नहीं होता है, ऐसी कान्ता नाम की योगदृष्टि के विषय में हरिभद्रसूरि का वचन है।

<u>विशेषार्थ -</u> श्री हरभिद्रसूरि ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में कान्ता दृष्टि के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है -

"श्रुतधर्मे मनो नित्यं कायस्त्वस्यान्तयचेष्टिते।
अतस्त्वाक्षेपज्ञान्न भोगा भवहेतवः।।१६४।।"

इन जीवों का मन सतत् श्रुतधर्म में रमण करता है अन्य दूसरी चेष्टाएँ मन बिना मात्र काया से ही करते हैं। इसलिए आक्षेपक ज्ञान के कारण उनके भोग भव के हेतुरूप नहीं होते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्च नामक ग्रंथ में उत्तरोत्तर आत्मिक विकास को आठ दृष्टियों के द्वारा समझाया है। जिनमें क्रमशः दोष

नष्ट होते जाते है और विशिष्ट गुणों की प्राप्ति होती जाती है। यहाँ मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक इन आठ दृष्टियों में से कान्ता दृष्टि का लक्षण बताया गया है। उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा विरचित आठ दृष्टि की सज्झाय में भी कान्ता दृष्टि के विषय में कहा गया है कि -

> **"मन महिलानु रे व्हाला उपरे, बीजा काम करंत।**
> **तेम श्रुतधर्मे रे ऐहमां मन धरे, ज्ञानाक्षेपकवंत।।६।।**
> **ऐहवे ज्ञाने रे विघन निवारणे, भोग नहीं भवहेत।**
> **नवि गुण दोष न विषयस्वरूप थी, मन गुण अवगुण खेत।।७।।**

जैसे उत्तम पतिव्रता स्त्री का मन दूसरे काम करते हुए भी अपने पति में ही रहता है उसी प्रकार कान्ता दृष्टि से युक्त योगी पुरुष अपनी भूमिका अनुसार सभी गृहकार्य करते हुए भी ज्ञानमय चित्त होने के कारण उनका मन तो श्रुतधर्म में ही रमण करता है। आक्षेपक ज्ञान द्वारा जीव राग दशा में से अपने चित्त को दूर कर लेता है। उन जीवों को श्रुतज्ञान का ऐसा मधुर और उत्कट रसानुभव होता है कि फिर बाह्य दृष्टि से भोग विलास में होते हुए भी उनमें उनकी आसक्ति नहीं रहती है। वे स्वरूपानुभव में ही रमण करते हैं।

सांसारिक विघ्नों का निवारण करने वाला आक्षेपक ज्ञान होने से भोग भव के हेतु नहीं बनते है। मात्र विषयों के सेवन से गुण भी नहीं होता है और दोष भी नहीं। क्योंकि मानसिक वृत्ति ही बन्धन का कारण होती है- केवल कायिक प्रवृत्ति विशिष्ट बंध का हेतु नहीं बनती है।

संत आनंदघनजी ने चतुर्थगुणस्थान पर स्थित विशिष्ट दशा वाले योगी पुरुष का चित्रण दो दृष्टान्तों द्वारा किया -

> **"चारो चरन के कारणे रे गौआ वन मे जाय।**
> **चारो चरे फिरे चिहुँ दिशि वाकी नजर बछुरिया माँही।।**
> **चार पाँच साहेलिया मिली, हिलमिल पानी जाय।**
> **ताली दीये खड़ खड़ हँसे वाकी नजर गगुरिआ माही।।"**

मन की रसिकता ही मुख्य बंध का हेतु है। भोग प्रवृत्ति न हो फिर भी मन की आसक्ति हो तो कर्मबंध होता है। जैसे तंदुलिया मत्स्य मगरमच्छ के समान आहार की प्रवृत्ति नहीं करता है। वह एक भी जीव का भक्षण नहीं करता किंतु मन से इच्छा करता है। मन के क्रूर परिणाम के कारण वह मृत्यु प्राप्त कर सातवीं नरक में जाता है। दूसरी ओर तीर्थंकर परमात्मा गृहस्थावस्था में विवाहित जीवन भी व्यतीत करते हैं, भरत महाराजा आरीसाभवन में है, मरूदेवी माता हस्ती के ऊपर बैठी है, पृथ्वीचंद राजा राजगादी पर है और गुण सागर लग्नक्रिया में है तो भी मन से बिल्कुल अलिप्त होने के कारण उनकी कायिक प्रवृत्तियाँ उनके भव भ्रमण का हेतु नहीं होती है।

(११८) मायांभस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम्।
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः।।१६।।

<u>अनुवाद :-</u> मायाजल अर्थात् मृगमरीचिका का तत्त्वतः जानने वाला जीव वहाँ उद्विग्न नहीं होता है। इस कारण से वह उसमें से भी निर्विघ्न रूप से शीघ्रता से पार हो जाता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> माया जल अर्थात् जहाँ जल नहीं हो किंतु जल का आभास हो। जिसे इस मायाजल की जानकारी नहीं होती है वह उसमें प्रवेश करते हुए अपने वस्त्र ऊँचे ले लेता है। जैसे इन्द्रप्रस्थ नगर में देवताओं द्वारा कलात्मक ढंग से पाण्डवों के महल की रचना की गई। उसकी विशेषता थी कि जहाँ जल नहीं हो वहाँ जल दिखाई देता था तथा जहाँ जल हो वहाँ स्थल का आभास होता था। युधिष्ठिर के निमंत्रण पर जब दुर्योधन महल में आता है तो वह दृष्टिभ्रम के कारण जल को स्थल समझता है और स्थल को जल समझता है तथा फिसलकर उपहास का पात्र बनता है, किंतु जिसे इस मायाजल की जानकारी होती है वह बिना स्खलित हुए उसमें से शीघ्रता से पार हो गया। मायाजल के संदर्भ में मृगतृष्णा का दृष्टान्त भी दिया जा सकता है। गर्मी के दिनों में सूर्य की किरणों से चमकती हुई रेती में जल से भरे हुए सरोवर का आभास होता है। मृग जैसे ही जल को देखकर उसे पीने के लिए दौड़ता है किंतु सरोवर आगे-आगे खिसकता जाता है और अंततोगत्वा मृग परिश्रमित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

संसार का सुख भी इस माया-जल की तरह ही है। संसारी व्यक्ति सुख की आशा में जिन्दगी भर भागता है और सुख के पीछे भागते-भागते अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, किन्तु उसे सुख नहीं मिलता, क्योंकि संसार में सुख है ही नहीं, मात्र सुखाभास होता है। बालबुद्धि संसार में दृष्टिभ्रम के कारण परिभ्रमण करता रहता है, परंतु जिसका दृष्टिभ्रम दूर हो जाता है जो तात्विक-बुद्धि से इस संसार के मायाजाल को समझ जाता है, वह बिना स्खलित हुए संसार सागर को पार कर जाता है और आत्मिक सुख को प्राप्त कर लेता है।

(११६) **भोगान् स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान्।**
भुंजानोऽपि ह्यसंगः सन् प्रयात्येव परं पदम्।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> उसी प्रकार जो भोगों के स्वरूप को मायाजाल या मृगमरीचिका के समान जानकर भोगों को भोगते हुए भी उनमें अनासक्त है, वह परमपद की ओर प्रयाण करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> अविरतसम्यग्दृष्टि जीव, जिन्होंने छठवीं कान्ता नाम की योगदृष्टि प्राप्त कर ली है, वे संसार में रहते हुए, भोगों को भोगते हुए भी जल कमलवत् उससे निर्लिप्त ही रहते हैं और भोगों से अनासक्त रहते हैं। जिस तरह धाय बालक का अतिस्नेह से पालन पोषण करती है, उसका माता से भी अधिक स्नेह प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में उसका मन अपने स्वयं के बालक के प्रति ही समर्पित रहता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव संसार का सभी व्यवहार निपुणतापूर्वक निभाते हैं, भोगों को भोगते भी हैं, किन्तु उन भोगों में उनकी आसक्ति नहीं होती है। वे संसार के स्वरूप को समझते हैं। पौद्गलिक क्षणिक सुखों में उनकी रुचि नहीं होती है, इसलिए वे पुद्गलानंदी नहीं बनते है। जैसे ही उन्हें उचित अवसर मिलता है, वैसे ही वे इस संसार के मायाजाल से मुक्त हो जाते है और अनुक्रम से परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।

(१२०) भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलंघनम्।
मायोदकदृढ़ावेशात्तेन यातीह कः पथा।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> भोग को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानने वाला जीव संसार सागर का उल्लंघन नहीं कर सकता है। जो भोगरूपी मायाजल के प्रति गहन आसक्ति से युक्त है, ऐसा व्यक्ति मोक्ष मार्ग को नहीं पा सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक हरिभद्रसूरिकृत 'योगदृष्टिसमुच्चय' से लिया गया है। इसमें बताया गया है कि कितने ही जीवों को भेदज्ञान, अर्थात् आत्म-अनात्म का ज्ञान नहीं होता है और वे देह को ही सर्वस्व मानते हैं। ऐसे जीव आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते हैं। वे त्याग के फल को भी भोग रूप में ही स्वीकार करते हुँ अर्थात् वे यह मानते हैं कि त्याग का फल भी भोग ही है, अतः भोग के मिल जाने पर फिर त्याग क्यों करें ? वे मानते हैं कि इस संसार में मनुष्य के रूप में जो जन्म मिला है, वह खाने-पीने और भोग-विलास के लिए ही मिला है। जैसा कि चार्वाक दर्शन में कहा गया है- 'यावज्जीवेत, सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा, घृतं पीवेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः', अर्थात् जब तक जीयो, सुख से जीयो, ऋण करके भी घी पीओ, देह के भस्मीभूत हो जाने पर पुनः आगमन कहा हैं, अथवा 'घी गोल मीठो, परभव कोणे दीठो'- इस प्रकार के वचन ऐहिक जीवन को ही सब कुछ मानने वाले भवाभिनंदी जीव बोलते हैं, किंतु अज्ञान के अंधकार में भटकते हुए मोह के आवेश से युक्त इन जीवों को कहाँ पता है कि कर्मराजा उनकी कैसी दुर्गति करेगा ? अतः उन भवाभिनंदी जीवों के लिए संसार सागर का उल्लंघन कर मोक्षरूपी किनारे को प्राप्त करना अशक्य है।

(१२१) स तत्रैव भवोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयं।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजंबालमोहितः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार भवोद्विग्न व्यक्ति निःशंक होकर वहीं खड़ा रह जाता है अर्थात् संसाररूपी कीचड़ में आगे नहीं फँसता है, उसी प्रकार भोग के कर्दम से उद्विग्न व्यक्ति मोक्ष मार्ग में भी उसी प्रकार निःशंक होकर स्थित रहता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक 'योगदृष्टिसमुच्चय' से लिया गया है। इसमें यह बताया गया है कि जिन्हें क्षायिकसम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है, ऐसे कान्तादृष्टि वाले जीव संसार के भोगविलास के प्रति उदासीन हो जाते हैं। उन्हें यह संसार काले जहरीले सर्प की तरह नजर आता है, इसलिए संसार के प्रति उनकी रुचि बिल्कुल नहीं होती है। उनका भेद विज्ञान स्पष्ट होता है, इसलिए उनकी देहासक्ति भी कम हो जाती है। जिस पीड़ा के साथ कैदी कारागृह में रहता है, उसी पीड़ा के साथ सम्यग्दृष्टि जीव संसाररूपी कैद में जीवन गुजारता है। इतना होने पर भी मोक्षमार्ग में उसकी गति नहीं होती है, मोक्षमार्ग की ओर भी उसके कदम नहीं बढ़ते हैं, क्योंकि चारित्रमोहनीय-कर्म के उदय के कारण देहासक्ति का यथार्थ रूप से त्याग करने में उसका पुरुषार्थ नहीं होता है। ऐसे जीव उस मार्ग को जानते हुए भी उस पर चलने का पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं। उनमें संसार को छोड़ने का साहस नहीं होता है। उनकी न संसार में रहने की रुचि होती है और न वे उसे छोड़ने का पुरुषार्थ ही कर सकते हैं, अतः वे इस सम्बन्ध में विमूढ़ जैसे हो जाते है।

(१२२) **धर्मशक्तिं न हन्त्यत्र भोगयोगो बलीयसीं।**
हन्ति दीपापहो वायुर्ज्वलन्तं न दवानलम्।।२०।।

अनुवाद - जिस तरह दीपक को बुझाने वाली वायु, जलते हुए दावानल को नष्ट नहीं कर सकती है, उसी तरह भोगों का योग भी दृढ़ धर्मशक्ति को नष्ट नहीं कर सकता है।

विशेषार्थ - जिन्होंने क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है और जो छठवीं कान्ता नामक दृष्टि को प्राप्त किए हुए हैं, ऐसी उच्च भूमिका पर स्थित आत्मा चाहे संसार में गृहस्थावास में रहती भी है, भोगोपभोग भी करती है, किन्तु भोगों की इतनी सामर्थ्य नहीं होती है कि वे उन जाग्रत आत्माओं की धर्मशक्ति को विनष्ट कर दें, उन्हें भोगो में मूर्च्छित कर सकें। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों को पुण्य से प्राप्त हुए सांसारिक भोगविलास के प्रति आकर्षण नहीं होता है। सामान्यतः, जीव मोहनीयकर्म के वश होकर भोग में ही डूबे रहते हैं। भोगों के प्रति रही हुई उनकी तीव्र आसक्ति छूटती नहीं है। उनमें कदाच् अल्प धर्म-रुचि हो, तो भी भौतिक प्रलोभनों के सामने वह

विलीन हो जाती है, जबकि सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा को कोई भी प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता है। कभी उन्हें परिस्थितिवश भोग भोगना भी पड़े, तो भी उनकी धर्मश्रद्धा को हानि नहीं पहुँचती है, बल्कि वह अधिक दृढ़ होती है। जैसे-तीव्र वेग से बहती हुई वायु दीपक को बुझा सकती है, किन्तु दावाग्नि को नहीं बुझा सकती, बल्कि उससे दावाग्नि और अधिक तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार भोग-विलास आदि भौतिक प्रलोभन सामान्य व्यक्ति को तो विचलित कर सकते है किन्तु कान्ता दृष्टि वाले सम्यग्दृष्टि जीव को विचलित नहीं कर सकते हैं। शास्त्रों में ऐसे अनेक दृष्टान्त आते हैं, जैसे-सुदर्शन सेठ के सामने अभया रानी ने अपना तन-मन-धन, सब कुछ समर्पित कर दिया, वह उसे पूरे राज्य का स्वामी बनाने को तैयार हो गई, फिर भी उसकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई। हजारों प्रलोभनों के आगे भी सुदर्शन सेठ की श्रद्धा नहीं डगमगाई।

(१२३) बध्यते बाढमासक्तो यथा श्लेष्मणि मक्षिका।
शुष्कगोलवदश्लिष्टो विषयेभ्यो न बध्यते।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार मक्खी श्लेष्म से चिपक जाती है, उसी तरह प्राणी प्रगाढ़ आसक्ति के कारण विषयों में फँस जाता है। आसक्तिरहित जीव सूखे मिट्टी के पिण्ड की तरह विषयों में आसक्त नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> विषयासक्त और विषयों से अनासक्त-इस प्रकार दो तरह के प्राणी होते हैं। जो जीव अज्ञानी हैं, उन्हें ऐन्द्रिक विषयों के प्रति गहरी आसक्ति होती है। वे उन विषयों में उसी तरह डूब जाते हैं, जिस तरह श्लेष्म में आसक्त होकर मक्खी उसमें चिपक जाती है, फिर वह उड़ नहीं सकती है और वहीं अपना जीवन पूरा कर देती है। भोगाधीन जीव भी विषयों में फंसकर उसी में अपना जीवन समाप्त कर देता हैं। दूसरी तरफ, सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मोदय के कारण भोग भोगना भी पड़ता है तो भी वह उसके प्रति अनासक्त ही रहता है। जैसे-सूखे मिट्टी के गोले को दीवार पर फेंका जाए, तो भी वह दिवाल से चिपकता नहीं है, उसी तरह विशिष्ट ज्ञानी जीव को भोगों में भी रस नहीं होता है। उसे कभी भोग भोगना भी पड़ता है, तो वह उसी तरह सावधान रहता है, जैसे तपे हुए लोहे के गोले पर किसी को परिस्थितिवश पैर रखना भी पड़े, तो वह सावधानी के साथ

रखता है और तुरंत ही उसे उठा भी लेता है, इसलिए कहा भी गया है- 'समत्त दंशी न करेई पावं', सम्यग्दृष्टि जीव पाप नहीं करता है।

(१२४) **बहुदोषनिरोधार्थमनिवृत्तिरपि क्वचित्।**
निवृत्तिरिव नो दुष्टा योगानुभवशालिनाम्।।२२।।

<u>अनुवाद</u> - योग के अनुभव से शोभित महात्माओं की, अनेक दोषों का निवारण करने के लिए क्वचित् अनिवृत्ति भी निवृत्ति की तरह ही निर्दोष होती है।

<u>विशेषार्थ</u> - शरीर से व्याधिरूपी दोष को दूर करने के लिए जिस प्रकार औषधि लेना पड़ती है, उसी प्रकार बड़े दोष के निवारण के लिए कभी प्रवृत्ति की भी आवश्यकता होती है। सम्यग्दृष्टि जीवों के लिए प्रवृत्ति स्वयं दोषरूप है, परंतु कभी-कभी कर्मोदय के कारण व्रत भंग होने का भय हो, जिनाज्ञा, गुर्वाज्ञा का भंग संभव हो, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान होने की संभावना हो, तो उनके निवारण करने के लिए प्रवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है, परंतु ज्ञानी आन्तरिक रूप से उस प्रवृत्ति से जुड़ते नहीं हैं। ज्ञानियों की ऐसी प्रवृत्ति भी निवृत्ति की तरह निर्दोष होती है और गाढ़ कर्मबन्धन का कारण नहीं होती है। ऐसे विशिष्ट योग के अनुभवी महात्माओं की विषयों की प्रवृत्ति भी वैराग्य का निमित्त बनकर उपकारक हो जाती है। प्रवृत्ति करते हुए भी उनका त्याग, वैराग्य, उपशम-भाव आदि यथावत् रहते हैं, जैसे-कालकाचार्य ने अपनी बहन साध्वी सरस्वती के शील के रक्षण के लिए और अन्याय को रोकने के लिए गर्दभिल्ल राजा से युद्ध किया और साध्वी को उसके चंगुल से मुक्त करवाया, लेकिन महात्माओं के लिए अपवादस्वरूप बताई गई ऐसी प्रवृत्ति भी सार्वत्रिक-नियम नहीं है। वे प्रवृत्ति तब ही करते है, जब अन्य कोई भी उपाय संभव नहीं हो। उसे वे परिस्थितिवश करते है इच्छा से नहीं।

(१२५) यस्मिन्निषेव्यमाणेऽपि यस्याशुद्धिः कदाचन।
तेनैव तस्य शुद्धिः स्यात् कदाचिदिति हि श्रुतिः।।२३।।

अनुवाद - जिन भोगों के सेवन करने से किसी प्राणी की क्वचित् अशुद्धि होती हो तो भी उन्हीं भोगों के सेवन द्वारा कभी-कभी उनके प्रति अरुचि होकर शुद्धि भी हो जाती है। इस प्रकार श्रुति में कहा गया है।

विशेषार्थ - श्रुति में इस प्रकार कहा गया है कि जिन विषय भोगों के सेवन से जीव अशुद्ध होता है, वे ही विषय-भोग समयान्तर में विशिष्ट-अवस्था प्राप्त होने पर उसी जीव की शुद्धि का कारण बन सकते हैं। जैसे-किसी एक पदार्थ के अतिसेवन से उस पदार्थ के प्रति हमेशा के लिए अरुचि उत्पन्न हो जाती है। ऐसा किसी विरला व्यक्ति के लिए भोग-विलास के सम्बन्ध में भी संभव हो जाता है, अर्थात् उनके सेवन से उस व्यक्ति की उनके प्रति अरुचि हो जाती है। यह कथन अपवादस्वरूप ही कहा गया है। ऐसा नहीं है कि जितने भी व्यक्ति विषय-भोगों के सेवन से अशुद्ध बनते हैं, वे समय बीतने पर शुद्ध हो ही जाते हैं। इसमें भय-स्थान बहुत हैं। यह तो कदाचित् ही संभव होता है।

जब एक व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है, तब तक उसे हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता है और वह भोगों में आसक्त रह है। भोगों को भोगकर कर्मबन्ध करता है, अशुद्ध होता है, परंतु जब उसका विवेक जाग्रत हो जाता है, उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, तब ऐसी उच्च भूमिका वाला सम्यग्दृष्टि, कर्मोदय के कारण जब भोग भोगता है, तो अनासक्त भाव होने से अशुद्ध नहीं होता है। इतना ही नहीं, पौद्‌गलिक सुख की असारता पर चिन्तन करते हुए उसके उदय में आए हुए कर्मों का क्षय भी होता है। कभी-कभी भोगावली कर्म इतने निकाचित होते हैं कि उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, अतः सम्यग्दृष्टि आत्मा वाला उदासीनता से भोगों को भोगकर उन कर्मों का क्षय कर देता है और नए अशुभ कर्मों का बंध नही करता है।

जैसे-किसी युवती का विवाह नहीं होता है तब तक वह अपने पिता के घर को ही अपना घर मानती है, वहाँ अपना अधिकार स्थापित करती है, लेकिन जैसे ही उसका विवाह हो जाता है, उसकी मान्यता बदल जाती

है। अब वह पिता के घर रहती भी है, खाती-पीती है, हँसती-बोलती है, लेकिन फिर भी उसने अपनी वृत्तियों को संकोच लिया है, वहाँ अपना अधिकार छोड़ दिया है। अब वह पितृगृह को पराया मानकर पिता के यहाँ रहती है। ठीक उसी प्रकार, सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति की मान्यता बदल जाती है। फिर वह पौद्गलिक सुख कदाचित् भोगता भी है, तो भी उसमें उसे रस नहीं आता है, आसक्ति भी नहीं होती है, इसलिए भोग भोगते हुए भी उसकी शुद्धि बनी रहती है।

पौद्गलिक पदार्थों और परिस्थिति का तात्त्विक-स्वरूप हमेशा एक जैसा नहीं होता। एक पदार्थ एक के लिए विष के समान होता है, तो वही पदार्थ दूसरे के लिए अमृत हो जाता है, जैसे-किसी रोगी के लिए घी, मिठाई आदि हानिकारक हैं, वे ही घी और मिठाई स्वस्थ युवा व्यक्ति के लिए पुष्टिकारक हैं। इसी प्रकार भोगोपभोग मिथ्यादृष्टि जीव को कर्म-मल से अशुद्ध करते हैं, तो सम्यग्दृष्टि अनासक्त जीव को कर्म-निर्जरा द्वारा शुद्ध बनाते हैं।

(१२६) विषयाणां ततो बंधजनने नियमोऽस्ति न।
अज्ञानिनां ततो बंधो ज्ञानिनां तु न कर्हिचित्।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए, विषयभोग कर्मबंध ही करते हैं- ऐसा एकांत नियम नहीं है। जो अज्ञानी है, वह उनसे कर्मबंध करता है, किंतु ज्ञानी के लिए वे ही निर्जरा का हेतु बन जाते हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> विषयों से हमेशा कर्मबंध होता ही है- यह एकांत नियम नहीं है। विषय तो जड़ हैं। कर्मबंध तो जीव के भाव के आधार पर ही होता है। विशिष्ट साधक पुरुष पूर्व कर्मोदय के कारण भोग भोगते हुए भी अंतर में रही हुई अनासक्ति के कारण कर्मबंध नहीं करता है, अपितु निर्जरा ही करता है, जैसे-सूखा नारियल का गोला कांचली के अंदर रहते हुए भी उससे पृथक् रहता है, जबकि गीला गोला कांचली से चिपका हुआ रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव सूखे गोले की तरह संसार में रहते हैं। वे संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होते हैं, जबकि अज्ञानी जीव गीले नारियल-गोले के समान राग-द्वेष, विषय, कषाय आदि में लिप्त होकर कर्मबन्ध करते हैं। ज्ञानी जीव संसार में रहते हैं, किंतु संसार उनके अन्दर

नहीं होता। नाव पानी में हो, वहाँ तक कोई समस्या नहीं है, किन्तु नाव में पानी भर जाए, तो नाव डूब जाती है, उसी तरह यदि व्यक्ति के अन्तर में संसार बस जाए, तो वह व्यक्ति संसार सागर में डूब जाता है। अज्ञानी और ज्ञानी की एक जैसी क्रिया होने पर भी एक को कर्मबंध होता है और एक को नहीं होता। जैसे-अज्ञानी जीव जो भोजन कर रहा है, वही भोजन ज्ञानी भी कर रहा है, किंतु अज्ञानी जीव उसमें आसक्त होकर राग द्वेष करके कर्मबन्ध करता है, जबकि ज्ञानी जीव निर्लिप्त रहकर, पुद्गल के स्वरूप का चिंतन करते हुए कर्म निर्जरा भी कर सकता है। प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानियों के कर्मबंध नहीं होता- इसे सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि उनको नरकादि अशुभ कर्मबंध नहीं होता है। देव और मनुष्य गति का बंध तो छठवें और सातवें गुणस्थान पर रहे हुए सम्यग्दृष्टि जीव को भी होता है।

(१२७) सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवमानो न सेवते।
कोपि पारजनो न स्याच्छ्रयन् परजनानपि।।२५।।

<u>अनुवाद –</u> कोई विषयों का सेवन नहीं करते हुए भी करते है और कोई सेवन करते हुए भी नहीं करते हैं, जैसे कोई व्यक्ति हमारे किसी शत्रु का आश्रय लेने पर भी हमारा शत्रु नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> कोई भी आचरण तीन प्रकार से हो सकता है। पहला- एक केवल द्रव्य से, दूसरा- एक केवल भाव से और तीसरा- द्रव्य और भाव-दोनों से। प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया है कि विषयों का सेवन केवल द्रव्य से और केवल भाव से भी होता है, जैसे- कोई व्यक्ति विषयों का सेवन द्रव्य से करने पर भी भाव से नहीं करता है, कोई व्यक्ति द्रव्य से सेवन नहीं करते हुए भी भाव से सेवन करता है, कोई व्यक्ति द्रव्य और भाव दोनों से सेवन करता है और कोई व्यक्ति न द्रव्य से सेवन करता है न भाव से जो चतुर्थ स्थिति है, वहीं आदर्श स्थिति है। परिस्थितिवश अज्ञानी जीव विषयों का सेवन द्रव्य से नहीं करते हुए भी, भाव से वह सदा विषय-सेवन के प्रति लालायित रहता है, इसलिए वह सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करता है और भावों के द्वारा अशुभ कर्मबंध करते है। कोई रोग हो जाने के कारण या भोग की वस्तु अनुपलब्ध होने पर या किसी के भय

से वह द्रव्य से, अर्थात् यथार्थतः विषय का सेवन नहीं कर पाता है, किंतु उसका मन तो विषयों में आसक्त रहता है। इसके विपरीत, सम्यग्दृष्टि जीव विषयों का सेवन द्रव्य से करते हुए भी अगर भाव से नहीं करता है, तो उनका सेवन करते हुए भी उसे अशुभ कर्मबंध नहीं होता है, इसलिए कहा गया है- 'वे सेवन करते हुए भी नहीं करते हैं।' जैसे-कोई व्यक्ति परिस्थितिवश अपने कुटुम्ब के शत्रु की सेवा में रहते हुए भी वह स्वजन के लिए शत्रु जैसा नहीं होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव परिस्थितिवश भोगों का सेवन करते हुए और संसार में रहते हुए भी हृदय से संसारी नहीं होता है। संसार में रहते हुए भी उसका मन तो संयम, तप आदि में ही रहता है। इस श्लोक में यह सूचित किया गया है कि द्रव्य की अपेक्षा भाव का महत्व अधिक है।

(१२८) अत एव महापुण्यविपाकोपहितश्रियाम्।
गर्भादारभ्य वैराग्यं नोत्तमानां विहन्यते।।२६।।

<u>अनुवाद</u> - इसलिए जिन महापुरुषों को महापुण्य के फलस्वरूप जो लक्ष्मी प्राप्त हुई है, ऐसे उत्तम पुरुषों का वैराग्य गर्भकाल से प्रारम्भ होकर कभी भी नष्ट नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ</u> - पुण्यानुबंधी पुण्य का उदय होने के कारण कितने ही महापुरुषों को गर्भकाल से ही ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि को अपार वैभव और भोग विलास की सामग्री प्राप्त होती है, जिसे उनको भोगना भी पड़ता है, परंतु तीर्थंकर तो गर्भकाल से ही वैराग्यवंत रहते हैं। अपार ऐश्वर्य और भोगसामग्री के बीच रहते हुए भी उनकी विरक्ति कभी नष्ट नहीं होती है। भोगों को भोगते हुए भी वे उनके प्रति आसक्त नहीं होते हैं।

(१२९) विषयेभ्यः प्रशान्तानामश्रान्तं विमुखीकृतैः।
करणैश्चारुवैराग्यमेष राजपथः किल।।।२७।।

<u>अनुवाद</u> - जो ऐन्द्रिक विषयों के प्रति प्रशान्त अर्थात् अनासक्त हो गए हैं, वे इन्द्रियों के विषयों में सतत विमुख रहते हैं। उनका वैराग्य सुन्दर या श्रेष्ठ होता है और वही राजमार्ग है।

<u>विशेषार्थ -</u> सभी व्यक्तियों के वैराग्य का अनुभव एक जैसा नहीं होता है। वैराग्य अनेक श्रेणियों का होता है। किसी का वैराग्य क्षणिक होता है, जिसे व्यवहार में श्मशान वैराग्य कहते हैं। किसी का वैराग्य भाव सुदृढ़ नहीं होता है, प्रलोभनों के आगे स्थिर नहीं रह पाता है। ऐसे व्यक्ति का मन भटक जाता है। वैराग्य के भावों में परिवर्तन होता रहता है। किसी का वैराग्य इतना प्रबल होता है कि बाह्य-दृष्टि से संसार में प्रवृत्ति होते हुए भी उसके अंतर में दृढ़ वैराग्य बना रहता है। इस प्रकार की दृढ़ वैराग्यवंत आत्माएँ परीक्षा के समय भी विचलित नहीं होती हैं, बड़े-बड़े प्रलोभनों के आगे भी नहीं झुकती हैं, किंतु एकांत में अवसर मिलने पर छोटे-से प्रलोभन के आगे भी शिथिल हो जाती हैं, अतः वैराग्य के स्थूल और सूक्ष्म प्रसंगों में राजमार्गरूपी श्रेष्ठ वैराग्य तो यही है कि विषयों से प्रशान्त इन्द्रियों को सतत विमुख रखा जाए, जिससे विकारों के उद्भव का अवकाश ही न हो और चित्त सरलता से निर्विकार रहे। ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ों (नौ नियमों) का पालन करना, गरिष्ठ भोजन नहीं करना, स्त्री से एकांत में बात नहीं करना, पूर्व भोगों का स्मरण नहीं करना आदि नियमों को पालन करने पर और स्वाध्याय, तप आदि में संलग्न रहने से इन्द्रियां सहज ही निर्विकारी हो जाती हैं और वैराग्य स्थिर रहता है। राजमार्ग, अर्थात् सम्यक्मार्ग वह मार्ग है, जो सर्वसामान्य के लिए सदैव अनुकूल रहता है।

(१३०) स्वयं निवर्तमानैस्तैरनुदीर्णैरयंत्रितैः।
तृप्तैर्ज्ञानवतां तत्स्यादसावेकपदी मता।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> बिना किसी प्रयत्न या पुरुषार्थ के भोगों से स्वतः ही निवृत्त हुई तृप्त इन्द्रियों द्वारा जो वैराग्य होता है, वह केड़ीमार्ग (पगडंडी) कहलाता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> पूर्व श्लोक में वैराग्य का राजमार्ग समझाया और प्रस्तुत श्लोक में वैराग्य का पगडंडी मार्ग बताया गया है। राजमार्ग सीधा सरल होता है, वहाँ भय नहीं होता है और वह सभी के लिए होता है, जबकि पगडंडी का मार्ग संकरा होता है, वहाँ से बहुत कम लोग गुजरते हैं, वहाँ भय भी होता है। एकपदी वैराग्य भी वैसा ही होता है, जो बहुत कम लोगों में होता है। कुछ ऐसे विरले ज्ञानी पुरुष होते है जिनको इन्द्रियों का दमन नहीं करना पड़ता है, अर्थात् उन्हें नियंत्रित करने के लिए कोई प्रयत्न या

संकल्प नहीं करना पड़ता है। उनकी इन्द्रियाँ सहज ही नियंत्रित रहती है। वे विषयों की तरफ आकर्षित होती ही नहीं हैं, इसलिए उन्हें विषयों से दूर करने का प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता है। उनका वैराग्य श्वांस की तरह सहज हो जाता है। जैसे-श्वास सहज ही अन्दर आती है और बाहर निकलती है, उसके लिए कोई प्रयत्न या श्रम नहीं करना पड़ता है उसी प्रकार कुछ महापुरुषों की इन्द्रियाँ सहज ही विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होती, इसलिए उन्हें इन्द्रियों को शांत करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उनकी यह साधना ही सहजयोग है।

(१३१) बलेन प्रेर्यमाणानि करणानि वनेभवत्।
न जातु वशतां यान्ति प्रत्युतानर्थवृद्धये।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> बल से प्रेरित इन्द्रियाँ वन के हाथी के समान कभी वश में नहीं होती हैं परंतु इसके विपरीत वे अनर्थ को बढ़ाने वाली होती हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> जीवन को संयमित रखने के लिए मनरूपी घोड़े पर लगाम रखना आवश्यक है, किन्तु यह भी सत्य है कि मन और इन्द्रियों को बलपूर्वक संयम में नहीं रखा जा सकता है। बल से, लज्जा से या किसी के भय से मन और इन्द्रियों को कब तक संयम में रखा जा सकता है ? स्प्रिंग को कितनी ही देर दबाकर रखा जाए, लेकिन जैसे ही दबाव हटता है, वह तीव्र वेग से ऊपर उछलकर आती है। मन में विकारों के आवेग उठते हों और तदनुसार स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राप्त करने के लिए चंचल बनी हों, परंतु संयोगों की प्रतिकूलता, निमित्त का अभाव, लज्जा या अपयश का भय, गुरु, राजदंड आदि के भय के कारण यदि इन्द्रियों को बलपूर्वक वश में रखा जाता है, तो ऐसी दमित स्थिति में अनेक अनर्थों का जन्म होता है। अशान्त इन्द्रियों को बलपूर्वक शांत करने से थोड़े समय तो वे शांत रह सकती हैं, किंतु निमित्त प्राप्त होते ही निरंकुश जंगली हाथी की तरह उत्पात मचाती हैं। जैसे-भवदेव ने भाई के पास पूर्व स्नेह या लज्जावश संयम तो ग्रहण कर लिया, किंतु वह अपनी पत्नी नागिला के प्रति राग को नहीं छोड़ पाया। वह भ्राता की आज्ञा से या संकोच से बारह वर्ष तक अपनी विषयेच्छा को दबाकर संयम का पालन करता रहा, किंतु जैसे ही उसके भ्राता मुनि का देवलोक हुआ, वैसे ही

उसकी दबी हुई विषयेच्छा जाग्रत हो गई और उसने संयम का परित्याग करने का विचार कर लिया। कहने का आशय यह है कि बलपूर्वक मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने से साधना में सफलता प्राप्त नहीं होती है। ज्ञान, श्रद्धा और संयम में रुचि जाग्रत होने पर मन और इन्द्रियाँ सहज ही नियंत्रित हो जाते हैं। मन और इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति को नियंत्रण करने का एक और उपाय है कि उसे शुभ प्रवृत्ति में जोड़ दिया जाए। जैसे-कोई बालक अधिक मात्रा में चॉकलेट खाता है, उसे छुड़ाने के लिए उस पर दबाव डालने के बजाय उसे उसकी अन्य मनपसंद वस्तु दे दी जाए, तो वह सहज ही चॉकलेट खाना छोड़ देगा। यह मन भी बालक के समान है, इसे निरंतर शुभ प्रवृत्ति में जोड़े रखने पर यह अशुभ प्रवृत्ति अपने आप छोड़ देता है।

(१३२) पश्यन्ति लज्जया नीचैर्दुर्ध्यानं च प्रयुंजते।
आत्मानं धार्मिकाभासाः क्षिपन्ति नरकावटे।।३०।।

<u>अनुवाद -</u> धर्म का दिखावा या ढोंग करने वाले व्यक्ति अपनी विनम्रता या संकोची स्वभाव का प्रदर्शन करने के लिए नीची नजर रखते हैं, परंतु उनके मन में दुर्ध्यान का चक्र चलता रहता है। इस प्रकार वे अपनी आत्मा को नरक कूप में डालते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> असली वस्तु से भी नकली वस्तु की चमक अधिक प्रतीत होती है। कई साधुओं को संयम जीवन कष्टमय प्रतीत होता है। वे उसका पालन करने में समर्थ भी नहीं होते हैं, लेकिन फिर भी बाह्याचार, वेश एवं व्यवहार से वे यह आभास कराते है कि वे एक उत्कृष्ट चारित्रधर साधु हैं। उठते-बैठते या चलते हुए नीची नजर रखकर वे यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि वे बहुत नम्र और मर्यादाओं से युक्त हैं, लेकिन उनके मन में विषयों के सेवन की आकांक्षा चलती रहती है। इस प्रकार अनिच्छा से तन के द्वारा संयम पालन करते हुए भी मन से दुष्ट चिंतन करने के कारण वे अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेते है और अपनी आत्मा को दुर्गति का अधिकारी बना देते हैं, उसे नरक के कुएं में धकेल देते हैं, जहाँ दुःख ही दुःख है। वैसे तो जिस समय व्यक्ति के मन में अशुभ विचार उत्पन्न होता है, उसी समय उसका मन नरक बन जाता है। तथ्य यह है कि शुभ भावनाओं से व्यक्ति

इसी जीवन में स्वर्गीय सुखों का अनुभव करता है और अशुभ भावनाओं से नारकीय-वेदना का भविष्य में तो आत्मा की दुर्गति होती है, लेकिन वर्तमान में भी वह दुर्भावों के कारण दुःखी होता है।

(१३३) वंचनं करणानां तद्विरक्तः कर्तुमर्हति।
सद्भावविनियोगेन सदा स्वान्यविभागवित्।।३१।।

<u>अनुवाद -</u> स्व और पर के स्वभाव (विभाग) को जानने वाले विरक्त योगियों को सद्भावना से भावित होकर हमेशा इन्द्रियजन्य इच्छाओं का त्याग करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> संसार से विरक्त ज्ञानियों के पास इन्द्रियों को दुर्विषयों से विमुक्त करने की सुंदर कला होती है। जिस तरह गलत प्रवृत्तियों में रुचि रख रहे बालक को समझाने के लिए उसे बहलाकर तथा गलत प्रवृत्तियों से उसका ध्यान हटाकर अच्छी प्रवृत्तियों की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष को शुभ भावना से भावित होकर अपनी इन्द्रियों को स्वभाव या विभाव, अथवा उचित-अनुचित का भेद समझाकर दुष्प्रवृत्तियों से दूर करना चाहिए। यहाँ इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करने में दुष्टभाव नहीं है, परंतु आत्महित का शुभभाव रहा हुआ है। भेद-विज्ञान को पुष्ट करने के लिए अनित्यादि बारह भावना का चिंतन करते हुए स्वभाव और विभाव का विचार करके स्व में रमण करना, स्व में सम्बन्ध स्थापित करना ही कल्याण का मार्ग है। आहार, शरीर आदि भोगपदार्थ परद्रव्य हैं, उनमें आसक्ति रखना विभाव है। 'पर प्रविष्टः कुरुते विनाशं', अर्थात् पर का प्रवेश विनाश का कारण है यह लोकोक्ति असत्य नहीं है, अतः इन्द्रियों की विषयों की ओर प्रवृत्ति को रोककर स्वद्रव्य (आत्मस्वरूप) के महत्त्व को समझाना चाहिए। इस प्रकार इन्द्रियों को बलपूर्वक नहीं, बल्कि प्रेमपूर्वक बहलाकर स्वभाव की ओर उनको आकर्षित करना चाहिए। जीव को तत्त्वज्ञान की रुचिरूप अमृत का पान निरन्तर कराते रहने से स्थूल भोगेच्छारूप क्षुधा शान्त हो जाती है। इससे वैराग्य सहज बन जाता है। स्व और पर का भेद ज्ञान स्पष्ट होने पर ही आत्मकल्याण के मार्ग को साधा जा सकता है।

(१३४) प्रवृत्तेर्वा निवृत्तेर्वा न संकल्पो न च श्रमः।
विकारो हीयतेऽक्षाणामिति वैराग्यमद्भुतम्।।३२।।

<u>अनुवाद -</u> प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में कोई संकल्प नहीं और श्रम नहीं साथ ही इन्द्रियों के विकार क्षीण होते जाते हैं, तो वह वैराग्य अद्भुत कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> वैराग्य की विभिन्न श्रेणियों में एक विरल वैराग्य होता है। प्रस्तुत श्लोक में इस अद्भुत वैराग्य के लक्षण बताए गए हैं। संसार में भोगोपभोग पदार्थों के साथ प्रायः प्राणी का दो प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है, एक-प्रवृत्ति का और दूसरा-निवृत्ति का। प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनों के साथ संकल्प और प्रयास जुड़ा होता है। इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति करने के लिए पहले संकल्प किया जाता है, विचार किया जाता है, फिर उसमें प्रवृत्ति करने के लिए प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार विषयों से निवृत्ति के लिए भी संकल्प किया जाता है, फिर श्रम किया जाता है। इस प्रकार प्रायः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो संकल्प और विकल्प के साथ जुड़ी हुई रहती हैं, परंतु ज्ञान की उच्च्य भूमिका पर स्थित महापुरुषों की स्थिति भिन्न होती है। वे प्रवृत्ति करते भी हैं, तो उसके लिए कोई संकल्प, इच्छा या आसक्ति नहीं होती है, इसलिए वे कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता ही रहते है। उनकी प्रवृत्ति सहज होती है, उसके लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ता है, उसी प्रकार निवृत्ति भी सहज स्वभावरूप ही होती है। इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होने के लिए भी उनको कोई संकल्प या प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। ऐसे वैराग्यवंत महापुरुषों के चित्त में यत्किंचित विकार रह भी गए हों, तो वे उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते है। यह वैराग्य की अद्भुत दशा होती है।

(१३५) दारुयंत्रस्थपांचाली नृत्यतुल्याः प्रवृत्तयः।
योगिनो नैव बाधायै ज्ञानिनो लोकवर्तिनः।।३३।।

<u>अनुवाद -</u> काष्ठ के यंत्र में रही हुई पुतलियों के नृत्य के समान प्रवृत्तियाँ भी संसार में रहने वाले ज्ञानी और योगी को बाधाकारक नहीं होती है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में कठपुतली का उदाहरण देते हुए बताया गया है कि ज्ञानयुक्त योगी की प्रवृत्तियाँ भी कठपुतली की तरह ही होती हैं। जैसे कठपुतली नृत्य हर्ष शोक आदि विभिन्न प्रकार के हावभाव करती है, परंतु वे सारी चेष्टाएँ अपनी इच्छानुसार नहीं करती है, क्योंकि वह तो कठपुतली है, उसे जैसे सूत्रधार नचाता है, वैसे ही वह नाचती है, उसके अपने कोई हाव-भाव नहीं होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी और योगी पुरुषों की लौकिक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, उनमें उनकी कोई आसक्ति नहीं होती है। 'कर्म नचावत तिम ही हुँ नाचत', ऐसी स्थिति योगी पुरुषों की भी होती है। यहाँ ज्ञानी के साथ योगी का विशेषण भी जोड़ा गया है। उसका कारण यह है कि जो शास्त्रों का ज्ञाता हो, श्रुतज्ञान का श्रेष्ठ अभ्यासी हो, लेकिन जिसे मन-वचन-काया पर संयम नहीं हो, ऐसे शुष्क ज्ञानी के लिए यह दृष्टान्त नहीं दिया गया है। असंयमी, मात्र शुष्क ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानी को भोगविलास के निमित्त प्राप्त होते ही पतित होने के अनेक दृष्टान्त है। बिना संयम के ज्ञान तो मात्र अहंकार उत्पन्न करता है, इसलिए ज्ञानी के साथ योगी शब्द भी जोड़ा गया है। ज्ञान संपादन के साथ-साथ संयम की भी जिसने आराधना की हो, ऐसे योगी पुरुष निमित्त प्राप्त होने पर भी पतित नहीं होते हैं और नए कर्मबन्ध भी नहीं करते हैं। कितने ही सम्यग्दृष्टि योगी महापुरुष लौकिक व्यवहार में होते है। लौकिक व्यवहार में उनकी अनेक सांसारिक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, किन्तु वे प्रायः पूर्वबद्ध निकाचित कर्म के उदयानुसार होती हैं। उन प्रवृत्तियों में वे आसक्त नहीं होते, उन्हें भोगते हुए भी निर्लेप ही रहते है। उनकी व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ भी कठपुतली के नृत्य की तरह होती है। लेकिन उनके अंतर में तो वैराग्य ही रहता है।

(१३६) इयं च योगमायेति प्रकटं गीयते परैः।
लोकानुग्रह हेत्वान्नास्यामपि च दूषणम्।।३४।।

अनुवाद - इस वैराग्यदशा को अन्य दर्शन वाले लोग प्रकट रूप से योगमाया कहते हैं, परंतु लोकोपकार (परोपकार) का हेतु होने से इसमें दूषण नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> रसबुद्धि निवृत्त हो जाने के बाद सम्यग्दृष्टि जीव को जब भोगों की प्राप्ति होती है, तब उन तत्त्वज्ञ महापुरुष के चित्त में किन्चिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता हैं। भोग प्रवृत्ति होने पर भी वैराग्यदशा हो, तो ऐसी दशा को अन्यदर्शनी योगमाया कहते हैं। रसबुद्धि निवृत्त हो जाने से वे अपने सुख के लिए किसी विषय में प्रवृत्त नहीं होते हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित और सुख के लिए होती है। अपने सुख के लिए किया गया विषयों का चिन्तन भी पतन करने वाला होता है, जबकि अपने सुख प्राप्ति की आकांक्षा से नहीं, निकाचित कर्म के उदय से किया गया विषयों का सेवन भी बन्धनकारक नहीं होता।

अंतर में वैराग्य होने पर भी बाहर भोग प्रवृत्ति होती है या लोक-कल्याण के लिए, परोपकार के लिए, सांसारिक-प्रवृत्ति करना पड़ती है। इन प्रवृत्तियों से वह दूषित नहीं होता है। कान्ता-दृष्टि से युक्त अविरतसम्यग्दृष्टि जीव की स्थिति ऐसी ही रहती है।

मुनि जीवन में भी कभी-कभी संघ की रक्षा के लिए, जिनशासन की रक्षा के लिए, धर्म की रक्षा के लिए अपवादस्वरूप इस प्रकार की लौकिक प्रवृत्ति के दृष्टान्त शास्त्रों में आते हैं। जैसे-कालिकाचार्य द्वारा युद्ध किया गया, मुनि विष्णुकुमार द्वारा संघ की रक्षा के लिए नमुचि का अपकर्ष करना पड़ा आदि। इस प्रकार की बाह्य प्रवृत्ति करते हुए भी उनकी आत्मा आन्तरिक-रूप से शुद्ध रही, निर्विकार रही। इसे ही अन्य दर्शनों में योगमाया कहा गया है।

(१३७) सिद्धान्ते श्रूयते चेयमपवादपदेष्वपि।
मृगपर्षत्परित्रासनिरासफलसंगता।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार की स्थिति जैनागमों में भी अपवादस्वरूप बताई गई है। मृगों की पर्षदा के त्रास के निवारणरूप फल के साथ वह संगत है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में कहा गया है कि लोक कल्याण के हेतु से की गई योगमाया जैसी प्रवृत्ति दोषरूप नहीं है। इसी अनुसंधान में प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने स्पष्ट किया है कि जैनागमों में भी अपवादस्वरूप इस प्रकार की प्रवृत्ति का वर्णन है। इस प्रकार की प्रवृत्ति कोई गीतार्थ साधु ही कर

सकता है, सामान्य साधक नहीं। गीतार्थ मुनि भी इसे अपवाद के रूप में ही करता है, सिद्धान्त के रूप में नहीं। यहाँ दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे मृगों का समूह शिकारी के जाल में पीड़ित हो रहा है, भयभीत हो रहा है, तो कोई व्यक्ति करुणा करके उनको उस जाल से मुक्त कर देता है। इससे शिकारी को कष्ट हुआ, लेकिन मृगों की जान बच गई। उसी प्रकार मृग, अर्थात् अज्ञानी जीवों या निर्दोष जीवों का संकट दूर करने के लिए, संघ पर आई आपत्ति को दूर करने के लिए, जिनशासन की प्रभावना के लिए, गीतार्थ मुनि अपवादरूप से अपनी लब्धि आदि का उपयोग कर सकता है।

(१३८) औदासीन्यफले ज्ञाने परिपाकमुपेयुषि।
चतुर्थेऽपि गुणस्थाने तद्वैराग्यं व्यवस्थितम्।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> उदासीनता के फल वाला ज्ञान परिपक्वता को प्राप्त करता है, अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान (अविरतसम्यग्दृष्टि) में भी वैराग्य व्यवस्थित रूप से होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> सम्यग्ज्ञान का फल है-उदासीनता अर्थात् व्यक्ति को जैसे ही स्व पर का भेद विज्ञान परिपुष्ट होता है, वैसे ही वह संसार के प्रति उदासीन हो जाता है। उदासीनता से व्यक्ति में निस्पृहता आती है और माध्यस्थ भाव प्राप्त होता है। उसमें अनुकूल के प्रति राग तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष नहीं होता है। यही स्थिति चतुर्थ गुणस्थान पर रहे हुए अविरत सम्यग्दृष्टि की होती है। पूर्वबद्ध भोगावलि के कर्मोदय से भोग भोगते हुए भी उसके अन्तर में उदासीनतारूप वैराग्य रहा हुआ होता है। इस सम्बन्ध में भरत चक्रवर्ती, विदेहराज जनक आदि के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं।

-----ooo-----

प्रबंध-द्वितीय

छठवाँ अधिकार - वैराग्यभेद अधिकार

(१३६) तद्वैराग्यं स्मृतं दुःखमोहज्ञानान्वयात्त्रिधा।
तत्राद्यं विषयाप्राप्तेः संसारोद्वेगलक्षणम्।।१।।

अनुवाद - वह वैराग्य दुःखगर्भित, मोहगर्भित और ज्ञानगर्भित - इस तरह से तीन प्रकार का होता है। उसमें प्रथम (दुःखगर्भित) वैराग्य, विषयों की प्राप्ति नहीं होने से संसार के उद्वेगरूप में होता है।

विशेषार्थ - वैराग्य उत्पन्न होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उन्हीं के आधार पर यहाँ वैराग्य के तीन भेद बताए गए हैं - १. दुःखगर्भित वैराग्य २. मोहगर्भित वैराग्य और ३. ज्ञानगर्भित वैराग्य। इनमें सर्वप्रथम दुःखगर्भित वैराग्य है। संसार में सबसे अधिक प्रमाण में दुःखगर्भित वैराग्य होता है, अर्थात् दुःख के कारण संसार के प्रति उदासीनता होती है। इस संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं। व्यक्ति की इच्छाएँ अनंत हैं और सभी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती है। जब मनुष्य को मनवांछित पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है या कोई उसके साथ विश्वासघात कर देता है या पुत्रादि आज्ञाकारी नहीं होते हैं, पत्नी क्लेशकारी होती है या अचानक युवा पुत्र की या पत्नी की मृत्यु हो जाती है, व्यापार में सफलता नहीं मिलती है, इस प्रकार की कोई दुःखद घटना घट जाने पर या उसकी विषयेच्छा पूरी न होने पर उसे क्रोध आता है, वह तनावग्रस्त हो जाता है और कामनाओं के सफल नहीं होने से वह संसार के प्रति उदासीन हो जाता है। उसे संसार में सार नजर नहीं आता है। लोक में इस प्रकार की कहावत भी है-

नारी मुई घर सम्पत्ति नासी।
मुण्ड मुण्डाए भए सन्यासी।।

जिसके गर्भ में दुःख रहा हुआ हो, वह वैराग्य दुःखगर्भित वैराग्य कहलाता है। यह वैराग्य तात्त्विक नहीं होता है। स्थायी भी नहीं होता है।

(१४०) अत्रांगमनसोः खेदो ज्ञानमाप्यायकं न यत्।
निजाभीप्सितलाभे च, विनिपातोऽपि जायते।।२।।

<u>अनुवाद -</u> इसमें शरीर और मन को कष्ट होता है, क्योंकि यहाँ तृप्त करने वाला ज्ञान नहीं होता। इस कारण से स्वयं की इच्छित वस्तु उसे प्राप्त हो जाए, तो उसका पतन भी हो जाता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> प्रायः जिसे सांसारिक कष्टों के कारण वैराग्य हो गया है, उसे वैराग्य से प्राप्त आन्तरिक आनंद की अनुभूति नहीं होती है, बल्कि उसके मन में खेद होता है, शरीर भी कष्ट अनुभव करता है। जो शारीरिक और मानसिक-कष्ट वैराग्य प्राप्ति के पहले अनुभव करता था, वही कष्ट वह बाद में भी अनुभव करता है। उन कष्टों के कारण ही उसे संसार की असारता नजर आती है, परंतु पौद्‌गलिक-सुखों के प्रति आसक्ति कम नहीं होती। कष्टों से घबराकर प्राप्त हुए वैराग्य से प्रेरित होकर कभी वह संयम ग्रहण करता है, तो वहाँ भी उसका मन स्थिर नहीं होता। अल्प प्रतिकूलता में वह कष्ट अनुभव करता है, क्योंकि शरीर से वह सन्यासी होता है, किन्तु मन में संयम के प्रति उसे रुचि नहीं होती। वह तो वहाँ भी पौद्‌गलिक-अनुकूलता को ही ढूंढता है। स्वाध्याय आदि में भी उसकी रुचि नहीं होती। इस कारण उसके ज्ञान में भी वृद्धि नहीं होती है। दुःखगर्भित वैराग्य के बाद भी अगर जीव संयम ग्रहण कर ज्ञानार्जन करे तथा स्वाध्याय, तप आदि में रत रहे, तो फिर उसे कोई शारीरिक या मानसिक-कष्ट अनुभव नहीं होता है। नहीं तो, संयम ग्रहण करने के बाद भी अल्प परिषह से घबराकर और इच्छानुसार अनुकूलता मिलते ही वह वापस संसार में आ जाता है। दुःख से प्रेरित वैराग्य प्रायः स्थिर नहीं रहता है। जैसे- वह व्यापार में नुकसान अधिक हो गया, करोड़पति कंगारु हो गया, तो उसे संसार से क्षणिक वैराग्य हो जाता है, लेकिन जैसे ही लाभ की संभावना होती है, उसका वैराग्य कपूर की तरह गायब हो जाता है और वह फिर से संसार में आसक्त हो जाता है। दुःखगर्भित वैराग्य में पतन की संभावना अधिक रहती है।

(१४१) दुःखाद्विरक्ताः प्रागेवेच्छन्ति प्रत्यागतेः पदम्।
अधीरा इव संग्रामे प्रविशन्तो वनादिकम्।।३।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे युद्ध में जाने वाले कायर पुरुष पहले से ही वन में छिप जाने की इच्छा रखते हैं, वैसे ही दुःखगर्भित वैराग्यवंत पुरुष पहले से ही (दीक्षा ग्रहण के पूर्व) वापस लौटने की इच्छा रखते है।

<u>विशेषार्थ -</u> जिस प्रकार युद्ध में वीर व्यक्ति ही ठहर सकता है, कायर व्यक्ति तो पहले से ही भागने की इच्छा रखता है, उसी प्रकार संयम में भी जो महावीर है, वह ही स्थिर रह सकता है, कहा भी गया है -

त्यागियों की यह संस्था है, कायरों का यहाँ काम नहीं।
पंचमहाव्रत का पालन करते, शूरवीर का मुकाम यहीं।।

कई बार व्यक्ति घर की परिस्थितियों से परेशान होकर संयम ग्रहण कर लेता है, किंतु संयम-जीवन के परिषह भी वह सहन नहीं कर सकता। संयम जीवन उसे कष्टमय प्रतीत होता है, तो अब क्या करना ? 'घर का जला वन में गया और वन में भी लगी आग'- ऐसी स्थिति हो जाती है। संसार में और संन्यास में-दोनों जगह उसे शांति प्राप्त नहीं होती। कुछ दुःखगर्भित वैराग्यवंत लोग संयम स्वीकार करने से पहले ही विचार कर लेते है कि अगर संयमजीवन प्रतिकूल लगा, तो फिर संसार में किस तरह लौटना, कैसे जीवन का निर्वाह करना है। संयम जीवन स्वीकारने के बाद अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए उनका चिंतन चलता रहता है और एक समय ऐसा आता है कि कुछ भक्तों को विश्वास में लेकर अपनी व्यवस्था करके संयम छोड़कर वे संसारी हो जाते हैं, गृहस्थावास में रहने लगते है। प्राचीन समय से लेकर सम्प्रति तक इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं।

प्राचीनकाल में जब युद्ध होते थे, तो सभी सैनिक अपनी इच्छानुसार युद्ध में नहीं जाते थे। कितने ही व्यक्तियों को राजाज्ञा के कारण मजबूर होकर युद्ध में जाना पड़ता था। युद्ध से भयभीत, कायर व्यक्ति बिना इच्छा से जब युद्ध में जाते, तो वे पूर्व से ही वन में अपने छुपने के लिए सुरक्षित स्थान ढूंढ कर रखते थे। फिर युद्ध के दौरान ही वे भागकर अपने सुरक्षित स्थान पर छुप जाते थे। इस कारण उन्हें न दुश्मन पकड़ सकते थे और न

ही राज्य के अधिकारी। दुःखगर्भित वैराग्यवंत व्यक्ति भी कायर सैनिक की तरह पूर्वयोजना बनाकर वैराग्य के क्षेत्र में कदम रखता है, इसलिए दुःखगर्भित वैराग्यवंत आत्मा जब संयम ग्रहण करने आए, तो गुरु आदि को उसे दीक्षा देने की शीघ्रता नहीं करना चाहिए, उसकी परीक्षा लेना चाहिए। संयमी जीवन के परिषहों से भी उसका परिचय करवाना चाहिए तथा ज्ञान के द्वारा उसके वैराग्य को परिपक्व करना चाहिए।

(१४२) शुष्कतर्कादिकं किंचिद्वैघकादिकमप्यहो।
पठन्ति ते शमनदीं न तु सिद्धान्तपद्धतिम।।४।।

अनुवाद - वे दुःखगर्भित वैराग्यवासित साधक शुष्क तर्कशास्त्र आदि का या वैद्यकशास्त्र आदि का अभ्यास करते हैं, परंतु शम की नदीरूप आध्यात्मिक ज्ञान का अभ्यास नहीं करते हैं।

विशेषार्थ - जिस व्यक्ति ने सांसारिक दुःखों से घबराकर संयम ग्रहण तो कर लिया परंतु पौद्‌गलिक सुखों को प्राप्त करने की उसकी तृष्णा छूटी नहीं, अतः 'न घर का रहा न घाट का'- उसकी ऐसी विचित्र स्थिति हो जाती है। अब उसके गृहस्थ-जीवन में भी जाने की अनुकूलता नहीं रहती है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में वापस लौटने पर वह अपनी प्रतिष्ठा कायम नहीं रख सकता है। इधर सद्‌शास्त्रों के अभ्यास में मन नहीं लगता है, अतः अज्ञानता के कारण समाज में भी सम्मान नहीं मिलता, इसलिए ऐसा साधु अपनी अपात्रता को छुपाने के लिए तथा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कुछ रास्ते, जैसे- निमित्तशास्त्र या वैद्यक-ज्ञान आदि के रूप में ढूंढ लेता हैं। वह अपने शिथिलाचार का बचाव करने के लिए शुष्क तर्क वाले ग्रंथों को पढ़कर उनके आधार पर कुतर्क करता है। अन्य शिथिलाचारियों के दृष्टान्त देकर उनसे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

इस संसार में सभी व्यक्ति सुख चाहते हैं, दुःख को सब दूर से ही नमस्कार करते है, किंतु फिर भी प्रायः सभी व्यक्ति किसी न किसी कष्ट या रोग से पीड़ित हैं, अतः अज्ञानी प्राणी अपने दुःखों या रोगों से मुक्त होने के लिए किसी चमत्कार की खोज में रहते हैं।ऐसे साधु ज्योतिष शास्त्र, मंत्र-तंत्र, डोरा-धागा, वैद्यक आदि अनेक चमत्कार वाली विद्याएँ सीख लेते हैं और भोले-भाले प्राणियों को, अपने अंध भक्तों को अपनी ओर आकर्षित

कर लेते हैं तथा अपनी जय-जयकार करवाते है। अवसर मिलने पर गुप्त रूप से द्रव्योपार्जन भी कर लेते हैं और आर्थिक-रूप से निश्चिंत हो जाने पर दीक्षा छोड़कर गृहस्थ जीवन में आ जाते हैं, अथवा कई बार मुनि-जीवन में रहकर ही अपनी वासनाओं का पोषण करते हैं। इस प्रकार के साधुओं को अपनी आत्मिक उन्नति की इच्छा नहीं होती है, इसलिए तत्त्वज्ञान में उनकी रुचि नहीं होती है, इसलिए वे अन्तर्मुखी होकर उपशम-रस का कभी आस्वादन नहीं कर सकते हैं।

(१४३) ग्रंथपल्लवबोधेन गर्वोष्माणं च बिभ्रति।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति प्रशमामृतनिर्झरम्।।५।।

<u>अनुवाद -</u> ग्रंथों का पल्लवग्राही सतही ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति अहंकार की ऊष्मा को धारण कर लेता है, अर्थात् अपने को पण्डित मान लेता है। फलतः, प्रशमरूपी अमृत के झरने के समान तत्त्व के रहस्य को नहीं जान पाता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> पल्लवग्राही पांडित्य वाला व्यक्ति अनेक ग्रंथों के प्रमुख-प्रमुख कुछ श्लोक कंठस्थ करके अवसर-बेअवसर उन श्लोकों को तोतारटन्त की तरह बोलकर अपना पांडित्य प्रदर्शित करता है तथा स्वयं को उन ग्रंथों का गहरा अभ्यास किए हुए के रूप में प्रतिस्थापित करता है। साधु-जीवन में भी इस तरह के पल्लवग्राही पांडित्य से गर्व आने की संभावना रहती है। कहा भी गया है- 'अधजल गगरी छलकत जाय', अधूरा घड़ा ज्यादा छलकता है, अर्थात् अल्पज्ञानी अपना पांडित्य प्रदर्शित करते हुए गर्व से उन्मत्त हो जाता है। जो व्यक्ति सतही पानी पर तैर रहे होते हैं, वे बोल सकते हैं, परंतु जो पानी में डुबकी लगा लेते हैं, वे पानी में बोल नहीं सकते हैं, इसी प्रकार जिनका ज्ञान सतही है, वे ही वृथा बकवास करते हैं, परंतु गंभीर ज्ञानी तो मौन ही रहते हैं, बहुत आवश्यक होने पर वे बहुत सोच समझकर ही कुछ बोलते हैं। तात्त्विक ग्रंथों का सम्पूर्ण एवं गहन परिशीलन करने पर ही तत्त्व का आस्वादन होता है, उसका रहस्य प्राप्त होता है। इससे व्यक्ति में रहा हुआ गर्व भी विगलित हो जाता है। वह विनम्र बन जाता है तथा आंतरिक आनंद की अनुभूति करता है, जबकि

पांडित्य के दम्भ को धारण करने वाला व्यक्ति प्रशमरूपी अमृत के झरने का पान नहीं कर पाता है।

(१४४) वेषमात्रभृतोऽप्येते गृहस्थान्नातिशेरते।
न पूर्वोत्थायिनो यस्मान्नापि पश्चान्निपातिनः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जो साधु का वेशमात्र धारण करते हैं, वे गृहस्थ से अधिक नहीं हैं। उनका पूर्व स्थिति की अपेक्षा उत्थान भी नहीं होता है और पतन भी नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> कई व्यक्ति दुःखगर्भित वैराग्य प्राप्त कर संयम ग्रहण कर लेते है, परंतु वे मात्र वेश से ही मुनि कहलाते हैं। उनमें सच्चे साधुत्व के लक्षण प्रकट नहीं होते हैं। ऐसे व्यक्ति मुनि वेश को छोड़कर शेष व्यवहार में गृहस्थ के समान ही होते हैं। उनका उठना, बैठना, बोलना आदि क्रियाएँ गृहस्थ के समान ही होती हैं। मात्र वेशधारी ऐसे मुनियों की भी अनेक श्रेणियाँ होती हैं। कुछ मुनि अपने प्राथमिक-जीवन से अल्प प्रगति करते हैं और कुछ मुनि गृहस्थ से भी अधिक शिथिल हो जाते हैं, अर्थात् उनका नैतिक अधःपतन हो जाता है। झूठ, छल, कपट आदि करके वे अपनी वृत्तियों का पोषण करते रहते हैं, परंतु प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने ऐसे मुनियों की चर्चा की है, जो न पूर्वोत्थायी है और न पश्चात्-निपाती, अर्थात् गृहस्थ-जीवन से मुनि बने, किन्तु मात्र वेश से, व्यवहार से तो वे गृहस्थ जैसे ही रहे। उन्होंने अपना थोड़ा भी आत्मविकास नहीं किया। वे जहाँ थे, वहीं के वहीं रहे। उनका न उत्थान हुआ, न पतन।

(१४५) गृहेऽन्नमात्रदौर्लभ्यं लभ्यन्ते मोदका व्रते।
वैराग्यस्यायमर्थो हि दुःखगर्भस्य लक्षणम्।।७।।

<u>अनुवाद -</u> गृही जीवन में तो पेटभर अन्न भी उपलब्ध नहीं हो पाता है, किन्तु व्रत ग्रहण करने पर, अर्थात् मुनि बनने पर लड्डू मिलेंगे, जिस वैराग्य में इस प्रकार का भाव (आशय) होता है, वह भी दुःखगर्भित वैराग्य का लक्षण है।

<u>विशेषार्थ :-</u> व्यक्ति पुण्य के उदय से सुखानुभव करता है, उसे सब प्रकार की अनुकूलताएँ मिलती हैं। पाप के उदय से वह दुःखी होता है,

उसके लिए परिस्थितियां भी प्रतिकूल होती है। शुभ कर्म का फल पुण्य और अशुभ कर्म का फल पाप है। अशुभ कर्म के उदय से जीव को निर्धनता प्राप्त होती है, व्यवसाय में हानि होती है, कहीं सफलता भी नहीं मिलती है। कभी-कभी तो घर में पेटपूर्ति इतना अन्न भी नहीं होता है। दूसरी तरफ, मुनि भगवन्तों को घी, दूध, विभिन्न प्रकार के मिष्ठान्न आदि श्रावक आग्रहपूर्वक प्रदान करते हैं। यह देखकर निर्धन व्यक्ति का मन भी दीक्षा के लिए उल्लसित हो जाता है। इस प्रकार का वैराग्य दुःखगर्भित वैराग्य कहलाता है। उसमें वास्तविक वैराग्य प्रगट नहीं होता। "दिवस गँवायों खाई के अने रात गँवाई सोई"- उसकी ऐसी स्थिति रहती है। उसका चिंतन यही रहता है कि यहाँ न तो कठोर परिश्रम करना पड़ता है, न कमाने की चिंता रहती है, न बनाने की, साथ ही षट्रस भोजन और मान-सम्मान भी मिलता है। ऐसा अयोग्य व्यक्ति प्रत्येक धर्म की साधु संस्था में सम्मिलित हो जाता है। उसके लिए यह लोकोक्ति प्रचलित है -

नहीं त्याग नहीं तप, नहीं स्वाध्याय नो खप,
लीधा झोली पातरा अने उभी आव्या टप।

उसे संयम स्वीकारने में तीन गुण नजर आते है।

"मूंड मुंडाये तीन गुण, सिर की मिटी खाज,
खाने को लड्डू मिले, लोग कहे महाराज।", अर्थात्

१. सिर मुंडन से सिर की खुजली मिट जाती है।

२. खाने को लड्डू मिलते हैं।

३. लोग मान-सम्मान देते हैं, अर्थात् महाराज कहकर बुलाते हैं।

इस प्रकार का दुःखगर्भित वैराग्य आत्मविकास में सहायक नहीं होता है।

(१४६) कुशास्त्राभ्याससंभूत-भवनैर्गुण्यदर्शनात्।
मोहगर्भं तु वैराग्यम् मतं बाल तपस्विनाम्।।८।।

अनुवाद - अन्य शास्त्रों के अभ्यास से संसार की असारता का जो ज्ञान होता है और इससे जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह मोहगर्भित वैराग्य कहलाता है। यह बाल तपस्वियों को होता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में मोहगर्भित वैराग्य का स्वरूप बताया गया है। ऐसा वैराग्य अन्य शास्त्रों के ऐकांतिक अभ्यास से भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु इनके अध्ययन से संसार का सत्य स्वरूप समझ में नहीं आता है। ये ऐकांतिक आग्रह की ओर ले जाते हैं। जैसे-बौद्धदर्शन में संसार को क्षणिक बताया गया है। वे भी संसार को असारभूत मानते हैं। वेदान्त दर्शन में "ब्रह्म सत्यं जगन्निमथ्या" कहकर संसार को मिथ्या या स्वप्नवत् बताया गया है। इन दर्शन शास्त्रों के अभ्यास से भी बाल जीवों को संसार की असारता का ज्ञान होता है और उनको संसार के प्रति अरुचि हो जाती है, इस कारण से उन्हें भी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, किन्तु ऐसे वैराग्य को मोहगर्भित वैराग्य कहते हैं। मोह, अर्थात् मिथ्याज्ञान। इस प्रकार का वैराग्य प्राथमिक भूमिका पर स्थित अज्ञानी साधकों को होता है। इनके अभ्यास से व्यक्ति दुराग्रही तथा वितंडावादी हो जाता है।

सत्शास्त्रों के अभ्यास से प्राप्त वैराग्य से व्यक्ति दुराग्रही नहीं होता है। उसे शुष्क वादविवाद में रुचि नहीं होती है। वह अध्यात्म रस में निमग्न रहता है।

(१४७) सिद्धान्तमुपजीव्यापि ये विरूद्धार्थभाषिणः।
तेषामप्येतदेवेष्टं कुर्वतामपि दुष्करम्।।६।।

अनुवाद - सिद्धान्त का आश्रय लेकर भी जो उसका विरुद्ध अर्थ निकालते हैं, उनका वैराग्य भी मोहगर्भित ही जानना चाहिए, चाहे वे दुष्कर तप करते हों।

विशेषार्थ - कई बार साधक अहंकार के कारण या प्रतिष्ठा आदि के कारण भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों का आश्रय लेकर भी उनका स्वमति से विपरीत अर्थ करता है। ऐसे साधकों को निह्नव कहते हैं, जिसका तात्पर्य

है- जिनकथित सिद्धान्तों का अपलाप (विपरीत अर्थ) करने वाले। इनका वैराग्य भी मोहगर्भित होता है। भगवान् महावीर के शासन में ऐसे सात निह्नव हुए जिन्होंने जिनशासन में रहते हुए भी भगवान् के सिद्धान्तों के विपरीत कथन किया।

ये सात निह्नव क्रमशः इस प्रकार हैं -

१. जमालि - क्रियमाण अकृत (बहुरतवाद)।

२. तिष्यगुप्त - जीवप्रादेशिकवाद, संपूर्ण जीव के चरम प्रदेश में ही जीव हैं।

३. आषाढ़भूति के शिष्य - अव्यक्तवाद।

४. अश्वमित्र - समुच्छेदवाद, प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश हो जाता है।

५. आर्य गंग (षड़लूक) - द्विक्रियोपयोगवाद।

६. रोहगुप्त - त्रैराशिकवाद (जीव, अजीव और नोजीव)।

७. गोष्ठामाहिल - अबद्धिकमत (कर्म और जीव का सम्बन्ध सर्पकंचूलीवत्)।

अपने स्वार्थ के लिए या सुविधानुसार सिद्धान्त का विपरीत अर्थ करने वाले चाहे उग्र तपश्चर्या भी करें, तो भी उनकी मान्यता और आचरण मिथ्यात्वयुक्त होने से उनका वैराग्य मोहगर्भित वैराग्य कहलाता है। उनकी तीव्र बुद्धि भी उनकी आत्मा का अहित करने वाली होती है।

(१४८) संसारमोचकादीनामिवैतेषां न तात्त्विकः।
शुभोऽपि परिणामो यज्जाता नाज्ञारूचिस्थितिः।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> संसारमोचक (दयामृत्यु देने वाले) आदि की तरह उनका शुभ परिणाम होने पर भी तात्त्विक नहीं है, क्योंकि जिनाज्ञा के प्रति उनकी श्रद्धा स्थिर नहीं हुई है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रश्न यह उठता है कि जिनेश्वर द्वारा कथित तपश्चर्या तथा धर्म क्रिया करने वाले व्यक्ति के मन के परिणाम तो शुद्ध होते हैं, फिर उनके वैराग्य को मोहगर्भित वैराग्य या अज्ञानयुक्त वैराग्य क्यों कहते

हैं ? इस प्रश्न का निराकरण करते हुए ग्रंथकार कहता है कि शुभ परिणाम वाली होने पर भी उनकी क्रिया तात्त्विक नहीं है, क्योंकि जिनाज्ञा के प्रति उनकी श्रद्धा दृढ़ नहीं है। "तमेव सच्चं निःसंके जं जिणेहिं पवेइयं", तारणहार तीर्थंकर ने जो कुछ कहा, वह अक्षरशः सत्य है। इस प्रकार उनकी श्रद्धा स्थिर नहीं होती है।

उदाहरणार्थ-संसारमोचक, अर्थात् दयाप्रेरित हत्या करने वाले का यह भाव होता है कि कोई व्यक्ति बीमारी आदि के कारण बहुत तड़प रहा हो, बहुत पीड़ा का अनुभव कर रहा हो और उसकी मृत्यु भी समीप हो, वह जीवन और मृत्यु के बीच झूल रहा हो, तो उसे दुःख से मुक्ति दिलाने के लिए उसके जीवन का अंत कर देना चाहिए। कितने ही लोग अशक्त, अपंग जानवर को इस प्रकार के विचार से प्रेरित होकर मार देते हैं। अब यह दयामृत्यु मनुष्य जाति में भी होने लगी है। इस प्रकार के हत्या के विचार में दया का भाव रहा हुआ है, किंतु शास्त्रकार कहता है कि दया चाहे दिखाई देती हो, लेकिन तत्त्वतः यह निर्दयता है। सिद्धान्त के अनुसार अगर जीव के अशुभ असातावेदनीय-कर्म निकाचित बचे हुए हैं, तो वे इस जन्म में या अन्य जन्म में अवश्य भोगना ही पड़ेंगे। कुछ कर्मों का आत्मा के साथ लोह अग्निवत् सम्बन्ध होता है। ऐसे निकाचित कर्म भोगना ही पड़ते हैं, इसलिए किसी को कर्म से मुक्ति दिलाने में कोई व्यक्ति समर्थ नहीं है। इस प्रकार जीवों को मृत्यु प्रदान करने में तात्त्विक रूप से कोई दया नहीं होती है। ठीक वैसे ही, मोहगर्भित वैराग्य वाले शुभ क्रिया करते हुए भी सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से अपने भव-भ्रमण को बढ़ा लेते हैं।

(१४६) अमीषां प्रशमोऽप्युच्चैर्दोषपोषाय केवलम्।
अन्तर्निलीनविषम-ज्वरानुद्भवसंनिभः।।११।।

<u>अनुवाद -</u> उनका, अर्थात् मोहगर्भित वैराग्य वालों का प्रशमभाव भी शरीर के अन्दर रहे हुए विषम ज्वर के अनुभव की तरह दोष के पोषण के लिए होता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> मोहगर्भित वैराग्य वाले व्यक्तियों के जीवन में भी कभी-कभी प्रशमभाव, त्याग, तप आदि के गुण दिखाई देते हैं, परंतु मिथ्यात्व से ग्रसित होने के कारण उनके प्रशम आदि गुण भी उनके दोषों

की वृद्धि करने वाले होते हैं। मिथ्यात्वसहित प्रशमगुण और मिथ्यात्वरहित प्रशमगुण-दोनों में बहुत अन्तर होता है। जैसे-हड्डी-ज्वर से ग्रसित व्यक्ति बाहर से निरोग दिखाई देता है, किन्तु अन्दर से खोखला होता जाता है, वह रोग कब बढ़कर प्राणघातक हो जाए, कुछ कह नहीं सकते, उसी तरह मिथ्यात्वियों का प्रशमभाव भी भ्रामक होता है। उनके ये गुण भी उनके अहंकार का पोषण करने वाले होते हैं।

आगे निम्नलिखित श्लोकों में ग्रंथकार ने मोहगर्भित वैराग्य के कुछ प्रमुख लक्षण बताए हैं-

(१५०) कुशास्त्रार्थेषु दक्षत्वं, शास्त्रार्थेषु विपर्ययः।
स्वच्छंदता कुतर्कश्च गुणवत्संस्तवोज्झनम्।।१२।।

(१५१) आत्मोत्कर्षः परद्रोहः कलहो दंभजीवनम्।
आश्रवाच्छादनं शक्त्युल्लंघनेन क्रियादरः।।१३।।

(१५२) गुणानुरागवैधुर्यमुपकारस्य विस्मृतिः।
अनुबंधाद्यचिन्ता च प्रणिधानस्य विच्युतिः।।१४।।

(१५३) श्रद्धामृदुत्वमौद्धत्यमधैर्यमविवेकिता।
वैराग्यस्य द्वितीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली।।१५।।

अनुवाद - अन्य शास्त्रों के अर्थ में प्रवीण, स्वशास्त्रों के अर्थ में विपरीत बुद्धिवाला, स्वच्छंद, कुतर्क करने वाला, गुणवानों की संगति न करने वाला (गुण द्वेषी), स्वप्रशंसा करने वाला, अन्य का द्रोही, कलहप्रिय, दंभी, आश्रव (पाप) को छिपाने वाला, शक्ति का उल्लंघन करके, अर्थात् हठाग्रहपूर्वक क्रिया करने वाला, गुणानुराग से रहित, अन्य के उपकार को न मानने वाला, तीव्र कर्मबंध की चिन्ता से रहित, चंचल चित्तवृत्ति वाला, अस्थिर श्रद्धावाला, उद्धत्- वृत्ति वाला, अधैर्यवान्, अविवेकी - ये द्वितीय प्रकार के मोहगर्भित वैराग्य के लक्षण कहे गए हैं।

विशेषार्थ - दूसरे प्रकार का मोहगर्भित वैराग्य वह है, जिसमें वैराग्य का कुछ अंश तो होता है, परंतु यह उच्च कोटि का वैराग्य नहीं होता, क्योंकि इस वैराग्य में अंतर में मिथ्यादृष्टि रही हुई होती है। प्रस्तुत चार

श्लोकों में द्वितीय प्रकार के मोहगर्भित वैराग्य वाले जीवों के लक्षण कैसे होते हैं, यह स्पष्ट किया गया है -

१. अन्य दर्शनों के शास्त्रों के अर्थ करने में निपुण - मोहगर्भित वैराग्य वाले व्यक्ति का ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है, अतः वह अज्ञान की कोटि में ही आता है, किंतु बुद्धि, तीव्र होने के कारण वह अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्रों का अर्थ करने में पटु होता है, साथ ही उसकी श्रद्धा निर्मल नहीं होती है।

२. सद्शास्त्रों के अर्थ का विपरीत प्ररूपण करने वाला - अपने दुराचरण के समर्थन के लिए वह सत्शास्त्रों का मतिकल्पना के आधार पर विपरीत अर्थ करता हैं।

३. स्वच्छंदता - जो मुनि मानादि का भूखा है, सुखशील है, अपनी इच्छा के अनुसार चलने वाला है, उसे सद्गुरु की आज्ञा में रहना अच्छा नहीं लगता है, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके वह स्वमति के अनुसार आचरण करता हैं।

४. कुतर्कवान् - जब व्यक्ति के अहंकार पर चोट लगती है या उसके स्वार्थ का हनन होता है, तब वह जानते हुए भी सूत्र के विपरीत अर्थ करता है। वह गलत तर्क करके सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। तर्क कोई भरोसे की नाव नहीं है, तर्क कुछ भी सिद्ध कर सकता है और कुछ भी असिद्ध कर सकता है। जैसे-रोहगुप्त ने अपने अहंकार के पोषण के लिए द्वि-राशि की जगह त्रैराशिकवाद का प्रतिपादन किया और कुतर्क द्वारा जीव, अजीव और नोजीव-इन तीन राशि को सिद्ध करने का प्रयास किया।

५. गुणवान् की संगति का त्याग - गुणवान् की संगति, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त व्यक्तियों की संगति में रहना उसे अच्छा नहीं लगता है, किन्तु जो उनकी गलत बात का भी समर्थन करें, ऐसे मिथ्यादृष्टि वालों की संगति उसे प्रिय लगती है। उसे स्वच्छंद बनकर अकेला घूमना अच्छा लगता है।

६. आत्मोत्कर्ष - आत्मप्रशंसा, अर्थात् स्वमुख से अपने गुणों की प्रशंसा करना या अभिमानपूर्वक अपनी गुण-गाथा गाना-इस प्रकार वह गर्व से कुप्पा होकर अन्य की उपेक्षा भी करता है।

७. परद्रोह - इस संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक कृतज्ञ, अर्थात् अपने ऊपर किए गए उपकार को मानने वाला तथा दूसरा-कृतघ्न, अर्थात् किए गए उपकार का हनन करने वाला। मोहगर्भित वैराग्य वाला व्यक्ति कृतघ्न होता है। वह उपकारी के उपकार को भूलकर तन-मन-धन से उसे नुकसान पहुँचाने की कोशिश करता हैं तथा उसकी अपकीर्ति फैलाता है।

८. कलहप्रिय - वाद-विवाद करने में उसकी रुचि होती है। उसमें समाधान की वृत्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में, क्लेश करने व कराने में उसकी रुचि होती है।

९. दांभिक जीवन - मन में कुछ, वचन में कुछ और आचरण में कुछ अन्य। वह जैसा है वैसा दिखता नहीं है और जैसा दिखता है वैसा होता नहीं हैं।

१०. आश्रव का आच्छादन करने वाला - पापाचरण करके उसका पश्चाताप नहीं करता है, बल्कि उसे छिपाने का प्रयत्न करता है तथा अपना बचाव करता है।

११. शक्ति सें अधिक क्रिया करने वाला - अन्य को निम्न दिखाने के लिए तथा अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए वह अपनी शक्ति से अधिक तप, दान आदि करके उसका गर्व करता है।

१२. गुणानुराग से रहित - प्रमोदभाव का अभाव। ऐसा व्यक्ति गुणवानों को देखकर उनका आदर करने के बजाय उन पर द्वेष करता है, उनसे ईर्ष्या रखता हैं, गुणवानों की प्रशंसा सहन नहीं करता है।

१३. कृतघ्न - उपकारी के उपकार को न मानने वाला होता है।

१४. पाप से निडर - तीव्र अशुभ कर्म करते हुए नहीं डरने वाला, अर्थात् पाप से भयभीत नहीं होने वाला। ऐसा व्यक्ति अपना स्वार्थ

सिद्ध करने के लिए कोई भी पापाचरण करते हुए उसके दारुण विपाक पर चिन्तन नहीं करता हैं।

१५. चित्त की अस्थिरता - किसी भी कार्य को करने में उसका मन स्थिर नहीं रहता है। उसके मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों की तरंगें उठा करती हैं।

१६. दृढ़ श्रद्धा का अभाव - वह श्रद्धा तथा अश्रद्धा के बीच झूलता रहता हैं। उसकी श्रद्धा मजबूत नहीं होती है, थोड़ा भी निमित्त मिलने पर धर्म से उसकी श्रद्धा विचलित हो जाती है और नास्तिकता आ जाती है।

१७. उद्धतता - छोटी-छोटी बात पर रोष करने वाला, सत्य बात को स्वीकार नहीं करने वाला, आदर देने योग्य व्यक्तियों का अपमान करने वाला होता है।

१८. अधैर्य - विचारों की परिपक्वता नहीं होने के कारण वह थोड़ी प्रतिकूल परिस्थिति में अपना धैर्य खो देता है, अधीर हो जाता है। उसमें सहिष्णुता का अभाव होता है।

१९. अविवेकी - मिथ्यात्व होने के कारण राग-द्वेष के परिणाम भी तीव्र होते हैं, अतः वह योग्य-अयोग्य आदि का विचार नहीं करता हैं।

(१५४) ज्ञानगर्भं तु वैराग्यं सम्यकूतत्त्वपरिच्छिदः।
स्याद्वादिनः शिवोपाय स्पर्शिनस्तत्त्वदर्शिनः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यक् रूप से तत्त्व के स्वरूप को जानने वाले, स्याद्वाद को समझने वाले, मोक्ष मार्ग का स्पर्श करने वाले (चलने वाले), ऐसे तत्त्वदर्शी पुरुषों का वैराग्य ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानगर्भित वैराग्य, अर्थात् जिस वैराग्य का बीज ज्ञान हो। जिस वैराग्य की उत्पत्ति सम्यग्ज्ञान द्वारा हो और जिस वैराग्य का पोषण, विकास आदि भी ज्ञान से ही होता हो, वह ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता है। यह वैराग्य तीनों वैराग्यों में सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञानगर्भित वैराग्य में व्यक्ति को यह बोध होता है कि वहं स्वयं तो शुद्ध, अरूपी, ज्ञान-दर्शनमय तथा अनंत

सुख का भण्डार है, परंतु कर्मों ने उसके स्वस्वरूप को ढंक दिया है, उसे उसकी अनंत सुख संपत्ति से वंचित कर दिया है, अतः वह आत्मा को कर्म की कैद में से मुक्त कराने का प्रयास करता है। उसे देह की क्षणिकता और आत्मा की अमरता का बोध होता है। उसका यह वैराग्यभाव दुःख में से भी उदित होता है और सुख में से भी। शालिभद्र को भौतिक सुख की कमी नहीं थी, किंतु एक ही घटना ने उनके जीवन की दिशा परिवर्तित कर दी। श्रेणिक मेरे स्वामी ? महाराजा श्रेणिक की पराधीनता से स्वाधीन बनने के इच्छुक शालिभद्र ने दिव्य ऐश्वर्य को ठोकर मार दी। यह ज्ञानगर्भित वैराग्य सुख में से उत्पन्न हुआ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती की देह में अचानक सोलह रोग उत्पन्न हो गए और उसी व्याधि में से वैराग्य का जन्म हुआ। उन्होंने विचार किया कि इन रोगों का मूल तो कर्म रोग है, अतः कर्मरोग को ही अहिंसा, संयम और तप द्वारा नष्ट करूँ। इस प्रकार यहाँ दुःख में से ज्ञानगर्भित वैराग्य का जन्म हुआ। ज्ञानगर्भित वैराग्य को सहज वैराग्य भी कह सकते हैं। यह वैराग्य स्थिर होता है। ज्ञानपूर्वक जिसने आत्मा का स्वरूप तथा संसार का स्वरूप समझ लिया है, वह संसार के तुच्छ सुखों के लिए अपने अनमोल मानवभव को नष्ट नहीं करता है।

प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानगर्भित वैराग्य के कुछ लक्षण बताए गए हैं। ज्ञानगर्भित वैराग्य से युक्त व्यक्ति जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का तथा षट्द्रव्यों का ज्ञाता होता है। उसकी जीवन-दृष्टि अनेकांतदृष्टि होती है, वह कदाग्रही नहीं होता है। प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न नयों द्वारा समझने का उसका अपना प्रयास होता है। मोक्ष मार्ग के प्रति उसकी दृढ़ आस्था होती है। संसार की निरर्थकता का उसे ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञानगर्भित वैराग्ययुक्त व्यक्ति, चाहे उसे भौतिक अनुकूलताएँ प्राप्त हो, भोगोपभोग के साधनों की कमी नहीं हो, कोई सांसारिक-त्रास नहीं हो, फिर भी उसकी विषयभोगों में रुचि नहीं होती। वह संसार के प्रति उदासीन होता है। यह ज्ञानगर्भित वैराग्य सहज होता है, अतः विपरीत परिस्थितियों में भी जाता नहीं है।

(१५५) मीमांसा मांसला यस्य स्वपरागमगोचरा।
बुद्धिः स्यात्तस्य वैराग्यं ज्ञानगर्भमुदंचति।।१७।।

<u>अनुवाद :-</u> जिसका तत्त्वबोध परिपक्व हो, जिसकी बुद्धि अपने और दूसरों के शास्त्रों को समझने में समर्थ हो, उसका वैराग्य ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> ज्ञानगर्भित वैराग्य से युक्त व्यक्ति का तत्त्वज्ञान प्रौढ़ होता है, त्रुटिरहित होता है। स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, वाचना, पृच्छना आदि के द्वारा उसकी ज्ञानरुचि उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट होती है। स्वशास्त्रों और अन्य परम्परा के शास्त्रों का उसे गहन ज्ञान होता है। उसकी बुद्धि आगमगोचर होती है। बौद्ध, वेदान्त, न्याय वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनों के शास्त्रों में से वह यथार्थ तत्त्व को ग्रहण कर लेता है। सभी शास्त्रों में से तत्त्व के साररूप नवनीत को ग्रहण कर उसका हृदय भी नवनीत के समान श्वेत (निर्मल) और कोमल (कारूण्य-भाव से युक्त) हो जाता है।

(१५६) न स्वान्यशास्त्रव्यापारे प्राधान्यं यस्य कर्मणि।
नासौ निश्चयसंशुद्धं सारं प्राप्नोति कर्मणः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> जो अपने और दूसरों के दर्शनों में कुशल नहीं होते है, उनकी दृष्टि में क्रिया ही प्रमुख होती है। वे निश्चित रूप से शुद्ध कर्म के शुद्ध फल को प्राप्त नहीं करते है।

<u>विशेषार्थ :-</u> प्रस्तुत श्लोक में, वैराग्य के साथ ज्ञान का कितना अधिक महत्त्व है- यह बताया गया है। आगमों में भी ज्ञान के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है-'पढमं नाणं तओ दया', अर्थात् पहले ज्ञान, फिर आचरण। ज्ञान के प्रकाश के बिना व्यक्ति अपनी आत्मा की शुद्धि नहीं कर सकता है। जिन्होंने (मुनियों ने) स्वमत के शास्त्रों का तथा अन्य दर्शनों के शास्त्रों का गहराई से अभ्यास नहीं किया है, वे क्रिया चाहे कितनी भी उत्कृष्ट करें, परंतु वे क्रियाओं के निश्चय शुद्ध सारतत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। कितने ही संयमधारी मुनि उत्कृष्ट क्रिया करते हैं, विभिन्न प्रकार के धार्मिक-अनुष्ठानों को वे स्वयं भी करते हैं तथा अन्य से भी करवाते हैं, किन्तु ज्ञान के बिना मात्र क्रियाओं द्वारा वे

तात्त्विक रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जब तक अन्य दर्शनों का भी सम्यक् अध्ययन नहीं किया हो, तब तक दृष्टि की परिपूर्णता प्राप्त नहीं होती। गहन अध्ययन, मनन, चिंतन एवं परिशीलन होने पर ही व्यक्ति के मन की शंकाएँ दूर होती हैं और वह तत्त्व के यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

(१५७) सम्यक्त्वमौनयोः सूत्रे गतप्रत्यागते यतः।
नियमो दर्शितस्तस्मात् सारं सम्यक्त्वमेव हि।।१९।।

<u>अनुवाद</u> - आगम में सम्यक्त्व और मुनित्व का पारस्परिक सम्बन्ध बताया गया है। इसलिए इससे यह निश्चित होता है कि 'सम्यक्त्व' ही सारभूत है।

<u>विशेषार्थ</u> - शास्त्रों में सम्यक्त्व और मुनित्व का अविनाभावी सम्बन्ध बताया गया है। आचारांगसूत्र में सम्यक्त्व और मुनित्व का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है -

जं सम्मं तं पासह, तं मोणं ति पासह।
जं मोणं ति पासह, तं सम्मं ति पासह।। (५-३-१५५)

जहाँ सम्यक्त्व हो, वहीं मुनित्व होता है और जहाँ मुनित्व होता है, वहाँ सम्यक्त्व भी है। इनका यह अविनाभावी सम्बन्ध है। यहाँ सम्यक्त्व और मुनित्व-दोनों को निश्चय से जानना चाहिए, व्यवहार से नहीं। जैसे-दूध का सार घी है, वैसे ही चारित्र का सार सम्यक्त्व है। ऐसा निर्मल सम्यक्त्व स्व तथा अन्य परम्पराओं के शास्त्रों के गहन अवगाहन एवं परिशीलन के बिना नहीं आ सकता है।

(१५८) अनाश्रवफलं ज्ञानमव्युत्थानमनाश्रवः।
सम्यक्त्वं तदभिव्यक्तिरित्येकत्वविनिश्चयः।।२०।।

<u>अनुवाद</u> - ज्ञान का फल अनाश्रव है और अनाश्रव का फल है-विषयत्याग, इसलिए चारित्र की अभिव्यक्ति ही सम्यक्त्व है। इस प्रकार उनका, अर्थात् ज्ञान और चारित्र का एकत्व निश्चय है।

<u>विशेषार्थ</u> - वस्तुतत्त्व के सूक्ष्म बोध, अर्थात् सम्यग्ज्ञान का फल यह है कि जीव आश्रवरहित हो जाता है। सम्यग्ज्ञान एक जाग्रत पहरेदार है। वह

कषाय आदि आश्रवरूपी चोरों पर कड़ी निगाह रखता है, उन्हें अन्दर नहीं घुसने देता। आश्रव, अर्थात् कर्मों के आने का द्वार। जहाँ आश्रव (अशुभाश्रव) हो, वहाँ सम्यग्ज्ञान किस प्रकार संभव हो सकता है ? अनाश्रव का अर्थ है- सम्यक्चारित्र। सम्यक्चारित्र की अभिव्यक्ति ही सम्यक्त्व है। इस प्रकार जहाँ सम्यग्ज्ञान है, वहाँ अनाश्रव, अर्थात् सम्यक्चारित्र है, और जहाँ सम्यक्चारित्र है, वहा सम्यग्ज्ञान है, इसलिए ज्ञानगर्भित वैराग्य में सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का एकत्व सिद्ध होता है।

(१५६) बहिर्निवृत्तिमात्रं स्याच्चारित्राद् व्यावहारिकात्।
अंतः प्रवृत्तिसारं तु सम्यक् प्रज्ञानमेव हि।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> व्यावहारिक चारित्र से मात्र बाह्य-पदार्थों से निवृत्ति होती है, अन्तः प्रवृत्ति अर्थात् आत्मरमणता का सार तत्त्व तो ऐसा सम्यग्ज्ञान ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> चारित्र दो प्रकार का होता है १. व्यवहार-चारित्र और २. निश्चय-चारित्र। सम्यक्त्व भी दो प्रकार का होता है - १. व्यवहार-सम्यक्त्व और २. निश्चय-सम्यक्त्व। मात्र धन, दौलत, मकान, दुकान, कंचन, कामिनी, पुत्र, मित्र आदि बाह्यार्थों का त्याग करके साधु वेश धारण किया हो तो वह व्यवहार चारित्र है। उससे आंतरिक परिणामों की शुद्धि नहीं होती है। वहाँ देव-गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्व भी हो सकता है, किंतु आत्मरमणतारूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता है। ज्ञानगर्भित वैराग्य के बिना जो चारित्र ग्रहण किया जाता है, वह व्यवहार-चारित्र होता है और उससे मात्र बाह्य परिग्रह से निवृत्ति होती है, किंतु आंतरिक-परिग्रह, अर्थात् क्रोध, मान, माया आदि तो अपना अड्डा जमाए हुए ही रहते हैं, इसलिए आत्मरमणतारूप निश्चय-चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है। मात्र ज्ञानगर्भित वैराग्य से ही निश्चय-चारित्र की प्राप्ति हो सकती है, अतः वही वरेण्य (स्वीकारने योग्य) है।

(१६०) एकान्तेन हि षट्कायश्रद्धानेऽपि न शुद्धता।
संपूर्णपर्ययालाभाद् यन्न याथात्म्यनिश्चयः।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> छःकाय के जीवों पर एकान्त श्रद्धा करते हुए भी सम्यक्त्व की शुद्धता नहीं होती है, क्योंकि संपूर्ण पर्यायों का लाभ नहीं होने से यथार्थत्व का निश्चय नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहार-चारित्र धारण करने वाले भी काया से कठोर संयम का पालन करते हैं। वे छःकाय के जीवों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। छःकाय के जीवों की रक्षा करना उचित और अनिवार्य है, परंतु यह तो केवल प्रथम सीढ़ी है, मंजिल इससे बहुत दूर है। कितने ही साधक इस प्रथम सीढ़ी पर ही अटक जाते हैं, आगे नहीं बढ़ पाते हैं। वे इस बात को ही एकान्तरूप से ग्रहण कर लेते हैं। वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-इस प्रकार सभी नयों को समझकर तत्त्व को (यथार्थ रूप से) समझने का प्रयत्न नहीं करते हैं। 'षड्जीवनिकाय'-इस समासयुक्त शब्द में समाहित छः, जीव और निकाय-इन तीनों शब्दों में से किसी भी एक शब्द को लेकर एक ही नय द्वारा ग्रहण करने पर अर्थ में विसंगति आती है, वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। पदार्थ अनंतपर्यायात्मक है, जहाँ ऐसी श्रद्धा न हो, वहाँ सम्यक्त्व शुद्ध नहीं होता है।

वस्तु का सभी नयों द्वारा सम्पूर्ण स्वरूप समझने के बाद जब ज्ञानगर्भित वैराग्य उत्पन्न होता है, तब बाह्य पदार्थों का त्याग तो होता ही है, उसके साथ ही पदार्थों की आसक्ति भी चली जाती है। केवल काया से ही त्याग नहीं रहता है, बल्कि मन द्वारा भी बाह्य पदार्थों की निस्सारता समझ में आ जाती है। आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान चले जाते हैं और आत्मरमणता आ जाती है। परद्रव्य और परभाव में चित्त का आकर्षण नहीं होता है। तत्पश्चात् इन्द्रियों और मन को उनके विषयों से हटाने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहती है। वह इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है कि इन्द्रियाँ और मन सहज ही विषयों में प्रवृत्त नहीं होते हैं। नय और प्रमाण द्वारा आलोच्य वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को समझा जा सकता है।

(१६१) यावन्तः पर्यया वाचां यावन्तश्चार्थपर्ययाः।
साम्प्रतानागतातीतास्तावद्द्रव्यं किलैककम्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> वचन के वर्तमान काल, भूतकाल और भविष्यकाल के जितने पर्याय हैं तथा अर्थ के वर्तमान, भूत और भविष्यकाल के जितने पर्याय हैं, वे सब मिलकर एक द्रव्य जानना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> संसार में कोई भी एक द्रव्य अनंत पर्यायमय है। प्रत्येक द्रव्य के वचन पर्याय भूत, वर्तमान और भविष्यकाल की अपेक्षा अनंत हैं। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के अर्थपर्याय भी भूत, वर्तमान और भविष्यकाल की अपेक्षा अनंत हैं। द्रव्य एक हो, फिर भी भिन्न-भिन्न नय की दृष्टि से, वचनपर्याय की दृष्टि से और अर्थपर्याय की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट कर सकते हैं। एक ही वस्तु या व्यक्ति में विरोधी गुण भी पाए जाते हैं, जैसे-एक प्राध्यापक या चिकित्सक अपने विषय में विद्वान् है, किंतु कृषि आदि के विषय में उसे जानकारी नहीं है, अतः उस अपेक्षा से वह अज्ञ भी है। एक कृषक चाहे विज्ञान आदि कुछ नहीं जानता है, पढ़ा-लिखा भी नहीं है, गँवार है, किन्तु कृषि के विषय में कुशल है, पण्डित है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति या वस्तु में अस्तित्त्व और नास्तित्त्व की दृष्टि से तथा तीन काल की दृष्टि से चिंतन किया जाए तो एक ही द्रव्य के अनंत पर्याय हैं ऐसी प्रतीति होगी। एक ही व्यक्ति में पिता, पुत्र, पति, भाई, काका, मामा, नाना, दादा, श्वसुर आदि अपेक्षा भेद से कई प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि अतः किसी भी एक नय द्वारा वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है। किसी वस्तु के एक गुण का एक नय के द्वारा कथन करते समय अन्य गुणों का या अन्य नयों का लोप न करें, अपितु उन्हें गौण ही करें। अन्य नयों को नहीं स्वीकारने पर वह एकान्त हो जाएगा, नय दुर्नय बन जाएगा और दुर्नय से वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं समझा जा सकेगा। जैसे-आत्मा पर्यायदृष्टि से अनित्य है, किन्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा से, भिन्न-भिन्न काल की अपेक्षा से आत्मा की अनंत पर्यायें हैं, अतः किसी भी द्रव्य का सम्पूर्ण स्वरूप समझने के लिए नय और प्रमाण का ज्ञान आवश्यक है।

(१६२) स्यात्सर्वमयमित्येवं युक्तं स्वपरपर्ययैः।
अनुवृत्तिकृतं स्वत्वं, परत्वं व्यतिरेकजम्।।२४।।

अनुवाद - इसी प्रकार एक ही द्रव्य स्वपर्याय और परपर्याय से युक्त होकर सर्वपर्यायमय है। उसमें (वस्तु में) अनुवृत्ति से स्वपर्याय और व्यतिरेक से परपर्याय है।

विशेषार्थ - प्रत्येक द्रव्य में सर्व स्वपर्याय होती हैं और सर्व परपर्याय भी होती है। यह कैसे संभव है कि एक ही द्रव्य में सर्वस्व-पर पर्याय हों ? इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में बताया है कि अनुवृत्ति से स्वपर्याय है, और व्यतिरेक से परपर्याय हैं, अनुवृत्ति अर्थात् विद्यमानता, साहचर्य, विधान या भाव रूप में सर्व स्वपर्याय होती है और व्यतिरेक अर्थात् नास्तित्त्व, अविद्यमानता, अभाव रूप में परपर्याय होती हैं, जैसे-मनुष्य में मनुष्यत्व की स्वपर्याय है, क्योंकि मनुष्य में मनुष्यत्व की अनुवृत्ति है, विद्यमानता है, जबकि मनुष्य में ही पशुत्व, पटत्व, घटत्व आदि की सर्व परपर्यायों का अभाव है, अतः सर्व परपर्याय मनुष्य में व्यतिरेक से, अर्थात् नास्तित्वरूप में हैं। इस प्रकार मनुष्य में सर्व स्व-पर-पर्याय विद्यमान हैं। इस प्रकार संसार के सभी पदार्थों में सर्व स्व-पर अनंत पर्यायें रही हुई हैं। कुछ दर्शन, जैसे-बौद्ध आदि केवल निषेध या अभाव को ही स्वीकार करते हैं और कुछ दर्शन, जैसे-मीमांसक आदि विधि या सद्भाव रूप को ही स्वीकार करते हैं, लेकिन एकान्त सद्भाव या एकान्त अभाव स्वीकार करने पर वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है।

(१६३) ये नाम परपर्यायाः स्वास्तित्वायोगतो मताः।
स्वकीया अप्यमीत्यागस्वपर्याय विशेषणात्।।२५।।

अनुवाद - वस्तु में जो परपर्यायें हैं, वे स्वयं के आस्तित्त्व के अयोग से है, परंतु त्यागरूप स्वपर्याय के विशेषण से स्वकीय है।

विशेषार्थ :- स्वपर्याय और परपर्याय के भेद को स्पष्ट करने के लिए ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में बताया कि वस्तु में जो परपर्यायें हैं, वे सब स्वयं के अस्तित्त्व के अयोग से हैं, अर्थात् अभावरूप में हैं, जैसे-घट के जो पर्याय हैं, वे स्व-अस्तित्त्व के संबंध से घट के स्वपर्याय हैं और पट के

पर्याय अस्तित्त्व के अयोग (अभाव) से घट के लिए परपर्याय हैं, अर्थात् नास्तित्वरूप में घट में भी पट की (तथा अन्य सभी पदार्थों की) सर्वपर्यायें विद्यमान हैं। घट के अलावा पट आदि सभी वस्तुओं के पर्याय, घट के जो स्वपर्याय हैं, उनके त्यागविशेषण वाले पर्याय बन जाते हैं। अगर नास्तित्त्व संबंध नहीं स्वीकार किया जाए, तो घट और पट के बीच कोई भेद नहीं रहेगा, जैसे-नीम के वृक्ष में अगर आम, इमली, पीपल आदि सभी वृक्षों का अभाव स्वीकार न किया जाए, तो फिर वह अपने स्वरूप में नहीं रह सकेगा। यही कारण है कि किसी भी वस्तु का कथन किया जाए, तो उस वस्तु में अन्य वस्तुओं की पर्यायों का अभाव भी स्वीकार करना ही पड़ेगा, जैसे-यह नीम का वृक्ष है, इसका अर्थ है- यह पीपल का वृक्ष नहीं है, आम का वृक्ष नहीं है, इमली आदि सभी वृक्षों का इसमें अभाव है।

(१६४) अतादात्म्येऽपि संबंधव्यहारोपयोगतः।
तेषां स्वत्वं धनस्येव व्यज्यते सूक्ष्मया धिया।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> उनका अर्थात् परपर्यायों का तादात्म्य भाव से संबंध नहीं है, फिर भी व्यवहारनय के उपयोग से संबंध है। जैसे-धन का संबंध उसके स्वामी के साथ होता है, उसी प्रकार इस स्वत्व (स्वपर्याय) को सूक्ष्म बुद्धि द्वारा जान सकते है।

<u>विशेषार्थ -</u> एक द्रव्य की पर्यायों का अन्य द्रव्य की पर्यायों के साथ तादात्म्यरूप में सम्बन्ध नहीं होता है, फिर भी व्यवहार में एक द्रव्य दूसरे के लिए उपयोगी होने के कारण दो भिन्न द्रव्यों के बीच सम्बन्ध बनते हैं, जैसे- धन का सम्बन्ध उसके स्वामी के साथ होता है। धन के पर्याय भिन्न हैं और उसके स्वामी के पर्याय भी भिन्न हैं, फिर भी दोनों के पर्यायों के बीच सम्बन्ध है, इसलिए यह धन अमुक व्यक्ति का है, यह मकान अमुक व्यक्ति का है, इस प्रकार कहा जाता है। यह तुरंत समझ में आए, ऐसा उदाहरण है, परंतु सूक्ष्म बुद्धि से चिंतन किया जाए, तो जहाँ तादात्म्य नहीं होता है, वहाँ भी स्वपर्याय और परपर्याय के बीच संबंध होता है। घट और पट के उदाहरण प्राचीनकाल से शास्त्रों में दिए जा रहे हैं। इसके अलावा दूसरे उदाहरण भी ले सकते हैं, जैसे-टेबल के पर्याय टेबल में अस्तित्त्व रूप में रहे हुए है और पुस्तक के पर्याय टेबल में नास्तित्त्वरूप में हैं। जब यह

कहा जाता है कि यह टेबल है, तो यह भी सूचित हो जाता है कि यह पुस्तक नहीं है। टेबल में केवल पुस्तक ही नहीं, अन्य किसी भी द्रव्य की पर्यायों का नास्तित्त्व है। यह परपर्यायों का नास्तित्त्व भी व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है। यदि ऐसा न हो, तो अनेक द्रव्यों का मिश्रण हो जाएगा।

(१६५) पर्यायाः स्युर्मुनेर्ज्ञानदृष्टिचारित्रगोचराः।
यथा भिन्ना अपि तथोपयोगाद्वस्तुनो ह्यमी।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> मुनि को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की पर्यायें जैसे भिन्न होते हुए भी होती हैं, उसी प्रकार उपयोग द्वारा उस वस्तु की भी होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> भाव और अभाव, अस्तित्त्व और नास्तित्त्व, तादात्म्य और अतादात्म्य, भिन्नता और अभिन्नता इस प्रकार अलग-अलग दृष्टि से पर्यायों का विश्लेषण करने का एक ही तात्पर्य है कि प्रत्येक द्रव्य स्व तथा पर सर्वपर्यायात्मक है। यहाँ मुनि की पर्यायों का विचार किया गया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र-ये सभी द्रव्यपर्याय मुनि से भिन्न हैं, अर्थात् ज्ञानोपकरण, दर्शन और चारित्र के उपकरण, मुनि से भिन्न होने पर भी स्वकार्य में मोक्ष मार्ग में सहायक होने के कारण वे पर्याय मुनि के ही कहलाते हैं, जैसे 'यह अमुक मुनि का ओघा है', 'यह अमुक मुनि का पात्र है', 'यह अमुक मुनि की पुस्तक है' आदि। ठीक इसी प्रकार किसी भी वस्तु की परपर्यायें उस वस्तु से भिन्न होने पर भी व्यवहार में उपयोगी होने से उस वस्तु की स्वयं की पर्याय भी कहलाती हैं।

(१६६) नो चेदभावसंबंधान्वेषणे का गतिर्भवेत्।
आधार प्रतियोगित्वे द्विष्ठे न हि पृथग्द्वयोः।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> जो इस प्रकार न हो, तो अभाव के संबंध से अन्वेषण करने में क्या गति हो ? इसलिए आधार और प्रतियोगी-इन दोनों में वह (अभाव संबंध) रहा हुआ है परंतु दोनों में पृथक् नहीं रहता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> किन्हीं भी दो वस्तुओं के बीच तादात्म्य को आसानी से समझ सकते हैं, परंतु जिन दो वस्तुओं के बीच तादात्म्य न हो, उनका संबंध किस प्रकार संभव हो सकता है ? इस प्रकार का प्रश्न अगर कोई उठाता है, तो उसका उत्तर यह है कि 'उनमें अभावात्मक सम्बन्ध होता है।

यदि इस सम्बन्ध को स्वीकार न किया जाए, तो वस्तु में भावात्मक संबंध भी किस प्रकार रह सकेगा ? जैसे गो में गोत्व के सद्भाव के साथ ही महिषत्व, अश्वत्व आदि का अभाव भी है। यदि गो में अश्वत्व आदि का अभाव-संबंध स्वीकार न किया जाए, तो 'गाय' गाय के रूप में रह नहीं पाएगी। इससे स्पष्ट होता है कि एक ही वस्तु में एक साथ भावात्मक और अभावात्मक-दोनों ही सम्बन्ध पाए जाते हैं ऐसा नहीं है कि भावात्मक संबंध एक वस्तु में और अभावात्मक संबंध दूसरी वस्तु में हो। दोनों सम्बन्धों का आधार तो एक ही है। घट का उदाहरण लीजिए। जिस घट में घटत्व का भाव है, उसी घट में पट आदि का अभाव भी है। घट जमीन के ऊपर रहता है इसलिए घट का आधार जमीन है, परंतु जमीन घटरहित है, तो जमीन में घट का अभाव है, अर्थात् घट के भाव का आधार और घट के अभाव का आधार-दोनों ही जमीन है। घट के अभाव के आधार को यदि स्वीकार न किया जाए, तो घट रहेगा कहाँ ? इसलिए आधार (जमीन) और प्रतियोगी (घट)-दोनों में घट के भाव को स्वीकार करना पड़ेगा। दोनों में अलग-अलग संबंध स्वीकार नहीं कर सकते।

(१६७) स्वान्यपर्यायसंश्लेषात् सूत्रेऽप्येवं निदर्शितम्।
सर्वमेकं विदन्वेद सर्वं जानंस्तथैककम्।।२६।।

अनुवाद - इस प्रकार स्वपर्याय और परपर्याय के संबंध से इस सूत्र में भी इस प्रकार कहा गया है कि जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

विशेषार्थ - आचारांगसूत्र में कहा गया है- 'जे एगं जाणई ते सव्वं जाणई। जे सव्वं जाणई ते एगं जाणई।' जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। जो आत्मा किसी भी एक वस्तु की सभी स्वपर्यायों को तथा सभी परपर्यायों को जानती है, वह सभी वस्तु की सभी स्वपर्यायों को और सभी परपर्यायों को जानती है। चूंकि सभी वस्तु के सभी स्व और परपर्याय के जाने बिना एक वस्तु के सभी स्व और परपर्याय नहीं जाने जा सकते हैं, अतः आचारांगसूत्र में जो कहा गया है कि 'जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो

सबको जानता है, वह एक को जानता है', यथार्थ है। एक को सम्पूर्ण रूप से जानने के लिए सबको जानना भी आवश्यक है।

(१६८) आसत्तिपाटवाभ्यास स्वकार्यादिभिराश्रयन्।
पर्यायमेकमप्यर्थं वेत्ति भावाद् बुधोऽखिलम्।।३०।।

<u>अनुवाद -</u> सम्बन्ध, निपुणता, अभ्यास, स्वकार्य आदि के द्वारा पंडित पुरुष एक पर्याय के एक अर्थ को जानता है, परंतु भाव से सभी पदार्थों को जानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रत्येक वस्तु सर्वपर्यायमय है। प्राज्ञपुरुष, अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु की कितनी पर्यायों के कितने अर्थों को जानता है ? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दे सकते हैं- द्रव्य से और भाव से। द्रव्य से वह एक पर्याय के सभी अर्थों को जान सकता है। वस्तु की एक पर्याय के एक पर्याय के एक अर्थ को जानने के लिए अलग-अलग हेतु हो सकते है, जैसे-आसत्ति अर्थात् सम्बन्ध के द्वारा, निपुणता, बुद्धिचातुर्यता से, अभ्यास के द्वारा, स्वयं के विशिष्ट प्रयोजन के कारण।

सम्यग्दृष्टि जीव स्थूल दृष्टि से स्वयं के सम्मुख स्थित पदार्थ के एक पर्याय के एक अर्थ को जानता है, परंतु भाव से वह सभी पर्यायों को जानता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में यही अन्तर है कि सम्यग्दृष्टि भाव से सभी पर्यायों को जानता है और मिथ्यादृष्टि भाव से सभी पर्यायों को नहीं जानता है। वस्तु अनंत धर्मात्मक है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अपने प्रयोजनानुसार अपेक्षा से उस वस्तु के एक गुण या धर्म को जानता है या कथन करता है, परन्तु गौण रूप से वह वस्तु के सभी धर्मों को स्वीकार करता है, किसी की उपेक्षा नहीं करता है, जैसे- किसी को संसार की क्षणिकता का बोध देना हो, तो वह उसे पुद्गल की नश्वरता का, अनित्यता का उपदेश देता है, उसके विनाश-धर्म की ओर संकेत करता है, किन्तु उसके उत्पत्ति, ध्रुवता आदि गुणों को गौण करता है, उन्हें अस्वीकार नहीं करता है।

(१६९) अन्तरा केवलज्ञानं प्रतिव्यक्तिर्न यद्यपि।
क्वापि ग्रहणमेकांश द्वारं चातिप्रसक्तिमत्।।३१।।

<u>अनुवाद -</u> यद्यपि केवलज्ञान के बिना प्रत्येक वस्तु में उपस्थित सभी पर्यायों का ज्ञान संभव नहीं हो सकता है, तथापि किसी विषय का एकांश द्वार वाला ज्ञान होता है और किसी विषय का अधिक पर्यायों का ज्ञान होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रत्येक पदार्थ में उपस्थित तीनों काल की सभी क्रमबद्ध पर्यायों का ज्ञान केवल केवली भगवंत को ही हो सकता है। केवलज्ञानी की यह विशेषता है कि वह एक ही समय में सभी वस्तुओं की सभी पर्यायों को जानने की सामर्थ्य वाला होता है। केवलज्ञान के अलावा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान द्वारा सभी वस्तुओं का अनंत पर्यायात्मक ज्ञान संभव नहीं हो सकता है, फिर भी सम्यग्दृष्टि जीवों को जिनागम पर अपार श्रद्धा होने से वे अनंत पर्यायों को भाव से स्वीकार करते हैं, अतः उनका एकांश द्वार वाला ज्ञान भी अन्य सर्वपर्यायों को स्वीकारने के कारण सम्यक् होता है।

(१७०) अनेकान्तागमश्रद्धा तथाऽप्यस्खलिता सदा।
सम्यग्दृशस्तयैव स्यात् संपूर्णार्थ विवेचनम्।।३२।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यग्दृष्टि जीव की अनेकान्त से युक्त आगम की श्रद्धा सदा अस्खलित (दृढ़) होती है। इस कारण से वह श्रद्धा से ही संपूर्ण अर्थ का विवेचन कर सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रत्येक पदार्थ के अनंतपर्यायात्मक स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से केवल केवली भगवंत ही जान सकते हैं। वे ही वस्तु का सम्पूर्ण विवेचन कर सकते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, श्रुतकेवली आदि भी आगम के आधार पर सर्व अर्थ का सम्पूर्ण विवेचन कर सकते हैं, क्योंकि उनको अनेकान्त से युक्त आगमों पर अविचल अस्खलित दृढ़ श्रद्धा होती है। वे शंका, विभ्रम आदि दोषों से दूषित नहीं होते है, अतः वे श्रद्धा के बल से विचक्षण बुद्धि के सहारे केवली भगवंतों द्वारा साक्षात् देखकर कहे हुए पदार्थों का विवेचन कर सकते हैं।

(१७१) आगमार्थोपनयनाद् ज्ञानं प्राज्ञस्य सर्वगम्।
कायदिर्व्यवहारस्तु नियतोल्लेखशेखरः।।३३।।

<u>अनुवाद -</u> आगम के अर्थ का आश्रय लेने से प्राज्ञ पुरुषों को सर्वगामी ज्ञान होता है, परंतु कार्य आदि का जो व्यवहार है, वह नियत (निश्चित) किए हुए उल्लेख के शिखररूप (मुख्यरूप) है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस प्रकार की श्रद्धा आत्म विकास के लिए संजीवनी है। आगम के अर्थ का पूर्ण श्रद्धा के साथ आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि महात्माओं को जो ज्ञान होता है, वह सर्वगत होता है। इस सर्वगामी ज्ञान के कारण ही ऐसे महापुरुषों को पदार्थ की अनंत पर्यायों का बोध होता है। कुछ महापुरुषों को केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है, फिर भी वे श्रुत के आधार पर केवली के समान ही पदार्थों की व्याख्या कर सकते हैं, अतः वे श्रुत केवली कहलाते है। वे श्रुत के आधार पर त्रिकालज्ञ होते हैं।

अतः सम्यग्दृष्टि महापुरुष किसी भी विषय में एकान्त आग्रह नहीं रखते हैं। उनकी सूक्ष्मदृष्टि अल्प समय में ही उसका सर्वांगीण अवगाहन करके यथार्थबोध प्राप्त करती है, फिर भी व्यवहार के कार्यों में या क्रिया आदि के व्यवहार में उस काल में नियत उल्लेख को मुख्य आधार रूप में स्वीकारते हैं। वे निश्चय को जानते हुए भी या निश्चय को लक्ष्य में रखकर व्यवहार को मुख्य बनाते हैं।

(१७२) तदेकान्तेन यः कश्चिद्विरक्तस्यापि कुग्रहः।
शास्त्रार्थबाधनात्सोऽयं जैनाभासस्य पापकृतः।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए विरक्त आत्मा को किसी भी विषय में एकान्त कदाग्रह हो, तो वह शास्त्र के अर्थ का बाधक होने से जैनाभास है और पापकार्यरूप है।

<u>विशेषार्थ -</u> जिसे ज्ञानगर्भित वैराग्य होता है, उसे द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निश्चय- व्यवहार, शब्द-अर्थ, ज्ञान और क्रियानय, अथवा ऐसे कोई भी एकनय का एकान्त कदाग्रह नहीं होता है। सामान्य व्यक्ति भी किसी बात में एकान्त कदाग्रह रखता है, तो वह अनुचित है, तो फिर वीतराग प्रभु की वाणी पर श्रद्धा करने वाले विरक्त महापुरुषों के लिए एकान्त आग्रह सर्वथा

अनुचित है, अतः किसी भी तथ्य का विचार किसी एक नय को पकड़कर नहीं करना चाहिए। एक नय को ही यथार्थ मानकर अन्य की उपेक्षा करने पर शास्त्र के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। स्वमान्य अंश के सिवाय अन्य अंशों का सर्वथा निषेध नहीं करना चाहिए, जैसे-क्रियानय को प्रधान करके अगर कोई कहे कि 'क्रिया से मोक्ष होता है, तो यह वाक्य सुनय है, क्योंकि इसमें ज्ञान का अपलाप नहीं है, अथवा ज्ञान का निषेध नहीं है, लेकिन कोई यह कहे कि 'क्रिया से ही मोक्ष होता है', तो यहाँ एकान्त आग्रह है, यह अनुचित है, इसमें ज्ञान का अपलाप किया गया है। एकांत मान्यता दुर्नय है। आगम में कई वचनों से ज्ञान की प्रधानता सिद्ध होती है, जैसे-'पढमं नाणं तओ दया', प्रथम ज्ञान, फिर दया और कई वचनों से क्रिया की प्रधानता सिद्ध होती है। आगम में चारित्रहीन ज्ञानी को चंदन का बोझ उठाने वाले गधे की उपमा दी गई है। जो व्यक्ति एकान्त आग्रह रखेगा तथा सभी नयों के स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं होगा, वह शास्त्र वचनों को यथार्थ रूप में ग्रहण नहीं कर सकेगा, इसलिए प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि विरक्त आत्मा भी अगर किसी विषय में एकान्त कदाग्रह रखती है, तो वह शास्त्र के अर्थ का यथार्थ निरूपण करने में बाधक होगा, इसलिए वह पापकार्यरूप है, मात्र ज्ञानाभास या जैनाभास है।

(१७३) उत्सर्गे चाऽपवादे वा व्यवहारेऽथ निश्चये।
ज्ञाने कर्मणि वाऽयं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> उत्सर्ग और अपवाद के विषय में, व्यवहार और निश्चय के विषय में, ज्ञान और क्रिया के विषय में यदि यह (कदाग्रह) हो, तो वह ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पदार्थ को समझने के लिए विशाल और गहन दृष्टि चाहिए। जो अपने मत, संप्रदाय या विचार को पकड़कर रखता है और अन्य के मत में रहे हुए सत्यांश को स्वीकार नहीं करता है, वह पदार्थ के सत्य स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैन दर्शन में विवाद के विषयों में प्रमुखता व्यवहार और निश्चय की, उत्सर्ग और अपवाद की तथा ज्ञान और क्रिया की है। इनमें कौन प्रमुख और कौन गौण ? इस पर जब चर्चा होती है, तो ज्ञानगर्भित वैराग्य वाले किसी भी विषय में एकान्त आग्रह नहीं

रखते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी कौन प्रमुख हो जाता है और कभी कौन ? जैसे साधु को आधाकर्मी गोचरी नहीं वापरना (खाना) चाहिए या साधु को बयालीस दोषरहित गोचरी लाना चाहिए-यह उत्सर्ग मार्ग है और संयम की रक्षा के लिए आवश्यक है, किन्तु कोई साधु वृद्ध हो, ग्लान हो, तपस्वी हो या विहार के क्षेत्र में कहीं बहुत दूर तक गाँव न हो, साधु उपवास करने में समर्थ न हो, और गोचरी के बिना समाधि टिकना असंभव हो, तो ऐसे समय पर अपवाद मार्ग का अनुसरण करते हुए संयम की रक्षा के लिए, आधाकर्मी गोचरी या सामने लाया हुआ आहार आदि ग्रहण किया जाता है। यदि उस समय कोई अज्ञ साधु उत्सर्ग मार्ग का ही आग्रह रखे, अपवाद का निषेध करे, तो यह उचित नहीं है। निश्चय-नय से आत्मा नित्य एवं सच्चिदानंदरूप है। वह कर्मों की कर्त्ता भोक्ता नहीं है, किन्तु व्यवहार-नय से आत्मा में कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्त्व आदि गुण हैं। निश्चय एवं व्यवहार दोनों को स्वीकार करने पर ही आत्मा की मुक्ति संभव है। इस प्रकार का ज्ञान अत्यंत सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक ही गम्य है।

अपने मत या संप्रदाय को लेकर जब संकुचित दृष्टि आ जाती है या दृष्टिराग हो जाता है, तब व्यक्ति आग्रही बन जाता है।

(१७४) स्वागमेऽन्यागमार्थानां शतस्येव परार्धके।
नावतारबुधत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे परार्ध में सब समा जाते हैं, उसी प्रकार स्व-आगम में अन्य शास्त्रों के अर्थों का समावेश करने में यदि पांडित्य न हो, तो वह ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो स्व आगमों का अभ्यास सतत् करता है, गहराई से करता है, उसमें अन्य शास्त्रों के अर्थ करने की कुशलता अपने आप आ जाती है, यदि उसमें ज्ञानगर्भित वैराग्य है। ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत में अन्य-दर्शनी के शास्त्रों के सिद्धान्त को आगमों में निरूपित तत्त्वों के साथ समन्वित करने की सूक्ष्मबुद्धि होती है, अर्थात् ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत की दृष्टि उदार, उदात्त और समत्व वाली होती है, क्योंकि वह अन्य शास्त्रों का भी अध्ययन करके उनके सत्यांश को स्वीकार करता है तथा उनकी आगम के सिद्धान्त के अनुरूप व्याख्या करता है। बौद्ध-दर्शन का सिद्धान्त है-

'सर्वक्षणिकं'। ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत इसे पर्यायार्थिक-नय से स्वीकार करते हुए इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है- 'पर के प्रति अतिशय राग भवभ्रमण का प्रधान कारण है।' अतः संसार के भोगों के प्रति तीव्र आसक्ति को या ममत्व को नष्ट करने के लिए 'सर्वक्षणिकं' रूपी यह बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त भी उपयोगी है। जैन दर्शन में भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से तो सभी वस्तुएँ क्षणिक या विनाशशील मानी गईं हैं। जैन-दर्शन में भी अनित्य भावना बताई गई है। इस अपेक्षा से जैन दर्शन भी बौद्धदर्शन के 'सर्वक्षणिकं' सिद्धान्त को पर्यायार्थिकनय के रूप में स्वीकार करता है। उसी प्रकार 'सर्वखल्लिवदं ब्रह्म' वेदान्त दर्शन के इस सिद्धान्त को भी वह संग्रह-नय की अपेक्षा से स्वीकार करते हुए स्थानांगसूत्र के 'एगे आया', अर्थात् आत्मा एक है- इस सूत्र में समाविष्ट कर लेता है। दूसरे जीवों के प्रति द्वेष दूर करने के लिए 'सर्वखल्लिवदं ब्रह्म' यह सिद्धान्त उपयोगी है।

इस प्रकार ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत ने चाहे अन्य शास्त्रों के किसी विषय का अध्ययन न भी किया हो, तो भी उसकी प्रतिभा इतनी विकसित होती है कि अन्य दर्शनों के किसी भी सिद्धान्त की बात आए, उसके पास उस सिद्धान्त को जैनदर्शन में समाविष्ट करने की क्षमता होती है। जैन-दर्शन का तत्त्वचिंतन विविध नयों से इतना गहरा है कि दुनिया के किसी भी पदार्थ या किसी भी वचन का तात्पर्य जैन दर्शन के सिद्धान्तों द्वारा समझाया जा सकता है। यहाँ दृष्टांत दिया गया है-परार्ध धन में, अर्थात् एक के ऊपर सत्तर (७०) शून्य लगाए जाएं, इतने तो उस धन में सभी के धन का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार जैन दर्शन में सभी अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का समावेश विभिन्न नयों से अर्थ घटन करने पर अवश्य हो सकता है।

(१७५) नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने।
माध्यस्थ्यं यदि नायातं न तदा ज्ञानगर्भता।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> सभी नयों के वक्ताओं को स्वयं का अर्थ सत्य तथा अन्य का अर्थ असत्य लगता है, परंतु उनमें यदि माध्यस्थ भाव नहीं आया हो, तो वे ज्ञानगर्भित वैराग्य वाले नहीं हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> सभी नय अपने आप में सत्य होते हैं, वास्तविक होते हैं, लेकिन जब वे एक-दूसरे के दृष्टिबिन्दु का खण्डन करते है, तब असत्य होते हैं, दुर्नय हो जाते हैं। जब एक नय किसी वस्तु के सामान्य अंश का प्रतिपादन कर वस्तु को उस स्वरूप में देखने/ समझने का आग्रह रखता है और दूसरा नय वस्तु के विशेष अंश का प्रतिपादन कर उसे उस रूप में जानने की चेष्टा करता है, तब जो मनुष्य मध्यस्थ नहीं है, वह किसी एक नय की युक्ति को सत्य मान, दूसरे नय के वक्तव्य को असत्य मान लेता है और एक नय का पक्षधर बन जाता है। माध्यस्थ भाव के अभाव में उसका वैराग्य ज्ञानगर्भित नहीं कहलाता है, किंतु ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत माध्यस्थवृत्ति वाला, समभाव वाला मुनि सभी नयों को सापेक्ष मानता है। वह प्रत्येक नय के वक्तव्य का सापेक्ष दृष्टि से मूल्यांकन करता है। वस्तुतः प्रत्येक नय में सत्य का अंश रहा हुआ है। सभी सुनय परस्पर पूरक और समन्वयकारी होते है जैसे-एक वृत्ताकार में परिधि से केन्द्र बिन्दु पर कितनी ही रेखाएँ खींची जाएँ, वे एक दूसरे का खण्डन नहीं करती हैं, बल्कि सभी केन्द्र बिन्दु पर आकर मिल जाती हैं, किन्तु जैसे ही केन्द्र बिन्दु को छोड़ा कि वे एक दूसरे को खण्डित करने लगती हैं, उसी प्रकार सभी सुनय अनेकांतदृष्टि से अपने-अपने सापेक्ष कथन से एक दूसरे को समन्वित करने वाले तथा सभी दुर्नय एकांतदृष्टि से एक दूसरे की काट करने वाले होते हैं।

जिसकी दृष्टि सर्वग्राही नहीं होती, उसके समक्ष अगर निश्चयनय की बात की जाए तो मात्र वहीं सत्य लगेगी और व्यवहारनय की बात की जाए, तब व्यवहार ही सत्य लगेगा, परंतु परस्पर विरुद्ध ऐसे नय का भी समन्वय करने की दृष्टि और शक्ति तो माध्यस्थ भाव धारण करने वाले गीतार्थ मुनियों में होती है, अतः जहाँ भिन्न-भिन्न नयों के प्रति माध्यस्थ-भाव नहीं होता है, वहाँ ज्ञानगर्भित वैराग्य भी नहीं होता है।

(१७६) आज्ञयागमिकार्थानां योक्तिकानां च युक्तितः।
न स्थाने योजकत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता।।३८।।

<u>अनुवाद -</u> आगम द्वारा ग्रहण किए गए अर्थों को और आज्ञा तथा युक्ति द्वारा ग्रहण किए गए अर्थों को युक्तिपूर्वक योग्य स्थान पर योजकत्व

(योग्य अर्थ करने) का सामर्थ्य न हो, तो उसका वैराग्य ज्ञानगर्भित नहीं कहलाता है।

विशेषार्थ - ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत की जिस प्रकार विविध नयों के अर्थघटन के प्रति माध्यस्थ दृष्टि होती है, उसी प्रकार उसमें योग्य स्थान पर योग्य अर्थ करने की दृष्टि भी होना चाहिए। कितने ही स्थानों पर ऐसे विषयों का तर्क और युक्ति द्वारा अर्थ करने का अवसर होता है, जिसे हेतुवाद कहते हैं। इसमें विविध प्रकार के प्रमाण देकर अर्थ सिद्ध करने का प्रयोजन होता है। कितने ही विषय ऐसे होते हैं, जहाँ तर्क और प्रमाण काम नहीं करतें, वहाँ श्रद्धा से ही आगे बढ़ सकते हैं। उसके लिए आगम का ही आधार देना होता है, अर्थात् 'इन विषयों में जिनेश्वर भगवान् का ऐसा कथन है, इसलिए यह आज्ञारूप है', इस प्रकार श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना होता है, जैसे-अभव्य जीव अनंत हैं, अनंत जीव मोक्ष में गए, वर्तमान में जा रहे हैं और अनंत जाएंगे, फिर भी वे निगोद के एक शरीराश्रित जीवों की संख्या के मात्र अनंतवें भाग के बराबर हैं। इस प्रकार के वचनों को कोई भी तर्क या प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकता है। इनके लिए तो सर्वज्ञ के वचन ही प्रमाणभूत होते हैं। अतः, जिस स्थान पर जो वाद करना हो, उस स्थान पर वह वाद करने की सामर्थ्य ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत गीतार्थ महापुरुषों में होती है। जिसमें इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं हो, उसमें ज्ञानगर्भित वैराग्य संभव नहीं है।

(१७७) गीतार्थस्यैव वैराग्यं ज्ञानगर्भं ततः स्थितम्।
उपचारादगीतस्याप्यभीष्टं तस्य निश्रया।।३६।।

अनुवाद - इस कारण से ज्ञानगर्भित वैराग्य गीतार्थ को होता है, व्यवहार से उनकी निश्रा में रहे हुए अगीतार्थ को भी हो सकता है।

विशेषार्थ - इस प्रकार ज्ञानगर्भित वैराग्य प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। जिसने स्वशास्त्रों का गहन अध्ययन किया हो, साथ ही अन्य शास्त्रों का भी अवगाहन किया हो, जिसके जीवन में किसी प्रकार का कोई कदाग्रह नहीं हो तथा मात्र मोक्ष की अभिलाषा से ही जिसकी सारी प्रवृत्तियाँ होती हों, जो सूत्र और अर्थ के रहस्य को समझता हो, उसको समझा सकता हो, ऐसा चारित्रसम्पन्न महामुनि का वैराग्य ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता है। जहाँ

गीतार्थता है, वहीं ज्ञानगर्भित वैराग्य है, परंतु व्यवहार से जो अगीतार्थ गीतार्थ की आज्ञा में या उनकी निश्रा में रहता है, उसे भी ज्ञानगर्भित वैराग्य हो सकता है, क्योंकि गीतार्थ की निश्रा में रहने से और उसकी आज्ञा का पालन करने से उसका वैराग्य भी सुदृढ़ रहता है, उसकी श्रद्धा निर्मल होती है। कभी ज्ञानांतराय कर्म के उदय से उसे माषतुष मुनि की तरह शास्त्रों का अभ्यास न भी हो, परंतु उसकी स्वरूप की आराधना शुद्ध होती है। वह सरल प्रकृति का होता है तथा बहुमानपूर्वक गुर्वाज्ञा को धारण करता है, अतः उसका वैराग्य ज्ञानगर्भित वैराग्य हो सकता है।

ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत के महत्त्वपूर्ण लक्षण

(१७८) सूक्ष्मेक्षिका च माध्यस्थं सर्वत्र हितचिन्तनम्।
क्रियायामादरो भूयान् धर्मे लोकस्य योजनम्।।४०।।

(१७९) चेष्टा परस्य वृत्तान्ते मूकान्धबधिरोपमा।
उत्साहः स्वगुणाभ्यासे दुःस्थस्येव धनार्जने।।४१।।

(१८०) मदनोन्मादवमनं मदसंमर्दमर्दनम्।
असूयातन्तुविच्छेदः समतामृतमज्जनम्।।४२।।

(१८१) स्वभावान्नेव चलनं चिदानंदमयात्सदा।
वैराग्यस्य तृतीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली।।४३।।

अनुवाद - सूक्ष्मदृष्टि, माध्यस्थ-भाव, सर्वत्रहितचिन्तन, क्रिया के प्रति अत्यंत आदर, लोगों को धर्म में जोड़ना, अन्य की बातों में गूंगे, अंधे और बहरे जैसी चेष्टा तथा धन के उपार्जन करने में दरिद्र व्यक्ति को जैसा उत्साह होता है, वैसा उत्साह स्वगुण के अभ्यास में होना, कामवासना का त्याग, मद के समूह (आठ प्रकार के मद) का मर्दन, असूया (ईर्ष्या) के तन्तु का विच्छेद, समतारूपी अमृत में डूबे हुए (मग्न) चिदानंदमय-ऐसे स्वभाव से कभी चलित नहीं होना - ये तीसरे प्रकार के (ज्ञानगर्भित) वैराग्य के लक्षण कहे गए हैं।

विशेषार्थ - प्रस्तुत चार श्लोकों में 'ज्ञानगर्भितवैराग्यवंत' के लक्षण कौन-कौन से होते हैं या ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत को पहचानने का आधार क्या

है ? यह बताया गया है। इन लक्षणों के आधार पर ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत को पहचान सकते हैं।

१. सूक्ष्मदृष्टि - ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म होती है। इस कारण से वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों के रहस्य को ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार की बुद्धि उसे पदार्थों के सतत चिंतन, मनन और अभ्यास से प्राप्त होती है। सभी नय-प्रमाण आदि के द्वारा उसे विभिन्न पदार्थों का और शास्त्रों का ज्ञान रहता है। वह उनकी अच्छी प्रकार से व्याख्या करने में भी समर्थ होता है।

२. माध्यस्थ भाव - अनुकूल-प्रतिकूल, मान-अपमान, जय-पराजय, प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति में वह समत्व बनाए रखता है। उसका राग द्वेष से दूर रहने का पुरुषार्थ सतत चलता है। जो लोग उसके प्रतिकूल चलते हैं या उसे बाधा पहुँचाते हैं, उनके प्रति भी वह द्वेष नहीं करता है। वह किसी के प्रति पक्षपात नहीं करता है। द्वेषी एवं बन्धु, धर्मात्मा एवं पापियों से समभाव रखता है।

३. सर्वत्र हितचिन्ता - सभी पाप कार्यों से किस प्रकार मुक्त हो, सभी जीव सुखी कैसे बने, उनका हित कैसे हो ?-इस प्रकार का उसका चिंतन चलता रहता है। आध्यात्मिक-मार्ग में अनेक जीवों का वह पथप्रदर्शक बनता है।

४. क्रिया के प्रति बहुमान - उसे प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति हृदय से बहुमान रहता है। त्याग और संयमपूर्वक जीवन जीने के लिए उपयोगी तप, जप, व्रत आदि क्रियाओं को आदरपूर्वक करता है, उत्साह और उमंग के साथ करता है। वह खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति आदि दोषों से रहित होकर शुद्ध क्रिया करता है।

५. लोगों को धर्ममार्ग में जोड़ने की प्रवृत्ति - स्वयं ने जिस अलौकिक मार्ग को प्राप्त किया, वैसे ही अन्य जीव भी इस मार्ग की ओर प्रवृत्तिशील बनें, अधिक से अधिक लोग धर्म के मार्ग से जुड़ें, यह भावना उसके हृदय में सतत बनी रहती है।

६. ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत को पर की पंचायत में थोड़ा भी रस नहीं होता है। वह किसी की निंदा कभी नहीं करता। उसे दूसरे की अच्छी बुरी बातों को सुनने की उत्सुकता भी नहीं होती और वह अन्य के दोषों को भी नहीं देखता। वह अन्य की बातो के लिए अंधा, गूंगा और बहरा बन जाता है।

७. स्वगुणों के अभ्यास में उत्साह - विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग, तप, संयम, विवेक, उदारता, माध्यस्थता, आत्मचिंतन आदि अनेक गुणों का विकास करने के लिए वह सदा उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील रहता है। निर्धन व्यक्ति को धन कमाने में जैसा उत्साह रहता है, वैसा ही उत्साह उसे गुणों की प्राप्ति में होता है।

८. कामवासना का त्याग - ज्ञानगर्भित वैराग्य जहाँ शुद्ध ब्रह्मचर्य हो, वहीं स्थिर रहता है, अतः वह शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गंध, आदि विषयों के प्रति अनासक्त रहता है। कभी चित्त में कामवासना जाग्रत हो, तो वह तुरंत उसे चित्त से बाहर निकाल देता है।

९. मद का मर्दन - जाति मद, रूप मद, कुल मद, श्रुत मद, तप मद, बल मद, ऐश्वर्य मद, लक्ष्मी-मद आदि आठ प्रकार के मद से वह मुक्त रहता है। ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत को किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं होता। वह सदा साक्षी भाव में रहता है। कहा भी गया है -

अभिमानी के जीवन में ज्ञान न करता धाम।
फटी जेब में क्या कभी रह सकते है दाम।।

१०. असूया के तंतु का विच्छेद - असूया, अर्थात् ईर्ष्या। अन्य के गुणों को देखकर, अन्य की प्रशंसा सुनकर दुःखी होना तथा अन्य के अवगुणों को सुनकर, उनकी निंदा आदि से प्रशंसित होना। असूया से ग्रसित व्यक्ति परनिंदा और आत्मप्रशंसा जैसे भयंकर पाप में गिर जाता है, परंतु ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत का चिंतन सूक्ष्म होता है। वह उदार हृदय तथा गुणानुरागी होता है, अतः इस वृत्ति का वह मूल से ही नाश कर देता है।

११. समतारूपी अमृत में मग्न - ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत न कभी हर्षित होता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न कामना करता है तथा सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान समभाव से देखता है। उसकी सभी प्रकार की परिस्थिति के प्रति पक्षपातरहित दृष्टि होती है, अतः वह सदा समता रस में मग्न रहता है।

१२. चिदानंदमय स्वभाव में स्थिर - ज्ञानगर्भित वैराग्यवंत आत्मविकास करते-करते उस भूमिका पर पहुँच जाता है, जहाँ परभाव और परद्रव्य में चित्त आकर्षित हुए बिना अपने-अपने आत्मस्वभाव में सतत रमण करता रहता है। अपने आत्मस्वभाव से वह चलित नहीं होता है।

(१८२) ज्ञानगर्भमिहादेयं द्वयोस्तु स्वोपमर्दतः।
उपयोगः कदाचित् स्यान्निजाध्यात्मप्रसादतः।।४४।।

<u>अनुवाद -</u> ज्ञानगर्भित वैराग्य ही आदेय है, अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। बाकी के दो वैराग्य (मोहगर्भित और दुःखगर्भित) उपमर्दन करने से या कभी आध्यात्म के प्रसाद से उपयोगी हो सकते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> वैराग्य भेद के अन्तर्गत ग्रंथकार ने तीन प्रकार के वैराग्य बताए हैं - १. दुःखगर्भित २. मोहगर्भित ३. ज्ञानगर्भित। इन तीनों प्रकार के वैराग्यों में ज्ञानगर्भित वैराग्य सर्वश्रेष्ठ है तथा वही स्वीकार करने के योग्य है। यह वैराग्य शाश्वत है। मोक्षमार्ग के आराधक जीवों के लिए ज्ञानगर्भित वैराग्य ही उपयोगी है। जहाँ ज्ञानगर्भित वैराग्य है, वहीं सम्यक्त्व भी है, इसलिए यहीं ग्रहण करने योग्य है।

मोहगर्भित और दुःखगर्भित वैराग्य स्थिर नहीं होते हैं, तथापि उन्हें सर्वथा निरूपयोगी नहीं कह सकते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं तथा वर्तमान में भी हम देखते हैं कि कई बार व्यक्ति दुःखों से प्रेरित होकर संसार से उदासीन हो जाता है और संयम ग्रहण कर लेता है। संयम ग्रहण कर लेने के बाद चारित्र धर्म की सुंदर आराधना करता है तथा विनय, वैयावृत्य, त्याग, तप आदि करते हुए अपने जीवन को सफल करता है। मोहगर्भित वैराग्य के दृष्टान्त भी उसी प्रकार मिलते हैं। इन दोनों प्रकार के वैराग्यों का सर्वथा तिरस्कार भी नहीं कर सकते हैं।

दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्य सुगुरु के सान्निध्य से तथा सत्शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञानगर्भित वैराग्य में रूपान्तरित होते जाता हैं। आध्यात्मिक-रुचि जाग्रत होने के बाद फिर उसे अनुकूलता के प्रति राग और प्रतिकूलता के प्रति द्वेष नहीं होता है, अतः वैराग्य चाहे दुःख या मोह से उत्पन्न हुआ हो, वह तिरस्कार के योग्य नहीं है।

——०००——

प्रबंध-द्वितीय

सातवाँ अधिकार - वैराग्य-विषय अधिकार

(१८३) विषयेषु गुणेषु च द्विधा भुवि वैराग्यमिदं प्रवर्तते।
अपरं प्रथमं प्रकीर्तितं परमध्यात्मबुधैर्द्वितीयकम्।।१।।

<u>अनुवाद -</u> इस जगत में दो प्रकार के वैराग्य हैं - विषयों के प्रति वैराग्य और गुणों के प्रति वैराग्य। अध्यात्मशास्त्र के पण्डितों ने प्रथम वैराग्य को अपर (गौण) कहा और द्वितीय वैराग्य को पर अर्थात् मुख्य या उत्कृष्ट कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> वैराग्य भेद अधिकार में तीन प्रकार के वैराग्य कहे गए हैं। उनमें से ज्ञानगर्भित वैराग्य के भी जगत् में मुख्य रूप से दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम, विषयों के प्रति वैराग्य और द्वितीय, स्वयं के गुणों के प्रति वैराग्य।

विषयों के प्रति आकर्षण न हो, उनके प्रति किंचित् राग न हो तथा सहज स्वाभाविक रूप से विषयों से विमुख रहने की प्रवृत्ति हो, तो वह प्रथम प्रकार का वैराग्य कहलाता है। इस संसार में स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय- इन पाँच इन्द्रियों के तेईस (२३) विषय कहे गए हैं। सामान्य व्यक्ति के चित्त में इन विषयों के प्रति सहज आकर्षण रहता है। मुलायम स्पर्श, स्वादिष्ट व्यंजन, सुरभि गंध, नयनरम्य सुंदर रूप, मधुर स्वर आदि मनोज्ञ विषयों के प्रति तीव्र राग रहता है और इनसे विपरीत प्रतिकूल अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष रहता है, परंतु विषयों के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उनकी क्षणिकता, पराधीनता, निस्सारता आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर विषयों के प्रति मन सहज ही विरक्त हो जाता है। विषयों के प्रति ऐसा वैराग्य भी विरले व्यक्ति को ही होता है। वैराग्य उत्पन्न होने के बाद उसका स्थायित्व बने रहना भी अत्यंत कठिन है

फिर भी सुज्ञजनों ने इस वैराग्य को उत्तम वैराग्य की संज्ञा नहीं दी है तथा इसे अपर या गौण वैराग्य कहा है। यह वैराग्य परलक्षी है। विषयादि शरीर इन्द्रियाधारित होने से 'स्व' से पृथक् 'पर' ही है और उनके प्रति वैराग्य भी परलक्षी वैराग्य कहलाता है। अध्यात्म मार्ग में आत्मिक विकास के क्रम की उच्च श्रेणी में इसकी विशेष उपयोगिता नहीं रहती है।

द्वितीय प्रकार का वैराग्य 'पर' अथवा उत्कृष्ट वैराग्य कहलाता है। त्याग, तप, संयम आदि की उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप साधक में अनेक गुण प्रकट हो जाते हैं, कई प्रकार की ऋद्धियाँ, लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। स्वयं में प्रकट हुए गुणों के प्रति आसक्त नहीं होना-यह उत्कृष्ट (मुख्य) वैराग्य है। इसे गुणवैराग्य कहते हैं। विषय वैराग्य की अपेक्षा गुण वैराग्य उच्च कक्षा का है। स्वयं के मन पर असाधारण प्रभुत्व न हो, अर्थात् पूर्ण नियंत्रण न हो, तो यह वैराग्य नहीं आ सकता है। परनिंदा से दूर रहना फिर भी आसान है, अपनी निंदा सुनकर द्वेष नहीं करना-यह भी सरल है, किंतु अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न नहीं होना, स्वप्रसिद्धि से दूर रहना अत्यंत ही कठिन है। प्रायः, महापुरुषों की भी यह आकांक्षा रहती है कि उनके गुणों के प्रति जनसमुदाय का आकर्षण हो, उनकी लब्धियों और सिद्धियों का प्रचार हो, अतः आत्मप्रसिद्धि से मुक्त होना और प्रकट हुई लब्धियों के प्रति उदासीन रहना साधारण बात नहीं है। इस वैराग्य के प्रगट होने पर रागभाव का सर्वथा नाश होने लगता है।

(१८४) विषया उपलंभगोचरा अपि चानुश्रविका विकारिणः।
न भवन्ति विरक्तचेतसां विषधारेव सुधासु मज्जताम्।।२।।

<u>अनुवाद -</u> कुछ विषय इन्द्रियों से प्राप्त हो सके-ऐसे हैं, तथा कुछ विषय शास्त्र आदि में श्रवण किए हुए हैं। अमृत में निमग्न हुए व्यक्ति को जैसे विषधारा पीड़ा नहीं पहुँचाती है, उसी प्रकार विरक्त मन वालों को विषय विकारी नहीं बना सकते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इस जगत् में अनेक प्रकार के विषय हैं। उन सभी विषयों का अनुभव सभी व्यक्तियों को असंभव है। कितने ही विषय ऐसे हैं, जिनके बारे में केवल सुना हो, किंतु उनका अनुभव नहीं किया हो, उनको देखा भी नहीं हो और कितने ही विषय ऐसे भी हैं, जिनको केवल देखा हो, किन्तु

अनुभव नहीं किया हो। ये विषय चित्त में विकार को उत्पन्न करने वाले होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में इन विषयों का दो मुख्य भागों में वर्गीकरण किया गया है। प्रथम तो वे विषय, जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जा सकते हैं और दूसरे वे विषय, जो शास्त्रों द्वारा या गुरु-मुख से श्रवण किए गए हों। सामान्यतया; स्पर्शनेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय आदि पाँचों इन्द्रियों के जो-जो विषय हैं, उनका अनुभव किया जा सकता है। वे दृष्टिगोचर हो सकते हैं, किन्तु देवताओं आदि के विषय प्रत्यक्ष दृष्टिपथ में नहीं आते हैं। उनके बारे में शास्त्रों द्वारा या गुरु-मुख से ही जाना जा सकता है। दोनों प्रकार के विषय चित्त को विकारी बनाने में समर्थ हैं। देवगति का दिव्य ऐश्वर्य, सुख, चक्रवर्ती का वैभवादि देखा नहीं है, किन्तु सुनकर भी उनके प्रति लालसा उत्पन्न हो सकती है। उन्हें प्राप्त करने की, उन्हें भोगने की इच्छा से ही चित्त विकार से ग्रस्त हो जाता है। दोनों प्रकार के विषय स्थिर वैराग्यवंत त्यागी महामुनियों के चित्त को चंचल नहीं बना सकते हैं, उनके निर्मल भावों को दूषित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे अपने आत्म-वैभव में इस तरह मग्न होते हैं कि विषयों का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता है। अनुकूल या प्रतिकूल, कैसे भी विषय उनके मन में राग या द्वेष की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हैं, जैसे-अमृत के कुण्ड में स्नान करते हुए व्यक्ति के मस्तक पर विषधारा भी प्रवाहित की जाए, तो उसका कुछ भी असर नहीं होता, क्योंकि अमृत में ऐसी शक्ति है कि वह विषय के प्रभाव को भी निष्फल कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानगर्भित वैराग्य में भी इस प्रकार की शक्ति है कि वह विषयों के प्रति आकर्षण को समाप्त कर देता है। वैराग्यवंत के समक्ष विषय प्रभावहीन हो जाते है।

(१८५) सुविशालरसालमंजरी विचरत्कोकिलकाकलीभरैः।
किमु माद्यति योगिनां मनो निभृतानाहतनादसादरम्।।३।।

<u>अनुवाद -</u> निश्चित जिन योगियों का मन अनाहत नाद को श्रवण करने में रस लेता है उनके मन को सुविशाल आम्रवृक्ष की मजरियों में विचरण करती हुई कोकिल की मधुर ध्वनि द्वारा क्या आनंद प्राप्त होगा ?

<u>विशेषार्थ -</u> योगियों का जीवन कामवासना से ऊपर उठा हुआ होता है। उनकी ऊर्जा ऊर्ध्वगामी होती है। मेरुदंड के दो छोर हैं। आरंभ में कामकेन्द्र

है, अंत में सहस्रार-यह सिर के ऊपर का सातवां चक्र है। जब ऊर्जा वास्तव में सहस्रार पर पहुँच जाती है, तब कामकेन्द्र पर कोई संवेदना नहीं होती। वह बिल्कुल शांत और स्थिर हो जाता है। परमयोगी पुरुष जो अपनी स्वरूप साधना में उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं, उन्हें ब्रह्मरंध्र (सहस्रारचक्र) में से उठता हुआ अनाहत नाद सुनाई देता है। यह नाद ऊँकाररूप अथवा अर्हमरूप, अथवा सोहम्‌रूप ध्वनि होती है और यह ब्रह्मरंध्र से उठती हुई सुनाई देती है। यह ध्वनि अत्यंत मधुर, शुद्धतम और आल्हादकारी होती है। ऐसी ध्वनि को सुनने में मग्न और अपने अन्तर्जगत् में विचरण करने वाले योगी बाहरी-जगत् से बिल्कुल निस्पृह होते हैं। उन्हें बाह्य जगत् का संगीत आकर्षित नहीं कर सकता है।

बसंत ऋतु का आगमन होने पर आम्रवृक्ष की शाखाओं पर पुष्कल मंजरियाँ खिल उठती हैं। उन मंजरियों की महक इतनी तीव्र और उन्माद पैदा करने वाली होती है कि वहाँ विचरण करता हुआ नर कोकिल भी उसकी महक से प्रेरित होकर कुहू-कुहू की ध्वनि करने लगता है। बसंत ऋतु, आम्रमंजरी और कोकिल का मधुर स्वर, अर्थात् काम को उद्दीप्त करने वाला वातावरण। ऐसे मनमोहक वातावरण से युवक और युवतियों को दूर होने की इच्छा नहीं होती है, परंतु यह वातावरण उसी को बहका सकता है जिसने बाह्य जगत् को देखा है, जिसका अंतर्जगत् अनदेखा रह गया है। जिसके हाथ में, जिसकी आँख में, अंतर्जगत् की संपदा है, वह संसार का सबसे अनूठा, सबसे समृद्ध और सर्वाधिक सुखशांति का स्वामी है। अंतर्जगत् का अपना रस है, अपना स्वाद है, अपना संगीत है, अपना आनंद है, उसका अपना प्रकाश है। जो योगी अपने अन्तर्नाद की मधुर ध्वनि को सुनने में मस्त हैं, उन्हें कोयल का मधुर स्वर आकर्षित नहीं कर सकता है।

(१८६) रमणीमृदुपाणिकंकणक्वणनाकर्णनपूर्णघूर्णमा।
अनुभूतिनटीस्फुटीकृत प्रियसंगीतरता न योगिनः।।४।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मानुभवरूपी नर्तकी द्वारा प्रस्तुत (स्फुट) किए संगीत में मग्न बने हुए योगी युवतियों के कोमल हाथों के कंगनों की ध्वनि को सुनने से किंचित् भी विचलित नहीं होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि परमयोगी अनुकूल परिषहों से भी किंचित् विचलित नहीं होते हैं, क्योंकि वे निजस्वरूप में रमण करते हैं। यहाँ आत्मस्वरूप के अनुभव को नर्तकी का रूपक दिया गया है। नर्तकी जब नृत्य करती है, तब उसके पायल की मधुर झंकार सुनकर चित्त चंचल हो जाता है। उसके अन्य अलंकारों में भी मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है, उसके पैरों की थिरकन, उसके हाव-भाव, रूप-शृंगार आदि से नयनरम्य दृश्य तथा मधुर कर्णप्रिय श्रव्य का अनुभव होता है। उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए योगियों को निरंतर उत्कृष्ट साधना के बल से आत्मदर्शन होता है तथा उस समय ऊँकारध्वनिरूपी अनाहत नाद का गुंजन होता है। दृश्य और श्रव्य का ऐसा दिव्य अनुभव होता है कि योगी का मन उसमें पूर्णतः लीन हो जाता है। वह अपने आन्तरिक-जगत् में इतना डूब जाता है कि उसे बाहर आने की इच्छा ही नहीं होती है। ऐसे आत्मलीन योगी की वास्तविक नर्तकी के नृत्य की ध्वनि में रुचि नहीं होती है। ऐसे योगियों को देवांगनाएँ भी विचलित नहीं कर सकती हैं। सामान्य स्त्रियों के रत्नजड़ित स्वर्ण कंगनों की मधुर ध्वनि उन्हें किस प्रकार आकर्षित कर सकती है ? जब तक मधुर खीर का आस्वादन नहीं किया जाए तब तक ही व्यक्ति का मन गुड़ की राब के प्रति आकर्षित रहता है किन्तु खीर का आस्वादन करने के बाद वह गुड़ की राब को भूल जाता, उसी प्रकार जब तक उत्कृष्ट आनंद का, आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं होता, तभी तक मनुष्य का चित्त सामान्य भौतिक आनंद के प्रति आकर्षित रहता है। यही कारण है कि संसार के अज्ञानी मोहांध पुरुष ही स्त्रियों के कोमल करकंगनों की ध्वनि से मोहित होते हैं, परमयोगी नहीं।

(१८७) स्खलनाय न शुद्धचेतसां ललनापंचमचारुघोलना।
यक्ष्यिं समतापदावली-मधुरालापरतेर्न रोचते।।५।।

<u>अनुवाद -</u> निर्मल चित्त वाले पुरुषों को स्त्रियों के पंचम स्वर का मनोहर नाद स्खलित नहीं करता है। समतारूपी पदावली के मधुर आलाप में, अर्थात् शास्त्रों के स्वाध्याय में मग्न रहने वाले ज्ञानयोगी को यह (नाद) रुचिकर नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानगर्भित वैराग्य और निरंतर आत्मचिंतन से जिनका चित्त निर्मल हो गया है ऐसे पवित्र मन वाले योगियों द्वारा समत्व की ऐसी उत्कृष्ट आराधना की जाती है कि अनुकूल और प्रतिकूल-दोनों प्रकार के परिषहों से वे तनिक भी विचलित नहीं होते हैं। योगी समत्व को पुष्ट करने वाले ऐसे शास्त्रों के वचनरूपी पदावली का आवर्तन करने में, अर्थात् शास्त्रों के स्वाध्याय में एकरस हो जाते हैं, उनके मन-मस्तिष्क में स्वाध्याय की ही दिव्य गूंज छायी रहती है, इसलिए दूसरी कोई अनर्गल बात उनके चित्त को विक्षिप्त नहीं कर सकती है। स्थितप्रज्ञ के समान उनकी बुद्धि संयम में स्थिर होती है। स्त्रियों के मधुर वार्त्तालाप, और उनके कोकिल कण्ठ से स्फुरित मधुर कर्णप्रिय गीत-संगीत भी उनके मन को आकर्षित नहीं कर सकता हैं। सामान्य व्यक्ति कोकिल कण्ठी स्त्रियों के पंचम सुर, अर्थात् उच्च तार-स्वर से निकली हुई मधुर संगीत की ध्वनि से डोल उठते हैं, उन पर लाखों रुपएं न्यौछावर कर देते हैं, उन्हें लगता है कि सारी दुनिया का आनंद स्त्रियों के पैरों की पायल की झंकार और उनके कण्ठ से निकले हुए मधुर स्वर में ही समाया हुआ है, किन्तु जिन्होंने अपने अन्तर्जगत् में विचरण करते हुए समत्व के आनंद का अनुभव किया है, जो स्वाध्याय की मधुर ध्वनि के आनंद में मग्न हैं, उन योगियों के लिए यह स्थूल पंचम स्वर भी बेसुरा हो जाता है।

(१८८) सततं क्षयि शुक्रशोणित-प्रभवंरूपमपि प्रियं न हि।
अविनाशिनिसर्गनिर्मल प्रथमानस्वकरूपदर्शिनः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> स्वयं के अविनाशी, स्वभाव से निर्मल, विस्तीर्ण स्वरूप का दर्शन करने वाले को सतत क्षय होता हुआ, वीर्य और रुधिर से उत्पन्न हुआ रूप भी प्रिय नहीं लगता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार चक्षुरिन्द्रिय के विषय में कथन कर रहा है। एक तरफ शाश्वत स्वरूप है तथा दूसरी ओर नश्वर क्षणिक स्वरूप। एक अनंत सुख की ओर ले जाने वाला और दूसरा जन्म-मरणरूप दुःख की खाई में धकेलने वाला, अर्थात् एक ओर आत्मा का शाश्वत स्वरूप है, तो दूसरी ओर देह का क्षणभंगुर स्वरूप। स्पष्ट है कि इन दोनों स्वरूपों में आत्मस्वरूप ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वही परमानंद प्रदाता है। देह का सौन्दर्य

भी वहीं तक है, जब तक उसमें आत्मा विराजित है। इस देह का सौन्दर्य कैसा है? अद्भुत रूप और लावण्य से युक्त स्त्री को देखकर भोगी विचार करता है कि कैसा अद्भुत रूप है, विधाता ने सारा सौन्दर्य उसमें समाहित कर दिया है, जबकि योगी उसे देखकर विचार करता है कि शुक्र और रुधिर के संयोग से उत्पन्न हुआ यह औदारिक- शरीर का रूप क्षण-क्षण में जीर्ण हो रहा है और एक दिन नष्ट हो जाएगा। इस देह की कैसी दशा है? एक दिन अपने नश्वर रूप और सौन्दर्य पर अहंकार करने वाली यह स्त्री भी काल कवलित हो जाएगी।

मत अहंकार कर, इस चिकनी चुपड़ी देह पर।
सोने की परत चढ़ी है, गोबर के ढेर पर।।

ऊपर से सुंदर दिखने वाली देह में अंदर तो रक्त-मांस आदि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं, स्त्रियों के बारह द्वार और पुरुष के नौ द्वारों से निरन्तर अशुचि बहती रहती है। थोड़ी सी त्वचा निकल जाने पर उस स्थान को देखना भी रुचिकर नहीं लगता है।

दूसरी ओर आत्मा का दिव्य सौन्दर्य है, जो अविनाशी है, निर्मल है, विस्तीर्ण है, लेकिन उसे निहारने के लिए ज्ञान-चक्षु की आवश्यकता होती है। योगियों के ज्ञान-चक्षु खुले हुए होते हैं। अपने अन्तर्चक्षु द्वारा आत्मा के सौन्दर्य का पान करने के पश्चात् अगर चर्मचक्षु से दिखाई देने वाला स्थूल, औदारिक, नाशवान् सौंदर्य अरुचिकर लगे, तो उसमें आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है।

(१८६) परदृश्यमपायसंकुलं विषयो यत्खलु चर्मचक्षुषः।
न हि रूपमिदं मुदे यथा निरपायानुभवैकगोचरः।।७।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार दोषरहित और अनुभवगोचर-ऐसे आत्मस्वरूप से (योगियों को) जिस आनंद की प्राप्ति होती है, वह आनंद उस रूप से प्राप्त नहीं होता हैं, जो अन्य लोगों द्वारा देखा जाने वाला, चर्मचक्षु का विषय और दोषसहित है।

<u>विशेषार्थ -</u> यहाँ चर्मचक्षु से दिखाई देने वाला स्थूल रूप और प्रज्ञाचक्षु से अनुभूत होने वाला सूक्ष्म रूप-इन दोनों के स्वरूप पर चर्चा की गई है।

चर्मचक्षु से दिखाई देने वाला स्त्रियों का रूप कितने ही अनर्थ पैदा करता है। रूपवती स्त्री अनेक लोगों की विकारी दृष्टि गिरती है, तो भी स्त्री उनको रोक नहीं सकती है। कोई पति यह कहे कि उसकी रूपवती स्त्री को देखने का अधिकार सिर्फ उसे ही है, तो व्यवहार में यह संभव नहीं होता। स्थूल रूप देखने पर एक ओर तो प्रसन्नता होती है, गर्व होता है, दूसरी ओर ईर्ष्या, निंदा, द्वेष आदि का जन्म होता है, अतः स्थूल रूप अपायों का समूह है। अपाय अर्थात् दोष, दुःख, कष्ट, पाप, विनाश आदि। रूप के कारण अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। रूपवती मल्लीकुंवरी से विवाह के लिए छः राजा आतुर थे। उनमें युद्ध करके भी मल्लीकुंवरी को प्राप्त करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। प्राचीन समय में रूपवती राजकुमारियों व नारियों को उठाकर ले जाने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है। स्त्रियों के रूप के कारण कलह, युद्ध, विश्वासघात, हत्या आदि के कई उदाहरण मिलते हैं, अतः ऐसे अनर्थों को उत्पन्न करने वाले दोषों को जन्म देने वाले अशुचिमय ऐसे स्थूल रूप को देखने पर वह आनंद कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है, जो योगी अपने अपायरहित आत्मस्वरूप को ज्ञानचक्षु से निहारते हुए प्राप्त करता है। निजस्वरूप को निजदृष्टि से ही निहारा जा सकता है, उस आत्मस्वरूप पर अन्य लोगों की विकारी दृष्टि नहीं पड़ती है।

(१६०) गतिविभ्रमहास्यचेष्टितै- र्ललनानामिह मोदतेऽबुधः।
सुकृताद्रिपविष्वमीषु नो विरतानां प्रसरन्ति दृष्टयः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> स्त्रियों की गति, विलास, हास्य और चेष्टाओं से अज्ञानी व्यक्तियों को आनंद होता है। सुकृतरूपी पर्वत के लिए वज्र के समान ऐसे विलासों की ओर विरक्त योगियों की दृष्टि नहीं जाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो मन का गुलाम होता है, अर्थात् जिसका मन नियंत्रण में नहीं है, उसकी इन्द्रियाँ भी चंचल होती है और ऐसा व्यक्ति साधारण निमित्त मिलने पर भी विचलित हो जाता है। प्रस्तुत श्लोक में चक्षुरिन्द्रिय के विषय की चर्चा है। अज्ञानी व्यक्ति स्त्रियों के हाव-भाव से आनंदित हो जाता है। जब तक प्रसंग उपस्थित नहीं हो, तब तक मनुष्य कदाचित् संयम में रह सकता है परंतु यदि कोई रूपवती स्त्री आकर्षित करने के लिए स्वयं आगे चलकर हावभाव, नयनकटाक्ष, हास्य, गति आदि विभिन्न प्रकार की

चेष्टाएँ करती है, तब महापुरुषों के लिए भी अपने मन को नियंत्रण में रखना दुष्कर होता है, फिर सामान्य पुरुषों को किस प्रकार मार्ग से भ्रष्ट करना, उन्हें किस प्रकार विचलित करना, उन्हें किस तरह अपने आधीन करना, इसकी कला स्त्रियों में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। कभी-कभी स्त्रियाँ केवल अपने स्वार्थ को साधने के लिए पुरुषों को मोहित करती हैं और स्वार्थ सिद्ध हो जाने के बाद उनके प्रेम में पागल बने पुरुष की ओर नजर भी नहीं डालती हैं। प्राचीन इतिहास में भी कई दृष्टान्त हैं जिनमें बड़े-बड़े तपस्वी, ज्ञानी, ऋषि-महर्षि अपनी भूमिका को भूलकर स्त्रियों के चंगुल में फंसकर अपने-आप को भ्रष्ट कर लेते हैं, अपने संयम से च्युत हो जाते हैं, पतित हो जाते है, इसलिए ग्रंथकार ने स्त्रियों के हाव-भाव आदि विलासों को वज्र के समान बताया गया है। जैसे-वज्र के प्रहार से बड़े-बड़े पर्वत भी चकनाचूर हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के विलासरूपी वज्र के प्रहार से साधारण संयमी व्यक्ति का सुकृतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाता है। वर्षों तक तप-त्याग, संयम आदि के द्वारा जो सुकृतरूपी पर्वत खड़ा हुआ, जो यश-कीर्ति आदि प्राप्त हुए वे क्षणमात्र में ही धूमिल हो जाते हैं। इसके विपरीत, ऐसे महासत्त्वशाली, समर्थ व महान् योगी भी होते हैं, जिनके चित्त पर ऐसे विलासों का कुछ भी असर नहीं होता है। वे उत्सुकतावश भी स्त्रियों की ओर नजर नहीं डालते हैं। उनको ऐन्द्रिक-विषयों में तनिक भी रुचि नहीं होती है। उनके अन्तर में उत्कृष्ट संयम और शुद्ध ब्रह्मचर्य का अद्वितीय आनंद होता है। उस अलौकिक आनंद के सामने वज्र के समान विलास भी राई के दाने के समान क्षुद्र, तुच्छ और निरर्थक लगता है। ऐसे महापुरुषों में मुनि स्थूलिभद्र, वज्रस्वामी तथा सुदर्शन सेठ जैसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनके सामने वज्र के समान विलास भी निष्फल हो गया।

(१६१) न मुदे मृगनाभिमल्लिका लवलीचन्दनचन्द्रसौरभम्।
विदुषां निरूपाधिबाधित - स्मरशीलेनसुगंधिवर्ष्मणाम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जिनका शरीर निरूपाधिक है और कामदेव के प्रतिबंधक (नियंत्रण करने वाला) शील द्वारा सुगंधित है, ऐसे विद्वान् पुरुषों को

कस्तूरी, मालती पुष्प, इलायची, चंदन, कर्पूर आदि की सौरभ से आनंद नहीं होता है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार प्रस्तुत श्लोक में घ्राणेन्द्रिय के विषय का प्रतिपादन कर रहा है। एक-एक इन्द्रिय के गुलाम होने पर क्रमशः हस्ती, मत्स्य, भ्रमर, पतंगा, हरि आदि अपने प्राण गवां देते हैं। मनुष्य तो पाँचों इन्द्रियों का गुलाम है। जगत् में घ्राणेन्द्रिय के विषय अनेक रूप में विद्यमान हैं। कस्तूरी, मालतीपुष्प, ऐलची, चंदन, कर्पूर तथा कई प्रकार के इत्र आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ हैं, जिनकी सुगंध से मन आकर्षित होता है। केवल मनुष्य में ही नहीं, बल्कि अन्य प्राणियों में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कितने ही क्षुद्र प्राणियों की घ्राण शक्ति मनुष्य से भी अधिक तीव्र होती है। चींटी-चींटी आदि को गंध से पता चल जाता है कि उनका आहार किस दिशा में है और वे उस ओर प्रस्थान करने लगते हैं। सुगंधित सुमनों पर भ्रमर मंडराते रहते हैं। कितने ही सुगंधित द्रव्य कामोत्तेजक भी होते हैं। मानव अपने शरीर, वस्त्र आदि को सुवासित करने के लिए कई प्रकार के इत्र आदि का प्रयोग करता है, किन्तु यह कृत्रिम सुगंध कितने समय रहने वाली है ? वह कुछ घण्टों में ही वातावरण में विलीन हो जाती है, किन्तु ज्ञानी महापुरुष तो कामदेव को पराजित करने वाले ऐस शील की सुगंध से सुवासित होते हैं, जिसके भावों की निर्मलता तथा उत्कृष्ट संयम के पालन से इनका व्यक्तित्व इतना सुवासित व आकर्षक रहता है कि साधक सहज ही उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, श्रद्धा से उनका सिर झुक जाता है। पौद्‌गलिक सुवास की अपेक्षा ब्रह्मचर्य की, संयम की, सदाचार की सुवास अनंतगुना अधिक होती है और यह आत्मा के लिए कल्याणकारी होती है। पौद्‌गलिक सुवास तो क्षणिक आनंद प्रदान करती है, जबकि शील की सुगंध सतत शाश्वत आनंद प्रदान करती है।

(१६२) उपयोगमुपैति यच्चिरं हरते यन्न विभावमारूतः।
न ततः खलु शीलसौरभा-दपरस्मिन्निह युज्यते रतिः।।१०।।

अनुवाद - जो चिरकाल तक उपयोग में आती है और विभावरूपी वायु जिसका हरण नहीं कर सकती है, ऐसी शीलरूपी सौरभ के अलावा अन्य किसी सौरभ के प्रति प्रीति रखना उचित नहीं है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बताया है कि शीलरूपी दिव्य सौरभ कैसी होती है ? शील की सौरभ स्थाई होती है। जब तक शील है, तब तक उसकी सौरभ भी प्रसारित होती रहती है। यह सौरभ चिरकाल तक उपयोग में आती है। व्यक्ति चला जाता है, फिर भी उसके शील की सौरभ रह जाती है। शील से सुवासित महापुरुषों का नाम अमर हो जाता है। प्रायः, सुमनों की सौरभ दूसरे दिन प्रभावहीन हो जाती है। सुबह खिले हुए पुष्प संध्या तक मुरझा जाते हैं और उनकी सुगंध भी अल्पकाल तक ही रहती है। अनेक पौद्‌गलिक सुगंधित पदार्थों की सुगंध पवन अपने साथ निरंतर बहाकर ले जाती है और इस प्रकार कुछ समय में ही वह सुवास समाप्त हो जाती है, परंतु विभाव रूपी पवन भी शीलरूपी सुगंध का हरण नहीं कर सकती है, उसे अपने साथ नहीं ले जा सकती है अतः शीलरूपी सुगंध स्थिर व दृढ़ रह सकती है। शीलवान महापुरुष प्रायः अपने स्वभाव में ही रमण करते हैं, अतः उन्हें काम, क्रोध, राग, द्वेष रूपी विभाव पीड़ित नहीं कर सकते ऐसे आत्मज्ञानी महात्माओं की पौद्‌गलिक सौरभ के प्रति किंचित भी आसक्ति नहीं रहती है। यह सब पुद्‌गल का खेल है- ऐसा सोचकर प्राज्ञ पुरुष पुद्‌गल के खेल से मोहित नहीं होते हैं।

(१६३) मधुरैर्न रसैरधीरता क्वचनाध्यात्मसुधालिहां सताम्।
अरसैः कुसुमैरिवालिनां प्रसरत्पद्‌मपरागमोदिनाम्।।११।।

अनुवाद - जिस प्रकार खिले हुए कमल के पराग में आनंदित भ्रमरों की अन्य नीरस पुष्पों के रस में आतुरता नहीं होती, उसी प्रकार अध्यात्मरूपी अमृत का स्वाद लेने वाले सत्पुरुषों को अन्य मधुर रसों के प्रति उत्सुकता नहीं होती है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार घ्राणेन्द्रिय के पश्चात् रसनेन्द्रिय के विषय का निरूपण कर रहे है। प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक कार्य है, किंतु रसनेन्द्रिय के दो कार्य हैं- रसास्वादन करना और वाणी का व्यापार करना। इन दोनों पर नियंत्रण करना दुष्कर है। सामान्य मनुष्य मिठाइयाँ, दूध, दही, घी, शकर तथा अनेक प्रकार के व्यंजनों को देखकर उनका रसास्वादन करने के लिए आतुर हो जाता है। उसके मुख से लार टपकने लगती है, किन्तु आध्यात्मिक रस का आस्वादन करने वाले महापुरुषों की अन्य रसों में आसक्ति नहीं

होती। जिसने शांत सुधारस का पान कर लिया है, उसे संसार के पौद्गलिक मधुर रसों के प्रति रुचि नहीं होती। अध्यात्मरस के समक्ष दुनियाँ के समस्त पौद्गलिक रस फीके हैं, निम्न हैं, क्षणिक आनंद देने वाले हैं। यह अनुभव की बात है कि श्रेष्ठ सुख का भोग करने के बाद निम्न सुख में किसी की रुचि नहीं होती है। जैसे-खिले हुए कमल पुष्प के पराग का आस्वादन करने वाला भ्रमर उसे छोड़कर अन्य नीरस पुष्पों की ओर आकर्षित नहीं होता, उसी प्रकार आत्मिक-वैभव में रमण करने वाला योगी पौद्गलिक-सुख की ओर दृष्टि नहीं करता है।

(१६४) विषमायतिभिर्नु किं रसैः स्फुटमापातसुखैर्विकारिभिः।
नवमेऽनवमे रसे मनो यदि मग्नं सततऽविकारिणि।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> अगर अविकारी और दोषरहित-ऐसे नौवें (शान्त) रस में चित्त निरन्तर मग्न रहता है, तो फिर भयंकर परिणाम वाले, मात्र ऊपर से सुख का आभास कराने वाले और विकार वाले अन्य रसों का क्या काम है?

<u>विशेषार्थ -</u> भोजन में षट्रस प्रसिद्ध हैं- मधुर, खारा, खट्टा, तीखा, तोरा और कड़वा। उसी प्रकार काव्य जगत में नवरस विख्यात हैं - शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, वीभत्स, वात्सल्य, भक्ति और शान्त। उनमें से जो महापुरुष शान्त रस में डुबकी लगाते हैं, उन्हें फिर अन्य रस रुचिकर नहीं लगते हैं, क्योंकि शान्त रस निर्दोष है, विकाररहित है, इससे एक अनूठे आनंद की अनुभूति होती है। शान्त रस का चिंतन करने में, उसको प्रकट करने में भी आनंद की अनुभूति होती है। उस प्रकट हुए शान्त-रस में निमग्न रहने पर भी अपार आनंद की अनुभूति होती है। उसका परिणाम भी अतिशय आनंद देने वाला, मुक्ति की ओर ले जाने वाला होता है, जबकि अन्य पौद्गलिक रस परिणाम में विकार को जन्म देने वाले होते हैं, विषय-कषाय में वृद्धि करने वाले होते हैं। कितने ही रसों का आस्वादन तात्कालिक आनंद प्रदान करने वाला होता है, परंतु वह आनंद तो क्षणिक होता है और उसका परिणाम भी भयंकर होता है। पौद्गलिक रसों में अधिक आसक्त व्यक्ति अपने तन और मन को रोगी तथा आत्मा को अपराधी बना लेता है, अतः शांत-रस या उपशम-रस ही उपादेय है, श्रेष्ठतम है। इस रस का अनुभव आध्यात्मिक उपलब्धियों द्वारा होता है।

इस रस के आस्वादन का अनुभव करने के बाद अन्य कोई रस प्रिय नहीं लगता है। काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है, किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में शान्त रस ही रसाधिराज है। इस रस का एक बार जिसने आस्वादन कर लिया, उसे बार-बार उसी को पान करने की इच्छा होती है।

(१६५) मधुरं रसमाप्य निष्पतेद्रसनातो रसलोभिनां जलम्।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं विरतानां तु ततो दृशोर्जलम्।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> रस (स्वाद) के लोभी मनुष्यों को मधुर रस प्राप्त होने से जीभ से पानी टपकने लगता है, परंतु विरक्त लोगों को तो उसके दारुण विपाक का चिंतन करते हुए नेत्रों से पानी टपकता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> रसलोलुपी मनुष्य की जीभ से अपने प्रिय स्वादिष्ट व्यंजनों के विषय में सुनते ही या उन्हें देखते ही लार टपकने लगती है, और वह उन्हें खाने के लिए आतुर हो जाता है। मनुष्य अपनी इन्द्रियों का इतना अधिक गुलाम हो जाता है कि अपने भोग्य पदार्थों को देखते ही वह उत्तेजित हो जाता है। उसकी इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं और वह अपने मन पर नियंत्रण नहीं रख पाता है। यहाँ रसनेन्द्रिय का दृष्टान्त दिया गया है कि मधुर रस के व्यंजन पक रहे हों, तो उनकी सुगंध आते ही रसलोलुपी भोगी मनुष्य की जिह्वा से लार टपकने लगती है। कई लोगों को रस में इतनी आसक्ति होती है कि वे अपने पेट का भी ख्याल नहीं करते हैं। पेट के साथ अन्याय करते हैं और कई रोगों के शिकार हो जाते हैं, साथ ही तीव्र कर्मबन्ध भी कर लेते हैं, परंतु त्यागियों की दृष्टि भोगों की ओर नहीं रहती है, बल्कि वे उनके करुण विपाक पर दृष्टिपात करते हैं। अज्ञान- अवस्था में इन्द्रियलुब्ध होकर स्वयं ने जो भोग भोगे और क्लिष्ट कर्मों का बन्धन किया है, जिससे कालान्तर में कितना दुःख भोगना पड़ेगा-इसका चिंतन करते ही ज्ञानी व्यक्ति का हृदय द्रवित हो जाता है। उसकी आँखों से पानी गिरता है, अर्थात् आंसू झरने लगते हैं। पानी तो भोगी और त्यागी- दोनों स्थितियों में झरता है, किंतु एक की जीभ से और दूसरे की आँखों से एक, नए कर्म का बंधन करता है और दूसरा, कर्मों की निर्जरा कर लेता है।

(१६६) इह ये गुणपुष्पपूरिते धृतिपत्नीमुपगुह्य शेरते।
विमले सुविकल्पतल्पके क्व बहिः स्पर्शरता भवन्तु ते।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> इस लोक में जो गुणरूपी पुष्पों से युक्त निर्मल शुभ विकल्प रूपी शय्या में धृतिरूपी पत्नी को आलिंगन देकर सो जाता है, वह फिर बाहर के स्पर्श-सुख में आसक्त क्यों होगा ?

<u>विशेषार्थ :-</u> प्रस्तुत श्लोक में आध्यात्मिक सुख के स्वरूप का वर्णन करते हुए बाह्य पौद्गलिक स्पर्श के सुख से उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। सांसारिक-सुख-भोग स्थूल प्रकार के नश्वर तथा खेद और ग्लानि को जन्म देने वाले होते हैं। कई लोगों को ऐसा भ्रम होता है कि योगियों का जीवन कितना कष्टमय होता है, सारे भौतिक सुखों का त्याग करना पड़ता है, परंतु वास्तव में निस्पृह त्यागी महात्मा ती चक्रवर्ती से भी अधिक सुखी होता है। उसके पास श्रद्धा, क्षमा, मार्दव, आर्जव, करुणा, सत्य, अहिंसा, दया, संयम आदि गुणरूपी पुष्पों से युक्त शुभ विकल्प रूपी शय्या होती है। गुणरूपी सुमन कभी मुरझाते नहीं हैं, अतः उसकी शय्या सदा सुवासित रहती है। उसकी पत्नी धृति है, जो पूर्णतः स्वस्थता एवं शांति प्रदान करती है। उसके रहने से मन में कभी बेचैनी नहीं होती। ऐसी पत्नी के साथ उत्तम गुणरूपी पुष्पों से सुवासित शय्या का आनंद जिसे मिलता है, उसे बाह्य-भौतिक स्पर्श का कोई आकर्षण नहीं रह जाता है। जो शाश्वत सुख की ओर गति कर रहा है, वह नश्वर सुख की ओर दृष्टि क्यों करेगा ? पुनः, काम-भोगरूपी शय्या से उठने के बाद संसारी-भोगीजन श्रान्त, उदासीन एवं निस्तेज दिखाई देते हैं, जबकि अध्यात्म के रस में निमग्न योगी अधिक उत्साही, प्रसन्नचित्त और तेजस्वी दिखाई देते है। जिसने उच्चतर आत्मिक-ऐश्वर्य का अनुभव कर लिया है, जो ईश्वर में रमा हुआ है, जो आत्मतृप्त है, उसे कोई भी भौतिक आकर्षण या इन्द्रियों का विषयभोग आकर्षित नहीं कर सकता है।

(१६७) हृदि निर्वृतिमेव बिभ्रतां न मुदे चन्दनलेपनाविधिः।
विमलत्वमुपेयुषां सदा सलिलस्नानकलाऽपि निष्फलाः।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> हृदय में निर्वृत्ति (अपार आनंद) धारण करने वाले को चंदन का लेप करने से आनंद नहीं होता है। सदा निर्मल भाव से रहने वालो के लिए जल स्नान भी निरर्थक है।

<u>विशेषार्थ -</u> विशिष्ट योगियों की उच्च्य साधना और भावों की निर्मलता से उनका तन भी विशुद्ध हो जाता है। उनके मल-मूत्र औषधियों में परिवर्तित हो जाते हैं। उनका शरीर गुणों से निरंतर सुवासित रहता है। भाव तंत्र की विशुद्धता से उनके शरीर में दुर्गन्ध का अभाव रहता है, साथ ही जल-स्नान शरीर का मैल दूर करने के लिए किया जाता है, परंतु शरीर के मैल से कर्म का मैल दूर करना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। श्रेष्ठ महात्मा-पुरुष तप-त्याग, संयम, ध्यान आदि के द्वारा अंतरंग की शुद्धि कर लेते हैं, इसलिए उनका स्थूल औदारिक शरीर भी स्वाभाविक रूप से निर्मल रहता है, अतः उन्हें जलस्नान की आवश्यकता भी नहीं होती है और इच्छा भी नहीं होती है। उनके हृदय में सदा शान्तरस का प्रवाह रहता है, अतः उनका तन-मन बिल्कुल शान्त रहता है। वे तो अपने आत्मस्वरूप में मग्न रहते हैं। शरीर को तो वे मोक्ष का साधनमात्र मानते हैं और इसलिए उसे उदासीन भाव से धारण किए हुए रहते हैं, अतः अपने आन्तरिक जगत् में विचरण करने वाले गुणों के वैभव से सदा आनंद में रहने वाले योगियों को चंदन का लेप करने की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रायः सामान्यजन शरीर की शीतलता के लिए या स्पर्शनेन्द्रिय के आनंद के लिए चंदन का लेप करते है। ऐसे लेप कामोत्तेजक भी होते है। यह सुख पौद्गलिक है और इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता है, किन्तु आध्यात्मिक आनंद में मग्न योगियों को तो यह भौतिक आनंद तुच्छ, नीरस और निरर्थक ही लगता है।

(१६८) गणयन्ति जनुः स्वमर्थवत्सुरतोल्लाससुखेन भोगिनः।
मदनाहि विपोग्रमूर्च्छनामयतुल्यं तु तदेव योगिनः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> भोगीजन कामभोग के सेवनरूपी सुख द्वारा अपने जन्म को सार्थक मानते हैं, परंतु योगी तो उसको कामदेव रूपी सर्प के दंश-विषजनित उग्र मूर्च्छा के समान मानते है।

<u>विशेषार्थ -</u> भोगी और योगी की दृष्टि में अत्यधिक अन्तर होता है। भोगी की दृष्टि शरीर केन्द्रित रहती है, जबकि योगी की दृष्टि आत्मकेन्द्रित होती है। भोगियों के लिए शारीरिक-सुख महत्त्वपूर्ण होता है जबकि योगियों के लिए आत्मिक-सुख। भोगी की दृष्टि नश्वर सुखों पर रहती है, जबकि योगी की दृष्टि शाश्वत तत्त्व पर रहती है। एक भोग के शिखर पर होता है,

तो दूसरा योग के शिखर पर। भौतिक सुख में डूबे हुए भोगीजन स्थूल इन्द्रियों के विषय-सुखों की प्राप्ति को ही वास्तविक आनंद मानते हैं। पाँचों इन्द्रियों के विविध सांसारिक सुखों में कामभोग का सुख उन्हें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। स्त्री-पुरुष की रति क्रीड़ा को ही ये जीवन की सार्थकता मान लेते हैं। इसी को वे सर्वश्रेष्ठ सुख समझते हैं। सम्पूर्ण भवचक्र में प्राणी सर्वाधिक समय निगोद में ही व्यतीत करता है और निगोद में और एकेन्द्रिय स्थावर के भव में उसे केवल स्पर्शनेन्द्रिय ही मिलती है। प्राणियों को स्पर्शनेन्द्रिय तो सदाकाल रहती है, अतः इस स्पर्शनेन्द्रिय के सुख के लिए भोगीजन सर्वाधिक लालायित रहते हैं। वास्तव में तो वह सुख नहीं है, सुख का भ्रममात्र है। तात्त्विक दृष्टि वाले योगी अनुभव करते हैं कि इस सांसारिक क्षणिक सुख की प्राप्ति में कितने तीव्र कर्मबन्धन होते हैं। जिस सुख को भोगी अमृततुल्य मानते हैं, योगी उसे विषतुल्य। कामभोग के समय व्यक्ति मोहांध हो जाता है, तीव्र राग तथा आसक्ति से ग्रस्त होता है, परंतु वास्तव में तो वह कामदेवरूपी सर्प द्वारा मारे हुए दंश के कारण शरीर में व्याप्त विष के परिणामस्वरूप आई हुई तीव्र मूर्च्छा या बेहोशी है।

(१६६) तदिमे विषयाः किलैहिका न मुदे केऽपि विरक्त चेतसाम्।
परलोकसुखेऽपि निःस्पृहाः परमानंदरसालसा अमी।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए विरक्त चित्त वाले व्यक्ति को इस लोक का कोई भी विषय-सुख आनंद प्रदान नहीं कर पाता है। परमानंद के रस में मग्न बने हुए वे इस लोक एवं परलोक- दोनों के सुखों के विषय में भी निस्पृह होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> संसारी जीव ऐन्द्रिक सुखों के पीछे पतंगे की तरह पागल बने हुए हैं। उन्हें लगता है कि यह सुख ही भोगने योग्य है। इसे जितना भोग सको, भोग लो, कल किसने देखा है ? इस प्रकार की भ्रामक मान्यता में सभी प्राणी फंसे हुए हैं, इसलिए वे येन-केन- प्रकारेण ऐन्द्रिक सुख सुविधाओं को जुटाने में या उन सुखों को प्रदान करने वाली सामग्रियों को एकत्रित करने में लगे रहते हैं, लेकिन संसार में सभी जीवों को सदाकाल यथेच्छ सुख प्राप्त नहीं होता है। सुख के दिन कम और दुःख के दिन अधिक होते हैं। महाभारत में कहा गया है- 'सुखाद् बहुतरं दुखं जीविते

नास्ति संशय', निश्चय ही जीवन में सुख कम हैं, दुःख ज्यादा, फूल कम हैं, काँटे अधिक। दो सुख के पीछे सौ दुःख हैं। कितने ही लोगों को देवगति के सुखों का आकर्षण होता है, उन्हें परलोक के सुख लुभाते हैं, अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए वे इस जन्म में अत्यधिक कष्ट उठाते हैं। वे इसी आशय से तप करते हैं, परिषह सहन करते हैं, परंतु उनका लक्ष्य तो नश्वर को प्राप्त करने का ही होता है। उनकी गिद्ध दृष्टि तो तुच्छ भौतिक सुखों की ओर ही ललचाती है, किन्तु विरक्त चित्त वाले को चक्रवर्ती एवं इन्द्र के सांसारिक-सुख भी लुभा नहीं पाते हैं। स्वस्वभाव में रमणता के सुख के समक्ष भौतिक सुख उन्हें तुच्छ और बाधाकारक ही लगते हैं। वैराग्यवान् आत्मा को तो देवगति के सुखों की भी चाह नहीं होती है। वह उसके प्रति भी उदासीन रहती है। वह तो परमानंद में ही मग्न रहती है, स्वरूपानंद में ही लीन रहती है। यह स्व स्वरूप में रमणतारूप परमानंद भवभ्रमण को घटाता है, मुक्ति की ओर ले जाता है। मुक्ति का सुख ही सर्वोच्च सुख है। शेष सभी पौद्‌गलिक-सुख, यहाँ तक कि देवगति के सुख भी विनाशशील हैं और उनके प्रति आसक्ति के कारण भयंकर कर्मों का उपार्जन होता है, अतः विरक्त व्यक्ति परलोक संबंधी सुख के प्रति भी उदासीन रहते हैं।

(२००) मदमोहविषादमत्सर - ज्वर बाधाविधुराः सुरा अपि।
विषमिश्रितपायसान्नवत् सुखमेतेष्वपि नैति रम्यताम्।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> देवता भी मद, मोह, विषाद एवं मत्सर के ज्वर से व्याकुल रहते हैं, इसलिए उनका सुख भी विषमिश्रित दूधपाक के समान प्राप्तव्य नहीं है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> देवगति में भी भौतिक सुख ही प्रधान हैं। देवों को भी ऋद्धि, पदवी, देवांगनाओं की प्राप्ति रूप अनेक समस्याएँ होती हैं। देवगति में भी ईर्ष्या, राग, द्वेष, तृष्णा, अहंकार, उद्वेग, खेद और परिताप रहते हैं, अर्थात् उनको जो सुख होता है, वह सर्वांश निर्मल नहीं होता है, उसमें भी मलिन भाव आते हैं। वास्तविक सुख की प्राप्ति तो राग- द्वेष, ईर्ष्या, इच्छा आदि के अभाव में ही होती है, अतः देवगति का सुख भी दुःखरहित नहीं होता है। यहाँ दृष्टान्त दिया गया है - बादाम, पिश्ता, केशर आदि डालकर उत्तम दूधपाक (खीर) बनाई गई हो, वह दिखने में सुंदर हो, अच्छी सुगंध

भी आ रही हो और स्वादिष्ट भी हो, किन्तु उसमें एक बूंद भी विष गिर गया हो तो उस खीर खाने का परिणाम क्या होगा ? अनजाने में यदि कोई व्यक्ति उसे खा लेगा, तो विष शरीर में व्याप्त हो जाएगा, वह मृत्यु की गोद में चला जाएगा, किन्तु जिसे यह पता है कि इसमें विष गिर गया है, वह उसे नहीं खाएगा, चाहे फिर वह खीर कितनी ही स्वादिष्ट क्यों न हो। तब उसका मन भी उसे खाने के लिए नहीं ललचाएगा। इससे यह स्पष्ट है कि देवगति के सुख भी दुःखमिश्रित हैं, निःसार हैं, तुच्छ हैं। जिसमें ऐसी समझ विकसित हो गई है, वह योगी देवगति के सुखों के प्रति भी उदासीन ही रहेगा।

(२०१) रमणीविरहेण वह्निना बहुबाष्पानिलदीपितेन यत्।
त्रिदशैर्दिवि दुःखमाप्यते घटते तत्र कथं सुखस्थितिः।।१६।।

<u>अनुवाद</u> - रमणियो (देवियों) के विरह की अग्नि अत्यधिक अश्रुरूपी वायु द्वारा जिनमें प्रज्वलित हो रही है, ऐसे देव भी देवलोक में दुःख अनुभव करते हैं, वहाँ भी सुख की स्थिति किस प्रकार घट सकती है।

<u>विशेषार्थ</u> - जहाँ आसक्ति है वहीं दुःख है। जहाँ समभाव का अभाव है, वहाँ कई समस्याएँ हैं। यह बात अवश्य है कि देवलोक में अपार वैभव एवं भौतिक सुख हैं। देवों के पास वैक्रिय-लब्धि होती है, जिससे वे मनोनुकूल रूप धारण कर सकते हैं। उन्हें अवधिज्ञान होता है। उनकी आयुष्य भी अनपवर्तनीय, अर्थात् मध्य में क्षय नहीं होने वाली तथा दीर्घ होती है। देवताओं की आयुष्य कम-से-कम दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम की होती है। उनका रूप अद्वितीय होता है। उन्हें गर्भ की वेदना तथा वृद्धावस्था की वेदना भी सहन नहीं करना पड़ती है। वे उत्पन्न होते ही सदाकाल सोलह वर्ष के युवान जैसे ही रहते हैं। उनकी भोगोपभोग की इच्छाएँ भी तुरंत पूर्ण हो जाती हैं, किन्तु इतना होते हुए भी उनका वह सुख भौतिक सुख ही है, पारमार्थिक-सुख नहीं। वह भौतिक सुख भी वस्तुतः सुख नहीं है। स्वर्ग के देव भी अत्यधिक दुःखी होते हैं। जब उनकी देवियों का विरह हो जाता है, तब वे करुण क्रन्दन करते हैं, विलाप करते हैं, अश्रु बहाते हैं तथा व्यथित रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जब तक ममत्व का

नाश नहीं होता है, जब तक सम्पूर्ण कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक दुःखरहित आनंद की प्राप्ति नहीं होती है।

(२०२) प्रथमानविमानसंपदा च्यवनस्यापि दिवो विचिन्तनात्।
हृदयं न हि यद्विदीर्यते द्युसदां तत्कुलिशाणुनिर्मितम्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> वह देवलोक से च्युत होने वाला है- इस विचार से देव विमान की विपुल संपदा वाले देवों का हृदय विदीर्ण नहीं होता है, तो क्या यह मानना होगा कि उनका हृदय वज्र के परमाणुओं का बना हुआ है ?

<u>**विशेषार्थ -**</u> देवलोक में अपार रूप, वैभव, समृद्धि रहती है। सब कुछ होने के बाद भी आखिर एक दिन तो वहाँ की भी आयुष्य पूर्ण होती है और सारी ऋद्धियाँ और समृद्धि छोड़कर जाना पड़ता है। देवों को छः माह पूर्व ही पता चल जाता है कि उनकी आयुष्य पूर्ण होने वाली है, उनकी माला मुरझा जाती है, मुख म्लान हो जाता है। उन्हें अवधि ज्ञान से यह भी पता चल जाता है कि उन्हें कहाँ जन्म लेना है। देवताओं का पुनर्जन्म पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, पर्याप्त बादर अप्काय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, पर्याप्त तिर्यन्च पंचेन्द्रिय तथा गर्भज मनुष्य- इन पाँच योनियों में होता है। वे इन योनियों के भावी दुःखों के भय से ही काँप उठते है। अगर किसी का देवता मनुष्य-योनि में भी जन्म हो, तो भी वहाँ नौ-नौ मास माता के गर्भ में मल-मूत्र दुर्गन्ध से युक्त रहना होगा, जहाँ वह हाथ, पैर भी फैला नहीं सकता, अधो मस्तक नौ माह तक लटके रहना पड़ेगा- ऐसी कल्पना से वे महादुःखी हो जाता है। अब समग्र समृद्धि तथा सुन्दर रूप एवं यौवन से सम्पन्न देवियों के सारे भोग सुख को छोड़कर जाना पड़ेगा, इस कल्पना से भी उसे तीव्र वेदना होती है, वह अत्यधिक उदास हो जाता है। अगर ऐसा ही दुःख मानव पर आए तो वह तो सहन नहीं कर सके, उसे हृदयघात हो जाए। अतः यहाँ कवि ने कल्पना की है कि ऐसे समय देवों का हृदय विदीर्ण क्यों नही होता ? उसके टुकड़े क्यों नहीं होते है ? क्या उनका हृदय वज्र के परमाणुओं से बना है ? वज्र के प्रहार से पर्वत भी टूट जाते है, परंतु वज्र पर प्रहार करने से उसका कुछ नहीं होता है। क्या देवताओं का हृदय वज्र से बना है जो इस वियोग की पीड़ा के प्रहार सहन करते हुए भी

टूटता नहीं है ? यहाँ यह ज्ञातव्य है चाहे देवायु मध्य में टूटती नहीं हो, किन्तु देवलोक से च्युत होने की कल्पना से देव भी दुःखी होते हैं।

(२०३) विषयेषु रतिः शिवार्थिनो न गतिष्वस्ति किलाऽखिलास्वपि।
घननंदनचंदनार्थिनो गिरिभूमिष्वपरद्रुमेष्विव।।२१।।

अनुवाद :- जिस प्रकार घने नंदन वन के चंदन वृक्षों की इच्छा वाले व्यक्ति को गिरि भूमि या दूसरी जगह उत्पन्न अनेक प्रकार के वृक्षों के प्रति प्रीति नहीं होती है, उसी प्रकार मोक्ष की अभिलाषा वाले व्यक्ति को चारों गतियों तथा उनमें रहे हुए विषयभोगों के प्रति प्रीति नहीं होती है।

विशेषार्थ :- दो प्रकार के जीव होते है एक मोक्षार्थी और दूसरे भवार्थी। मोक्षार्थी जीव वह है जिसे एक मात्र संसार सागर से मुक्त होने की या मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो। जो मोक्षार्थी है उसे संसार के पौद्गलिक सुखों के प्रति आसक्ति नहीं होती है। देवगति, मनुष्यगति और तिर्यंचगति में पौद्गलिक सुखों के विविध विषय रहे हुए है, किन्तु वे सभी पौद्गलिक सुख उन्हें तुच्छ, साररहित, क्षणिक, भवभ्रमण में वृद्धि कराने वाले और कर्मों के बन्धन में डालने वाले प्रतीत होते है। अतः ऐसे विषयों के प्रति उसकी सुखबुद्धि नहीं होती है। जिसे एक बार शिव सुख को प्राप्त करने की लगन लग चुकी है उसे संसार के सुखों के प्रति किस प्रकार प्रेम या रति हो सकती है ? जैसे मेरूपर्वत के नंदनवन में स्थित चंदन वृक्ष को प्राप्त करने की जिसकी अभिलाषा हो उसे अन्य स्थान पर रहे हुए दूसरे अनेक प्रकार के वृक्षों से कोई प्रयोजन नहीं होता है। वनों में सर्वश्रेष्ठ वन नंदनवन है और वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ वृक्ष चंदन का वृक्ष है। जहाँ सर्वोत्तम वृक्ष की प्राप्ति हो रही हो वहाँ सामान्य वृक्ष के प्रति कौन नजर डालेगा ? उसी प्रकार जिसे मोक्ष के सुख की अभिलाषा जागृत हो गई हो उसे इन सांसारिक सुखों को प्राप्त करने की इच्छा कैसे हो सकती है ?

(२०४) इतिशुद्धमतिस्थिरीकृतापरवैराग्यरसस्य योगिनः।
स्वगुणेषु वितृष्णतावहं परवैराग्यमपि प्रवर्तते।।२२।।

अनुवाद - इस प्रकार जिसने शुद्ध बुद्धि द्वारा अपने को अपर वैराग्य, अर्थात् विषय वैराग्य में स्थिर कर लिया है, ऐसे योगियों को आत्मा के गुणों के प्रति निस्पृहतारूपी 'परवैराग्य' भी होता है।

विशेषार्थ - इस अधिकार के प्रथम श्लोक में 'अपर', अर्थात् विषयों के प्रति वैराग्य तथा 'पर', अर्थात् आत्मगुणों के प्रति वैराग्य की चर्चा की गई है। विषयों के प्रति वैराग्य अपेक्षाकृत निम्न कोटि का और आत्मिक गुणों के प्रति वैराग्य उत्कृष्ट कोटि का है। जब तक चित्त विषयों के वैराग्य में स्थिर नहीं होता है, तब तक स्वगुणों के प्रति वैराग्य भाव प्रकट नहीं होता। जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष नहीं होता नींव के बिना महल खड़ा नहीं होता, उसी प्रकार स्वगुणों के प्रति वैराग्य हो, किन्तु विषयों के प्रति वैराग्य नहीं हो, इस प्रकार की स्थिति कभी संभव नहीं होती। निम्न सीढ़ी पर कदम रखे बिना उच्च्य सीढ़ी पर कैसे चढ़ेंगे ? अतः, विषयों के प्रति वैराग्य को निरंतर स्थिर करने का प्रयास करना चाहिए और इसके लिए भावों की विशुद्धि अति आवश्यक है।

जब विषयों के प्रति वैराग्य होने के बाद आत्मिक गुण प्रकट होते हैं, तब उन गुणों के प्रति भी अहंकार की संभावना रहती है। उन आत्मिक गुणों के माध्यम से कई प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं, फिर उन लब्धियों का उपयोग करके यश, कीर्ति को प्राप्त करने की भावना होती है। सत्त्वशाली स्थूलिभद्र जैसे समर्थ योगी (जो पूर्णतः विषयों से विरक्त तथा निवृत्त थे) भी अपने मन को नियंत्रण में नहीं रख सके, अपनी लब्धि के प्रदर्शन के लोभ का संवरण नहीं कर सके और दर्शन के लिए आई हुई साध्वियों (संसारी बहनों) को सिंहरूप करके बताया। यही कारण है कि आत्मिक-गुणों या शक्तियों के प्रति वैराग्य को अत्यधिक कठिन कहा गया है, परंतु महान् योगी तो स्वगुणों, अर्थात् लब्धियों के प्रति भी निःस्पृह, उदासीन या विरक्त रहते हैं। उनका वैराग्य सर्वोत्कृष्ट होता है।

(२०५) विपुलर्द्धिपुलाकचारण - प्रबलाशीविषमुख्यलब्धयः।
न मदाय विरक्तचेतसा मनुषंगोपनताः पलालवत्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> अनासक्ति वृत्ति होने के कारण, विपुल लब्धि, पुलाकलब्धि, चारणलब्धि, आशीविषलब्धि आदि मुख्य लब्धियाँ प्रकट होने पर भी सच्चे योगी की उनमें कोई रुचि नहीं होती है। जैसे अनाज के उत्पादन के लिए की गई कृषि में घास आदि की प्राप्ति के लिए कृषक को कोई अभिमान नहीं होता है, वैसे ही विरक्त आत्माओं को उन लब्धियों का अभिमान नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए मध्य में अनिच्छा से जो उपलब्धियाँ हो जाती हैं, उनके प्रति सच्चा योगी उदासीन ही रहता है। सभी साधकों का लक्ष्य एक समान नहीं होता। कोई लब्धियों को प्रकट करने के लिए ही साधना करता है उन्हें मुक्ति के प्रति अनुराग नहीं होता है और कोई मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधना करता है, लेकिन कुछ साधक लब्धियों की प्राप्ति के लिए साधना करते है, वे उनके प्रकट होने पर अभिमान से फूल जाते है तथा बार-बार प्राप्त हुई लब्धियों का दुरूपयोग कर लोगों को अपना प्रभाव दिखाते है या फिर धन, यश, स्त्री आदि के प्रति लालसा से उनका प्रयोग करते है। दुरुपयोग करने से वे लब्धियाँ चली जाती हैं, तो फिर वे अत्यंत विषाद करते हैं, खेद करते हैं। कुछ साधक ऐसे भी होते हैं, जो साधना तो मोक्ष के लिए ही करते हैं, परंतु मध्य में प्राप्त हुई लब्धियों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं, आसक्त हो जाते हैं और अपने मुख्य लक्ष्य से चूक जाते हैं, किन्तु कुछ साधक इतने उत्कृष्ट या निःस्पृह होते हैं कि एकमात्र मोक्ष की इच्छा से ही साधना करते हैं और इच्छा नहीं होते हुए भी लब्धियों के प्रकट होने पर वे उनसे विरक्त ही रहते है। उनकी यश प्राप्ति की या लोगों में प्रभाव जमाने की या अन्य किसी पौद्‌गलिक सुख की प्राप्ति की इच्छा होती ही नहीं है। उन लब्धियों का उनके लिए अनाज के साथ उत्पन्न होते हुए भूसे (घास-फूस) से अधिक मूल्य नहीं होता है। जिसके हृदय में जिनका मूल्य ही नहीं हो, वह उनके प्राप्त होने पर भी उनका अभिमान क्यों करेगा ? मोक्ष की साधना करते हुए

योगियों को अनेक प्रकार की लब्धियाँ, जैसे विपुललब्धि, पुलाकलब्धि, चारणलब्धि, आशीविषलब्धि आदि प्रकट हो जाती हैं।

विपुललब्धि से साधक अन्य के मनोगत भावों को विस्तार से जान लेता है, जैसे- किसी व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया, तो विपुलमति 'इसने घट का चिन्तन किया' - यह जानने के साथ-साथ यह भी जानता है कि इसके द्वारा सोचा हुआ घट सोने का है, पाटलिपुत्र नगर का है, आज का बना हुआ है आदि। पुलाकलब्धि वाला साधक शत्रु की सेना को पराजित करने की शक्ति रखता है। चारणलब्धि के प्रभाव से साधक आकाशमार्ग से मानवीय पहुँच के परे के क्षेत्रों में भी गमनागमन कर सकता है। आशीविषलब्धि के प्रभाव से शापादि देकर शत्रु आदि को नष्ट किया जा सकता है। वैक्रियलब्धि के प्रभाव से साधक इच्छित रूप बना सकता है। शीतलेश्या या आमर्षौषधिलब्धि, जिसके द्वारा स्व-पर के रोग को स्पर्शादि से शान्त किया जा सकता है। शास्त्रों में ऐसी अट्ठाईस प्रकार की लब्धियों का वर्णन आता है, जो शुभ अध्यवसायपूर्वक संयम की आराधनारूप तपादि करने से प्राप्त होती हैं। इसके अलावा विशिष्ट तपादि के प्रभाव से अनेकानेक लब्धियाँ विशिष्ट जीवों को प्राप्त होती हैं। ऐसी लब्धियों और सिद्धियों के प्रति भी गुण-वैराग्य से युक्त जीव आकर्षित नहीं होता है। लब्धियों के प्राप्त होने पर भी वह उनके प्रति उदासीन रहता है, उनका अभिमान नहीं करता है, उनका उपयोग नहीं करता है, किसी को निर्देश भी नहीं करता है कि उसे इस प्रकार की लब्धि प्राप्त हुई है। जिस प्रकार अन्न के साथ उत्पन्न हुई घास का अभिमान किसान को नहीं होता, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग की साधना करते हुए उत्पन्न हुई लब्धियों का अभिमान आत्मिक-शक्तियों (गुणों) के प्रति उदासीन सच्चे साधक को नहीं होता है। उसकी दृष्टि में लब्धियों का कोई मूल्य नहीं है।

(२०६) कलितातिशयोऽपि कोऽपिनो विबुधानां मदकृद्गुणव्रजः।
अधिकं न विदन्त्यमी यतो निजभावे समुदंचति स्वतः।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> स्वयं में अत्यधिक मात्रा में कोई गुणसमूह विकसित हो जाए, फिर भी वह प्राज्ञजनों को अहंकार उत्पन्न कराने वाला नहीं होता है,

क्योंकि वे अपने निजस्वभाव में परमानंद का अनुभव करते हैं, उनको (गुणों को) अधिक नहीं मानते हैं, अर्थात् उनकी उपेक्षा करते हैं।

विशेषार्थ - जीव जैसे-जैसे आध्यात्मिक साधना में तप, त्याग, ध्यान आदि में विकास करता जाता है, वैसे-वैसे उसमें आत्मिक-गुणों की वृद्धि होती जाती है। आत्मिक-गुणों की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही अनेक लब्धियाँ भी प्रकट हो जाती है। वे वचन सिद्ध हो जाते हैं। उनका स्पर्श, उनके शरीर का मैल, मल-मूत्र आदि औषधिरूप में परिवर्तित हो जाता है। व्यावहारिक-दृष्टि से ऐसे गुण विरल या असामान्य होने से लोगो में बहुत जल्दी प्रसिद्धि प्राप्त करा देते है। ऐसा समय महात्माओं की परीक्षा का होता है। अनुकूल परिषह अर्थात् यश, कीर्ति आदि की प्राप्ति में उदासीन रहना अत्यधिक कठिन होता है। ऐसे चमत्कारों के कर्त्तत्व को स्वीकारने का मन होता है। अंतर में ऐसा सूक्ष्म अभिमान उत्पन्न होता है, कि मेरी साधना का कैसा प्रभाव है। परंतु उत्कृष्ट कोटि के योगी को ऐसा अभिमान नहीं होता। वह तो उन आत्मिक-गुणों या लब्धियों को गोपनीय रखता है। उसमें उन लब्धियों का प्रदर्शन करने की भावना नहीं होती। उपलब्ध लब्धियों का कैसा प्रभाव है, यह जानने की भी उत्सुकता नहीं होती। ऐसे योगी उन आत्मिक-शक्तियों की भी उपेक्षा करता है। उसे तो अपने निज स्वभाव में रमण करने में ही दिव्यानंद की अनुभूति होती है, इसलिए उसे स्वभावरमणता के अलावा अन्य कुछ इष्ट नहीं होता।

(२०७) हृदये न शिवेऽपि लुब्धता सदनुष्ठानमसंगमंगति।
पुरुषस्य दशेयमिष्यते सहजानंदतरंगसंगता।।२५।।

अनुवाद - उनको मोक्ष प्राप्ति की भी आकांक्षा नहीं रहती है, क्योंकि उनका सदनुष्ठान भी असंगानुष्ठान में परिणत हो जाता है। सहजानंद की तरंगों से युक्त यह अवस्था मुमुक्षु को चाहने योग्य है।

विशेषार्थ - जब तक जीव चरमावर्त्तकाल में नहीं आता है, तब तक उस जीव को संसार परिभ्रमण से मुक्त होने की इच्छा नहीं होती है। चरमावर्त्तकाल में आने के बाद भी जब तक व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, तब तक उसे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान भी नहीं होता। जब जीव को सम्यक्-दृष्टि की प्राप्ति होती है, तब वह संसार के दुःखों से

सर्वथा मुक्त होने के लिए मोक्ष का अभिलाषी होता है। मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करना और उसके लिए पुरुषार्थ करना-यह सामान्य जीव का प्राथमिक लक्षण होता है, अतः प्राथमिक भूमिका में भी मोक्ष की अभिलाषा करना अयोग्य नहीं है, परंतु जीव जब साधना के मार्ग में आगे बढ़ता जाता है और उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है, तब उसकी आत्मा की विशुद्धता में इतनी वृद्धि हो जाती है कि वह सभी कामनाओं से मुक्त हो जाता है और स्व-स्वभावरूप सहज स्थिति में आ जाता है। जब, 'मोक्ष स्वयं ही आने वाला है' - ऐसी दृढ़ अंतर-प्रतीति के कारण, 'मुझे मोक्ष प्राप्त करना है'- यह अभिलाषा भी छूट जाती है, तब ऐसे योगियों को शुभकर्म का बंध कराने वाले सदनुष्ठानों को करने की भी आवश्यकता नहीं होती है। वे असंग बन जाते हैं, सदनुष्ठानों में भी असंग बने रहते हैं।

शास्त्रों में चार प्रकार के अनुष्ठानों का वर्णन आता है - १. प्रीति २. भक्ति ३. वचन और ४. असंग अनुष्ठान। प्रीति-अनुष्ठान में परमात्मा और धर्मानुष्ठान के प्रति प्रीति भाव बना रहता है। भक्ति अनुष्ठान में परमात्मा और धर्मानुष्ठान के प्रति आदर तथा बहुमान-भाव रहता है। वचनानुष्ठान में साधक सभी धर्मानुष्ठान शास्त्र की आज्ञानुसार औचित्यपूर्वक करता है। किन्तु असंग अनुष्ठान तो सर्वोत्कृष्ट होता है। शास्त्र की अपेक्षा के बिना भी सिर्फ संस्कारमात्र से स्व-स्वभाव में प्रवृत्ति करे, वह असंगानुष्ठान कहलाता है, जैसे-चंदन से सौरभ स्वाभाविक रूप से फैलती है। असंगानुष्ठान में साधक में ऐसी आत्मरमणता आती है कि उसकी मोक्षाकांक्षा भी विलीन हो जाती है और भयंकर परीषह, उपसर्ग आदि में भी वह विचलित नहीं होता है। सहजानंद में मग्न आत्मा की ऐसी उच्च दशा को प्राप्त करने की मुमुक्षु को इच्छा करना चाहिए।

(२०८) इति यस्य महामतेर्भवेदिह वैराग्यविलासभृन्मनः।
उपयन्ति वरीतुमुच्चकैस्तमुदारप्रकृतिं यशः श्रियः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार श्रेष्ठ मति वाले जिन पुरुषों का हृदय वैराग्य के रस से भरा हुआ है, ऐसे उदार प्रकृति वाले व्यक्ति का वरण करने के लिए मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षारत रहती है।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानगर्भित वैराग्य से युक्त, उदारचेता, प्राज्ञ महात्माओं के लक्षण इस अधिकार में बताए गए हैं। ऐसे महापुरुषों को सांसारिक-भौतिक लक्ष्मी की किंचित् भी इच्छा नहीं होती है। वे खाते-पीते, सारी प्रवृत्ति करते हुए भी उन प्रवृत्तियों से अनासक्त रहते हैं। उन्हें मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा होती है। वे अपने आत्मजगत् में विचरण करते हुए सहज आत्मिक आनंद का अनुभव करते हैं। उनकी मोक्ष की अभिलाषा भी छूट जाती है। ऐसे महापुरुषों का यश, उनके संयम की सुवास स्वयं ही चारों ओर फैल जाती है और मोक्षरूपी लक्ष्मी भी स्वयं ही उत्सुकतापूर्वक उनका वरण कर लेती है।

'यश' शब्द अधिकार के अंत में ग्रंथकार ने प्राचीन शैली के अनुसार अपने नाम के रूप में जोड़ दिया है।

———ooo———

प्रबंध-तृतीय

आठवाँ अधिकार - ममत्व त्याग अधिकार

(२०६) निर्ममस्यैव वैराग्यं स्थिरत्वमवगाहते।
परित्यजेत्ततः प्राज्ञो ममतामत्यनर्थदाम्।।१।।

अनुवाद - ममत्वरहित पुरुषों का वैराग्य ही स्थिरता को प्राप्त कर सकता है, इसलिए प्राज्ञ पुरुषों को अत्यंत अनर्थकारी ममता का त्याग कर देना चाहिए।

विशेषार्थ - वैराग्य का स्वरूप और उसके भेद को समझाने के बाद अंतर में प्रकट हुई वैराग्य की ज्योति किस प्रकार स्थिर रहेगी, इस पर चिंतन करते हुए ग्रंथकार ने परामर्श दिया है कि वैराग्यरूपी ज्योति को सुरक्षित रखने के लिए ममत्वरूपी वायु के झोंको से सदैव बचना चाहिए, अर्थात् प्रकट हुए वैराग्य को निर्ममत्व-भावपूर्वक ही स्थिर रखा जा सकता है। वैराग्य के घातक तत्त्वों में सबसे अधिक खतरनाक तत्त्व है - ममत्व। ममत्व-बुद्धि समस्त संसार में व्याप्त है। बालक से लेकर वयोवृद्ध व्यक्ति तक सभी पर ममता का अधिकार स्थापित है। 'मेरा शरीर', 'मेरा घर', 'मेरे पुत्र', 'मेरी पत्नी', 'मेरे माता-पिता', 'मेरे मित्र' आदि के रूप में 'मेरेपन' का भाव सदा चलता रहता है। व्यक्ति का सबसे अधिक ममत्व शरीर के प्रति होता है, क्योंकि यह शरीर जीवनपर्यन्त साथ रहता है। सारे सांसारिक-संबंध भी शरीर की वजह से ही बनते हैं। धन, पत्नी, माता-पिता आदि के प्रति राग-भाव का त्याग करना फिर भी सरल है, किन्तु शरीर के प्रति ममत्व बुद्धि का नष्ट होना, शरीर के प्रति उदासीन होना अत्यधिक कठिन है। शरीर, स्वजन, धन आदि के प्रति जितने अंश में अपनत्व का भाव है, वही ममत्व है और उनके प्रति जितने अंश में अनासक्ति है, उतने अंश में निर्ममत्व है। जिसका ममत्व शेष है, उसका वैराग्य स्थिर नहीं रह पाता है। जैसे-जैसे ममत्व-बुद्धि कम होती है, वैसे-वैसे वैराग्य दृढ़ होता है,

क्योंकि जब तक ममत्व-बुद्धि है, तब तक संकल्प-विकल्प हैं और जब तक संकल्प-विकल्प हैं, मान-सम्मान, लाभ-हानि, सुख-सुविधादि की चाह है, तब तक वैराग्य में स्थायित्व नहीं हो सकता। अतः, जीवन में निरर्थक वस्तुओं के त्याग से आरंभ कर धीरे-धीरे धन, दौलत, पुत्र, परिवार आदि के प्रति निर्ममत्व भाव जाग्रत करना चाहिए। तत्पश्चात्, 'यह देह भी मेरी नहीं है, मैं तो शुद्ध-बुद्ध, निरंजन-निराकार आत्म-तत्त्व हूँ' - इस प्रकार आत्मा और देह के भेद-विज्ञान का चिन्तन ही आध्यात्मिक-विकास का प्रारंभिक सोपान है। जब तक भेद विज्ञान दृढ़ नहीं होगा, तब तक वैराग्य भी पुष्ट नहीं होगा, क्योंकि भेद-विज्ञान के बिना शरीर का ममत्व नष्ट नहीं होता है। स्वजन आदि पर ममत्व त्याग करने के बाद भी यदि शरीर पर ममत्व होगा, तो सहनशीलता नहीं आएगी। सहनशीलता नहीं होगी तो अल्प मात्रा में प्रतिकूलता आने पर वैराग्य कर्पूर की तरह उड़ जाएगा, अतः वैराग्य प्राप्त होने के बाद भी सतत सावधान और जाग्रत रहने की आवश्यकता है। इस प्रकार एक ओर ममत्व का त्याग तथा दूसरी ओर तत्त्वरुचि एवं विवेक - ये दोनों वैराग्य को स्थिर रखने में सहायक होते हैं, अतः भवभ्रमण में वृद्धि करने वाली, दुःख को प्रदान करने वाली, अनेक अनर्थों को जन्म देने वाली, ममत्व बुद्धि का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए।

(२१०) विषयैः किं परित्यक्तैर्जागर्ति ममता यदि।
त्यागातकचुकमात्रस्य भुजंगो न हि निर्विषः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> यदि विषयों के प्रति ममत्व वृत्ति बनी रहे, तो फिर विषयों का त्याग करने से क्या लाभ ? मात्र केंचुली का त्याग कर देने से सर्प विषरहित नहीं हो जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ममत्व-वृत्ति विष-ग्रंथि के समान है और विषय केंचुली के समान। जैसे सर्प केंचुली का त्याग कर देने से निर्विष नहीं होता, उसी तरह ममत्व बुद्धि का त्याग किए बिना, मात्र इन्द्रियों के बाह्य-विषयों का त्याग करने से वैराग्य स्थिर नहीं रह पाता, फिर चाहे वस्त्र परिवर्तन कर गृह त्यागी बन गए हों या मुनि बनकर उपाश्रय में निवास करने लगे हों। स्वजनादि को छोड़कर गुरुचरण की शरण ले ली, केश-लोच कर लिया, नंगे पैर चलने लगे, सुख-सुविधाओं को छोड़ दिया, रूखा-सूखा भोजन करने

लगे, लेकिन फिर भी जब तक मोह की ग्रंथि का नाश नहीं होता, भौतिक पदार्थों के प्रति आन्तरिक आकर्षण खत्म नहीं होता, तब तक मानसिक स्वस्थता एवं समता असंभव है। पुत्रादि स्वजनों को बाह्य रूप से छोड़ने के बाद भी उनके प्रति आन्तरिक ममत्व को समाप्त करना आसान नहीं है। देह पर ममत्व बुद्धि का त्याग तो और भी कठिन है। अतः, ममत्व बुद्धि का त्याग किए बिना चाहे कितने ही उत्कृष्ट तप और त्याग करे, साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि अंदर सोई हुई ममता कभी भी जाग्रत हो सकती है और उस समय वैराग्य भी अस्थिर हो सकता है। विषयों का त्याग करने के साथ-साथ उन पर ममत्व-बुद्धि का त्याग करना भी आवश्यक है, क्योंकि ममता अकेली नहीं रहती है, उसके साथ उसका सारा परिवार, अर्थात् राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भी रहते हैं, और इसीलिए ममत्व की उपस्थिति में आत्मिक विकास और वैराग्य की स्थिरता संभव नहीं है।

(२११) कष्टेन हि गुणग्रामं प्रगुणी कुरूते मुनिः।
ममताराक्षसी सर्वं भक्षयत्येकहेलया।।३।।

<u>अनुवाद -</u> मुनि कष्ट उठाकर गुणों के समूह की वृद्धि करते हैं, परंतु ममतारूपी राक्षसी उन सबका एक साथ भक्षण कर जाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> संयम जीवन को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन बताया गया है। साधना का मार्ग कठिन ही होता है। साधक साधना करते हुए अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है। आत्मिक गुणों का प्रगट करना सरल नहीं है। बाह्य-वैभव, धनादि नश्वर वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए तो अत्यधिक साधना की आवश्यकता होती है। क्षमा, सरलता, मृदुता, निर्लोभता, पवित्रता, सत्य, संयम, शांति, करुणा, माध्यस्थ-भाव आदि को प्रकट करने के लिए साधक त्याग, तप, इन्द्रियों का दमन आदि कष्टपूर्ण क्रियाओं को करता है, परीषहों को सहन करता है। संयम में स्थिर या लीन रहने के लिए निरन्तर स्वाध्याय, जप, ध्यान आदि करता है, लोचादि कष्ट सहन करता है। निरन्तर साधना करते-करते अनेक आत्मिक गुण प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होने के बाद भी साधक को निरन्तर उन गुणों की सुरक्षा के लिए जाग्रत रहना पड़ता है, नहीं तो हृदय के कोने में कहीं ममता गुप्त रूप

में रही हुई हो, तो वह अवसर देखते ही राक्षसी का रूप धारण कर लेती है और सभी गुणों का सफाया कर देती है। अपने व्रत, तप आदि के लिए ममत्व पैदा हो सकता है, संयम के उपकरणों पर, शिष्यों पर, ममत्व भाव पैदा हो सकता है और जब यह ममता विकराल रूप धारण कर लेती है, तब वर्षों की तपस्या से प्रकट हुए गुण नष्ट हो जाते हैं। पाँच सौ शिष्यों के गुरु अनेक गुणों के स्वामी स्कंदक मुनि उच्च कोटि का क्षमा भाव धारण कर घानी में पिलाते हुए शिष्यों को वैराग्य का उपदेश दे रहे थे, उनके समाधि मरण में सहायक हो रहे थे, किंतु जब सबसे छोटे शिष्य का क्रम आया, तब उस शिष्य के प्रति जो ममता सुप्त रूप में थी, वह प्रकट हो गई, उसने विकराल रूप धारण कर लिया और सबको समत्व-भाव धारण कराने वाले महामुनि के क्षमादि सारे गुणों का सफाया हो गया और वे भयंकर रौद्र ध्यान में चले गए तथा सबको मोक्ष पहुँचाकर स्वयं दुर्गति के शिकार हो गए। अतः, ममता का स्वरूप मायावी और अत्यंत कुटिल है।

(२१२) जन्तुकान्तं पशुकृत्य द्रागविद्यौषधि बलात्।
उपायैर्बहुभिः पत्नी ममता क्रीडयत्यहो।।४।।

<u>अनुवाद -</u> अहो ! ममतारूपी पत्नी अविद्यारूपी औषधि के बल से जीवरूपी स्वामी को पशु बनाकर अनेक उपायों द्वारा क्रीड़ा करती है।

<u>विशेषार्थ :-</u> प्रस्तुत श्लोक में रूपक अलंकार का प्रयोग किया है, जिसमें ममतारूपी पत्नी, अविद्यारूपी औषधि और जीवरूपी स्वामी का चित्रण है। जीवरूपी स्वामी तो सरल है, किन्तु ममतारूपी पत्नी अत्यन्त कुटिल है। वह जीव के विवेक पर पर्दा डाल देती है, उसे अज्ञान का शिकार बनाकर या अविद्यारूपी औषधि का प्रयोग कर अपने वश में कर लेती है, फिर वह उससे अयोग्य कार्य करवाती है। जब ममत्व-भाव उत्पन्न होता है, जब मेरेपन की वृत्ति आती है, तब मनुष्य सत्य-असत्य का विवेक खो देता है। अपने और पराए के मध्य मनुष्य तटस्थता या न्यायबुद्धि नहीं रख सकता है। वह सब कुछ जानने के बाद भी पक्षपाती बन जाता है। अपने परिवार को सुख-सुविधा प्रदान करने के लिए, उनका पोषण करने के लिए, उनके स्वप्नों को साकार करने के लिए, वह दूसरों के सजे हुए स्वप्नों को तोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। इस हेतु वह अन्याय, अत्याचार, झूठ, चोरी,

देशद्रोह आदि क्या नहीं करता ? वह ममतारूपी पत्नी का दास बन जाता है, उसके निर्देशन में अविवेकपूर्ण आचरण करते हुए वह ईर्ष्या, असूया, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि का शिकार हो जाता है। उसकी ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है और अविद्या के कारण वह अपना विवेक खो देता है, और ममता के इशारे पर चलता है।

अपने पति को नियंत्रण में रखने के लिए पत्नियाँ कितने यत्न करती हैं। कितनी ही स्त्रियाँ मंत्र-तंत्रादि का प्रयोग भी करती हैं। कहा भी गया है कि जिस पुत्र को माता २२-२३ वर्ष संस्कार देकर बुद्धिमान बनाती है, विवाह के पश्चात् उसी पुत्र को उसकी पत्नी एक ही रात्रि में अपना दास बना लेती है। फिर वह अपने विवेक से नहीं चलता है, पत्नी के इशारे पर नाचता है। कोई स्त्री अपने पति को नियंत्रण में रखने के लिए एक बाबा से उपाय पूछ रही थी। उस बाबा ने उसे एक औषधि प्रदान की। उस औषधि को उसने भोजन में मिलाकर अपने पति को खिला दिया। पति ने जैसे ही उसका सेवन किया, वह बैल बन गया। अब वह उसे अपने नियंत्रण में चला सकती थी, किंतु कार्य हो जाने के बाद बैल से उसे वापस पुरुष कैसे बनाया जाए, औषधि की यह जानकारी नहीं होने से वह फिर पश्चाताप करती है। स्त्री अपने हित-अहित का विचार किए बिना ही मात्र तत्कालीन स्वार्थ साधने के लिए कितनी निम्न सीमा तक पहुँच सकती है, यह उसका एक उदाहरण है।

उसी प्रकार अविद्या द्वारा ममतारूपी पत्नी अपने जीवरूपी स्वामी को चौरासी के चक्कर में घुमाती है, उसे बैल जैसा पशु बना देती है और उससे कैसे-कैसे अशोभनीय कार्य करवाती है, अतः ममतारूपी स्त्री से सदा सावधान रहना चाहिए।

(२१३) एकः परभवे याति जायते चैक एव हि।
ममतोद्रेकतः सर्वं संबंध कल्पयत्यथ।।५।।

<u>अनुवाद -</u> जीव अकेला ही परभव में जाता है, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है और अकेला ही जन्म लेता है, फिर भी ममता के आवेग से सभी संबंधों की कल्पना करता है।

विशेषार्थ - जैसे-रेशम का कीट स्वयं में से रेशम का उत्पादन कर उसका जाल बनाकर उसमें ही फस जाता है; जैसे-मकड़ी भी अपने आस-पास जाले का निर्माण करती है, फिर स्वयं ही उसमें फस जाती है, ठीक वैसे ही जीवात्मा अकेली ही है, किन्तु इस जगत् में आने के बाद वह शनैः-शनैः संबंधों का जाल बुनती जाती है। जो-जो उसके स्वार्थ पूर्ति में साधक होते हैं, जिन-जिनसे उसे सुख की प्राप्ति होती है, उन सबको वह अपना मान लेती है और जो उसकी स्वार्थ-पूर्ति में बाधक होते हैं या जिनका उसके सुख से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, वे सब उसके लिए पराए हो जाते हैं। जब जीव गर्भ में आता है, तब औदारिक-पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण कर स्थूल शरीर का निर्माण करता है, अर्थात् शरीर से सम्बन्ध स्थापित करता है। जब जन्म होता है, तब बालक खाली हाथ होता है, नग्न होता है, दो वस्त्र भी उसके पास नहीं होते हैं। जीव जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, अपनी ममता का विस्तार करता जाता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त कितने ही संबंध स्थापित करता है। धन-दौलत के लिए अपार पुरुषार्थ करता है। अढलक लक्ष्मी, मकान, दुकान, मूल्यवान् वस्त्र, आभूषण, मोटर-कार, नौकर-चाकर, पत्नी, पुत्र, विशाल मित्र मण्डली, स्वजन आदि सभी पर ममत्व भाव का आरोपण करता है। मेरा मकान, मेरा धन, मेरा शरीर, उसी में उसका चित्त रमण करता है। जिन-जिन वस्तुओं पर या जिन-जिन व्यक्तियों पर उसका ममत्व-भाव होता है, उनकी अल्प हानि होने पर वह दुःखी हो जाता है। व्यापार में नुकसान हो गया या चोरी हो गई या मकान को हानि पहुँची, तो वह दुःख से व्याकुल हो जाता है। चाहे व्यक्ति कितने ही मधुर सम्बन्धों की कल्पना करे या कितना ही परिग्रह एकत्रित करे, किंतु जैसे ही आँखें बंद होती हैं, अर्थात् यम का बुलावा आता है, मृत्यु हो जाती है, वैसे ही सबसे संबंध टूट जाता है, क्षण में ही वह दुनिया उसके लिए समाप्त हो जाती है। जैसे-एक स्वप्न देखा, आँख खुली और टूट गया, वैसा ही यह जीवन है, आँख बंद हुई कि सब कुछ छूट गया। यहाँ तक कि जिसकी इतनी सेवा की, रात दिन साथ रहने वाली सुन्दर, आकर्षक वह देह भी साथ नहीं जाती, फिर वह जीव अपने कर्मानुसार मात्र अन्तर्मुहुर्त्त में नए स्थान पर, नया शरीर धारण कर लेता है और नए

सम्बन्धों को जोड़कर पुनः अपनी ममता का विस्तार करता है। इस तरह बिना ममत्व के समाप्त हुए यह संसार-चक्र कभी समाप्त नहीं होता है।

(२१४) व्याप्नोति महतीं भूमिं वटबीजाद्यथा वटः।
यथैकममता बीजात् प्रपंचस्यापि कल्पना।।६।।

<u>अनुवाद</u> - जैसे-वट के एक बीज में से उत्पन्न हुआ वट (वृक्ष) विशाल भूमि में फैल जाता है, उसी प्रकार एक ममतारूपी बीज से समस्त सांसारिक प्रपंचों की कल्पना खड़ी होती है।

<u>विशेषार्थ</u> - ग्रंथकार ने उपमा अलंकार का प्रयोग करते हुए ममता के विस्तार की तुलना वट-वृक्ष से की है। वट-वृक्ष पर छोटे-छोटे फल होते हैं। एक फल में राई के दाने जैसे अनेक बीज होते हैं और उस छोटे-से एक बीज से फिर एक विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न हो सकता है। इतनी क्षमता उस छोटे-से बीज में है। पुनः, वट-वृक्ष की यह विशेषता है कि वह निरन्तर वृद्धि करता ही रहता है, उसका विकास अवरुद्ध नहीं होता। अन्य वृक्ष तो पूर्ण विकसित होने के बाद फिर अधिक वृद्धि नहीं करते, किन्तु वट-वृक्ष की लटकती हुई जड़ें जमीन तक पहुँचकर पुनः तने और मूल का रूप ले लेती हैं और उनकी शाखा प्रशाखा निकलती जाती हैं, चारों ओर उसका विस्तार होता ही जाता है। कभी-कभी तो वह इतना अधिक फैल जाता है कि इसमें मुख्य तना कौनसा था, यह पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। ठीक इसी प्रकार ही ममता का भी विस्तार होता है। अपने शरीर और स्वजनों से प्रारम्भ हुई ममता फैलती जाती है। मेरा घर, मेरी दुकान, मेरा वाहन, मेरा कारखाना आदि-यह भाव बढ़ता ही जाता है। कभी-कभी धन पर व्यक्ति का इतना अधिक ममत्व हो जाता है कि करोड़ों अरबों की सम्पत्ति होने के बाद भी अधिक धन की प्राप्ति के लिए वह दिन-रात पुरुषार्थ करता रहता है, अशांत रहता है। ममता का यह विस्तार बाह्य-दृष्टि से सुहावना लगता है, अच्छा लगता है, परंतु कब यह आपत्तिरूप बन जाए, कुछ कह नहीं सकते। ममत्व के अधिक विस्तृत हो जाने के बाद उसमें से निकलना अत्यधिक कठिन होता है, इसलिए ममत्व का विस्तार हो, उसके पहले ही उसका उच्छेद कर देना चाहिए।

(२१५) माता पिता मे भ्राता मे भगिनी वल्लभा च मे।
पुत्राः सुता मे मित्राणि ज्ञातयः संस्तुताश्च मे।।७।।

<u>अनुवाद -</u> यह मेरी माता है, यह मेरे पिता है, ये मेरे भाई है, यह मेरी बहन है, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे लड़के हैं, यह मेरी लड़की है, ये मेरे मित्र है, ये मेरे स्वजन (ज्ञाति- बन्धु) हैं, ये मेरे परिचित हैं, व्यक्ति इसी 'मेरे-मेरे' में खो जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मनुष्य का अपने परिवार पर सबसे अधिक ममत्व होता है। वह अपने परिजनों से अतिशय प्रेम करता है। माता, पत्नी, परिजन आदि को अपना मानकर उनसे गाढ़ प्रीति करता है और समझता है कि जैसे यह परिवार हमेशा ही उसके साथ रहने वाला है। वह परिवारजनों के लिए अनेक पापाचरण भी करता है, लेकिन जब व्यक्ति बीमार होता है, उसे अत्यधिक पीड़ा होती है, तब परिवार का कोई भी सदस्य उसकी पीड़ा में हिस्सा नहीं बंटा पाता है। जब मृत्यु समीप होती है, तब उसे न तो कोई बचा सकता है और न ही कोई उसके साथ जा सकता है। किसी ने कहा है-

हर चीज यहाँ की नाशवान है, हर चीज यहाँ की चचंल है।
इनको लेकर मोहित होना, अपने जीवन से ही छल है।

सब कुछ जानते हुए भी व्यक्ति अपने ममत्व का विस्तार करता जाता है और उसमें फंसता जाता है। समाज में अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए, अपनी यश-प्रतिष्ठा फैलाने के लिए भी वह नए-नए संबंध स्थापित करता है और इस अभिमान से फूल जाता है कि 'मेरे इतने परिचित लोग हैं', 'मुझे सब जानते हैं' इत्यादि। ममता का यह विस्तार करते हुए उसे अपनी मृत्यु याद नहीं आती है, यही आश्चर्य का विषय है।

(२१६) इत्येवं ममताव्याधिं वर्द्धमानं प्रतिक्षणम्।
जनः शक्नोति नोच्छेत्तुं विना ज्ञानमहौषधम्।।८।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार पल-पल बढ़ती हुई ममता रूपी इस व्याधि का उच्छेद करने में मनुष्य ज्ञानरूपी महौषधि के बिना समर्थ नहीं है। विवेकरूपी महौषधि से ही व्यक्ति ममता रूपी व्याधि का नाश कर सकता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ममता को व्याधि की उपमा से उपमित किया गया है। व्याधि दो प्रकार की होती है- शारीरिक व्याधि और मानसिक व्याधि। शारीरिक व्याधि शरीर को पीड़ा पहुँचाती है और मानसिक व्याधि तनाव उत्पन्न करती है। ममतारूपी व्याधि तन और मन-दोनों को ही पीड़ित करती है। साथ ही यह व्याधि अकेली नहीं आती, अपने साथ अनेक को लेकर आती है। जहाँ ममकार होता है वहाँ अहंकार भी आ जाता है। किसी ने उसकी बात को स्वीकार नहीं किया या किसी ने उसका उचित सम्मान नहीं किया या किसी से उसकी अपेक्षाएँ पूर्ण न हुई, तो उसके अहंकार को चोट लगती है, वह दुःखी होता है, उसके प्रति उसे द्वेष भाव उत्पन्न होता है, अशुभ अध्यवसाय आते हैं, मन की शांति भंग हो जाती है। जितना अधिक ममत्व होगा, उतनी अधिक चोट लगेगी और अन्त में वह मानसिक-रोगों का भी शिकार हो जाएगा। संबंधों को निर्मित करने के लिए, उन्हें बनाए रखने के लिए, व्यक्ति शारीरिक-परिश्रम करता है। वह परिवार के प्रति अति ममत्व के कारण स्वयं के शरीरादि की उपेक्षा करके, कठोर परिश्रमपूर्वक धन कमाता है। धन के चक्कर में वह अपने तन का भी ध्यान नहीं रखता है और अनेक शारीरिक-रोगों का शिकार हो जाता है। व्याधि का स्वरूप ही ऐसा है कि उसका उपचार न किया जाए, उसे समूल नष्ट न किया जाए, तो वह बढ़ती ही जाती है। ममतारूपी व्याधि को दूर करने के लिए सर्वश्रेष्ठ औषधि सम्यक्-ज्ञान है। ज्ञानरूपी औषधि ऐसी उत्तम औषधि है कि यह ममतारूपी व्याधि को तो नष्ट करती ही है, साथ ही अनेक गुणों द्वारा आत्मा का पोषण भी करती है, इसीलिए मनुष्य को भेदज्ञान, अर्थात् आत्म-अनात्म के विवेक का अभ्यास करना चाहिए। 'मैं आत्मा हूँ, जड़ शरीर नहीं' - यह सदैव स्मरण रखना चाहिए। अनित्यादि बारह भावनाओं का चिंतन करने से ममतारूपी व्याधि नष्ट हो जाती है, इसलिए इनका भी निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

**(२१७) ममत्वे नैव निःशंकमारंभादौ प्रवर्तते।
कालाकालसमुत्थायी धन लोभेन धावती।।६।।**

<u>अनुवाद -</u> ममता के कारण मनुष्य आरंभ (हिंसा) आदि में अमर्यादित रूप से प्रवृत्ति करता है और धन के लोभ के कारण समय-असमय का विचार किए बिना श्रम करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मानव ममता से प्रेरित होकर क्या-क्या नहीं करता है ? ममत्व के कारण वह विचार करता है- 'मैं अपने परिवार को अधिक-से-अधिक सुख-सुविधा के साधन प्रदान कर उन्हें प्रसन्न रखूँ, उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट न हो, इसी में मेरे जीवन की सार्थकता है।' इस प्रकार ममता से प्रेरित होकर वह धन की प्राप्ति के लिए दिन-रात प्रयत्न करता है। जितना-जितना लाभ होता है, उतना-उतना उसका लोभ बढ़ता जाता है, "लाहो लोहो पवड्ढइ"। मोह व्यक्ति को अन्धा बना देता है, तथा वह कार्य-अकार्य का भी विचार नहीं करता है। धन के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय, अत्याचार, देशद्रोह आदि करने में उसे लज्जा महसूस नहीं होती है। उसका तो एक ही उद्देश्य रहता है- "धन आए मुट्ठी में, ईमान जाए भट्टी में।" वह अपने परिवार के प्रति ममत्व के कारण चाहे जैसा पाप करने के लिए तैयार हो जाता है। अपने पुत्रों के ममत्व के कारण धृतराष्ट्र ने भारत के इतिहास को कलंकित किया। राजा शान्तनु अपनी पत्नी के मोह में आकर राज-पाठ आदि व्यवस्था को भूल गया। ममत्व के कारण ही व्यक्ति धन के लिए भी भागदौड़ करता है, क्योंकि जीवन-निर्वाह और सामाजिक-प्रतिष्ठा के लिए सबसे बड़ा साधन धन है। धन के लिए व्यक्ति रात-दिन, काल-अकाल, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, कुछ नहीं देखता है। वृद्धावस्था में भी धन के प्रति उसका ममत्व छूटता नहीं है। बंगला, गाड़ी, आभूषण आदि सभी सुविधाएँ एकत्र करने के बाद भी मनुष्य के मन की भूख शांत नहीं होती है। ममता का स्वरूप ही इतना मोहक है कि व्यक्ति उसमें फंसकर अनेक कष्टों को उठाता है, फिर भी वह उसे छोड़ नहीं पाता है।

(२१८) स्वयं येषां च पोषाय खिद्यते ममतावशः।
इहामुत्र च ते न स्युस्त्राणाय शरणाय वा।।१०।।

अनुवाद :- ममता के वशीभूत होकर व्यक्ति जिनके पोषण के लिए कष्ट उठाता है, वे ही उस लोक या परलोक में उसके रक्षक या शरणभूत नहीं होते हैं।

विशेषार्थ :- मनुष्य जन्म लेते ही अपने परिवार के सम्पर्क में आता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे उसके सम्बन्धों में भी वृद्धि होती जाती है। युवा होने पर उसकी शादी होती है, संतान होती है और उसका एक अलग परिवार बन जाता है। मनुष्य अपनी संतान का पालन-पोषण करने के लिए कितने ही कष्ट उठाता है। उन्हें पढ़ाने के लिए, उनके भरण-पोषण के लिए, उन्हें समृद्ध बनाने के लिए एक बैल की तरह मजदूरी करता है। संतान बीमार हो जाए, तो माता-पिता रात-दिन उसकी सेवा में लग जाते हैं। संतान के सुख के लिए माता-पिता स्वयं के सुख का त्याग कर देते हैं, किंतु वही संतान जब बड़ी हो जाती है, जब माँ-बाप से उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रहता है, वृद्ध माता-पिता की सेवा का जब अवसर आता है, तब माता-पिता उसे बोझरूप लगने लगते हैं। उनकी सेवा करना तो दूर, अपनी पत्नी के मोह में आकर वह उनका अपमान तक करता है। जब माता-पिता के पास कुछ सम्पत्ति शेष नहीं रहती और वे अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं, तब स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। वे अपने ही घर में अत्यन्त दया के पात्र बन जाते हैं और पश्चाताप के अश्रु बहाते हुए अपनी मौत का इंतजार करते रहते हैं। इस प्रकार जो संतान इस लोक में भी सहायभूत नहीं होती, रक्षण नहीं कर पाती, वह परलोक में कहाँ से सहायक होगी ?

दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाए, तो परिवार में एक-दूसरे के प्रति चाहे कितना भी ममत्व हो, प्रेम हो, लेकिन व्याधि की भयंकर वेदना से तड़पते हुए व्यक्ति की वेदना को कोई ले सके, उसका सहभागी बन सके, उस वेदना को बाँट सके, इतनी सामर्थ्य भी किसी में नहीं होती, अतः जो भी वेदना होती है, उसे अकेले ही सहन करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में परिवार भी शरणभूत नहीं होता है, अतः ममत्व का विस्तार करना व्यर्थ है।

(२१६) ममत्वेन बहून् लोकान् पुष्णात्येकोऽर्जितैर्धनैः।
सोढा नरक दुःखानां तीव्राणामेक एव तु।।११।।

अनुवाद - ममत्व के कारण व्यक्ति स्व उपार्जित धन से अनेक लोगों का पोषण करता है, परंतु नरक के भयंकर दुःख तो उसे अकेले ही सहन करना पड़ते हैं।

विशेषार्थ - जितनी अधिक आसक्ति है, उतना ही तीव्र कर्मबन्ध होता है। गृहस्थ जीवन में व्यक्ति पर अनेक उत्तरदायित्व होते हैं, जिनका निर्वाह करना आवश्यक होता है। पत्नी है, संतान है, वृद्ध माता-पिता हैं, अशक्त भाई-बहन हैं, उन सबके भरण-पोषण की चिंता उसे करना पड़ती है, किन्तु इस हेतु वह उचित-अनुचित, जो भी करता है, उसका उत्तरदायित्व तो उसका ही होता है। अगर व्यक्ति गृहस्थ-जीवन में भी अनासक्त-भाव से निर्लिप्त रहकर ईमानदारीपूर्वक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करे, तो उसमें व्यक्ति को अत्यल्प कर्मबन्ध होता है, किन्तु सामान्यतया ऐसा होता नहीं है। विवेक के अभाव में ममता के पाश में बंधकर व्यक्ति गहरी आसक्तिपूर्वक कर्त्तव्यबुद्धि से परिवार का पालन-पोषण करता है। अपनी आत्मा को तो वह भूल ही जाता है। शरीर और शरीर के सुख से सम्बन्धित स्वजन के लिए वह दिन-रात परिश्रम करता है, अनेक पापाचरण करता है, आरंभ-समारंभ करता है, बड़े-बड़े कारखाने, मिलें आदि चलाता है, हिंसा, असत्य, चोरी आदि का आचरण करके वह येन-केन-प्रकारेण सम्पत्ति को एकत्रित करता है। इस प्रकार स्वजनों को सुखी करने के लिए सारे पापकार्य वह अकेले करता है और तीव्र कर्मबन्ध कर लेता है। अर्जित किए हुए धन का उपभोग तो परिवार के सभी सदस्य करते हैं, किन्तु उस धन के लिए किए गए पापकर्म का फल उस अकेले को ही भोगना पड़ता है। भ्रष्टाचार, अन्याय आदि के आरोप में कारावास आदि भी उस अकेले को ही भोगना पड़ता है, साथ ही इन कुकर्मों के कारण नरकादि गति में भी स्वयं को जाना पड़ता है और वहाँ के भयंकर अकथनीय कष्टों को अकेले ही सहन करना पड़ता है। एक कथानक आता है - राजा के यहाँ किसी महोत्सव में हलवाई ने मिठाइयाँ बनाईं। उसने सोचा- मैं तो मिठाई यहाँ खा लूंगा, परंतु मेरे परिवार के सदस्य इनका उपभोग नहीं कर पाएंगे, अतः उसने थोड़ी

मिठाईयाँ चुराकर अलग रख दी। यह अकृत्य किसी पहरेदार ने देख लिया। सारा कार्य समाप्त होने के बाद हलवाई ने उस गुप्त स्थान से मिठाईयों का डब्बा उठाया और घर की ओर चल दिया। जैसे ही वह घर पहुँचा, परिवार के सदस्यों ने डब्बा खोला और प्रसन्नतापूर्वक मिठाई खाने लगे। इधर पहरेदार की शिकायत पर राजा ने उसे बंदी बना लिया और मिठाई चुराने के अपराध में उसे कोड़े लगवाए। तभी से यह कहावत प्रसिद्ध हो गई – "घेवर चौरया, घर का खादा, कूटाना कंदोई।" ऐसी ही हालत उस व्यक्ति की होती है जो परिवार में अत्यन्त आसक्त होकर उनके लिए अनेक पापाचरण करता है और उनसे प्राप्त हुए कष्ट अकेले ही सहन करता है, अतः व्यक्ति को अपना विवेक जाग्रत कर परिवार का पालन-पोषण करना चाहिए। चाहे परिवार के प्रति कितना ही प्रेम हो, किंतु हिंसा, चोरी आदि दुष्कर्म नहीं करना चाहिए। स्वयं भी अकृत्य नहीं करना चाहिए और अन्य के द्वारा भी अकृत्य नहीं करवाना चाहिए। जब पुत्रादि स्वयं अपना भरण-पोषण करने में समर्थ हो जाएं, तो उनके आर्थिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाना चाहिए। अपने आश्रितों के लिए भी, जो उन्हें अत्यधिक भोग-विलास की ओर ले जाएं, इतना अधिक धनोपार्जन नहीं करना चाहिए, परिग्रह की मर्यादा रखना चाहिए। यह सब तब ही संभव है, जब ममत्व को कम किया जाए। कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से स्वयं के द्वारा किए गए कर्मों का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है। यह तथ्य हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

(२२०) ममतान्धो हि यन्नास्ति तत्पश्यति न पश्यति।
जात्यंधस्तु यदस्त्येतद्भेद इत्यनयोर्महान्।।१२।।

<u>अनुवाद</u> – जो ममता से अंधा है वह जो नहीं है उसे देखता है (सत्य को नहीं देख पाता है) और जो जन्म से अंधा है वह तो जो है उसे नहीं देख पाता है। इस प्रकार दोनों में अत्यधिक अंतर (भेद) है।

<u>विशेषार्थ</u> – एक ममतांध है और दूसरा जन्मांध। एक के विवेक पर पर्दा है और दूसरे के चर्मचक्षुओं पर। दोनों ही अंधे हैं, किन्तु दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। जो जन्म से ही अंधा है, जिसने रूप, रंग आदि कभी देखे ही नहीं, केवल अन्य लोगों के कथन से ही उनके बारे में कुछ समझ

सकता है, ऐसा जन्मांध व्यक्ति, जो विद्यमान है उसे नहीं देख पाता है, अर्थात् जिन वस्तुओं को चर्मचक्षु वाले सरलता से देखते हैं, उन वस्तुओं के उपस्थित होने पर भी जन्मांध व्यक्ति उन्हें नहीं देख पाता है, किन्तु ममतांध व्यक्ति की स्थिति जन्मांध से भिन्न होती है। ममता एक प्रकार का ऐसा नशा है, जो व्यक्ति की दृष्टि को भ्रमित कर देता है। इस कारण ममतांध व्यक्ति को, जो वस्तु नहीं है, वह भी दिखाई देती है। जो वस्तु या तत्त्व जहाँ नहीं है, वहाँ उसे देखना, उसी का नाम मिथ्यात्व है, जैसे-जड़ शरीर को चेतन मानना, माता, पिता, पत्नी आदि अनित्य सम्बन्धों को नित्य मानना। उसे लगता है कि शरीर ही मैं हूँ, शरीर स्वस्थ है तो मैं स्वस्थ हूँ, शरीर सुंदर है, तो मैं सुंदर हूँ, शरीर पुष्ट होता है, तो मैं पुष्ट होता हूँ। इसलिए वह सारे कार्य शरीर को केन्द्र में रखकर करता है। शरीर को अल्प हानि होती है तो वह दुःखी हो जाता है। जो भोगोपभोग अत्यंत कर्मबंध के कारण हैं, वह उनमें ही आसक्त होकर अपने जीवन को सार्थक मानता है। अनित्य सम्बन्धों को नित्य मानकर उनको बनाए रखने के लिए वह दिन-रात प्रयास करता है। जन्मांध व्यक्ति तो किसी ज्ञानी के संयोग से जीव और पुद्गल के यथार्थ स्वरूप को समझ सकता है, देव-गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कर सकता है, चर्मचक्षु से नहीं देखते हुए भी विवके-चक्षु के जाग्रत होने पर या अन्तर्चक्षु के खुल जाने पर वह वास्तविकता को अनुभव कर सकता है। जिन तत्त्वों का जैसा स्वरूप है, उन्हें वह समझ सकता है, जिससे उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती है, परिणाम में विशुद्धता आ जाती है, जबकि ममतांध व्यक्ति की दृष्टि मलिन होती है, इस कारण उसे विपरीत दिखाई देता है। इस प्रकार ममतांध और जन्मांध- दोनों में महान् भेद होता है।

(२२१) प्राणानभिन्नताध्यानात् प्रेमभूम्ना तवोऽधिकाम्।
प्राणापहां प्रियां मत्वा मोदते ममतावशः।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> ममता के वशीभूत हुआ व्यक्ति प्राणघातक पत्नी को भी स्वयं से अभिन्न मानता हुआ, उसके प्रति अतिशय प्रेम के कारण, उसे अपने प्राणों से भी अधिक मानकर आनंदित होता है।

विशेषार्थ - स्त्री के हाव-भाव से, उसकी प्रेमचेष्टा से, उसकी देह के सौन्दर्य से, उसकी मधुर वाणी से और उसके साथ कामभोग से व्यक्ति इतना अभिभूत हो जाता है, उसके प्रति इतना प्रेमपूर्ण हो जाता है कि उसे अपने प्राणों से भी बढ़कर मानता है, उसके इशारे पर नाचता है। उसकी सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए वह सदैव कटिबद्ध रहता है, यहाँ तक कि उस पर अपने प्राण भी न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है। वह अपनी स्त्री के साथ अभिन्नता का अनुभव करता है। उसे लगता है कि शरीर दो हैं, परंतु दोनों के प्राण एक ही हैं। 'मेरी स्त्री मेरे बिना जीवित नहीं रह सकती है और मैं भी उसके बिना जीवित नहीं रह सकता हूँ - इस प्रकार वह अपनी स्त्री से स्वयं को अभिन्न मानता है। राजा भर्तृहरि अपनी रानी पिंगला को अत्यधिक चाहता था। अपने प्राणों से बढ़कर उसे प्यार करता था। रानी तो राजा के प्रति झूठा प्रेम प्रदर्शित करती थी, किंतु ममता से अंधा बना हुआ राजा तो उस पर पूर्णतः मोहित था। उसके नकली प्रेम का राजा को कभी आभास नहीं हुआ। एक बार राजा के दरबार में एक व्यक्ति कोंकण देश से अत्यधिक स्वादिष्ट आम्रफल लेकर आया और राजा को भेंट में दिया। राजा ने उसे अपनी प्राणप्रिय रानी पिंगला को दिया। पिंगला ने उसे अपने अतिप्रिय प्रेमी महावत को दे दिया। वह महावत भी वस्तुतः प्रेम तो वेश्या से करता था, अतः उसने वह आम वेश्या को दे दिया और वेश्या ने राजा को प्रसन्न करने के लिए वह आम राजा को भेंट में दिया। राजा को वह आम देखकर अत्यंत आश्चर्य हुआ। राजा ने वेश्या से पूछा कि वह आम उसके पास कहाँ से आया ? तब उसने महावत का नाम बताया। महावत से सारी स्थिति जानकर राजा विरक्त हो गया। धिक्कार है ऐसे अंधे प्रेम को, जिसके कारण इतना बड़ा विश्वासघात पिंगला ने मेरे (राजा भर्तृहरि के) साथ किया। राजा भर्तृहरि का तो विवेक जाग्रत हो गया, किंतु सामान्यजन तो मोह की गहरी नींद में ही सोए रहते हैं। स्त्री की देह-रचना और स्त्री की प्रकृति-दोनों में पुरुषों को मोहांध बनाने की शक्ति रही हुई है। कई स्त्रियों की जब काम-पिपासा जब शान्त नहीं होती है, तो वे अन्य पुरुषों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। अगर उसका प्रेमी या पति उसके कामभोग में बाधक बनता है या उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं होने देता है, तो वह उस पति या प्रेमी के प्राण

भी लेने में नहीं हिचकती है। इससे स्पष्ट है कि जब तक व्यक्ति ममत्व या रागात्मकता का त्याग नहीं करता है, तब तक उसे जगत् की वास्तविकता समझ में नहीं आती है।

(२२२) कुंदान्यस्थीनि दशनान् मुखं श्लेष्मगृहं विधुम्।
मांसग्रंथी कुचौ कुम्भौ हेम्नो वेत्ति ममत्ववान्।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> ममत्व से युक्त पुरुष प्रिया के दाँत, जो हड्डियाँ हैं, उन्हें ही मचकुंद-पुष्प की कलियाँ मानता है, श्लेष्म के घर जैसे मुख को चन्द्र मानता है तथा मांस की ग्रंथिरूप स्तनों को स्वर्ण के कलशरूप मानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> देह के वास्तविक स्वरूप का विचार किया जाए, तो मल-मूत्र, रक्त, मांस, हड्डी और चर्म के अलावा इस देह में है क्या ? जो व्यक्ति को आकर्षित करे, परंतु ममतांध व्यक्ति को तो, जो नहीं है, वही दिखाई देता है। अपनी प्रिया की अशुचिमय देह में उसे अलौकिक सौन्दर्य दिखाई देता है। अपनी प्रिया के दाँत, जो हड्डियाँ ही हैं, उसे श्वेत कुंद-पुष्प की कली के समान प्रतीत होते हैं। श्लेष्म से युक्त उसका मुख पूर्णिमा के चन्द्र के समान आभासित होता है। मांस की ग्रंथिरूप स्तन उसे स्वर्ण के कलश जैसे लगते हैं। कवि स्त्री की स्थूल देह के सौन्दर्य का वर्णन करते समय वास्तविकता को भूलकर कैसी-कैसी कल्पना करते हैं। वे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि काव्यालंकारों का प्रयोग कर स्त्री के अवयवों का वर्णन करते हैं और मोहांध पुरुष उसे सत्य मानकर उसके पीछे उन्मत्त हो जाते हैं। जो इस स्थूल पार्थिव नश्वर देह के सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होता है, ऐसा ममतांध व्यक्ति उसे अमृत से भरे हुए घट के समान समझता है, किन्तु तत्त्वदृष्टि वाला आत्मज्ञानी तो उसे मल-मूत्र से भरी हुई कोथली के समान हेय समझता है। चाहे देह स्वरूपवान् हो या कुरूप, ऊपर की खोल (त्वचा) चिकनी हो या रूक्ष, अन्दर तो सभी में अशुचि ही भरी है। इस देह के सम्पर्क में आने से पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं, दुर्गन्धमय हो जाते हैं। मानव-देह में सारभूत तत्त्व तो मात्र यही है कि इस देह से पुरुषार्थ कर जीव अपने सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जा सकता है, किंतु ममतांध व्यक्ति तो सिर्फ देह के बाह्य सौन्दर्य को ही देखता है, उसकी वास्तविकता का चिंतन नहीं करता है।

(२२३) मनस्यन्यद्वचस्यन्त् क्रियायामन्यदेव च।
यस्यास्तामपि लोलाक्षीं साध्वीं वेत्ति ममत्ववान्।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> जिसके मन में अन्य है, वचन में अन्य है और क्रिया में अन्य है-ऐसी चपल नेत्रवाली स्त्री को भी ममतावाला पुरुष सती मानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> स्त्रियों के स्वभाव में प्रायः माया अधिक होती है। ऐसी चंचल स्त्रियों को पहचानना सरल नहीं है। समुद्र का पार पाना संभव है, किंतु कपटवृत्ति वाली स्त्रियों के दुराचरण को समझ पाना संभव नहीं है। ऐसी स्त्रियों के मन में कुछ होता है, वचन में कुछ होता है और वे काया से कुछ अन्य ही प्रवृत्तियां करती हैं। वे अपने अपराधों को गुप्त रखती हैं, अगर पकड़ी भी जाएं, तो असत्य बोल देती हैं और जब असत्य भी पकड़ा जाता है, तो रोने लगती हैं या अन्य पर दोषारोपण कर देती हैं। इनमें भी जो दुराचारी, चंचलवृत्ति वाली स्त्री होती है, वह अपने पति की उपेक्षा कर मन से किसी अन्य पुरुष को चाहती है, वचन से किसी अन्य पुरुष को मूर्ख बनाती है और धनादि के लोभ में काया किसी अन्य को समर्पित कर देती है। दुराचारी स्त्रियों में इतनी कलाएँ होती हैं कि वे अपने पति को भी पूर्ण नियंत्रण में रखती है। वे ऐसा मायावी वर्त्तन करती हैं, जिससे लगे कि 'पति ही परमेश्वर, दूजो न कोय'। पति को लगता है कि उसकी पत्नी साध्वी जैसी पवित्र है, साक्षात् सती है। ममतांध पुरुष को तो, जो नहीं होता है, वही दिखाई देता है, इसलिए उसे असती में सतीत्व दिखाई दे, तो कोई आश्चर्य नहीं। स्त्रियाँ गले में बाँधी हुई उस शिला के समान हैं, जो भवसमुद्र में डुबो देती हैं। कितने ही पुरुष भी मायावी, दुराचारी और धूर्त होते हैं, किंतु ममत्व के कारण स्त्री अपने पति को पहचान नहीं पाती है और अन्य धूर्त पुरुष को ही भगवान् मानकर उसका विश्वास करती है।

(२२४) या रोपयत्यकार्येऽपि रागिणं प्राणसंशये।
दुर्वृत्तां स्त्रीं ममत्वांधस्तां मुग्धामेव मन्यते।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> दुराचारी स्त्रियाँ अपने प्रेमी पुरुष को जहाँ प्राणों का संशय हो अर्थात् मृत्यु का भय हो, ऐसे अकार्य में जोड़ देती है ऐसी दुराचारी स्त्री को भी ममता से अंधा बना हुआ व्यक्ति प्रिया (मुग्धा) समझता है।

<u>विशेषार्थ -</u> तीव्र राग या आसक्ति के कारण व्यक्ति अपनी स्त्री के चरित्र को पहचान नहीं पाता है। स्त्री जो भी हठ करती है, जो भी मांग प्रस्तुत करती है, पुरुष उसे पूर्ण करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। जब स्वार्थ अत्यधिक प्रबल हो जाता है और भोगों की तृष्णा बढ़ जाती है, तब कितनी ही स्त्रियाँ अपने पति या प्रेमी को अकार्य करने के लिए भी प्रेरित करती हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अपने भोग-विलास की सामग्री के लिए पति को चोरी, रिश्वत, खून, भ्रष्टाचार, अन्याय जैसे अपकृत्यों से जोड़ देती हैं। उसे अपने पति या प्रिय के प्राणों की चिंता नहीं होती, उसे केवल अपनी अभिलाषाओं, कामनाओं की पूर्ति में ही रस होता है। ऐसे अपकृत्य करते हुए यदि वह पकड़ा जाए, तो उसे कड़ी सजा हो जाती है, कितने ही वर्ष कैद में रहना पड़ सकता है। कभी तो उसके प्राण भी संकट में आ जाते हैं। कितनी ही स्त्रियाँ यह जानते हुए भी अपनी मधुर वाणी से पुरुषों को बहकाकर दुष्ट कार्यों के लिए प्रेरित करती हैं, क्योंकि दुराचारी स्त्री अपने पति को अपने भोग-विलास में बाधक समझकर उसे काँटे की तरह दूर करना ही चाहती है। 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी'- इसी आशय से वह अपने पति को प्राणघातक स्थिति में भी पहुँचा देती है, किंतु स्त्री से ठगे हुए उस विषयासक्त या मोहांध पुरुष को दुष्कृत्य करते समय अपनी स्त्री के कपटपूर्ण आशय का स्वप्न में भी विचार नहीं आता है। वह तो उसे भोली-भाली समझकर उस पर मुग्ध ही रहता है।

(२२५) चर्माच्छादितमांसास्थि - विण्मूत्रपिठरीष्वपि।
वनितासु प्रियत्त्वं यत्तन्ममत्वविजृंभितम्।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> चमड़े से ढंके हुए मांस, अस्थि, विष्ठा और मूत्र की गठरीरूपी स्त्रियों के शरीर के प्रति प्रियता का आभास होना तो ममता का ही विलास है।

<u>विशेषार्थ :-</u> ममत्व को दूर करने के लिए तथा चित्त में वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए प्राचीनकाल से ही तत्त्व मीमांसकों ने स्त्री की देह को घृणित बताने की शैली अपनाई, क्योंकि संसार में पुरुष का सबसे अधिक आकर्षण स्त्री के शरीर के प्रति ही होता है। यही स्थिति स्त्रियों में पुरुष-देह के प्रति होती है। स्त्री का बाह्य सौन्दर्य और उसकी मधुर वाणी पुरुष को

मुग्ध कर देती है। प्रस्तुत श्लोक में ममत्व को दूर करने के लिए देह की वास्तविकता का चित्रण किया गया है। जिस स्त्री की देह से आकर्षित होकर पुरुष पतंगा बनकर उसके रूप का प्यासा होता है, उस देह में अन्दर क्या-क्या भरा हुआ है ? शरीर के अंदर मांस है, हड्डियाँ हैं, रक्त है, श्लेष्म है, पित्त है, मूत्र है, विष्ठा है और इन सबके ऊपर सुंदर पतली सी चमड़ी है। इस चमड़ी पर थोड़ी भी खरोंच आ जाए, तो अंदर से वही गंदगी बाहर निकलेगी। सुंदर-मूल्यवान् कपड़े के झोले को यदि विष्ठा आदि गंदगी भरकर उसका मुँह बन्द कर उस पर सजावट भी कर दी गई हो, तो भी ऊपर से सुंदर दिखाई देने वाले उस झोले को कौन समझदार अपने घर में रखेगा ? उसी प्रकार इस देह में भी गंदगी भरी हुई है। देह का ऐसा स्वरूप होने पर भी वह पुरुष को अत्यंत प्रिय लगती है। यही देह यदि शव के रूप में हो, तो मनुष्य उसे घर में रखना पसंद नहीं करेगा। आत्मा के देह से निकल जाने पर वह पुरुष स्वयं ही उस देह का अग्नि-संस्कार कर देता है। इस प्रकार यह देह-राग, ममता का ही खेल है। मल्लीकुंवरी ने उस पर आसक्त छः राजाओं को देह की वास्तविकता का भान कराने के लिए अपने ही समान सौन्दर्य से युक्त मूर्ति का निर्माण करवाकर उस मूर्ति में रोज भोजन का एक कवल डाला। एक महीने पश्चात् जब छहों राजा मल्ली से विवाह करने के लिए आए, तो उन्हें उसी कक्ष में बैठाया गया, जहाँ वह मूर्ति रखी हुई थी और जो वास्तविक मल्लीकुंवरी का ही एहसास करवा रही थी। छहों राजा उसके अद्भुत सौन्दर्य का पान करने में मग्न थे, उनकी दृष्टि उस पर से हट ही नहीं रही थी। उसी समय उस मूर्ति का ढक्कन खोल दिया गया। तब सभी अपनी नाक पर कपड़ा ढंककर इधर-उधर भागने लगे। फिर मल्ली ने आकर उन्हें प्रतिबोधित किया कि इस मूर्ति में तो मैंने भोजन का एक-एक कवल ही डाला है, किन्तु मैं तो अपनी देह में पर्याप्त मात्रा में रोज भोजन डालती हूँ। इस देह का अन्दर का स्वरूप तो अत्यंत घृणास्पद है। इस तरह उन्हें देह की वास्तविकता का भान कराकर उनके ममत्व को दूर किया और उनके चित्त को वैराग्य से वासित किया।

(२२६) **लालयन् बालकं तातेत्येवं ब्रूते ममत्ववान्।**
वेत्ति च श्लेष्मणा पूर्णामंगुलीममृतांचिताम्।।१८।।

<u>अनुवाद</u> - ममत्ववान पुरुष अपने बालक को स्नेह करते समय 'हा, बप्पा'- इस प्रकार बोलता है और श्लेष्म से युक्त उसकी अंगुली को अमृत से युक्त मानकर चूमता है।

<u>विशेषार्थ</u> - यह ममत्व का कैसा जादू है ? जो वस्तुएँ घृणास्पद हैं, ममत्व के कारण व्यक्ति उन्हें ही अमृत मान लेता है। सांसारिक-संबंधों में ममत्व की प्रगाढ़ता होती है और इसके कारण कैसे-कैसे विचित्र वर्त्तन दृष्टिगत होते हैं। जैसे-कोई व्यक्ति अपने छोटे-से बालक को खिलाता, विभिन्न चेष्टाएँ कर उसे हँसाता है। अगर वह बालक चुप नहीं होता, तो कहता है- 'चुप हो जा मेरे बाप', ऐसे कितने ही विचित्र विसंगत शब्द वह ममत्व के कारण बोलता है। यह एक प्रकार का ममत्वयुक्त पागलपन है। छोटे बच्चे अपनी अंगुली दिन भर मुँह में डाले रखते हैं, उनके मुँह से लार टपकती रहती है। बालक वही श्लेष्म से युक्त अंगुली अपने पिता के मुख में डाल देता है, तो भी पिता को घृणा नहीं होती, उसे अरुचिकर नहीं लगती। उसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्र की अंगुली पर अमृत है। एक बार नहीं, बार-बार उसकी अंगुली को चाटकर, मुंह में लेकर पिता उसे खिलाता है। यह ममत्व व्यक्ति से कैसे हास्यास्पद विडंबनात्मक व्यवहार करवाता है। यह विचार करना चाहिए।

(२२७) **पंकार्द्रमपि निः शंका सुतमंकान्न मुंचित।**
तदमेध्येऽपि मेध्यत्वं जानात्यंबा ममत्वतः।।१६।।

<u>अनुवाद</u> - ममता के कारण माता कादव (कर्दम) से युक्त पुत्र को निःशंक होकर अपनी गोद से नीचे नहीं उतारती है और उसकी विष्ठा में भी उसे पवित्रता प्रतीत होती है।

<u>विशेषार्थ</u> - माता का अपने पुत्र के प्रति कैसा ममत्व होता है ? माता के ममत्व का वर्णन करना आसान नहीं है। वह अपने बालक को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। स्वयं असुविधा, कष्ट आदि सहन करते हुए बालक को अल्प कष्ट भी नहीं होने देती। कादव (कर्दम) से युक्त

बालक अगर आकर माता की गोद में बैठ जाए, तो बालक को गोद से उतारने की उसकी इच्छा नहीं होती है। वह स्नेह से उसे आलिंगन करती हैं। बालक यदि गोद में ही मल-मूत्र का त्याग कर दे, तो भी माता उसे झिड़कती नहीं है, उससे घृणा नहीं करती है। वात्सल्य से उसके मल-मूत्र को साफ करते हुए अपने को धन्य मानती है। छोटे बालक-बालिकाओं पर माता-पिता की अतिशय ममता होती है, इसलिए अपने बालक की अशुचि से भी उनको अरुचि नहीं होती, जबकि अन्य के बालकों की अशुचि से वे घृणा करते हैं। वस्तुतः, माता-पिता का वात्सल्य सांसारिक-जीवन में योग्य माना गया है, किंतु तात्त्विक-दृष्टि से तो यह मात्र राग का ही परिणाम है, ममता का ही विस्तार है।

(२२८) माता पित्रादि संबंधोऽनियतोऽपि ममत्वतः।
दृढ़भूमीभ्रमवतां नैयत्येनावभासते।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> चक्कर आने से स्थिर पृथ्वी भी घूमती हुई (अनियत) नजर आती है, उसी प्रकार माता-पिता आदि का संबंध अनियत होने पर भी ममता के कारण नियत (नित्य) प्रतीत होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यक्ति अनादिकाल से जन्म-मरण कर रहा है। जन्म-जन्मान्तर के परिभ्रमण की दृष्टि से सभी सांसारिक सम्बन्ध अनित्य हैं। माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि इस भव के संबंध परभव में इसी रूप में नहीं रहते हैं। वैराग्यशतक में भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा गया है -

जणणी जायइ जाया, जाया, माया, पिया य पुत्तो य।
अणवत्था संसारे, कम्मवसा सव्वजीवाणं।।

संसार में किसी भी जीव की अवस्था निश्चित नहीं है। माता मरकर पत्नी के रूप में प्राप्त हो सकती है, पूर्वभव की पत्नी माता बन सकती है। पिता मरकर पुत्र के रूप में जन्म ले सकता है। क्षण-क्षण में सभी जीवों की पर्यायें बदलती रहती हैं। ऐसी कोई जाति नहीं, ऐसी कोई योनि नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसा कोई कुल नहीं, जहाँ प्रत्येक जीव ने अनंत-अनंत बार जन्म-मरण नहीं किया हो, अतः संसार के प्रत्येक जीव के साथ हमारा

हर प्रकार का संबंध हो चुका है, किसे अपना माने और किसे पराया। आज जो हमें मित्र के रूप में दिखाई देता है, कल वही हमारा दुश्मन बन सकता है। इस प्रकार संबंधों की अनित्यता है। यह संसार एक रंगमंच के समान है। इस पर विभिन्न जीव अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में जन्म लेते हैं। कभी वह जीव माता की भूमिका निभाता है, कभी पत्नी की, कभी राजा की भूमिका निभाता है, तो कभी दर-दर का भिखारी बनकर रंक के रूप में जन्म लेता है। भव-भव में ही नहीं, बल्कि एक ही भव में भी कितने ही कौटुम्बिक-संबंध स्वार्थ एवं संघर्ष के कारण बदल जाते हैं। पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। मित्र, भाई आदि दुश्मन बन जाते है। यह सब देखते एवं जानते हुए भी मूर्ख प्राणी का चित्त ममत्व के कारण भ्रमित रहता है। वह अपने संबंधों को नित्य मानने लगता है। जैसे-कोई व्यक्ति धरती पर स्थिर खड़ा है, किंतु चक्कर आने के कारण उसे सारी धरती, मकान आदि घूमते हुए नजर आते हैं, उसी प्रकार अनित्य संबंध भी नित्य प्रतीत होते है, क्योंकि जीव के अनादिकाल से विपरीत संस्कार है। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से भी जो घटना रोज होती है, उसके संस्कार चित्त में इतने दृढ़ हो जाते हैं कि मनुष्य को यह प्रतिभासित होता है कि माता-पितादि के साथ जो संबंध हैं, वे अनंतकाल तक वैसे ही नित्य रहेंगे। ममत्व के कारण मनुष्य की दृष्टि पर आवरण आ जाता है, जिसके कारण उसे यथार्थ का दर्शन नहीं होता है और वह इन्हीं सांसारिक संबंधों में उलझा रहता है।

(२२६) भिन्नः प्रत्येकमात्मानो विभिन्नाः पुद्‌गला अपि।
शून्यः संसर्ग इत्येवं यः पश्यति स पश्यति।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> प्रत्येक आत्मा भिन्न है। पुद्‌गल-परमाणु भी भिन्न-भिन्न हैं। सभी संबंध शून्य या निरर्थक हैं। इस प्रकार जो देखता है, वही देखता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> किसी भी वस्तु का दो प्रकार से चिन्तन किया जा सकता है - व्यावहारिक दृष्टि से और निश्चय या तात्त्विक-दृष्टि से। यहाँ प्रस्तुत श्लोक पर निश्चय दृष्टि से विचार किया गया है। समस्त संसार का सूक्ष्मावलोकन किया जाए, तो प्रत्येक देह में रही हुई आत्मा भिन्न-भिन्न है। आत्मा अरूपी है। प्रत्येक आत्मा का अन्य आत्मा से या पुद्‌गलादि द्रव्य से

कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से संसारी आत्मा और कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध लौह-अग्निवत् या दूध-पानी के समान है। फिर भी, एक भी आत्मप्रदेश पुद्गल के रूप में परिवर्तित नहीं होता और एक भी पुद्गल का प्रदेश आत्मप्रदेश में परिवर्तित नहीं होता। दोनों मिश्रित होते हुए भी अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं। प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी है और उनसे न कभी एक भी आत्मप्रदेश अलग होता है और न कभी नया आत्मप्रदेश आकर जुड़ता है। यदि बाह्य-दृष्टि से भी विचार किया जाए, तो दो प्राणी के चेहरे भी एक समान नहीं होते और उनका जीवन भी एक समान नहीं होता। चारों गतियों के अनंतानंत जीवों में प्रत्येक में भिन्न-भिन्न आत्मा है। प्रत्येक पुद्गल-अणु भी भिन्न-भिन्न हैं। अणु के संघात और भेद से पुद्गल-स्कन्ध का निर्माण होता है। पुद्गल-स्कन्ध संख्यात्-असंख्यात् और अनंतप्रदेशी भी होते हैं, क्योंकि एक बड़े स्कंध के विसंयोजन (विखण्डन) से अनेक छोटे-छोटे स्कन्ध बन जाते हैं तथा कई छोटे-छोटे स्कन्धों के संयोजन से एक बड़ा स्कन्ध निर्मित हो जाता है। आत्मा चेतन है अरूपी है, जबकि पुद्गल जड़ हैं और स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त हैं। पुद्गल स्कन्ध आत्मा के साथ जुड़ते हैं और नामकर्म के अनुसार अलग-अलग प्रकार की देह का निर्माण होता है। परंतु प्रत्येक आत्मा का पुद्गल के साथ संयोगिक संबंध है। पुद्गल और आत्मा का यह सम्बन्ध भी नित्य नहीं है। एक ही देह में आत्मा और पुद्गल एक क्षेत्र को अवगाह कर रहने पर भी एक दूसरे से भिन्न हैं, दोनों के परिणमन भिन्न-भिन्न हैं और कोई भी भव्य जीव भवितव्यता के परिपक्व होने पर पुरुषार्थ करके अपनी आत्मा को पुद्गल के संयोग से मुक्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर आत्मा को कर्मों से मुक्त कर सकता है। मुक्त आत्मा का कभी भी पौद्गलिक कर्मों से संयोग नहीं होता। इस प्रकार आत्मा और पौद्गलिक कर्मों का संबंध नश्वर है, अशाश्वत है, अतः किसी के प्रति ममत्व-भाव रखना उचित नहीं है।

(२३०) अहंताममते स्वत्वस्वीयत्वभ्रमहेतुके।
भेदज्ञानात्पलायेते रज्जुज्ञानादिवाहिभीः।।२२।।

अनुवाद - जैसे रस्सी का रस्सी के रूप में ज्ञान होने से सर्प का भय नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञान से स्व, अर्थात् 'मैं' और स्वकीयत्व, अर्थात् 'मेरेपन' के भ्रम के हेतु अहंता और ममता का नाश हो जाता है।

विशेषार्थ - संसार परिभ्रमण के 'अहंकार' और 'ममकार' - ये दो प्रमुख हेतु हैं। अहंकार में स्वत्व है, अर्थात् मैं भी कुछ हूँ- ऐसा अभिमान का भाव है और ममत्व में स्वकीयत्व का भाव है, अर्थात् मेरा भी कुछ है। मैं और मेरे के चक्कर में सारा जगत् उलझा हुआ है, मोह से अंधा बना हुआ है। अहंकार और ममकार-दोनों का सम्बन्ध देह के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक देह में मैं और मेरेपन का भाव है, तब तक अहंकार और ममत्व साथ-साथ रहते हैं। फलस्वरूप, मैं धनवान, मैं कुलवान्, मैं रूपवान्, मैं विद्वान्, मैं कुशल, मैं सत्तावान् आदि सांयोगिक पौद्‌गलिक पर्यायों को मनुष्य अपनी मानता है। मेरे बिना कुछ नहीं हो सकता, मैंने ही इस कार्य को सम्पादित किया है, मैं ही परिवार को चलाता हूँ, मेरे बिना परिवार रह नहीं सकता, आदि भ्रमों को मनुष्य सत्य मानकर चलता है। मेरा धन, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरी गाड़ी आदि के रूप में उसका नश्वर वस्तुओं के प्रति गहरा ममत्व भाव रहता है। अहंकार और ममकार अज्ञानता के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जब तक ज्ञान का प्रकाश नहीं फैलता, जब तक विवेक जाग्रत नहीं होता तब तक व्यक्ति, मैं और मेरे के भ्रम में उलझा रहता है, किंतु भेदज्ञान का दीपक प्रज्वलित होने पर, अज्ञान का अंधकार दूर हो जाता है और व्यक्ति का भ्रम समाप्त हो जाता है, उसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। भ्रम के दूर हो जाने पर कार्य करते हुए भी कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव भी समाप्त हो जाता है तथा ज्ञाता-दृष्टाभाव का विकास होता है। फिर उसे अपने कर्त्तृत्व का अहंकार नहीं होता। छोटे बच्चे खिलौनों से खेलते हैं। जब खिलौना टूट जाता है, तो वे रोते भी हैं। उसके लिए लड़ते हैं, झगड़ते हैं, किन्तु युवा होने के बाद वे यह भूल ही जाते है, कि खिलौने कहाँ हैं। एक दिन उसके लिए लड़ते थे, आज उनकी कोई चिंता नहीं, क्योंकि उन्होंने यह जान लिया है कि खिलौने,

खिलौने हैं। ठीक वैसे ही, जब भेद-ज्ञान का प्रकाश फैलता है, तब संसार के सब नाटक खिलौनों के समान व्यर्थ लगने लगते हैं, फिर उनका कोई महत्व नहीं रहता है। व्यक्ति के संसार में रहते हुए भी संसार उसके हृदय में नहीं रहता है। जैसे-अंधेरे में रस्सी में सर्प का भ्रम उत्पन्न हो जाता है, व्यक्ति उससे भयभीत भी होता है, कांपने लगता है, किंतु प्रकाश होते ही वह भ्रम समाप्त हो जाता है, वैसे ही देह और आत्मा के मध्य भेदज्ञान होने पर अहंता और ममता का विलय हो जाता है। अहंता और ममता भेदज्ञान के प्रबल शत्रु हैं। मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, अनंत, आनंद से युक्त, चैतन्यघन, अविनाशी, त्रैकालिक ध्रुव-ऐसी आत्मा हूँ, देह मेरी नहीं है, देह के सुख-दुःख मेरे नहीं हैं- इस प्रकार चिंतन करने से भेदज्ञान होने लगता है तथा अहंकार और ममत्व भाव विलीन होने लगते हैं।

(२३१) किमेतदिति जिज्ञासा तत्त्वान्तज्ञानसन्मुखी।
व्यासंगमेव नोत्थातुं दत्ते क्व ममतास्थितिः।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> यह क्या है ? इस प्रकार की तत्त्वज्ञान के विषय में उत्पन्न हुई जिज्ञासा आसक्ति को उत्पन्न ही नहीं होने देती है, तो फिर उसके प्रति ममता कैसे हो।

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में अनेक प्रकार के जीव हैं। चारों गति के जीवों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो चिन्तन-मनन करने के साथ-साथ आचरण भी कर सकता है। उनमें भी कितने ही ऐसे मनुष्य होते हैं, जिनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं होता। वे जैसे-तैसे अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें कोई जिज्ञासा भी उत्पन्न नहीं होती, किन्तु कितने ही व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनकी स्वरूपबोध की जिज्ञासा निरंतर बनी रहती है। उनके मन में अनेक प्रश्न उठते हैं ? यह क्यों हुआ ? किसने किया ? किस प्रकार हुआ ? इस प्रकार की कौतूहलवृत्ति उनमें रहती है। कितने ही लोगों की इस प्रकार की जिज्ञासा भौतिक पदार्थों तक ही सीमित होती है और उससे विज्ञान का विकास होता है और कितने ही लोगों की जिज्ञासा चेतन के विषय में भी होती है, इसी से अध्यात्म का विकास होता है। उन्हें चेतन तत्त्व के विषय में, उसकी निरन्तर बदलती हुई पर्यायों के विषय में, अनेक प्रश्न उठते हैं, जिनका समाधान खोजते-खोजते वे मूल तत्त्व तक

पहुँचने का पुरुषार्थ करते हैं। उनको जड़ और चेतन-द्रव्यों के स्वभाव का, उनके लक्षणों का, उनके पारस्परिक-संबंधों का रहस्य समझ में आ जाता है। गौतम बुद्ध ने जब सर्वप्रथम एक वृद्ध व्यक्ति को देखा, जिसकी कमर झुकी हुई थी, जो लकड़ी के सहारे चल रहा था, तब ही उनके मन में प्रश्न उठा कि यह कौन है ? यह इस तरह क्यों चल रहा है ? जब उन्हें बताया गया कि वह वृद्ध हो गया है, तभी दूसरा प्रश्न उठा कि क्या सभी को वृद्ध होना पड़ता है ? समाधान मिला कि आयुष्य लंबी हो, तो सभी को वृद्ध तो होना ही पड़ता है। फिर उन्होंने एक शव को ले जाते हुए देखा। उन्होंने प्रश्न किया कि सब रोते हुए किसे ले जा रहे हैं और क्यों ले जा रहे हैं ? समाधान मिला कि इस व्यक्ति की मृत्यु हो गई है, अर्थात् उसकी आत्मा शरीर को छोड़कर चली गई है, प्राण निकल गए हैं और शरीर निर्जीव हो गया है अतः इसे जलाने ले जा रहे है। उन्होंने फिर प्रश्न किया कि क्या सभी को मरना पड़ता है। उत्तर मिला हाँ, जो भी जन्म लेता है उसका मरण निश्चित है। यह सुनते ही उनका चिन्तन प्रारम्भ हो गया। जब एक दिन सभी को मरना ही है, तो क्या जन्म-मरण के दुःख से मुक्त होने का भी कोई उपाय है ? क्या निर्वाण है ? अगर निर्वाण है, तो उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। एक दिन वे राजमहल, अपार समृद्धि, माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि सभी को छोड़कर वन में निकल गए। उनकी आसक्ति ही समाप्त हो गई। इस प्रकार जब संसार के स्वरूप का और चेतन तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तो सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न ही नहीं होती है। सत्य को जान लेने के पश्चात् भ्रम ही समाप्त हो गया, तो आसक्ति कैसे उत्पन्न होगी ? जब आसक्ति ही नहीं होती है तब ममत्व वृत्ति भी कैसे होगी ? आसक्ति के कारण ही ममत्व भाव उत्पन्न होता है। जब तक आसक्ति है, तब तक राग है, ममता है। अतः ममत्व भाव को दूर करना है तो तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा, उनके प्रति रूचि जाग्रत करना अत्यंत आवश्यक है। आत्मिक ज्ञान का रस इतना उत्कृष्ट है कि एक बार उसका स्वाद लेने के बाद फिर पौद्गलिक पदार्थ तुच्छ, सारहीन और नीरस लगते हैं।

(२३२) प्रियार्थिनः प्रियाप्राप्तिं विना क्वाऽपि यथा रतिः।
न तथा तत्त्वजिज्ञासो - स्तत्त्वप्राप्तिं विना क्वचित्।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे प्रेमिका के अर्थी पुरुष को प्रेमिका की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि नहीं होती है, उसी प्रकार तत्त्व की जिज्ञासा वाले को तत्त्व की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में बताया है कि जिस व्यक्ति की जिसमें रुचि या लालसा होती है, वह वस्तु जब तक प्राप्त नहीं हो, तब तक अन्य किसी भी वस्तु में क्रिया में, उसे आनंद नहीं आता है, जैसे-एक बालक जब अपने साथियों के साथ खेल में लग जाता है, तब उसे खेल के अलावा कुछ भी अच्छा नहीं लगता वह खाना-पीना-पढ़ना, सब भूल जाता है। वैज्ञानिक जब किसी नए आविष्कार में लगे हुए होते हैं, तब उनकी अन्य सारी रुचि उनकी समाप्त हो जाती है। एडीसन नामक वैज्ञानिक जब बल्ब के अविष्कार के लिए प्रयास कर रहा था, तब हजारों बार निष्फलता प्राप्त होने के बाद भी वह तन-मन-धन से पूरी एकाग्रतापूर्वक, पूरे मनोयोग से, उसमें जुटा रहा और आखिर एक दिन उसने बल्ब का आविष्कार कर ही लिया। भामती टीकाकार के विषय में कहा जाता है कि वे अपने ग्रंथलेखन के कार्य में इतनी रुचिपूर्वक एकाग्रचित्त हो गए कि उनके अन्य सारे रस ही समाप्त हो गए, यहाँ तक कि वे अपनी पत्नी को भी नहीं पहचान पाए। उसी प्रकार जब किसी युवक का युवती से प्रेम हो जाता है, या प्रणय के प्रारम्भिक दिनों में ही प्रेमिका का विरह हो जाता है, तो वह विरहाग्नि तब तक प्रज्वलित रहती है, जब तक प्रिय की प्राप्ति नहीं हो जाती। जब तक प्रिय की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसे अन्य किसी में कोई रुचि नहीं होती। ठीक उसी प्रकार तत्त्वरुचि के विषय में भी व्यक्ति जब एकाग्रचित्त हो जाता है, तब अन्य पौद्गलिक-पदार्थों के प्रति उसकी रुचि समाप्त हो जाती है, क्योंकि तात्त्विक-ज्ञान और स्वरूप रमणता का विषय इतना गंभीर होता है कि उसमें जैसे-जैसे उतरते जाते हैं, वैसे-वैसे नए तत्त्व प्रकाश में आते जाते हैं। व्यक्ति अपने आत्मिक ज्ञान में इतना गहराई तक चला जाता है कि उसे समय का भी ध्यान नहीं रहता है।

तत्त्वरुचि एक बार जाग्रत होने के पश्चात् व्यक्ति का परभावों में या परद्रव्यों में ममत्व भाव समाप्त हो जाता है।

(२३३) अतएव हि जिज्ञासा विष्कंभति ममत्वधीः।
विचित्राभिनयाक्रान्तः संभ्रान्त इव लक्ष्यते।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए ही ममत्व-बुद्धि जिज्ञासा को रोककर रखती है। इस तरह विचित्र प्रकार के अभिनय से व्याप्त हुआ वह (जीव) पागल (संभ्रान्त) जैसा दिखाई देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ममता और तत्त्वजिज्ञासा, अर्थात् वासना और विवेक-दोनों का संघर्ष चलता रहता है। कभी वासना की विजय होती है, तो कभी विवेक की। जब ममत्व की शक्ति में वृद्धि होती है, तब तत्त्वजिज्ञासा की वृत्ति घटती है और जब तत्त्वजिज्ञासा के प्रति रुचि में वृद्धि होती है, तब ममत्व भाव निर्बल हो जाता है। जब ममत्व भाव अत्यधिक प्रबल होता है, तब तत्त्वजिज्ञासा बिल्कुल शांत हो जाती है और ममता के सभी साथी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों आवेग या कषाय मानसिक समत्व को भंग कर देते है। मानसिक विषमता मनोजगत् में तनाव की अवस्था की सूचक है। ममत्व भाव की प्रबलता के कारण व्यक्ति संयोगानुसार अच्छी-बुरी परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों से प्रभावित होता है। परिस्थिति के अनुसार उसके चेहरे के भाव भी बदल जाते हैं। थोड़ी सी अनुकूलता प्राप्त होने पर वह हर्षित हो जाता है, अल्प प्रतिकूलता प्राप्त होने पर दुःखी हो जाता है। कभी किसी के प्रति राग प्रदर्शित करता है तो कभी किसी के प्रति द्वेष। इस प्रकार ममत्व के कारण नाटक के पात्र की तरह वह भी अभिनय करता है। कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी रुष्ट होता है, कभी तुष्ट हो जाता है। इस प्रकार की मानसिक विषमता में फसे हुए आसक्त व्यक्ति के मन में कभी तत्त्वरुचि पैदा नहीं होती है। दूसरे शब्दों में, ममत्व-बुद्धि तत्त्वजिज्ञासा पैदा ही नहीं होने देती है, क्योंकि जैसे ही तत्त्वजिज्ञासा होगी वैसे ही आसक्ति समाप्त हो जाएगी और ममता निर्बल हो जाएगा, इसलिए तत्त्वजिज्ञासु को कभी भी ममत्व का जोर बढ़ने नहीं देना चाहिए, हमेशा जाग्रत रहना चाहिए।

(२३४) धृतो योगो न ममता हता न समताऽदृता।
न च जिज्ञासितं तत्त्वं गतं जन्म निरर्थकम्।।२६।।

अनुवाद - जिस व्यक्ति ने योग धारण कर लिया, परंतु ममता का नाश नहीं किया, समता का आदर नहीं किया और तत्त्व को जानने की इच्छा नहीं की, उसका मानव जन्म निरर्थक हो जाता है।

विशेषार्थ - इस संसार में योगी और भोगी-दोनों प्रकार के जीव हैं। सामान्यतया, सभी लोगों की रुचि भोग में ही अधिक होती है। वे अपने मन, वचन और काया का दुष्प्रयोग करते हुए पारमार्थिक दृष्टि से जीवन को निरर्थक, निष्फल कर देते हैं। जन्म हुआ, बड़े हुए, शादी हुई, बच्चे हुए, उनका पालन-पोषण किया, वृद्ध हुए, बीमार हुए और इस संसार से विदा हो गए। प्रायः सामान्य लोगों का जीवन ऐसा ही होता है। मिथ्यात्व के अंधकार में ही भटकते रहते है। अहंता और ममता की उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिनमें तत्त्वजिज्ञासा प्रकट होती है उनकी आसक्ति और ममत्व भाव कम होता है और समत्व भाव की वृद्धि होती है। मानसिक समता प्राप्त करने के लिए ममत्व भाव से ऊपर उठना आवश्यक है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए तथा अपने उत्तरदायित्व का अनासक्त भाव से निर्वाह करते हुए ममत्व भाव का त्याग करके समत्व भाव से मैत्री स्थापित करने का कार्य कोई विरले पुरुष ही कर सकते हैं। कितने ही व्यक्ति गृहस्थ जीवन का त्याग करके योगी बन जाते है। यद्यपि संसार का त्याग करके मुनि बनना अत्यधिक कठिन है और बहुत ही कम लोग इस मार्ग पर प्रस्थान करते हैं, परंतु इस मार्ग पर जाने के बाद भी ममता पीछा नहीं छोड़ती है। ममत्व भाव के रहने पर समत्व भाव नहीं ठहरता है और तत्त्वजिज्ञासा भी दृढ़ नहीं होती। ममता नए-नए रूप धारण कर मुनि के समक्ष आती है। मेरा यश, मेरी कीर्ति, मेरा गच्छ, मेरे गुरु, मैं विद्वान, मैं त्यागी, मैं तपस्वी आदि के रूप में ममकार और अहंकार प्रवेश कर जाता है और धीरे-धीरे तात्त्विक रुचि कम हो जाती है। साधक अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है, विभिन्न क्रियाकाण्ड के आडम्बर में फसकर यश-कीर्ति के लोभ में पतित हो जाता है और वास्तव में उसका जीवन निरर्थक हो जाता है। वह संसार का त्याग करता है-समता का

अधिकारी बनने के लिए, किन्तु ममता का शिकार होकर जीवन को निष्फल कर देता है।

(२३५) **जिज्ञासा च विवेकश्च ममतानाशकावुभौ।**
अतस्ताभ्यां निगृह्णीयादेनामध्यात्मवैरिणाम्।।२७।।

अनुवाद - जिज्ञासा और विवेक ये दोनों ममता का नाश करने वाले है इसलिए इन दोनों के द्वारा अध्यात्म की वैरिणी (ममता) का निग्रह करना चाहिए।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में उपसंहार के रूप में ममत्व का नाश करने के लिए दो शस्त्र बताए गए है -१. जिज्ञासा और २. विवेक। जिज्ञासा से वस्तु का आंतरिक और बाह्य स्वरूप समझ सकते हैं। क्योंकि जब तक मन में वस्तु के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक उसके विषय में ज्ञान होना संभव नहीं है। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होने के बाद विवेक द्वारा हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का स्वरूप समझ में आता है। जैसे ही जिज्ञासा से ममत्व के स्वरूप को, उसके दुःखदाई परिणामों को तथा समत्व को और उसके लाभदायक परिणामों को जाना जाता है, तभी विवेक से यह निर्णय लिया जाता है कि समत्व उपादेय है ग्रहण करने योग्य है और ममत्व हेय है त्याग करने योग्य है। विवेक से चिंतन करता है, कि समत्व को साधने के कौन-कौन से उपाय हैं? कौन-कौन से निमित्त समत्व के लिए घातक हैं? उनसे कैसे दूर रहना चाहिए आदि। शत्रु को नष्ट करने के लिए पहले उसके विषय में पूरी जानकारी होना आवश्यक है कि शत्रु किस प्रकार का है ? उसकी शक्ति कितनी है ? उसकी कमजोरी क्या है ? पुनः उसको नष्ट करने के लिए कौनसी युक्ति काम आएगी ? आदि। यह ममता भी निर्बल नहीं है, अनेक सैनिक इसके साथ है अतः अल्प प्रयत्न से उस पर विजय प्राप्त करना कठिन है। वह अनंत काल से संसारी जीवों पर शासन कर रही है, वह अनेक आकर्षक रूप धारण कर, छल, कपट कर अनेक योगियों के हृदय पर भी अधिकार कर चुकी है, अतः ऐसी ममता का निग्रह करने के लिए बहुत ही सावधानीपूर्वक जाग्रत रहकर आगे कदम बढ़ाना चाहिए। ममता अध्यात्म की शत्रु है। यदि ममता का नाश नहीं किया गया तो वह अध्यात्म शक्ति का, समत्व का नाश कर देगी। युद्ध में दोनों

पक्षों में से एक पक्ष की विजय और एक पक्ष की पराजय निश्चित होती है। ममता और समता के युद्ध में अगर ममता पराजित नहीं हुई, तो समता का पराजित होना निश्चित है। अतः विवेक और जिज्ञासा - इन दो पैने शस्त्रों द्वारा ममता को पराजित करने का दृढ़ संकल्प कर उसे परास्त करना ही हमारी आत्मा के हित में है।

------oo------

प्रबंध-तृतीय

नवाँ अधिकार - समता अधिकार

(२३६) त्यक्तायां ममतायां च समता प्रथमे स्वतः।
स्फटिके गलितोपाधौ यथा निर्मलता गुणः।।१।।

अनुवाद - जिस प्रकार मल (उपधि) के दूर हो जाने पर स्फटिक में रहा हुआ निर्मलता का गुण स्वतः प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार ममता का त्याग करते ही समता स्वतः अभिव्यक्त हो जाती है।

विशेषार्थ - ममत्व और समत्व-दोनों ही एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार जीव में ममता और समता का अस्तित्व एक साथ नहीं हो सकता। जैसे ही ममता नष्ट हो जाती है, वैसे ही जीव में समता का विस्तार होने लगता है। जिस प्रकार एक सिंहासन पर एक समय में एक ही राजा बैठ सकता है, राज कर सकता है, उसी प्रकार हृदयरूपी सिंहासन पर दोनों में से एक का ही अधिकार हो सकता है, या तो ममता का या समता का। जब जीव का विवेक जाग्रत होता है, तब वह ममत्व को सिंहासन से च्युत कर देता है। उसी समय समत्व प्रकट होकर हृदय रूपी सिंहासन पर आसीन हो जाता है। राग और द्वेष ममत्व के साथी हैं। राग और द्वेष के नष्ट हो जाने पर आत्मा का स्वाभाविक गुण समत्व प्रकाशित हो जाता है। 'अप्पा सो परमप्पा' की भावना का जब विस्तार होता है, तब सभी जीवों के प्रति समान दृष्टि हो जाती है। प्रत्येक जीव में सिद्धस्वरूपी आत्मा का दर्शन करने से दुराचारी के प्रति भी द्वेष उत्पन्न नहीं होता है। सभी जीव संसार में अपने कर्मानुसार भ्रमण करते हैं। इस प्रकार चिंतन करने से क्रोधादि कषाय दूर हो जाते हैं और समत्व भाव प्रकट होता है।

जैसे-स्फटिक स्वयं निर्मल होता है, किंतु उस पर मिट्टी आदि लगे हों, तब उसकी निर्मलता व्यक्त नहीं होती और जैसे ही किसी प्रक्रिया द्वारा उसका मैलादि दूर कर दिया जाता है, वैसे ही उसकी निर्मलता प्रकट हो जाती है, अथवा स्फटिक के पीछे नीली, काली, लाल या अन्य किसी वर्ण की वस्तु रखी हो, तो उसकी छाया स्फटिक में झलकती है अतः स्फटिक भी नीला, काला आदि वर्ण का दिखाई देता है, किन्तु जैसे ही वस्तु को दूर कर दिया जाता है, वैसे ही स्फटिक की स्वाभाविक निर्मलता प्रकट हो जाती है, वैसे ही राग, द्वेष आदि मल के दूर हो जाने से, विभावों का त्याग करने पर, आत्मा से स्वतः अपना समत्व का स्वभाव व्यक्त हो जाता है।

(२३७) प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थे व्यंवहारस्य कल्पना।
निश्चयात्तद्व्युदासेन स्तैमित्यं समतोच्यते।।२।।

<u>अनुवाद</u> - प्रियत्व और अप्रियत्व के अर्थ में व्यवहारनय से कल्पना है, परंतु निश्चयनय से उसका त्याग करके स्थिरता को प्राप्त करना समता कहलाती है।

<u>विशेषार्थ</u> - जगत् जड़ और चेतन-दो तत्त्वों से बना है। इनमें से जो-जो जीव के अनुकूल हैं या इष्ट हैं वे प्रिय लगने लगते हैं और जो-जो जीव के प्रतिकूल हैं या अनिष्ट हैं, वे अप्रिय लगने लगते हैं। सुमन (पुष्प) सभी को प्रिय लगते है और काँटे सभी को अप्रिय लगते हैं। सुगन्ध से सभी आकर्षित होते हैं और दुर्गन्ध से दूर भागते हैं। सुख सभी को प्रिय लगता है और दुःख सभी को अप्रिय लगता है। सज्जन सभी को अच्छे लगते हैं, दुर्जन को कोई पसंद नहीं करता। अपने कार्य में सहयोग देने वाले सभी को प्रिय लगते हैं और कार्य में बाधा पहुँचाने वाले अप्रिय लगते हैं। कठोर स्पर्श अप्रिय होता है और कोमल स्पर्श प्रिय होता है। मधुर स्वाद प्रिय होता है और कटु स्वाद अप्रिय होता है। मधुर वाणी कर्णप्रिय प्रतीत होती है और कर्कशवाणी कर्ण को नहीं सुहाती। इस प्रकार प्रिय और अप्रिय का भाव व्यावहारिक-दृष्टि से है। जब तक बाह्य-दृष्टि है और ममत्व है, तब तक प्रियता और अप्रियता का भाव रहता है। एक ही पदार्थ किसी समय प्रिय लगता है और किसी समय अप्रिय, जैसे-अत्यधिक सर्दी में ऊनी कंबल प्रिय लगता है, वही कंबल गर्मी में अप्रिय हो जाता है। गंदे नाले के जल से घृणा

होती है और यदि वही जल किसी झील आदि में मिल जाए या प्रक्रिया द्वारा उसका शोधन किया जाए, तो वही जल अमृत के समान लगता है। एक व्यक्ति जब तक आपकी प्रशंसा करता है, आपके पक्ष में बोलता है, तब तक प्रिय लगता है, वही व्यक्ति यदि निंदा करने लग जाए या विपक्ष में बोलने लगे, तो अप्रिय हो जाता है। इस प्रकार अपने स्वार्थ के अनुसार पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की बुद्धि रहती है और व्यक्तियों पर भी इष्ट और अनिष्ट की बुद्धि रहती है। अगर तात्त्विक-दृष्टि से विचार किया जाए, तो प्रियत्व तथा अप्रियत्व पदार्थों में रहा हुआ नहीं है, परंतु अपनी दृष्टि में रहा हुआ है, इसलिए राग और द्वेष से दूर होने के लिए माध्यस्थ-दृष्टि के विकास का प्रयास करना चाहिए। निश्चय-दृष्टि से तो प्रियत्व और अप्रियत्व के भाव नष्ट होने पर ही स्थिरता प्राप्त होती है और वही स्थिरता, अचलता, समता कहलाती है। इष्ट और अनिष्ट का संयोग होने पर भी स्वयं को उससे निरपेक्ष रखना, उसमें लिप्त नहीं होना, राग और द्वेष नहीं करना ही समत्व है।

(२३८) तेष्वेव द्विषतः पुस स्तेष्वेवार्थेषु रज्यतः।
निश्चयात्किंचिदिष्टं वाऽनिष्टं वा नैव विद्यते।।३।।

<u>अनुवाद -</u> कितने ही विषय में द्वेष करने वाले और उन्हीं विषयों में राग करने वाले पुरुष के लिए निश्चयदृष्टि से कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं होता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> अनादिकाल से जगत् के जीवों में राग और द्वेष का चक्र चल रहा है। जैसे-चक्र में कभी नीचे का हिस्सा ऊपर और ऊपर का हिस्सा नीचे-इस प्रकार का क्रम चलता है, उसी प्रकार राग और द्वेष का क्रम भी चलता रहता है। जैसे कोई भी वस्तु या वस्त्र आदि पर व्यक्ति की बहुत आसक्ति होती है, वह उसे बहुत अच्छा लगता है, लेकिन वह पुराना हो जाए, फट जाए या इससे भी अच्छी विशिष्ट वस्तु या वस्त्र दिखाई दे, तब उस पर राग नष्ट हो जाता है, द्वेष उत्पन्न हो जाता है और नई वस्तु या वस्त्र के प्रति राग हो जाता है। कोई वस्तु प्रिय हो, लेकिन उसके निमित्त से यदि झगड़ा आदि हो जाए या उससे हानि हो जाए, तो भी उस वस्तु के प्रति अभाव हो जाता है। जिस वस्तु के प्रति एक बार अभाव उत्पन्न हो

गया हो, उसी वस्तु पर समय निकल जाने पर प्रसंगानुसार पुनः भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे-वस्तुओं के विषय में परिणाम परिवर्तित होते हैं, वैसे ही व्यक्तियों के विषय में भी परिणामों में परिवर्तन आता है। प्रिय व्यक्ति अप्रिय हो जाता है और अप्रिय, प्रिय लगने लगता है, मित्र दुश्मन बन जाता है और दुश्मन मित्र हो जाता है, परंतु यह सब व्यावहारिक-दृष्टि से है। पदार्थों में स्वयं में इष्ट या अनिष्टत्व नहीं होता। व्यक्ति के स्वयं के मन के भाव, विचार और संकल्प के अनुसार उसे वैसा ही प्रतीत होता है, अतः इष्टत्व और अनिष्टत्व पदार्थ में नहीं परिणामों में हैं निश्चयदृष्टि का विकास होने पर सभी पदार्थों और जीवों के प्रति समत्व की भावना प्रकट होती है।

(२३६) एकस्य विषयो यः स्यात्स्वाभिप्रायेण पुष्टिकृत्।
अन्यस्य द्वेष्यतामेति स एव मतिभेदतः।।४।।

<u>अनुवाद -</u> जो विषय एक को अपने अभिप्राय के अनुसार आनंदप्रद (पुष्टिकारक) लगता है, वही विषय दूसरे को अपनी अलग मति के अनुसार द्वेषकारक लगता है।

<u>विशेषार्थ -</u> एक ही पदार्थ, एक ही विषय, अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग परिणाम उत्पन्न कर सकता है। जैसे-शास्त्रीय-संगीत चल रहा हो, तो जिसे संगीत का ज्ञान है, उसमें रुचि है, वह व्यक्ति संगीत में डूब जाएगा, उसे बहुत आनंद आएगा, लेकिन कोई व्यक्ति, जो संगीत से बिल्कुल अनभिज्ञ है, उसे वह शोरगुल प्रतीत होगा, उसे सिरदर्द होने लगेगा, अर्थात् वही संगीत उसे अरुचिकर लगेगा। प्रत्येक व्यक्ति का पालन-पोषण अलग-अलग प्रकार से होता है, उसी प्रकार से उसकी बुद्धि का विकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति का बौद्धिक-विकास समान नहीं होता, उसकी रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए एक ही पदार्थ या एक ही व्यक्ति के लिए दो भिन्न- भिन्न व्यक्तियों का अभिप्राय एक समान नहीं भी हो सकता है। दोनों के दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं और ये दृष्टिकोण स्वार्थप्रेरित भी हो सकते हैं। राजनीति में भी दो प्रतिपक्षी के मध्य या दो प्रतिपक्षी राष्ट्रों के मध्य एक ही बात किसी पक्ष के आनंद के लिए होती है और वही बात प्रतिपक्षी के लिए विषाद का कारण बन जाती है। कहने का तात्पर्य यही है

कि वस्तु वही है, लेकिन किसी के लिए आनन्दप्रद हो सकती है, किसी के लिए विषाद का कारण बन सकती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु में इष्ट और अनिष्ट नहीं रहा हुआ है। व्यक्ति की दृष्टि, उसके विचार ही इष्ट और अनिष्ट की बुद्धि उत्पन्न करते हैं, अतः अपनी दृष्टि को ही परिष्कृत करने की आवश्यकता है।

(२४०) विकल्पकल्पितं तस्माद्द्वयमेतन्न तात्त्विकं।
विकल्पोपरमे तस्य द्वित्वादिवदुपक्षयः।।५।।

अनुवाद - इसलिए वस्तु के संबंध में विकल्परूप से कल्पित इष्ट या अनिष्ट-दोनों ही सत्य नहीं हैं। जब व्यक्ति विकल्प से निवृत्त हो जाता है, तब दोनों में रहा हुआ इष्ट एवं अनिष्टरूप विकल्प क्षय हो जाता है।

विशेषार्थ - जीव अनादिकाल से संकल्प और विकल्पों में उलझा हुआ है, क्योंकि मन कभी खाली नहीं रहता है, उसमें विचारों की उथल-पुथल चलती रहती है। उसमें प्रत्येक पल उठते हुए सभी विचार यथार्थ हों, यह कह नहीं सकते। अधिकतर विचार, कल्पनाएँ तो सर्वथा निरर्थक होती हैं। अपने विचारों पर अपना ही नियंत्रण नहीं होता है। इन्हीं विकल्पों के कारण ही पदार्थ के प्रति राग अथवा द्वेष के भाव मन में उत्पन्न होते हैं। वास्तव में तो सुख अपने मन में ही रहा हुआ है, परंतु व्यक्ति उस आनंद को बाहर वस्तुओं में या अन्य व्यक्तियों में ढूंढता है। अगर व्यक्ति का मन समाधिस्थ है, तो उसे जो आनंद महल में प्राप्त हो रहा है, जो आनंद उसे मिठाई खाते हुए मिल रहा है, वही आनंद उसे जंगल में भी प्राप्त हो सकता है, सूखी रोटी खाते हुए भी प्राप्त हो सकता है, क्योंकि आनंद न महल में है, न मिठाई में वस्तुतः, आनंद तो आत्मा का स्वभाव है और वह अन्दर ही है। हम अपनी सुविधानुसार किसी भी वस्तु या व्यक्ति में इष्ट की कल्पना कर लेते हैं, तो किसी में अनिष्ट की। वास्तव में, हमारे द्वारा की गई इष्ट-अनिष्ट की कल्पना यथार्थ नहीं है, यह तो हमारे ही विकल्पों का जाल है। विकल्पों से मुक्ति होने पर ही व्यक्ति के अन्दर रही हुई राग-द्वेष की वृत्तियों का भी क्षय हो जाएगा, फिर न कोई वस्तु प्रिय होगी और न ही अप्रिय।

(२४१) स्वप्रयोजनसंसिद्धि स्वायत्ता भासते यदा।
बहिरर्थेषु संकल्पसमुत्थानं तदा हतम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जब स्वयं के प्रयोजन की सिद्धि स्वयं के ही अधीन है-ऐसा प्रतिभासित होता है, तब बाह्य पदार्थों के विषय में उत्पन्न होते हुए संकल्प नष्ट हो जाते है।

<u>विशेषार्थ -</u> मनुष्य को अपने लौकिक और व्यावहारिक-कार्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए अन्य व्यक्ति या अन्य साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है और कार्य जब सफल नहीं होता है, तो वह निराशा में डूब जाता है। यह तो निश्चित है कि जगत् का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख किसी को भी पसंद नहीं है, इसलिए हर व्यक्ति सुख की तलाश में है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए रात-दिन कड़ी मेहनत करता है। इस वैज्ञानिक युग ने अनेक सुविधाएँ, अनेक सामग्री उपलब्ध कराई है, लेकिन विज्ञान अकेला जीवन को शांति और आनंद देने में समर्थ नहीं है और न कभी समर्थ हो सकेगा। वह सुविधाएँ तो दे सकता है और सुविधाएँ ज्यादा से ज्यादा दुःख के विस्मरण में क्षणिक रूप से सहयोगी हो सकती हैं। सुविधाओं से दुःख मिटता नहीं है, केवल छिपता है। सुविधाओं को जुटाने के लिए एक दौड़ पैदा होती है, जिसका कोई अंत नहीं और यह दौड़ ही तनाव, अशांति और दुःख बन जाती है। कोई व्यक्ति धन में सुख को ढूंढता है, तो कोई पद प्रतिष्ठा में, कोई पत्नी में, परिवार में सुख को खोजता है, परंतु अंत में उसे निराशा ही हाथ लगती है। मनुष्य के भीतर जो आग है, वह बाहर के किन्हीं भी उपायों से बुझ नहीं सकती। मनुष्य के भीतर जो तृष्णाजन्य दुःख है, वह बाहरी सुख-सुविधाओं के साधन से समाप्त नहीं हो सकता है, अन्दर ही सुख का खजाना छुपा हुआ है, जैसे-मृग की नाभि में ही कस्तूरी है, किन्तु उसे पाने के लिए वह बाहर वन में भटकता रहता है।

सुख का नाम याद है,
परंतु राह भूल रहे हैं।
विडम्बना यह कि -
सुख हमारे पास है,
हम बाहर ढूंढ रहे हैं।।

जब व्यक्ति सुख प्राप्त करने के सभी उपाय करके श्रान्त हो जाता है, थक जाता है, तब उसे प्रतीत होता है कि वास्तव में सुख वस्तुनिष्ठ नहीं है। सुख के लिए बाहरी वस्तुओं पर, व्यक्तियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानसार में कहा गया है- 'निस्पृहत्वं महासुखं'। निस्पृह व्यक्ति ही सबसे अधिक सुखी होता है। जब व्यक्ति अपने भीतर खोज शुरू करता है और अपने स्वरूप का अनुभव करता है, तब उसे अपूर्व आनंद होता है। फिर उसे प्रतीत होता है कि स्वयं को जिस सुख की आवश्यकता है, वह तो स्वयं के ही अधीन है, स्वयं के अन्दर ही आनंद का खजाना है और उसका मालिक भी वहं स्वयं ही है, तब उसके मन में उठते हुए सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते है।

(२४२) लब्धे स्वभावे कंठस्थ स्वर्णन्यायाद् भ्रमक्षये।
रागद्वेषानुपस्थानात् समता स्यादनाहता।।७।।

<u>अनुवाद -</u> भ्रम का क्षय होते ही कंठ में रहे हुए स्वर्ण के अलंकार के दृष्टान्त की तरह, आत्मस्वभाव की प्राप्ति होते ही राग-द्वेष की अनुपस्थिति होती है और उससे अखंडित समता की प्राप्ति होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मभ्रान्ति किस प्रकार दूर हो या सुखभ्रान्ति किस प्रकार भंग हो, इसे दृष्टान्त देकर समझाया गया है। 'कंठे आभरण' के न्याय के समान किसी व्यक्ति का स्वर्ण हार खो गया और वह चिंतित होकर उसे सभी जगह ढूंढ रहा है, ढूंढते-ढूंढते अचानक उसे ध्यान आया कि हार तो कण्ठ में ही है, तभी उसका भ्रम तत्काल दूर हो जाता है और उसे अपार आनंद होता है। पुनः वह गले के हार को तुरंत ही हाथ लगाकर उसकी प्रतीति कर सकता है, उसे देख सकता है। एक और प्राचीन कहावत है- 'कॉख में छोरो, गाँव में ढिंढोरो'। इसका तात्पर्य भी यही हुआ कि अपनी वस्तु अपने पास होते हुए भी उसे गाँव में ढूढ रहे हैं, बाहर ढूंढ रहे हैं।

यही सुख के विषय में भी है। व्यक्ति भ्रमित होकर सारे जगत् में सुख को ढूंढता है, लेकिन जब व्यक्ति का यह भ्रम भंग हो जाता है, जब उसके भीतर का अज्ञान दूर हो जाता है और अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, तब उसे अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है। जब जीव अपने स्वभाव में रमण करने लगता है, तब राग-द्वेषरूपी विभाव दूर हो जाते हैं। राग-द्वेष के दूर हो जाने पर अखंडित समता की प्राप्ति होती है।

(२४३) जगज्जीवेषु नो भाति द्वैविध्यं कर्मनिर्मितम्।
यदा शुद्धनयस्थित्या तदा साम्यमनाहतम्।।८।।

<u>अनुवाद -</u> जगत् के जीवों में कर्म निर्मित जो द्वैविध्य (भेद) रहा हुआ है, वह जब शुद्ध निश्चयनय से प्रतिभासित नहीं हो, अर्थात् द्वैविध्यत्व समाप्त हो जाए, तब अबाधित समता की प्राप्ति होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> जगत् के जीवों को जब बाह्य-दृष्टि से, स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो अनेक विविधताएँ नजर आती हैं। कोई सुन्दर है, तो कोई कुरूप, कोई अमीर है, तो कोई गरीब, कोई व्याधिग्रस्त है, तो कोई स्वस्थ, कोई निर्बल है, तो कोई बलवान्, कोई विद्वान् है, तो कोई मूर्ख, कोई त्यागी है, तो कोई भोगी। मनुष्य के आन्तरिक लक्षणों की दृष्टि से भी अनेक विविधताएँ हैं, जैसे-कोई क्रोधी है, तो कोई क्षमामूर्ति, कोई लोभी है, तो कोई संतोषी, कोई स्वार्थी है, तो कोई परोपकारी, कोई क्रूर है, तो कोई दयावान्, कोई मायावी है, तो कोई सरल, कोई अहंकारी है, तो कोई विनयशील, परंतु जगत् में दिखाई देने वाली जो भी भिन्नताएँ, विचित्रताएँ, विषमताएँ हैं, वे सभी प्रत्येक जीव के अपने-अपने कर्म के अनुसार हैं। निश्चयनय से देखने पर सारा वैविध्य समाप्त हो जाता है, अर्थात् स्वानुभवयुक्त स्थिति होती है, तब प्रत्येक जीव में शुद्धात्मस्वरूप के दर्शन होते हैं। जब ऐसी स्थिति जब होती है, तब प्रत्येक जीवात्मा अपनी ही आत्मा के समान प्रतीत होता है। सभी आत्मा को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय हैं, इसलिए वह प्रत्येक आत्मा के हित की कामना करता है तथा उपसर्ग करने वाले पर भी उपकार की भावना रखता है। अज्ञानी, पापी जीवों के प्रति भी उनके शुद्धात्मस्वरूप को दृष्टिपथ में रखते हुए माध्यस्थ भाव रखता है, तब उसे उच्चकोटि के समत्वभाव की प्राप्ति होती है, ऐसा समत्व, जो कभी भंग न हो।

(२४४) स्वगुणेभ्योऽपि कौटस्थ्यादेकत्वाध्यवसायतः।
आत्मारामं मनो यस्य तस्य साम्यमनुत्तरम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> स्वयं के गुणों द्वारा भी आत्मा कूटस्थ है- ऐसे एक परिणामपूर्वक (अध्यवसायपूर्वक) जिसका मन आत्मा में रमण करता है, उसकी समता श्रेष्ठ (अनुत्तर) है।

<u>विशेषार्थ -</u> शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ अर्थात् स्थिर, अविकारी, उत्पादव्ययरूपी परिणमन से रहित, नित्य है। प्रत्येक आत्मा का शुद्धस्वरूप एक समान होते हुए भी प्रत्येक आत्मद्रव्य भिन्न है। शुद्ध निश्चयनय से चिन्तन कर व्यक्ति कर्मों से प्राप्त विभाव का त्याग करके शुद्ध आत्मद्रव्य में रमण करता है, तो उसके हृदय में फिर किसी भी विषय में पक्षपात या राग-द्वेष से युक्त भाव नहीं होते हैं। जिसे ऐसी अभेद उपयोग रूप दृष्टि प्राप्त हो जाती है, जो विशुद्ध स्वरूप में लीन रहता है, उसे सर्वोत्कृष्ट समत्व की प्राप्ति होती है। उसका चित्त निर्मल अध्यवसाय (परिणाम) में रहने के कारण संसार की विषमताओं से क्षुब्ध नहीं होता है और न ही वह अच्छा-बुरा या इष्ट-अनिष्ट का आदि भेद करता है।

(२४५) समतापरिपाके स्याद्विषयग्रहशून्यता।
ययाविशदयोगानां वासीचंदनतुल्यता।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> जब समता परिपक्व (सर्वोत्कृष्ट) होती है, तब विषयेच्छा का अभाव होता है। इससे निर्मल योग वाले योगियों को कोई वासी (एक प्रकार का औजार) से छेदे या चंदन से पूजे-दोनों में तुल्यता होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> शुद्ध आत्मस्वरूप में रमणतारूप जो समत्व की प्राप्ति होती है, वह इस प्रकार की होती है कि उसमें देहबुद्धि भी चली जाती है। देह के लिए भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के कारण होती हुई इच्छाओं का, अर्थात् संसार के सभी वैषयिक सुखों की इच्छा का सर्वथा अभाव होता है। ज्ञानसार में समत्व की व्याख्या करते हुए कहा गया है - विकल्परूप विषयों से निवृत्त बनी निरन्तर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलम्बन जिसे है, ज्ञान का ऐसा परिणाम समभाव कहलाता है। राग और द्वेष की वृत्तियों से रहित

मनःस्थिति को प्राप्त करना ही समत्व है। इस प्रकार की देहातीत अवस्था को अनुभव करने वाले मन-वचन और काया के निर्मल योग वाले योगी को अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग भी विचलित नहीं कर सकते हैं। वासी, अर्थात् लकड़ी छीलने का एक प्रकार का औजार इसके द्वारा कोई शरीर को छीले या कोई शरीर को चंदन का लेप करे-दोनों ही स्थिति में समत्व में स्थित योगी की मनःस्थिति एक समान होती है, जैसे-हेमचन्द्राचार्य ने सकलार्हत्स्तोत्र में भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कहा है -

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथ श्रीयेऽस्तु वः।।

श्री पार्श्वनाथ भगवान् की समता का वर्णन करते हुए कहा है - एक ओर कमठ भयंकर उपसर्ग कर रहा था, दूसरी ओर धरणेन्द्र भगवान् की सहायता कर रहा था, फिर भी पार्श्वनाथ भगवान् को कमठ के प्रति द्वेष नहीं था और धरणेन्द्र के प्रति राग नहीं था। उनकी मनोवृत्ति समत्ववाली थी। समत्व स्वभावदशा है। समत्व, वीतरागता, आत्मस्वभाव, परमसुख-ये सभी लगभग एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं।

(२४६) किं स्तुमः समतां साधोर्या स्वार्थप्रगुणीकृता।
वैराणि नित्यवैराणामपि हन्त्युपतस्थुषाम्।।११।।

अनुवाद - स्वयं की आत्मा के हित के लिए ही जिसे विशेष रूप से पुष्ट किया जाता है ऐसी समता की हम कितनी स्तुति करें ! यह अपने समीप रहे हुए नित्यवैरी प्राणियों के वैर को भी नष्ट करती है।

विशेषार्थ - साधु भगवन्त समत्व की साधना, जगत् में कोई चमत्कार को उत्पन्न करने के लिए नहीं करते हैं। किसी भी समय, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी निमित्त से भेदभाव नहीं आए, मन में विषमता उत्पन्न नहीं हो, राग द्वेष उत्पन्न नहीं हो और अपने स्वरूप में स्थित रह सकें, इसलिए साधु भगवन्त समता की साधना करते है। अपने आत्महितार्थ समत्व को उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट करते हैं। उनके हृदय में 'शिवमस्तु सर्वजगत्', अर्थात् सभी जीवों के कल्याण की भावना सतत रहती है। किसी भी प्राणी के प्रति मन में किंचित् द्वेष नहीं होता है, इसलिए उनके पास

आने वाले हिंसक प्राणी भी हिंसा के भाव भूल जाते हैं। कितने ही महापुरुषों, योगियों के समीप बाघ, सिंह जैसे प्राणी भी आकर बैठते हैं। उनके सान्निध्य में सर्प और नेवले, सर्प और गरुड़, चूहा और बिल्ली, बाघ और बकरी जैसे जन्मजात वैरी भी अपने वैर को भूलकर पास-पास बैठते हैं। पातंजल-योगसूत्र में कहा गया है 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् संनिधौ वैरत्यागः।' जिसके जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठित हुई हो, उसके सान्निध्य में वैर का अपने-आप त्याग हो जाता है। अहिंसा की ऐसी उत्कृष्ट साधना समता की साधना के बिना नहीं आ सकती। तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में प्राणी परस्पर वैर भूलकर भगवान् के वचनामृत का पान करते हैं। यह समत्व की साधना के प्रताप से ही संभव है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में समता की महिमा दर्शाते हुए कहा है- 'जिन कर्मों को करोड़ों जन्म तक तीव्र तपस्या करते हुए भी तोड़ नहीं सकते है, उन कर्मों को समता का अवलम्बन लेकर क्षणमात्र में नष्ट किया जा सकता है। समता से जो सुख प्राप्त होता है, वह अवर्णनीय है। उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, उतनी कम है।

(२४७) किं दानेन तपोभिर्वा यमैश्च नियमैश्च किम्।
एकैव समता सेव्या तरिः संसारवारिधौ।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> दान के द्वारा अथवा तप के द्वारा क्या ? तथा यम से और नियम से क्या ? (प्रयोजन) संसाररूपी सागर में (तैरने के लिए) एक समता ही नाव के रूप में सेवन करने के योग्य है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने समता के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। तराजू के एक पलड़े में दान, शील, तप, यम, नियम, कष्टसहिष्णुता आदि को रखा जाए और दूसरे पलड़े में केवल समता को रखा जाए, तो समत्व का पलड़ा भारी रहेगा। संसाररूपी सागर से पार होने के लिए समतारूपी नाव ही सहायक हो सकती है। समतारूपी नाव एक ऐसी अद्भुत नाव है, जो कितने ही तूफानों और ज्वार भाटों के मध्य भी सवार को सुरक्षित रूप से किनारे पर पहुँचा देती है, इसलिए मोक्षमार्ग की आराधना के लिए समता की साधना अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मोक्ष की आराधना के लिए दान, शील, तप आदि निरर्थक हैं, किन्तु

समत्व के बिना मोक्षरूपी लक्ष्य से रहित भौतिक आकांक्षा से रागादि भाव से युक्त जो दान, शील, तप, यम, नियम, आदि का पालन किया जाता है, वह कर्म की निर्जरा में सहायक नहीं होता है। तपादि भी मोक्षमार्ग के साधन अवश्य हैं। इनके द्वारा भी मोक्षमार्ग में प्रगति होती है, किन्तु समत्व का लक्ष्य दृष्टि के समक्ष होना आवश्यक है। इनके द्वारा भी समत्व को ही सिद्ध करना है। बिना समत्व के मोक्ष को प्राप्त करना संभव नहीं है, क्योंकि समत्व आत्मा का स्वभाव है। बिना समत्व के कितना भी ज्ञान, ध्यान, तप, त्याग किया जाए, फिर भी मोक्षरूपी मंजिल तक पहुँचाने में ये सब सहायक नहीं हो सकते, जबकि परिस्थितिवश तपादि की साधना नहीं करते हुए भी केवल समत्व का आलंबन लेने वाले संसाररूपी सागर से पार हो जाते हैं। यही कारण है कि अतः तप आदि के द्वारा भी समत्व ही साधने योग्य है।

(२४८) दूरे स्वर्गसुखं मुक्तिपदवी सा दवीयसी।
मनः संनिहितं दृष्टं स्पष्टं तु समता सुखम्।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> स्वर्ग का सुख दूर है। पुनः, मुक्ति पद तो इससे भी अधिक दूर है (परोक्ष है), परंतु समता का सुख तो मन के समीप ही स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> सुख दो प्रकार के होते हैं। भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख। स्वर्ग का सुख भौतिक सुख है और मोक्ष का सुख आध्यात्मिक-सुख। कुछ लोग भौतिक सुख के आकांक्षी होते हैं। वे जो भी साधना, आराधना करते हैं, परलोक के सुख की आकांक्षा से, स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करने के लिए करते हैं, किन्तु उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि स्वर्ग का सुख तो दूर है, परोक्ष है, उसके लिए इंतजार करना पड़ता है और मोक्ष का सुख तो इससे भी अधिक परोक्ष है, उसे तुरंत अनुभव नहीं कर सकते हैं, किन्तु वर्तमान में सुख का अनुभव करना हो, तो समतारूपी सुख तो मन के समीप है, प्रत्यक्ष है इसे तुरंत अनुभव किया जा सकता है। स्वर्ग का सुख तो पराधीन है, समता का सुख स्वाधीन है, शाश्वत् है, उसे जब चाहे तब अनुभव कर सकते है। समता का सुख अद्वितीय है। अतः उसी को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। समता को प्राप्त करने के लिए राग और द्वेष को दूर करना आवश्यक है। ममत्व का त्याग करना

आवश्यक है। आत्म रमणता के अनुभव के बिना केवल बहिरात्मभाव से राग-द्वेष का क्षय नहीं होता है और समता नहीं आती है। समता का सुख कैसा है, यह अनुभव ज्ञान के द्वारा समझा जा सकता है। मन में जितना अधिक ममत्व है, उतना ही अधिक दुःख है। व्यक्ति सम्यक् समझ के द्वारा जितना अधिक समता के समीप जाएगा, जितनी मात्रा में समत्व को प्राप्त करेगा, वह उतनी ही अधिक मात्रा में आनंद को प्राप्त करेगा। अतः वास्तविक स्वाधीन सुख को तुरंत इसी देह में अनुभव करना हो, तो समत्व साधने योग्य है। समता का सुख प्रत्यक्ष है।

(२४६) दृशो स्मरविषं शुष्येत् क्रोधतापः क्षयं व्रजेत्।
औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृतमज्जनात्।।१४।।

__अनुवाद -__ समतारूपी अमृत में मग्न हो जाने से (डूब जाने से) दृष्टि का कामरूपी विष सूख जाता है, क्रोधरूपी ताप का क्षय हो जाता है और उद्धतता (स्वच्छंदता) रूपी मल का नाश हो जाता है।

__विशेषार्थ -__ शीतल जल के कुण्ड में डुबकी लगाने से शरीर को तीन प्रकार के लाभ का अनुभव होता है - १. नेत्र और मस्तिष्क पर हुआ गर्मी का प्रभाव दूर हो जाता है, शीतलता का अनुभव होता है। २. शरीर पर जमे हुए धूल, मैल आदि दूर हो जाते हैं, पानी में धुलकर साफ हो जाते है। ३. अत्यधिक ताजगी और स्फूर्ति का अनुभव होता है। ठीक इसी प्रकार समतारूपी अमृतकुण्ड में डुबकी लगाने से भी तीन प्रकार के लाभ होते हैं- १. नेत्रों में रहा हुआ कामविकार निकल जाता है, क्योंकि कामविकार रागजन्य है और समता-रूपी कुण्ड में रहे हुए साधक राग और द्वेष से परे होते हैं, अतः समत्व के प्राप्त होने से, कामराग, स्नेहराग और दृष्टिराग स्वतः चले जाते है। २. मस्तिष्क में रहा हुआ क्रोधरूपी ताप भी निकल जाता है, शांत हो जाता है। क्रोध द्वेषजन्य है अतः हृदय में समत्व के आने पर क्रोध नहीं टिक सकता है। ३. उद्धतता या अविनय या स्वच्छंदतारूपी मल दूर हो जाता है। अविनय भी तब तक ही रहता है जब तक समतारूपी कुण्ड में डुबकी नहीं लगाई हो। समतारूपी अमृत का ऐसा दिव्य चमत्कार है कि उसका पान करते ही जीवन से कामविकार, क्रोध और उद्धताई (उच्छ्रंखलता) समाप्त हो जाते हैं।

(२५०) जरामरणदावाग्नि ज्वलिते भवकानने।
सुखाय समतैकैव पीयूष घनवृष्टिवत्।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> जरा और मरणरूपी दावानल से जलते हुए इस संसाररूपी वन में सुख के लिए अमृतमय मेघ की वृष्टि के समान एक समता ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> सामान्यतया, घर या दुकान आदि में आग लग जाए, तो उसे बुझाना सरल है, किंतु वन में आग लग जाए, तो उस दावानल को बुझाना अत्यंत कठिन है। दावानल सामान्य उपाय से, पानी डालने से शांत नहीं होता है, किन्तु उस समय मेघ राजा प्रसन्न हो जाएं और बरस जाएं तो दावानल शांत हो जाता है। इस संसार को भी वन की उपमा दी गई है, जिसमें जरा और मरणरूपी दावानल चारों तरफ फैला हुआ है। यह संसार जन्म, जरा, मरण और रागरूपी भयंकर कष्टों से ग्रसित है। कोई भी व्यक्ति इनसे मुक्त नहीं है, इसलिए संसार दुःखमय है। वृद्धावस्था, मृत्यु आदि का कष्ट दावानल के समान है। इन कष्टों का सामान्य उपाय से या भौतिक संसाधनों द्वारा निवारण नहीं किया जा सकता है। संसाररूपी वन के इस दावानल को शान्त करने में समतारूपी मेघ की वृष्टि अमृत जैसा कार्य करती है। यदि समता की साधना नहीं की गई, तो वृद्धावस्था और मरण असमाधिमय हो जाते हैं। वृद्धावस्था और साथ में किसी विषम रोग से पीड़ित हो, तो उस समय सबसे अधिक आवश्यकता समता की ही होती है। वृद्धत्व, रोग, सड़न आदि-यह तो शरीर का स्वभाव है और समत्व आत्मा का स्वभाव है। जब व्यक्ति अपने आत्मस्वभाव में रमण करने लगता है, तब बाह्य कोई भी विषम स्थिति उसे प्रभावित नहीं कर सकती है। वह वर्तमान में भी आनंद में रहता है, समाधि में रहता है और भविष्य को, परभव को भी उज्ज्वल बना लेता है। समत्व के साधक को न जरावस्था का भय रहता है, न मृत्यु का। वह न इस लोक में दुःखी होता है और न ही परलोक में।

(२५१) आश्रित्य समतामेकां निर्वृता भरतादयः।
न हि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषां तु किंचन।।१६।।

अनुवाद - एक समता का ही अवलम्बन लेकर भरत आदि ने निर्वाणसुख को प्राप्त किया था। उन्होंने कुछ भी कष्टरूप अनुष्ठान नहीं किया था।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने समत्व के महत्व को दर्शाते हुए भरत आदि के दृष्टान्त दिए हैं। मोक्षमार्ग में केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए साधने योग्य सर्वश्रेष्ठ वस्तु समता है। समता को साधे बिना तप, जप, ध्यान आदि किये जाएं, तो उनका मोक्षमार्ग की साधना में विशेष महत्त्व नहीं है। समता के बिना किया गया तप, क्रोध में परिणत हो जाता है। यदि किसी गंदे वस्त्र को स्वच्छ करना हो, तो साबुन और सर्फ के साथ जल की विशेष आवश्यकता होती है। सूखे वस्त्र पर साबुन और सर्फ का कितना ही प्रयोग करे, जल के बिना वह स्वच्छ नहीं होता। हाँ, साबुन और सर्फ के बिना केवल जल से कदाचित्र साफ हो सकता है। ठीक उसी प्रकार, आत्मा को विशुद्ध करने के लिए समत्वरूपी जल की विशेष आवश्यकता है। समतारूपी जल के बिना कितना ही तप-जप-ध्यान-ज्ञान रूपी साबुन और सर्फ का प्रयोग किया जाए, आत्मा से कर्म मल दूर नहीं होता। कदाचित् यह संभव है कि बिना तप-त्याग आदि साधना के, केवल समत्वरूपी जल से ही आत्मा की विशुद्धि हो जाए। भरत महाराजा, मरुदेवी माता, सूर्ययशा आदि ने गृहस्थावस्था में ही केवलज्ञान प्राप्त किया। इसके लिए उन्होने कोई व्रत संयादि धारण नहीं किया था। लोच, परीषह, तप, विहार आदि कष्ट सहन नहीं किए थे। कोई भी कष्टयुक्त अनुष्ठान उन्होंने नहीं किया था, फिर भी उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया था तो वह केवल समता की आराधना के प्रभाव से ही प्राप्त किया था, अतः समता ही नींव है। नींव के बना मंजिल का अस्तित्व कितना ?

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तप, जप आदि अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं है या जहाँ तपादि कष्टपूर्ण अनुष्ठान हों, हाँ समत्व नहीं आ सकता है। वस्तुतः, सामान्य साधक के लिए तो समत्व को प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार आराधना आवश्यक है। भरत

महाराजा या मरुदेवी माता के उदाहरण तो अपवादस्वरूप है। सम्पूर्ण अवसर्पिणीकाल में अनंत आत्माओं ने केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष में गए, किन्तु गृहस्थावस्था में बिना जप-तप किए मोक्ष में जाने के उदाहरण बहुत ही कम हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग में केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन योग्य वस्तु समता है। समता हो, तो तप, जप, ध्यान आदि भी सफल हैं। समता का आधार ही नहीं हो, तो शेष इमारत ढह जाएगी, इसलिए तपादि कष्टपूर्ण अनुष्ठान भी समता की प्राप्ति के लिए हों, तो ही सार्थक हैं।

(२५२) अर्गला नरकद्वारे मोक्षमार्गस्य दीपिका
समता गुणरत्नानां संग्रहे रोहणावनिः।।

भावार्थ - समता नरक के द्वार की अर्गला है, मोक्षमार्ग की दीपिका है और गुणरूपी रत्नों को संग्रह करने में रोहणाचल पर्वत की भूमि है।

विशेषार्थ - समता का सामर्थ्य कितना ? प्रसन्नचन्द्रराजर्षि जैसे ही समत्व से विचलित हुए कि सातवीं नरक तक के कर्मदलिकों को एकत्रित कर लिया और पुनः जैसे ही समत्व में आ गए, विषमता का त्याग किया, वैसे ही कर्मदलिक बिखर गए, यहाँ तक कि सम्पूर्ण घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, इसलिए प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने समता को नरक द्वार बन्द करने के लिए अर्गला के समान बताया है। जीवन में समता की साधना की हो, तो नरकगति में जाने की संभावना नहीं रहती है। अनंतानुबंधी के रस से युक्त कषाय की उपस्थिति में ही सामान्यतया नरकगति की आयु का बंध होता है। जहाँ समत्व हो, वहाँ अनंतानुबंधी कषाय की उपस्थिति नहीं होती है, अतः नरकायु का बंध भी नहीं होता है। समता मोक्षमार्ग में दीपक के समान है। समतारूपी दीपक के सहारे साधक मोक्षमार्ग को आसानी से तय कर सकता है और मंजिल तक पहुँच सकता है। एक समतारूपी गुण उपस्थित हो, तो यह दूसरे अनेक गुणों को खींचकर ले आता है, इसलिए गुणरूपी रत्नों के संग्रह के लिए समता रोहणाचल की भूमि के समान है। जैसे-रोहणाचल-प्रदेश रत्नों की खान है, उस प्रदेश में जहाँ खनन हो, वहीं से रत्नों की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जहाँ समत्व है, वहाँ अनेक गुणरूपी रत्नों का संग्रह अवश्य होता है।

(२५३) मोहाच्छादितनेत्राणामात्मरूपमपश्यताम्।
दिव्यांजनशलाकेव समता दोषनाशकृत्।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> जिनके नेत्र मोह से आच्छादित (ढंके हुए) हैं, इस कारण से वे आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं कर सकते हैं। उनके लिए समता दिव्य अंजन की शलाका के समान दोषों का (अज्ञान का) नाश करने वाली है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने समता को दिव्य अंजन-शलाका की उपमा दी है। नेत्र स्वच्छ हों, निरामय हों, तो बाह्य दृश्य स्पष्ट दिखाई देते हैं, किंतु नेत्र में कोई रोग हो जाए, तो स्पष्ट नहीं दिखाई देता है या दिखना ही बंद हो जाता है। इस समय किसी वैद्य की सलाह से शलाका द्वारा कोई विशिष्ट प्रकार का अंजन आँखों में लगाया जाए, तो नेत्र ठीक हो जाते हैं, दृष्टि स्वच्छ हो जाती है और बाह्य दृश्य स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकार मोह के कारण जीव के अंतर्चक्षु आवरित हो जाते हैं। अज्ञानता के कारण उसे आंतरिक संपदा के दर्शन नहीं होते हैं। मोह का आवरण आ जाने से सत्य उसे नहीं दिखाई देता है। इस मोह के आवरण को नष्ट करने के लिए और अंतर्चक्षु को स्वच्छ करने के लिए समता दिव्य अंजनयुक्त शलाका के समान है, अर्थात् अंतर्चक्षु के मोहतिमिर का नाश करने के लिए समता महौषधि है। इससे मोहांधता नष्ट होती है। जिसकी दृष्टि में समभाव बसा हुआ है, उसे राग-द्वेष नहीं सताते हैं और मोह का आवरण भी हट जाता है।

(२५४) क्षणं चेतः समाकृष्य समता यदि सेव्यते।
स्यात्तदा सुखमन्यस्य यद्वक्तुं नैव पार्यते।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> क्षणमात्र भी यदि चित्त को विषयों से हटाकर समता का सेवन किया जाए तो उससे ऐसे सुख का अनुभव होगा, जिसका वर्णन करना शक्य (संभव) नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव अनादिकाल से राग और द्वेष में उलझा हुआ है, इसलिए उसने कभी समत्व के सुख का अनुभव ही नहीं किया है। जब तक जीव ऐन्द्रिक विषयों के सुख में मग्न है, तब तक इष्ट वस्तुओं पर राग और अनिष्ट वस्तुओं पर द्वेष रहता है। राग और द्वेष के कारण चित्त में

विषमता रहती है, व्याकुलता रहती है, इसलिए वह समता का आस्वादन नहीं ले सकता है। यदि समत्व के आनंद को प्राप्त करना है, तो चित्त को सांसारिक विषयों से दूर हटाना पड़ेगा। अगर सांसारिक विषयों की निरर्थकता समझ में आ जाए और एक क्षण के लिए भी चित्त के राग और द्वेष शांत हो जाएं, तो समता का सामर्थ्य, समत्व का दिव्यानंद अनुभव किया जा सकता है। यह एक ऐसा अनुपम अद्वितीय आनंद है, जिसका वर्णन करना संभव नहीं है, जिसे केवल अनुभव ही कर सकते हैं, शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यही हुआ कि सामान्य मानव एक क्षण के लिए भी अपने चित्त को राग-द्वेष से मुक्त नहीं रख सकता है, क्योंकि अनादिकाल से आत्मा पर विपरीत संस्कार हैं, अतः उन्हें दूर करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

(२५५) कुमारी न यथा वेत्ति सुखं दयितभोगजम्।
न जानाति तथा लोको योगिनां समतासुखम्।।२०।।

अनुवाद - जिस प्रकार अविवाहित कन्या पति के संग भोग से उत्पन्न सुख को नहीं जानती है उसी प्रकार योगियों के समता के सुख को लोग (सामान्यजन) नहीं जानते हैं।

विशेषार्थ - किसी भी वस्तु या तत्त्व का स्वयं के जीवन में प्रयोग करने के बाद ही उसके आनंद का अनुभव किया जा सकता है। जैसे-अविवाहित कन्या को पति के साथ भोगसुख का कुछ अनुभव नहीं होता और न ही उसे इसकी जानकारी होती है, उसी प्रकार सामान्य मानव योगियों के समता सुख का अनुभव नहीं कर सकते हैं। सामान्यजन को तो योगियों का जीवन कष्टमय प्रतीत होता है। वे उनके बाह्य कष्टों या परीषहों को देखकर उन पर दया-भाव रखते हैं, क्योंकि उन्हें तो योगियों के आन्तरिक, अनुपम, अनिर्वचनीय सुख की जानकारी नहीं होती है। समता के सुख को तो अनुभव द्वारा ही जीवन में प्रयोग करके ही समझा जा सकता है। इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है, जैसे-किसी तैराक के आनंद को वह क्या जाने, जिसने कभी जल में पैर भी नहीं रखा हो ? तैरने के आनंद का अनुभव भी बिना जल में तैरे नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार

योगियों के अन्दर समत्व का जो आनंद होता है, वह भी बिना समता को प्राप्त किए अनुभव नहीं कर सकते हैं।

(२५६) नतिस्तुत्यादिकाशंसाशरस्तीव्रः स्वमर्मभित्।
समतावर्मगुप्तानां नार्तिकृत्सोऽपि जायते।।२१।।

अनुवाद - नमस्कार, स्तुति इत्यादि का इच्छारूपी तीव्र बाण स्वयं के (आत्मा के) मर्म स्थान को भेदने वाला है, परंतु जो समतारूपी कवच से रक्षित है उसे वह पीड़ाकारी नहीं होता है।

विशेषार्थ - जब तक इच्छाओं का, आकांक्षाओं का अन्त नहीं होता, तब तक दुःखों का भी अन्त नहीं होता। जब तक सुख प्राप्त करने के लिए, आनंद प्राप्त करने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, तब तक वास्तविक आनंद की अनुभूति नहीं होती है। अनेक प्रकार के कष्टमय अनुष्ठान करते हुए भी, तप-त्यागादि करते हुए भी, आकांक्षाओं से मुक्त होना अत्यंत मुश्किल है। प्रतिष्ठित लोग भी 'सभी के मध्य मुझे नमस्कार करे,' 'मेरी प्रशंसा करे,' 'मेरे ज्ञान, ध्यान आदि का गुणगान करे,' 'मुझे सम्मान दे,' 'मेरी उत्तम वस्त्र, पात्र, आहारादि द्वारा भक्ति करे,' 'मेरी आज्ञा का तुरंत पालन करे,' 'मेरा वचन खाली नहीं जाने दे'-इस प्रकार की अनेक आकांक्षाएं मर्मभेदी तीव्र बाण के समान हैं। इन आकांक्षाओं के पूर्ण नहीं होने पर त्यागी महात्मा का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है। वे दुःखी हो जाते हैं, किन्तु जिसने समतारूपी कवच पहना हो, उसके चित्त का जय-पराजय, मान-अपमान, निंदा-प्रशंसा आदि में संतुलन बना हुआ रहता है। उसे कोई वंदन करे या नहीं करे, कोई उसका ध्यान रखे या नहीं रखे, कोई उसकी प्रशंसा करे या नहीं करे, उसे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता है। वह तो अपने समतारस के आनंद में मग्न होता है, इसलिए उसे अन्य कोई भी बाह्य आकांक्षा नहीं होती है और न ही वह आनंद प्राप्ति के लिए अन्य पर निर्भर रहता है। संत आनंदघनजी ने शान्तिनाथ भगवान के स्तवन में समता के साधक का वर्णन अत्यंत मार्मिक ढंग से किया है -

मान-अपमान चित्त सम गणे, समगणे कनक पाषाण रे।
वंदक-निंदक सम गणे रे, ईस्यो होय तु जाण रे।।१।।

अतः, समता के कवच को धारण करने वाले को किसी भी परिस्थिति में दुःख नहीं होता है।

(२५७) प्रचित्यान्यपि कर्माणि जन्मनां कोटिकोटिभिः।
तमांसीव प्रभा भानोः क्षिणोति समता क्षणात्।।२२।।

अनुवाद - जैसे सूर्य की प्रभा अंधकार का नाश करती है, उसी प्रकार करोड़ों-करोड़ जन्मों से बांधे हुए कर्मों को समता क्षण में नष्ट कर देती है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में समता के प्रभाव को दर्शाया गया है। जीव के करोड़ों- करोड़ जन्मों के संचित घातीकर्म भी समता का अवलम्बन लेने पर क्षण में ही नष्ट हो जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि करोड़ों व के संचित कर्मों का क्षण में नाश कैसे हो सकता है ? इसके जवाब में दृष्टान्त दिया गया है कि करोड़ो वर्षों का प्राचीन अंधकार हो, तो उसे दूर करने के लिए सूर्य को करोड़ों वर्ष नहीं लगते हैं। सूर्य की एक किरण पड़ते ही करोड़ो वर्षों का अंधकार क्षण में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार समता में भी भारी कर्मों को क्षण भर में नष्ट करने की स्वाभाविक शक्ति रही हुई है। जैसे-खान में पड़े हुए स्वर्ण पर करोड़ों वर्षों का मैल चढ़ा हुआ रहता है, किन्तु आग में तपने पर अल्पसमय में ही उसकी शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार समता ऐसा ही शक्तिशाली साधन है, जिससे अनादिकाल से मलिन आत्मा अल्प समय में ही शुद्ध हो जाती है, कर्मों से मुक्त हो जाती है।

(२५८) अन्यलिंगादिसिद्धानामाधारः समतैव हि।
रत्नत्रयफल प्राप्तेर्यया स्याद् भावजैनता।।२३।।

अनुवाद - अन्यलिंग आदि, जो सिद्ध होते हैं, उन्हें समता का ही आधार है। इसके द्वारा रत्नत्रय के फल की प्राप्ति से भावजैनत्व उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ - शास्त्रों में सिद्ध के पन्द्रह भेद बताए गए हैं, उनमें से एक प्रकार अन्यलिंग सिद्ध का भी है। जैन धर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष के मार्ग या साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, अर्थात् रत्नत्रय की आराधना करके साधक मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ

प्रश्न उपस्थित होता है कि जो जैन नहीं है और अन्य धर्म का पालन करता है, उसे सम्यग्दर्शनादि का ज्ञान नहीं है और न ही वह जिनेश्वर कथित धर्म को जानता है, अतः उसे किस प्रकार सिद्धगति की प्राप्ति होती है ? यह निश्चित है कि जब तक मिथ्यात्व नहीं जाता है, तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता और जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, तब तक मोक्ष का द्वार नहीं खुलता। अन्यलिंगी तो प्रायः मिथ्यात्वी होते हैं, अतः उनको किसका अवलम्बन लेकर सिद्धगति की प्राप्ति होती है ? प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि अन्यलिंगी में यदि समत्व का गुण, राग-द्वेष रहितता का गुण विकसित हो तो उसका भेदविज्ञान स्पष्ट हो जाता है। समता के फलस्वरूप उसे रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है और भावजैनत्व प्रकट होता है। इसलिए लिंग अर्थात् वेष से जैन नहीं होने पर भी उसमें भावजैनत्व आ जाता है जिससे उसको आत्मा, मोक्ष आदि तत्वों के विषय में स्पष्ट जानकारी और श्रद्धा होती है। फलस्वरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की आराधना जैनदर्शन के अनुसार ही होती है। समता के सहारे वह राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। राग और द्वेष ही कर्मबन्ध के प्रमुख कारण हैं। राग-द्वेष से रहित होने पर संकल्प और विकल्पों से भी मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार समता का अवलम्बन लेकर अन्यलिंगी भी सिद्धगति को प्राप्त करते हैं। वल्कलचिरी आदि ने अन्य वेश में ही सिद्धगति को प्राप्त किया। यहाँ समता को सामान्य अर्थ में नहीं लेना है, आत्मस्वभावरूप समता को ग्रहण करना है। अन्यलिंग के समान ही गृहस्थलिंग भी समता की साधना से सिद्धगति प्राप्त करते हैं। हालांकि, अन्यलिंगसिद्ध या गृहस्थलिंगसिद्ध बहुत ही कम होते हैं, यह राजमार्ग नहीं है।

(२५६) ज्ञानस्य फलमैषेव नयस्थानावतारिणः।
चन्दनं वह्निनेव स्यात् कुग्रहेण तु भस्म तत्।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> नयों को उनके स्थान पर स्थापित करने वाले ज्ञान का फल भी यही (समता) है। अग्नि द्वारा जैसे चंदन, उसी तरह कदाग्रह द्वारा ज्ञान भस्म हो जाता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> मूल नय सात प्रकार के होते हैं - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। वस्तु के सभी धर्मों का ज्ञान प्रमाण

का विषय है, परंतु नय वस्तु के एक धर्म का ही मुख्यरूप से ज्ञान कराता है। प्रत्येक नय अपने मत को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। नयान्तर-निरपेक्ष नयवाद मिथ्यावाद है, परंतु स्याद्वाद वस्तु के यथार्थस्वरूप का बोध कराता है। प्रत्येक नय अपने आप में सत्य होता है, वास्तविक होता है, लेकिन जब वे एक-दूसरे के दृष्टि-बिन्दु का खंडन करते हैं, तब असत्य होते हैं। एक ही नय का कदाग्रह करने से वस्तु का यथार्थबोध नहीं होता है। जब एक नय किसी वस्तु के सामान्य अंश का प्रतिपादन कर वस्तु को उस स्वरूप में देखने समझने का आग्रह रखता है और दूसरा नय वस्तु के विशेष अंश का प्रतिपादन कर उसे उस स्वरूप में जानने की चेष्टा करता है, तब जो मनुष्य मध्यस्थ नहीं है, वह किसी एक नय की युक्ति को सत्य मानकर दूसरे नय के वक्तव्य को असत्य स्वीकार कर लेता है, अतः विविध नयों को समझने की और वस्तु के विविध स्वरूप को विविध नय से पहचानने की ज्ञानशक्ति परिपक्व होना चाहिए। एक वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी है, ह्रस्व भी है, दीर्घ भी है, अस्ति भी है और नास्ति भी है - इस प्रकार अनंत धर्मयुक्त है। वस्तुतः, नय वस्तु के एक अंश का ग्राहक होता है, अतः नयों के ज्ञान के साथ समत्व होना आवश्यक है। समभाव वाला मुनि सभी नयों को सापेक्ष मानता है, अतः वह भूलकर भी कभी ऐसा विधान नहीं करता है कि यह नय सत्य है और यह नय असत्य है। समत्व की साधना के लिए ममत्व का और कदाग्रह का त्याग करना आवश्यक है। कदाग्रहरहित ज्ञान का फल ही समता है। ग्रंथकर्त्ता ने यहाँ एक दृष्टांत दिया है - चंदन शीतलता और सुगंध-दोनों प्रदान करता है, परंतु इसी चंदन का यदि अग्नि से सम्पर्क हो, तो चंदन जलकर भस्म हो जाता है। चंदन की मात्र राख ही रह जाती है। ज्ञान भी चंदन के समान ही है। वास्तविक ज्ञान गुणों की सुवास और शीतलता प्रदान करता है, परंतु यह तब ही हो सकता है, जब यह समता में परिणत हो। यदि ज्ञान का ममत्व से संपर्क हो, तो कदाग्रह का जन्म होता है और कदाग्रह से वादविवाद, संघर्ष और कलह का जन्म होता है, इसलिए किसी भी एक नय को कदाग्रहपूर्वक पकड़ने से समता की सिद्धि नहीं होती है। यही कारण है कि ज्ञानी महात्माओं की समत्व में परिणत परिपक्व बुद्धि नयों के कदाग्रह में नहीं उलझती है। वे तो समत्वभाव में मग्न रहते हुए नयों का यथार्थ निरूपण करते हैं।

(२६०) चारित्रपुरुषप्राणाः समताख्या गता यदि।
जनानुधावनावेशस्तदा तन्मरणोत्सवः।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> यदि चारित्ररूप पुरुष के समतारूपी प्राण चले गए हों, तो फिर धर्म के नाम पर लोगों की भाग-दौड़, मानो उसका मरणोत्सव मना रहे हो।

<u>विशेषार्थ -</u> चारित्ररूपी पुरुष के प्राण समता हैं। जिस तरह प्राण के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं होता, उसी तरह समता के बिना संयम का महत्व नहीं है। कोई साधक पंचमहाव्रत धारण करे, इन्द्रियों पर नियंत्रण करे, कठोर तपादि करे, परंतु जब तक उसके जीवन में समता नहीं आई हो, तब तक उसका चारित्र जीवंत नहीं कहलाता है, उसमें चेतना नहीं होती है। जिस तरह शरीर से प्राण निकल जाने पर वह सुरक्षित नहीं रहता है, उसमें से दुर्गंध आने लगती है, जीवोत्पत्ति हो जाती है, सड़न पैदा होने लगती है, उसी तरह चारित्ररूपी शरीर सें समतारूपी प्राण के चले जाने पर संयम सुरक्षित नहीं रहता है। मन में अनेक संकल्प-विकल्प, विषमताएँ पैदा होती है। मन अशांत हो जाता है, अल्प प्रतिकूल परिस्थिति में भी उत्तेजना आ जाती है, क्रोध उत्पन्न होता है। जिस तरह किसी की मृत्यु हो जाने पर उसकी मृतदेह की अंतिम क्रिया के लिए सभी स्वजन, ज्ञातिजन तुरंत आ जाते हैं, उसी प्रकार अनेक वेशधारी या बालचारित्रधर साधु (अज्ञानी) के पास वंदन के लिए या अन्य प्रयोजन सिद्ध करने की दृष्टि से लोगों की भीड़ जमा होती है, परंतु उस चारित्रधर पुरुष में से समतारूपी प्राण उड़ गए हों, तो लोगों की भागमभाग, उसके आसपास जमा भीड़, वह आध्यात्मिक दृष्टि से मात्र मृत्यु समय की दौड़ादौड़ के समान है। वस्तुतः, जब समतारूपी प्राण ही नहीं हों, तो मृतदेहवत् चारित्र का महत्त्व ही क्या ? समता को सिद्ध करने के लिए ही सारी साधनाएँ की जाती हैं। चारित्ररूपी पुष्प की सौरभ ही समता है। सौरभ के बिना सुमन का कोई महत्त्व नहीं है, अतः समता को ही साधने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

(२६१) **संत्यज्य समतामेकां स्याद्यत्कष्टमनुष्ठितम्।**
तदीप्सितकरं नैव बीजमुप्तमिवोषरे।।२६।।

अनुवाद - एक समता का त्याग करके, फिर यदि कष्टकारक क्रियाएँ की हों, तो वे ऊसर (खारी) भूमि में बोए हुए बीज के समान इच्छित फल को प्रदान नहीं करती हैं।

विशेषार्थ - ज्ञान, ध्यान, तप, त्याग आदि साधन हैं और समता साध्य है, मंजिल है। साध्य को भूलकर कितने ही कष्टमय अनुष्ठान, तप, जप, भिक्षा, विहार, लोच, उपसर्ग, परीषह किए जाएं, किन्तु इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती है। राग-द्वेष से रहित होने की साधना, आत्मस्वभावरूप समता को प्राप्त करने की साधना का आरंभ नहीं हुआ हो, तो अन्य साधनाओं का विशेष महत्व नहीं है। जैसे ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज विकसित नहीं होता और उसे बोने का सारा श्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार समता का त्याग करके अन्य धार्मिक अनुष्ठान किए जाएं, तो उनसे वांछित फल की प्राप्ति नहीं होती। समतापूर्वक किए गए अनुष्ठान ही कर्मनिर्जरा में सहायक होते हैं, अतः समता को केन्द्र में रखकर ही अन्य अनुष्ठान करना चाहिए।

(२६२) **उपायः समतैवैका मुक्तेरन्यः क्रियाभरः।**
तत्तत्पुरुषभेदेन तस्या एव प्रसिद्धये।।२७।।

अनुवाद - मुक्ति का उपाय मात्र एक समता ही है, अन्य जो क्रियासमूह है, वह तो उन-उन पुरुषों के भेद की अपेक्षा से समता की विशेष सिद्धि के लिए है।

विशेषार्थ - मंजिल एक है, मार्ग अनेक। जिसको जो अनुकूल लगे, उस मार्ग से जाए, परंतु लक्ष्य तो सभी का मंजिल तक पहुँचने का होना चाहिए। प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि मंजिल तो समता ही है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनिवार्य तत्त्व तो समता ही है और उसी को प्राप्त करने के लिए सारे अनुष्ठान हैं, परंतु सभी जीव एकसमान श्रेणी के, एक जैसी शक्तिवाले नहीं होते हैं। जीव की वर्तमान अवस्था में पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, अतः पूर्वबद्ध कर्मों के अनुसार सभी व्यक्तियों के

स्वभाव, शक्ति, विचार और प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है और उन सभी के लिए एक ही मार्ग या एक ही अनुष्ठान उपयुक्त नहीं होता है। कोई भारीकर्मी जीव होता है, तो उसके लिए अलग मार्ग की व्यवस्था है, कोई लघुकर्मी जीव है, उसके लिए अलग मार्ग की व्यवस्था है। कोई गृहस्थ हो, कोई मुनि, कोई उच्च कोटि का श्रावक हो, किसी की ज्ञान में रुचि हो, किसी की ध्यान में, किसी की तप में रुचि हो, किसी की वैयावृत्य में, इस प्रकार भूमिका या श्रेणी और स्वभाव के भेद से क्रियाओं में भेद रहता है, किन्तु क्रियाओं में भेद रहने पर भी सभी अनुष्ठानों का लक्ष्य तो केवल समता को प्राप्त करने का होना चाहिए। जहाँ समता है, वहाँ केवलज्ञान है, वीतरागता है और वहीं मोक्ष है। जहाँ राग-द्वेष का अभाव है, वहीं समत्व का सद्भाव है, अतः राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए और समता की सिद्धि के लिए ही क्रियाओं का प्रमुख प्रयोजन है।

(२६३) दिङ्मात्रदर्शने शास्त्रव्यापारः स्यान्न दूरगः।
अस्याः स्वानुभवः पारं सामर्थ्याख्योऽवगाहते।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> शास्त्र का व्यापार (कार्य) तो मात्र दिशा को सूचित करने का है, उससे दूर वह नहीं जाता है। सामर्थ्य नामक स्व आत्मा का अनुभव ही इसके पार पहुँच सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जिस प्रकार मार्ग में मिलने वाले सूचनापट्ट मात्र खतरनाक मोड़ आदि की सूचना प्रदान करते हैं, किन्तु जाग्रत और सावधान होकर पथिक को स्वयं ही मार्ग तय करना पड़ता है, सूचनापट्ट उसके साथ जाता नहीं है, उसका हाथ पकड़ता नहीं है, वह तो मात्र संकेत करता है, उसी तरह शास्त्र भी आध्यात्मिक-जगत् में प्रवेश करने का स्वरूपानुसंधान, केवलज्ञान और मोक्षप्राप्ति के उपाय के विषय में कुछ संकेत कर सकता है, किन्तु वह साधक को मंजिल तक नहीं पहुँचा सकता है। मार्ग तो साधक को स्वयं ही तय करना पड़ेगा। आत्मानुभूति तो अत्यंत सूक्ष्म एवं गहन है, इसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। शास्त्रों द्वारा अनिर्वचनीय अनुभव को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस अद्वितीय अनुभव के लिए तो गुरुगम द्वारा योग्य पुरुषार्थ की ही आवश्यकता रहती है। बाह्य-साधना की अपेक्षा आभ्यंतर-साधना विशेष है और इसे व्यक्ति को

स्वयं ही करना पड़ती है। अपनी आत्मशक्ति का विकास करके ही साधक आध्यात्मिक-जगत् के पार पहुँच सकता है और समता को प्राप्त कर सकता है। समता का आलम्बन लेकर ही वह संसाररूपी सागर को पार कर सकता है। ज्ञानसार में कहा गया है कि इन्द्रियों से अगोचर परमात्मस्वरूप को विशुद्ध अनुभव के बिना समझना असंभव है, फिर चाहे उसे समझने के लिए शास्त्र की सैकड़ों युक्तियों का प्रयोग करें। परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मानुभव के बिना अन्य सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। अनुभवरूपी जीभ से शास्त्रास्वाद को जानने वाले विरले ही होते हैं।

(२६४) परस्मात्परमेषा यन्निगूढं तत्त्वमात्मनः।
तदध्यात्मप्रसादेन कार्योऽस्यामेव निर्भरः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> यह (समता) आत्मा का पर से भी पर निगूढ़ तत्त्व है, इसलिए अध्यात्म के प्रसाद (कृपा) द्वारा इसके लिए ही अत्यधिक पुरुषार्थ करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> समता-यह आत्मा का परात्पर निगूढ़ तत्त्व है, अर्थात् अत्यंत गहन और सूक्ष्म तत्त्व है। जब तक सभी जीवों के प्रति आत्मवत् भाव नहीं आता है, तब तक समदृष्टि का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। समता को साधना आसान कार्य नहीं है, क्योंकि अनादि काल के मोह-माया के, विषमता के कुसंस्कारों का हनन करने के लिए और समता के संस्कारों का विकास करने के लिए अत्यधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अनंतकाल से भवभ्रमण करते हुए जीव ने शरीर को केन्द्र में रखकर ही जीवन जीया, आत्मा के स्वरूप को समझने की, अनुभव करने की कभी चेष्टा ही नहीं की। जब तक जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो, तब तक सर्वोच्च समता को प्राप्त करना असंभव है। समत्व को प्राप्त करने का कार्य कठिन होते हुए भी अध्यात्ममार्ग पर जिसके कदम बढ़ चुके हैं, जो जीव चरमावर्त्तकाल या धर्म के यौवनकाल को प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे जीव गुरु की कृपा से अध्यात्म के प्रसादस्वरूप समता को आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।

-----000-----

प्रबंध-तृतीय

दसवाँ अधिकार - सदनुष्ठान अधिकार

(२६५) परिशुद्धमनुष्ठानं जायते समतान्वयात्।
कतकक्षोदसंक्रान्ते कलुषं सलिलं यथा।।१।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे कतक के फल का चूर्ण या फिटकरी डालने से गंदा पानी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार समता के योग से अनुष्ठान परिशुद्ध होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> उपाध्याय यशोविजयजी समता का अधिकार पूर्ण होने के बाद सदनुष्ठान-अधिकार का प्रारंभ करते हैं और उसमें, समता की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह दर्शाते हैं। सदनुष्ठान, अर्थात् धार्मिक-क्रियाएँ, तप, जप, दान, शील, त्याग, व्रत आदि। सामान्यजन में प्रचलित सभी धर्म-क्रियाएँ शुद्ध नहीं होती हैं। वे दोषवाली, अपूर्ण, अशुद्ध हो सकती हैं। हृदय राग-द्वेष से युक्त हो, कषाय उग्र हों, किसी का अपमान कर उसे नीचे गिराने की वृत्ति हो और सांसारिक कामनाओं से धार्मिक-अनुष्ठान किए जाते हों, अपनी प्रतिष्ठा, प्रशंसा पाने के लिए दानादि क्रियाएँ की जाती हों, धार्मिक-अनुष्ठान करते हुए भी आसक्ति घटने की अपेक्षा बढ़ रही हो, धर्म के वास्तविक रहस्य को समझे बिना ही उसे मात्र भौतिक सुखों का प्रदाता समझकर आराधनाएँ की जाती हों, तो उनसे उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे-अच्छी तरह नहीं साधा हुआ वेताल मन्त्रसाधक को मार डालता है, वैसे ही शब्दादि विषयों से युक्त, गुणसाधना से विहीन धर्म भी आत्मा का विनाशक होता है, अतः क्रियाओं को परिशुद्ध करने के लिए समता की साधना करना चाहिए। जिस प्रकार पानी मलिन हो, तो उसमें कतक फल (फिटकरी) का चूर्ण डाला जाता है, जिससे वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार विषय, कषाय, प्रमाद आदि के कारण अशुद्ध हुए धार्मिक अनुष्ठानों को शुद्ध करने के लिए समता कतक चूर्ण के समान कार्य करती

है। समता का प्रवेश होने पर हृदय से राग-द्वेष प्रस्थान कर जाते हैं। समत्व से धार्मिक क्रियाओं में एकाग्रता, उत्साह और आनंद में वृद्धि होती है तथा वास्तविक फल की प्राप्ति होती है।

(२६६) विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम्।
गुरुसेवाद्यनुष्ठानमिति पंचविधं जगुः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> विष, गर, अनुष्ठान, तद्हेतु और परम (श्रेष्ठ) अमृत-ऐसे गुरुसेवा आदि के स्वरूप में पाँच प्रकार के अनुष्ठान कहे गए हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> धर्मसाधना को साधने के लिए महापुरुषों ने दान, शील, तप, भाव आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ बताई हैं, जिन्हें धार्मिक-अनुष्ठान भी कहते हैं। प्रत्येक अनुष्ठान स्वयं अपने आप में शुद्ध ही होता है, परंतु अनुष्ठान करने वाले साधकों की कक्षा एक जैसी नहीं होती है। अनुष्ठान करने के पीछे सभी का आशय एक समान नहीं होता। अध्यवसाय भी सभी के भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार अनुष्ठानों के और उनकी आराधना के अनेक भेद हो सकते है। हरिभद्रसूरि ने योगबिन्दु नामक ग्रंथ में कहा है कि एक ही अनुष्ठानकर्त्ता के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है, जैसे-एक ही भोज्य पदार्थ एक रोगी व्यक्ति सेवन करे और उसे ही एक स्वस्थ्य व्यक्ति सेवन करे, तो भोज्य पदार्थ की परिणति एक जैसी नहीं होती है, भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए कर्त्ता के आधार पर शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया का भेद होता है। उ. यशोविजयजी ने साधकों के अध्यवसाय के आधार पर मुख्य पाँच प्रकार के अनुष्ठान बताए हैं- १. विषानुष्ठान २. गरानुष्ठान, ३. अननुष्ठान, ४. तद्हेतु अनुष्ठान और ५. अमृत अनुष्ठान। ये पाँचों अनुष्ठान क्रमशः श्रेष्ठता के क्रम से हैं। इनमें अमृतानुष्ठान सर्वोत्कृष्ट है। प्रारंभ के तीन अनुष्ठान असद् अनुष्ठान या अशुद्ध अनुष्ठान हैं और अंतिम दो सद्अनुष्ठान या शुद्ध अनुष्ठान कहे गए हैं।

(२६७) आहारोपधिपूजर्द्धि प्रभृत्याशंसया कृतम्।
शीघ्रं सच्चित्तहन्तृत्वाद्विषानुष्ठानमुच्यते।।३।।

अनुवाद - आहार, उपधि, पूजा, ऋद्धि आदि की आशंसा से किया हुआ अनुष्ठान शुभ चित्त का शीघ्र नाशक होने से, उसे विषानुष्ठान कहा गया है।

विशेषार्थ - मन में सहज जिज्ञासा हो जाती है कि कोई भी अनुष्ठान विषानुष्ठान में किस प्रकार रूपान्तरित हो जाता है या उसे विषानुष्ठान कहने का कारण क्या है ? सभी जीवों की धर्मक्रियाओं को करने की मनोभूमि एक जैसी कक्षा की नहीं होती है। अज्ञानी जीवों की धार्मिक-क्रियाएँ प्रायः जीवन के ऐहिक और भौतिक लाभों के लिए होती हैं। वर्तमान जीवन में आए हुए संकटों को दूर करने के लिए, इष्ट की प्राप्ति के लिए, मनुष्य धार्मिक क्रियाएँ करता है। कई लोग मान-सम्मान पाने के लिए, अच्छे आहार के लिए, वस्त्रादि उपकरणों के लिए, ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त करने के लिए गुरुसेवा, जिनभक्ति, व्रत, तप आदि धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। मनुष्य की इच्छाओं, आकांक्षाओं का कोई अन्त नहीं है। दृष्टिवादोपदेशिकी-संज्ञा के अभाव में जीव तात्कालिक-लाभ का विचार पहले करता है। वह अपनी आत्मा के हित-अहित का विचार नहीं करता है। उसकी दृष्टि में भौतिक सुख ही महत्त्वपूर्ण रहते हैं। इस प्रकार आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किए गए धार्मिक अनुष्ठान निर्मल चित्तवृत्ति को नष्ट कर देते हैं, इसलिए इस अनुष्ठान को विषानुष्ठान कहा गया है। जैसे विष का सेवन करने से तत्काल मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार इहलोक के सुख की आकांक्षा से की गई धार्मिक-क्रियाएँ चित्त की निर्मलता का नाश करती है। ऐसे अनुष्ठान राग-द्वेष की वृत्ति को घटाने वाले नहीं होते है, बल्कि बढ़ाने वाले होते हैं।

(२६८) स्थावरं जंगमं चापि तत्क्षणं भक्षितं विषम्।
यथाहन्ति तथेदं सच्चित्तमैहिकभोगतः।।४।।

अनुवाद - जैसे स्थावर और जंगम विष का भक्षण तत्काल प्राणों को हर लेता है, उसी प्रकार ऐहिक भोगों से शुभ चित्त का नाश होता है।

विशेषार्थ - विष दो प्रकार के होते हैं- एक स्थावर विष और दूसरा जंगम विष। अफीम, सोमल, पोटेशियम साइनाईड आदि स्थावर विष की श्रेणी में आते हैं और सर्प, बिच्छू आदि का विष जंगम (चलता-फिरता) विष कहलाता है। इन दोनों प्रकार के विष में से किसी भी विष का भक्षण करने से या इनका शरीर में प्रवेश हो जाने से जिस प्रकार मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार सकामवृत्ति से, दृढ़ आसक्ति से की गई धार्मिक-क्रियाएँ भी विष का काम करती हैं। वे शुभ चित्त को नष्ट कर देती हैं और जीवात्मा को मोक्ष के परमसुख से दूर कर देती हैं। उ. यशोविजयजी "सवासो गाथा" के स्तवन में कहते हैं - "अध्यात्म बिना की गई क्रियाएँ शरीर के मैल के समान तुच्छ बन जाती हैं।"

अध्यात्म विष जे क्रिया तनुमल तोले।
ममकारादिक योग थी ऐम ज्ञानी बोले।।

जो संसार के सुखों के लिए धर्म-क्रियाएँ करता है, वह भैंस से दूध के बदले गोबर पाने की इच्छा वाले व्यक्ति के समान ही भूल करता है। भोगों में तृप्ति नहीं है और जड़ वस्तुओं में कहीं भी सुख नहीं है। भोगों में जितनी आसक्ति होगी, उतनी ही आत्मा अपने स्वरूप से दूर रहेगी। आत्मा जितना अपने स्वरूप से दूर रहेगी, उतनी ही पाप की वृद्धि होगी और परिणाम में अधोगति में जाना पड़ेगा। अतः, पौद्‌गलिक सुख की प्राप्ति के लिए जो धार्मिक-क्रियाएँ करता है, वह वास्तव में कानी कौड़ी के लिए लाखों स्वर्णमुद्राएँ गवां देता है। यही कारण है कि विषानुष्ठान को अशुद्ध अनुष्ठान कहा गया है।

(२६६) दिव्यभोगाभिलाषेण कालान्तरपरिक्षयात्।
स्वादृष्टफलसंपूर्त्तेर्गरानुष्ठानमुच्यते।।५।।

अनुवाद - कालान्तर में क्षय को प्राप्त होने वाले ऐसे दिव्यभोग की अभिलाषा से अदृष्ट फल (देवगति आदि) की पूर्ति के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, वह गरानुष्ठान कहलाता है।

विशेषार्थ - विषानुष्ठान ऐहिक सुख की इच्छा से किया जाता है और गरानुष्ठान पारलौकिक-भोगोपभोग सुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है।

यह सर्वविदित है कि बीज बोए बिना फल की प्राप्ति नहीं होती। यह निश्चित है कि जब तक व्यक्ति प्रयत्न नहीं करेगा, त्याग नहीं करेगा, कष्ट सहन नहीं करेगा, व्रतादि का पालन नहीं करेगा, दानादि धर्म-क्रिया नहीं करेगा, तब तक उसको सुख या पुण्य-फल की प्राप्ति नहीं होगी, अतः देवगति आदि के सुखभोग भोगने के लिए या चक्रवर्ती वासुदेव आदि पदवियों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति जो तप, जप, गुरुभक्ति, जिनभक्ति, व्रतादि का पालन आदि धर्मक्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ गरानुष्ठान कहलाती हैं। विष तत्काल प्राणों को हर लेता है, परंतु गरल धीमा जहर (Slow Poison) है। यह तत्काल नहीं, किन्तु धीरे-धीरे कालान्तर में प्राणों का हरण करता है। पारलौकिक भौतिक सुखों की आकांक्षा से जो धर्मक्रियाएँ की जाती हैं, उनसे पुण्य का उपार्जन होता है और शुभकर्म का बंध होता है। यह पुण्य पापानुबंधी पुण्य होता है, जिसके फलस्वरूप देवगति आदि के भोगसुखों की प्राप्ति हो जाती है और जीव उन भोगों में इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि उसे आत्मिक-सुख का तो विचार भी नहीं आता है। चित्त की शुद्धि नष्ट हो जाती है और जीव भयंकर पापकर्मों का उपार्जन करके दुर्गति में चला जाता है, भवभ्रमण बढ़ा लेता है। पुण्य का क्षय होने पर वह अधोगतिगामी हो जाता है। मकड़ी अपना जाल स्वयं बनाती है और खुद उसमें ही फँस जाती है तथा अपनी जान गवां देती है, उसी प्रकार गरलानुष्ठान वाला जीवात्मा स्वयं ही प्राप्त हुए भोगों के जाल में फँस जाता है और उससे निकल नहीं पाता है तथा दुर्गति में चला जाता है।

(२७०) यथा कुद्रव्यसंयोगजनितं गरसंज्ञितम्।
विषं कालान्तरे हन्ति तथेदमपि तत्त्वतः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे कुद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ गर नाम का विष कालान्तर में प्राणों का नाश करता है, उसी प्रकार तात्त्विक-दृष्टि से यह (गरलानुष्ठान) भी इस प्रकार करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> विषैली वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं। कितने ही विषैले द्रव्य ऐसे होते हैं, जो तुरंत हानि नहीं पहुँचाते हैं, किन्तु समय बीतने पर धीरे-धीरे असर करते हैं और कुछ समय पश्चात् व्यक्ति के प्राणों का हरण कर लेते हैं। प्राचीन समय में काँच का बारीक चूर्ण भोजन में मिला दिया

जाता था, जिससे खाने वाला व्यक्ति धीरे-धीरे मृत्यु के द्वार तक पहुँच जाता या अन्य कोई विषैला पदार्थ औषधि आदि में या भोजन में मिश्र कर खिला देने पर खाने वाले के प्राण धीरे-धीरे नष्ट हो जाते। इस प्रकार के Slow Poison को गरल कहा जाता है। ठीक ऐसे ही, कितने ही धार्मिक अनुष्ठान जिनमें मोक्ष का लक्ष्य नहीं होता है, परंतु भवांतर में देवलोक के सुख प्राप्त करने का लक्ष्य होता है, वे अनुष्ठान गरल जैसे ही होते हैं, जिनके फलस्वरूप भवांतर में देवलोक, चक्रवर्ती आदि इच्छित सुखों की प्राप्ति होने के बाद उनमें तीव्र आसक्ति होती है और भयंकर कर्मों का बंध होता है, जिससे पुण्य का क्षय होते ही जीवात्मा एकेन्द्रियादि में या नरकादि दुर्गति में चला जाता है।

गरलानुष्ठान से प्राप्त सुखभोगों में फँसा हुआ व्यक्ति, जल पीने के लिए गए हुए एवं दलदल में फँसे हुए उस हाथी के समान है, जो किनारे को देखते हुए भी उसे नहीं पा सकता है। वह कामभोगों के दुष्परिणाम को जानते हुए भी त्यागमार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता है। अतः, धार्मिक-अनुष्ठान सदैव भौतिक फलाकांक्षा से रहित होकर करना चाहिए। धर्म तो शाश्वत सुख का प्रदाता है, अतः धार्मिक-अनुष्ठानों के फलस्वरूप क्षणभंगुर सुख की चाह रखना व्यर्थ है। जैसे-कोई भी किसान घास के लिए खेती नहीं करता है, वह तो खेत में अनाज के उत्पादन के लिए ही श्रम करता है, अनाज के साथ घास (भूसा) तो अपने-आप ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार कोई भी धार्मिक-अनुष्ठान मोक्ष का लक्ष्य निर्मित करके ही करना चाहिए, क्योंकि जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होगा, तब तक भूसे के समान भौतिक-सुख तो पुण्य के फलस्वरूप स्वयमेव ही प्राप्त होंगे।

(२७१) **निषेधायानयोरेव विचित्रानर्थदायिनोः।**
सर्वत्रैवानिदानत्वं जिनेन्द्रैः प्रतिपादितम्।।७।।

अनुवाद - विविध प्रकार के अनर्थों को प्रदान करने वाले दोनों अनुष्ठानों का निषेध करने के लिए जिनेश्वरों ने सभी जगह अनिदानत्व (फल मांगने का निषेध) का प्रतिपादन किया है।

विशेषार्थ - विषानुष्ठान और गरलानुष्ठान-दोनों ही प्रकार के अनुष्ठान अनेक प्रकार के अनर्थों को जन्म देने वाले हैं। भोगसुख की प्राप्ति की इच्छा

से किए जाने वाले विषानुष्ठान और गरलानुष्ठान आत्मविकास में और अंत में मोक्षप्राप्ति में प्रतिबंधक होते हैं। इनके कारण जीव की दुर्गति हो जाती है और आत्मविकास अवरुद्ध हो जाता है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है- "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन", अर्थात् कर्म करो, लेकिन निष्कामभाव से करो, फल की इच्छा मत करो।

इस प्रकार के अशुभ अनुष्ठानों में निदान करके सुख प्राप्त करने की इच्छा की जाती है। निदान, अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान के बदले संकल्पपूर्वक 'अमुक प्रकार की इच्छा पूर्ण हो'- ऐसा फल मांग लेना, एक प्रकार से भौतिक-सुखों के लिए धार्मिक-अनुष्ठानों को बेच देना है, जिसके फलस्वरूप इच्छापूर्ति तो हो जाती है, किंतु धर्म को बेच देने पर पुनः धर्म की प्राप्ति होना अत्यंत मुश्किल है। अतः, जिनेश्वर ने निदान करने का निषेध किया है। सच्चे आराधक को धर्म-क्रिया सर्वाकांक्षा से रहित होकर करना चाहिए।

निदान शब्द के दो अर्थ होते हैं - १. निदान, अर्थात् पृथक्करण और २. निदान, अर्थात् निश्चित दान। यहाँ निदान शब्द निश्चित दान के रूप में प्रयोग किया गया है, किन्तु स्थूल द्रव्यदान से यहाँ तात्पर्य नहीं है। चित्त के दान के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। कोई भी एक विषय में चित्त को पूर्णतः अर्पण कर देना निदान कहलाता है। चित्त में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं, अनेक प्रकार की अभिलाषाओं का जन्म होता है। इच्छाएँ तो आकाश के समान अनंत हैं।

शुभभाव से की हुई कठोर तपस्या कभी भी निष्फल नहीं होती है। कई बार मनुष्य अपने तप के बदले में कुछ प्राप्त करने की इच्छा करता है और वह प्राप्त भी हो जाता है। तप के बदले किसी फल-प्राप्ति की चाह रखना ही निदान है। निदान तीन प्रकार के होते हैं - १. प्रशस्त-निदान २. भोगकृत-निदान ३. अप्रशस्त-निदान। तप के फल के रूप में भव-भव में परमात्मा की सेवा, साधुत्व, बोधिलाभ, समाधिमरण इत्यादि संयम की आराधना के लिए, आत्मविकास के लिए सामग्री की अभिलाषा करना प्रशस्त निदान है। तपादि के फलस्वरूप स्त्री-पुत्र आदि की इच्छा करना, भौतिक सुख-सुविधाओं की इच्छा करना, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि पदवी की इच्छा

करना या देवलोक के सुख की इच्छा करना-ये सब भोगकृत निदान हैं। तप के फलस्वरूप किसी के शुभकार्य में विघ्न डालने का, किसी की हत्या करने का, किसी का अहित करने का जो निदान किया जाता है, वह अप्रशस्त निदान कहलाता है। सामान्यतया मनुष्य तप के फल के रूप में भोगकृत निदान करता है। निदान करने से किस प्रकार दुर्गति हो जाती है, इसके विषय में उत्तराध्ययन में संभूति मुनि का दृष्टान्त आता है। चित्त और संभूति दोनों भाइयों ने दीक्षा लेकर कठोर तप किया। उनके तप और संयम से प्रभावित होकर सनतकुमार चक्रवर्ती अपने परिवारसहित वंदन के लिया गया है। उस समय भावविभोर होकर वंदन करती हुई स्त्रीरत्न (पटरानी) के बालों का स्पर्श संभूति मुनि को हो गया। इस कारण से उनका मन चंचल हो उठा और उन्होंने निदान कर लिया कि जो कुछ उग्र तपाराधना उन्होंने की, उसके फल के रूप में जन्मान्तर में उन्हें चक्रवर्ती पद की प्राप्ति हो। भवान्तर में वह ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती बना है और उसने स्त्रीसुख को भोगा, किन्तु पापकर्म बांधकर पुण्य का क्षय होने पर वह सातवीं नरक में चला गया। नंदिषेण मुनि, सुकुमालिका (द्रौपदी का पूर्वभव) आदि ने अपनी तपस्या के फलस्वरूप भोगकृत निदान किया था।

द्वैपायन ऋषि ने राजकुमारों के उद्दण्ड व्यवहार से क्रोधित होकर अपनी तपस्या के फलस्वरूप द्वारिका-नगरी को भस्म करने का निदान किया। इस प्रकार का निदान अप्रशस्त प्रकार का है। श्री हरिभद्रसूरिरचित समरादित्य केवली की कथा में पुरोहित-पुत्र अग्नि शर्मा के राजकुमार गुणसेन द्वारा अपमानित होने पर उसने दीक्षा लेकर उग्र तपश्चर्या करके फलस्वरूप गुणसेन को भवोभव मारने का निदान किया था। भगवान् महावीर स्वामी ने विश्वभूति के भव में दीक्षा ग्रहण कर दीर्घ तपश्चर्या की और अपने चचेरे भाई विशाखानन्दी द्वारा अपमानित होने पर उसे भवान्तर में नष्ट करने का निदान किया था। यह अप्रशस्त-निदान है। इन दोनों प्रकारों के निदानों से आत्मा का पतन होता है।

'मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो,' 'मुझे भव-भव में तीर्थंकर परमात्मा की शरण प्राप्त हो,' 'मुझे बोधिलाभ की प्राप्ति हो' आदि निदान प्रशस्त निदान कहलाते हैं। प्रार्थनासूत्र (जयवीयराय-सूत्र) में कहा गया है- हे प्रभु ! आपके

सिद्धान्त के अनुसार निदान करने का निषेध है, फिर भी भव-भव आपके चरणों की सेवा प्राप्त हो। प्रशस्त-निदान भी है तो निदान ही। वहाँ भी फलाकांक्षा रही हुई है, किन्तु किसी अपेक्षा से प्रशस्त-निदान दोषरूप नहीं है। फलाकांक्षा से रहित होकर ही धार्मिक-अनुष्ठानों को करना सर्वोत्तम है।

(२७२) प्रणिधानाद्यभावेन कर्मानध्यवसायिनः।
संमूर्च्छिमप्रवृत्याभमननुष्ठानमुच्यते।।८।।

<u>अनुवाद</u> - प्रणिधान आदि के अभाव से अध्यवसायरहित तथा संमूर्च्छिम की प्रवृत्ति जैसा कर्म, अननुष्ठान कहलाता है।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में तीसरे प्रकार के अननुष्ठान के मुख्य लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं। किसी भी अनुष्ठान में मन का जुड़ना आवश्यक है। प्रणिधान, अर्थात् मन-वचन और काया की एकाग्रता। एकाग्रता के अभाव मे, बिना मन से की गई क्रिया जड़वत् या यंत्रवत् हो जाती है। उसमें भूल होने की संभावना भी रहती है। एकाग्रता के बिना क्रिया का आस्वाद ही चला जाता है। जैसे-अन्यमनस्क होकर जब भोजन किया जाता है तब भोजन का स्वाद पता नहीं चलता है, यहाँ तक कि क्या खाया, यह भी ध्यान नहीं रहता है, उसी प्रकार अन्यमनस्क होकर अनुष्ठान किया जाए, तो उस अनुष्ठान में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होती है। एकाग्रता के अभाव में, अध्यवसाय से रहित होकर, बिना लक्ष्य के किया गया अनुष्ठान, अननुष्ठान कहलाता है। इस अनुष्ठान में प्रणिधान के अलावा क्रिया में बहुमान, उत्साह, आदर, पुरुषार्थ आदि का भी अभाव रहता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लक्ष्य के बिना, अध्यवसाय से रहित यह क्रिया संमूर्च्छिम के समान होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसको मन ही नहीं है- ऐसे संमूर्च्छिम जीव, क्रिया करें और मन वाले होने पर भी मन बिना क्रिया करें- इन दोनों में कुछ खास अन्तर नहीं होता, अर्थात् उनकी क्रिया संमूर्च्छिम जीवों की प्रवृत्ति के समान रहती है, अतः चित्त की एकाग्रता के बिना, शून्य मन से की गई धार्मिक क्रियाओं को अननुष्ठान कहते है।

(२७३) ओघसंज्ञाऽत्र सामान्यज्ञानरूपा निबंधनम्।
लोकसंज्ञा च निर्दोषसूत्रमार्गानपेक्षिणी।।६।।

अनुवाद - यहाँ (अननुष्ठान में) सामान्यज्ञानरूप ओघसंज्ञा और निर्दोष सूत्रमार्ग की अपेक्षा बिना की लोकसंज्ञा कारणरूप है।

विशेषार्थ - अननुष्ठान प्रकार की होने वाली धर्म-क्रियाओं के उ. यशोविजयजी ने दो कारण बताए है - १. ओघसंज्ञा २. लोकसंज्ञा। ओघ, अर्थात् सामान्य दुनिया में कितनी ही धर्म प्रवृत्ति ओघसंज्ञा से होती रहती हैं। इसमें व्यक्ति को सम्यक् समझ नहीं होती है। वह अनुष्ठान की गहराई में नहीं जाता है। यह अनुष्ठान क्यों करना चाहिए ? किस प्रकार करना चाहिए ? सूत्रों का अर्थ क्या है ? इनका रहस्य क्या है ? ये क्रिया-योग्य हैं या नहीं ? इन क्रियाओं का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इन क्रियाओं से अध्यवसाय निर्मल होते हैं या नहीं ? आदि किसी प्रकार की व्यक्ति के मन में जिज्ञासा नहीं होती है और न ही कुछ जानने की उत्सुकता होती है। इस प्रकार कितनी ही धर्म-क्रियाएं मात्र ओघसंज्ञा से होती हैं।

लोकसंज्ञा, अर्थात् बहुत से लोग जिस प्रवाह में बह रहे हैं, चल रहे हैं, उसमें चलना, अथवा वृद्धजन या पूर्वज करते आ रहे हैं, इसलिए करना या प्रभावना आदि के लालच से करना या प्रतिष्ठा के लिए करना, लज्जवश करना, इस प्रकार गतानुगतिक भेड़चाल के समान होने वाली उपयोगशून्य प्रवृत्ति लोकसंज्ञा वाली प्रवृत्ति है। धर्म के क्षेत्र में होने वाली इस प्रकार की क्रियाएँ अननुष्ठान के अन्तर्गत आती हैं। इसमें शुद्ध, निर्दोष शास्त्र-सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं रहती है। इसमें क्रिया की सत्यता या असत्यता का कोई विचार नहीं होता है, अतः अननुष्ठान प्रकार की प्रवृत्ति अधिक फलदायी नहीं होती है।

(२७४) न लोकं नापि सूत्रं नो गुरुवाचमपेक्षते।
अनध्यवसितं किंचित्कुरुते चौघसंज्ञया।।१०।।

अनुवाद - ओघसंज्ञा से जो कुछ किया जाता है, उसमें लोक की, सूत्र की या गुरु के वचन की अपेक्षा नहीं होती है तथा वह अध्यवसायरहित (चिंतनरहित) होकर किया जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो ओघसंज्ञा से अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् अपनी सामान्य बुद्धि के अनुसार बिना चिंतन मनन किए जो अनुष्ठान करते हैं, वे लोक की अपेक्षा भी नहीं रखते हैं। लोकरीति किस प्रकार की है, लोकपरंपरा में क्या प्रचलित है, आदि की अनुष्ठानकर्त्ता को अपेक्षा नहीं रहती है, इसलिए ओघसंज्ञा से होती हुई क्रिया कभी लोकविरुद्ध भी हो सकती है। पुनः, शास्त्रों की भी उन्हें अपेक्षा नहीं रहती है। ओघसंज्ञा से प्रेरित होकर अनुष्ठान करने वाले, शास्त्रों में क्या कहा ? परमात्मा की क्या आज्ञा है ? यह नहीं जानते और न ही वे जानने का प्रयास करते हैं, अथवा कभी अनुष्ठानकर्त्ता इतने मंदबुद्धि भी होते हैं कि शास्त्रों को समझने की उनमें शक्ति ही नहीं होती, इसलिए उनकी क्रिया शास्त्र के अनुसार है या नहीं, इसकी उन्हें समझ भी नहीं पड़ती है। इसके उपरान्त ऐसा अनुष्ठानकर्त्ता गुरु के मार्गनिर्देशन की अपेक्षा भी नहीं रखता है। मुझे गुरु का मार्गदर्शन लेना चाहिए-ऐसा विचार उसे नहीं आता है या कभी विचार आता भी है, तो उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है। वह अपनी बुद्धि से ही, जो उसे रुचता है, वही क्रिया करता है और वह भी शून्यचित्त होकर करता है। इस प्रकार की धार्मिक क्रियाओं में चित्त के निर्मल परिणामों का योग नहीं होता है। इसकी क्रिया भावविहीन होती है। इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का कोई विशेष परिणाम नहीं आता है।

(२७५) शुद्धस्यान्वेषणे तीर्थोच्छेदः स्यादिति वादिनाम्।
लोकाचारादरश्रद्धा लोकसंज्ञेति गीयते।।११।।

<u>अनुवाद -</u> मात्र शुद्धता का आग्रह रखने पर तो तीर्थ का उच्छेद हो जाएगा - इस प्रकार के तर्क करने वालों को लोक-व्यवहार के प्रति जो आदर तथा श्रद्धा होती है, वह लोकसंज्ञा कहलाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> आवश्यकादि कोई भी धर्म-क्रिया करते समय वह क्रिया सूत्र-सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा की आज्ञा के अनुसार ही होना चाहिए। शुद्धता से ही क्रिया करना चाहिए, अन्यथा नहीं - यदि इस प्रकार का आग्रह रखा जाए, तो इस प्रकार की शुद्ध क्रिया करने वाले तो बहुत ही अल्प हैं और अशुद्ध क्रिया करने वाले अत्यधिक। यदि अशुद्ध क्रिया करने वाले को अवरुद्ध किया जाए, उसे क्रिया करने का निषेध किया जाए, तो

क्रिया करने वाला ही कोई नहीं बचेगा, क्योंकि सर्वथा शुद्ध क्रिया करने वाले तो क्वचित् कहीं हों या नहीं भी हों। इस प्रकार अशुद्ध क्रिया का निषेध करने से जिनशासन का विच्छेद ही हो जाएगा, इसलिए लोग चाहे जैसे अविधि से क्रिया कर रहे हों, तो भी करें, इस प्रकार कहकर अविधि वाले अनुष्ठान के प्रति श्रद्धा, आदर रखा जाए, तो उसे लोकसंज्ञा कहते हैं। ऐसी स्थिति में लोकाचार इस प्रकार बलवान् हो जाता है कि फिर अशुद्ध क्रिया में ही शुद्ध का भ्रम हो जाता है और वही कल्याणकारी मार्ग लगता है। फिर शुद्ध क्रिया को जानने की, करने की कभी जिज्ञासा ही नहीं होती है। गतानुगतिकता से आत्मा के अवलंबन के बिना और लक्ष्य की शुद्धि के बिना होती हुई इन क्रियाओं में स्वाभाविक रूप से अनेक लोग जुड़े हुए होने से 'यही सत्य है'-ऐसा प्रतीत होता है और उस अशुद्ध क्रिया के प्रति बहुमान होता है, परंतु लोकसंज्ञा से प्रेरित होकर होने वाले अनुष्ठान अननुष्ठान कहलाते हैं, उदाहरण के तौर पर श्रावकों को चातुर्मास में ग्रामान्तर जाने का निषेध है, किन्तु वर्तमान में चातुर्मास में ही तीर्थयात्रा, गुरु आदि को वंदन करने, दर्शन करने एवं एक गाँव से दूसरे गाँव जाने का प्रचलन हो गया है और यह क्रिया अब यथार्थ ही प्रतीत होती है।

(२७६) शिक्षितादिपदोपेतमप्यावश्यकमुच्यते।
द्रव्यतो भावनिर्मुक्तमशुद्धस्य तु का कथा।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> शिक्षित (शुद्ध) आदि पद से युक्त होने पर भी भाव से रहित जो आवश्यक है, वह द्रव्य कहलाता है, तो फिर अशुद्ध की तो बात ही कहाँ ?

<u>विशेषार्थ -</u> आवश्यक आदि क्रियाएँ शुद्ध रूप से करने के लिए उच्चारशुद्धि, विधिशुद्धि आदि का अभ्यास कराया जाता है, शिक्षण दिया जाता है। शिक्षण, आसेवन, पदसंपदा आदि सहित आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है, परंतु भाव के अभाव में यंत्रवत् क्रिया अगर की गई, तो मात्र वह द्रव्य आवश्यक कहा जाता है, तो फिर जो क्रिया भावशून्य हो, साथ ही सूत्रों के पाठ-उच्चारण भी अशुद्ध हों, क्रियाविधि भी उचित नहीं हो, उसे द्रव्य- आवश्यक भी कैसे कह सकते हैं। चाहे द्रव्य- क्रिया हो

या भाव-क्रिया, किन्तु आध्यात्मिक-जगत् में अशुद्ध क्रिया का अधिक महत्त्व नहीं है। द्रव्य-क्रिया भी द्रव्य रूप में तो शुद्ध होना ही चाहिए।

(२७७) तीर्थोच्छेदभिया हन्ताविशुद्धस्यैव चादरे।
सूत्रक्रियाविलोपः स्याद् गतानुगतिकत्वतः।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> तीर्थ के उच्छेद (विनाश) के भय से जो अशुद्ध (क्रिया) का आदर किया जाए, तो गतानुगतिकत्व को लेकर सूत्र-क्रिया का लोप हो जाएगा।

<u>विशेषार्थ -</u> लोकसंज्ञा के अनुसार जो अशुद्ध क्रिया होती है, उसके बचाव के लिए यह तर्क किया जाता है कि अधिकतर लोग तो अशुद्ध क्रिया ही करते हैं, अतः ऐसी स्थिति में यदि शुद्ध क्रिया का ही आग्रह रखा जाए और अशुद्ध क्रिया का निषेध किया जाए, तो एक समय ऐसा आएगा कि शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया-दोनों को ही करने वाला कोई नहीं होगा। इस तरह तीर्थ का विच्छेद हो जाएगा। यह भय स्थान वास्तविक कम और काल्पनिक अधिक है। अगर शुद्ध क्रिया का ही आदर और बहुमान जारी रखा तथा सूत्र के अनुसार शुद्ध क्रिया की शिक्षा नहीं दी गई, तो धीरे-धीरे अशुद्ध क्रिया ही प्रमाणभूत हो जाएगी, वही शुद्धरूप में प्रतिभासित होगी - इस तरह शास्त्रकथित शुद्ध क्रिया का लोप हो जाएगा। इस प्रकार अशुद्ध का आदर करने से और उसका ही आग्रह रखने से तीर्थविच्छेद और शास्त्रविच्छेद-दोनों का ही विच्छेद होगा। भले ही बहुत से लोग अशुद्ध क्रिया करते हों, फिर भी आदर, महिमा और आग्रह तो शास्त्रविहित शुद्ध क्रिया का ही करना चाहिए। परिस्थितिवश या मंदबुद्धिवश अशुद्ध क्रिया करते हुए भी यह जानकारी तो होना ही चाहिए कि यह क्रिया अशुद्ध है और शुद्ध क्रिया का स्वरूप गुरुगम द्वारा जानना चाहिए, जैसे-कारणवश या अस्वस्थता आदि के कारण बैठे-बैठे प्रतिक्रमण कर रहे हैं, परंतु यह जानकारी तो होना ही चाहिए कि प्रतिक्रमण की शुद्ध विधि किस प्रकार की है ? प्रतिक्रमण खड़े-खड़े प्रमादादि का त्याग करके पूर्ण जाग्रत-अवस्था में करना चाहिए और जो इस प्रकार प्रतिक्रमण करता है, उसके प्रति बहुमान-आदर होना चाहिए।

(२७८) धर्मोद्यतेन कर्तव्यं कृतं बहुभिरेव चेत्।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्यः स्यात्कदाचन।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> धर्म में उद्यत पुरुष को, जो बहुत लोग करते हैं, वही करना चाहिए-इस प्रकार हो, तो फिर मिथ्यादृष्टियों का धर्म कभी त्यागने योग्य नहीं होगा।

<u>विशेषार्थ -</u> लोकाचार में अनेक लोग जब गलत क्रिया करते हैं, तो उसका प्रचलन हो जाता है। वर्तमान में जिसका बहुमत है, वह सत्य है-इस प्रकार का तर्क किया जाता है। सामाजिक-दृष्टि से लोकव्यवहार में बहुमत के अनुसार चलना आवश्यक हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक-दृष्टि से मोक्षमार्ग पर बहुमत के अनुसार नहीं चल सकते हैं, क्योंकि आध्यात्मिक-मार्ग में सम्यक् समझ को रखने वाले लोग तो अल्प ही होते हैं। ज्ञानसार में कहा गया है कि लोकमार्ग और लोकोत्तरमार्ग में मोक्षार्थियों की संख्या नगण्य ही है, क्योंकि जैसे रत्न की परख करने वाले जौहरी बहुत कम होते हैं, वैसे ही आत्मोन्नति हेतु प्रयत्न करने वालों की संख्या भी न्यून ही होती है। आत्म-विशुद्धि के अभिलाषी लोकोत्तर-मार्ग पर चलने वाले जीवों की संख्या मर्यादित ही होती है, अतः बहुमती के अनुसार यथार्थ ठहराना योग्य नहीं है। अगर यहाँ यह आग्रह रखा जाए कि जो बहुमत है, वही करने योग्य है या धार्मिक-क्रिया के विषय में यह तर्क किया जाए कि जो बहुमत करता है, वही सत्य है, यथार्थ है, तो उ. यशोविजयजी तर्क करते हैं कि बहुमती के अनुसार ही सत्य हो, तो संसार में हमेशा सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अधिक संख्या में रहने वाले हैं, फिर तो सर्वत्र मिथ्यादर्शन ही आराध्य बन जाएगा, परंतु ऐसा नहीं होता है, इसलिए अध्यात्म के क्षेत्र में लोकसंज्ञा का त्याग करने योग्य है। आध्यात्मिक मार्ग में प्रवाह के विरुद्ध भी चलना पड़ता है।

(२७९) तस्माद्गतानुगत्या यत्क्रियते सूत्रवर्जितम्।
ओघतो लोकतो वा तदननुष्ठानमेव हि।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए सूत्ररहित और गतानुगतिकरूप ओघसंज्ञा से या लोकसंज्ञा से जो किया जाता है, वह अननुष्ठान ही है।

विशेषार्थ - विषानुष्ठान और गरलानुष्ठान की तरह अननुष्ठान भी अशुद्ध ही है। तीनों ही अनुष्ठानों का आध्यात्मिक-दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। शास्त्रकथित आचारशुद्धि के बिना और सम्यक् समझ के अभाव में ओघसंज्ञा या लोकसंज्ञा से प्रेरित धार्मिक-अनुष्ठान अननुष्ठान ही कहलाते हैं। इन अनुष्ठानों में आत्मस्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं होने पर ये मोक्षमार्ग के लिए अधिक उपकारी नहीं होते हैं। प्राथमिक कक्षा वाले के लिए प्रारंभ में कुछ हद तक ये अनुष्ठान उपकारी हो सकते हैं, किन्तु गुरुगम से शुद्ध अनुष्ठान के स्वरूप को समझकर वे ही स्वीकारने योग्य हैं।

(२८०) अकामनिर्जरांगत्वं कायक्लेशादिहोदितम्।
सकामनिर्जरा तु स्यात् सोपयोगप्रवृत्तितः।।१६।।

अनुवाद - इस प्रकार (उपयोगरहित) काया को कष्ट देना आदि के द्वारा अकाम निर्जरा होती है, परंतु उपयोगसहित की प्रवृत्ति से सकाम निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - जो कर्म आत्मा से संलग्न हैं, उनकी निर्जरा दो प्रकार से हो सकती है - १. अकाम निर्जरा तथा २. सकाम निर्जरा। अननुष्ठान में उपयोगरहित होकर जो क्रियाएँ की जाती हैं, तप, त्याग आदि किए जाते हैं, उनसे मात्र अकामनिर्जरा होती है। ये क्रियाएँ अज्ञानमूलक और लक्ष्य से रहित होती हैं, अतः इनसे अति अल्प निर्जरा होती है। जो धर्म क्रियाएँ प्रणिधानसहित ज्ञानपूर्वक की जाती हैं, उनमें सकाम निर्जरा होती है, अर्थात् अत्यधिक निर्जरा होती है। इन धार्मिक-क्रियाओं का मोक्षरूपी लक्ष्य स्पष्ट होता है, इसलिए कहा जाता है कि जितने कर्मों की निर्जरा अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों तक तप करके करता है, उससे कई गुना अधिक कर्म ज्ञानी श्वासोच्छ्वास में निर्जरित कर देता हैं। निर्जरा, अर्थात् कर्मों का खिर जाना, क्षय हो जाना, आत्मा से संलग्न कर्मों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाना। अन्य प्रकार से भी निर्जरा के दो भेद, सविपाक-निर्जरा और अविपाक- निर्जरा होते हैं। पूर्व में बांधे हुए कर्म काल के परिपक्व होने पर विपाकोदय द्वारा फल देकर अलग हो जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं, वह सविपाक-निर्जरा कहलाती है। गुप्ति-समिति के सम्यक् पालन, तपादि अनुष्ठानों द्वारा कर्मों को समय से पूर्व उदय में लाकर (उदीरणा के द्वारा) उन्हें निर्जरित कर

देना, आत्मा से पृथक् कर देना अविपाक-निर्जरा है। प्रस्तुत श्लोक में निर्जरा के जो दो भेद बताए हैं - अकाम-निर्जरा अर्थात् इच्छा बिना, लक्ष्य बिना और सकाम अर्थात् इच्छापूर्वक, ध्येयपूर्वक। आत्मशुद्धि के लिए भावपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक सम्यक्त्वसहित की गई क्रियाओं से जो कर्म की निर्जरा (सकाम-निर्जरा) होती है, वही मोक्ष-मार्ग में उपकारी है, सहायक है, इससे विपरीत मिथ्यात्वसहित, आत्मशुद्धि के लक्ष्य बिना या परिस्थितिवश जो भूख-प्यास आदि कायाक्लेश सहन किया जाता है, वह मोक्षमार्ग के लिए उपकारी नहीं है। अतः, अकाम-निर्जरा वाले ऐसे अननुष्ठान का भी त्याग करना चाहिए।

(२८१) सदनुष्ठानरागेण तद्धेतुमार्गगामिनाम्।
एतच्च चरमावर्तेऽनाभोगादेर्विना भवेत्।।१७।।

<u>अनुवाद</u> - मोक्षमार्गगामियों को सद्नुष्ठान के प्रति राग से तद्हेतु (अनुष्ठान) प्राप्त होता है। अनाभोगादि के बिना यह चरमावर्त्त में प्राप्त होता है।

<u>विशेषार्थ</u> - अनंतकाल से अनंत जीव चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। वे जीव दो प्रकार के होते हैं - भव्य तथा अभव्य। जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता होती है, उसे भव्यजीव कहते हैं। जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती हैं, उन्हें अभव्यजीव कहते हैं। भव्य जीवों को ही मोक्ष की अभिलाषा होती है। मोक्षमार्ग की अभिलाषा रखने वाले ऐसे मार्गानुसारी जीवों को चरमावर्त्त में तद्हेतु अनुष्ठान प्राप्त होता है। तद्हेतु, अर्थात् उस हेतु से, यानी मोक्ष के हेतु से किया जाने वाला अनुष्ठान तद्हेतु अनुष्ठान कहलाता है। इन अनुष्ठान को सम्पन्न करने वाले जीव अनाभोगादि से मुक्त होते हैं तथा चरमावर्त्त में आए हुए होते हैं। अनाभोग अर्थात् अनुपयोग, अनादर, विस्मृति, सहसाकार, आशंसा आदि। तद्हेतु अनुष्ठान इन दोषों से रहित होता है। भव्य जीव का संसार-परिभ्रमणकाल जब एक पुद्गलपरावर्त शेष रहता है, अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करने के लिए एक पुद्गलपरावर्तकाल शेष रहता है, तब वह जीव चरमावर्त्त में आया हुआ कहा जाता है।

पुद्गल परावर्तकाल किसे कहते हैं ? पुद्गल, अर्थात् अजीव तत्त्व। आत्मा चेतन तत्त्व है। जब तक मुक्ति नहीं प्राप्त होती, तब तक यह चेतन तत्त्व पुद्गल के साथ संलग्न रहता है। आत्मा कर्मवश जिस शरीर को धारण करती है, वह पुद्गल का बना हुआ है। पुद्गल के सूक्ष्म परमाणु प्रतिसमय देह से पृथक् होते रहते हैं और दूसरे अन्य परमाणु देह से संयुक्त होते रहते हैं। जीव की जब मृत्यु होती है, तब आत्मा पुराने देह को छोड़कर नवीन देह ग्रहण करती है। इस प्रकार पुद्गल का ग्रहण और त्याग, पुद्गल का आवर्त्त कहलाता है। जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल-परमाणु आठ प्रकार के होते हैं, जिन्हें वर्गणा कहते हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, कार्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन। इन आठ वर्गणा में से आहारक सिवाय, शेष सात वर्गणा के पुद्गलों का परावर्तन जीव अनेक बार करता है, परंतु आहारक-वर्गणा तो जीव को सम्पूर्ण भवचक्र में केवल चार बार ही प्राप्त हो सकती है। यह पुद्गल-परावर्त चार प्रकार का होता है -

१. द्रव्यपुद्गल-परावर्त २. क्षेत्रपुद्गल-परावर्त ३. कालपुद्गल-परावर्त ४. भावपुद्गल- परावर्त। ये चारों पुद्गल परावर्त दो-दो प्रकार के- १. बादर और २. सूक्ष्म होते हैं।

१. द्रव्यपुद्गल-परावर्तकाल :- चौदह राजलोकमय इस विश्व में पुद्गल-परमाणु सर्वत्र ठस-ठस कर भरे हुए हैं। इनमें से सातों वर्गणा के प्रत्येक पुद्गल-परमाणु को जीव ग्रहण कर और भोग कर रख दे, इसमें जितना समय लगता है, उतना काल बादरद्रव्यपुद्गल-परावर्त काल कहलाता है। वैक्रिय तैजस आदि सातों वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को अनुक्रम से भोगे, तब वह सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल-परावर्तकाल कहलाता है।

२. क्षेत्रपुद्गल-परावर्तकाल :- लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उन सब प्रदेशों को मृत्यु से स्पर्श करने में जितना समय लगता है, उस कालविशेष को बादरक्षेत्रपुद्गल- परावर्तकाल कहते है, अर्थात् एक-एक आकाश-प्रदेश में उस जीव की मृत्यु होती है और उसमें जो समय लगता है, वह बादरक्षेत्रपुद्गल परावर्तकाल है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश को मृत्यु से क्रमपूर्वक स्पर्श किया जाता है, अर्थात् जीव की एक आकाश-प्रदेश में मृत्यु हुई, फिर इसके बाद उसके पास के ही आकाश-प्रदेश में मृत्यु होती

है, फिर इसके पास के तीसरे आकाश-प्रदेश में मृत्यु होती है, मध्य के समय में क्रम छोड़कर अन्य प्रदेशों को चाहे कितनी ही बार मृत्यु से स्पर्श करे, उनकी गणना नहीं होती है, इस तरह एक के बाद एक क्रम से समस्त आकाश-प्रदेश को मृत्यु से स्पर्श करता है, तो वह सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गल परावर्तकाल कहलाता है।

३. **कालपुद्गल-परावर्तकाल** :- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय हैं, उन सबको एक जीव स्वयं की मृत्यु द्वारा स्पर्श करे, तब बादरकालपुद्गल परावर्तकाल कहलाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समयों को एक जीव अपनी मृत्यु द्वारा क्रम से ही स्पर्श करे, उसे सूक्ष्मकालपुद्गल परावर्तकाल कहते हैं, जैसे अवसर्पिणी के प्रथम समय में किसी जीव की मृत्यु हुई, उसके बाद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी व्यतीत हो गई, पुनः दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मृत्यु प्राप्त की हो, तो वह दूसरे समय का मृत्यु द्वारा स्पर्श गिना जाएगा।

४. **भावपुद्गल-परावर्तकाल** :- लोकाकाश के प्रदेश के समान कषायों के असंख्य अनुबंधस्थानों को एक जीव मृत्यु द्वारा स्पर्श करे, उसमें जितना समय लगता है, वह बादर भावपुद्गल-परावर्तकाल कहलाता है तथा क्रमशः सब अनुभाग-बंध के अध्यवसाय स्थानों को जितने समय में मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाता है, उस कालविशेष को सूक्ष्मभाव पुद्गल-परावर्त कहते हैं। इस प्रकार जीव अनंतपुद्गल-परावर्तकाल व्यतीत करते हुए जब अंतिम पुद्गलपरावर्त में, अर्थात् चरमावर्त्त में आता है, तब जीव की ओघदृष्टि नष्ट होकर योगदृष्टि का प्रारंभ होता है और फिर उसे तद्हेतु-अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यही है कि चरमावर्त्त के सिवाय जीव को तद्हेतु-अनुष्ठान की प्राप्ति नहीं होती है।

(२८२) **धर्मयौवनकालोऽयं भवबालदशाऽपरा।**
अत्रस्यात् सत्क्रियारागोऽन्यत्र चासत्क्रियादरः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> यह धर्म का यौवनकाल है। उसके पहले भव की बालदशा (अज्ञानदशा) होती है। यहाँ सत्क्रिया का राग होता है तथा अन्यत्र (चरमावर्त्तकाल के पूर्व) असत् क्रिया का आदर होता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि चरमावर्त्तकाल ही धर्म का यौवनकाल है। जैसे यौवनावस्था में कितनी स्फूर्ति, उत्साह, पुरुषार्थ करने की क्षमता, ध्येय की स्पष्टता, बुद्धि आदि होती है, उसी प्रकार जीव जब चरमावर्त्तकाल में आता है, तब ही उसमें धार्मिक-अनुष्ठानों के प्रति उत्साह, पुरुषार्थ करने की भावना, लक्ष्य की स्पष्टता आदि रहती है। चरमावर्त्त के पूर्व जीव की बाल्यावस्था या अज्ञानदशा कहलाती है, क्योंकि चरमावर्त्त में नहीं आया हुआ जीव संसार का रसिक होता है। उसे पौद्‌गलिक-सुख ही साररूप लगते हैं। खाओ, पीओ और मौज करो-यही उसका सिद्धान्त होता है। ऐसे जीवों को पुनर्जन्मादि में श्रद्धा नहीं होती है। कदाचित् बुद्धि से स्वीकार भी लें, तो अंतर में प्रतीति नहीं भी होती है। उसकी तमाम प्रवृत्ति वर्तमान जीवन को सुखी बनाने में पुत्र, परिवार, धन आदि को प्राप्त करने में ही होती है। वह धार्मिक-अनुष्ठान करता भी है, तो उपयोगशून्य होकर या मात्र ऐहिक-पारलौकिक-सुख की इच्छा से करता है। धर्म के इस बाल्यकाल में असत् क्रियाओं के प्रति रुचि, आदर-बहुमान रहता है, सत्क्रिया तो उसे व्यर्थ, अर्थहीन लगती है, जबकि धर्म के यौवनकाल में सत्क्रिया के प्रति राग रहता है। भौतिक-सुख हेय हैं और आत्मिक-सुख ही उपादेय है, आदि का उसे विवेक रहता है। धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में उसका प्रमुख लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति का रहता है। इस प्रकार धर्म के यौवनकाल और बाल्यकाल में अन्तर है।

(२८३) भोगरागाद्यथा यूनो बालक्रीड़ाऽखिला ह्रिये।
धर्मयूनस्तथा धर्मरागेणासत्क्रिया ह्रिये।।१६।।

अनुवाद - जैसे युवा पुरुष को भोग के राग के कारण स्वयं की (पूर्व की) सभी बालक्रीड़ा लज्जाकारक (हास्यास्पद) लगती हैं, उसी प्रकार धर्म के यौवनकाल में आए हुए जीव को धर्म के प्रति राग के कारण असत्-क्रिया लज्जाकारक लगती है।

विशेषार्थ - बाल्यावस्था में व्यक्ति कई प्रकार की बालक्रीड़ाएँ करता है। धूल में लोटना, रेत के घर बनाना, खिलौनों से खेलना आदि। बचपन में उसे खिलौने प्रिय होते हैं, किन्तु यौवनावस्था प्राप्त होने पर कंचन-कामिनी के प्रति राग उत्पन्न हो जाता है और खिलौनों के प्रति राग छूट जाता है।

बड़े होने के बाद बचपन के समान खेलादि खेलने में, बचपन की हरकतें करने में उसे शर्म महसूस होती है। युवावस्था में यदि वह बालकों के समान क्रीड़ा करे, तो उसकी गणना मूर्ख में होती है, उसी प्रकार चरमावर्त्तकाल में आने के बाद धर्म का यौवनकाल रहता है, उसे सत्क्रियाओं के प्रति राग होता है, इसलिए पूर्व में अज्ञानतावश जो असत्क्रियाएँ कीं, उन क्रियाओं को करते हुए अब शर्म महसूस होती है। सदनुष्ठान के प्राप्त होने पर असदनुष्ठान अपने-आप छूट जाता है, फिर असदनुष्ठान के प्रति रुचि, आदर, बहुमान आदि उत्पन्न नहीं होते हैं।

(२८४) चतुर्थं चरमावर्ते तस्माद्धर्मानुरागतः।
अनुष्ठानं विनिर्दिष्टं बीजादिक्रमसंगतम्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए चरमावर्त्त में धर्म के प्रति अनुराग के कारण बीज आदि क्रम से युक्त चतुर्थ (तद्हेतु) अनुष्ठान होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव जब चरमावर्त्त में आता है, तब उसे धर्म के प्रति, सत्-क्रियाओं के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। चौथा तद्हेतु-अनुष्ठान सत्क्रियाओं के प्रति अनुराग वाला ही होता है, इसलिए तद्हेतु अनुष्ठान चरमावर्त्त में ही संभव हो सकता है। इस अनुष्ठान के जो लक्षण हैं, उसे वृक्ष की उपमा द्वारा समझाया गया है। वृक्ष में जैसे बीज, अंकुर, स्कंध, पत्ते, पुष्प, फल इसके क्रमिक अंग हैं, उसी प्रकार तद्हेतु-अनुष्ठान के लक्षणों को भी पश्चात् के श्लोकों में बताया गया है।

(२८५) बीजं चेह जनान् दृष्ट्वा शुद्धानुष्ठानकारिणः।
बहुमानप्रशंसाभ्यां चिकीर्षा शुद्धगोचरा।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> शुद्ध अनुष्ठान करने वाले लोगों को देखकर उनका बहुमान और प्रशंसा करते हुए (स्वयं को भी) शुद्ध क्रिया करने की इच्छा होती है, वह यहाँ बीज है।

<u>विशेषार्थ -</u> सामान्यतया व्यक्ति उसी की प्रशंसा करता है, जिसमें उसकी रुचि होती है तथा उसकी महत्ता उसके हृदय में अंकित होती है। चरमावर्त्तकाल में आने के पश्चात् व्यक्ति के हृदय में सत्क्रिया का महत्त्व अंकित होने लगता है और जो व्यक्ति शुद्ध, मोक्षलक्षी क्रिया करते हैं, उनके

प्रति उसमें आदर व बहुमान उत्पन्न होता है। पुनः, उनके प्रति प्रीति होने पर वह उनकी सम्यक् रूप से प्रशंसा भी करता है। शुद्ध क्रियाकारक के प्रति बहुमान तथा आदर के कारण उसके मन में भी ऐसे शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं कि मैं भी कब ऐसी शुद्ध क्रिया का धारक बनूँ। ऐसे शुभ परिणामों का उत्पन्न होना ही तद्हेतु अनुष्ठान करने वाले जीव का बीजरूप प्रथम लक्षण है। क्योंकि जब तक विचार शुभ नहीं होंगे, तब तक आचरण भी सम्यक् नहीं होगा। शुभविचाररूप बीज से ही तद्हेतु अनुष्ठान के अन्य अवयवों का विकास होता है।

(२८६) तस्या एवानुबंधश्चाकलंकः कीर्त्यतेऽङ्कुरः।
तद्धेत्वन्वेषणा चित्रा स्कंधकल्पा च वर्णिता।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> उसके अकलंक अनुबंध (निर्मल संकल्प) को अंकुर कहा गया है। इसके लिए (शुद्ध क्रिया के लिए) विविध प्रकार का अन्वेषण करना, उसे स्कंधरूप में वर्णित किया गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> जब जीव को स्वयं ही यह इच्छा उत्पन्न होती है कि वह भी कब ऐसी शुद्ध क्रिया का धारक बने? इतनी इच्छा करके वह इसे छोड़ नहीं देता है, बल्कि बार-बार उसका स्मरण कर आनंदित होता है। शुद्ध क्रिया को स्वीकार करने के लिए उसका मन लालायित होता है। उसके निर्मल भावों के कारण उसका अनुबंध होता है वह अंकुर रूप में है। शुद्ध धर्म क्रिया के लिए हृदयरूपी भूमि में रुचिरूप बीज बोने के पश्चात् उसके ऊपर अनुभावनरूप, चिंतनरूप जल का बारंबार सिंचन करने पर बीज में से अंकुर निकलते हैं। उसके बाद यह शुद्ध क्रिया किस प्रकार हो सकती है, इसका चिंतन मनन करना, उसकी विविध प्रकार से सूक्ष्म गवेषणा करना ही तद्हेतु वृक्ष के स्कंधरूप है। जब कोई वस्तु पसंद आ जाती है, तो उसे ग्रहण करने का भाव उत्पन्न होता है। फिर उसके लिए चिंतन किया जाता है कि उसे किस विधि से, किस प्रकार, किसकी शरण में जाकर प्राप्त किया जाए ? यही स्कंधरूप है।

**(२८७) प्रवृत्तिस्तेषु चित्रा च पत्रादिसदृशी मता।
पुष्पं च गुरुयोगादिहेतुसंपत्तिलक्षणम्।।२३।।**

<u>अनुवाद -</u> पुनः, उसमें विविध प्रकार की प्रवृत्ति पत्ते आदि के समान मानी गई है तथा गुरु का योग आदि के हेतुरूप संपत्ति को पुष्परूप कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> तद्हेतु अनुष्ठानरूपी वृक्ष जब विकास को प्राप्त होता है, तब उसमें पत्ते और पुष्प भी आते हैं। इस अनुष्ठान के अन्तर्गत जो-जो सत्क्रियाएँ की जाती हैं, वे विविध प्रकार की क्रियाएँ पत्ते के समान मानी गई हैं। तदुपरांत सद्गुरु का समागम, उनसे प्राप्त होने वाला बोध तथा उनके मार्गदर्शन में शास्त्राभ्यासादि इस वृक्ष के पुष्प के समान हैं। चूंकि सम्यक्चारित्र के लिए सम्यग्ज्ञान का होना आवश्यक है, इसलिए दशवैकालिक-सूत्र में भी कहा गया है कि 'पढमं नाणं तओ दया', पहले ज्ञान, फिर चारित्र, इसलिए शास्त्राभ्यासादि को पुष्परूप कहा गया है। सम्यग्ज्ञान से ही जीवन खिलता है।

**(२८८) भावधर्मस्य संपत्तिर्या च सद्देशनादिना।
फलं तदत्र विज्ञेयं नियमान्मोक्षसाधकम्।।२४।।**

<u>अनुवाद -</u> यहाँ सद्देशना आदि से जो भावधर्म की संपत्ति प्राप्त होती है, उसको फलरूप समझना चाहिए। यह (संपत्ति) नियम से मोक्ष को साधने वाली होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> सद्गुरु का योग होने के बाद उनके पास से सद्देशना सुनने को मिलती है। सद्देशना का अत्यधिक महत्व है। देशना सुनने से ही कल्याण के मार्ग की जानकारी प्राप्त होती है और पाप के मार्ग की भी जानकारी मिलती है। दोनों मार्ग की जानकारी होने पर हमारी आत्मा के लिए कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है ? क्या हेय है ? क्या उपादेय है ? आदि का ज्ञान होता है और मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म का क्षयोपशम होता है। इससे सम्यक्त्वरूपी शुद्ध भावधर्म की प्राप्ति होती है। यही तद्हेतु अनुष्ठान का फल है। यह फल नियम से मोक्ष को प्रदान करने वाला होता है। जिसको

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, उसका अधिक-से-अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल संसार शेष रहता है।

(२८९) सहजो भावधर्मो हि शुद्धश्चंदनगंधवत्।
एतद्गर्भमनुष्ठानममृतं संप्रचक्षते।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> सहज भावधर्म - यह शुद्ध चंदन की सुगंध जैसा है। इसके सहित जो अनुष्ठान है, वह अमृतानुष्ठान कहलाता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व और शुद्ध भावधर्मसहित जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अमृतानुष्ठान कहलाता है। प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध भावधर्म को चंदन की सुगंध की उपमा दी गई है। चंदन की सुगंध दूर-दूर तक फैली हुई रहती है। चाहे चन्दन का वृक्ष अभी दृष्टि में भी नहीं आया हो, किन्तु सुगंध से ही पता चल जाता है कि आस-पास कहीं चन्दन का वृक्ष होना चाहिए। चन्दन की सुगंध कभी-भी उससे अलग नहीं होती है। चाहे चंदन को घीसा जाए, छीला जाए या जलाया जाए, तब भी उसमें से सुगंध ही आती है। ठीक उसी प्रकार सम्यक्त्वयुक्त भावधर्मसहित जो क्रिया की जाती है, वह चंदनगंध की तरह व्यक्ति में रमी हुई रहती है। उस क्रिया का आनंद उसे हमेशा रहता है। चाहे वह उस समय अनुष्ठान नहीं भी कर रहा हो, तब भी उसका आनंद, और अनुष्ठान के प्रति अहोभाव बना हुआ रहता है। अमृतानुष्ठान करने वाला अनेक गुणों से सम्पन्न होता है, अतः उसके सम्पर्क में जो भी आता है, वह उसके गुणों की सौरभ प्राप्त करके ही जाता है। अमृतानुष्ठान सर्वश्रेष्ठ है, यह जीव को ज्ञानस्वरूप शुद्धोपयोग की ओर ले जाता है। यह अवश्य मोक्ष को प्रदान कराने वाला होता है।

(२९०) जैनीमाज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं चित्तशुद्धितः।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं तद्विदो विदुः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> जिनेश्वर की आज्ञा को आगे रखकर, अर्थात् जिनाज्ञानुसार चित्त की शुद्धिपूर्वक जिसमें प्रवृत्त हुआ हो तथा जिसमें अत्यंत संवेग (मोक्ष के प्रति तीव्र राग) रहा हुआ हो, उसे विद्वान् अमृतानुष्ठान कहते हैं।

विशेषार्थ - पाँचों प्रकार के अनुष्ठानों में सर्वश्रेष्ठ अनुष्ठान अमृतानुष्ठान है। यह जीव को त्वरित गति से मोक्ष की ओर ले जाने वाला है। अमृतानुष्ठान के अनेक महत्वपूर्ण लक्षण हैं, उनमें से प्रस्तुत श्लोक में तीन लक्षण बताए गए हैं -

१. अमृतानुष्ठान में कोई भी क्रिया जिनेश्वर की आज्ञा को दृष्टिगत रखकर ही सम्पन्न की जाती है। श्री वीतरागस्तोत्र में कहा गया है- 'आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च', परमात्मा की आज्ञा की आराधना करना मोक्ष का हेतु है और विराधना करना संसार का हेतु है। अतः, अमृतानुष्ठानकर्त्ता की जिनेश्वर भगवान् के प्रति ,उनकी वाणी के प्रति अप्रतिम, अचल श्रद्धा होना चाहिए। जब भी निगोद का स्वरूप, भव्य-अभव्य, जीवादि षड्द्रव्य, नवतत्त्व, आठ कर्म, मोक्ष, आत्मा आदि के विषय में कुछ भी संशय हो, तो वह परमात्मा की आज्ञा को ही समक्ष रखकर उसे पूर्ण श्रद्धा से स्वीकार करता है। अमृतानुष्ठानकर्त्ता परमात्मा की आज्ञा के अनुसार ही आचरण करता है।

२. अमृतानुष्ठान में चित्त की शुद्धि एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। जब तक विविध प्रकार की लालसाए ऐहलौकिक, पारलौकिक सुख की आकांक्षाएं, कामनाएं जीवित हैं, तब तक चित्त की शुद्धि भी संभव नहीं है। जब तक जीवन में ज्ञानगर्भित वैराग्य नहीं आता है और पौद्गलिक-सुखों के प्रति तीव्र आसक्ति कम नहीं होती है, तब तक निस्पृह होना, आकांक्षा से रहित होना संभव नहीं होता है। राग-द्वेष, विषय-कषाय की प्रवृत्तियों में कमी होने पर ही चित्त की निर्मलता आती है और तब ही यह अमृतानुष्ठान संपादित होता है।

३. तीसरा लक्षण है तीव्र संवेग से युक्त ,अर्थात् अमृतानुष्ठानकर्त्ता का मुख्य लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना ही होता है। उसे मोक्ष के प्रति तीव्र राग होता है। संवेग, अर्थात् मोक्ष की ओर सम्यक् प्रकार से गति, स्वरूप प्राप्ति के लिए सम्यक् प्रकार से किया जाने वाला पुरुषार्थ और उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र अभिलाषा ही संवेग है। संवेग के बिना लक्ष्य की प्राप्ति भी संभव नहीं है, अतः अमृतानुष्ठानकर्त्ता में तीव्र संवेग-भाव रहता है।

(२६१) शास्त्रार्थ लोचनं सम्यक् प्रणिधानं च कर्मणि।
कालाद्यंगाविपर्यासोऽमृतानुष्ठानलक्षणम्।।२७।।

अनुवाद - शास्त्रों के अर्थ का अच्छी तरह चिंतन, क्रिया में मन-वचन-काया की एकाग्रता (प्रणिधान), कालादि अंगों का अविपर्याय (समयानुसार)-ये अमृतानुष्ठान के लक्षण है।

विशेषार्थ - पुनः, अमृतानुष्ठान के तीन अन्य लक्षण बताए गए हैं -

१. अमृतानुष्ठानकर्त्ता शास्त्रों के अर्थ का, उसके रहस्य का अच्छी तरह चिंतन मनन करता है। शास्त्रों में धर्म-क्रिया के विविध अंगों की विविध अपेक्षाओं से चिंतन किया गया है। उनका गहरा अभ्यास और गंभीर चिंतनपूर्वक ही उसके यथार्थ स्वरूप को समझा जा सकता है, जैसे-शास्त्रों में किसी भी प्राणी की हिंसा का निषेध किया गया है और मंदिर आदि का निर्माण, परमात्मा की पूजा करने आदि का विधान किया गया है। सामान्य बुद्धि से विचार किया जाए, तो दोनों क्रिया में विपरीतता दिखाई देती है, क्योंकि मंदिर या अन्य निर्माण में हिंसा से नहीं बचा जा सकता है। अल्पपाप बहुनिर्जरा का सिद्धान्त यहाँ लागू होता है। शास्त्रकार के आशय को अगर ठीक से नहीं समझा हो, तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है, अनजाने में उत्सूत्रप्ररूपणा की भी संभावना रहती है। अतः, जिस जीव ने शास्त्रार्थ की, उसके मर्म की, उसके सूक्ष्म रहस्य की गवेषणा की हो, उसका अनुष्ठान अमृतानुष्ठान बन सकता है।

२. धर्म-क्रिया में प्रणिधान, अर्थात् मन-वचन और काया की एकाग्रता भी अमृतानुष्ठान का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। कई बार शुभभाव होते हुए भी क्रिया के प्रति रुचि, उत्साह आदि का अभाव होता है। इस कारण धार्मिक अनुष्ठान करते हुए चित्त की एकाग्रता नहीं रहती है। अतीत का पश्चाताप, अनागतकाल की आकांक्षाएँ व्यक्ति के मन को वर्तमान से विचलित करती हैं। अतः, मन की एकाग्रता नहीं आने पर काया से क्रिया करते हुए भी आनंद की अनुभूति नहीं होगी। अमृतानुष्ठानकर्त्ता के मन में प्रत्येक धर्म-क्रिया के प्रति उत्साह होता है, स्वस्थता होती है और अप्रमत्तता, जागरूकता होती है। अतः, उनसे अनुष्ठान के दौरान एकाग्रता बनी रहती है।

३. कालादि अंगों का अविपर्यास, अर्थात् आवश्यकादि धर्म-क्रियाएँ जिस समय में करने के लिए कहा है, उसी समय में उन्हें सम्पन्न करना। अमृतानुष्ठान का यह भी महत्त्वपूर्ण लक्षण है। निश्चित समय पर सम्पन्न करते हुए क्रियाओं में भी अनादर, अविनय, अकारण शीघ्रता करना आदि नहीं होना चाहिए। अमृतानुष्ठानकर्त्ता आवश्यकादि धार्मिक- क्रियाओं के उपरांत भी रात-दिन के प्रत्येक कार्य में उसका उपयोग करता है। समयानुसार क्रिया को सम्पन्न करने पर उसमें उत्साहादि बना करता है।

(२६२) द्वयं हि सदनुष्ठानं त्रयमत्रासदेव च।
तत्रापि चरमं श्रेष्ठं मोहोग्रविषनाशनात्।।२८।।

अनुवाद - इसमें दो अनुष्ठान सत् हैं और तीन असत्। उसमें भी अन्तिम, मोह के उग्र विष का नाश करने वाला होने से श्रेष्ठ है।

विशेषार्थ - इस प्रकार कुल पाँच प्रकार के अनुष्ठान बताए गए हैं। उनमें से आद्य के तीन अनुष्ठान असत्-अनुष्ठान हैं, अर्थात् आदर योग्य नहीं हैं, हेय हैं, आत्मविकास में उनकी उपयोगिता नहीं हैं। विषानुष्ठान, गरलानुष्ठान और अननुष्ठान-तीनों ही अनुष्ठानों में आत्मिक-सुख प्राप्त करने का, मोक्ष प्राप्त करने का लक्ष्य नहीं रहता है। इन अनुष्ठानों से आत्मिक-शुद्धि नहीं होती है। अतः, ऐहलौकिक, पारलौकिक आकांक्षा से की गई या उपयोगशून्य क्रियाएँ अध्यात्म मार्ग में विकास करने के इच्छुक के लिए व्यर्थ हैं।

अन्तिम के दो अनुष्ठान, तद्हेतु-अनुष्ठान और अमृतानुष्ठान सत्-अनुष्ठान हैं। ये उपादेय (आदर योग्य) हैं और आध्यात्मिक विकास मार्ग में अत्यंत ही उपयोगी हैं। दोनों सदनुष्ठानों में भी अमृतानुष्ठान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मोहनीय कर्म के नाश का उसमें सामर्थ्य है। विष और अमृत दोनों को मिश्र करने पर अमृत विष में परिवर्तित नहीं होता है बल्कि विष अमृत बन जाता है, इसलिए इस अनुष्ठान का नाम अमृतानुष्ठान है। चूंकि मोहनीय-कर्म विष के समान ही आत्मा के लिए घातक है और सदनुष्ठानों द्वारा मोहनीय कर्म का जहर उतर जाता है, लालसाएँ समाप्त हो जाती हैं और राग-द्वेष अल्प हो जाता है, इसलिए साधकों को असदनुष्ठानों का त्याग करके सदनुष्ठान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(२६३) आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः संपदागमः।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम्।।२६।।

अनुवाद - आदर, क्रिया करने में प्रीति, अविघ्न, संपदा का आगमन, जिज्ञासा और ज्ञानी की सेवा-ये सद्नुष्ठान के लक्षण हैं।

विशेषार्थ - उपाध्याय यशोविजयजी ने तद्हेतु अनुष्ठान और अमृतानुष्ठान-दोनों को सदनुष्ठान की श्रेणी में रखकर सदनुष्ठान के छः लक्षण बताए हैं -

१. आदर - जैसे चिंतामणि रत्न को जब तक पत्थर समझा जाए, तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होगी, उसे पैर की ठोकर में या कौए को उड़ाने के लिए ही फेंक दिया जाएगा, क्योंकि उसके मूल्य का ज्ञान नहीं है, लेकिन किसी के द्वारा जब उसका मूल्य पता चल जाता है, जब इस बात का ज्ञान हो जाता है कि यह बहुमूल्यवान् और दुर्लभ रत्न है, तब उसके प्रति आदर उत्पन्न होता है, उसे सुरक्षित रखने का भाव आता है ठीक उसी प्रकार जब सद्गुरु के माध्यम से सदनुष्ठानों का मूल्य समझ में आता है, जब इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के लिए सद्नुष्ठान आवश्यक और मूल्यवान् सामग्री है, तब उन क्रियाओं के प्रति आदरभाव जाग्रत होता है। अतः, मोक्षमार्ग के अभिलाषी को स्वयं जो कुछ अनुष्ठान करना हो, तो उसके प्रति आदर और बहुमान् अत्यंत आवश्यक है, तब ही वह सदनुष्ठान के अन्तर्गत आता है।

२. क्रिया में प्रीति - साधक को क्रिया करने में रुचि होना चाहिए। यह बात अवश्य है कि क्रिया की अपेक्षा भावों की महत्ता अधिक है, किन्तु क्रिया भी सर्वथा हेय नहीं है। क्रिया की उपादेयता साधक को समझना चाहिए। शास्त्रों में ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः अर्थात् ज्ञान और क्रिया-दोनों को ही मोक्ष का हेतु कहा गया है। अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार, अर्थात् श्रावक और साधु के लिए जो-जो आवश्यक क्रियाएँ बताई गईं हैं उन क्रियाओं को रुचिपूर्वक अवश्य करना चाहिए। इन क्रियाओं को बेगार की तरह नहीं करना चाहिए, चित्त के उपयोगपूर्वक, भावसहित रुचिपूर्वक करना चाहिए। भावयुक्त क्रिया के महत्त्व को मोक्षमार्ग में भी स्वीकारा गया है। ज्ञान ही क्रिया है-यह बात तो अत्यंत उच्च्व भूमिका वाले साधक, अर्थात् सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले

साधक के लिए उपयुक्त हो सकती है। वहाँ असंगानुष्ठान के रूप में क्रिया रही हुई हैं।

३. **अविघ्न** - सामान्यतया उच्च श्रेणी के साधक के जीवन में धर्म क्रिया करते समय पूर्व जन्म के शुभ कर्मोदय से कोई विघ्न नहीं आता है, परंतु कोई निकाचित कर्म के उदय से विघ्न आता भी है, तो उसके प्रति साक्षीभाव, उदासीनता या अनासक्त रहने का सामर्थ्य अमृतानुष्ठानकर्त्ता में होता है।

४. **संपदा का आगमन** -साधक को भौतिक-संपत्ति में रुचि नहीं होती है, परंतु आत्म-साधना के लिए प्राप्त हुई अनुकूलता भी एक अपेक्षा से संपत्तिरूप ही है। अमृतानुष्ठानकर्त्ता को प्रायः आत्मविकास हेतु अनुकूलताएँ, सद्गुरु का समागम आदि सहज ही प्राप्त होता है।

५. **जिज्ञासा** - तत्त्व की जिज्ञासा साधक को हमेशा रहती है। मैं कौन हूँ ? मेरा, अर्थात् आत्मा का स्वरूप कैसा है ? संसार का स्वरूप कैसा है ? छः द्रव्य किस प्रकार कार्य करते हैं ? आत्मा से कर्म का सम्बन्ध किस प्रकार होता है ? इस संबंध के विच्छेद के उपाय कौन-कौन से हैं ? मोक्ष का स्वरूप क्या है ? आत्मसाक्षात्कार किस प्रकार होता है ? नव तत्त्वों का स्वरूप क्या है ? कर्मों का फल जीव को किस-किस प्रकार मिलता है ? ऐसी अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ मन में होती हैं। इनका यथार्थ उत्तर मिलने पर उसे अपार आनंद होता है।

६. **ज्ञानी की सेवा** - ज्ञानी वह है, जिसे शास्त्रज्ञान यथार्थ रूप में प्राप्त हुआ है। अनुभव-दशा से युक्त ज्ञानियों के समीप रहने से, उनकी सेवा करने से, उनका आशीर्वाद प्राप्त करने से साधक का कल्याण होता है। चूंकि प्रत्येक बात शास्त्र में नहीं होती है, कितने ही रहस्य गुरुगम से प्राप्त होते हैं, अतः गुरु के प्रति बहुमान, सेवा आदि से हृदय को प्रसन्न करने पर वे उल्लासपूर्वक अपने ज्ञान का खजाना साधक को प्रदान करते हैं, अतः ज्ञानियों की सेवा अमृतानुष्ठानकर्त्ता का लक्षण कहा गया है।

(२६४) भेदैर्भिन्नं भवेदिच्छाप्रवृत्तिस्थिर सिद्धिभिः।
चतुर्विधमिदं मोक्षयोजनाद्योगसंज्ञितम्।।३०।।

अनुवाद - (सदनुष्ठान) इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि चार प्रकार के भेद से युक्त तथा मोक्ष के साथ योजित होने से 'योग' नाम से जाना जाता है।

विशेषार्थ - सदनुष्ठान मोक्ष के साथ योग कराने वाला होने से 'योग' के नाम से पहचाना जाता है। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है-जोड़ना। इन अनुष्ठानों द्वारा जीव का मोक्ष के साथ जुड़ाव (योग) होता है। योगस्वरूप इन अनुष्ठानों के चार प्रकार होते हैं -

१. इच्छायोग २. प्रवृत्तियोग ३. स्थिरतायोग ४. सिद्धियोग।

योगविंशिका ग्रंथ में आचार्य हरिभद्रसूरीश्वरजी ने कहा है -

मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वे वि धम्मवावारो।

मोक्ष के साथ जोड़ने वाला होने के कारण समस्त धर्मव्यापार योग है। मोक्ष के कारणभूत जीव का पुरुषार्थ, यानी योग। इच्छादि चारों प्रकार के योग के प्रत्येक के स्थान, वर्ण, अर्थ, आलंबन और एकाग्रता - ऐसे प्रकार पाँच प्रकार होते हैं, जैसे-स्थान- इच्छायोग, वर्ण-इच्छायोग, अर्थ-इच्छायोग, आलंबन इच्छायोग और एकाग्रता इच्छायोग। ऐसे ही प्रवृत्ति आदि के भी पाँच-पाँच भेद होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बीस प्रकार के भेद होते हैं। स्थानादि पाँच भेद में से दो क्रियायोग हैं और तीन ज्ञानयोग। कायोत्सर्ग, पद्मासन, सकल शास्त्र प्रसिद्ध आसन तथा विभिन्न मुद्राएँ स्थान-योग हैं। धार्मिक-क्रिया में प्रयुक्त शब्द वर्णयोग है। सामायिक आदि सूत्रों का उच्चारण शुद्ध तथा साथ ही संपदाओं का, अल्पविराम, अर्द्धविराम, पूर्णविराम का ध्यान रखना आवश्यक है, तब ही वह क्रियायोग के अन्तर्गत आएगा। सूत्रों के अर्थ का बोध होना अर्थ-योग है। प्रतिमादि विषयक ध्यान आलंबन-योग है और रूपी द्रव्य के आलंबन से रहित निर्विकल्प समाधि एकाग्रता-योग है।

आसन आदि के माध्यम से शारीरिक स्थिरता और आलम्बन आदि से मानसिक-स्थिरता प्राप्त होती है, अतः कोई भी अनुष्ठान तब ही

सदनुष्ठान बनता है, जब उससे स्थान, वर्ण आदि योगों को ध्यान में रखकर सम्पन्न किया जाए और तब ही वह मोक्ष का योजक भी होता है। शास्त्राज्ञानुसार अनुष्ठान करने पर ही वास्तविक आनंद की प्राप्ति होती है।

(२६५) इच्छा तद्वत्कथा प्रीतियुक्ताऽविपरिणामिनी।
प्रवृत्तिः पालनं सम्यक् सर्वत्रोपशमान्वितम्।।३१।।

अनुवाद - योग की कथा में प्रीति होना और विपरिणामरहित होना, इच्छायोग है। सर्वत्र उपशमयुक्त सम्यक् पालन प्रवृत्तियोग है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में से दो योग इच्छायोग तथा प्रवृत्तियोग-इन दो की व्याख्या बताई गई है। इच्छायोग का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि साधक को योग और योगी की कथा बहुत प्रिय लगती है। उसे गुरुजन के उपदेश सुनते हुए, धर्मकथा को सुनते हुए अत्यंत आनंद प्राप्त होता है। धर्मकथा को सुनकर उसे विपरीतभाव नहीं होते हैं। निर्जन, उजाड़ श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान में निमग्न अवंती सुकुमालमुनि की कहानी हो या कृष्णवासुदेव के भ्राता गजसुकुमालमुनि के समत्व की कथा या खंधकमुनि, झांझरियामुनि, मेतारजमुनि के उच्चकोटि के समत्व की वार्त्ता हो, सब कुछ भूलकर वह उसे सुनने में निमग्न हो जाएगा, वह खाना-पीना तक भूल जाएगा। ऐसा मनुष्य इच्छायोगी होता है। इच्छायोगी को स्त्री-कथा, देशकथा, भक्तकथा, राजकथा आदि विकथाएँ नीरस लगती हैं। प्रारंभ में जब साधक की अभ्यास-दशा हो, तब हो सकता है कि वह कही हुई बात को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर सके, परंतु उसे उपदेश और उपदेशक के प्रति आदर और बहुमान अवश्य होता है।

जिसे जो पसन्द होता है, उसे प्राप्त करने या उसके जैसा बनने के लिए प्रायः वह प्रयत्नशील रहता है और इच्छायोगी ऐसे प्रत्येक शुभ उपाय का पालन करने में सदैव तत्पर रहता हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से उपशमयुक्त रहते हुए शास्त्रविधि के अनुसार व्रतों का, अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का उल्लासपूर्वक पालन करना प्रवृत्तियोग है। इच्छायोग जानने के अन्तर्गत और प्रवृत्तियोग आचरण के अन्तर्गत आता है।

(२९६) **सत्क्षयोपशमोत्कर्षादतिचारादिचिन्तया।**
रहितं तु स्थिरं सिद्धिः परेषामर्थसाधकम्।।३२।।

अनुवाद - सत् क्षयोपशम के उत्कर्ष से अतिचार आदि की चिंता से रहित होना स्थिरतायोग है। दूसरों के अर्थ को साध्य कराना सिद्धियोग है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में स्थिरतायोग और सिद्धियोग के लक्षण बताए गए है। जब तक प्रवृत्तियोग है, तब तक अतिचार की चिंता रहती है, क्योंकि अतिचार लगने की संभावना रहती है, परंतु जैसे-जैसे क्षयोपशम बढ़ता जाता है और उत्कर्ष होता है, वैसे-वैसे अतिचार की चिंता घटती जाती है। चूंकि जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे स्थिरता बढ़ती जाती है, इसलिए भूल की संभावना नहीं रहती है। उदय में आए हुए मोहनीयादि कर्मों को भोगकर उसका क्षय करना तथा सत्ता में रहे हुए कर्मों का उपशम द्वारा निरोध करना, वह क्षयोपशम है।

योग में अच्छी तरह स्थिर होने के बाद साधक अपने अंतर में रहे हुए उपशम आदि भावों के द्वारा अपने सान्निध्य में आने वाले के लिए भी प्रेरक बनता है। चूंकि उपदेश की अपेक्षा आचरण से व्यक्ति अधिक प्रभावित होता है, अतः स्थिरयोगी के प्रभाव से वह उसी प्रकार निरतिचार धर्मक्रिया करने के लिए सहज ही प्रेरित होता है, इसे सिद्धियोग कहते हैं। इन चारों योगों में क्षयोपशम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

(२९७) **भेदा इमे विचित्राः स्युः क्षयोपशमभेदतः।**
श्रद्धाप्रीत्यादियोगेन भव्यानां मार्गगामिनाम्।।३३।।

अनुवाद :- श्रद्धा, प्रीति आदि के योग से मार्गानुसारी भव्य जीवों को ये भेद क्षयोपशम के भेद से विचित्र (असंख्य) प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ :- इच्छादि योग के असंख्य भेद हैं, क्योंकि मार्गानुसारी को श्रद्धा, प्रीति, धारणा, धृति आदि भावों में अत्यन्त तरतमता होती है। भावों में अन्तर होने के कारण फल में भी अन्तर आ जाता है। जैसे किसी की श्रद्धा मंद होती है, किसी की मध्यम और किसी की श्रद्धा सुलसा श्राविका जैसी दृढ़ होती है, उसी प्रकार क्षयोपशम भी एक जैसा नहीं होता है। किसी का क्षयोपशम मंद होता है, किसी का मध्यम तो किसी का तीव्र होता है,

उसी प्रकार प्रीति और धृति में भी भेदप्रभेद होते हैं। किसी की धर्मकथा, परमात्मा, सद्गुरु आदि के प्रति अगाध प्रीति है, तो किसी का सामान्य लगाव हैं। अतः, श्रद्धा आदि के असंख्य प्रकार के भेद हैं, इसलिए असंख्य प्रकार के क्षयोपशम हैं, इसलिए उसी के आधार पर असंख्य प्रकार के इच्छादि योग होते हैं।

(२६८) अनुकंपा च निर्वेदः संवेगः प्रशमस्तथा।
एतेषामनुभावाः स्युरिच्छादीनां यथाक्रमम्।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> इच्छादि योगों के क्रम से अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम- ये अनुभाव (फल) हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इच्छादि योगों द्वारा मार्गानुसारी जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे अनुक्रम से अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशमभाव हैं, अर्थात् इच्छायोग का फल है अनुकंपा, प्रवृत्तियोग का फल है- निर्वेद, स्थिरतायोग का फल है- संवेग और सिद्धियोग का फल है प्रशम भाव। अनुकंपा, अर्थात् दयाभाव - इच्छायोग द्वारा आत्मा का संवेदन ही ऐसा बन जाता है कि दीन-दुःखी जीवों को देखकर मन-ही-मन उनका दुःख-दर्द दूर करने की उत्कट भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसा व्यक्ति दीन दुःखियों की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता है। द्रव्य से तो वह उनका दुःख दूर करने का प्रयत्न करता ही है, साथ ही भाव अनुकंपा द्वारा उसके हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न होती है- धर्महीन जीव धर्म को प्राप्त करे। वह उनको धर्म में जोड़ने का प्रयास भी करता है। जब वह रुचिपूर्वक धार्मिक- अनुष्ठानों में प्रवृत्ति करने लगता है, तब उसमें निर्वेदभाव उत्पन्न होता है, अर्थात् संसार के सुख उसे भोगने योग्य नहीं लगते हैं। वह सांसारिक-सुखों से विरक्त हो जाता है तथा संसार को कारावास समझता है, निर्जन श्मशान समझता है। संसार के सुख, चाहे इन्द्र के हों या चक्रवर्ती के, वह भूलकर भी उनकी ओर आकर्षित नहीं होता है। उसे संसार से छूटने की तीव्र भावना बनी रहती है।

स्थिरतायोग से साधक संवेग की प्राप्ति होती है। योगी का मन सदा-सर्वदा आत्मा की परिशुद्ध-अवस्था प्राप्त करने के लिए तरसता है- मैं कब मोक्ष पाऊंगा ? यह लालसा निरन्तर बनी रहती है। वह सदैव ही मोक्ष

के सुख की ओर आकर्षित रहता है तथा उसे प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न करता है।

सिद्धियोग द्वारा उसे प्रशमभाव की प्राप्ति होती है। क्रोध, मान, माया, लोभ-चारों कषाय उसके उपशमित हो जाते हैं। उसका मुखमंडल अहर्निश शान्त, निश्चल भावों से देदीप्यमान होता है। कषायों का उन्माद उसके मन को स्पर्श नहीं कर सकता है। इस प्रकार इच्छादि योगों के ये फल हैं। इनसे आत्मा अपूर्व-आनंद का अनुभव करती है।

यहाँ मार्गानुसारी जीव के इच्छादि योगों के जो चार भाव-अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम बताए गए हैं, वे और सम्यक्त्व के पाँच लक्षण शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य - इन दोनों में स्वरूप की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। इसमें मात्र तरतमता का अन्तर अवश्य रहता है, परंतु समकिती जीव में आस्तिक्य-यह सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। शेष चार लक्षण भी आस्तिक्य के साथ होते हैं। हमेशा ज्ञान और क्रिया द्वारा आत्म-भावों में परिवर्तन लाने का लक्ष्य होना चाहिए।

(२६६) कायोत्सर्गादिसूत्राणां श्रद्धामेधादिभावतः।
इच्छादियोगे साफल्यं देशसर्वव्रतस्पृशाम्।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> कायोत्सर्गादि सूत्रों की श्रद्धा, मेधा आदि भावों से देशविरति और सर्वविरति वाले को इच्छादि योगों में सफलता प्राप्त होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि - इन चारों योगों की सफलता कब कहलाती है ? प्रस्तुत श्लोक में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण आदि आवश्यकसूत्रों तथा अन्य धार्मिक-अनुष्ठानों में साधक की श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा, अनुप्रेक्षा आदि भावों के आधार पर इच्छादि योगों की सफलता कहलाती है। ये भाव, आवश्यक नहीं कि एकसमान ही हों। इनमें मंदता, तीव्रता आदि प्रकार की तरतमता हो सकती है। पुनः, इनमें देशविरति श्रावक तथा सर्वविरति मुनि के भावों में भी तरतमता के भेद संभव हो सकते हैं। भावों का तो प्रत्यक्ष हो नहीं सकता है, अतः उसमें श्रद्धा, मेधा आदि भाव हैं या उनका अभाव है, उसकी प्रतीति किस प्रकार हो सकती है ? प्रायः, अन्दर के भाव बाह्य

क्रिया में भी प्रकट होते हैं, अतः वे कायोत्सर्गादि जो भी धार्मिक-अनुष्ठान करते हैं, उस समय उन क्रियाओं के लिए कितना आदर, प्रीति, बहुमान है, आदि के आधार पर उसके भावों की प्रतीति होती है। चाहे कम या अधिक मात्रा में श्रद्धादि भाव हों, लेकिन उनमें इच्छादि योगों की सफलता रही हुई है, ऐसा कह सकते हैं। श्रद्धा, आदर, बहुमान ये क्रियाओं में झलकते ही हैं।

हालांकि मोक्ष के साथ जोड़ने की क्षमता रखने वाले धर्मयोगों की आराधना निर्विकल्प अवस्था तक ले जा सकती है, लेकिन जिन विधि विधानों और पद्धतियों से धर्मक्रिया सम्पन्न होना चाहिए, उस तरीके से ही होना चाहिए, अतः शास्त्रों का स्वाध्याय, तप आदि स्थानादि योगों के समावेशसहित होने चाहिए।

(३००) गुडखण्डादिमाधुर्य भेदवत्पुरुषान्तरे।
भेदेऽपीच्छादिभावानां दोषो नार्थान्वयादिह।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> गुड़, खाण्ड आदि के माधुर्य के भेद की तरह अलग-अलग पुरुष के भेद के आधार पर इच्छादि भावों में भेद होने पर भी उनमें संबंध होने से (भावों का अस्तित्त्व होने से) दोष नहीं है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> प्रत्येक व्यक्ति के अपनी-अपनी कक्षा और कर्म के क्षयोपशम के आधार पर भावों में भी भिन्नता होती है। समान धार्मिक क्रिया होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति के भावों में अन्तर हो सकता है, जैसे-किसी की धर्मकथा के प्रति, सद्गुरु के उपदेश के प्रति अधिक प्रीति व रुचि होती है, किसी की मध्यम और किसी की मंद होती है, फिर भी वह व्यक्ति इच्छायोग वाला कहलाता है। इस प्रकार श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा-इन पाँचों भावों में तरतमता हो सकती है, जैसे- किसी एक व्यक्ति की श्रद्धा दृढ़ होती है, किन्तु धारणा और अनुप्रेक्षा मंद होती है, इससे विपरीत अन्य व्यक्ति में धृति और अनुप्रेक्षा बलवान् होती हैं, किन्तु श्रद्धा उतनी दृढ़ नहीं होती, किसी में अनुकंपा, संवेग, निर्वेद आदि के भाव मंद होते हैं, तो किसी में प्रबल। इस प्रकार तरतमता का भेद प्रत्येक व्यक्ति में होता है। एक व्यक्ति में भी भिन्न-भिन्न काल की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न भाव हो सकते हैं, फिर भी जब तक भाव हैं, तब तक उन भावों का अस्तित्त्व और संबंध स्वीकारने में दोष नहीं है। जैसे गुड़, खाण्ड आदि की मधुरता में भेद हैं,

फिर भी उनमें मधुरता है, मिठास है, इसे अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार इच्छादि योग के भावों में भिन्नता, अल्प अधिकता होने पर भी उसके अस्तित्त्व को स्वीकारा गया है।

(३०१) येषां नेच्छादिलेशोऽपि तेषां त्वेतत्समर्पणे।
स्फुटो महामृषावाद इत्याचार्याः प्रचक्षते।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें इच्छादि योग का अल्प अंश भी नहीं है, उसे (योग) प्रदान करने में महामृषावाद होता है, इस प्रकार आचार्य कहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में अनेक प्रकार के जीव हैं। भव्य, दुर्भव्य, अभव्य आदि सभी जीवों में योग ग्रहण करके धर्मानुष्ठान को विधिसहित सम्पन्न करने की पात्रता नहीं होती है। पात्रता के अभाव में दिया जाने वाला कोई भी ज्ञान हानिकारक होता है। जैसे शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही सुरक्षित रह सकता है, उसी प्रकार धार्मिक-ज्ञान, सूत्रार्थ आदि लघुकर्मी जीव में ही फलित होते हैं। जो जीव अचरमावर्त्तकाल में है, जिसकी अध्यात्म में अल्प भी रुचि नहीं है, जिसका आत्मविकास का कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे मोक्ष आदि तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं है, ऐसे दुर्भव्य या अभव्य जीवों को योगादि के विषय में बताना व्यर्थ ही होगा। ऐसे योग के लिए अनधिकारी होने पर भी उन्हें सूत्र का दान दिया जाए या उसके रहस्य को समझाया जाए, तो वह अपात्र को दिए गए दान के समान है। उनको व्रतादि प्रदान किए जाए या कायोत्सर्गादि धर्मानुष्ठान सम्पन्न करवाए जाएं, तो अपात्र आदि के पास से जोर देकर धर्मक्रिया करवाने में मृषावाद का दोष लगता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति यदि प्रतिज्ञानुसार व्रतों का पालन नहीं करे, उसकी व्रतों पर श्रद्धा न हो, उसके फल पर विश्वास न हो, साथ ही पात्रता के अभाव में वह विपरीत अर्थ ग्रहण करे, तो उसका हित होने की अपेक्षा अहित होता है। यदि उसे सदनुष्ठान प्रदान किए जाएं, तो असदनुष्ठान अर्थात् विषानुष्ठान गरलानुष्ठान में परिणत होने की संभावना रहती है, अतः किसी भी वस्तु के आदान-प्रदान करने में योग्यता-अयोग्यता का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। लेने वाले और देने वाले की योग्यता पर ही लेन-देन के व्यवहार की शुद्धि रह सकती है।

दाता योग्य हो लेकिन लेने वाला अयोग्य हो, दाता अयोग्य हो, लेकिन ग्रहणकर्त्ता योग्य हो, दोनों ही अयोग्य हों - ये तीनों प्रकार अशुद्ध हैं और अनुपयुक्त हैं। दाता और ग्राहक-दोनों योग्य हों, यही प्रकार शुद्ध है। इससे स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को इच्छा, प्रीति आदि विषयक कोई भी योग्य प्रिय नहीं हो और जो योग की आराधना करने का इच्छुक न हो, उसे सूत्रदान करने का निषेध है। इस प्रकार आचार्य कहते हैं। श्री हरिभद्रसूरि ने 'ललित-विस्तरा' नामक ग्रंथ में भी इस प्रकार कहा है।

(३०२) उन्मार्गोत्थापनं बाढमसमंजसकारणे।
भावनीयमिदं तत्त्वं जानानैर्योगविंशिकम्।।३८।।

<u>अनुवाद</u> - अत्यंत अयोग्य कारण से उन्मार्ग का उत्थापन (ऊपर उठाना) होता है, योगविंशिका के जानने वाले को इस तत्त्व पर चिंतन करना चाहिए।

<u>**विशेषार्थ**</u> - आत्मसाधना की क्रियाओं पर जिस जीव की श्रद्धा नहीं है, उससे उन क्रियाओं को सम्पन्न करवाना उसे उन्मार्ग पर चढ़ाने के समान है। अध्यात्ममार्ग रहस्यपूर्ण है, अतः योग्य पात्र को ही उसका रहस्य बताना चाहिए। कायोत्सर्ग, आवश्यक आदि धर्मक्रियाओं पर जिसके मन में अल्प श्रद्धा आदर या बहुमान नहीं है, उसे वे क्रियाएं बताना, उसको अशुद्ध क्रिया करने रूप उन्मार्ग पर चलाने जैसा है। इससे उन्मार्ग का प्रचलन होगा, फलस्वरूप धर्म को हानि पहुँचेगी। एक बार अविधि की परम्परा चल पड़ी, तो विधि-अविधि में परिणत होने में विलंब नहीं लगेगा। तब यदि कोई शास्त्रोक्त-विधि का प्रतिपादन करेगा, तो भी वह अविधि ही प्रतीत होगी। शास्त्रविहित क्रिया का लोप करना कड़वे फल देने वाला है। उ. यशोविजयजी कहते हैं कि क्रिया में प्रवृत्ति नहीं करने वाले जीव की अपेक्षा से गुरु को कोई दोष नहीं, परंतु अविधि के प्ररूपण का अवलंबन कर श्रोता अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करे, तो उन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने के परिणामवश अवश्य महादोष है।

हरिभद्रसूरिकृत 'योगविंशिका' नामक ग्रंथ में सदनुष्ठान और इच्छायोग इत्यादि का स्वरूप समझाया गया है। इसके विषय में गहरा

चिंतन-मनन करना चाहिए, क्योंकि अशुद्ध और आदरभावरहित क्रिया अयोग्य पात्र से करवाने से विपरीत परिणाम प्राप्त होते हैं।

(३०३) त्रिधा तत्सदनुष्ठानमादेयं शुद्धचेतसा।
ज्ञात्वा समयसद्भावं लोकसंज्ञां विहाय च।।३६।।

अनुवाद - सिद्धान्त के सद्भाव को जानकर और लोकसंज्ञा का त्याग करके शुद्धचित्त से सदनुष्ठान को तीनों प्रकार से स्वीकारना चाहिए।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में सदनुष्ठान-अधिकार के उपसंहार के रूप में साधक को संदेश दिया कि आराधक को शुद्ध चित्त से सदनुष्ठान को स्वीकार करना चाहिए। उसके लिए प्रथम शर्त है कि सिद्धान्त के सद्भाव को, उसके रहस्य को जानना। चूंकि जब तक शास्त्र-वचन के परमार्थ को नहीं जाना हो, तब तक धार्मिक-अनुष्ठान शुद्ध रूप से नहीं हो सकता है, अतः गुरु के माध्यम से क्रिया के रहस्य को एवं विधि को जानना चाहिए। सदनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिए दूसरी शर्त है- लोकसंज्ञा का त्याग करना। लोकसंज्ञा, अर्थात् एक ने जो किया, वही दूसरे ने- इस प्रकार गतानुगतिक गाड़रिया-प्रवाह (भेड़-चाल) की तरह बिना सोचे समझे, विचार किए बिना मिथ्या प्रयोजन से अनुष्ठान सम्पन्न करना। सदनुष्ठानकर्त्ता के लिए आवश्यक है कि वह लोकसंज्ञा का त्याग करे। एक बार तत्त्वों में रुचि जाग्रत हो जाती है और सिद्धान्तों का रहस्य समझ में आ जाता है, तब लोकसंज्ञा अपने-आप ही छूट जाती है। सदनुष्ठानकर्त्ता के लिए हृदय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। सूत्रों के रहस्य को भी समझ लिया, अनुष्ठान की बाह्य- विधि भी ठीक हो, लेकिन मन का उसमें योग नहीं हो, तो क्रिया विशेष फल प्रदान नहीं करती है। अनुष्ठान सम्पन्न करते समय हृदय अत्यन्त उत्साह और उल्लास होना चाहिए। हृदय में छल-कपट का प्रवेश न हो जाए, इसकी पूरी सावधानी रखना चाहिए। इस प्रकार हृदय की शुद्धिपूर्वक तीन योग, अर्थात् मनयोग, वचनयोग और काययोग तथा तीन करण (करना, कराना और सदनुष्ठान का अनुमोदन करना) से अनुष्ठान को सम्पन्न करना चाहिए।

-----०००-----

प्रबंध-तृतीय

ग्यारहवाँ अधिकार - मनशुद्धि अधिकार

(३०४) उचितमाचरणं शुभमिच्छतां, प्रथमतो मनसः खलु शोधनम्।
गदवतां ह्यकृते मलशोधने, कमुपयोगमुपैतु रसायनम्।।१।।

अनुवाद - उचित और शुभ आचरण की इच्छा करने वाले को सर्वप्रथम मन को शुद्ध करना चाहिए। रोगी को मलशुद्धि किए बिना रसायन दे दिया गया हो, तो वह किस प्रकार उपयोगी हो सकता है।

विशेषार्थ - सदनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है, क्योंकि वस्तु को शुद्ध रूप में रखने के लिए शुद्ध पात्र आवश्यक है। जैसे खटाई से युक्त अशुद्ध बर्तन में दूध शुद्ध रूप में नहीं रह सकता है, उसका स्वरूप बदल जाता है, उसी प्रकार ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि खटाई से युक्त मन में भी धर्म शुद्ध रूप में नहीं ठहर सकता है, उसका रूप विकृत हो जाता है, अतः मन शुद्धि के बिना सदनुष्ठान भी संभव नहीं है। दूषित मन के साथ शुभ हेतु वाली क्रिया भी दूषित हो जाती है। पवित्र मन से किया गया अनुष्ठान आत्मिक गुणों का विकास करते हुए उसे उन्नत बनाता है, उच्चगति की ओर ले जाता है तथा अशुभ मन से किया गया अनुष्ठान आत्मा के सद्गुणों का नाश करते हुए उसे अधोगति की ओर उन्मुख कर देता है। यहाँ दृष्टान्त दिया गया है कि किसी रोगी को लोह-भस्म, ताम्र-भस्म, प्रवाल-भस्म आदि प्रकार का रसायन देना हो, तो वैद्य पहले अन्य उपाय द्वारा उसके शरीर में स्थित मल को दूर करता है। यदि मल को दूर किए बिना रसायन दे दिया जाए, तो उससे रोग तो दूर नहीं होता है, बल्कि कभी-कभी उस रसायन का विपरीत प्रभाव भी हो जाता है, अतः मलशुद्धि के पश्चात् दिया गया रसायन शीघ्र असर करता है। ठीक उसी तरह मन-शुद्धि के पश्चात् किया गया अनुष्ठान विशेष

फलदायी होता है। अतः, सदनुष्ठान करने की इच्छा वाले को प्रथम मन-शुद्धि पर ध्यान देना चाहिए।

(३०५) परजने प्रसभं किमु रज्यति, द्विषति वा स्वमनो यदि निर्मलम्।
विरहिणामरतेर्जगतो रते - रपि च का विकृतिर्विमले विधौ।।२।।

<u>अनुवाद -</u> यदि स्वयं का मन निर्मल हो, तो अन्य लोग स्वयं के प्रति अत्यंत राग करे या द्वेष, उससे क्या ? विरहीजन को अरति (दुःख) होती है और जगत् को रति (राग), उससे निर्मल चंद्र में क्या विकृति होने की ? (अर्थात् कुछ नहीं)

<u>**विशेषार्थ -**</u> जिस जीव में उच्च कोटि की समता प्रकट हो गई हो और जिसका मन निर्मल हो गया हो, ऐसा जीव सांसारिक-अभिप्रायों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता है। माध्यस्थ-भाव में स्थित व्यक्ति को इस प्रकार की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती है। उसका चिंतन निरंतर इस प्रकार भी जारी रहता है कि अगर कोई उसकी निंदा भी करता है, तो वह उसके कर्म से प्रेरित होकर करता है और प्रशंसा भी करता है, तो उसी के कर्म से प्रेरित होकर करता है, इससे उसकी आत्मा की न हानि होती है, न लाभ होता है, इसलिए माध्यस्थ-व्यक्ति, समत्व में स्थित व्यक्ति निंदा करने वाले पर रूष्ट नहीं होता है और प्रशंसा करने वाले पर तुष्ट भी नहीं होता है, क्योंकि वह अपने स्वभाव में ही रहता है, आत्म में ही रमण करता है, अपने अन्तर से ही आनंद प्राप्त करता है। उसे बाहर की परिस्थिति सुखी या दुःखी नहीं बना सकती है। सामान्यतया, संसार में प्रतिपल राग-द्वेष की प्रवृत्ति चलती रहती है। स्वजन, ज्ञातिजन, समाज आदि के विशाल वर्ग में स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या, पक्षपात आदि के कारण कोई निंदा करते हैं, भर्त्सना करते है, उलाहना देते हैं, कोई प्रशंसा भी करते हैं। संसार में राग-द्वेष के निमित्त तो प्रतिपल मिलते ही रहते हैं। सामान्य व्यक्ति राग-द्वेष से वशीभूत होकर अपनी निंदा, अन्याय आदि सहन नहीं कर सकता है। बदले में वह तुरंत प्रतिक्रिया के रूप में मन-वचन-काया की प्रवृत्ति प्रारम्भ कर देता है, किन्तु जो स्वस्थ है, माध्यस्थ है, जिसका चित्त राग-द्वेष से मुक्त है, जिसका मन निर्मल है, जो समता का धारक है, जो आराधक है, उसके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है।

बुद्ध को एक व्यक्ति देर तक गालियाँ देता रहा, वह गालियां देते हुए थक गया, लेकिन बुद्ध की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, तब वह शान्त हो गया। उस समय बुद्ध ने उससे प्रश्न किया- "भाई ! अगर कोई व्यक्ति आपको कुछ देने के लिए आए और आप उसे ग्रहण नहीं करें, तो वह वस्तु किसके पास रहेगी ?" उसने उत्तर दिया- "जो देने आया, उसी के पास रहेगी।" तब बुद्ध ने कहा- "मैंने तुम्हारी गालियों को ग्रहण नहीं किया है।" पूर्णिमा का निर्मल चंद्र रात्रि में अपनी मधुर चांदनी फैलाता है, उससे लोगों को अत्यन्त आनंद प्राप्त होता है, परंतु अपने जीवनसाथी के वियोग से दुःखी पुरुष या स्त्री के मन को वही चांदनी विह्वल कर देती है। उनको वह चांदनी कष्टमय, अप्रिय लगती है। इस प्रकार जगत् के लोगों को रति या राग उत्पन्न होता है, विरहीजनों को अरति या द्वेष उत्पन्न होता है, किन्तु चन्द्रमा स्वयं अविकारी रहता है और निर्मलता से प्रकाश देता रहता है। ठीक उसी प्रकार निर्मल मन वाले समत्वधारी पुरुष अपनी निंदा या प्रशंसा आदि के प्रति कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते हैं।

(३०६) रूचितमाकलयन्ननुपस्थितं स्वमनसैव हि शोचति मानवः।
उपनते स्मयमानमुखः पुनर्भवति तत्र परस्य किमुच्यताम्।।३।।

<u>अनुवाद -</u> मनुष्य, अपनी इष्ट वस्तु उपस्थित नहीं है-ऐसा जानकर स्वयं मन में खेद करता है और प्राप्त होने पर फिर प्रसन्न मुखमुद्रा वाला हो जाता है, इसमें अन्य को कारणभूत किस प्रकार कह सकते हैं ?

<u>विशेषार्थ -</u> इष्ट वस्तु का योग और वियोग मनुष्य के चित्त में क्रमशः हर्ष और शोक उत्पन्न करता है। कोई भी सुंदर, आकर्षक वस्तु पर व्यक्ति मोहित हो जाता है और उसे प्राप्त करने की तीव्र इच्छा हो तथा वह अगर वस्तु नहीं मिले, तो वह दुःखी हो जाता है, परेशान हो जाता है तथा उसी वस्तु के मिल जाने पर वह हर्षित हो जाता है, आनंदित हो जाता है। इस प्रकार हर्ष और शोक का अनुभव मनुष्य के मन में होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि हर्ष और शोक का वास्तविक कारण पदार्थ है या मन ? इस पर चिंतन करने से यही उत्तर मिलता है कि हर्ष और शोक का कारण पदार्थ नहीं मन ही है। हमने मान लिया है कि अमुक पदार्थ का संयोग होने पर मैं सुखी हो जाऊँगा, वियोग होने पर दुःखी हो जाऊँगा। अगर पदार्थ में

ही दुःख और सुख विद्यमान होता, तो एक ही पदार्थ सभी के लिए सर्वदा सुखकारी या दुःखकारी होना चाहिए, जैसे जो वियोगजन्य दुःख से दुःखी है उसे शहनाई, नृत्य, संगीत आदि रुचिकर नहीं लगेंगे, किन्तु विलासी मन वाले को उनमें आनंद आएगा। वस्तु एक ही है, लेकिन कोई उससे दुःख प्राप्त कर सकता है, तो कोई सुख भी प्राप्त कर सकता है, क्योंकि सुख और दुःख तो भीतर ही है। जिस क्षण हम अपने से जुड़ जाते हैं, सुख बरस जाता है और जिस क्षण हम अपने से टूट जाते हैं, दुःख बरस जाता है। कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और जब हड्डी के चबाने से उसके मुख से ही खून निकलता है, तो वह समझता है कि वह खून हड्डी में से आ रहा है और वह घाव होने पर भी हड्डी को चबाना छोड़ता नहीं है। वह जिस खून का आस्वादन करके प्रसन्न हो रहा है, वह तो स्वयं का ही है, लेकिन उसे आभास होता है कि यह हड्डी में से आ रहा है। इसी प्रकार से आनंद का स्तोत्र तो व्यक्ति के अन्तर्मन में ही है। व्यक्ति अपने मन के विचारों के कारण ही सुखी और दुःखी होता है, इसलिए हर्ष और शोक के लिए अन्य को दोषीत ठहराने का कोई अर्थ नहीं है।

(३०७) चरणयोगघटान्प्रविलोठयन् शमरसं सकलं विकिरत्यधः।
चपल एष मनः कपिरुच्चकैः रसवणिग् विदधातु मुनिस्तु किम्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> यह अत्यंत चपल ऐसा मनरूपी वानर चारित्र के योगरूपी घड़ों को उल्टा रके शमरूपी सम्पूर्ण रस को ढोल देता है, इसमें मुनिरूपी शमरस का व्यापारी क्या करे?

<u>विशेषार्थ -</u> प्राचीनकाल का एक चित्र दृष्टि के समक्ष उपस्थित करें। एक रस-वाणिज्य अर्थात् घी, तेल आदि प्रवाही पदार्थों का व्यापारी है। उसकी दुकान में ऐसे रस के भरे हुए घड़े रखे हैं। व्यापारी के प्रमादवश अचानक एक बड़ा बंदर दुकान में घुस गया। व्यापारी खड़ा होकर उसे भगाए, उसके पहले ही उसने अनेक घड़ों को उल्टा करके सारा प्रवाही जमीन पर बहा दिया। व्यापारी का भारी नुकसान हो गया, किन्तु वह बंदर को क्या सजा दे सकता ? बंदर तो भाग गया। उस नुकसान की पूर्ति भी कौन करे ? सम्पूर्ण नुकसान व्यापारी को ही भोगना पड़ा।

उसी प्रकार मुनि महाराज उपशम रस के व्यापारी के समान हैं। अत्यधिक साधना के पश्चात् उनको उपशम-रस की प्राप्ति हुई। उसके बाद भी कितने ही साधक ऐसे होते हैं, जिनका अपने मन अखण्ड संयम नहीं रहता है। मन को बंदर के समान चंचल माना गया है। मन एक विचार से दूसरे विचार, दूसरे से तीसरे विचार पर बंदर की तरह कितनी शीघ्रता से गमन करता है, कूदता है। अगर थोड़े भी प्रमादवश, मर्कट जैसा यह मन, जो अशुभधारा में चला जाता है, तो क्षण में ही उसे संयम से विचलित कर देता है, उसके उपशम-रस को नष्ट कर देता है, जैसे प्रसन्न चंद्रराजर्षि का मन उच्चकोटि की साधना में रत था, लेकिन दुर्मुख के वचन सुनकर वह अशुभभावों में चला गया। उनका समत्व भंग हो गया और वे मन से ही संग्राम करने लगे। इसीलिए मन को सतत स्थिर रखने का पुरुषार्थ अत्यंत आवश्यक है।

(३०८) सततकुट्टितसंयमभूतलोत्थितरजोनिकरैः प्रथयन्स्तमः।
अतिदृढैश्च मनस्तुरगो गुणैरपि नियंत्रित एष न तिष्ठति।।५।।

<u>अनुवाद -</u> निरंतर खुदी हुई संयमरूपी भूमि में से उठती हुई धूल के समूह द्वारा अंधकार को फैलाता हुआ यह मनरूपी घोड़ा अत्यंत मजबूत रस्सी (गुणरूपी रस्सी) से बांधने पर भी स्थिर नहीं रहता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में मन को घोड़े की उपमा दी गई है। घोड़े के नालवाले पैर से निरंतर उखड़ती हुई जमीन से अत्यधिक धूल उड़ती है। वह धूल चारों तरफ फैल जाती है और कुछ भी दिखाई नहीं देता है। घोड़ा बहुत शक्ति वाला होता है, चंचल होता है तथा दौड़ने के लिए उत्साही होता है। उसे लगाम द्वारा अंकुश में रखा जाता है, फिर भी वह स्थिर खड़ा नहीं रहता है और बैठता भी नहीं है। वैसे ही यहां मनरूपी घोड़ा गुणरूपी लगाम और संयमरूपी जमीन है। साधना करके संयमरूपी जमीन को समतल किया गया है। ऐसी जमीन को यह मनरूपी घोड़ा दौड़-दौड़कर खोद देता है। मन की शक्ति बहुत है। घोड़े की तरह जब मन उन्मत्त हो जाता है, उसके चित्त के अन्दर अशुभ विकल्पों की धारा का प्रवाह आरम्भ हो जाता है, तब सद्गुरुरूपी मजबूत रस्सी भी उसे रोकने में समर्थ नहीं होती है, इसलिए मनरूपी अश्व को इस तरह से शिक्षित करना चाहिए कि जब चाहे

उसे खड़ा किया जा सके, रोका जा सके। मन में दोहरी शक्ति है, एक विनाश-शक्ति, दूसरी विकास-शक्ति। वह शक्ति अध्यात्मभावों के साथ जुड़ जाए, तो विकास की ओर ले जाती है और अगर वह अध्यात्म से दूर हो जाए, तो विनाश की ओर ले जाती है, इसलिए मन के स्वामी बनकर उसकी शक्ति को अध्यात्म के साथ जोड़ देना चाहिए और निरंतर सावधान रहना चाहिए, ताकि मनरूपी घोड़ा चकमा नहीं दे सके।

(३०६) जिनवचोघनसारमलिम्लुचः कुसुमसायकपावकदीपकः।
अहह कोऽपि मनः पवनो बली शुभमतिद्रुमसंततिभंगकृत्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> अहो ! यह कोई मनरूपी पवन बलवान् है, जो जिनवचनरूपी कपूर का हरण करता है, कामदेवरूपी अग्नि को प्रज्वलित करता है और शुभ मतिरूपी वृक्षों के हार को खण्डित कर देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में मन को तीव्र वेग वाले पवन की उपमा दी गई है। जब पवन तूफान के रूप में आता है, तब उसमें विनाश की अत्यधिक शक्ति होती है। पवन कपूर के ढेर को उड़ाकर ले जाता है और दिखाई भी नहीं देता है कि कपूर को उड़ाकर कौन ले जा रहा है, कहाँ ले जा रहा है ? पवन से अग्नि अधिक प्रदीप्त होती है। तूफान में बड़े-बड़े वृक्षों को गिराने की शक्ति होती है। मर्यादित पवन में जीवनदायिनी शक्ति भी रही हुई है। कहने का तात्पर्य यही है कि सृष्टि के विकास में पवन सहायक है, किन्तु पवन जब अमर्यादित हो जाए, भयंकर तूफान के रूप में परिवर्तित हो जाए, तो वह सृष्टि का विनाश भी कर सकता है। ठीक वैसा ही यह मन है। जब मन में अशुभ विचारों का, अमर्यादित विचारों का तूफान उठता है, तो वह आत्मा को पतन की ओर ले जाता है। ऐसी दशा में जिनवाणी भी स्मरण में नहीं रहती है। कोई उपदेश दे, तो वह भी अरुचिकर प्रतीत होता है। मनरूपी वायु कामदेवरूपी अग्नि को प्रज्वलित करती है। मन के किसी कोने में अल्प कामविकार भी छुपा हुआ है, तो वह निमित्त मिलते ही भभक जाता है। मन में विविध प्रकार के विचार और कल्पनाएँ उठने लगती हैं, मन ही विविध प्रकार के कामविकार उत्पन्न करने वाले दृश्य उपस्थित कर लेता है। उसे शांत करना अत्यंत मुश्किल हो जाता है। यह दुर्मतिरूपी पवन शुभ संकल्परूपी वृक्षों की श्रेणियों को क्षण में ही

धराशायी कर देता है। अतः, मन को समझना अत्यंत आवश्यक है। जब तक मन के स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं हो पाएगा, तब तक मन सुमन नहीं हो पाएगा। मन को सुमन बनाना साधक की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। जिसने मन को साध लिया, उसने सबको साध लिया।

(३१०) चरणगोपुरभंगपरः स्फुरत् समयबोधतरूनपि पातयन्।
भ्रमति यद्यतिमत्तमनोगजः क्व कुशलं शिवराजपथे तदा।।७।।

<u>अनुवाद -</u> चारित्ररूपी दरवाजे को तोड़ने में तत्पर बना हुआ, प्रकट हुए (स्फुरायमान) सिद्धान्त के बोधरूपी वृक्षों को गिराने वाला-ऐसा अत्यंत मदोन्मत्त मनरूपी हाथी हो, तो फिर मोक्षरूपी राजमार्ग में कुशलता कहाँ से हो ?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में मन को मदोन्मत्त हाथी की उपमा दी गई है। मदोन्मत्त हाथी और मन-दोनों की स्थिति एक जैसी होती है। यदि पागल हाथी बंधन से छूट गया हो, तो वह राजमार्ग पर तूफान खड़ा कर देता है। राह में आने वाले कितने ही वृक्षों को अपनी सूंड से धराशायी कर देता है, जिससे सम्पूर्ण मार्ग अस्त-व्यस्त हो जाता है। जाने-आने में अवरोध उत्पन्न होते हैं। हाथी ने नगर के विशाल दरवाजे को भी तोड़ दिया हो, तो नगरजन बाहर कैसे जाएं ? जो बाहर हैं, वे नगर में कैसे प्रवेश करें ? इस प्रकार चारों ओर भय का वातावरण हो जाता है। ठीक वैसे ही, यह मनरूपी गज जब मदोन्मत्त हो जाता है, पागल हो जाता है और अंकुशरहित हो जाता है, तब जीवन भी विनाश की ओर उन्मुख हो जाता है। इसमें भी यदि मुनि का मन निरंकुश हो, गया हो तब तो बहुत ही दुष्कर स्थिति हो जाती है। अत्यंत साधना और पुरुषार्थ से निर्मित उसका चारित्ररूपी गोपुर (दरवाजा) खण्डित हो जाता है। दरवाजा ही टूट जाए, तो फिर मोक्षपुरी नगरी में प्रवेश ही किस प्रकार हो ? मन जब निरंकुश हो जाता है, तो वह संकल्प-विकल्प के धक्के दे-देकर मुनियों को चारित्र से शिथिल करता है। ऐसी स्थिति में कितने ही मन से पतित होते हैं और कितने ही काया से भी पतित हो जाते हैं। वे संयम को छोड़कर गृहस्थावास में आ जाते हैं। ऐसा तब ही होता है, जब मनरूपी हाथी शास्त्रबोधरूपी उगे हुए वृक्षों को गिरा देता है, अर्थात् शीलभंग के प्रसंग पर वीतराग-वाणी विस्मृत हो जाती है,

नीरस हो जाती है। मोहराजा मन रूपी गज को उन्मत्त बनाता है। इस प्रकार मोक्षपुरी का राजमार्ग ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। उन्मत्त मन को लेकर कोई भी साधक मोक्षरूपी राजमार्ग में कुशलतापूर्वक विचरण नहीं कर सकता है, वह भटक जाता है। साधे हुए मन के द्वारा ही साधक मोक्षरूपी राजमार्ग में निर्भीक होकर सफलतापूर्वक गमन कर सकता है।

(३११) व्रततरून् प्रगुणीकुरुते जनो, दहति दुष्टमनो दहनः पुनः।
ननु परिश्रम एष विशेषवान् क्व भविता सुगुणोपवनोदयः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> मनुष्य व्रतरूपी वृक्षों को बड़ा (प्रगुण) करता है, किन्तु दुष्ट मनरूपी अग्नि उसे जला देती है, तो फिर सद्गुणरूपी उपवन के विकास के लिए यह परिश्रम कब सफल होगा ?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में मन को अग्नि का रूपक दिया गया है। किसी को मनोहर उपवन तैयार करना हो, तो उसके लिए अत्यंत परिश्रम करना पड़ता है। विविध प्रकार के पौधे बोए जाते हैं। उनके विकास के लिए मिट्टी, खाद, पानी आदि का बहुत ध्यान रखा जाता है। उन्हें समय-समय पर जल द्वारा सिंचित किया जाता है। बहुत बड़ा उपवन हो और मनुष्य वृक्षों को विकसित करते हुए आगे बढ़ता जाता है, किन्तु पीछे जब वह दृष्टि डालता है, तो उसे दिखाई देता है कि अग्नि ने अनेक वृक्षों को जलाकर राख कर दिया। एक तरफ वह वृक्षों के विकास के लिए निरंतर परिश्रम कर रहा है, दूसरी ओर अग्नि उन वृक्षों को जलाकर भस्म कर रही है, तो ऐसे में उसका परिश्रम सफल नहीं होगा और कभी उपवन का विकास पूरा नहीं होगा। ठीक उसी तरह, कोई साधक देशव्रतों को, कोई महाव्रतों को धारण करता है, उनके विकास के लिए तप आदि करता है, मुनि समितिगुप्तियों का पालन करते हुए उन महाव्रतों का पोषण और संवर्धन करते हैं, विविध प्रकार की साधना करते हैं, किन्तु दूसरी ओर आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान-रूपी अग्नि मन में प्रज्वलित है, ईर्ष्या, राग, द्वेष उस अग्नि को प्रदीप्त कर रहे हैं, तो वह अग्नि व्रतरूपी वृक्षों को जला देती है और क्षमा, सरलता, मृदुता, पवित्रता, निर्लोभता आदि सद्गुणरूपी उपवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप मुनि का कायाकष्ट व्यर्थ हो जाता है, अर्थात् उसके परिश्रम का परिणाम उत्कृष्ट नहीं

आता है। जो कर्मों की निर्जरा होनी चाहिए, वह नहीं होती है, प्रसन्नता के आंतरिक आनंद के जो पुष्प खिलना चाहिए, वे नहीं खिलते है, जो संयम की महक आना चाहिए, वह नहीं आती है। चूंकि मन मलिन है, अतः व्रतादि के पालन के साथ-साथ मन के प्रति जागरूक होना आवश्यक है, तब ही परिश्रम के योग्य फल की प्राप्ति होगी।

(३१२) अनिगृहीतमना विदधत्परां, न वपुषा वचसा च शुभक्रियाम्।
गुणमुपैति विराधनयानया बत दुरन्तभवभ्रममंचति।।६।।

__अनुवाद -__ जिसने मन का निग्रह नहीं किया और वह शरीर तथा वचन द्वारा शुभ क्रिया करता है, तो वह मन की इस विराधना के कारण कोई भी योग्यफल (गुण) प्राप्त नहीं कर सकता है, परंतु यह मन दुरंत-ऐसे भव का भ्रमण कराता है।

__विशेषार्थ -__ 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः', मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण मन ही है। मन जब आसक्ति में उतरता है, तो बंधन में जकड़ जाता है और जैसे ही मोह-विमुख बनता है, तो मुक्ति का पथिक बन जाता है। कोई पदार्थ या परिस्थिति बंधन का मूल कारण नहीं है। मन के संकल्प-विकल्प की विभिन्न तरंगें ही बंधन-शृंखला बनाती हैं। कोई व्यक्ति वचन और काया से शुभ प्रवृत्ति करता है, किंतु उसका मन संयम में नहीं है, मन में अशुभ विचार है, वचन और काया-योग शुभ होने पर भी मन का योग नहीं मिलने पर वचन और काया की शुभ प्रवृत्तियों का उचित फल नहीं मिलता है। काया और वचन की प्रवृत्ति से भी मन की प्रवृत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। मन, वचन और काया की शुभ और अशुभ-दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं। जैसे काया से कामभोग आदि अशुभ प्रवृत्ति होती है और बाह्य तप, जिनपूजा, तीर्थयात्रा, दान आदि शुभ प्रवृत्ति भी होती है, उसी प्रकार वचन से राग-द्वेष युक्त वचनों द्वारा अशुभ प्रवृत्ति होती है और स्तुति, मंत्रजाप, स्वाध्याय, धर्मकथा आदि के द्वारा शुभ प्रवृत्ति भी होती है, किन्तु काया और वचन की शुभ प्रवृत्ति हो या अशुभ प्रवृत्ति उनमें मन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, जैसे-तंदुल-मत्स्य वचन और काया से कोई अशुभ प्रवृत्ति नहीं करते हुए मन के हिंसात्मक विचारों द्वारा सातवीं नरक का आयुष्य बांध लेता है। मरुदेवी माता को हाथी पर, भरत महाराजा

को आरीसा भवन में, पृथ्वीचंद को राजसिंहासन पर, गुणचंद्र को चँवरी में फेरा लगाते समय केवलज्ञान हो, तो यह सब मन का ही खेल है। कहा भी गया है कि 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। काया से परमात्मा की पूजा कर रहे हैं, वचन से परमात्मा की मधुर स्तुति बोल रहे हैं, किन्तु मन यदि दुकान में ग्राहकों के साथ उलझा हुआ है, तो अशुभ कर्म के बन्धन ही होते हैं और संसार का परिभ्रमण बढ़ता है, अतः मन का निग्रह करना अत्यंत आवश्यक है। अशुभ विचारधारा को रोककर मन को शुभ और शुद्ध चिंतन की धारा से जोड़ने पर ही भवभ्रमण का अंत हो सकता है, अतः मन को विराधना से बचाकर आराधना से जोड़ना चाहिए।

(३१३) अनिगृहीतमनाः कुविकल्पतो, नरकमृच्छति तंदुलमत्स्यवत्।
इयमभक्षणजा तदजीर्णता ऽनुपनतार्थ विकल्पकदर्थना।।१०।।

<u>अनुवाद</u> - मन का निग्रह नहीं करने वाला अशुभ विकल्प करके तंदुलिया-मत्स्य की तरह नरक में जाता है। नहीं प्राप्त हुए पदार्थ के विषय में विकल्प करना (कदर्थना) भोजन किए बिना हुई अजीर्णता है।

<u>विशेषार्थ</u> - मन-वचन और काया की प्रवृत्ति में मन कितना भयंकर कार्य कर सकता है, यह बताने के लिए ग्रंथकार ने तंदुलिया-मत्स्य का दृष्टान्त दिया है। शास्त्रों में वर्णित है कि बड़े मगरमच्छ की आँख की पलक में रहे हुए चावल के दाने के बराबर तंदुलमत्स्य को विचार आता है कि यह मगरमच्छ कैसा मूर्ख है, इसके खुले हुए मुख से कितनी ही मछलिया बाहर निकल जाती है, यह कितना आलसी है, अगर मैं इसकी जगह होता, तो एक भी मछली को बाहर नहीं निकलने देता, सभी को चबा जाता। ऐसे अशुभ हिंसक विचार के परिणामस्वरूप तंदुलियामत्स्य सातवीं नरक का भागी हो जाता है। वह छोटा सा मत्स्य, जिसने स्वयं ने एक भी मछली खाई नहीं और न ही वह खा सकता है, इस तरह काया से उसने कुछ पापकर्म नहीं किया, पेट में एक भी मछली नहीं गई, भक्षण नहीं करने पर भी भक्षण करने की अपेक्षा अधिक अशुभ भयंकर विकल्प मन में किए, मन के अनुसार काया की प्रवृत्ति नहीं हुई, फिर भी उसका पाप तो बंध ही गया। किसी व्यक्ति द्वारा अधिक खा लेने पर उसे अजीर्ण हो जाता है, किन्तु यहाँ तो भूखे तंदुलिया-मत्स्य को अजीर्ण का रोग हो गया। यह बात आश्चर्यकारी

है। इसका कारण मन के कुविकल्प हैं। मन कभी शांत नहीं बैठता है। संकल्प विकल्प निरंतर चलते ही रहते हैं। दिनभर में कईं विचार तो बिल्कुल निरर्थक ही आते हैं। पास में कुछ भी नहीं है, फिर भी व्यक्ति मन के विचारों द्वारा कईं प्रकार के भोगों को भोग लेता है, कईं लोगों को लूट लेता है, कितना ही परिग्रह इकट्ठा कर लेता है, कितनी ही स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। काया से कुछ भी किया नहीं, किन्तु शेखचिल्ली की तरह भविष्य के स्वप्न देखकर वह व्यर्थ के कर्मबन्धन करता है। सुख कुछ भोगा नहीं, पास में कुछ है भी नहीं, किन्तु मन से अशुभ संकल्प करके वह दुःख को पैदा करता है। यह बिना खाए अजीर्ण की पीड़ा के समान ही है। दुनिया की अदालत में तो जब मन का पाप बाहर प्रवृत्ति में आता है, तब सजा मिलती है, किन्तु कर्म की अदालत में तो चाहे कुछ प्रवृत्ति नहीं की, बाहर बिल्कुल सज्जन हैं, किन्तु मन में दुर्जनता है, अशुभ विचार हैं, तो उसकी सजा नियत हो जाती है, इसलिए सावधान होकर मन का निरीक्षण करना चाहिए।

(३१४) मनसि लोलतरे विपरीततां वचननेत्रकरेंगितगोपना।
व्रजति धूर्त्ततया ह्यनयाऽखिलं निबिड़दंभपरैर्मुषितं जगत्।।११।।

<u>अनुवाद -</u> मन जब अत्यंत चपल बनता है, तब वचन, नेत्र और हाथ की चेष्टाओं के गोपन (छिपाने) से विपरीतता प्राप्त होती है। अत्यंत कपटी लोग धूर्त्तता से पूरे जगत् को ठगते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> सामान्यतया, मन के भावों के साथ शरीर की चेष्टाओं का संबंध रहता है, अर्थात् जैसे मन में भाव रहते हैं, काया से वैसी ही प्रवृत्ति भी होती है। मन के विचार व्यक्ति के हाव-भाव से प्रकट हो जाते हैं, किन्तु कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वे अपने मन के विचारों के अनुसार हाव-भावों को प्रकट नहीं होने देते हैं, बल्कि उससे विपरीत प्रदर्शन करते हैं, जैसे-किसी व्यक्ति के मन में किसी के प्रति द्वेष है, उसके अहित की बुद्धि है, किन्तु उसके हाव-भाव से यह प्रतीत होता है कि वह उसका परम हितैषी है। मन में भाव अलग हैं, किन्तु वचन उससे विपरीत निकलते हैं। मन में किसी के प्रति निंदा के भाव हैं, किन्तु वचन से प्रशंसा के पुल बांधे जाते हैं। कुछ लोग वचन और काया की चेष्टा द्वारा अपने मन के भावों

को छिपाने में अत्यंत कुशल होते हैं। कुशील स्त्री भी काया और वचन से दुनिया के सामने इस तरह प्रदर्शित करती है कि वह महासती हो। ऐसे लोग इस प्रकार से मन में अशुभ विचार होते हुए भी काया और वचन से उससे विपरीत चेष्टा करते हुए पूरे जगत् को ठगते हैं। कभी-कभी मन के अत्यंत चंचल हो जाने पर वे अपने भावों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु फिर भी हाव-भाव से या असावधानी से पकड़े भी जाते हैं।

साधक मन-वचन और काया तीनों को ही साधने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कई बार दुःखगर्भित, मोहगर्भित वैराग्य से प्रेरित होकर साधक दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। उनके मन में महाव्रतों के प्रति इतनी श्रद्धा नहीं होती है या मन में अशुभ विचार करते हुए भी वे वचन और काया को संयम में रखते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि चपल मन में अशुभ विपरीत भाव होने पर बाह्य-संयम का फल विपरीत मिलता है। जहाँ मन के साथ काया और वचन की एकरूपता नहीं हो, वहाँ दम्भ का जन्म होता है। स्वार्थ, प्रलोभन, प्रतिष्ठा, वासना आदि के लिए ऐसे दंभ का आचरण करने वाले साधक लोगों को लूटते हैं। वे बाह्य-क्रिया की उत्कृष्टता प्रदर्शित करके अपने मन के भावों को छुपा देते हैं। अज्ञानी लोग उन्हें महापुरुष समझकर उनके पीछे भागते हैं, उनके लिए करोड़ों रुपए खर्च कर देते हैं। ऐसे लोग न स्वयं का हित कर पाते हैं न अन्य का। वे काया से कष्ट सहते हुए भी मन के दूषित विचारों से कर्मबन्धन करते रहते हैं।

(३१५) मनस एव ततः परिशोधनं नियमतो विदधीत महामतिः।
इदमभेषजसंवननं मुनेः, परपुमर्थरतस्य शिवश्रियः।।१२।।

<u>अनुवाद</u> - इसलिए महान् बुद्धिशालियों को नियम से मन का परिशोधन करना चाहिए। परम पुरुषार्थ, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ में प्रेम करने वाले मुनि के लिए तो शिवलक्ष्मी को वश में करने के लिए यह (मन का शोधन) बिना औषधि का वशीकरण है।

<u>विशेषार्थ</u> - काया और वचन को वश में रखना सरल है, किन्तु मन को वश में रखना अत्यंत कठिन है। काया और वचन के जितने भी व्यापार हैं, उससे सूक्ष्म ऐसे मन के व्यापार कई गुना अधिक हैं। मन की गति वायु से भी अधिक तीव्र है। अन्य के वचन और काया के व्यापारों को तो फिर

भी समझ सकते हैं, किन्तु मन के व्यापारों का पार पाना, मन को समझना अत्यंत कठिन है। अन्य की बात तो दूर, कई बार मनुष्य अपने स्वयं के मन को समझने में भी सफल नहीं हो पाता है। मन अत्यंत सूक्ष्म, जटिल, गहन और चंचल है। इसमें प्रतिक्षण विचारों के स्पंदन चलते रहते हैं। संयम-जीवन में भी मन की एकाग्रता अत्यंत आवश्यक है। यदि मन-वचन और काया की एकता, निर्मलता, एकाग्रता, स्थिरता इत्यादि नहीं हो, तो मुनि ने जिस उद्देश्य से संयम ग्रहण किया है, वह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाएगा। किसी भी कार्य की सफलता के लिए मन का दृढ़ संकल्प और एकाग्रता आवश्यक है, इसलिए मुनियों को अपने मन का सतत् परिशोधन करते रहना चाहिए। धर्म की पहली सीढ़ी है-मन पर विजय पाना। केशी ने गौतम से पूछा शत्रुओं को आपने कैसे जीता ? उत्तर में गौतम ने कहा -

एगे जिया जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं।।

एक मन को जीता और चार कषायों पर विजय प्राप्त कर ली। इन पाँचों को जीतने से पाँच इन्द्रियां भी विजित हो गईं। इस प्रक्रिया से सारे शत्रुओं पर मैंने विजय पा ली, अर्थात् अपने-आप पर विजय पा ली। अतः, मन को जीतना आवश्यक है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि अभ्यास और वैराग्य से मन को जीता जा सकता है। मन का विकास कैसे हो ? इस प्रश्न पर आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन की चार भूमिकाओं का उल्लेख किया है- १. विक्षिप्त २. यातायात ३. श्लिष्ट ४. सुलीन। विक्षिप्त, मन की पहली भूमिका है, जिसमें साधक यह अनुभव करता है कि मन चंचल है। यातायात, मन की दूसरी भूमिका है, जिसका तात्पर्य है- साक्षी भाव से मन का निरीक्षण करते रहना, उसे रोकना नहीं। मन को साक्षी भाव से देखते रहने पर अनुभूति होगी कि मन कभी स्थिर है, कभी चंचल। श्लिष्ट, मन की तीसरी भूमिका है, जिसका अर्थ है- मन को ध्येय के साथ जोड़ना, उसके साथ संबंध स्थापित करना। मन की चौथी भूमिका सुलीन है, सुलीन का अर्थ है- ध्येय में लीन हो जाना। जहाँ ध्याता और ध्येय की एकता सध जाती है, वहाँ परमानंद का अनुभव होता है। मुनि अपने मन का जागरूक होकर परिशोधन करे, तो शिवसुन्दरी को वश में

करने के लिए यह बिना औषधी का वशीकरण है। मन के द्वारा ही मुनि अमन की भूमिका में पहुँचकर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

(३१६) प्रवचनाब्जविलासरविप्रभा, प्रशमनीरतरंगतरंगिणी।
हृदयशुद्धिरूदीर्णमदज्वर प्रसरनाशविधौ परमौषधम्।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> हृदय की शुद्धि, प्रवचनरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य की प्रभा के समान है, प्रशमरूपी जल की तरंगवाली नदी है, उदित मदरूपी बढ़ते हुए ज्वर को नाश करने के लिए परमौषधि रूप है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में हृदय-शुद्धि, अर्थात् मन-शुद्धि की महिमा तीन उपमाओं द्वारा समझाई गई है। जैसे सूर्य की किरण से कमल का विकास होता है, वैसे ही हृदय की निर्मलता हो, सरलता हो, तो जिनेश्वर कथित वचनों के रहस्यों का उद्घाटन विशेष रूप से होता है। हृदय की निर्मलता उसके आत्म विकास में सहायक होती है। नदी के निर्मल जल में तरंगें उठती हैं, तो वह नदी की प्रफुल्लित और प्रसन्न-अवस्था को सूचित करती है। हृदय की शुद्धि द्वारा क्षमा, नम्रता, मृदुता, संयम, कषाय की उपशांतता आदि प्रकार के शुभ भावरूपी तरंगें उछलती रहती हैं। हृदय की शुद्धि हो जाने पर अहंकार की सत्ता नहीं टिक सकती है। जाति, कुल, रूप, तप, श्रुत, बल, धन और ऐश्वर्य-इन आठ प्रकार के मदरूपी बढ़ते हुए ज्वर का नाश करने के लिए हृदयशुद्धि परमौषधि का काम करती है। इस प्रकार हृदय की शुद्धि हो, तो जिनवाणी का सम्यक्रूप से बोध होता है, निर्मल भावों की तरंगें उठा करती हैं और मद के विकारों का विनाश हो जाता है। जैसे फल के आने पर वृक्ष की शाखाएँ झुक जाती हैं, वैसे ही सम्यक्बोध होने पर हृदय शुद्ध होने के कारण व्यक्ति विनम्र हो जाता है। उसका अहंकार और ममकार का भाव चला जाता है।

(३१७) अनुभवामृतकुंडमनुत्तर - व्रतमरालविलासपयोजिनी।
सकलकर्मकलंकविनाशिनी मनस एव हि शुद्धिरुदाहृता।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> मन की शुद्धि अनुभवरूपी अमृत के कुंड के समान, महाव्रतरूपी हंस को विलास करने के लिए कमलिनी के समान और सकल कर्म के कलंक का नाश करने वाली है- इस प्रकार कहा गया है।

विशेषार्थ - साधक को सारे प्रयत्न मन की शुद्धि के लिए ही करना चाहिए। मन के शुद्ध होने पर मोक्षरूपी मंजिल दूर नहीं। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने मनशुद्धि का प्रभाव बताया है। मनशुद्धि हो, तब ही स्वरूपानुभव हो सकता है। जिस प्रकार मलिन काँच पर अपना चित्र स्पष्ट नहीं दिखाई देता है, वैसे ही राग-द्वेष से मलिन मन द्वारा भी स्वरूपानुभव, आत्म अनुभव नहीं हो सकता है। जब चित्त में राग-द्वेष की अल्पता होती है, तब विकल्प भी शांत हो जाते हैं और निर्विकल्प-दशा प्राप्त होती है, तब शांत सुधारस तथा परम आनंद का अनुभव होता है। अमृत के कुण्ड के समान मन की शुद्धि है। जिस प्रकार हंस मानसरोवर में कमलिनी के साथ विलास करता है, कमलिनी हंस के लिए आनंद का धाम है, उसी प्रकार महाव्रत या चारित्ररूपी हंस के लिए मन की शुद्धि कमलिनी के समान है, क्योंकि मन शुद्ध हो, तो चारित्र का पालन करने में अद्वितीय आनंद का अनुभव होता है और मन अशुद्ध हो, तो महाव्रत बोझरूप लगते हैं। मनशुद्धि के साथ महाव्रतों के पालन में अत्यंत उत्साह और उल्लास बना रहता है। प्रतिकूलता में भी मन शुद्ध होने पर महाव्रत भंग होने का प्रसंग नहीं आता है। तदुपरांत, मन की शुद्धि से कर्मरूपी कलंक का नाश हो जाता है। मन की शुद्धि के साथ कोई भी तप आदि अनुष्ठान किए जाएं, तो असंख्य गुण निर्जरा होती है। मन, वचन और काया-तीनों योगों में मन से ही सबसे अधिक कर्मबन्ध होते हैं और दूसरी ओर कर्मों से मुक्त होने में भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका मन ही निभाता है, इसलिए मन की शुद्धि का महत्त्व बहुत अधिक है।

(३१८) प्रथमतोव्यवहारनयस्थितोऽशुभविकल्पनिवृत्तिपरो भवेत्।
शुभविकल्पमयव्रतसेवया हरति कंटक एव हि कंटकम्।।१५।।

अनुवाद - प्रथम तो व्यवहारनय में रहकर शुभ विकल्पमय व्रतों को स्वीकार करके अशुभ विकल्पों की निवृत्ति करने में तत्पर रहना, काँटे से ही काँटे को निकालना है।

विशेषार्थ - किसी भी लक्ष्य को क्रमशः अभ्यास करते-करते ही प्राप्त किया जा सकता है, सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ाई करके ही मंजिल प्राप्त कर सकते हैं, अतः अशुभ मन से शुभ मन और शुभ मन से शुद्ध मन की

ओर जाया जा सकता है। साधक को अगर चित्त शुद्ध करना है, तो सर्वप्रथम व्यवहारनय में स्थिर रहकर शुभ विकल्पमय व्रतों की उपासना द्वारा अशुभ विकल्पों को दूर करना पड़ेगा। जैसे युवा होने पर कंचन-कामिनी में रस उत्पन्न होने पर खिलौनों का रस अपने-आप छूट जाता है, ठीक वैसे ही शुभ विकल्पों का मन में प्रवेश होने पर अशुभ विकल्प अपने-आप दूर होते जाते हैं। साधक जब प्राथमिक दशा में होता है, तो अनादिकाल के गलत संस्कारों के कारण बार-बार वह अशुभ विकल्पों में उलझ जाता है। अशुभ विकल्प से सीधे निर्विकल्प दशा को प्राप्त करना प्रायः संभव नहीं है। अगर साधक शुद्ध निश्चयनय के अनुसार स्वरूप में स्थिर रहने के लिए सीधे कूद लगाए, तो संभव है कि वह वहाँ स्थिर नहीं रह सके। चूँकि चित्त अत्यंत चंचल है, राग द्वेषयुक्त अनादिकाल के संस्कार हैं, इसलिए मन के अशुभ अध्यवसाय के तत्काल निवारण के लिए अभ्यास होना आवश्यक है, अतः साधक को सूचित किया गया है कि अपनी पात्रता और क्षमता का विचार करके सर्वप्रथम अपने मन के हिंसादि विचार, मृषावाद, दंभ, परधनादि की कामना, विरोध के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, असद्भाव, पक्षपात इत्यादि विविध प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियों और अशुभ अध्यवसायों से निवृत्त होने का अभ्यास करना चाहिए। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यंस्थ भाव का चिंतन और उसका हृदय में विस्तार करते रहना चाहिए, साथ, ही चित्त को निरन्तर शुभप्रवृत्ति में जोड़े रखना चाहिए। इसके लिए साधक को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का सम्यक् प्रकार से पालन करने में तथा आवश्यक-क्रियाओं में विविध प्रकार के तप और त्याग में, परमात्मा की भक्ति में, गुरु की सेवा तथा समर्पण में, स्वाध्याय में अपने चित्त को जोड़ देना चाहिए। कहते हैं कि खाली मन शैतान का घर, अतः प्रारंभिक अवस्था में आवश्यक है कि चित्त को शुभ प्रवृत्तियों के साथ जोड़े रखें। इस प्रकार व्यवहारनय में स्थिर रहने के लिए साधक को शक्ति प्राप्त होती जाएगी। अशुभ विकल्प को शुभ विकल्पों द्वारा दूर करने की क्रिया के लिए दृष्टान्त दिया गया है कि पैर में काँटा लग जाने पर उसे काँटे से ही, अर्थात् कोई नुकीली वस्तु जैसे- सूई आदि से निकाला जाता है, यह तात्कालिक उपचार है। अगर नहीं निकाला जाए, तो असह्य पीड़ा हो जाती है, लेकिन इतना अवश्य है कि पैर में चुभा हुआ काँटा जब निकल जाता है, तब निकालने

वाली सूई या काँटे को अलग रख देते हैं। नाव का सहारा तभी तक लिया जाता है, जब तक किनारा प्राप्त न हो। किनारा मिलने पर नाव का त्याग तो करना ही पड़ता है, तभी मंजिल पर पहुँचा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार, मन से अशुभ विकल्पों का काँटा शुभ विकल्पों द्वारा निकल जाने पर शुभ विकल्पों का भी त्याग करके शुद्ध में जाने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु सर्वप्रथम तो निरन्तर मन के परिणामों पर नजर रखकर उसे शुभ में जोड़े रखना चाहिए।

(३१६) विषमधीत्य पदानि शनैः शनै - र्हरति मंत्रपदावधि मांत्रिकः।
भवति देशनिवृत्तिरपि स्फुटा, गुणकरी प्रथमं मनसस्तथा।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे मांत्रिक मंत्रपदों की अवधि तक पद धीरे-धीरे बोलकर विष का हरण करता है, उसी प्रकार आरंभ में मन की देशनिवृत्ति भी प्रकटरूप से गुणकारी होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> चाहे व्यावहारिक पथ हो या आध्यात्मिक-पथ, लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सामान्य नियम यही है कि क्रमशः रास्ते को पार किया जाए। मन को इस प्रकार शुद्ध करना चाहिए कि जिससे वह शुभ और अशुभ-ऐसे सभी विकल्पों से रहित हो जाए, किन्तु यह आदर्श स्थिति है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए व्यावहारिक मार्ग या शुभविकल्पों के मार्ग का आलम्बन लेकर ही पहुँचा जा सकता है। मन को सर्वथा शुद्ध करना, अर्थात् निर्विकल्प की स्थिति में पहुँचना-यह कोई सामान्य बात नहीं है कि मात्र मनशुद्धि का निर्णय करने से ही वह आचरण में आ जाए। चित्त के व्यापारों में शुभाशुभ विकल्पों की परंपरा निरंतर बहती रहती है, इसलिए ग्रंथकार का कहना है कि व्यवहारनय की अपेक्षा शुभ विकल्प में स्थिर रहने से जो अशुभ में से निवृत्ति होती हो, तो वह आंशिक निवृत्ति, अर्थात् देशनिवृत्ति भी गुणकारी है। इससे लाभ ही होता है। इस नियम को समझाने के लिए वे गारुड़ी विद्या के जानने वाले मांत्रिक का उदाहरण देते हैं। मंत्रपदों में चामत्कारिक विशिष्ट शक्ति रही हुई है। अलग-अलग हेतु के लिए अलग-अलग विधाएँ हैं और प्रत्येक का मंत्र भी भिन्न-भिन्न है। उन भिन्न-भिन्न मंत्रों में विष उतारने का भी मंत्र है और इसकी विद्या गारुड़ी-विद्या कहलाती है। चाहे जो व्यक्ति इस मंत्र का प्रयोग करके विष

नहीं उतार सकता है, बल्कि इस विद्या को जिसने सिद्ध कर रखा हो, उसी के द्वारा प्रयोग करने पर विष उतरता है। किसी के शरीर में विष फैल गया, हो तो मंत्रविद् विधिपूर्वक धीरे-धीरे मंत्र का उच्चारण करते-करते दर्दी के शरीर के ऊपर हाथ फेरता जाता है और मंत्रपदों द्वारा उसे निर्विष करते हुए, अन्त में जिस जगह डंक लगा हो, वहाँ आता है और मंत्रपदों में अन्तिम पद के उच्चारण के साथ ही वहाँ से विष निकाल देता है। इस प्रकार शरीर में अगर जहर फैला हुआ हो, तो सर्वप्रथम उसे निकालना आवश्यक है और यही गुणकारी भी है। विष उतारने की क्रिया को नजरअंदाज करना उचित नहीं है। विष उतारने के बजाए दूसरे उपचार करते हुए दर्दी की मृत्यु भी हो सकती है, इसलिए यहाँ निर्विष करनेरूप देशनिवृत्ति भी लाभदायक है। अशुभ विकल्प विष के समान हैं, मन में यह निरन्तर चलते रहते हैं, इसलिए अशुभ विकल्परूपी विष को दूर करनेरूप देशनिवृत्ति भी लाभदायक है। शुभ विकल्पों को धीरे-धीरे स्थिर करने से अशुभ विकल्प धीरे-धीरे निकल जाते हैं। इस प्रकार व्यवहारनय से प्रथम देशनिवृत्तिरूप अशुभ विकल्पों यथा-द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि के विकल्पों को दूर करना चाहिए। यह जरूरी भी है और लाभकारी भी। सीधा निश्चयनय पर छलांग लगाते हुए साधक को लाभ की अपेक्षा हानि होने की संभावना अधिक रहती है। लक्ष्य तो निश्चयनय का रखना चाहिए, परंतु चलना व्यवहार मार्ग से ही चाहिए-यही मनशुद्धि का उपाय है।

(३२०) च्युतमसद्विषयव्यवसायतो, लगति यत्र मनोऽधिकसौष्ठवात्।
प्रतिकृतिः पदमात्मवदेव वा, तदवलंबनमत्र शुभं मतम्।।१७।।

__अनुवाद -__ अशुभ व्यापारों से निकला हुआ मन प्रतिमा या आत्मसंबंधी पद पर अच्छी तरह से एकाग्र हो जाता है, वह शुभ अवलंबन कहलाता है।

__विशेषार्थ -__ सामान्यतया, अनादिकाल के संस्कारवश मानव निंदा, विकथा, कूड़, कपट, विषय, कषाय आदि में अधिक रुचि रखता है। यह व्यक्ति की अज्ञानता है, किन्तु समझदार, ज्ञानी व्यक्ति के मन में भी आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान-रूप उपद्रव चलता रहता है। अपनी अनुकूलता का निरंतर चिंतन करना-यह भी आर्त्तध्यान की श्रेणी में आता है और उस अनुकूलता को प्राप्त करने के लिए अन्य जीवात्मा को कष्ट देना-यह

रौद्रध्यान का एक प्रकार है। इन अशुभ विकल्पों की वजह से शुभ अनुष्ठानों में भी एकाग्रता नहीं आती है, अतः अशुभ विकल्पों में से मन को दूर करने के बाद वह शुभ भावों में आसानी से स्थिर हो जाता है। शुभचिंतन के लिए कुछ बाह्य-अवलंबन की आवश्यकता होती है। प्रतिकृति, अर्थात् प्रतिमा या चित्रपट का दर्शन भी साधक के लिए श्रेष्ठ अवलंबन बन सकता है। प्रतिमा पर आसानी से मन स्थिर हो जाता है। इसके अलावा आत्मविषयक पद या श्रुतसाहित्य में भी चित्त शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार मन को अशुद्ध अवलंबन से दूर करने के लिए शुभ अवलंबन उपकारी होता है, लाभदायक होता है।

(३२१) तदनुकाचन निश्चयकल्पना, विगलितव्यवहारपदावधिः।
न किमपीति विवेचनसंमुखी भवति सर्वनिवृत्तिसमाधये।।१८।।

अनुवाद - उसके बाद व्यवहार पद की अवधि विगलित होते ही किसी प्रकार की निश्चयदशा की कल्पना होती है। इससे 'कुछ भी नहीं' - इस प्रकार का विवेक जाग्रत होता है। इससे यह (शुभ अवलम्बन) सर्वनिवृत्तिरूप समाधि को प्राप्त कराने वाला होता हैं।

विशेषार्थ - प्राथमिक कक्षा के साधकों के लिए अशुभ विकल्पों को दूर करने के लिए शुभ विकल्पों का आश्रय लेना अनिवार्य है, परंतु वह मंजिल नहीं है, वह विश्रामस्थल नहीं है, वहाँ रुकना नहीं है, वहाँ से भी आगे बढ़ना है, अतः शुभ उपयोग में प्रवर्त्तन करते हुए जब साधक को यह अनुभव होने लगता है कि अब मुझे इस व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं है, तब निश्चयनय पर आए। इससे व्यवहार का अपने-आप त्याग होने लगता है। मैल को वस्त्र से छुड़ाने के लिए साबुन का उपयोग किया जाता है, किन्तु अन्त में साबुन को भी दूर करना पड़ता है, अर्थात् साबुन भी वस्त्र से पूर्णतः निकल जाए, तब वस्त्र शुद्ध होता है, अतः उच्च भूमिका पर पहुँचने के बाद शुभ विकल्प भी अपने-आप समाप्तप्राय हो जाते हैं और निर्विकल्प-दशा की प्राप्ति होती है। जहाँ न शुभ है, न अशुभ है, वह शुद्ध निर्विकल्प-दशा है। 'एगोहं नत्थि मे कोई', मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है- इस प्रकार का स्व-पर का भेद, अर्थात् आत्मा और पुद्गल का विवेक दृष्टि के समक्ष स्पष्ट होते ही सर्वनिवृत्तिरूप समाधि प्राप्त होने लगती है। इस

प्रकार की निर्विकल्प, निश्चयस्वरूप आत्मदशा बहुधा सर्वविरतिधर आत्मा प्राप्त कर सकती है।

(३२२) इह हि सर्वबहिर्विषयच्युतं, हृदयमात्मनि केवलमागतम्।
चरणदर्शनबोधपरंपरा - परिचितं प्रसरत्यविकल्पकम्।।१६।।

__अनुवाद -__ इस प्रकार सभी बाह्य विषयों से विमुक्त हुआ, केवल आत्मा में ही स्थिर हुआ (आया हुआ) दर्शन, ज्ञान और चारित्र की परंपरा से परिचित हुआ हृदय (मन) निर्विकल्प-दशा का विकास करता है।

__विशेषार्थ -__ अध्यात्म-दशा में उच्च कक्षा पर पहुँचने पर मन और हृदय एकरूप हो जाते हैं। समग्र व्यक्तित्व एकाकार हो जाता है। ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए ? ग्रंथकार ने इसके लिए निषेधात्मक और विधेयात्मक-दोनों उपायों को बताया है। प्रथम, जगत् के सभी विषयों से मन निवृत्त होना चाहिए। जब तक जगत् के बाह्य-पदार्थों में रुचि है, तब तक आत्मभावना में, आत्मस्वरूप में रुचि जाग्रत नहीं होगी, क्योंकि बाहर से दृष्टि हटेगी, तभी अन्दर की ओर जाएगी। इसके लिए सांसारिक-विलास, भोगोपभोग और इन्द्रियों के अन्य सभी विषयों से मन का निवृत्त होना आवश्यक है। दूसरी ओर, उसका मन दर्शन, ज्ञान और चारित्र-रूप रत्नत्रयी की परम्परा से परिचित होना चाहिए, अर्थात् उसका मन रत्नत्रयी की आराधना से वासित होना चाहिए। इसकी परंपरा हृदय में चलती रहना चाहिए। इस प्रकार से संस्कारित मन आत्मा में स्थिर होने लगता है। 'मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, चैतन्यस्वरूप, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप, त्रैकालिक ध्रुव आत्मा हूँ'- इस प्रकार की जाग्रति निरंतर रहने लगती है। आत्मा के लक्षण प्रतीत होते हैं। इस प्रकार की आत्मानुभवदशा प्राप्त होने के बाद ऐसी लयस्वरूप एकाकार-दशा प्राप्त होती है, जिसमें शुभ या अशुभ कोई भी विकल्प नहीं उठते हैं, केवल आत्मानुभूति ही रह जाती है। पूर्वजन्म से आराधना चलती रही हो, जीव लघुकर्मी हो, तो ऐसी दशा शीघ्रता से प्राप्त होती है। पूर्वजन्म का अभ्यास होने पर उसे अधिक कठिनाई नहीं आती है।

(३२३) तदिदमन्यदुपैत्यधुनापि नो नियतवस्तुविलास्यपि निश्चयात्।
क्षणमसंगमुदीतनिसर्गधी हृतबहिर्ग्रहमन्तरुदाहृतम्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> नियत वस्तु के प्रति विलासवाला यह मन अब निश्चय स्वभाव के कारण अन्य कोई भी भाव को प्राप्त नहीं होता है। निसर्ग-बुद्धि (स्वाभाविक बुद्धि) का उदय होने से जिसका बाह्य-पदार्थों का ज्ञान नष्ट हुआ है, वह मन क्षणवार (बार-बार) असंग-दशा को प्राप्त होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस प्रकार निश्चयदशा को प्राप्त हुआ मन अब कोई भी परपदार्थ में या परभाव में नहीं लगता है। जैसा कि कबीर ने कहा है- 'प्रेम गली अति सांकरी, जा में दो न समाय', या तो मन में बाह्य-जगत् प्रतिष्ठित होगा या आन्तरिक जगत्। जिसने आन्तरिक जगत् की महिमा को जान लिया, उसका अनुभव कर लिया, फिर उसे बाह्य- जगत् नीरस प्रतीत होता है। वह स्व-स्वरूप में विलास करता है, जो नियत है। वह चैतन्यता में रमण करता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से उसकी निर्मल बुद्धि ऐसी हो जाती है कि परभाव में जाना या उसका संग करना उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होता है। वह क्षणवार असंग बनकर अपने स्वरूप में लीन हो जाता है। उसकी बहिर्मुखता नष्ट हो जाती है। अंतर्मुहूर्त्त असंग-दशा के बार-बार अनुभव के कारण बाह्य-पदार्थों का उसका लक्ष्य छूट जाता है। जीव का मन की शुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक-विकास किस प्रकार होता जाता है ? कितनी शीघ्रता से वह आध्यात्मिक-विकास की सीढ़ियाँ चढ़ता है ? उसका यहाँ वर्णन किया गया है।

(३२४) कृतकषायजयः सगभीरिम प्रकृतिशान्तमुदात्तमुदारधीः।
समनुगृह्य मनोऽनुभवत्यहो गलितमोहतमः परमं महः।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> अहो ! कषायों के ऊपर विजय प्राप्त करने वाले, गांभीर्य युक्त, प्रकृति से शान्त, उदात्त और उदार बुद्धि वाले ऐसे महापुरुष, मन का निग्रह करके मोहरूपी अंधकार जिनमें से चला गया है, ऐसी परम ज्योति का अनुभव करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया है कि वास्तविक रूप से मन की शुद्धि कौन कर सकता है ? किस प्रकार की प्रकृति वाले व्यक्ति को

पूर्णतः मन की शुद्धि करने में सफलता मिलना संभव है ? मन की शुद्धि करना अत्यंत कठिन है, अतः क्षुद्र मन वाले मानव, अल्प संकट से विकल होने वाले मानव, भौतिक-विलास में जिनकी सुखबुद्धि रही हुई है- ऐसे मानव मनशुद्धि करने में सफल नहीं हो सकते हैं। मनशुद्धि में सफलता प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम कषायों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। जब तक मन में क्रोध, मान, माया, लोभ का डेरा जमा हुआ है, तब तक मन शान्त नहीं हो सकता है, अशुभ संकल्प विकल्पों से मुक्त नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में कषाययुक्त मन की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ? विजित कषाय के उपरांत व्यक्ति को गंभीर और शांत होना आवश्यक है। चूंकि क्षुद्र मन वाले में अभिमान की संभावना रहती है, वह ज्ञान को पचा नहीं सकता है, अतः व्यक्ति को उदात्त और उदार, तीक्ष्ण बुद्धि वाला होना चाहिए। उदार और तीक्ष्ण बुद्धि हो, तो ही सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान, सत् असत् का विवेक आता है। ऐसे महापुरुष त्वरित अपने मन को शुद्ध बना सकते हैं। उनके मन से मोहरूपी अंधकार चला जाता है, इस कारण से उनकी आत्मज्योति निर्धूम देदीप्यमान स्थिर हो जाती है और वे स्वस्वरूप परम आत्मज्योति के दर्शन का अनुभव करते हैं।

(३२५) गलितदुष्टविकल्पपरंपरं, धृतविशुद्धि मनो भवतीदृशम्।
धृतिमुपेत्य ततश्च महामतिः समधिगच्छति शुभ्रयशः श्रियम्।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> दुष्ट विकल्पों की परंपरा का नाश होते ही विशुद्धि धारण करता हुआ मन जब इस प्रकार का होता है, तब महाबुद्धिशाली, धैर्य को प्राप्त करके उज्ज्वल यशलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> उपाध्याय यशोविजयजी ने मनशुद्धि-अधिकार के अन्त में उसके उपसंहार के रूप में मनशुद्धि की महिमा दर्शाई है। जब महापुरुषों में दुष्ट अथवा अशुभ विकल्पों की परंपरा में से चित्त को मुक्त रखने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, तब उनका चित्त विशुद्धि धारण करता है। चूंकि जब तक अशुभ संकल्प-विकल्पों का ज्वार-भाटा शांत नहीं होता है, तब तक मन की निर्मलता संभव नहीं है, अतः अशुभ विकल्पों से मुक्त, निर्मलता से युक्त मन में ही धैर्य प्रकट होता है। इस प्रकार स्थिरता और धीरता-इन गुणों के द्वारा महापुरुष अपने चित्त को अधिक-से-अधिक

शुद्धोपयोग में रखते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर होते विकास के परिणामस्वरूप ऐसे महात्मा उज्ज्वल यशलक्ष्मी, अर्थात् मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। मन की विशुद्धि बिना शुद्धोपयोग के संभव नहीं है और शुद्धोपयोग बिना मोक्षगति की प्राप्ति नहीं होती है।

इस प्रकार अध्यात्म मार्ग में विकास प्राप्त करने के लिए अपने हृदय के अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए, स्वस्वरूप का अनुभव करने के लिए मन की विशुद्धि अत्यंत आवश्यक है।

-----ooo-----

प्रबंध-चतुर्थ

बारहवाँ अधिकार - सम्यक्त्व अधिकार

(३२६) मनःशुद्धिश्च सम्यक्त्वे सत्येव परमार्थतः।
तद्विना मोहगर्भा सा प्रत्यपायानुबंधिनी।।१।।

अनुवाद - परमार्थ (निश्चय) से तो मन शुद्धि सम्यक्त्व सहित हो तो ही वास्तविक कहलाती है। उसके बिना तो वह मोहगर्भित और प्रत्यपाय, अर्थात् पाप के अनुबंध वाली ही है।

विशेषार्थ - सम्यक्त्व अध्यात्मरूपी वृक्ष का एक बीज है। जब तक सम्यक्त्वरूपी बीज का हृदय में वपन नहीं होगा, तब तक अध्यात्मरूपी वृक्ष भी कैसे संभव होगा, अतः आध्यात्मिक-साधना में मनःशुद्धि सम्यक्त्वसहित हो, तो ही उपयोगी होती है।

प्रश्न उठता है-क्या सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना मन की शुद्धि संभव नहीं है ? जरूर है, क्योंकि संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं, कोई सभ्य है, कोई असभ्य, कोई प्रकृति से भद्र है, कोई अभद्र, कोई सरल, कोई दंभी, कोई समझदार है, कोई अबोध- इस प्रकार प्रत्येक के मनोभावों में एक-दूसरे की अपेक्षा अल्पाधिक शुद्धि तो संभव है। कई व्यक्ति सरल और उपशांत होते हैं, किसी की निंदा-विकथा आदि नहीं करते हैं। मनशुद्धि के विषय में अनेक प्रकार की तरतमता होती है, परंतु अनेक लोगों के मन की शुद्धि व्यावहारिक और सामान्य प्रकार की ही होती है। वह मोहयुक्त, अभिमानयुक्त, अज्ञानयुक्त होती है। इस प्रकार की मन की शुद्धि मिथ्यात्वयुक्त होने से जीव को अपाय, अर्थात् पापाचरण की ओर ले जाती है। चूंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होने पर सत्-असत् का विवेक जाग्रत नहीं होता है, भेदविज्ञान पुष्ट नहीं होता है, अतः अध्यात्म के क्षेत्र में उसकी उपयोगिता नहीं है। सम्यग्दर्शनसहित मन की शुद्धि जीव को मोक्षमार्ग

में आगे बढ़ने के लिए सहायक और उपकारी होती है। उच्च प्रकार की मनःशुद्धि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, अर्थात् मन की विशेष शुद्धि के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं होती है, किन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद मन की शुद्धि का सातत्य और संवर्द्धन क्रमशः मोक्ष की ओर ले जाता है।

(३२७) सम्यक्त्वसहिता एव शुद्धा दानादिकाः क्रियाः।
तासां मोक्षफले प्रोक्ता यदस्य सहकारिता।।२।।

<u>अनुवाद -</u> दानादि क्रियाएँ सम्यक्त्व सहित हों, तो ही शुद्ध हैं। मोक्षरूपी फल की प्राप्ति में सहकार प्रदान करने वाला तो यह सम्यक्त्व ही है-इस प्रकार कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान, तप, त्याग, दान, दया, संयम, भक्ति आदि होते हैं। धार्मिक-अनुष्ठान मूलतः दो उद्देश्य से किए जाते हैं - १. लौकिक आकांक्षा की पूर्ति हेतु तथा २. लोकोत्तर-आकांक्षा, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए। जिन क्रियाओं की पृष्ठभूमि में भौतिक सुख-प्राप्ति का आशय रहा हुआ है या अन्य कोई स्वार्थपूर्ति का आशय रहा हुआ है, वे क्रियाएँ द्रव्य से शुद्ध होने पर भी भाव से विशुद्ध नहीं होती हैं। सम्यक्त्व के अभाव में सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता है, अतः वह व्यक्ति दानादि भी करता है, परंतु उसकी धन के प्रति आसक्ति कम नहीं होती है। उसकी दृष्टि में स्वर्णादि जड़ वस्तुओं की महत्ता बनी रहती है। वह यश आदि की प्राप्ति के लिए दानादि करता है। बाह्य-तपों द्वारा शरीर को कष्ट देते हुए भी उसे प्रायः आभ्यंतर-तप की प्राप्ति नहीं होती है। उसे अणाहारी-पद, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति की लालसा जाग्रत नहीं होती है। सम्यक्त्व के अभाव में किया गया तप कभी-कभी तीव्र अभिमान को जन्म देता है, अतः सम्यक्त्व के अभाव में विभिन्न धार्मिक-क्रियाएँ करते हुए भी लौकिक-आकांक्षाओं के होने से तथा क्रियाओं के सत्यस्वरूप का ज्ञान नहीं होने से तथा लक्ष्य की विशुद्धि नहीं होने से वे मोक्षमूलक नहीं होती हैं। जिन क्रियाओं के साथ सम्यक्त्व का सहकारीत्व हो, वे क्रियाएँ ही शुद्ध कहलाती हैं। मोक्ष-प्राप्ति में सम्यक्त्व की मुख्यता है, इसलिए ही सम्यक्त्व बिना की गई दानादि क्रियाएं मोक्ष-प्राप्ति में सहायक नहीं हो

सकती हैं। मोक्षरूपी द्वार को खोलने के लिए सम्यक्त्व रूपी कुंजी आवश्यक है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि कोई मिथ्यात्वी व्यक्ति दान, दया आदि की प्रवृत्ति करता है, तो क्या वह निरर्थक है, गलत है ? क्या उसकी कोई उपयोगिता नहीं है ? वस्तुतः, मिथ्यात्वी व्यक्तियों की इन क्रियाओं की लौकिक-दृष्टि से या सांसारिक-प्रयोजनों की दृष्टि से उपयोगिता है, इसलिए दानादि क्रियाओं का सर्वथा निषेध नहीं है। ऐसी दान-दया आदि की प्रवृत्ति के बिना संसार का व्यवहार भी चल नहीं सकता है, परंतु मोक्ष के हेतु आध्यात्मिक-प्रगति के लिए तो दानादि प्रवृत्ति सम्यक्त्व सहित होती है, तो ही उपयोगी होती है। सम्यक्त्व नहीं हो, तो आध्यात्मिक-दृष्टि से उसका मूल्य नहीं है।

(३२८) **कुर्वाणोऽपि क्रियां ज्ञातिधनभोगांस्त्यजन्मपि।**
दुःखस्योरो ददानोऽपि नान्धो जयति वैरिणम्।।३।।

<u>अनुवाद -</u> अंधा व्यक्ति चाहे क्रिया करे, परिवार, धन, भोगों का त्याग करे और कष्टों को प्रसन्न हृदय से स्वीकार भी करे तो भी दुश्मन को नहीं जीत सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में सम्यक्त्व सहित और सम्यक्त्व रहित धार्मिक अनुष्ठानों के परिणामों का भेद बताया गया है।

अंधा व्यक्ति क्या नहीं कर सकता है ? वैसे देखा जाए, तो अंधे व्यक्ति में भी बहुत शक्ति होती है। वह धन-संपत्ति का त्याग कर सकता है, परिवारजनों को छोड़ सकता है। वह शब्दभेदी बाण चलाने वाला हो, अर्थात् जिस दिशा से आवाज आ रही हो, उसी दिशा में बाण छोड़कर अपना निशाना लगा सकता है। कदाचित् यह भी संभव है कि वह दुश्मन के साथ आमने-सामने लड़ भी सकता है, लेकिन फिर भी वह कभी दुश्मन के साथ युद्ध में जीत नहीं सकता है, विजय प्राप्त करने का अंतिम महत्वपूर्ण लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व बिना भी व्यक्ति विभिन्न धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न कर सकता है, घर, परिवार, मित्रजन आदि का त्याग कर सकता है, दान दे सकता है, संपत्ति का त्याग कर सकता है, उपवासादि कठोर तपश्चर्या का आचरण कर सकता है, दुःसह्य परीषहों को सहन कर सकता है। यहाँ तक कि महाव्रतों का भी (द्रव्यरूप से) शुद्ध पालन कर

सकता है और वैमानिक देवलोक में नवग्रैवेयक तक जा सकता है, परंतु फिर भी कभी भी अपने अंतिम लक्ष्य, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है, इसलिए मोक्ष के लिए सम्यक्त्व अनिवार्य शर्त है:

(३२६) कुर्वन्निवृत्तिमप्येवं कामभोगांस्त्यजन्नपि।
दुःखस्योरो ददानोऽपि मिथ्यादृष्टिर्न सिद्धयति।।४।।

अनुवाद - कोई भी व्यक्ति, चाहे वह निवृत्ति धारण करता हो, कामभोगों का त्याग करता हो, दुःखों का प्रसन्नता से सामना करता हो, फिर भी मिथ्यादृष्टि हो, तो मोक्ष (सिद्धगति) को प्राप्त नहीं कर सकता है।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक की बात को पुष्ट करने के लिए पुनः उसी बात का पुनरावर्तन किया गया है। सम्यक्त्व के अभाव में सभी प्रकार की धार्मिक-प्रवृत्तियाँ मोक्षप्रापक नहीं बन सकती हैं, क्योंकि उनके मूल में सम्यक्त्व नहीं होता है। बिना सम्यक्त्व के की गई शुभ क्रियाएँ कोल्हू के बैल के समान हैं, जिसमें साधक की गति तो होती है, किन्तु प्रगति नहीं होती। अगर कोई व्यक्ति मोक्ष की सम्भावना को नहीं मानता हो, किसी को आत्मतत्त्व के विषय में शंका हो, कोई मोक्ष में आनन्द या चेतना का अभाव मानता हो, ऐसा व्यक्ति यदि उपवास करता हो, ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, कष्ट सहन करता हो, भोगविलास का त्याग करता हो, सूर्य की आतापना लेता हो, तो भी ये क्रियाएँ उसे मोक्ष की ओर नहीं ले जाती हैं। सम्यग्दर्शन ऐसा वाहन है, जिसमें बैठने पर ही मोक्ष की यात्रा की शुरूआत होती है, अतः प्रथम आवश्यकता सम्यग्दर्शन की है। जगत् में सम्यग्दृष्टि तो बहुत कम होते हैं और मिथ्यादृष्टि की संख्या बहुत अधिक है, अतः प्रश्न उठता है कि क्या मिथ्या दृष्टि की सभी शुभ प्रवृत्तियाँ एकान्तरूप से सर्वथा निष्फल है ? नहीं, ऐसा नहीं हैं। क्योंकि कोई भी क्रिया फल दिए बिना नहीं रहती है अतः इन क्रियाओं से पुण्य का बंध होता है और भौतिक लाभों की प्राप्ति होती है, किन्तु आध्यात्मिक-विकास में अर्थात् मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शनविहीन क्रियाएँ मूल्यहीन हैं।

(३३०) **कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम्।**
सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम्।।५।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार नेत्र का सार कीकी है और पुष्प का सार सौरभ है, उसी प्रकार सभी धर्मकार्य का सार सम्यक्त्व है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में भी सम्यक्त्व की महत्ता बताई गई है। जिस प्रकार आँख में कीकी का महत्त्व है, उसी प्रकार अध्यात्म में सम्यक्त्व का महत्व है, क्योंकि आँख के अन्दर छोटी-सी बिन्दुरूप कीकी ही देखने का काम करती है। अगर किसी की आँखें अत्यन्त रम्य हों, आकर्षक हों, परंतु उसकी कीकी ही खराब हो, तो रम्य आँख की भी कोई कीमत नहीं है, वैसे ही पुष्प भी दिखने में अत्यंत सुंदर हो, आकर्षक हो, रमणीय हो, किन्तु जिस पुष्प में सौरभ नहीं हो, उस पुष्प का कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार धर्मानुष्ठान कितना भी उत्कृष्ट हो, किन्तु सम्यक्त्व की सौरभ के बिना उसका मूल्य नहीं है। सम्यक्त्वसहित की गई धर्म-क्रिया ही सही अर्थ में निर्जरा का कारण बनती है, मिथ्यात्वयुक्त धर्म-क्रियाएँ सही अर्थ में निर्जरा का कारण नहीं बनती हैं, इसलिए धर्म- क्रिया सम्यक्त्वसहित हो, तो वह मोक्ष-प्राप्ति में उपकारक होती है। कहा भी गया है कि अज्ञानी (मिथ्यात्वी) करोड़ों वर्षों तक तप करके भी उतने कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकता है, जितने कर्मों की निर्जरा ज्ञानी (सम्यक्त्वी) एक श्वासोच्छ्वास में कर लेता है।

(३३१) **तत्वश्रद्धानमेतच्च गदितं जिनशासने।**
सर्वे जीवा न हन्तव्याः सूत्रे तत्वमितीष्यते।।६।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यग्दर्शन को ही जिनशासन में तत्त्वश्रद्धान् कहा गया है। कोई भी जीव हनन करने या मारने या कष्ट पहुँचाने योग्य नहीं है, इस तत्त्व को सूत्र में प्रतिपादित किया गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> जैन-धर्म अहिंसाप्रधान धर्म है। साधु का प्रथम महाव्रत अहिंसा-महाव्रत तथा श्रावक का प्रथम अणुव्रत अहिंसा-अणुव्रत है। साधु को त्रस और स्थावर-दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्ति होती है, जबकि गृहस्थ श्रावक के लिए सर्वथा अहिंसा संभव नहीं है, इसलिए उसे

निष्कारण निरपराधी संकल्पपूर्वक त्रसजीवों की हिंसा का त्याग होता है। श्री दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है -

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हापाणि वहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं।।

सभी जीव जीना चाहते हैं, किसी भी जीव को मरना अच्छा नहीं लगता है, इसलिए निर्ग्रन्थ हिंसा का त्याग करता है। सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे होते हैं। किसी भी जीव में हम प्राणों का संचार नहीं कर सकते हैं, तो उनके प्राण लेने का भी हमें कोई अधिकार नहीं है, अतः 'किसी भी जीव को मारना नहीं, कष्ट नहीं पहुँचाना',-यह धर्म का सूत्र है, यह तत्त्वरूप है और तत्त्व पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। अहिंसा-यह आत्मधर्म है। हिंसा करना आत्मा का धर्म नहीं है, इसलिए अहिंसा का बोध हृदय में परिणत हो, यह सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है। हिंसादि पाप स्व-पर के दुःख का कारण होने से तथा भविष्य में दुःखप्रदाता कर्मबंध का कारण होने से दुःखरूप ही हैं। हिंसा के परिणाम से आत्मा का पतन होता है, सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है और सम्यक्त्व हो, तो भी चला जाता है, अतः कोई भी जीव मारने योग्य नहीं है-इस तत्त्व पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।

(३३२) शुद्धो धर्मोऽयमित्येद्धर्मरूच्यात्मकं स्थितम्।
शुद्धानामिदमन्यासां रूचीनामुपलक्षणम्।।७।।

<u>अनुवाद -</u> यह अहिंसारूप धर्म ही शुद्धधर्म है, यही धर्म श्रद्धा या सम्यक्त्व रुचिरूप है। यही सम्यक्त्व की अन्य शुद्ध रुचियों का उपलक्षण है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी भी जीव को मारना नहीं, यह धर्म है, यह तत्त्व है। जिससे जीव को धर्म के प्रति अभिरुचि जाग्रत हो, धर्म का पालन करने की अभिलाषा हो, उसे रुचि कहते हैं। इस धर्मरुचि द्वारा दूसरी अन्य रुचियाँ भी सूचित होती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (२८/१६) में सम्यक्त्व की दस रुचियों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं -

निसग्गुवएसरूई आणारूई सुत्तबीयरूइमेव।
अभिगम-वित्थाररूइ किरिया संखेव धम्मरूइ।।

१. निसर्गरुचि - परोपदेश के बिना ही सम्यक्त्व का आचरण करने वाले कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने से समुत्पन्न होने वाली तत्त्वार्थ श्रद्धा निसर्गरुचि है। इसमें पूर्वजन्म के कर्म के क्षयोपशम से जो अपनी आत्मा में स्वयं ही उत्पन्न ज्ञान से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष - इन तत्त्वों को यथार्थ रूप से जानकर उन पर श्रद्धा करता है तथा जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने ज्ञान से समझकर यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं - इस प्रकार अडिग श्रद्धा रखे वह निसर्गरुचि वाला है।

२. उपदेशरुचि - अरिहन्त भगवान् के अतिशय आदि को देखकर, अथवा उनकी वाणी या उनके अनुयायी साधुओं के वैराग्यवर्द्धक उपदेश सुनकर उत्पन्न होने वाली तत्त्वरुचि उपदेशरुचि है।

३. आज्ञारुचि - वीतराग देव, आचार्य देव तथा गुरु भगवंतो की आज्ञा का पालन करने रूप तत्त्वरुचि आज्ञारुचि कहलाती है।

४. सूत्ररुचि - अंग-बाह्य तथा अंग-प्रविष्ट श्रुत शास्त्रों के तन्मयतापूर्वक अध्ययन से जीवादि तत्त्वों के प्रति श्रद्धारूप तत्त्वरुचि सूत्ररुचि है।

५. बीजरुचि - जिस प्रकार जल में तेल की एक बूंद विस्तार को प्राप्त करती है, उसी प्रकार जो सम्यक्त्व (तत्त्वबोध) एक पद के ज्ञान से अनेक पदों के ज्ञानरूप विस्तार को प्राप्त होता है, वह बीजरुचिरूप सम्यक्त्व है।

६. अभिगमरुचि - ग्यारह अंग, दृष्टिवाद, प्रकीर्णक आदि श्रुत का अर्थरूप ज्ञान से और अन्यों को ज्ञानाभ्यास कराने से जो तत्त्वरुचि जाग्रत होती है, उसे अभिगम रुचि-सम्यक्त्व कहते हैं।

७. विस्ताररुचि - छः द्रव्य, नौ तत्त्व, द्रव्य-गुण-पर्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का विस्तारपूर्वक अभ्यास करने से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वह विस्ताररुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

८. क्रियारुचि - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, व्रत, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं को भावपूर्वक करना क्रियारुचि सम्यक्त्व है।

९. संक्षेपरुचि - जो जिनप्रवचन में निपुण नहीं हैं, किन्तु जिनमें हठाग्रह और कदाग्रह का अभाव है, ऐसे व्यक्ति अल्पज्ञान से ही सच्ची श्रद्धा प्राप्त करते हैं, उनका सम्यक्त्व संक्षेपरुचि सम्यक्त्व है।

१०. धर्मरुचि - वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा करना धर्मरुचि-सम्यक्त्व है।

इस प्रकार दस प्रकार की रुचियों के आधार पर सम्यक्त्व भी दस प्रकार का कहा गया है। जितनी रुचि विशुद्ध और तीव्र होगी, उतना ही सम्यक्त्व भी निर्मल होगा। इन दस रुचि सम्यक्त्व को सराग-सम्यग्दर्शन के अंतर्गत बताया गया है। सराग-सम्यग्दर्शन का अभिप्राय क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन से है।

जीवादि तत्त्वों की यथार्थ जानकारी और दृढ़ श्रद्धा होने के बाद ही साधक अहिंसा आदि व्रतों का यथार्थ पालन कर सकता है।

(३३३) **अथवेदं यथा तत्त्वमाज्ञयैव तथाऽखिलं।**
नवानामपि तत्त्वानामिति श्रद्धोदितार्थतः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार यह समस्त तत्त्वज्ञान जिन-आज्ञा ही है, उसी प्रकार नवतत्त्वों की श्रद्धा भी वस्तुतः जिन-आज्ञा ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी भी जीव का वध नहीं करना, उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाना- इस सूत्र पर श्रद्धा होना चाहिए, क्योंकि यह भगवान की आज्ञा है। जहाँ आज्ञा है, वहाँ धर्म है, इसी प्रकार जहाँ श्रद्धा है, वहाँ सम्यक्त्व है। आज्ञा की आराधना आत्मा को निश्चित ही मोक्ष में पहुँचाती है और आज्ञा की विराधना आत्मा को निश्चित ही संसार में भटकाती है। जैनशासन का हार्द जिनाज्ञा है। वीतराग परमात्मा ने स्वयं केवलज्ञान और केवलदर्शन से जानकर एवं देखकर रागद्वेषादि आंतर-शत्रुओं को जीतने का जो मार्ग बताया, वही है- जिनाज्ञा। वीतराग परमात्मा कभी भी आदेश नहीं करते, वे तो केवल वस्तु-स्वरूप का निर्देशन ही करते हैं। उनके प्रति समर्पित सभी जैनों के लिए उनका यह उपदेश ही परम आज्ञास्वरूप बन जाता है, क्योंकि उस उपदेश को आत्मसात् करने पर ही परमात्मपद की प्राप्ति होती है। 'किसी जीव को मारना नहीं'- इस आज्ञा में केवल जीव-तत्त्व की बात

आती है, परंतु भगवान् ने तो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नौ तत्त्वों की बात कही है, अतः उन पर श्रद्धा करना-यह भी आज्ञारूप ही है, इसलिए मात्र जीवतत्त्व में ही नहीं, नौ तत्त्वों में श्रद्धा होना सम्यक्त्व का लक्षण है। वाचक उमास्वातिजी ने तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है-इस प्रकार कहा है। 'तत्त्व' शब्द से नौ तत्त्वों को भी ले सकते हैं और 'तत्त्व' शब्द से देव, गुरु और धर्म भी ले सकते हैं। इस प्रकार यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ विस्तार किया गया है।

(३३४) इहैव प्रोच्यते शुद्धाऽहिंसा वा तत्त्वमित्यतः।
सम्यक्त्वं दर्शितं सूत्र प्रामाण्योपगमात्मकम्।।९।।

__अनुवाद -__ पुनः, यहाँ शुद्ध अहिंसा को भी तत्त्व कहा गया है। इस प्रकार यहाँ सूत्र के प्रामाण्य को ही सम्यक्त्वरूप में बताया गया है।

__विशेषार्थ -__ जिनागम में शुद्ध अहिंसा-धर्म को असंभव, असंगति, अतार्किक इत्यादि दोषों से रहित शुद्ध एवं निर्दोष धर्म बताया गया है। कपिल के सांख्य-दर्शन एवं अन्य धर्मदर्शनों में भी अहिंसा का निरूपण है, परंतु वह शुद्ध निरूपण नहीं है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म, यथार्थ और विस्तृत विवेचन जिनागमों में किया गया है, उतना सूक्ष्म, यथार्थ और विस्तार से अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में नहीं मिलता है, इसलिए वीतराग परमात्मा द्वारा कथित और गणधरों द्वारा गुम्फित सूत्र को प्रमाणभूत मानना चाहिए। सूत्र के प्रामाणत्व को स्वीकार करने में भी सम्यक्त्व रहा हुआ है।

(३३५) शुद्धाऽहिंसोक्तितः सूत्रप्रामाण्यं तत एव च।
अहिंसा शुद्धधीरेवमन्योन्याश्रयभीर्ननु।।१०।।

__अनुवाद -__ शुद्ध अहिंसा के विधान से शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध होता है। पुनः (शास्त्र द्वारा) शुद्ध अहिंसा का ज्ञान होता है, तो क्या इसमें अन्योन्याश्रय के दोष का भय उत्पन्न नहीं होता है ?

__विशेषार्थ -__ पूर्व श्लोक में बताया गया है कि जहाँ सूत्र का प्रामाण्य स्वीकार है, वहीं सम्यक्त्व है। एक ओर तो कहा गया है कि जहाँ शुद्ध अहिंसा का प्रतिपादन है, वहीं शास्त्र की प्रामाणिकता है और दूसरी ओर

यह कहा गया है कि जो शास्त्र प्रमाणभूत है, उसी में शुद्ध अहिंसा का प्रतिपादन है, परंतु इस प्रकार कहने में क्या अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न नहीं होता है ? ग्रंथकार कहता है कि अन्योन्याश्रय-दोष उत्पन्न नहीं होता है। जिसमें प्राणियों का वध नहीं करनेरूप शुद्ध अहिंसा-धर्म का प्रतिपादन किया गया हो, वही सूत्र प्रमाणरूप कहलाता है। ऐसे सूत्र के श्रवण से ही जीव में शुद्ध अहिंसा के पालन की भावना होती है, इसलिए सूत्र के प्रामाण्य को स्वीकारने में अन्योन्याश्रय-दोष नहीं आता है, क्योंकि प्रामाणिक शास्त्र के द्वारा अहिंसा के विषय में सूक्ष्म ज्ञान होने पर ही अहिंसा का यथार्थ पालन किया जा सकता है।

(३३६) **नैवं यस्मादहिंसायां सर्वेषामेकवाक्यता।**
तच्छुद्धतावबोधश्च संभवादिविचारणात्।।११।।

<u>अनुवाद -</u> नहीं, इस प्रकार नहीं, क्योंकि अहिंसा के विषय में सभी एकमत हैं (प्रायः सभी धर्म अहिंसा को स्वीकारते हैं), संभव आदि की विचारणा से अहिंसा की शुद्धता का ख्याल आ सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> यदि अहिंसा धर्म है और अहिंसा के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र सम्यक् हैं, प्रामाणिक हैं, यदि सभी दर्शन अहिंसारूपी धर्म को स्वीकारते हैं, तो क्या सभी प्रामाणिक हैं? सभी दर्शन अहिंसा के विषय में एकमत हैं - यह सत्य है, किंतु केवल अहिंसा को स्वीकारना ही पर्याप्त नहीं है। उन दर्शनों ने या धर्मों ने अहिंसा-धर्म का प्रतिपादन किस प्रकार किया यह भी देखना अनिवार्य है। उन्होंने जिस ढंग से अहिंसा का प्रतिपादन किया है, वह संभावित है या नहीं और उसके सम्पूर्ण स्वरूप का यथार्थबोध या नहीं होता है, यह भी देखना होगा। उसी के आधार पर प्रतिपादन की शुद्धता का विचार करना चाहिए। जिस शास्त्र में शुद्ध अहिंसा का प्रतिपादन किया गया हो, वह सूत्र ही प्रमाणभूत बनता है। सुवर्ण की तरह शास्त्र भी कष, छेद, ताप आदि परीक्षा में सफल होने पर ही सत्शास्त्र कहलाता है। अन्य दर्शनों के शास्त्र में उत्सर्ग का प्रयोजन और अपवाद का प्रयोजन अलग-अलग होता है, जैसे- किसी भी जीव को मारना नहीं- इस छान्दोग्य-उपनिषद् के उत्सर्ग वचन का प्रयोजन दुर्गति का निवारण है, वेदपाठी ब्राह्मण को बड़ा बैल या बकरा अर्पण करना चाहिए (बलि देना),

इस याज्ञवल्क्यस्मृति में बताए अपवाद का प्रयोजन अतिथि की प्रीति है तथा स्वर्गस्थ पूर्वजों को मछली के मांस से दो महीने तक, हरिण के मांस से तीन महीने तक, घेटे के मांस से चार महीने तक, पक्षी के मांस से पाँच महीने तक तृप्ति होती है, ऐसे मनुस्मृति के आपवादिक-वचन का प्रयोजन पूर्वजों की प्रीति है। इस प्रकार विधि और निषेध का (उत्सर्ग-अपवाद का) प्रयोजन अलग-अलग होने से कोई भी शास्त्रीय व्यवस्था वहाँ युक्ति संगत नहीं है। वे शास्त्र भेद शुद्धि वाले नहीं कहलाते हैं, इसलिए प्रामाणिक भी नहीं कहलाते है।

(३३७) यथाऽहिंसादयः पंच व्रतधर्मयमादिभिः।
पदैः कुशलधर्माद्यैः कथ्यन्ते स्वस्वदर्शने।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> जैसा कि अहिंसा आदि पाँचों को अपने-अपने दर्शन में, व्रतधर्म, यम आदि या कुशलधर्म पदों द्वारा कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> भारतीय-परंपरा में वैदिक, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि भिन्न-भिन्न दर्शनों में मनुष्य-जीवन के लिए उपकारी-कल्याणप्रद ऐसे कितने ही नियमों को अलग-अलग नामों से दर्शाया गया है। वस्तुतः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों को जैन-धर्म में साधु के लिए महाव्रत के रूप में और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप में बताया गया है, बौद्ध-परम्परा में गृहस्थ-धर्म के अष्टशील का विवेचन सुत्तनिपात और धम्मिकसुत्त में किया गया है। जो इस प्रकार हैं पंच सामान्य शील १. अहिंसा-शील २. अचौर्य-शील ३. ब्रह्मचर्य या स्वपत्नी-संतोष ४. अमृषावादशील ५. मद्यपान-विरमण-शील तथा तीन उपोषथ शील ६. विकालभोजन-परित्याग ७. माल्यगन्ध-विरमण ८. उच्चशय्या-विरमण। बौद्ध परम्परा में भिक्षु के दस शील माने गए है जिनके नाम जैन परम्परा के पंचमहाव्रतों के अत्यधिक निकट है। इसी प्रकार अन्य दर्शनों में भी इन पाँचों व्रतों के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग हुआ है। किसी दर्शन में व्रतधर्म, किसी मे यमनियम, किसी में कुशलधर्म-ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये एक-दूसरे के पर्याय हैं, किन्तु इस व्रत विषयक विभावना अथवा विचार प्रत्येक का थोड़ा-थोड़ा भिन्न है। इनके क्रम में भी अन्तर है।

(३३८) प्राहुर्भागवतास्तत्र व्रतोपव्रतपंचकम्।
यमांश्च नियमान् पाशुपता धर्मान् दशाऽभ्यधुः।।१३।।

अनुवाद - इसमें भागवत वाले पाँच व्रत और पाँच उपव्रत-इस प्रकार दस धर्म कहते हैं और पाशुपत-मत वाले पाँच यम और पाँच नियम-इन दस को धर्म मानते हैं।

विशेषार्थ - भारत ऋषिप्रधान देश है, अतः प्राचीन समय में, मनुष्य सामाजिक-जीवन को किस तरह व्यतीत करे, जिससे वह सभ्य एवं उन्नत नागरिक बन सके, शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रह सके, कौन-कौनसे सद्गुण समाज के लिए, कौन-से सद्गुण राज्य के लिए तथा समग्र विश्व के लिए धार्मिक एवं आध्यात्मिक-दृष्टि से उपकारक हों- यह विचार किया गया है। किन सद्गुणों की समाज को विशेष आवश्यकता है, इससे उनकी वरीयता का क्रम निश्चित होता है। प्राचीनकाल में व्यक्ति और समाज किस प्रकार सुखी बनें- इस पर गहन चिंतन किया गया है। प्राचीनकाल में वर्णव्यवस्था-बंधन दृढ़ थे, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लक्षण एवं कार्य निश्चित थे, व्यक्ति के कार्यों या लक्षणों के आधार पर उनके वर्ण को पहचाना जाता था। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति आदि में वर्णव्यवस्था के विषय में तलस्पर्शी चिंतन किया गया है। उसके पश्चात् नैतिक और आध्यात्मिक-जीवन की उन्नति के लिए क्या-क्या आवश्यक है- इसके विषय में प्रत्येक धर्म में अपने-अपने दृष्टिकोण से चिंतन-मनन किया गया है। लेकिन इतना अवश्य है कि जिसे एक धर्म में सद्गुण के रूप में प्रस्तुत किया गया है उनका विरोध दूसरे धर्म ने नहीं किया क्योंकि वे तो मूल रूप में सद्गुण हैं और सद्गुणों का विरोध कौन करे ? परन्तु किसको मुख्य और किसको गौण मानना इसके विषय में दृष्टिकोण में अन्तर होने से इनके क्रम में अन्तर आता है। इनमें भागवत वालों ने पाँच व्रत और पाँच-उपव्रत इस प्रकार दस धर्म बताए हैं, तो पाशुपत-मत वालों ने पाँच यम और पाँच नियम-इस प्रकार दस धर्म बताए हैं।

(३३९) अहिंसा सत्यवचनमस्तैन्यं चाप्यकल्पना।
ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो ह्यार्जवं शौचमेव च।।१४।।

(३४०) संतोषो गुरुशुश्रूषा इत्येते दश कीर्तिताः।
निगद्यन्ते यमाः सांख्यैरपि व्यासानुसारिभिः।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> अहिंसा, सत्यवचन, अस्तेय (अस्तेन्य), अकल्पना (अपरिग्रह) और ब्रह्मचर्य तथा अक्रोध, आर्जव, शौच, संतोष और गुरुशुश्रूषा-इस प्रकार दस धर्म कहे गए हैं। व्यास का अनुसरण करने वाले सांख्यमत वाले भी इन यमों को मानते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> मानव धरती के प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। चिन्तन-मनन करके यथोचित निर्णय पर पहुँचने के लिए उसके पास जैसा मस्तिष्क है, वैसा धरती पर किसी अन्य प्राणी के पास नहीं है, परन्तु मानव में जब तक मानवता का विकास नहीं होता है, तब तक वह पशु के समान ही है, अतः प्राचीन समय से ही ऋषि-महर्षि इस पर चिंतन-मनन करते आए हैं कि मानव में मानवता का विकास कैसे हो ? मनुष्य के पास मन, वाणी और शरीर-ऐसे तीन साधन हैं, जिनके माध्यम से वह सदाचरण या दुराचरण में प्रवृत्त होता है। मानव के उत्थान के लिए, उसे सदाचरण में प्रवृत्त कराने के लिए प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के हेतु अपने कुछ निश्चित नियम थे। इसके अतिरिक्त जनसाधारण के भी कुछ धर्म-नियम थे, जो सभी वर्णों के व्यक्तियों के लिए होना थे। ऐसे धर्म 'सार्ववर्णिक' धर्म के रूप में पहचाने जाते थे या मानवधर्म के रूप में पहचाने जाते थे। यहाँ जो दस धर्म बताए गए हैं, इनमें अहिंसा, सत्य और अस्तेय को सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं सार्ववर्णिक-धर्म माना गया है। व्यक्तिगत और समाजगत जीवन के लिए ये धर्म अत्यंत जरूरी हैं, राज्यव्यवस्था और न्यायतंत्र के लिए भी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हैं। अहिंसा आत्मा का गुण है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी को उसका पालन करना चाहिए। इन तीन धर्मों के उपरांत अकल्पना अर्थात् अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य भी महत्त्वपूर्ण है। अपरिग्रह अर्थात् अनासक्ति, मानसिक-कर्मों की शुद्धि के लिए अनिवार्य है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करने पर मानसिक तनाव बना रहता है। एक वर्ग में सम्पत्ति आदि का अधिक संग्रह हो तो अन्य वर्ग की आवश्यकता-पूर्ति में भी बाधा

उत्पन्न होगी, उन्हें कष्ट सहना पड़ेगा, अतः अनासक्ति को मानसिक-अहिंसा भी कह सकते हैं। उसके बाद अक्रोध, ऋजुता, शौच, संतोष और गुरुशुश्रूषा भी धर्म के लक्षण बताए गए हैं। इस तरह दस प्रकार के धर्म ब्राह्मण-परंपरा में भागवत वाले, पाशुपत-मत वाले तथा सांख्य-मत वाले आदि सभी ने स्वीकार किए हैं। प्राचीनकाल में भारतीय-जीवन-मीमांसकों ने व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन किस प्रकार सुखी, तनावरहित और सुसंस्कारी बन सकता है, उस पर गहन चिंतन मनन करके कितने ही नियम बनाए थे। भौतिक और सामाजिक-जीवन को सुखी करने के बाद जीव कहाँ से आता है ? मृत्यु के बाद कहाँ जाता है ? आदि के विषय में भी प्राचीन ऋषि-मुनियों ने गहन चिंतन-मनन किया है।

(३४१) अहिंसासत्यमस्तैन्यं ब्रह्मचर्यं तुरीयकम्।
पंचमो व्यवहारश्चेत्येते पंच यमाः स्मृताः।।१६।।

अनुवाद - अहिंसा, सत्य, अस्तेस्य चौथा ब्रह्मचर्य और पाँचवा (सम्यक्) व्यवहार - इन पाँच को यम जानना चाहिए।

विशेषार्थ :- पाशुपत, अर्थात् रूद्र मत वाले नैयायिक-ये पाँच यम और पाँच नियम को मानते हैं। भागवत-मत वाले पौराणिक जैसे व्रत और उपव्रत शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार नैयायिक यम और नियम शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे व्रत मुख्य है वैसे यम भी मुख्य हैं। भागवत में जो पाँच व्रत बताए हैं, नैयायिकों ने उन पाँचों को यम की संज्ञा दी है। उसमें चौथे और पाँचवें के क्रम में थोड़ा अन्तर है और भागवत वालों ने अपरिग्रह के लिए 'अकल्पना' शब्द का प्रयोग किया है तथा नैयायिकों ने 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग किया है, परंतु दोनों का भावार्थ लगभग समान ही है।

प्राचीन समय में सदाचार के नियमों में मुख्य और गौण-इस प्रकार भेद किए जाते थे। व्रत, ये मुख्य और उपव्रत, ये गौण कहलाते हैं, उसी प्रकार यम, ये मुख्य और नियम गौण हैं। जो हमेशा पालन करने के लिए हों, वे यम और जो निश्चित अवधि तक सेवन किये जाएं, वे नियम, इस प्रकार की व्याख्या भी कर सकते हैं।

(३४२) अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च पंचैते नियमाः परिकीर्तिताः।।१७।।

अनुवाद - अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच (पवित्रता), आहारलाघव और अप्रमाद ये पाँच नियम के रूप में कहे गए हैं।

विशेषार्थ - पौराणिकों ने गौण व्रत के लिए 'उपव्रत' शब्द का प्रयोग किया है और नैयायिको ने 'नियम' शब्द का प्रयोग किया है। पाँच नियम में प्रथम है- अक्रोध, अर्थात् क्रोध नहीं करना, क्षमा का भाव धारण करना, क्रोध के बाह्य-कारण उपस्थित होने पर भी तितिक्षा रहे, सहिष्णुता रहे, हृदय शान्त रहे, उद्विग्नता उत्पन्न न हो। क्रोध को विवेक एवं विनय से निष्फल कर देना अक्रोध या क्षमा है। दूसरा नियम है- गुरु की सेवा करना, उनके हृदय को सदैव प्रसन्न रखना। तीसरा नियम है- शौच, अर्थात् पवित्रता। शरीर, वस्त्र, उपकरण आदि की तथा क्रियाविधि की शुद्धि रखना शौच-धर्म है। आहार की लघुता, अर्थात् अल्पाहार ग्रहण करना, दूसरे शब्दों में, आहार-संज्ञा पर संयम रखना, जीभ को नियंत्रण में रखना तथा स्वाद के लालच में पेट पर अन्याय नहीं करना। सुपाच्य तथा अल्प आहार से जीवन में स्फूर्ति बनी रहती है। अंतिम नियम है- अप्रमाद, अप्रमाद अर्थात् असावधानी तथा आलस्य का त्याग करना। आलस्य जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है, अतः सदैव जागरूक रहकर कर्त्तव्य में प्रवृत्त होना तथा अकर्त्तव्य से निवृत्त होना ही अप्रमाद है। पाँच उपव्रत और पाँच नियम में अक्रोध, शौच और गुरुशुश्रूषा-इन तीनों में सांख्य के साथ समानता है, किन्तु आहार-लाघव और अप्रमाद के स्थान पर सांख्यदर्शन में आर्जव और संतोष-इन दोनों को रखा गया है।

(३४३) बौद्धेऽकुशल धर्माश्च दशेष्यन्ते यदुच्यते।
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम्।।१८।।

(३४४) संभिन्नालापव्यापादमाभेध्या दृग्विपर्ययम्।
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्।।१६।।

अनुवाद - बौद्ध भी दस अकुशल-धर्म को मानते हैं, जो इस प्रकार हैं- १. हिंसा २. चोरी ३. अन्यथाकाम (परस्त्रीगमन) ४. पैशुन्य (चुगली)

५. कठोर वचन ७. असत्य ८. व्यर्थ का प्रलाप ८. द्वेष ६. असंतोष (अभिध्या) और १०. दृष्टिविपर्यय (अश्रद्धा)। इन दस प्रकार के पापों का मन-वचन और काया से त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ - बौद्ध-धर्म में पापों को 'अकुशल-धर्म' कहा गया है। अकुशल-धर्म-विरोधी- कुशल-धर्म कहे गए हैं, जैसे-हिंसा यह अकुशल-धर्म है और अहिंसा कुशल-धर्म है। हिंसा त्यागने योग्य है और अहिंसा स्वीकारने योग्य है।

बौद्धधर्म में शील, भावना, पारमिता आदि अलग-अलग प्रकार की आचरण शुद्धि बताई गई है। इसमें पंचशील, अष्टशील और दशशील-तीन प्रकार का वर्गीकरण है। इसमें अष्टशील में पंचशील का समावेश हो जाता है और दशशील में अष्टशील का समावेश हो जाता है, किन्तु इनके क्रम में, नाम में या विषय में कुछ भिन्नता अलग-अलग ग्रंथों में प्राप्त होती है। बौद्ध-ग्रन्थों में पाँच सामान्यशील का वर्णन सभी में समान है। ये पंचशील इस प्रकार है - १. अहिंसाशील अथवा प्राणातिपातविरति संसार के स्थावर और जंगम सब प्राणियों के प्रति हिंसा का त्याग। न तो प्राणी का वध करे, न कराए, न करते हुए की अनुमोदना करे। २. अचौर्यशील अथवा अदत्तादानविरति - चोरी का सर्वथा परित्याग करे। ३. अमृषावादशील अथवा मृषावादविरति - मिथ्याभाषण का सर्वथा त्याग करे। ४. ब्रह्मचर्य या स्वपत्नी सन्तोष - जलते हुए कोयले की तरह अब्रह्मचर्य से दूर रहे। ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव हो, तो परस्त्री का अतिक्रमण न करे। ५. सुरापान-प्रमादस्थान-विरति अथवा मद्यपान-विरमणशील - इस धर्म के पालन का इच्छुक मद्यपान न स्वयं करे, न कराए और न करने की अनुमति दे।

इन पंचशील का भिक्षुओं को कठोर रूप से पालन करना अनिवार्य है। बौद्ध-धर्म में, जैन-धर्म के पाँच महाव्रतों में अपरिग्रह का व्रत पंचशील में नहीं लिया है। मद्यपान-विरति को पंचशील में समाविष्ट किया है और दशशील में अपरिग्रह-व्रत को भी स्थान दिया है। पाँच शील में तीन और जोड़कर अष्टशील के रूप में बताए गए हैं। ६. विकालभोजन-त्याग ७. नृत्यगीतवादित्र-विरमण ८. माल्य-धारण एवं गन्ध-विलेपन-विरमण। इनमें दो और जोड़कर दशशील के रूप में प्रख्यात हुए- ६. उच्चासन,

शयन-विरति १०. स्वर्ण रजतग्रहण विरति। जैन-परम्परा में भी भिक्षु के लिए मद्यपान, माल्यधारण, गंध-विलेपन, नृत्य-गीतवादित्र एवं उच्चशय्या आदि को वर्जित किया गया है।

बौद्ध-धर्म में जो दस कुशल-धर्म बताए हैं, उनके नाम और क्रम में भी कुछ अन्तर देखने को मिलता है। कुशल-धर्म भिक्षु और गृहस्थ-सबके लिए है। गृहस्थ-उपासक की सीमाओं को ध्यान में रखकर उनमें कोई संशोधन नहीं किया गया है, जैसे-सुत्तनिपात नामक बौद्धग्रन्थ में गृहस्थ-धर्म के उपदेश में गृहस्थ-उपासक के लिए त्रस एवं स्थावर-दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का निषेध है, जबकि गृहस्थ-उपासक का स्थावर प्राणियों की हिंसा से विरत होना सम्भव ही नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में जिन दस पापों के त्याग करने का संदेश दिया है, उनमें से हिंसा, चोरी और व्यभिचार-ये तीन कायिक-पापकर्म हैं। चुगली, कटुवचन, असत्य वचन और संभिन्नालाप अथवा व्यर्थ प्रलाप-ये चार वाचिक-पाप कर्म हैं और व्यापाद अर्थात् द्वेष तथा दृष्टिविपर्यय अर्थात् अश्रद्धा-ये दो मानसिक पापकर्म हैं।

(३४५) ब्रह्मादिपदवाच्यानि तान्याहुर्वैदिकादयः।
अतः सर्वैकवाक्यत्वाद् धर्मशास्त्रमदोऽर्थकम्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> वैदिक-मत वाले आदि इस अहिंसा को ब्रह्मपद आदि के रूप में पहचान कराते हैं। इस प्रकार सभी में एकवाक्यता होने से ये धर्मशास्त्र भी सार्थक हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इस चर्चा में भाषा अनेकरूप किन्तु भाव एक है। भाषा का स्वरूप ही ऐसा है कि एक पदार्थ के अनेक पर्यायवाची नाम होते हैं। पदार्थ की तरह एक विचार के लिए भी भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है। दूसरी ओर, समानार्थी शब्दों में भी अर्थ का सूक्ष्म भेद रहता है। व्रत, यम, नियम आदि के लिए प्राचीनकाल में अलग-अलग दर्शनों में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनमें भी कुछ अन्तर है। जिस समय जैनदर्शन वाले अहिंसा आदि शब्द का प्रयोग करते थे, उसी काल में वैदिक-मत वाले ब्रह्म आदि शब्दों का प्रयोग करते थे, परंतु शब्दों में अन्तर आ जाने से भाव में अन्तर

नहीं आता है। अहिंसा और ब्रह्म - इन शब्दों के भिन्न होने से अहिंसादि धर्म परस्पर विरुद्ध हैं-ऐसा नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः, अहिंसा आदि धर्मों के सम्बन्ध में विचार करें, तो प्राचीन भारतीय दर्शनों में एकवाक्यता है। यह एकवाक्यता चाहे स्थूल रूप में हो, तो भी सार्थक और उपयोगी है। तत्त्व-विचार की दृष्टि से तलस्पर्शी अभ्यास करने से उनमें जो सूक्ष्म अन्तर है, वह भी समझ में आ जाता है।

(३४६) क्वचैतत्संभवो युक्त इति चिन्त्यं महात्मना।
शास्त्रं परीक्षमाणेनाव्याकुलेनान्तरात्मना।।२१।।

अनुवाद - शास्त्र की परीक्षा करने वाले महात्माओं को उसका यथार्थ स्वरूप कहाँ एवं कैसे संभव हो सकता है, इस विषय पर शांत चित्त से चिंतन करना चाहिए।

विशेषार्थ - उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि सभी दर्शनों में अहिंसा आदि धर्मों की एकवाक्यता है, अर्थात् सभी धर्म एवं दर्शन अहिंसा आदि को उपादेय, अर्थात् ग्रहण करने योग्य बताते हैं। हिंसा का सभी निषेध करते हैं, तो फिर किस धर्म-दर्शन के कौन-से धर्मग्रन्थ में अहिंसा आदि का सविशेष स्वरूप यथार्थतः और सूक्ष्मरूप से प्रतिपादित किया गया है-इसकी गवेषणा करना चाहिए, केवल स्थूल स्वरूप को देखकर ही निर्णय नहीं करना चाहिए। सफेद-सफेद सभी शकर नहीं होती है। जिन्होंने सभी दर्शनों का सूक्ष्म अध्ययन किया है तथा जो माध्यस्थ हैं, दृष्टिराग से रहित हैं, ऐसे महापुरुष यह काम कर सकते हैं, क्योंकि जब दर्शनों की चर्चा होती है, तो सभी को अपने-अपने दर्शन सत्य एवं प्रिय लगते हैं, परंतु पक्षपात रहित होकर, अंतर में आकुल व्याकुल हुए बिना स्वस्थ और शांत चित्त से मन को समत्वभाव में स्थापित करके गहन परामर्श करके इस विषय में निर्णय देना चाहिए। अगर कोई भी व्यक्ति दृष्टिराग का चश्मा उतारकर स्वच्छ दृष्टि और हृदय से सभी धर्म-दर्शनों के शास्त्रों का आकलन करेगा, तो उसे स्पष्ट पता चल जाएगा कि अहिंसा की बात विविध दृष्टिकोणों से जितनी सूक्ष्मता से जैनदर्शन में समझाई गई है, उतनी सूक्ष्मता से अन्य किसी भी दर्शन में नहीं समझाई है।

(३४७) प्रमाणलक्षणादेस्तु नोपयोगऽत्र कश्चन।
तन्निश्चयेऽनवस्थानादन्यथार्थस्थितेर्यतः।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> यदि कोई यह कहे कि यहाँ प्रमाण, लक्षण आदि का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर अनवस्था-दोष आता है, जिससे अन्यथा अर्थ की सिद्धि (स्थिति) भी होगी।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार कहते हैं कि सभी दर्शनों में शुद्ध अहिंसा का प्रतिपादन कहाँ हुआ है-इसकी खोज करना चाहिए। अगर कोई कहे कि खोज के लिए यहाँ प्रमाण और लक्षणों का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि विविध प्रमाणों की सत्यता निश्चित करने के लिए दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता पड़ेगी और इन प्रमाणों की सत्यता की जाँच करने के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता पड़ेगी, इस प्रकार इसका अंत नहीं आएगा, इससे अनवस्था-दोष आएगा, इसलिए यहाँ स्वरूप का निश्चय करने के लिए प्रमाण-लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह उचित नहीं होगा।

(३४८) प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> प्रमाण और उनकी व्यावहारिकता प्रसिद्ध ही है, इसलिए यहाँ प्रमाणों के लक्षणों का विवेचन करने का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ :-</u> शास्त्र-चर्चा में प्रमाण और उसके लक्षणों की बात मुख्य होती है, परंतु जीवन व्यवहार में उनका विनियोग करना कठिन है। संसार में लोक-व्यवहार के आधार पर नियम बनते हैं। दूसरी ओर, लोगों का जीवन भी स्वाभाविक रूप से इन नियमों की मर्यादाओं में ही चलता रहता है। प्रत्येक राज्य में अनेक कानून-कायदे (नियम) होते हैं, किन्तु गाँव के किसी नागरिक से पूछा जाए कि तेरे जीवन में किन-किन नियमों का पालन होता है, तो इसके विषय में उसे कुछ भी पता नहीं होता है। उसका जीवन स्वाभाविक रूप से उन नियमों या मर्यादाओं के अनुसार ही चलता है, किन्तु शब्दों में उसे इन नियमों की कोई जानकारी नहीं होती है और अगर ऐसा

है, तो उसके समक्ष कानूनी नियमों और उपनियमों की चर्चा करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है। जब उनका उल्लंघन होता है, तभी उनकी जानकारी का प्रश्न उपस्थित होता है, परंतु अनेक लोग ऐसे होते हैं कि नियमों की जानकारी के बिना ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं और उनका उल्लंघन भी नहीं करते हैं। ऐसी परिस्थिति में नियमों की चर्चा का उनके लिए कोई प्रयोजन नहीं रहता है। सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि जो प्रमाण स्वतः ही लोगों के जीवन में रूढ़ हो गए हैं, उन प्रमाणों के लक्षणों को नहीं जानने वाला गोपालक भी उन प्रमाणों के अनुसार व्यवहार करता प्रतीत होता है, इसलिए प्रमाणों के लक्षण बताने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

(३४६) तत्रात्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम्।
हिंसादयः कथं तेषां कथमप्यात्मनोऽव्ययात्।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> 'आत्मा नित्य ही है'- ऐसी जिसकी एकान्त मान्यता है, उस दर्शन में आत्मा का किसी भी प्रकार से नाश नहीं होने के कारण हिंसादि की क्रिया किस प्रकार घटित होगी ?

<u>विशेषार्थ -</u> अब ग्रंथकार भिन्न-भिन्न भारतीय- दर्शनों में अहिंसा की विचारणा किस प्रकार है, उसकी परीक्षा करते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने सांख्यदर्शन की बात उठाई है। सांख्यदर्शन में दो प्रमुख तत्त्व-प्रकृति तथा पुरुष को मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति परिणामी-नित्य है, किन्तु पुरुष, अर्थात् आत्मा कूटस्थ-नित्य है। उनकी मान्यता है कि आत्मा उत्पत्ति और विनाश से रहित, एक स्वभाववाली, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और सर्वशक्तिमान् है। वे जीव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, अर्थात् पर्यायों की अनित्यता को स्वीकार नहीं करते हैं, इसलिए उनके मत में हिंसा, अहिंसा, बंध, मोक्ष आदि घटित नहीं होगा। चूंकि यदि आत्मा नित्य या अविनाशी (अव्यय) है, तो उसका वध किस प्रकार हो सकता है ? तो फिर हिंसा भी संभव नहीं होगी, इसलिए उनके दर्शन में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। परंतु वास्तव में आत्मा द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य है। आत्मा नित्य होने पर भी व्यक्ति को स्वयं का या किसी स्वजन का वध होने का दुःख तो होता ही है। यदि आत्मा एकान्तनित्य हो, तो वध के समय उसे

दुःख नहीं होना चाहिए, जहाँ दुःख घटित नहीं होता है, वहाँ हिंसा भी घटित नहीं होती है, परंतु दुःख होता है, यह सबके अनुभव की बात है। इस प्रकार आत्मा की एकान्त नित्यता की मान्यता में त्रुटि रही हुई है, अर्थात् उसमें अहिंसा का शुद्ध स्वरूप नहीं बताया गया है।

(३५०) मनोयोगविशेषस्य ध्वंसो मरणमात्मनः।
हिंसा तच्चेन्न तत्वस्य सिद्धेरर्थसमाजतः।।२५।।

अनुवाद - परन्तु सांख्यदर्शन का कथन है कि विशेष मन-योग का नाश ही आत्मा का मरण अर्थात् हिंसा है, परंतु हिंसा इस प्रकार की ही नहीं है। हिंसा के अर्थ की सिद्धि समाजगत है।

विशेषार्थ - सांख्यवादियों को यह प्रश्न किया गया कि आपकी मान्यता के अनुसार अगर आत्मा एकान्तनित्य हो, तो आपके दर्शन में अहिंसा किस प्रकार घटाई गई, क्योंकि आत्मा के एकान्तनित्य होने से उसकी हिंसा तो हो ही नहीं सकती है।

इस प्रश्न के उत्तर में सांख्यवादियों का कहना है कि आत्मा का इन्द्रिय और मन के साथ जो योग है, उनमें अंतिम योग, अर्थात् मन-योग का नाश होते ही जीव की मृत्यु हुई-इस प्रकार लोक में व्यवहार है। इस मनोयोग के ध्वंस की घटना को ही हिंसा कहते हैं और इसे करने वाला हिंसक कहलाता है। सांख्यवादियों का मंतव्य है कि वस्तुतः आत्मा की हिंसा नहीं होती है, परंतु मनोयोग के वियोगरूप हिंसा की घटना घटित होती है, अतः इस प्रकार की हिंसा नहीं करना चाहिए और अहिंसा-धर्म का पालन करना चाहिए, परंतु सांख्यवादियों का यह कथन अपूर्ण है। मनोयोग का ध्वंस जिस क्षण में होता है, आत्मा से उसके संयोग का नाश तो उसके पश्चात् दूसरे ही क्षण हो जाता है। पुनः, इस प्रकार यदि हिंसा सिद्ध होती हो, तो किसी दूसरे व्यक्ति को हिंसक नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यह ध्वंस तो किसी व्यक्ति के बिना विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी हो जाता है, इसलिए अहिंसा की अवधारणा का तात्त्विक-निरूपण सांख्यमत में सुसंगत नहीं है।

(३५१) **नैतिबुद्धिगता दुःखोत्पादरूपेयमौचितीम्।**
पुंसि भेदाग्रहात्तस्याः परमार्थाऽव्यवस्थितेः।।२६।।

अनुवाद - बुद्धि में दुःख का उत्पाद करना ही हिंसा है- इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है। पुरुष के भेद के आग्रह से वह (हिंसा) वस्तुतः उसकी, अर्थात् पुरुष की ही है-यह सिद्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ - सांख्यवादी कहते हैं कि मनोयोग के ध्वंस की बात आप नहीं मानते हो, तो हमारे अनुसार दूसरे प्रकार से भी हिंसा घटित हो सकती है। विश्व में प्रकृति के चौबीस तत्त्व हैं और उनमें सबसे मुख्य तत्त्व है-बुद्धि। इस बुद्धि में दुःख उत्पन्न करने का नाम ही हिंसा है। सांख्यवादियों का यह तर्क भी उचित प्रतीत नहीं होता है। सांख्यवादी, पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्व और प्रकृति अर्थात् जड़-तत्त्व - इन दो तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। उनका मंतव्य है कि चेतन पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब गिरता है, इसलिए ये दोनों एकरूप आभासित होते हैं और बुद्धि में दुःख उत्पन्न होने पर यह प्रतीत होता है कि पुरुष में दुःख उत्पन्न हुआ, अर्थात् पुरुष उसे अपना दुःख मान लेता है, इस प्रकार पुरुष की हिंसा होती है। सांख्य-दार्शनिकों का यह तर्क अनुचित है, क्योंकि यहाँ पुरुष में हिंसा सीधे नहीं घटित होती है। पुरुष को नित्य मानकर उसमें बुद्धि का प्रतिबिम्ब गिरने पर बुद्धि में दुःख उत्पन्न होता है। वस्तुतः, पुरुष में कोई विकार उत्पन्न ही नहीं होता है, किन्तु भ्रम के कारण पुरुष उस दुःख को अपना मान लेता है, अतः वह हिंसा तो भ्रमजनित है, वास्तविक रूप से नहीं। इससे वस्तुतः हिंसा, पुरुष अर्थात् आत्मा की ही होती है-यह सिद्ध नहीं होता है।

(३५२) **न च हिंसापदं नाशपर्यायं कथमप्यहो।**

जीवस्यैकान्तनित्यत्वेऽनुभवाबाधकं भवेत्।।२७।।

अनुवाद - आश्चर्य यह है कि जीव को एकान्तनित्य मानने पर भी नाश का पर्यायवाची 'हिंसा' शब्द अनुभव का बाधक कैसे नहीं होगा ? अर्थात् अनुभव का बाधक होगा ही।

<u>विशेषार्थ -</u> नाश 'हिंसा' का पर्यायवाची शब्द है। अगर आत्मा को नित्य माना जाए और साथ में हिंसा को भी स्वीकार किया जाए, तो दोनों का सुमेल स्थापित नहीं होता है। एक ओर आत्मा को नित्य मानते हैं तथा दूसरी ओर मनुष्य का घात हो जाने पर उसकी हिंसा मानते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा की हिंसा हुई। इस प्रकार आत्मा को नित्य भी कहना और नाशवंत भी कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जो एकान्तनित्य है उसका नाश कैसे संभव है ? इसलिए नित्य आत्मा में नाशवाचक हिंसा शब्द का प्रयोग करने पर यह अनुभव से विपरीत होगा, क्योंकि नित्य का नाश नहीं होता है और यदि आत्मा का नाश स्वीकार किया जाए, तो फिर आत्मा को अनित्य स्वीकार करना पड़ेगा। वस्तुतः, द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है, परंतु पर्याय की अपेक्षा से उसका उत्पाद और विनाश भी होता है। चेतन तत्त्व नित्य होते हुए भी वह विविध अवस्थाओं, यथा-बालक, युवा, वृद्ध आदि को प्राप्त होता है।

(३५३) शरीरेणापि संबंधो नित्यत्वेऽस्य न संभवी।
विभुत्वे न च संसारः कल्पितः स्यादसंशयम्।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> यह (जीव) एकान्तनित्य हो, तो शरीर के साथ भी उसका संबंध संभव नहीं होगा। जो इसको विभु (सर्वव्यापक) माना जाए, तो निश्चय रूप से यह संसार ही कल्पित हो जाएगा।

<u>विशेषार्थ -</u> यदि आत्मा जन्म-मरणरहित एकान्तनित्य ही मानी जाए, तो उसमें कभी भी परिवर्तन संभव नहीं है, अर्थात् उसका सदा एक जैसा ही स्वरूप रहेगा। फिर तो घर, परिवार आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी नहीं मान सकते हैं। इतना ही नहीं, आत्मा का शरीर के साथ भी सम्बन्ध नहीं मान सकते हैं, क्योंकि शरीर भी परिवर्तनशील है, परंतु आत्मा का शरीर से सम्बन्ध तो हम प्रत्यक्ष देखते ही हैं। अगर शरीर में परिवर्तन होगा, तो ही वह बालक से युवा आदि अवस्थाओं को धारण करेगा। फलतः, उसमें रही हुई आत्मा भी अपने पूर्वपर्याय का त्याग करके नई पर्याय (अवस्था) को धारण करेगी। जब बालक के शरीर में आत्मा के प्रदेश भी शरीर-प्रमाण होकर संकुचित अवस्था में रहते हैं और जैसे-जैसे शरीर का आकार बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मप्रदेश भी शरीर के अनुसार ही

प्रसारित होते हैं, परंतु ऐसा मानने पर आत्मा के एकान्तनित्य रूप को बाधा पहुँचेगी और अगर यह स्वीकार किया जाए कि आत्मा पूर्वपर्याय का त्याग किए बिना ही शरीर के साथ सम्बन्धित रहती है, तो पूर्व और वर्तमान देहावस्था के बीच असंगति होगी। इस प्रकार एकान्तनित्य आत्मा का परिवर्तनशील अनित्य शरीर के साथ संबंध स्थापित नहीं हो सकता है।

पुनः सांख्यवादी आत्मा को व्यापक मानते हैं, यह भी अनुचित प्रतीत होता है। आत्मा को सर्वव्यापी मानने पर जीव चार गतियों में भ्रमण करता है, वह किस प्रकार स्वीकारा जाएगा ? और यदि जीव का परलोकगमन या परिभ्रमण स्वीकार नहीं करेंगे, तो फिर संसार भी किस प्रकार संभव होगा, क्योंकि जीव के संसरण या परिभ्रमण का नाम ही संसार है। संसार केवल कल्पित है, यह मानना होगा, परंतु सांख्य-दार्शनिक ऐसा भी तो नहीं मानते है।

अगर आत्मा को सर्वव्यापी माना जाए, तो एक जीव की मृत्यु के साथ ही सभी जीवों की मृत्यु को स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि यदि सर्वव्यापी में विभाग स्वीकार किया जाएगा, तो फिर उसका सर्वव्यापित्व नहीं रह पाएगा, इसलिए आत्मा एकान्तनित्य नहीं है। वह द्रव्य से नित्य तथा पर्याय से अनित्य है, यही स्वीकारना पड़ेगा। साथ ही, यह भी मानना होगा कि आत्मा शरीरव्यापी है।

(३५४) अदृष्टाद्देहसंयोगः स्यादन्यतरकर्मजः।
इत्थं जन्मोपपत्तिश्चेन्न तद्योगाविवेचनात्।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> किसी कर्म के कारण उत्पन्न देह का आत्मा से संयोग प्रारब्ध से होता है और इस प्रकार पुरुष का जन्म-मरण सिद्ध हो सकता है, लेकिन यह भी तार्किक-रूप से घटित नहीं होता है, क्योंकि इससे उस प्रारब्ध का संयोग क्यों हुआ, वह स्पष्ट नहीं होता है ?

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा को एकान्त-नित्य और अक्रिय मानने वाले सांख्य-दार्शनिक यह तर्क करते हैं कि आत्मा के द्वारा पूर्व में किए हुए अनेक प्रकार के कर्मों में से किसी कर्म के कारण परमाणु ग्रहण होने पर आत्मा के साथ देह-संयोग होता है, अर्थात् पूर्व में किए गए पुण्य-पाप के

संस्कार के कारण ही आत्मा शरीर धारण करती है। आत्मा क्रिया नहीं करती है। कर्म-परमाणुओं में क्रिया होती है, जो कर्मवर्गणा अत्यन्त सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देती है। ये परमाणु अदृष्ट ही रहती हैं, इसलिए आत्मा पर किसी क्रिया का आरोपण करने की आवश्यकता नहीं है। देहसंयोग तो अदृष्ट से, अर्थात् प्रारब्ध से होता है, किन्तु आत्मा को एकान्तनित्य मानने वाले सांख्यवादी का यह तर्क भी उचित नहीं है। आत्मा और देह का संयोग अदृष्ट से होता है, अर्थात् व्यक्ति का शरीर-विशेष धारणरूप जन्म अदृष्ट के कारण होता है। यह मानने से भी कुछ अर्थ नहीं निकलता है, क्योंकि किसी भी वस्तु को अदृष्ट, अर्थात् 'जो दिखाई नहीं दे', कह देने के बाद वह साधक है या बाधक-इस प्रकार की विवेचना नहीं की जा सकती है। देह आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ? दोनों प्रकार से विचार करने पर अनवस्था-दोष आता है। इस प्रकार अदृष्ट के कारण देह और आत्मा के संयोग का विवेचन शक्य नहीं है।

(३५५) आत्मक्रियां विना च स्यान्मिताणुग्रहणं कथम्।
कथं संयोगभेदादि कल्पना चापि युज्यते।।३०।।

<u>अनुवाद</u> - आत्मा की क्रिया के बिना शरीर-रचना हेतु परिमित अणुओं का ग्रहण किस प्रकार होगा ? पुनः; संयोग, भेद आदि की कल्पना भी किस प्रकार घटित होगी ?

<u>विशेषार्थ</u> - सांख्य-दार्शनिक आत्मा को एकान्त-निष्क्रिय मानते हैं। उनका मंतव्य है कि पुरुष (आत्मा) अकर्त्ता है, उसमें क्रिया संभव नहीं है। अगर आत्मा क्रिया ही नहीं करे, तो शरीर को उत्पन्न करने वाले अमुक अणुओं का ग्रहण किस प्रकार करेगी ?

पुनः, सांख्यदर्शन में पुरुष को अकर्त्ता के साथ अमूर्त्त, सर्वव्यापी, नित्य, निर्गुण और सूक्ष्म माना गया है। अगर आत्मा विभु हो, सर्वव्यापी हो, तो वह देह के लिए अमुक परिमित अणुओं को ही क्यों ग्रहण करती है। सर्वव्यापी आत्मा होने से उसका संबंध तो सभी परमाणुओं के साथ होना चाहिए। अमुक अणु ग्रहण करे, अमुक का नहीं, यह किस प्रकार हो सकता है ? जैसे-दूध और पानी के मिल जाने पर उनमें से एक का पान किया जा सकता है, दूसरे का नहीं - ऐसा कहना युक्त नहीं है। आत्मा को

विभु मानने पर उसका परिमित अणुओं के साथ ही नहीं, परंतु अनंत अणुओं के साथ संयोग मानने की स्थिति होगी तथा आत्मा को सर्वव्यापक मानने पर मनुष्य, नरक आदि पर्यायों का एक साथ ही अनुभव होना चाहिए परंतु यह शक्य भी नहीं है और वास्तविक भी नहीं, इसलिए सांख्यों और वैशेषिको की अणुग्रहण सम्बन्धी मान्यता स्वीकार करने योग्य नहीं है।

(३५६) कथंचिन्मूर्त्ततापत्तिर्विना वपुरसंक्रमात्।
व्यापारायोगतश्चैतद् यत्किंचित्तदिदं जगुः।।३१।।

अनुवाद - पुनः, शरीर के बिना परिमित अणुओं के ग्रहण करने के कारण आत्मा में कथंचित् मूर्त्तता भी मानना पड़ेगी। संक्रमण नहीं होने के कारण आत्मा में कोई क्रिया- व्यापार नहीं घट सकता है, इसलिए यह जो कुछ कहा गया है, वह व्यर्थ है।

विशेषार्थ - आत्मा को यदि एकान्तरूप से कूटस्थ-नित्य और अक्रिय माना जाए, तो फिर देह और आत्मा का संयोग किस प्रकार होगा ? यदि आत्मा का देह में असंक्रमण माना जाए, तो देह परमाणुओं का ग्रहण किस प्रकार कर सकती है ? इसलिए सावयवत्व और कार्यत्व को आत्मा में कथंचित् रूप से स्वीकार करने से इस प्रकार संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। आत्मा को कथंचित् मूर्त्त स्वीकार करने पर ही वह शरीर के लिए परमाणु ग्रहण कर सकती है। साथ ही, आत्मा को सर्वव्यापक नहीं, बल्कि शरीर-परिमाण मानना ही उपयुक्त है। जो सर्वव्यापी होता है, उसके गुण सब जगह उपलब्ध होते हैं। चूंकि आत्मा के गुण सब जगह उपलब्ध नहीं होते हैं, अतः आत्मा विभु या सर्वव्यापी नहीं है। पुनः, सांख्य और वैशेषिक भी आत्मा के अनेकत्व या बहुत्व को स्वीकार करते हैं, इसलिए यदि अनेक आत्माएँ व्यापक हैं, तो दीपकों की प्रभाओं के परस्पर सम्मिश्रण की तरह आत्मा के शुभ-अशुभ कर्मों का भी सम्मिश्रण हो जाना चाहिए, इसलिए आत्मा के अनेक और व्यापक मानने से आत्मा के भिन्न-भिन्न शुभ-अशुभ कर्मों के एक-दूसरे में मिल जाने पर एक के शुभ कर्म से दूसरा सुखी और दूसरे के अशुभ कर्म से अन्य दूसरा मनुष्य दुःखी हुआ करेगा। अनेक आत्माओं के शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप एक ही मनुष्य को एक साथ सुख-दुःख आदि का संवेदन होना चाहिए, परंतु ऐसा नहीं होता है। आत्मा

को व्यापक मानने पर सारी कर्मव्यवस्था ही अव्यवस्थित हो जाएगी और न ही देह और आत्मा के संबंध आदि का संतोषपूर्वक उत्तर दिया जा सकेगा।

(३५७) निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुचित्।
किंचित्केनचिदित्येवं न हिंसाऽस्योपपद्यते।।३२।।

<u>अनुवाद -</u> अगर यह आत्मा निष्क्रिय हो, तो वह किसी का भी घात नहीं कर सकती है और न ही किसी के द्वारा उसका घात किया जा सकता है। इस प्रकार इसकी (आत्मा की) हिंसा घटित नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो आत्मा को एकान्तनित्य मानते हैं, उनका कहना है कि आत्मा निष्क्रिय है, अर्थात् आत्मा कुछ करती नहीं है, तो आत्मा न किसी अन्य का घात कर सकती है, न अन्य के द्वारा आत्मा का घात हो सकता है। इस प्रकार आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय मानने से आत्मा की और आत्मा के द्वारा हिंसा घटित नहीं हो सकती है। अतः सांख्यदर्शन में आत्मा की हिंसा ही घटित नहीं होती है, तो वहाँ अहिंसा की बात भी किस प्रकार घटित हो सकती है। हिंसा और अहिंसा एक सिक्के के ही दो पहलू हैं जहाँ हिंसा संभावित है, वहीं अहिंसा भी संभावित है, जहाँ हिंसा नहीं, वहाँ अहिंसा भी नहीं है।

(३५८) अनित्यैकान्तपक्षेऽपि हिंसादीनामसंभवः।
नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य साधनात्।।३३।।

<u>अनुवाद -</u> क्षणिकत्व को सिद्ध करने से नाश के हेतु का अयोग होता है, इसलिए आत्मा को एकान्त-अनित्य मानने वाले के पक्ष में भी हिंसा आदि असंभावित है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बौद्धों के क्षणिकवाद का निर्देश किया है। बौद्धों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्योंकि प्रतिसमय नाश होना ही पदार्थों का स्वभाव है। यदि नाश होना पदार्थों का स्वभाव न हो, तो वे दूसरी वस्तु के संयोग से भी नष्ट नहीं हो सकते हैं। देह की उत्पत्ति हुई, उसी समय से देह के नाश की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो जाती है, अतः किसी प्रहार से शरीर का नाश होता है-ऐसा नहीं है। किसी प्रहार के बिना भी घट का नाश तो निश्चित ही है, इसलिए देहनाश देह से भिन्न नहीं है।

और इसी कारण से प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होता है। चूंकि देहादि प्रत्येक वस्तु विनाशशील स्वभाव से युक्त है, इसीलिए अनित्य है, मरणधर्मा है।

अगर बौद्धों के एकान्त-अनित्यवाद या क्षणिकवाद को स्वीकार किया जाए, तो वस्तु या पदार्थ के नष्ट होने के हेतु का भी अभाव हो जाएगा, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ स्वतः ही प्रत्येक क्षण नष्ट होता है, तो उसे नष्ट करने के लिए हेतु की आवश्यकता ही नहीं होगी। इस प्रकार कोई किसी को नष्ट नहीं कर सकता है, कोई किसी की हिंसा नहीं कर सकता है। चूंकि वस्तु स्वयं ही प्रत्येक क्षण नष्ट हो रही है और प्रत्येक क्षण नवीन उत्पन्न हो रही है, तो हिंसक किसको मानना ? इसलिए क्षणिकवाद में भी हिंसा का संभव नहीं है, परंतु बौद्ध हिंसा-अहिंसा की बात को स्वीकार करते हैं। दस प्रकार के कुशल धर्मों में उन्होंने हिंसा-त्याग को प्रथम स्थान दिया है। इस प्रकार बौद्ध-धर्म में अहिंसा का यथार्थतः प्रतिपादन हुआ है, किन्तु जैसे उनके अनित्यवाद या क्षणिकवाद के साथ हिंसा की धारणा सुसंगत नहीं है, वैसे ही अहिंसा की अवधारणा भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि जहाँ हिंसा सम्भव हो, वही अहिंसा हो सकती है।

(३५६) न च संतानभेदस्य जनको हिंसको भवेत्।
सांवृतत्वादजन्यत्वाद् भावत्वनियतं हि तत्।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में कहा कि इस प्रकार संतान-भेद करने वाले को आप हमेशा हिंसक प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। प्रथम तो आपने जिसे संतान-परंपरा के रूप में स्वीकार किया है, वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है, अतः संतान-धारा काल्पनिक होने से उसका जन्म किस प्रकार होगा ? यह अनुत्पन्न ही कहलाती है। जो भावात्मक या वास्तविक वस्तु हो, वही उत्पन्न हो सकती है, परंतु काल्पनिक वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिए संतानभेदक को हिंसक ठहराना तर्कसंगत नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्धों के अनुसार जगत् में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति के क्षण से ही उसका विनाश प्रारंभ हो जाता है। एक दीपक के जलते ही उसमें उसके विनाश की धारा प्रारम्भ हो जाती है। हमें मिथ्याभ्रम होता है कि दीपक वहीं-का-वहीं है, किन्तु प्रतिक्षण उसके परमाणु बदल रहे हैं। पुराने परमाणु

जलकर नष्ट होते हैं और नए परमाणु प्रज्वलित होते हैं। इस प्रकार दीपक की धारा चलते-चलते एक समय ऐसा होता है, जब दीपक बुझ जाता है। इसी प्रकार कोई घट भी हमें घट के रूप में ही दिखाई देता है, परंतु उसमें प्रतिक्षण विनाश की धारा चलती रहती है, वह जीर्ण होता जाता है। जिस प्रकार जड़ वस्तुओं में विनाश की धारा चलती है, उसी प्रकार जीवित प्राणियों में भी विनाश की धारा चलती रहती है। इस धारा को संतति-परंपरा कहते हैं। जब किसी भी वस्तु या जीव में उसी स्वरूप में विनाश की धारा बहती हो, तो उसे सजातीय संतान कहते हैं। मिट्टी से घट का निर्माण किया जाता है, तो मिट्टी की सजातीय धारा पूर्ण हुई और विजातीय घट की धारा चालु हो गई। फिर घट की सजातीय धारा बहने लगी। कोई वस्तु अचानक टूट जाती है या जीव की अचानक मृत्यु हो जाती है तो उसे धारा का अर्थात् संतति परम्परा का भंग अथवा भेद हुआ। बौद्ध मत के अनुसार किसी व्यक्ति ने दूसरे की हिंसा करके उस सजातीय धारा को तोड़ दिया हो तो वह संततिभेदक कहलाता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति संतति-भेद कर दे, तो उसने उसकी हिंसा की, यह कहा जाता है, इसलिए वह हिंसक कहा जाएगा। इस प्रकार बौद्ध-विचारक चित्त-क्षणों की परम्परा को ही आत्मा मानते हैं। जिस प्रकार एक सूत का धागा मोतियों में प्रविष्ट होकर सब मोतियों की एक माला बनाता है, उसी प्रकार से बौद्धों के मत में चेतना के सम्पूर्ण क्षणों में अन्वित होने वाली कोई एक सत्ता नहीं है। उनके मत में चेतना-क्षणों से पृथक् आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, अतः बौद्ध संतान-परंपरा की सजातीय धारा को खण्डित करने को ही हिंसा के रूप में स्वीकार करते हैं।

(३६०) नरादिक्षणहेतुश्च शूकरादेर्न हिंसकः।
शूकरान्त्यक्षणेनैव व्यभिचारप्रसंगतः।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> मनुष्य आदि जो चित्त-क्षण के हेतु हैं, वे सूकर (भूंड) आदि के हिंसक नहीं हो सकते हैं। सूकर के अंतिम क्षण के साथ में भी इस प्रकार व्यभिचार-दोष का प्रसंग उत्पन्न होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में सूकर तथा शिकारीरूप में मनुष्य का उदाहरण लेकर बताया गया है कि बौद्धमतानुसार हिंसा का कर्त्ता कौन

होगा? इस प्रश्न का समाधान नहीं होता है, क्योंकि बौद्धवादी आत्मा को एकान्तरूप से अनित्य मानते हैं, क्षणिक मानते हैं। क्षण नाशवंत है। प्रथम क्षण में जो होता है, वह दूसरे क्षण नहीं होता है, वह पूर्णतः नष्ट हो जाता है। माना कि किसी शिकारी ने बाण छोड़कर सूकर (भूंड) को मारा, अब इसमें संतानभेदक हिंसक कौन ? शिकारी ने बाण छोड़ा, वहाँ से लेकर सूकर मृत्यु को प्राप्त हुआ, वहाँ तक तो कितने ही क्षण व्यतीत होकर नष्ट हो गए। अब शिकारी ने बाण छोड़ा, उस प्रथम क्षण को लेते हैं, तो उस क्षण में भूंड को अभी बाण लगा नहीं हैं तो शिकारी को हिंसक किस प्रकार कह सकते हैं। भूंड मृत्यु को प्राप्त हुआ, उस अंतिम क्षण को लेते हैं, तो उस क्षण में मारने वाला वह शिकारी नहीं रहा, इसलिए वह हिंसक नहीं कहला सकता है। इस प्रकार प्रारंभिक क्षण लेने पर अंतिम क्षण के साथ और अंतिम क्षण लेने पर प्रारंभिक-क्षण के साथ मेल नहीं होता है, व्यभिचार-दोष की आपत्ति का प्रसंग आता है।

प्रस्तुत श्लोक का दूसरी प्रकार से भी अर्थ कर सकते हैं। बौद्ध-धर्म जन्म-जन्मांतर में विश्वास करता है। एक जीव की मृत्यु होने पर उसमें रहे हुए वासना वाले परमाणु तत्क्षण एकत्रित होकर नया जीव बनता है। मरणकाल में जो उत्पन्न होता है, वह चित्तक्षण उत्तर-चित्तक्षण के साथ सम्बद्ध होता है। माना कि किसी मनुष्य ने सूकर को मार दिया और उसका दूसरा जन्म मनुष्य के रूप में हुआ। अब जो संतानभेदक है, जिसने सूकर को मार दिया है, अर्थात् उसने भूंड-भूंड-भूंड की सजातीय धारा को खण्डित कर दिया और मनुष्य-मनुष्य की विजातीय धारा उत्पन्न कर दी। अब भूंड की धारा का जो अंतिम क्षण है, वही मनुष्य की धारा का प्रथम क्षण है, इसलिए भूंड का अंतिम क्षण, वह मनुष्य-क्षण का हेतु बना, इसलिए बौद्ध जिसे भूंड के हिंसक के रूप में मानते हैं, वह मनुष्य के जन्म का हेतु भी बनता है, इसलिए एक ही क्षण में उसे हिंसक भी मानना पड़ेगा और जनक भी मानना पड़ेगा, परंतु ऐसी स्थिति व्यभिचारी होने से युक्तिसंगत नहीं होती है। इसलिए हिंसक या हिंसा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती है।

(३६१) अनंतरक्षणोत्पादे बुद्धलुब्धकयोस्तुला।
नैवं तद्विरतिः क्वापि ततः शस्त्राद्यसंगतिः।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> अनंतर क्षण में उत्पत्ति (मानने) से बुद्ध और शिकारी-दोनों को समान मानना पड़ेगा। इससे कभी भी विरति (अंत) नहीं होगी। परिणामस्वरूप, शास्त्रादि में असंगति आएगी।

<u>विशेषार्थ -</u> अगर बौद्धवादी इस प्रकार कहते हैं कि सूकर को मारने वाले के उस क्षण को नहीं गिनकर अनंतर, अर्थात् उसके बाद वाले क्षण को हिंसा का कर्त्ता मानना चाहिए, तो बौद्ध के मतानुसार ही दूसरे क्षण में मारने वाला शिकारी तो रहता नहीं है, इसलिए दूसरे क्षण वाले को हिंसक मानो या अन्य किसी व्यक्ति को मानो, कुछ अंतर नहीं पड़ता है। हिंसा का पाप शिकारी के स्थान पर बुद्ध (ज्ञानी, निर्दोष) पर भी लागू हो सकता है, अर्थात् अकृत-कर्मभोग नामक दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोषी और निर्दोष-दोनों को तुल्य मानना पड़ेगा और हिंसा का अंत ही नहीं आएगा। परिणामस्वरूप, शास्त्रों के उपदेशों में विसंगति उत्पन्न होगी। इस प्रकार एकान्त-अनित्यवाद को स्वीकार करने वाले बौद्धदर्शन में 'हिंसा' का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होता है, तो शुद्ध अहिंसा कहाँ से स्पष्ट होगी ? बौद्ध-धर्म में दस कुशलधर्म में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है, किन्तु अहिंसा सम्बन्धी उनका विचार विशद, स्पष्ट और तर्कसंगत नहीं है।

(३६२) घटन्ते न विनाऽहिंसा सत्यादीन्यपि तत्वतः।
एतस्या वृत्तिभूतानि तानि यद् भगवान् जगौ।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> अहिंसा के बिना सत्य आदि को भी तात्त्विक-दृष्टि से स्पष्ट नहीं कर सकते हैं। ये सत्य आदि तो इसकी (अहिंसा) की वाड़ के समान हैं- इस प्रकार भगवान् ने कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा को एकान्तरूप से नित्य या अनित्य मानने वाले दर्शनों में अहिंसा का उपदेश होने पर भी अहिंसा के सूक्ष्म, विशद, शुद्ध-स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है, अतः अहिंसा की परिपूर्ण व्याख्या उनमें लागू नहीं होती है।

जैन-दर्शन में अहिंसा के शुद्ध स्वरूप को अत्यंत सूक्ष्म तथा विशद रूप से प्रतिपादित किया गया है। जैन-दर्शन के अनुसार गृहस्थ-श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत तथा गृहत्यागी मुनियों के लिए पाँच महाव्रत ग्रहण करने का विधान है, चाहे अणुव्रत हो या महाव्रत-दोनों में सर्वप्रथम अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। अहिंसा महाव्रत के अंतर्गत द्रव्यहिंसा या भावहिंसा - दोनों को मन, वचन एवं काया से न करना, न करवाना और न ही उसकी अनुमोदना करना चाहिए। यह जैन-दर्शन का सर्वोपरि व्रत है। समस्त व्रतों के सिरमौर इस अहिंसा की आराधना के लिए ही अन्य सभी व्रत, नियम, विधि, विधान हैं। एक दृष्टि से सत्य-महाव्रत, अस्तेय-महाव्रत (अचौर्य), ब्रह्मचर्य-महाव्रत और अपरिग्रह-महाव्रत - ये चारों अहिंसा-महाव्रतरूपी वृक्ष के लिए बाड़ (रक्षक) के समान हैं। अहिंसा आधार है। अगर इन चारों व्रतों में से एक भी व्रत खण्डित हुआ, तो अहिंसा भी खण्डित हो जाएगी, इसलिए अन्य दर्शनों में अहिंसा का स्वरूप ही अपूर्ण तथा अस्पष्ट है, तो शेष चार व्रतों को भी शुद्ध रूप से नहीं घटा सकते हैं।

(३६३) मौनीन्द्रे च प्रवचने युज्यते सर्वमेव हि।
नित्यानित्यं स्फुटं देहाद् भिन्नाभिन्ने तथात्मनि।।३८।।

<u>अनुवाद -</u> जिनेन्द्र के प्रवचन में (आगम में) आत्मा के विषय में नित्य और अनित्य तथा देह से भिन्न और अभिन्न, इन सभी को स्पष्ट रूप से घटा सकते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> मौनीन्द्र, अर्थात् मुनियों के भी इन्द्र जिनेन्द्र तीर्थंकर, जो अष्टप्रातिहार्य चौंतीस अतिशय और केवलज्ञान से युक्त हैं, उन्होंने अपने प्रवचन में जो कुछ कहा, उसे गणधरों द्वारा शास्त्रों में गुम्फित किया गया है। उन शास्त्रों में सभी द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप बताया गया है। उनमें आत्मा को नित्यानित्य तथा देह से भिन्नाभिन्न कहा गया है, अर्थात् आत्मा द्रव्य से नित्य है, परंतु पर्याय की दृष्टि से आत्मा कथंचित् अनित्य भी है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त है। पुनः, आत्मा देह से भिन्न भी है, क्योंकि आत्मा चेतन है और शरीर जड़, दोनों के गुणधर्म अलग-अलग हैं। मृत्यु प्राप्त हुए मनुष्य का जड़ शरीर दिखाई देता है, किन्तु उसमें चेतनरूप आत्मा नहीं होती है, लेकिन जीवित देह में

आत्मा दूध-पानी के समान या लोह-अग्निवत् रही हुई है तथा सुख-दुःख का अनुभव करने वाली होने से आत्मा देह से कथंचित् अभिन्न भी है। आत्मा के इस प्रकार के स्वरूप के साथ ही अहिंसा आदि की व्याख्या स्पष्ट रूप से लागू होती है।

(३६४) आत्मा द्रव्यार्थतो नित्यः पर्यायार्थाद्विनश्वरः।
हिनस्ति हिंस्यते तत्तत्फलान्यप्यधिगच्छति।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा द्रव्य से नित्य है और पर्यायार्थ से अनित्य (नश्वर) है। वह घात करती है और स्वयं घात का शिकार होती है और उस-उस प्रकार के फल को भी भोगती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रायः समस्त आस्तिक-दर्शन के अनुसार आत्मा अजर-अमर है, उसका विनाश नहीं होता है। जैसा कि गीता में कहा गया है - आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते हैं, अग्नि जला नहीं सकती है, पानी गला नहीं सकता है, हवा सुखा नहीं सकती है। ऐसी स्थिति में जीव की हिंसा किस प्रकार संभव है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि विभाव परिणत आत्मा या कर्मबद्ध आत्मा अनादिकाल से पौद्गलिक-शरीर और इन्द्रियादि से सम्बद्ध है। आत्मा और पुद्गलपरिणाम रूप शरीर का ऐसा प्रगाढ़ सम्बन्ध हो गया है कि एक-दूसरे के बिना वे कोई क्रिया सम्पादित नहीं कर सकते हैं। न आत्मा शरीर के सहयोग के बिना अकेली कुछ कर पाती है और न शरीर चेतन आत्मा के बिना कुछ कर सकता है। यह बात सत्य है कि चैतन्य शक्तिरूप आत्मा न उत्पन्न होती है और न ही नष्ट होती है, परंतु इस चैतन्य-शक्ति ने धारण किया हुआ दृश्यमान शरीर देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी के रूप में उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है, इसलिए शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है, शाश्वत है, परंतु देहरूपी पर्यायों की दृष्टि से आत्मा अनित्य है। सामान्य रूप से एक ही द्रव्य में नित्यत्व और अनित्यत्व - इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्म घटित नहीं होते हैं, परंतु उन दोनों को अलग-अलग अपेक्षा से अलग-अलग नय की दृष्टि से देखा जाए, तो घटित हो सकते हैं, इसलिए द्रव्यार्थिक-नय की दृष्टि से देखने पर आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक-नय की दृष्टि से देखने पर आत्मा अनित्य है।

पर्यायार्थिक-नय की दृष्टि से आत्मा अन्य के घात करने की क्रिया करती है तथा स्वयं अन्य के द्वारा हिंसा का शिकार भी होती है, इसलिए हिंसादि पापों का फल भी भोगती है।

जीव और शरीर की सापेक्षता को लेकर शास्त्रकारों ने द्रव्यप्राण और भावप्राण का प्रतिपादन किया है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल (मन-बल, वचन-बल तथा काय- बल) श्वासोच्छ्वास और आयु-ये दस द्रव्यप्राण हैं, अर्थात् पौद्गलिक तथा ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य - ये आत्मा के गुणरूप भावप्राण हैं। प्रत्येक संसारी-जीव इन दोनों प्रकार के प्राणों से युक्त होता है। शरीरादि प्राणों में होने वाली पीड़ा को आत्मा अपनी पीड़ा मानती है, इसलिए प्राणों के अतिपात से आत्मा दुःख का अनुभव करती है, अतएव शास्त्रकारों ने जीवात्मा की हिंसा न कहकर जीव के प्राणों के व्यपरोपण को हिंसा कहा है। प्राणों के साथ प्राणी का अभेद सम्बन्ध होता है, इसे दृष्टि में रखकर प्राणीवध या जीववध कहा जाता है। इस प्रकार जीव को द्रव्यप्राण से विमुक्त करना, उन प्राणों का अतिपात करना ही हिंसा है।

(३६५) इह चानुभवः साक्षी व्यावृत्त्यन्वयगोचरः।
एकान्तपक्षपातिन्यो युक्तयस्तु मिथो हताः।।४०।।

<u>अनुवाद -</u> यहाँ अन्वय और व्यतिरेक से अगोचर (समझ में आता हुआ) अनुभव ही साक्षी है। एकान्तवाद का पक्ष करने वाली युक्तियाँ तो अन्दर-ही-अन्दर नष्ट हो जाती हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जिनेश्वर भगवन्त ने आत्मा का स्वरूप नित्यानित्य और भिन्नाभिन्न कहा है। जीव के स्वरूप में व्यतिरेक और अन्वय-दोनों की प्रतीति होती है। इस विषय में सभी का अनुभव साक्षीरूप में है। व्यावृत्ति या व्यतिरेक, अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति, परिवर्तन आदि और अन्वय, अर्थात् ध्रुवसत्ता। अगर मनुष्य पर्याय का विचार करे, तो बचपन में वह बालक की पर्याय के रूप में था, फिर इस पर्याय का नाश हुआ और युवक की पर्याय की उत्पत्ति हुई। उसके पश्चात् वृद्ध पर्याय वाला हुआ। इन तीनों में अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी उसमें ध्रुव-सत्ता के रूप में आत्मद्रव्य वही-का-वही है। इस ध्रुव-सत्ता के होने पर ही, अवस्था के बदलने पर भी व्यक्ति वही-का-वही रहता है और वही का वही होने से ही उसे पूर्वपर्यायों

का स्मरण रहता है। इस प्रकार द्रव्य के वही रहने पर भी पर्यायें बदलती रहती हैं, जैसे-स्वर्णहार को तोड़कर कुण्डल बनाए, कुण्डल को तोड़कर अंगूठी बनाई, किन्तु तीनों में ही स्वर्ण वही-का-वही रहता है।

इस प्रकार आत्मा एक अपेक्षा से नित्य, अन्य अपेक्षा से अनित्य-दोनों को स्वीकार किया गया है, किन्तु एकान्तनित्य मानने वाले सांख्य-वैशेषिक आदि तथा एकान्त-अनित्य मानने वाले बौद्ध आदि स्वयं ही एक-दूसरे का तर्क और युक्ति से खण्डन करके नष्ट हो जाते हैं।

(३६६) पीडाकर्तृत्वतो देहव्यापत्त्या दुष्टभावतः।
त्रिधा हिंसागमे प्रोक्ता नहीत्थमपहेतुका।।४१।।

<u>अनुवाद -</u> पीड़ा करने से, देह का नाश करने से और दुष्ट भाव से- इस प्रकार तीन प्रकार की हिंसा आगम में कही गई है। यहाँ यह अहेतुक नहीं है, सहेतुक है।

<u>विशेषार्थ -</u> कोई यह प्रश्न करे कि जैनदर्शन भी आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजर-अमर मानता है, तो फिर जैनदर्शन में आत्मा की हिंसा किस प्रकार संभव है ?

ग्रंथकार ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि जिनागम में हिंसा तीन प्रकार की बताई गई है। पूर्व में यह बताया गया है कि आत्मा द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य, इसलिए हिंसक भी पर्याय है और जिसकी हिंसा की जाती है, वह भी पर्याय है। इस प्रकार हिंसा तीन प्रकार से होती है - १. किसी को शारीरिक या मानसिक-पीड़ा पहुँचाने से, २. किसी की देह का घात करने से, ३. दुष्टभाव से हिंसा ।

प्रथम दो प्रकार की हिंसा द्रव्यहिंसा है और तीसरे प्रकार की हिंसा भावहिंसा है। प्रथम दोनों प्रकार की हिंसा में भाव दुष्ट नहीं होते हैं। सावधान रहते हुए भी अनजाने में राग-द्वेष की प्रवृत्ति के बिना किसी जीव के प्राणों का अतिपात हो जा जाए या किसी को मानसिक-पीड़ा पहुँचे, तो वह द्रव्यहिंसा है, क्योंकि उसमें जीव को मारने के परिणाम नहीं हैं। कषाययुक्त आत्मपरिणाम के योग से त्रस और स्थावर प्राणियों का घात करना या दुष्ट हिंसात्मक-भाव रखना, भावहिंसा है। अतः, तीसरे प्रकार

की हिंसा भावहिंसा के अन्तर्गत आती है। चाहे व्यक्ति प्रकट रूप से किसी की हत्या नहीं भी करे, किन्तु किसी को उस हद तक मानसिक-त्रास पहुँचाए कि उसकी मृत्यु हो जाए, तो वह भावहिंसा है। अन्य के दिल को दुःखाना भी भावहिंसा है। इस तरह तीनों प्रकार की हिंसा सहेतुक है, काल्पनिक नहीं है।

(३६७) हन्तुर्जाग्रति को दोषो हिंसनीयस्य कर्मणि।
प्रसक्तिस्तदभावे चान्यत्रापीति मुधा वचः।।४२।।

<u>अनुवाद -</u> जिसकी हिंसा गई, उसका कर्म उदय में आया है, इसमें हिंसक का क्या दोष ? उस (हिंसक) के अभाव में अन्य (हिंसक) के द्वारा हिंसा होती- यह वचन मिथ्या है।

<u>विशेषार्थ -</u> जैनदर्शन के अनुसार कर्मसिद्धान्त के विषय में विचार करते हुए कोई यह शंका करे कि कोई व्यक्ति अन्य के प्रहार से मृत्यु को प्राप्त हुआ, तो इस घटना में वह व्यक्ति अपने पूर्वबद्ध कर्म के अनुसार इस प्रकार की मृत्यु का वरण करने वाला ही था, प्रहार करने वाला तो मात्र निमित्त बना। मान लो इस प्रकार के कर्म उसके उदय में नहीं होते, तो मारने वाला कितना भी प्रयत्न करता, फिर भी वह बच जाता, उसकी मृत्यु नहीं होती। अपने कर्मानुसार उसकी मृत्यु ही लिखी है, तो वह नहीं होता, तो उसके स्थान पर दूसरा कोई व्यक्ति उसकी हत्या कर देता, अतः, उसकी हत्या के लिए उसके पूर्व कर्म ही जिम्मेदार हैं, इसमें निमित्त बनने वाले हत्यारे का कोई दोष नहीं है। इस प्रकार कहना यथार्थ नहीं है। पुनः, कोई यह तर्क करे कि मान लो कर्म के उदय के बिना ही कोई व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुआ- इस प्रकार कहें तो ? हिंसक को हिंसा का दोष तो लगता ही है, दूसरे अहिंसनीय को मारने का दोष भी हिंसक को लगता है, परंतु ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना मिथ्या है। इस शंका का समाधान निम्न श्लोक में किया गया है।

(३६८) हिंस्यकर्मविपाकेर्यद् दुष्टाशयनिमित्तता।
हिंसकत्वं न तेनेदं वैद्यस्य स्याद्रिपोरिव।।४३।।

<u>अनुवाद -</u> हिंस्य प्राणी के कर्म का विपाक हो, तो भी दुष्ट आशय के निमित्त के कारण वह हिंसा है। शत्रु के समान हिंसकत्व (हिंसा का भाव) वैद्य (चिकित्सक) में नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> चाहे आयुष्यकर्म पूर्ण हो जाने पर अपने कर्म के विपाक के फलस्वरूप व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है, किन्तु उसकी हिंसा करने वाले के मन में जो दुष्ट आशय है, वह निमित्त बना। इस घटना में मरने वाले व्यक्ति का कर्म जब उदय में आता है, तब उसके साथ मारने वाले के मन में दुष्ट-आशय भी उत्पन्न होता है। मन के परिणाम के ऊपर ही हिंसा अहिंसा का आधार होता है। 'मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्ध- मोक्षयोः।' कर्मबन्ध और मुक्ति का मुख्य कारण मन ही है। हिंसा-अहिंसा की सदोषता या निर्दोषता का आधार प्राण-व्यपरोपणरूप बाह्य-क्रिया नहीं, अपितु उसके साथ जुड़ी हुई भावना है। अनेक ऐसे प्रसंग होते हैं, जिनमें प्राणवध की भावना नहीं होने पर भी प्राणों का व्यपरोपण हो जाता है, जैसे-कोई चिकित्सक शुद्ध भाव से रोगी को बचाने के संकल्प से, उसको रोगमुक्त करने की दृष्टि से उसकी शल्यचिकित्सा करता है और रोगी को आराम पहुँचाने की भावना से उस पर शस्त्र-क्रिया करता है, उससे रोगी को पीड़ा भी होती है, कई बार रोगी दम भी तोड़ देता है। यहाँ रोगी के प्राणों का घात तो हुआ, परंतु इसके लिए शुभ-आशय वाले चिकित्सक को दोषी नहीं माना जा सकता है। दूसरी ओर, कोई व्यक्ति अपने शत्रु को मारने के लिए बन्दूक चलाता है, किन्तु वह निशाना चूक गया और शत्रु बच गया, उसके प्राणों का घात नहीं हुआ, फिर भी वह हिंसक है, उसे हिंसा का पाप लगता है, क्योंकि उसका आशय दुष्ट है, उसे मारने का है। शास्त्रों में तंदुल मच्छ का उदाहरण आता ही है कि उसने एक भी मछली की द्रव्यहिंसा नहीं की, उनके प्राणों का घात नहीं किया, किन्तु मात्र उनको मारने का मानसिक-संकल्प, दुष्ट-आशय के कारण वह मृत्यु पाकर सातवीं नरक में जाता है। अतः, व्यक्ति हिंसक है या अहिंसक-इसका मुख्य आधार भाव है। संसार में सर्वत्र जीव पाए जाते है। जल में जीव, थल में जीव, वायु में

जीव, अग्नि में जीव, सारा जगत् जीवमय है और वे अपने निमित्त से मरते भी हैं, फिर भी जैन-सिद्धान्त इस प्राणीघात को हिंसा नहीं कहता है। आगम में कहा गया हैं, कि ईर्यासमितिपूर्वक चलते हुए साधु के कदम के नीचे यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ जाए और उसके पैर से दबकर मर भी जाए, तो उस साधु को जन्तु के घात के निमित्त से होने वाले पापकर्म का बन्ध नहीं होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष, कषाय से युक्त दुष्ट आत्म-परिणाम से किसी को मारने की बुद्धिवाला हिंसक है। मरने वाले का चाहे उसके स्वयं के कर्मों का उदय हो, तो भी दुष्ट आशय वाले को हिंसाजन्य कर्म अवश्य बंधते हैं।

(३६६) इत्थं सदुपदेशादेस्तन्निवृत्तिरपि स्फुटा।
सोपक्रमस्य पापस्य नाशात्स्वाशयवृद्धितः।।४४।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार सदुपदेश से, सोपक्रम पाप के नष्ट होने से शुभाशय की वृद्धि से उसकी (हिंसा की) निवृत्ति भी होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> हिंसा के स्वरूप और उसके फल को बताने के पश्चात् प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने, हिंसा से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? उसके तीन उपाय बताए हैं -

१. सदुपदेश से - किसी भी पाप का त्याग उसके स्वरूप को समझने के बाद ही अच्छी तरह से होता है। हिंसा से निवृत्ति पाने के लिए भी जीवों के प्रकार, द्रव्यहिंसा, भावहिंसा, स्थूलहिंसा, सूक्ष्महिंसा आदि के विषय में गम्भीर अभ्यास आवश्यक है। स्थूल-हिंसा तो सामान्यतया समझ में आ जाती है, किन्तु सूक्ष्महिंसा के स्वरूप को सद्‌गुरुओं के सदुपदेश से समझना चाहिए। सदुपदेश का कार्य अत्यंत महत्त्व का है, इसलिए दशवैकालिक में कहा गया है -'सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं', अर्थात् सुनकर ही कल्याण के मार्ग को जाना जाता है और सुनकर ही पाप के मार्ग को जाना जाता है। दोनों मार्ग को जानने के बाद ही निर्णय कर सकते हैं कि कौनसा मार्ग कल्याणप्रद है ? इसलिए यहाँ सर्वप्रथम सदुपदेश से हिंसा-निवृत्ति का मार्ग बताया गया है।

२. सोपक्रम-पाप के नाश से - शुभ परिणाम से पाप का नाश करने से हिंसा की निवृत्ति होती है। मन में जैसे ही पाप के विचार आएं, हिंसा के भाव आएं, वैसे ही तुरंत उन विचारों को रोक देना और मन को शुभ विचारों में जोड़ देना चाहिए। बुरे विचारों का न सम्मान करना चाहिए, न ही उन्हें सहयोग और सुविधा देना चाहिए, अन्यथा बुरे विचार आचार में परिणत हो जाते हैं, अतः निरन्तर जाग्रत रहकर अपना आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिए।

३. शुभाशय की वृद्धि से - निरन्तर अपने शुभ-आशय में वृद्धि करते रहना चाहिए। सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव और करुणाभाव का विस्तार करना चाहिए। सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न होने पर किसी जीव की हिंसा के भाव उत्पन्न नहीं होंगे। अपने शुभाशय में वृद्धि के लिए निम्न चार भावनाओं का सदा चिन्तन करते रहना चाहिए -

१. मैत्रीभाव - जगत् के सभी जीवों के हित की इच्छा करना।

२. प्रमोदभाव - रिद्धि, समृद्धि, ज्ञान आदि में अपने से आगे बढ़े हुए जीवों को देखकर आनंद का अनुभव करना, उनके प्रति ईर्ष्या नहीं करना।

३. करुणाभाव - अपने से निम्न कक्षा पर रहे हुए, दीन-हीन आदि जीवों का तिरस्कार न करके उन पर करुणा रखना, यथाशक्ति उनकी सहायता करना।

४. माध्यस्थ्यभाव - गुणहीन, अज्ञानी, पापी जीवों के प्रति घृणा न करते हुए उनके प्रति माध्यस्थ्यवृत्ति रखना।

(३७०) अपवर्गतरोर्बीजं मुख्याऽहिंसेरामुच्यते।
सत्यादीनि व्रतान्यत्र जायन्ते पल्लवा नवाः।।४५।।

<u>अनुवाद -</u> अहिंसा मोक्षरूपी वृक्ष का बीज है, वह मुख्य कहलाती है। यहाँ सत्यादि व्रत इसके प्रगट हुए नवपल्लव के समान है।

<u>विशेषार्थ -</u> अहिंसा जैनधर्म अथवा दर्शन का प्राण है। निर्मलज्ञान का सार अहिंसा ही है। समस्त सिद्धान्तों का सार अहिंसा ही है। अहिंसा से ही अन्य व्रतों का विकास होता है, इसलिए अहिंसा सर्वव्रतों में प्रधान है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाँच महाव्रत हैं। जैन-दर्शन में अहिंसा की अवधारणा अत्यंत सूक्ष्म है। जीव चाहे सूक्ष्म हो या बादर, त्रस हो या स्थावर, सभी जीवों की तीन योग (मनयोग, वचनयोग और काययोग से) और तीन करण (न करूंगा, न कराऊंगा और न करते हुए अन्य जीव की अनुमोदना करूंगा) से त्रिविध-त्रिविध नवकोटि से अहिंसा का पालन द्रव्य से और भाव से करना होता है। अगर इस प्रकार मात्र एक अहिंसा-व्रत का पालन उचित रूप से निरन्तर करें, तो शेष चार महाव्रतों का पालन तो स्वयमेव हो जाता है, इसलिए अहिंसा को सभी व्रतों का सिरमौर कहा गया है।

प्रस्तुत श्लोक में अहिंसा को मोक्षरूपी वृक्ष का बीज कहा गया है और सत्य आदि शेष व्रतों को मोक्षरूपी वृक्ष के पत्ते कहा गया है। जैसे बीज के बिना वृक्ष का अस्तित्त्व नहीं होता, वैसे ही अहिंसा महाव्रत के पालन के बिना मोक्षरूपी वृक्ष का उद्‌भव नहीं होता। जैसे वृक्ष पत्ते, डाली आदि के बिना शोभित नहीं होता, पत्ते, डाली आदि से ही वृक्ष परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार सत्यादि महाव्रतों से अहिंसा परिपूर्ण होती है।

इस प्रकार महाव्रतों के महत्त्व को वृक्ष का रूपक देकर समझाया गया है। अहिंसा की सूक्ष्म समझ जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में सहायक होती है। अहिंसा का सूक्ष्म पालन जीव के कर्मक्षय में सहायक होता है, इसलिए केवल परिपूर्ण अहिंसा-महाव्रत में भी मोक्ष को प्रदान करने का बल है।

(३७१) अहिंसासंभवश्चेत्थं दृश्यतेऽत्रैव शासने।
अनुबन्धादिसंशुद्धिरप्यत्रैवास्ति वास्तवी।।४६।।

<u>अनुवाद</u> - इस प्रकार अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन इस जिनशासन में देखने को मिलता है। अनुबंध आदि प्रकार की शुद्धि भी वास्तविक रूप से इसमें रही हुई है।

<u>विशेषार्थ</u> - अहिंसा का निर्देश सांख्य, नैयायिक, भागवत-पौराणिक, बौद्ध आदि दर्शनों में भी है, परंतु इन सभी दर्शनों में अहिंसा का सूक्ष्मता से प्रतिपादन नहीं किया गया है। ग्रंथकार ने इस अधिकार के इक्कीसवें

श्लोक में कहा था कि प्राज्ञजनों को सभी शास्त्रों का अवलोकन कर, सूक्ष्म चिंतन-मनन करके यह निर्णय करना चाहिए कि अहिंसा का विविध दृष्टि से सूक्ष्म तथा विशद चिन्तन कौनसे दर्शन में किया गया है। उसके पश्चात् ग्रंथकार ने एकान्त, नित्यवादी, सांख्य आदि दर्शन, एकान्त अनित्यवादी बौद्ध आदि दर्शनों में अहिंसा का शुद्ध और अविरुद्ध प्रतिपादन संभव नहीं है - इस पर तर्कयुक्त विचारणा की। तत्पश्चात् जैनदर्शन में अहिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इस चर्चा का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि अहिंसा का शुद्ध और सर्वांगीण प्रतिपादन मात्र जैनदर्शन में देखने को मिलता है। साथ ही, शुभ तथा अशुभ भावों का फल, गति, शुभ-अशुभ कर्म की परंपरा (अनुबंध) आदि दृष्टि से देखा जाए, तो भी अहिंसा का शुद्ध तर्कयुक्त अविरुद्ध प्रतिपादन जैनदर्शन में ही किया गया है।

ग्रंथकार ने जो यह विधान किया, वह दृष्टिराग से नहीं, बल्कि पक्षपात से रहित होकर तटस्थ समालोचक-दृष्टि से किया है।

(३७२) हिंसाया ज्ञानयोगेन सम्यग्दृष्टेर्महात्मनः।
तप्तलोहपदन्यासतुल्याया नानुबंधनम्।।४७।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यग्दृष्टिवंत महापुरुषों को ज्ञानयोग से युक्त होने पर तपे हुए लोहे पर कदम रखने के समान हिंसा का अनुबंध नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि बाह्य-दृष्टि से हिंसा की प्रवृत्ति होने पर भी कौन व्यक्ति हिंसा के दोष का भागीदार नहीं बनता है।

संसार में सर्वत्र जीव पाए जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व में सूक्ष्म जीव तो ठसाठस भरे हैं, किन्तु बादर जीव भी अनंतानंत भरे हुए हैं। हाथ-पैर हिलाने में, पलक झपकाने में भी जीवों की विराधना होती है। अणगार है, तो भी जब तक शरीर है, तब तक भोजन, गति, स्थिति, हलन-चलन, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएँ अनिवार्य हैं और इन क्रियाओं से स्थावर और सूक्ष्म जीवों की हिंसा भी अपरिहार्य है। चूंकि सारा लोक जीवों से भरा पड़ा है, ऐसी स्थिति में अणगार के लिए भी सर्वांश में अहिंसा का पालन कैसे संभव है ? साथ ही, गृहस्थ-श्रावक जिनमंदिर, उपाश्रय, अपने रहने के लिए

मकान आदि बनवाता है, उसे आरंभ-समारंभ का, पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय आदि प्रकार के जीवों की हिंसा का दोष लगता है या नहीं ?

इस प्रश्न का समाधान यहीं है कि वह सम्यग्दृष्टि हो, तो उसे दोष नहीं लगता है, क्योंकि उसके हृदय में हिंसा के भाव, आसक्ति आदि राग-द्वेषयुक्त परिणाम नहीं होते हैं। उसके हृदय में तो सभी जीवों के प्रति अपार करुणा का स्रोत बहता रहता है। उसके रोम-रोम में अहिंसामय धर्म प्रतिष्ठित है। इस प्रकार की विराधना अनिवार्यता के कारण लाचारी से होती है और उसके लिए भी उसके हृदय में पश्चाताप का भाव रहता है, इसलिए वह अपना कार्य पूरा होते ही शीघ्र उससे निवृत्त हो जाता है। साथ ही, वह उन क्रियाओं को यतनापूर्वक, उपयोगपूर्वक अप्रमत्त-भाव से करता है तथा करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं बनता है। यहाँ दृष्टान्त दिया गया कि किसी मनुष्य को मजबूरीवश तप्त लोहे पर कदम रखने में आए, तो वह कितनी देर रखेगा ? कोई और मार्ग नहीं होगा, तो वह तुरंत पैर रखकर उठा लेगा। सम्यग्दृष्टि जीव की भी ऐसी निर्लिप्त प्रवृत्ति होती है। सूखे गोले की तरह, प्रवृत्ति में रहते हुए भी वह उसमें आसक्त नहीं रहता है, इसलिए उसे हिंसा का अनुबंध नहीं होता है।

(३७३) सतामस्याश्च कस्याश्चिद् यतनाभक्तिशालिनाम्।
अनुबंधो ह्यहिंसाया जिनपूजादिकर्मणि।।४८।।

<u>अनुवाद -</u> जयणा और भक्ति द्वारा शोभित सत्पुरुष से जिनपूजादि कार्यों में कभी यह (हिंसा) हो, तो भी उसको अनुबंध तो अहिंसा का ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> स्थूल और सूक्ष्म अहिंसा का क्षेत्र अत्यंत विशाल है। वैसे तो उठते-बैठते, चलते-फिरते, प्रत्येक कार्य करते हुए जीवों की हिंसा होती है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेऊकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय आदि प्रकार के जीवों की हिंसा मनुष्य से निरंतर होती रहती है। इस हिंसा के द्रव्य और भाव से तीन करण और तीन योग के द्वारा अनेक विकल्प संभव हैं।

१. द्रव्य से हिंसा हो और भाव से हिंसा न हो - बिना किसी दुष्ट-आशय के यतना- पूर्वक कोई प्रवृत्ति करते हुए किसी जीव का घात हो जाए, तो वह द्रव्य-हिंसा हुई, किन्तु भाव से नहीं।

२. भाव से हिंसा हो, किन्तु द्रव्य से नहीं - राग-द्वेष से युक्त अशुद्ध परिणाम से किसी जीव को मारने का विचार करना, किसी का अहित सोचना आदि, जैसे-द्वेषवश या लोभवश किसी चिकित्सक ने रोगी को जहर दिया, किन्तु रोगी की आयुष्य बलवान् होने पर उसे वमन हो गया और वह बच गया, तो इसमें द्रव्य-हिंसा नहीं हुई, किन्तु भाव-हिंसा हुई और वह चिकित्सक हिंसा के दोष का भागीदार हुआ।

३. द्रव्य से हिंसा हो और भाव से भी हिंसा हो - जैसे दुष्ट-आशय से किसी को गोली का निशाना बनाया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसमें दोनों से हिंसा हुई।

४. द्रव्य से भी न हो और भाव से भी न हो - द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा-दोनों से मुक्त तो सिद्ध के जीव हो सकते हैं।

गृहस्थ-जीवन में आरंभ-समारंभ होने से आहारादि के लिए सूक्ष्म तथा वनस्पतिकाय, जैसे-स्थूल एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा तो सतत् चलती रहती है, किन्तु प्रत्येक समय हिंसा के दुष्ट आशय से ही हिंसा नहीं होती है। अगर प्रवृत्ति करते हुए उसमें यतना के भाव न ह,ों तो भी हिंसा का दोष लगता है।

पंचमहाव्रतधारी साधु-साध्वी को गृहस्थ जीवन के आरंभ-समारंभ नहीं होते हैं, इसलिए उनके लिए द्रव्य से जिनपूजादि करने का विधान नहीं है, किन्तु गृहस्थों के लिए जिनपूजादि का विधान है। जो गृहस्थ अपने गृहकार्य को भी यतनापूर्वक करता है, स्वाभाविक है कि जिनपूजादि कार्यों में भी वह यतना का पालन करता है।

शास्त्रकारों ने प्रमाद से होती हुई हिंसा को हिंसा माना है, किन्तु जहाँ हिंसा का भाव नहीं हो, यतना हो, वहाँ जो हिंसा हो जाती है, वह उतनी दोषरूप नहीं है। देशविरति-सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा संपादित सांसारिक-कार्यों में अनजाने में या अपरिहार्य होने से जो हिंसा होती है, उसमें हिंसा का अनुबंध नहीं होता है। जिनपूजादि करते समय सम्यग्दृष्टि महापुरुषों के चित्त में स्थूल या सूक्ष्म हिंसा करने का भाव नहीं होता है, उनके हृदय में तो वीतराग की भक्ति का तीव्र उल्लास होता है, वीतराग की

भक्ति करके वीतराग बनने की कामना होती है। ऐसे जीव अहिंसा की तीव्र रुचि के साथ पूजादि की प्रवृत्ति भी यतनापूर्वक करते हैं। ऐसे लोगों की जिनपूजा में होने वाली हिंसा मात्र द्रव्य हिंसा है और उसमें भी अनुबंध तो अहिंसा का ही होता है। पूजादि क्रिया करते हुए प्रमाद नहीं रखने वालों तथा पूर्ण रूप से यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाले सत्पुरुष को तो ऐसे एकेन्द्रिय जीवों के प्रति करुणा के भाव रहते हैं और उनके प्रति मन-ही-मन क्षमादि के भाव भी रहते हैं, अतः यतनापूर्वक, भावोल्लासपूर्वक जिनपूजादि करने में यत्किंचित् जो एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा हो जाती है, वह मात्र द्रव्य-हिंसा है और दोषरूप नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि जितने मनुष्य जिनपूजादि कार्य करते हैं, वे सभी यतनापूर्वक, अप्रमत्तभाव से भावोल्लासपूर्वक करते हैं। इनमें कितने ही व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं, जिनमें यतना भी नहीं होती है और भक्तिभाव भी नहीं होता है, मात्र गतानुगतिक या परम्परा के कारण यंत्रवत् जिनपूजादि करते हैं। ऐसे व्यक्ति दोष के भागी बनते है।

(३७४) हिंसानुबंधिनी हिंसा मिथ्यादृष्टेस्तु दुर्मतेः।
अज्ञानशक्तियोगेन तस्याहिंसापि तादृशी।।४६।।

<u>अनुवाद -</u> दुर्मति वाले मिथ्यादृष्टि जीव की हिंसा, वह हिंसा के अनुबंध वाली है। उसकी अहिंसा भी अज्ञान-शक्ति के योग वाली होने से उसके (हिंसा के) जैसी ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ मान्यता विपरीत हो जाती है। मिथ्यात्व वह महाविष है, जो समस्त व्रतों, तपस्याओं, आराधनाओं, साधनाओं को विषाक्त, दूषित और निष्फल बना देता है। धर्मसंग्रह में कहा गया है -"न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्व समं विषम्।" मिथ्यात्व के समान कोई शत्रु नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई विष नहीं है। मिथ्यात्व, अर्थात् घोर अज्ञान की दशा। सम्यग्ज्ञान से दृष्टि और विवेक की जाग्रति जिस प्रकार संभव है, वह अज्ञान के कारण संभव नहीं है, अतः दुर्मति दुष्ट-आशय वाले मिथ्यादृष्टि जीव की जो स्पष्ट रूप से हिंसारूप प्रवृत्ति है, वह तो हिंसा है ही, किन्तु धर्म के नाम पर वह पशुबलि आदि अनेक प्रकार की जीवहिंसा करता है, वह भी हिंसा ही है। वह गृहकार्य आदि

लौकिक-प्रवृत्ति में जो हिंसा करता है, वह भी हिंसा के अनुबंध वाली अशुभ कर्म की परम्परा वाली ही हिंसा होती है। स्थानांगसूत्र में मिथ्यादृष्टि की क्रिया को अज्ञान क्रिया कहा है। अतः उनके द्वारा कही हुई अहिंसा की प्रवृत्ति में भी स्वरूप से हिंसा रही हुई होती है, अज्ञान होता है और द्रव्य से हिंसा न भी हो किन्तु भाव से वह हिंसा का सेवन करता है। उसे मन-वचन-काया के योगों का सूक्ष्म ज्ञान नहीं होता है, अतः ऐसी दशा में उसकी अहिंसा भी हिंसा का अनुबंध करने वाली हो जाती है। उससे अशुभ कर्म की परंपरा का निर्माण होता है, जैसे-सूत्रकृतांग में आता है - अहिंसा के पालन के लिए कुछ मिथ्यादृष्टि तापसों ने निर्णय किया कि वनस्पतिकाय के अनेक जीवों की हिंसा से तो अच्छा है कि एक हाथी को मार लिया जाए, जिससे बहुत दिनों तक हम भी खाएंगे और दूसरों को भी खिलाऐंगे। इस प्रकार गलत मान्यता के कारण उनकी अहिंसा भी हिंसा की ही सर्जक होती है।

(३७५) येन स्यान् निह्नवादीनां दिविषद्दुर्गतिः क्रमात्।
हिंसैव महती तिर्यग् नरकादिभवान्तरे।।५०।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए निह्व आदि को देवगति में जाने पर भी क्रम से दुर्गति होती है। वहाँ गुरुतर हिंसा के सेवन से भवान्तर में तिर्तंच और नरक-गति प्राप्त होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> जिनेन्द्रदेव के सिद्धान्त से विपरीत प्ररूपणा करने वाले स्वलिंगी निह्व कहलाते है। निह्व दो प्रकार के होते हैं- १. प्रवचन-निह्व और २. निन्दक-निह्व। इनमें से प्रवचन-निह्व तो नव ग्रैवेयक तक जा सकता है, परंतु निन्दक-निह्व किल्विषिक देव (हल्की जाति के देव) होते हैं।

जिनशासन में रहकर गाढ़ मिथ्यात्वी, अभव्य और निह्व के द्वारा पाली गई अहिंसा भी विशिष्ट फल प्रदान करने वाली नहीं होती है, बल्कि क्रम से व्यक्ति को दुर्गति में ले जाने वाली होती है। आगम में सात निह्व कहे गए हैं - १. जमालि २. तिष्यगुप्त ३. अषाढ़ाचार्य के शिष्य ४. अश्वमित्र ५. गंगाचार्य ६. रोहगुप्त ७. गोष्ठामाहिल। ये सातों गुरुवचन के उत्थापक हुए। इनमें से जमालि, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल जीवनपर्यन्त निह्व ही रहे और इन्होंने अपना स्वतंत्र मत प्रतिपादित करने का प्रयत्न

किया। शेष चार निह्नवों ने अपनी भूल स्वीकार करके प्रायश्चित्त लिया और गुरु के पास पुनः समुदाय में आ गए।

भगवतीसूत्र में जमालि को निर्मल चारित्र पालने वाला कहा है, तथापि वह किल्विषि देव-योनि में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार निह्नव अहिंसा-व्रत का पालन भी करते हैं और उनको देवगति की प्राप्ति भी हो जाती है, किन्तु मिथ्यात्व के कारण वे किल्विषिक निम्न जाति के देव होते हैं, जहाँ उन्हें अपमान सहन करना पड़ता है। मिथ्यात्व तथा कषाययुक्त परिणाम होने के कारण उनकी संसार-परम्परा में वृद्धि हो जाती है। वे देवगति से तिर्यंच आदि का अवतार प्राप्त करते हैं तथा वहाँ भी गुरुतर हिंसा का आचरण करते हुए नरकादि दुर्गति में चले जाते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्वी जीव अहिंसा से युक्त आचरण करते हुए भी दुर्गति में चले जाते हैं, फिर उनका क्रमशः पतन होता जाता है।

(३७६) साधूनामप्रमत्तानां सा चाहिंसानुबंधिनी।
हिंसानुबंधविच्छेदाद् - गुणोत्कर्षो यतस्ततः।।५१।।

<u>अनुवाद -</u> अप्रमत्त साधुओं की वह हिंसा अहिंसा के अनुबंध वाली होती है, क्योंकि हिंसा के अनुबंध का उच्छेद होने से उनके गुणों का उत्कर्ष होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो सर्वविरतिधर पंचमहाव्रत के पालनकर्त्ता साधुओं का अहिंसा-महाव्रत नवकोटि से (तीन करण, तीन योग से) धारण किए हुए होता हैं, ऐसे महात्माओं के हृदय में विश्व के सभी जीवों के प्रति निरंतर अनुकंपा का स्त्रोत बहता रहता है। जीवों की प्रतिपल रक्षा के लिए वे सदैव जाग्रत रहते हैं। स्वयं से जाते-आते अन्य कोई आवश्यक क्रिया करते हुए स्थूल, सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है, उसके लिए वे ईरियावही करके पश्चातापपूर्वक क्षमा मांगते हैं। जिन महासत्वशालियों के जीवन में से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद चले गये हों, जो अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान पर विराजते हों, वे जाग्रतिपूर्वक यतना का पालन करते हैं, इससे उनको हिंसा का दोष नहीं लगता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है- ''जहाँ प्रमत्तयोग है, वहाँ हिंसा है'', 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा', परंतु जहाँ अप्रमत्तता है, जाग्रति है, वहाँ हिंसा नहीं है। ऐसे साधु भगवंत को किसी अपवाद के

प्रसंग पर विहार के दौरान नदी में उतरने का समय आए या कीचड़ में चलना अनिवार्य हो जाए या अन्य कोई प्रवृत्ति में जुड़ना पड़े तो भी उनकी सतत् जागृति और अप्रमत्तता के कारण उन्हें हिंसा का दोष नहीं लगता है। वस्तुतः, ऐसे अपवाद के प्रसंग पर उनके हिंसा के अनुबंध का विच्छेद हो जाने से तथा निरंतर जाग्रति रहने से तथा अहिंसा के भावों में रमण करने के कारण उनके गुण और अधिक खिल जाते हैं।

(३७७) मुग्धानामियमज्ञत्वात् सानुबंधा न कर्हिचित्।
ज्ञानोद्रेकाप्रमादाभ्यामस्या यदनुबंधनम्।।५२।।

<u>अनुवाद -</u> अज्ञान के कारण मुग्ध लोगों के लिए वह (अहिंसा) कभी भी अबंधनकारक नहीं होती है, क्योंकि यह अबंधनकारक स्थिति ज्ञान के उद्रेक और अप्रमाद से ही होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> अप्रमत्त साधुओं की हिंसा और अहिंसा पर चिंतन करने के पश्चात् प्रस्तुत श्लोक में सामान्य व्यक्ति की अहिंसा की चर्चा की गई है। संसार में अनेक लोग अज्ञानी या मूर्ख भी होते हैं। कई लोगों को अहिंसा का स्वरूप ही ज्ञात नहीं होता है, फिर भी वे बिना समझ के अहिंसा-धर्म का पालन करते हैं, तो उनकी वह अहिंसा, अहिंसा के अनुबंध वाली, अर्थात् भवान्तर में भी अहिंसा की परम्परा या शुभकर्म की परम्परा को जन्म देने वाली नहीं होती है। वह अहिंसा उसी भव में विराम पा लेती है। अहिंसा अबंधनकारक तब ही हो सकती है, जब ज्ञान का उद्रेक हो, अर्थात् व्यक्ति की जितनी सूक्ष्म समझ और ज्ञानाभ्यास होता है, उतना ही अप्रमत्त जीवन होता है। सामान्य मानव की अहिंसा और अप्रमत्त साधु की अहिंसा में यही अन्तर है कि सामान्यजन की अहिंसा, अहिंसा के अनुबंध वाली अर्थात् अहिंसा की परम्परा को सतत् चालू रखने वाली नहीं होती है और अप्रमत्त साधु की अहिंसा अहिंसा के ही अनुबंध वाली अर्थात् अबन्धनकारक होती है।

(३७८) एकस्यामपि हिंसायामुक्तं सुमहदन्तरम्।
भाववीर्यादि वैचित्र्यादहिंसायां च तत्तथा।।५३।।

<u>अनुवाद -</u> एक ही समान हिंसा में भी भाव और वीर्य की विचित्रता के कारण (फल में) बड़ा अन्तर है। उसी प्रकार अहिंसा में भी है।

<u>विशेषार्थ -</u> हिंस्य और हिंसक की अनेक भूमिकाएँ हैं और इन दोनों के योग से हिंसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या सब हिंसाएं एक ही कोटि की होती हैं या उनमें कोई अन्तर है ?

प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार कहते हैं कि एक ही प्रकार की हिंसा में भी बहुत अन्तर है। बाह्य-दृष्टि से स्थूल द्रव्य-हिंसा की दो समान घटनाएं हों, किन्तु हिंसा करने वाले का आशय कैसा है ? उसका वीर्य या शक्ति कितनी है ? संयोग कैसे हैं, उसकी उम्र कितनी है, किस भूमिका पर, उसके मन के भाव कैसे हैं आदि पर चिंतन करने के पश्चात् ही हिंसा किस प्रकार की है - यह निर्णय कर सकते हैं।

तीव्र भाव, अर्थात् अधिक कषाययुक्त परिणाम मंद भाव, अर्थात् अल्प कषाययुक्त परिणाम के कारण भी हिंसा में महत् अन्तर होता है, जैसे-कोई व्यक्ति राजा का कर्मचारी है और वह राजाज्ञा से किसी का वध करता है, किसी को फांसी पर चढ़ाता है और कोई व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थ के कारण, शत्रुता के कारण किसी का वध करता है, ऐसी स्थितियों में वध की क्रिया समान होने पर भी हिंसा के परिणाम में बहुत अन्तर होता है। एक में मंद भाव होते है कषाय अल्प होती हैं, जबकि दूसरे में तीव्र भाव, कषाय से युक्त भाव हैं। उसी प्रकार अहिंसा में भी होता है। ईर्यासमिति आदि का पालन कोई तीव्र उल्लासपूर्वक करता है, कोई मंद उल्लास से करता है। अतः, भावों के कारण एक जैसी ही घटना होने पर भी हिंसा और अहिंसा में महत् अन्तर हो जाता है और उससे कर्मबंध में भी अन्तर हो जाता है। ज्ञातभाव और अज्ञातभाव अर्थात् जानकर संकल्पपूर्वक हिंसा की प्रवृत्ति और अज्ञान से बिना किसी इरादे के हिंसा की प्रवृत्ति-दोनों में बहुत अन्तर होता है, जैसे- एक ओर शिकारी जानबूझकर संकल्पपूर्वक बाण से हरिण का वध करता है और दूसरी ओर कोई व्यक्ति

किसी स्तंभ, फल आदि को निशाना बनाने के इरादे से बाण फेंकता है और वह बाण अचानक हरिण को लग जाता है तथा वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यहाँ हरिण के वध की घटना समान है, किन्तु प्रथम शिकारी जानकर हिंसा करता है, जबकि दूसरा व्यक्ति हिंसा करता नहीं है, किन्तु अकस्मात् हिंसा हो जाती है- यह भेद है। इसमें दोनों के हिंसा के परिणाम में भेद हैं और परिणाम में भेद होने से कर्मबंध में भी भेद होता है।

वीर्य की विविधता से भी हिंसा-अहिंसा में विविधता आती है। वीर्य, अर्थात् वीर्यांतराय-कर्म के क्षयोपशम आदि से प्राप्त शक्ति। जिसमें वीर्य या शक्ति अधिक होती है, उसके परिणाम भी तीव्र होते हैं और जिसका वीर्य कम होता है, उसके परिणाम भी मंद होते हैं। तीव्र शक्ति वाला और मंद शक्ति वाला- इन दोनों के एक ही प्रकार की हिंसा की क्रिया करने पर भी वीर्य-भेद के कारण परिणाम में भी भेद पड़ता है, जैसे-छठवां सेवार्त (अंतिम) संघयण वाला कैसी भी हिंसा करे, पाप करे, किन्तु उसके परिणाम इतने तीव्र नहीं होते हैं कि वह दूसरी नरक से आगे जा सके, जबकि प्रथम संघयण वाला किसी की हिंसादि पाप करने में इतने तीव्र परिणाम हो सकते हैं कि वह सातवीं नरक में जाने योग्य कर्मबंध कर सकता है, उसी प्रकार अहिंसा के पालन में भी होता है, इसलिए कहा गया है- 'जे कम्मे शूरा ते धम्मे शूरा', जो कर्म में शूरवीर है, वह धर्म में भी शूरवीर हो सकता है, अर्थात् प्रथम संघयण वाला ही अहिंसा आदि धर्म का सर्वोत्कृष्ट पालन कर सकता है और उसके परिणाम की तीव्रता से वह सर्वगति कर्मों का नाश कर सकता है। इस प्रकार हिंसा और अहिंसा की घटना में भाव आदि के आधार पर तरतमता होती है।

(३७६) सद्यः कालान्तरे चैतद्विपाकेनापि भिन्नता।
प्रतिपक्षान्तरालेन तथा शक्तिनियोगतः।।५४।।

<u>अनुवाद -</u> इसके (हिंसा के और अहिंसा के) विपाक में भी शक्ति के नियोग से तथा प्रतिपक्ष के अन्तराल से, तत्काल या कालान्तर में ऐसी भिन्नता रही हुई है।

<u>विशेषार्थ -</u> हिंसा और अहिंसा के परिणाम के विषय में कोई भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिए कर्मसिद्धान्त की यहाँ विचारणा की है। जगत् में ऐसे

कई उदाहरण देखने को मिलते हैं कि व्यक्ति महाहिंसक होते हुए भी सुख भोगता है, जैसे-कोई हिंसक टोली का नायक है, डाकुओं का सरदार है, उसने कितने ही खून किए हों, करवाए हों, धन लूटा हो, ऐसे घोर कृत्य करने पर भी वह स्वयं आलीशान महल में रहता है, उसके पास अनेक भोगोपभोग सुख-सुविधा के साधन हैं, वहीं दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति भी देखने को मिलते हैं, जो अहिंसा-धर्म का पालन करने वाले हैं, जीवों के प्रति उनमें तीव्र अनुकम्पा है, लेकिन फिर भी वे किसी रोग से पीड़ित हैं, या किसी व्यक्ति द्वारा शारीरिक त्रास का शिकार बने हैं, या किसी ने उनकी हत्या कर दी है। इन विचित्र घटनाओं को देखकर कर्मसिद्धान्त का बहुत शांति से गम्भीरतापूर्वक चिंतन करना चाहिए।

ये सभी घटनाएँ कर्मसिद्धान्त के अनुसार ही घटती हैं। कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, किन्तु जब वे उदय में आते हैं, तब ही भोगे जाते हैं। जब तक कर्म सत्ता में हों, तब तक उनका प्रभाव नहीं दिखाई देता है, अतः ऐसा नहीं है कि जैसे ही कर्मों का बन्ध हो, वैसे ही तुरंत वे उदय में आ जाएं। जैसे बीज को बोते ही वह फल नहीं देता है, कुछ महीनों या वर्षों में उसका परिणाम दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्मबीज बोते ही तुरंत फल प्रदान नहीं करते हैं। कर्म बांधते समय जितनी शक्ति और रसपूर्वक उसे बांधा हो, उसके अनुसार कर्म की प्रकृति, रस, स्थिति और प्रदेश निश्चित होते हैं। प्रत्येक कर्म की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है, जैसे-मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, अर्थात् वह कर्म आत्मा के साथ सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहता है। जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति होती है, उतने सौ वर्षों का अबाधाकाल (अनुदय-काल) होता है, जैसे-मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधी हो, तो वह कर्म ७००० वर्ष बाद उदय में आएगा और अपने परिणाम दिखाएगा। प्रत्येक जीव सतत शुभ या सतत अशुभ कर्म ही बांधता रहे, यह भी सम्भव नहीं है। कर्मबंध भी शुभ या अशुभ-दोनों प्रकार का होता है। किसी कर्म का विपाक (फल) तुरंत, अर्थात् अल्पमुहूर्त्त में ही प्राप्त हो जाता है और किसी कर्म का विपाक कालान्तर में मिलता है, कोई कर्म कितने ही वर्ष बाद या एक भव के बाद या अनेक भव के बाद भी उदय में आता है।

हिंसा और अहिंसा में हिंसा की प्रतिपक्षी अहिंसा है और अहिंसा की प्रतिपक्षी हिंसा। ऐसा भी हो सकता है कि व्यक्ति अभी हिंसा के द्वारा अशुभ कर्म का उपार्जन कर रहा है, किन्तु पूर्वभव में उसने अहिंसा-पालन के द्वारा शुभ कर्म का उपार्जन किया हुआ है, तो हिंसा के द्वारा बांधे हुए अशुभ कर्म सत्ता में जमा हों और पूर्व में अहिंसा के पालन द्वारा बांधे हुए शुभ कर्म का उदय हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अशुभ कर्म करते हुए, हिंसादि करते हुए भी सुखी दिखाई देता है। उसी प्रकार अहिंसा का पालन करके शुभकर्मों का उपार्जन करते हुए भी व्यक्ति पूर्व के हिंसा द्वारा बांधे हुए अशुभ कर्म के उदय में आने पर दुःखी दिखाई देता है, अतः इस प्रकार की स्थिति देखकर भटकना नहीं चाहिए, बल्कि कर्मसिद्धान्त का गम्भीर चिन्तन करना चाहिए।

विदेशों में या भारत देश में कितने ही मांसाहारी, कत्लखाना चलाने वाले, अन्य पापाचरण करने वाले सुखी क्यों दिखाई देते हैं ? अथवा शाकाहारी, सदाचारी लोग दुःख-दर्द में क्यों दिखाई देते हैं ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। नवीन उपार्जित शुभ या अशुभ कर्मों का फल भी इस भव में नहीं, तो अन्य किसी भव में भोगना ही पड़ता है।

(३८०) **हिंसाऽप्युत्तरकालीनविशिष्टसंक्रमात्।**
त्यक्ताविध्यनुबंधत्वादहिंसैवातिभक्तितः।।५५।।

<u>अनुवाद -</u> हिंसा भी उत्तरकालीन विशिष्ट गुणों के संक्रमण से अतिभक्ति से तथा अविधि के अनुबंध के त्याग से अहिंसा ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार पुनः, हिंसा तथा अहिंसा के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हैं। प्रत्यक्ष रूप से द्रव्य-हिंसा दिखाई देने पर भी भाव अहिंसा के हो सकते हैं। ऐसी हिंसा दोषरूप नहीं होती है किन्तु इस प्रकार की हिंसा का आचरण करने वाले का शुद्ध, शुभ और उच्च आशय होना चाहिए।

कितनी ही धर्मक्रियाओं में एकेन्द्रिय जीवों की स्थूल-हिंसा होना संभव है, परंतु उस क्रिया करने वाले में हिंसा के भाव अन्य भी नहीं होते

हैं और साथ ही उसकी भक्ति का तीव्र आवेग, उल्लास, आनंद प्रशस्य है। वह परमात्मा की भक्ति करते-करते परमात्ममय हो जाता है, लीन हो जाता है। उसने अविधि का त्याग किया है, अर्थात् शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार वह क्रिया करता है। ऐसे प्रसंग पर द्रव्य-हिंसा के पश्चात् उत्तरकाल में प्रशस्त गुणों का क्रियाकर्त्ता में संक्रमण होता है। उत्कृष्ट भाव से जिनपूजा विधिपूर्वक करने से मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उसके कषाय क्षीण होते है। अतः धर्मकार्य में आचरित द्रव्य-हिंसा हिंसारूप में नहीं रहती है, जैसे-कोई व्यक्ति अपने आनंद के लिए, शरीर को स्वच्छ करने के लिए स्नान करते हुए प्रमादपूर्वक पानी व्यर्थ बहाता है, तो उसे हिंसा का दोष लगता है, किन्तु कोई भक्ति के अतिरेक से विधिपूर्वक वीतराग परमात्मा का प्रक्षाल करता है, तो वहाँ उसका आशय हिंसा का नहीं होने से, तथा मन-शुद्धि का आशय होने से परमात्मा के प्रति बहुमान-भाव से उसे हिंसा का दोष नहीं लगता है, बल्कि पुण्य का बंध होता है। परमात्मा की द्रव्यपूजन के साथ-साथ जो मन में शुभ संकल्प होते हैं, उनका संक्रमण क्रियाकर्त्ता में होता है।

(३८१) ईदृग् भंगशतोपेताऽहिंसा यत्रोपवर्ण्यते।
सर्वांशपरिशुद्धं तत्प्रमाणं जिनशासनम्।।५६।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें ऐसे सैकड़ों भेद-प्रभेद सहित अहिंसा का वर्णन हुआ है, वह सर्वांश परिशुद्ध ऐसा जिनशासन प्रमाणभूत है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी भी विषय के सत्य-असत्य के निर्णय के लिए उसका सर्वाङ्गीण अवलोकन आवश्यक है। स्वशास्त्र और परशास्त्रों का गंभीर अध्ययन करने के बाद ही किसमें वस्तु के सत्य स्वरूप का निरूपण किया गया है, उसका निश्चय कर सकते है। ग्रंथकार ने अन्य दर्शनों में वर्णित अहिंसा तथा जैन दर्शन में निरूपित अहिंसा में क्या अंतर है ? इसको बताने के पश्चात् उपसंहार के रूप में प्रस्तुत किया कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में अहिंसा का अत्यंत सूक्ष्म तथा विशद स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार सूक्ष्म तथा बादर जीवों की हिंसा में मन-वचन और काया की तरतमता उसी प्रकार करन, करावन और अनुमोदना में भी तरतमता की दृष्टि से, द्रव्य से और भाव से सैकड़ों भेद-प्रभेद बताए गए

हैं। इतनी सूक्ष्म अवधारणा अन्य किसी दर्शन में नहीं है, इसलिए जैनदर्शन में अहिंसा का निरूपण परिशुद्ध और प्रमाणभूत है। इसमें कोई परस्पर विसंगति या पूर्वापर विरोध नहीं है। इसमें बौद्धिक-तर्क है और हृदय की विशाल भावना भी है।

(३८२) अर्थोऽयमपरोऽनर्थ इति निर्धारणं हृदि।
आस्तिक्यं परमं चिह्नं सम्यक्त्वस्य जगुर्जिनाः।।५७।।

<u>अनुवाद -</u> यह अर्थ (सत्य) है और अन्य अनर्थ हैं, इसका हृदय में दृढ़ निश्चय करना आस्तिक्य है। यह सम्यक्त्व का परम लक्षण है, इस प्रकार जिनेश्वर ने कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> सम्यक्त्व के पाँच लक्षण हैं, उनमें से आस्तिक्य (प्राप्ति के क्रम से) प्रथम लक्षण है। जिनेश्वर भगवान् ने जो कहा, वही सत्य है, वही अर्थयुक्त है, उससे भिन्न अनर्थरूप है -"तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेईअं" - ऐसी दृढ़ श्रद्धा, ऐसा दृढ़ निश्चय आस्तिक्य है। प्रवचन में दृढ़ श्रद्धा होने के पश्चात् ही शम, संवेग, निर्वेद और अनुकंपा भी मोक्ष के हेतु बनते हैं। मिथ्यादृष्टि में शम आदि लक्षण दिखाई देते हैं, परंतु वे तात्त्विक नहीं होते हैं।

केवल एक अहिंसा-व्रत के विषय में अन्य दर्शन और जैनदर्शन के मध्य कितना अन्तर है, वह ग्रंथकार ने स्पष्ट किया है। अन्य दर्शनों में विरोधाभास दिखाई देता है, जबकि जैनदर्शन में विसंगति से रहित सर्वांश परिपूर्ण रूप में वर्णन मिलता है, इसलिए जिनप्रवचन में और जिनेश्वरदेव में दृढ़ श्रद्धा होना चाहिए। जो जीव अपनी श्रद्धा को निर्मल तथा दृढ़ रखता है, वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जिसने एक बार भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया, उस व्यक्ति का संसार मर्यादित हो जाता है, अर्थात् किसी भी जीव के सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद अधिक-से-अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहता है। इससे अधिक वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

उ. यशोविजयजी ने इस अधिकार में केवल अहिंसा के विषय में ही परीक्षा करके, तुलनात्मक-अध्ययन करके सत्य और असत्य का निर्णय दिया है। जैसे अहिंसा के विषय में, वैसे ही अन्य चार व्रतों के विषय में

तुलनात्मक विचार-विमर्श हो सकता है। प्रस्तुत अधिकार में तो सम्यग्दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण लक्षण अनुकंपा की दृष्टि से केवल अहिंसा पर ही विचार-विमर्श किया गया है।

(३८३) शमसंवेगनिर्वेदानुकंपाभिः परिष्कृतम्।
दधतामेतदच्छितं, सम्यक्त्वं स्थिरतां व्रजेत्।।५८।।

<u>अनुवाद</u> - शम, संवेग, निर्वेद और अनुकंपा से परिष्कृत (शुद्ध), अविच्छिन्न (निरंतर) रूप से धारण किया हुआ सम्यक्त्व स्थिरता को प्राप्त करता है।

<u>**विशेषार्थ**</u> - सम्यग्दर्शन अध्यात्म-साधना का मूल आधार एवं मुख्य केन्द्र है। वह मुक्ति-महल का प्रथम सोपान है। सम्यग्दर्शन का इतना अधिक महत्व इसलिए है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही ज्ञान और चारित्र उपलब्ध होते हैं। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही यम-नियम, तप, जप आदि सार्थक हो सकते हैं। जैसे अंक के बिना शून्य का कोई मूल्य नहीं है, वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र का कोई मूल्य नहीं है। उत्तराध्ययन में श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा गया है, अतः महामूल्यवान् ऐसे सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) के लक्षण क्या हैं ? किसी व्यक्ति को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, यह किस प्रकार पता चले ? उसका प्रमाण क्या ? उसकी परीक्षा किस प्रकार करें ? आदि प्रश्न के समाधान के रूप में सम्यक्त्व के पाँच लक्षण कहे गए हैं, अर्थात् इन पाँचों लक्षणों के आधार पर पता लगाया जा सकता है कि उस व्यक्ति को सम्यक्त्व है या नहीं।

(१) शम - सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त तीव्र अनन्तानुबंधी कषायों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम कर देता है, इस कारण उसके परिणामों में पहले की तरह उग्रता नहीं रहती है। वह समभाव में ही रहता है। विषम परिस्थिति में भी वह व्याकुल नहीं होता है। तात्त्विक-विचारधारा के कारण सम्यग्दृष्टि न किसी पर रुष्ट होता है, न द्वेष धारण करता है और न ही किसी पर तुष्ट होता है। तीव्र राग-द्वेष के परिणाम उसे नहीं होते हैं।

(२) संवेग - मानवीय और दिव्य सुखों में रतिभाव का त्याग करके मोक्ष-सुख की अभिलाषा करना संवेग है। सम्यक्त्वी जीव संसार के सुख के

प्रति उदासीन होता है तथा मोक्ष-सुख को प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा वाला होता है।

(३) निर्वेद - संसार से विरक्ति की भावना रखना निर्वेद है। आरंभ परिग्रह को अनर्थ का कारण समझना और उससे निवृत्त होने की अभिलाषा करना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि आत्मा दुःखबाहुल्य संसार को भयकारी मानकर संसार में रूक्षवृत्ति धारण कर उदासीन भाव में रमण करता रहता है।

(४) अनुकम्पा - किसी प्राणी को दुःखी देखकर उसके प्रति दया का भाव होना, उसके दुःख को दूर करने के लिए निःस्वार्थ प्रवृत्ति करना अनुकम्पा है। अनुकम्पा से आर्द्र हृदय में ही धर्म के अंकुर प्रकट होते हैं।

(५) आस्तिक्य - सम्यक्त्वी का पाँचवा लक्षण आस्तिकता है। सम्यक्त्वी जीव अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्था और निष्ठा वाला होता है। सम्यक्त्व के चारों लक्षण (शम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा) आस्तिक्य (आस्था) के साथ अविच्छिन्न रूप से हमेशा साथ हों, तो सम्यक्त्व स्थिर होता है।

ग्रंथकार ने इस अधिकार में अनुकंपा से संबंधित अहिंसा को ही प्रधानता दी है और उसी का विस्तार किया है। शेष चार लक्षणों-शम, संवेग, निर्वेद और आस्तिक्य का विस्तार नहीं किया है। इस अन्तिम श्लोक में शम, संवेग, निर्वेद-तीनों के मात्र नाम का ही निर्देश किया गया है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने समकित के ६७ बोल की एक अलग सज्झाय की रचना की है। सम्यक्त्व का विषय तो अत्यंत गहन, व्यापक और जानने और जीवन में उतारने योग्य है।

-----ooo-----

प्रबंध-चतुर्थ

तेरहवाँ अधिकार - मिथ्यात्वत्याग अधिकार

(३८४) मिथ्यात्वत्यागतः शुद्धं सम्यक्त्वं जायतेऽङ्गिनाम्।
अतस्तत्परिहाराय यतितव्यं महात्मना।।१।।

अनुवाद - मिथ्यात्व के त्याग से जीवों का सम्यक्त्व शुद्ध होता है, इसलिए महान आत्माओं को इसके (मिथ्यात्व के) त्याग के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

विशेषार्थ - जब तक मिथ्यात्व का त्याग नहीं होगा, तब तक सम्यक्त्व नहीं आ सकता है, इसलिए सम्यक्त्व अधिकार के बाद ग्रंथकार ने मिथ्यात्वत्याग-अधिकार का वर्णन किया है। सम्यक् के ठीक विपरीत मिथ्या है। सम्यक्, अर्थात् सत्य और मिथ्या, अर्थात् असत्य। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है -'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः', मोक्षमार्ग के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-तीनों ही आवश्यक हैं। समयग्दर्शन मोक्ष महल की नींव है। जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व से ग्रसित है। मिथ्यात्व, अर्थात् अज्ञान का अंधकार। इसी अंधकार के कारण जीव संसार में भटकता है। मोक्ष क्या है, आत्मा का स्वरूप कैसा है ? आदि सामान्य जानकारी भी अनेक लोगों को नहीं है। अनेक लोगों को जानकारी होते हुए भी उनमें रुचि जाग्रत नहीं होती है। वे उसे प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ नहीं करते हैं। जीव को मिथ्यात्व की तरफ आकर्षित करने वाले ऐसे अनेक प्रलोभन इस संसार में हैं। कोई जीव सत्शास्त्र और सद्गुरु के समागम से मिथ्यात्व को दूर करने का पुरुषार्थ करता है। जैसे-जैसे मिथ्यात्व का अंधकार दूर होता जाता है, वैसे-वैसे सम्यक्त्व का प्रकाश फैलता जाता है। यह स्वाभाविक है-एक की मात्रा घटती है, तो दूसरे की मात्रा में वृद्धि होती है। प्राप्त हुए निर्मल सम्यक्त्व की सुरक्षा के लिए कड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

शास्त्रों में मिथ्यात्व के २५ भेद बताए गए हैं, जिनमें से प्रमुख भेद ५ प्रकार के हैं-

१. अभिगृहीत - अभिगृहित का अर्थ है- पकड़ अर्थात् किसी एक पक्ष या स्वगृहीत धारणा को ही सत्य मानना, अन्य को असत्य मानना।

२. अनाभिगृहिक - सरलता के कारण और यथार्थ समझ के अभाव के कारण 'सभी दर्शन सत्य हैं'- इस प्रकार की मान्यता स्वीकार करना है।

३. आभिनिवेशिक - यथार्थ तत्त्व को जानने के बाद भी अहंकार के कारण अपने कदाग्रह का त्याग नहीं करना।

४. सांशयिक - सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गए जीवादि तत्त्व सत्य हैं या नहीं- इस प्रकार की शंका करना।

५. अनाभोगिक - अनाभोग, अर्थात् अज्ञानता। अज्ञानता के कारण तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा रखना।

चरमावर्तकाल में आने के बाद जीव पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व के प्रकाश को प्राप्त कर सकता है। जब तक सम्यक् रूप से मार्ग की जानकारी नहीं होती, तब तक मंजिल प्राप्त नहीं हो सकती, अतः मिथ्यात्व का, अर्थात् अज्ञान का त्याग करना अत्यंत आवश्यक है।

(३८५) नास्ति नित्यो न कर्ता च न भोक्तात्मा न निर्वृत्तिः।
तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्य पदानि षट्।।२।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, वह कर्त्ता नहीं है, वह भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं है और मोक्ष का उपाय नहीं है - इस प्रकार मिथ्यात्व के ये छः पद कहे गए हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> भारतीय सांस्कृतिक-परम्परा में अनेक दर्शनों का विकास हुआ। सभी दर्शनों के विचार और मान्यताएं भिन्न-भिन्न हैं। सभी दर्शनों ने आत्म विषयक और संसार के स्वरूप विषयक अपने-अपने मत दर्शाए हैं। ये दर्शन प्रमुख रूप से षड्दर्शन के नाम से विख्यात हैं। जैन दर्शन के सिवाय अन्य सभी दर्शनों ने एक-एक नय को ही प्रधान मानकर अन्य नयों

की उपेक्षा कर दी और एक ही नय के द्वारा आत्मा आदि के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया। शास्त्रों में क्रियावादी, ज्ञानवादी, जड़वादी आदि ३६३ मतों का वर्णन आता है। ये सभी मत एकान्तवादी होने से मिथ्यामत कहलाए।

चार्वाक-दर्शन नास्तिक कहलाता है, क्योंकि यह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि को भी नहीं मानता है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है।

बौद्ध-दर्शन आत्मा को क्षणिक (अनित्य) मानता है। वह आत्मा को स्वीकार करता है, किन्तु उसकी नित्यता को स्वीकार नहीं करता। वेदान्तदर्शन तथा सांख्यदर्शन आत्मा (पुरुष) को कूटस्थ-नित्य मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा कर्त्ता और भोक्ता नहीं है। अमोक्षवादी कहते हैं कि आत्मा को बंध नहीं होने से मोक्ष भी नहीं है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक-मतों में एक मत मांडलिक-मत है, जिसकी मान्यता है कि मोक्ष है, किन्तु उसका उपाय नहीं है, अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार जगत् के कर्त्तृत्व के विषय में भी भिन्न-भिन्न दर्शनों की भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं। आत्मतत्त्व का जैसा गहन, यथार्थ और बुद्धिगम्य चिंतन जैनदर्शन में किया गया है, वैसा चिंतन अन्य किसी दर्शन में नहीं है।

जैनदर्शन में आत्मविषयक निम्न छः मुख्यपद हैं - १. आत्मा है २. आत्मा परिणामी नित्य है ३. आत्मा कर्म का कर्त्ता है ४. आत्मा कर्म का भोक्ता है ५. मोक्ष है ६. मोक्ष का उपाय भी है। इन छः पदों को एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि परिणामी नित्य आत्मा जो अपने कर्म के कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व में से मुक्त होने का प्रयास करे, तो अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकती है। जब तक आत्मविषयक इन छः पदों में पूर्ण श्रद्धा न हो, तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। जब तक आत्मविषयक उल्टी या अयथार्थ मान्यता है, तब तक मिथ्यात्व है और जब तक मिथ्यात्व है, तब तक भवभ्रमण भी है, जब तक भवभ्रमण है, तब तक दुःख है, अतः दुःख से मुक्त होने का उपाय है कि मिथ्यात्व का त्याग करें। कितने ही लोगों का मिथ्यात्व इतना प्रगाढ़ होता है कि छः पदों में से एक भी पद पर उनकी श्रद्धा नहीं होती है। कोई चार या पाँच पदों पर तो श्रद्धा रखते

हैं, किन्तु एक या दो पद पर श्रद्धा नहीं रखते। यह भी मिथ्यात्व है। अतः, मिथ्यात्व का त्याग करने के लिए और सम्यक्त्व को स्वीकार करने के लिए आत्मविषयक छः पदों पर यथार्थ श्रद्धा होना आवश्यक है।

ग्रंथकार ने पश्चात् के श्लोकों में मिथ्या मान्यताओं में रही हुई त्रुटियों को बताकर उनका समाधान किया है।

(३८६) एतैर्यस्माद्भवेच्छुद्ध - व्यवहारविलंघनम्।
अयमेव च मिथ्यात्वध्वंसी सदुपदेशतः।।३।।

<u>अनुवाद -</u> इनकी (छः पदों की) विपरीत मान्यता से शुद्ध व्यवहार का उल्लंघन होता है। सदुपदेश द्वारा मिथ्यात्व का नाश होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो मत आत्मा को नहीं स्वीकारते हैं, उनके द्वारा छः पदों का स्वयं ही बहिष्कार हो जाता है। आत्मा नहीं है - यह मान्यता मिथ्या है। जहाँ मिथ्यात्व हो, वहाँ व्यवहार भी उसी प्रकार का होता है। जो आत्मा को ही नहीं स्वीकारते हैं, वे पुण्य-पाप, पुनर्जन्म आदि में भी विश्वास नहीं रखते हैं, अतः वे पाप से डरते नहीं हैं और पुण्य को करते नहीं हैं। यदि आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा जाए, तो फिर विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, भक्ति, त्याग, तप, सेवा, दया, दान, परोपकार, सहकार आदि सभी क्रियाएँ निरर्थक हो जाएंगी। इस विपरीत मान्यता से शुद्ध व्यवहार का उल्लंघन हो जाएगा। 'आ भव मीठो, पर भव कोने दीठो', खाओ, पीओ और मौज करो, बस यही सिद्धांत रह जाएगा। सामाजिक व्यवस्था भी बिगड़ जाएगी। अत्याचार, अनाचार, अनीति, लूट-खसोट आदि अपराधों में वृद्धि हो जाएगी और चारों ओर अशांति का वातावरण उपस्थित हो जाएगा। अतः, शुद्ध व्यवहार का पालन आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकारे बिना संभव नहीं है।

मिथ्या मान्यता को दूर करने के लिए सदुपदेश की, सद्ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है, इसलिए आत्मा है, प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण, आगम-प्रमाण सभी से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा क्षणिक नहीं, परंतु नित्य है। जैसा वह कर्म करती है, वैसा ही उसे भोगना भी पड़ता है। आत्मा पुरुषार्थ द्वारा कर्मों से मुक्त हो सकती है और मोक्ष को

प्राप्त कर सकती है। अगर इन छः पदों को दृढ़ श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया जाए, तो मिथ्यात्व के नष्ट होने से त्याग, तप, दया, दान, परोपकार आदि की सार्थकता समझ में आती है और इससे मोक्ष-प्राप्ति की पारमार्थिक-प्रवृत्ति की यथार्थता भी दृढ़ होती है।

(३८७) नास्तित्वादिग्रहे नैवोपदेशो नोपदेशकः।
तस्य कस्योपकारः स्यात्संदेहादिव्युदासतः।।४।।

<u>अनुवाद -</u> नास्तित्त्वादि का आग्रह हो, तो फिर उपदेश भी नहीं हो सकते और उपदेशक भी नहीं हो सकते हैं। उनका उपकार भी किस पर हो, क्योंकि वह तो (उपकार तो) संदेह आदि को दूर करने से ही होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मिथ्यात्व का प्रथम पद-'आत्मा नही है।' कितने ही लोग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, वे नास्तिकवादी कहलाते हैं। आत्मा को नहीं मानने पर भी अगर वे व्यावहारिक-जीवन को सफल बनाना चाहते हैं, तो भी उनमें सेवा, परोपकार, दया, दान आदि तत्त्वों का प्रवेश होगा ही, लेकिन आत्मा के आस्तित्त्व को नहीं स्वीकारने पर अन्य के हित-अहित, उपकार-अपकार, करुणा, वात्सल्य आदि का व्यवहार ही घटित नहीं होता है। आत्मा के अभाव में उपदेश किसे दिया जाए और उपदेश ही न हो, तो फिर उपदेशक की तो आवश्यकता ही नहीं रही। 'परस्परोपग्रहोपजीवानाम्', जीवों का एक-दूसरे पर उपकार घटित नहीं होगा। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों पर एक-दूसरे का उपकार तो होता ही है। जीवों के मन में रहे हुए संदेह को दूर करना, उनके संशयों को नष्ट कर सत्य का मार्ग बताना - यह जीवों पर किया गया सबसे महान् उपकार है। यह आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार करें, तभी संभव है। चेतन के बिना जड़ में तो हित-अहित, उपदेश आदि का संबंध घटित नहीं होता है। शरीर से आत्मा के स्थानान्तरित हो जाने पर, अर्थात् शरीर के मृत हो जाने पर उस जड़ शरीर को कितना ही आदेश-उपदेश दें, उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी, अतः आत्मा के अस्तित्व के बिना, उपदेश, उपदेशक, उपकार आदि निरर्थक सिद्ध होंगे।

(३८८) येषां निश्चय एवेष्टो व्यवहारस्तु संगतः।
विप्राणां म्लेच्छभाषेव स्वार्थमात्रोपदेशनात्।।५।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे ब्राह्मणों को स्वार्थ की पूर्ति के लिए म्लेच्छ भाषा बोलने की छूट है, उसी प्रकार जिसे मात्र निश्चयनय ही इष्ट है, उसके लिए व्यवहार तो (निश्चयनय का) उपदेश तक ही सीमित है।

<u>विशेषार्थ -</u> कितने ही निश्चयवादी व्यवहार का लोप करके निश्चय को ही प्रमुख मानते है। वे सारी व्यावहारिक-क्रियाओं को निरर्थक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि व्यवहार तो मात्र निश्चयनय का उपदेश करने तक ही सीमित है। वे व्यवहार को स्वीकारते नहीं, किन्तु अपवादरूप से उसका आश्रय लेते हैं।

अगर कोई उनसे प्रश्न करे कि आपको निश्चयनय ही इष्ट है, केवल वही सत्य है, व्यवहार असत्य है, तो फिर व्यवहार का आश्रय लेकर आप अपने निश्चयवाद को क्यों मलिन करते हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए निश्चयवादी कहते हैं कि व्यवहार का अगर कथन्चित् आश्रय लिया जाता है, तो वह तो निश्चयनय के समर्थन के लिए ही, उसको पुष्ट करने के लिए ही है, जैसे-ब्राह्मणों को शुद्ध संस्कृत भाषा ही बोलना चाहिए, म्लेच्छ भाषा का प्रयोग करना उनके लिए सर्वथा निषेध है, ब्राह्मणों न म्लेच्छितव्यः। (कितनी ही प्रतिकूल परिस्थिति आ जाए, कण्ठ तक प्राण आ जाए, तो भी वह म्लेच्छ की यवनी-भाषा का प्रयोग करने योग्य नहीं है।) इस प्रकार का आदेश होने पर भी व्यवहार में कितने ही ऐसे प्रसंग उपस्थित होते हैं कि स्वयं का कोई कार्य म्लेच्छ के बिना नहीं हो सकता है और म्लेच्छ संस्कृत नहीं जानता हो, तो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसे म्लेच्छ भाषा का प्रयोग करना ही पड़ता है। इस प्रकार परिस्थितिवश म्लेच्छ-भाषा के किए गए प्रयोग से उस भाषा के प्रति आदर या बहुमान व्यक्त नहीं होता है, वह तो अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही उसका प्रयोग करता है। उसी प्रकार से, व्यवहारनय का प्रयोग निश्चयनय के पुष्ट करने के स्वार्थ से ही होता है, अतः निश्चयनय दूषित नहीं होता है।

(३८६) यथा केवलमात्मानं जानानः श्रुतकेवली।
श्रुतेन निश्चयात्सर्वं श्रुतं च व्यवहारतः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे श्रुतकेवली निश्चय से श्रुत द्वारा केवल आत्मा को जानता है, उसी प्रकार व्यवहार से सर्वश्रुत को जानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा की विस्मृति न हो, इसके लिए निश्चय-दृष्टि का विकास जरूरी है और जीवन सम्यक् रूप से संचालित हो, इसके लिए व्यवहार-दृष्टि का सम्मान जरूरी है। निश्चय दृष्टि की उपेक्षा करने पर जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता और व्यवहार-दृष्टि को त्याग देने पर जीवन में माधुर्य नहीं आ पाता। संतुलित जीवन-श्रेणी के लिए इन दोनों ही दृष्टियों की उपादेयता निर्विवाद है, किन्तु कितने ही निश्चयवादी निश्चयनय को ही मुख्य मानकर व्यवहारनय की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं। वे निश्चयनय की दृष्टि से ही अर्थ का घटन करते हैं। श्रुतकेवली किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में निश्चयवादी कहते है कि जो श्रुत के द्वारा केवल आत्मा को जानते है वे श्रुतकेवली कहलाते है। आत्मा अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा। किसी जीव ने आत्मा को सम्पूर्ण जाना या नहीं, इसका आभास कैसे हो ? इसके लिए व्यवहारनय का आश्रय लेना पड़ता है। व्यवहारनय के अनुसार जो सर्वश्रुत को, अर्थात् चौदहपूर्व को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं। श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के विषय में केवली के समान होते है। वे सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को संदेहरहित होकर जानते हैं। श्रुतज्ञान, अर्थात् आत्मज्ञान। ज्ञान ही आत्मा है, इसलिए श्रुतकेवली सर्वश्रुत के द्वारा आत्मा को पूर्णरूप से जानते है। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय-दोनों के द्वारा ही श्रुतकेवली शब्द की व्याख्या यथार्थ है। श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा कहा गया है -

निश्चय राखी लक्ष मा पाले जे व्यवहार,
ते नर मोक्ष पामशे संशय नहीं लगार

केवल निश्चयनय स्वीकारेंगे, तो मोक्ष का मार्ग लुप्त हो जाएगा और केवल व्यवहारनय स्वीकारेंगे, तो मोक्ष लुप्त हो जाएगा, अतः निश्चय और व्यवहार-दोनों ही अपने-अपने स्थान पर मुख्य हैं।

(३६०) निश्चयार्थोऽत्र नो साक्षाद्वक्तुं केनापि पार्यते।
व्यवहारो गुणद्वारा तदर्थावगमक्षमः।।७।।

<u>अनुवाद -</u> यहाँ निश्चयनय के अर्थ को प्रत्यक्ष कहने में कोई भी समर्थ नहीं है, परंतु व्यवहारनय गुण के द्वारा उसके अर्थ का बोध कराने में सक्षम है।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय की दृष्टि से अगर देखते हैं, तो आत्मा का पूर्णरूप से जिसने अनुभव किया है, वह स्वयं भी अपने अनुभव को यथातथ्य शब्द में वर्णन करने में समर्थ नहीं है। निश्चयनय अनुभूतिपरक होता है। जो गुड़ खाया, उसके स्वाद की जो अनुभूति हुई, वह निश्चय है। निश्चय से गुड़ में पाँचों स्वाद हैं, किन्तु व्यवहार में मीठे की प्रमुखता होने से मीठा कहना पड़ेगा। निश्चयनय से कौए में पाँचों वर्ण हैं, किन्तु व्यवहार से प्रमुखता के कारण काला कहना पड़ेगा। भाषा में सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को व्यक्त कर सके, फिर भी भाषा का सहारा लेना ही पड़ता है। अनुभव वचनातीत है, इसलिए निश्चयनय के अर्थ को साक्षात् कहने में कोई भी समर्थ नहीं है, फिर भी व्यवहारनय आत्मा की पहचान चेतन, सच्चिदानंद, ज्ञायक, ब्रह्म आदि के द्वारा करवाता है, किन्तु व्यवहारनय का प्रतिपादन श्रेष्ठतम होने पर भी रहेगा अपूर्ण ही, अंत में निश्चयनय का आश्रय तो लेना ही पड़ेगा, अतः किसी भी एक नय का दुराग्रह रखना मिथ्यात्व है।

(३६१) प्राधान्यं व्यवहारे चेन्न तेषां निश्चये कथम्।
परार्थस्वार्थते तुल्ये शब्दज्ञानात्मनोर्द्वयोः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> जिनको (जहाँ) व्यवहार के विषय में प्राधान्य हो, तो उनको (वहाँ) निश्चय के विषय में कहाँ से हो ? शब्दात्मा (व्यवहार) और ज्ञानात्मा (निश्चय)-दोनों के स्व-अर्थ और परार्थ समान ही होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय और व्यवहारनय-दोनों में से किसी एक को प्रधान स्वीकार करेंगे, तो दूसरे को गौण रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा। अगर निश्चयनय वाले कहते हैं कि निश्चयनय ही प्रधान है, तो उसके लिए किसी को गौण होना ही चाहिए। अगर एक वस्तु गौण हो, तो ही दूसरी

वस्तु प्रधान हो सकती है। यदि गौण वस्तु को स्वीकारा ही न जाए, तो दूसरी वस्तु की प्रधानता भी किस प्रकार सिद्ध होगी ? इसलिए व्यवहारनय को गौण रूप में स्वीकार करेंगे, तो ही निश्चयनय की प्रधानता सिद्ध होगी। मंजिल तक पहुँचने के लिए एक समय में एक ही कदम की प्रधानता होगी, दूसरा कदम गौण होगा। अगर दोनों ही कदम एक साथ प्रधान होने की कोशिश करें, तो गति ही नहीं होगी, अतः जब पहला कदम प्रधान होगा, तब दूसरा कदम गौण (पीछे) होगा और जब दूसरा कदम प्रधान हो जाएगा, तब पहले को गौण होना पड़ेगा। उसी प्रकार, जहाँ निश्चयनय का प्रधानता होगा, वहाँ व्यवहारनय भी गौण रूप में होगा, उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं और जहाँ व्यवहारनय की प्रधानता होगी, वहाँ निश्चयनय गौण होगा, उसकी भी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। जब दो नय परस्पर विरूद्ध हों, तब एक नय की दृष्टि में जो अर्थ होता है, वह अर्थ दूसरे नय के लिए परार्थ या अस्वीकार्य होता है, इसलिए दोनों नय के स्वार्थ और परार्थ समान होते हैं। निश्चयनय को ज्ञानात्मा तथा व्यवहारनय को शब्दात्मा कहते हैं। शब्द संकेतरूप है और ज्ञान बोधरूप में है। व्यवहार संकेत करता है, निश्चय अनुभव करता है, अतः जितने स्वार्थ ज्ञानात्मा के हैं, उतने परार्थ शब्दात्मा के और जितने स्वार्थ शब्दात्मा के हैं, उतने परार्थ ज्ञानात्मा के हैं, इसलिए प्रत्येक के स्वार्थ और परार्थ तुल्य हो जाते हैं। अतः, प्रत्येक नय अपने स्थान पर प्रधान तथा अन्य के स्थान पर गौण बनता है, इसलिए दोनों नय की उपयोगिता है। निश्चयनय और व्यवहारनय-दोनों ही रथ के दो पहियों के समान हैं। अपने-अपने स्थान पर दोनों का महत्व है।

(३६२) प्राधान्याद् व्यवहारस्य ततस्तच्छेदकारिणाम्।
मिथ्यात्वरूपतैतेषां पदानां परिकीर्तिता।।६।।

<u>अनुवाद</u> - व्यवहार की प्राधान्यता को लेकर उसका (व्यवहार का) उच्छेद करने वाले उन-उन पदों का मिथ्यात्व कहा है।

<u>विशेषार्थ</u> - पूर्व श्लोक में मिथ्यात्व के छः पद कहे गए हैं- आत्मा नहीं है, आत्मा नित्य नहीं है, कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं है और मोक्ष का उपाय भी नहीं है। इन पदों का निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से चिंतन करते हुए ग्रंथकार ने कहा है- ये पद दानादि व्यवहार का उच्छेद

करने वाले हैं, परंतु व्यवहार का प्राधान्य भी किसी अपेक्षा से स्वीकार करना ही पड़ता है। केवल व्यवहारनय ही चाहिए, निश्चयनय नहीं-यह मान्यता जिस प्रकार मिथ्या है, अपूर्ण है; उसी प्रकार, केवल निश्चय ही चाहिए, व्यवहार नहीं-यह मान्यता भी अपूर्ण है, अयथार्थ है। वस्तुतः, जहाँ-जहाँ जिस-जिसकी प्रधानता है, उसे स्वीकार करके निश्चय और व्यवहार के मध्य सामंजस्य स्थापित करने से ही यथार्थदर्शन और यथार्थबोध होता है। सेवा, सहयोग और सापेक्षता व्यावहारिक-जीवन की सफलता के आधारभूत घटक हैं। विनम्रता, सहिष्णुता, सरलता, उदारता और निर्मलता जैसे मानवोचित गुणों के उदय से जीवन में मधुरता का विकास होता है। संबंधों की मधुरता सुखदाई और कर्मबंध निवारण में हेतुभूत बन जाती है, अतः सम्पूर्ण व्यवहार का उच्छेद करके सर्वथा संबंधातीत जीवन की परिकल्पना देहधारी के लिए संभव नहीं है। यही कारण है कि जिन पदों से व्यवहार का पूर्णरूपेण उच्छेद होता हो, वे पद मिथ्या हैं।

(३६३) नास्त्येवात्मेति चार्वाकः प्रत्यक्षानुपलंभतः।
अहंताव्यपदेशस्य शरीरेणोपपत्तितः।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> चार्वाक-दर्शन का कहना है कि प्रत्यक्ष रूप में आत्मा दिखाई नहीं देती है, इसलिए वह नहीं है। अहंता (मैं और मेरे) का व्यवहार तो शरीर से हो सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने सर्वप्रथम चार्वाक के मत को दर्शाया है। चार्वाक-दर्शन को लोकायत-दर्शन भी कहा गया है। यह लगभग ढाई हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। जो आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि को नहीं मानता है, वह नास्तिक कहलाता है और चार्वाक-दर्शन भी नास्तिकों का दर्शन है। उनकी मान्यता है कि शरीर से पृथक् आत्मा जैसा कोई तत्त्व नहीं है। चूंकि आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है, उसका इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव नहीं कर सकते हैं, अतः आत्मा का किसी भी प्रकार से प्रत्यक्षीकरण नहीं होने आत्मा का अस्तित्त्व ही नहीं है। उनकी मान्यता है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है, प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण नहीं होता। जिन वस्तुओं को इन्द्रियों के माध्यम से जाना जा सकता है, उन्हीं वस्तुओं के अस्तित्त्व को वे स्वीकार करते हैं। शरीर ही चेतन है, अलग से आत्मा

को मानने की आवश्यकता नहीं है। चार्वाकवादी कहते हैं कि यदि आत्मा है, तो वह घट, पट आदि की तरह इन्द्रियों द्वारा क्यों नहीं दिखाई देती है ? यदि आत्मा है, तो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए। वह ऊँची है, नीची है, काली है, गोरी है, छोटी है, बड़ी है, कैसी है ? जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, उन्हें आत्मा को निकालकर बताना चाहिए। उनकी मान्यता है कि यह संसार, जिसका हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, जिसमें सभी चर, अर्थात् चलने-फिरने वाले पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी प्रकार के प्राणी तथा सभी अचर, जन्म से विनाश तक एक ही स्थान पर स्थित रहने वाले पहाड़ आदि सभी जड़ पदार्थ-ये सभी पृथिवी, जल, अग्नि और वायु-इन चार महाभूतों से ही उत्पन्न होते हैं, इन चारों से भिन्न किसी भी पदार्थ का इस संसार की उत्पत्ति मे कोई योगदान नहीं है, क्योंकि उक्त चारों से भिन्न किसी अन्य कारण-तत्त्व का कोई अस्तित्व ही नहीं है। संसार का प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर को ही अहं के रूप में समझता है, अतः मनुष्य का शरीर ही उसकी आत्मा है और वह स्पष्ट रूप से पृथ्वी आदि चार भूतों से उत्पन्न होता है। इन चारों से भिन्न आकाश आदि भी संसार की उत्पत्ति में सहायक नहीं हैं।

(३६४) मद्यांगेभ्यो मदव्यक्तिः प्रत्येकमसती तथा।
मिलितेभ्यो हि भूतेभ्यो ज्ञानव्यक्तिस्तथा मता।।११।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे मद्य के प्रत्येक अंग में (पृथक्-पृथक्) मद्य की (नशे की) अभिव्यक्ति नहीं होती है परंतु एकत्रित होने से होती है, उसी प्रकार भूतों के एकत्रित होने से ज्ञान की (चेतना की) अभिव्यक्ति होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा का अस्तित्त्व स्वीकार न किया जाए, तो अनेक प्रश्न उठते हैं। शरीर की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, प्राणी में हलन-चलन, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, मृत्यु आदि किस प्रकार घटित होती है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में चार्वाकवादी कहते हैं कि चार महाभूत जब एकत्र होते हैं, तब देह का निर्माण होता है। चेतना पृथ्वी आदि भूतों का ही धर्म है। इन भूतों के एकत्रित होने पर ही, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ- इस प्रकार की ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है। इन चारों महाभूतों में स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् रहकर जीवोत्पत्ति

की सामर्थ्य नहीं है, परंतु ये चारों विशिष्ट प्रकार से पिंडरूप में एकत्रित होते है, तब ही उनमें से ज्ञानशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जैसे महुए या धतूरे के पुष्प, गुड़, जल-ये प्रत्येक मदिरा के अंग हैं, परंतु पृथक्-पृथक् रहकर मदिरा नहीं बना सकते हैं, किन्तु इन सभी को विधिपूर्वक मिश्रण किया जाए, तो उससे मदिरा की उत्पत्ति होती ह, उसी प्रकार चार महाभूतों के एकत्रित होने पर उनमें से जीव की उत्पत्ति होती है। इन्हीं महाभूतों से ज्ञानशक्ति प्रकट होती है। अतः, चेतना का आश्रय 'आत्मा' नाम का कोई अन्य पदार्थ नहीं है। यही चार्वाकवादियों की मान्यता है।

(३६५) राजरंकादिवैचित्र्यमपि नाऽत्मबलाहितम्।
स्वाभाविकस्य भेदस्य ग्रावादिष्वपि दर्शनात्।।१२।।

<u>अनुवाद</u> - राजा, रंक आदि की विचित्रता भी आत्मा के बल से नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वाभाविक भेद तो पत्थर आदि में भी दिखाई देता है।

<u>विशेषार्थ</u> - इस संसार में अनेक विषमताएँ दिखाई देती हैं। कोई सुन्दर है, कोई कुरूप, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई राजा, कोई रंक, कोई गरीब, कोई अमीर, कोई रोगी, कोई निरोग, कोई बलवान्, कोई दुर्बल, कोई मूर्ख, कोई बुद्धिमान-इस प्रकार के भेद क्यों होते हैं ? आस्तिकवादी (आत्मवादी) कहते हैं कि आत्मा के शुभ और अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप जीवों के बीच विषमताएँ नजर आती हैं। अनात्मवादी, अर्थात् चार्वाकवादी का कहना है कि इन विषमताओं के लिए आत्मा जैसे द्रव्य को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये विषमताएँ तो जगत् में स्वाभाविक हैं, कुदरती हैं और ये विचित्रताएँ भी चारों महाभूतों से ही उत्पन्न होती हैं। इन विविधताओं के लिए आत्मा और कर्म की कल्पना करना अयथार्थ है। अगर कर्मों से ही भेद होता, तो जड़ वस्तुओं में क्यों विषमताएँ दिखाई देती हैं, जैसे-कोई पत्थर चिकना है, तो कोई खुरदुरा, कोई पत्थर काला है, कोई हरा, कोई महामूल्यवान् है, कोई मूल्यहीन, कोई पत्थर सुन्दर है, मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित होकर पूजा जाता है, तो कोई पत्थर पैरो तले रौंदा जाता है। पत्थर में आत्मा कहाँ है ? पत्थर ने शुभ-अशुभ कौनसे कर्म किए हैं ? फिर भी उनमें भेद दृष्टिगोचर होता है, इसलिए यह भेद भी स्वाभाविक है,

कुदरती है। जगत् की इन विषमताओं के लिए आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकारने की आवश्यकता नहीं है।

(३६६) वाक्यैर्न गम्यते चात्मा परस्परविरोधिभिः।
दृष्टवान् न च कोऽप्येनं प्रमाणं यद्वचो भवेत्।।१३।।

अनुवाद - (शास्त्रों के) वाक्यों के द्वारा भी आत्मा को नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि वे परस्पर विरूद्ध हैं और किसी ने उसको देखा नहीं, जिससे उसका वचन प्रमाण हो।

विशेषार्थ - चार्वाकवादियों के अनुसार ऐसी कोई भी वस्तु, जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है, प्रमाणहीन होने से उसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता है, अतः वे अपने मत के समर्थन में तथा आत्मा के अस्तित्व के विरोध में निम्न दो तर्क प्रस्तुत करते हैं - १. शास्त्र के वचनों द्वारा आत्मा को नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि सभी दर्शनों के शास्त्रों में एक-दूसरे से परस्पर विरूद्ध वचन हैं, जैसे-सांख्य आत्मा को (पुरुष को) कूटस्थ-नित्य मानते हैं, बौद्धवादी आत्मा को क्षणिक मानते हैं, जैनदर्शन परिणामी-नित्य मानते हैं। वेदान्तवादी सारे जगत् को ब्रह्मस्वरूप और कूटस्थ-नित्य मानते हैं। कोई कहते हैं कि आत्मा यज्ञादि करने से स्वर्ग में जाती है, कोई कहते हैं- आत्मा न बन्धन में आती है और न उसकी मुक्ति होती है, कोई कहते हैं- सर्व कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा बन्धनों से मुक्त हो जाती है और मोक्ष प्राप्त कर लेती है, फिर वह संसार में नहीं आती है। इस प्रकार शास्त्रों में विरूद्ध वाक्य आते हैं, अतः शब्द-प्रमाण या आगम-प्रमाण से आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

अगर कोई भी व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार कर ले और हमें अन्य वस्तुओं की तरह आत्मा को भी बता सके, तो उसके वचन को प्रमाण माना जा सकता है, किन्तु किन्हीं भी शास्त्रकारों ने या अन्य लोगों ने आज तक आत्मा को देखा नहीं है, अतः उनके वचनों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। अतः, शरीर से भिन्न अन्य आत्मा का कोई अस्तित्त्व नहीं है।

(३६७) आत्मानं परलोकं च क्रियां च विविधां वदन्।
भोगेभ्यो भ्रंशयत्युच्चैर्लोकचित्तं प्रतारकः।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> धूर्त लोग आत्मा, परलोक तथा विविध प्रकार की क्रियाओं का उपदेश देकर लोगों के चित्त को भोगों से भ्रष्ट करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> नास्तिकवादी चार्वाक अध्यात्मवादियों पर आक्षेप लगाते हैं, चार्वाकवादियों का कहना है कि महात्मा कहलाने वाले धार्मिक-उपदेशक महाधूर्त हैं, ये जगत् के भोले-भाले लोगों को ठगते हैं। वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, परलोक, मोक्ष, शुभ-अशुभ कर्म आदि के विषय में कल्पनाएँ करते हैं। लोगों को स्वर्ग का लालच देते हैं, नरक का भय दिखाते हैं और उन्हें भोगों से विमुख करते हैं। उन्हें वर्तमान भोग-सुख का आनंद नहीं लेने देते हैं और उन्हें भविष्य के सुनहरे स्वप्न दिखाते हैं। स्वर्ग-नरक-परलोक, आत्मा आदि को किसने देखा, किसने परमात्मा को देखा ? वरमद्य कापोतः न श्वो मयूरः......, कल के मयूर से आज का कबूतर ही अच्छा है। ये धूर्त लोग दान, शील, तप आदि विविध प्रकार की क्रियाओं का उपदेश देते हैं, परंतु इससे किसका भला हुआ है। दान देने पर संपत्ति कम होती है, तप करने से शरीर सूख जाता है, शील का पालन कर विषय-भोग से वंचित रहा जाता है। इस प्रकार वर्तमान में प्राप्त हुए सुख-भोगों से दूर कर वे भोले लोगों के चित्त को भ्रष्ट करते हैं, अतः बुद्धिमान् व्यक्तियों को ऐसे अध्यात्मवादियों से सदैव दूर रहना चाहिए। यह चार्वाकदर्शन का मत है।

(३६८) त्याज्यास्तन्नैहिकाः कामाः कार्या नानागतस्पृहा।
भस्मीभूतेषु भूतेषु वृथा प्रत्यागतिस्पृहा।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए ऐहिक-कामभोग त्याग करने लायक नहीं है और अनागत भोगों की कामना करने लायक नहीं है, क्योंकि भस्मीभूत होने के बाद पुनर्जन्म की स्पृहा व्यर्थ है।

<u>विशेषार्थ -</u> नास्तिकवादी पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं, इसलिए उनकी मान्यता है कि चार महाभूतों से बने हुए शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर फिर जन्म होगा-यह आशा रखना व्यर्थ है। जो वस्तु कभी किसी ने देखी ही नहीं है, उसकी आशा रखना व्यर्थ है, इसलिए वर्तमान जीवन में जो कुछ

प्राप्त हुआ है, जो अनुकूलताएँ मिलीं, उनका उपयोग करके जितने भी भोग भोग सकें, भोगना चाहिए, "जब तक जीओ, सुख से जीओ, ऋण करके भी घी पीओ"। चार्वाकों का कहना है कि भोगों का त्याग करना उचित नहीं है, अनुचित कार्य करके भी भोग भोगना चाहिए। यह जीवन भोग भोगने के लिए ही मिला है। जो भविष्य के सुख की आशा से ऐहिक-सुखों का त्याग करते हैं, वे महामूर्ख हैं।

(३६६) तदेतद्दर्शनं मिथ्या जीवः प्रत्यक्ष एव यत्।
गुणानां संशयादीनां प्रत्यक्षाणामभेदतः।।१६।।

__अनुवाद -__ इसलिए यह (चार्वाक) दर्शन मिथ्या है, क्योंकि प्रत्यक्ष संशय आदि गुणों के अभेद को लेकर जीव प्रत्यक्ष ही है।

__विशेषार्थ -__ जिनका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है, उन्हीं पदार्थों का अस्तित्व है, अन्य का नहीं, इसलिए आत्मा जैसा कोई तत्त्व संसार में नहीं है। शरीर ही दिखाई देता है, इसलिए उसका ही अस्तित्व है, चार्वाक की यह मान्यता अयथार्थ है।

आत्मा है या नहीं- यह संशय करने वाला कौन है ? यह संशय अपने-आप नहीं होता है। विचारशक्ति के कारण ही यह संशय हुआ। विचारशक्ति ज्ञान-गुण के रूप में ही होती है। गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता है। गुण और गुणी में कथंचित् अभेद होता है। यह गुणी ही आत्मा है। ज्ञान आत्मा का ही गुण है। इस प्रकार गुण के रूप में आत्मा प्रत्यक्ष ही है।

चार्वाकवादी कहते हैं कि ज्ञान-गुण तो शरीर का है, आत्मा को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। जो ज्ञान-गुण मात्र शरीर का ही गुण है, तो यह गुण शव में भी होना चाहिए, लेकिन शव संशय करके पूछता नहीं है ! इसका आशय यही है कि पूछने वाला शरीर से भिन्न है और उसी को आत्मा कहते हैं। वस्तु चाहे दिखाई नहीं दे, परंतु उसके कार्य देखकर भी वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा चाहे दिखाई नहीं दे, किन्तु उसके क्रियाकलाप, गतिविधियाँ प्रत्यक्ष हैं, जैसे-पंखा चल रहा है, विद्युत-बल्ब जल रहा है, तो करंट है, चाहे वह दिखाई नहीं दे, उसके द्वारा प्रेरित

गतिविधियाँ तो हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं। इसी प्रकार, आत्मा चाहे इन्द्रियगम्य न हो, किन्तु उसके गुणों का प्रत्यक्ष आभास तो होता ही है।

(४००) न चाहं प्रत्ययादीनां शरीरस्यैव धर्मता।
नेत्रादिग्राह्यतापत्तेर्नियतं गौरतादिवत्।।१७।।

<u>अनुवाद</u> - अहं आदि की प्रतीति होना-यह शरीर का धर्म नहीं है, क्योंकि गौरवर्णत्व आदि की तरह नेत्रादि द्वारा ग्राह्य होता है, इस प्रकार की आपत्ति उससे अवश्य आएगी।

<u>विशेषार्थ</u> - चार्वाकवादी कहते हैं- मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं देखता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ आदि मैं और मेरे का, अर्थात् अहंकार और ममकार का जो अनुभव होता है, वह शरीर का धर्म है, इसलिए आत्मा जैसे अलग तत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं है, परंतु चार्वाकवादियों की यह बात युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि शरीर के जो धर्म हैं, वे तो नेत्रादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जैसे-गौरा, काला, छोटा, बड़ा, सुन्दर, कुरूप आदि शरीर के धर्म है, ये चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य है। चिकना, खुरदरा, भारी, हल्का, स्निग्ध, कठोर, शीत, उष्ण आदि का स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि ये भी पुद्गल (शरीर) के ही धर्म हैं। मधुर, कटु, तिक्त, खट्टा, खारा आदि रस भी शरीर धर्म हैं, रसनेन्द्रिय द्वारा इनका अनुभव किया जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि शरीर के जो भी गुणधर्म हैं, वे पाँचों इन्द्रियों में से कोई एक या अधिक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बनते हैं। अगर अहं को शरीर का धर्म माना जाए, तो यह भी किसी न किसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बनना चाहिए, परंतु ऐसा होता नहीं है, इसलिए अहंकार को शरीर का धर्म मानने की आवश्यकता नहीं है।

(४०१) शरीरस्यैव चात्मत्वे नाऽनुभूतस्मृतिर्भवेत्।
बालत्वादिदशाभेदात् तस्यैकस्याऽनवस्थितेः।।१८।।

<u>अनुवाद</u> - शरीर को आत्मा मानने से अनुभूत की स्मृति नहीं होगी। बालत्व आदि दशा भेद के कारण उसकी (शरीर की) अकेले की अनवस्थिति है।

विशेषार्थ - चार्वाकदर्शन के अनुसार यदि शरीर को ही आत्मा मान लिया जाए, तो प्रश्न यह उठता है कि बालक जब युवावस्था को प्राप्त होता है, पश्चात् वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तब शरीर भी वही-का-वही क्यों नहीं रहता है? वह बदल क्यों जाता है? बालक से जब युवा हुआ, तो वह युवक का शरीर हुआ, जो बालक से बिल्कुल भिन्न है। वैज्ञानिकों के अनुसार सात वर्ष में एक भी सेल वही का वही नहीं रहता है। सम्पूर्ण परिवर्तन हो जाता है। अगर शरीर ही आत्मा है तो बालक की आत्मा अलग और युवा हुआ तो उसकी आत्मा अलग वृद्ध हुआ, तो उसकी आत्मा अलग मानना पड़ेगी और यह माना जाए, तो फिर बाल्यकाल के स्मरण युवावस्था में नहीं होना चाहिए, वृद्धावस्था में भी नहीं होना चाहिए, परंतु अनुभव यह कहता है कि बचपन के संस्मरण युवावस्था में रहते है और वृद्धावस्था में भी रहते है। चार्वाकवादी अगर यह कहे कि स्मरण हो तो भी आत्मा अगल-अलग हो सकती है तो फिर 'कृत प्रणाश अकृत भोग', की आपत्ति आएगी अर्थात् परिश्रम एक व्यक्ति करेगा उसका फल दूसरा व्यक्ति भोगेगा। अध्ययन अलग व्यक्ति करेगा, नौकरी दूसरा व्यक्ति करेगा और मजदूरी तीसरे व्यक्ति को मिलेगी। इस समस्या का समाधान यही है कि बाल्यकाल, यौवनावस्था और वृद्धावस्था-तीनों की अवस्थाओं में एक ही आत्मा है, जिसके कारण अनुभूत स्मृति रहती है, अतः शरीर ही आत्मा है- यह कथन मिथ्या स्वीकारना ही पड़ेगा।

(४०२) **नात्मांगं विगमेऽप्यस्य तल्लब्ध्वाऽनुस्मृतिर्यतः।**
व्यये गृहगवाक्षस्य तल्लब्धार्थाधिगन्तृवत्।।१६।।

अनुवाद - (शरीर का) अंग यह भी आत्मा नहीं है, क्योंकि उसके नाश होने पर भी स्मृति तो रहती है, जैसे घर का गवाक्ष (खिड़की) नष्ट होने के बाद भी उसके जानने वाले को स्मृति होती है, उसी तरह।

विशेषार्थ - चार्वाकवादियों का कहना है- चाहे सम्पूर्ण शरीर को आत्मा नहीं मानें, परंतु शरीर के किसी एक अंग को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया जाए, तो क्या आपत्ति है? शरीर के किसी भी एक अंग द्वारा अहं का अनुभव हो सकता है, चार्वाक का यह तर्क भी अनुचित है। शरीर के आँख, नाक, कान, हाथ, पैर, मुख इत्यादि अंगों में से किसी भी एक

अंग को आत्मा के रूप में स्वीकारने से विसंगति आएगी। मान लिया जाए कि प्राणी की आँख-यह आत्मा है, तो आँख के सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर, अंधे हो जाने पर भी पूर्व में देखे हुए की, अनुभव किए हुए की स्मृति तो रहेगी ही। स्वयं की आँखें थीं और अन्य की आँखें हैं- यह भी उसे सदैव स्मृति में रहेगा। विभिन्न रंग, आकृतियाँ, विभिन्न रूप, पूर्व में देखे हुए रमणीय-स्थल आदि का स्मरण रहेगा। जैसे किसी घर में किसी खिड़की को बंद कर देने पर या उसकी जगह दिवार बना देने पर भी उसमें से देखा हुआ दृश्य तो याद रहेगा ही, उसी प्रकार शरीर के अंग को आत्मा मान लेने पर उसके चले जाने के बाद उसके द्वारा हुई अनुभवों की स्मृति किसे होगी ? इसलिए शरीर के अंग को भी आत्मा नहीं मान सकते हैं।

(४०३) न दोषः कारणे कार्ये वासनासंक्रमाच्च न।
भ्रूणस्य स्मरणापत्तेरंबानुभवसंक्रमात्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> कारण के होने पर कार्य में वासना के संक्रमण हो जाने से इसमें दोष नहीं आएगा, नहीं तो फिर माता के अनुभव के संक्रमण से गर्भ में रहे हुए बालक को स्मृति होती है इस प्रकार की आपत्ति आएगी।

<u>विशेषार्थ -</u> चार्वाकवादियों का कहना है-कि शरीर के किसी एक अंग को आत्मा मान लेने पर और उस अंग के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है, क्योंकि आँख, नाक, कान आदि के द्वारा जो भी अनुभव किया हो, उसके नष्ट होने पर भी उसकी वासना का संक्रमण पूरे शरीर में हो जाता है, इसलिए उनके द्वारा अनुभूत स्मृति का संक्रमण भी शेष शरीर में हो जाता है, इसलिए किसी एक अंग के नष्ट हो जाने पर शेष शरीर को आत्मा मानने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु चार्वाकवादियों का यह तर्क भी सर्वथा अनुचित है। यदि शरीर के एक अंग की वासना का संक्रमण दूसरे अंगों में होता है और उसको उस अंग द्वारा अनुभूत स्मृति के संस्कार रहते हैं, तो फिर माता के उदर में गर्भ रूप में बालक होता है और जब तक वह गर्भ में रहता है, तब तक माता के अंग के रूप में ही रहता है। बालक का जन्म होने पर माता का वह अंग अलग हो जाता है। अगर वासना का संक्रमण होता हो और अनुभवों की स्मृति रहती हो, तो माता ने गर्भकाल के दौरान जो भी देखा हो, अनुभव किया हो, जो भी

गतिविधियाँ की हों, उनकी स्मृति बालक को होना चाहिए, क्योंकि माता कारण है, गर्भ कार्य है, परंतु ऐसा नहीं होता है। कारण और कार्य की परम्परा स्वीकार कर कारण की वासना का संक्रमण कार्य में होता है, यह हर समय नहीं मान सकते हैं, इसलिए चार्वाकवादियों का कारण कार्य का तर्क भी अनुचित है।

(४०४) नोपादानादुपादेय वासनास्थैर्यदर्शने।
करादेरतथात्वेनायोग्यत्वाप्तेरणुस्थितौ।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> स्थैर्यदर्शन में उपादान से उपादेय में वासना का संक्रमण नहीं होता है। स्थिर दर्शन में (परमाणु-पुंज की स्थिरता मानने वाले) हस्त आदि के अनस्तित्त्व से अयोग्यत्व प्राप्त होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> शरीर ही अगर आत्मा हो, तो माता ने जो अनुभव किया, उसका स्मरण गर्भ में रहे हुए बालक को भी होना चाहिए, परंतु ऐसा होता नहीं है ? अपने मत के समर्थन में चार्वाकवादी तर्क करते हैं कि माता और बालक के बीच कार्य-कारण भाव है, उपादान- उपादेय भाव नहीं, इसलिए माता की वासना का संक्रमण बालक में नहीं होता है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने स्थैर्यदर्शन का प्रयोग किया है। जो आत्मा को क्षणिक मानते हैं, उनका दर्शन क्षणिकतावादी कहलाता है। जो आत्मा को नित्य-स्थिर मानते हैं, उनका दर्शन स्थिरतावादी-दर्शन अथवा स्थैर्यदर्शन कहलाता है। संस्कारों का संक्रमण क्षणिकतावादी दर्शन में घट सकता है, क्योंकि पूर्व-क्षण या परमाणु-पुंज के द्वारा उत्तर क्षण की या परमाणु-पुंज की उत्पत्ति होने पर उपादान की वासना का संक्रमण उपादेय में होता है- इस प्रकार क्षणिकवादी मानते हैं, किन्तु परमाणु पुंज की स्थिरता मानने वाले स्थैर्यदर्शनवादी उपादान के संस्कारों का संक्रमण उपादेय में होता है- इस प्रकार नहीं मानते हैं।

शरीर को ही आत्मा मानने वाले अपनी मान्यता को सुरक्षित रखने के लिए तर्क देते हैं कि जहाँ अवयव-अवयवी भाव होता है, वहीं उपादान-उपादेय भाव होता है, परंतु माता और बालक के बीच अवयव-अवयवी भाव नहीं होता है। माता से बालक भिन्न है, इसलिए माता के अनुभवों की स्मृति बालक को नहीं होती है, किन्तु उनका यह तर्क उचित नहीं है। माना कि किसी मनुष्य का हाथ कटकर अलग हो गया है।

अब उस हाथ का अस्तित्त्व नहीं है, अर्थात् कटे हुए हाथ के साथ अवयव-अवयवी भाव अब नहीं रहा, फिर भी मनुष्य को अपने कटे हुए हाथ के द्वारा जो कुछ किया गया हो, उसका स्मरण रहता है। इसका तात्पर्य यही है कि जहाँ अवयव-अवयवी भाव हो, वहीं उपादान-उपादेय भाव होता है और वहीं स्मृति रहती है-यह तर्क अयोग्य है, मिथ्या है।

इस प्रकार शरीर ही आत्मा है- यह मत सिद्ध नहीं हो सकता है। हम साधारण अनुभवों के द्वारा भी समझ सकते हैं कि शरीर ही अगर चेतन-तत्त्व हो, तो मोटे व्यक्ति में हमेशा अधिक चेतना होना चाहिए और पतले व्यक्ति में कम चेतना होना चाहिए, परंतु स्थिति इससे विपरीत देखने को मिलती है। दुबला-पतला व्यक्ति अधिक चेतनवंत, स्फूर्तिवाला और शक्तिवाला होता है, जबकि प्रायः मोटा व्यक्ति प्रमादी होता है। उसी प्रकार एक ही व्यक्ति का शरीर जब जाग्रत हो, तो अधिक चेतनवंत दिखाई देता है और निद्रावस्था में कम चेतनवंत होता है। बेहोशी में भी शरीर तो वही रहता है किंतु चेतना नहीं होती है, उसी तरह शरीर ही आत्मा है, तो शव (मुर्दा) चेतनारहित क्यों होता है, अतः स्पष्ट है कि शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा शरीर से भिन्न है।

(४०५) माद्यंगेभ्यो मदव्यक्तिरपि नो मेलकं विना।
ज्ञानव्यक्तिस्तथा भाव्याऽन्यथा सा सर्वदा भवेत्।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार मद्य के अंगों में मद्य की अभिव्यक्ति मेलक (उनको मिलाने वाला) के बिना नहीं हो सकती है, उसी प्रकार ज्ञान की अभिव्यक्ति भी जानना चाहिए, अन्यथा वह (ज्ञान) सब जगह होगा।

<u>**विशेषार्थ -**</u> चार्वाकवादी कहते हैं कि जिस तरह मदिरा के अंगों के मिलने पर मदिरा की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार चार महाभूतों से मिलने पर चेतना की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् जीव की उत्पत्ति होती है। जिस दृष्टान्त द्वारा चार्वाकवादियों ने आत्मा के अस्तित्व का खण्डन किया है, उसी दृष्टान्त द्वारा ग्रंथकार ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। चार्वाकों का कहना है कि पुष्प, गुड़, जल आदि पदार्थों में प्रत्येक में पृथक्-पृथक् मदिरा बनाने की शक्ति नहीं है, किन्तु इनका मिश्रण होने पर मदिरा की अभिव्यक्ति हो जाती है। आत्मवादी इस बात को स्वीकार करते

हैं, परंतु उनका कहना है कि गुड़, पुष्प, जल अपने-आप स्वयं ही मिश्रित नहीं होते है और मदिरा के रूप में परिवर्तित नहीं होते हैं, बल्कि उनका मिश्रण करके हिलाकर विशिष्ट क्रियाविधि मनुष्य द्वारा की जाती है, तब मदिरा का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार चार भूतों के एकत्र होने पर उनसे जीव की उत्पत्ति नहीं होती है, बल्कि चारों का मिश्रण करने वाली किसी विशिष्ट शक्ति की अपेक्षा रहती है। वही चैतन्यशक्ति आत्मा है। इस प्रकार चार्वाकों के दृष्टान्त द्वारा ही आत्मा के अस्तित्त्व की सिद्धि हो जाती है।

(४०६) राजरंकादिवैचित्र्यमप्यात्मकृतकर्मजम्।
सुखदुःखादिसंवित्तिविशेषो नाऽन्यथा भवेत्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> राजा-रंक आदि की विचित्रता भी आत्मा के द्वारा किए गए कर्मों से ही उत्पन्न होती है। उसके बिना सुख-दुःख आदि का विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> चार्वाकवादी कहते हैं कि इस संसार में जो भी राजा-रंक आदि का भेद है, जो विषमताएँ हैं, वे कुदरती हैं, किंतु चार्वाकवादियों का यह कथन यथार्थ नहीं है। जगत् में राजा और रंक, गरीब और धनवान्, विद्वान् और मूर्ख, सुन्दर और कुरूप, ऊँच-नीच, सुखी-दुःखी, अंधे-बहरे-गूंगे और पंचेन्द्रिय की पूर्णता, स्वस्थता आदि का भेद मानवों के बीच दिखाई देता है। इस विषमता का रहस्य कर्मसिद्धान्त को स्वीकार करने पर ही स्पष्ट हो सकता है। यह सब पूर्वजन्म में बांधे हुए शुभ कर्म तथा अशुभ कर्म का ही क्रमशः पुण्यरूप व पापरूप में परिणाम परिलक्षित होता है। प्राणी की राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति कर्मबन्ध में सहायक होती है। ये कर्म अपना अबाधाकाल (नियत समय) पूर्ण होने के बाद ही उदय में आते हैं और अपना फल देकर निर्जरित हो जाते हैं। शुभ कर्म का फल सुखरूप में होता है और अशुभ कर्म का फल दुःखरूप में। अगर कर्मसिद्धान्त को स्वीकार न किया जाए, तो फिर सभी लोगों को सुख या दुःख का अनुभव एक जैसा ही होना चाहिए, परंतु सुख-दुःख का अनुभव भी प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होता है, साथ ही एक ही व्यक्ति के एक ही जीवन में कितनी ही विषमताएँ पाई जाती हैं, कभी वह सुखी होता है, आनंदित होता है, कभी वह दुःखी होता है, परेशान होता है, किसी समय वह अतुल

सम्पदा का स्वामी होता है, तो किसी समय दाने-दाने के लिए मोहताज हो जाता है। अगर कर्म इसमें कारणरूप न हो, तो व्यक्ति हमेशा के लिए सुखी या हमेशा के लिए दुःखी होना चाहिए, परंतु ऐसा नहीं होता है। उसकी बदलती हुई परिस्थितियाँ भी शुभ और अशुभ कर्म के उदय के कारण ही होती हैं। पत्थर आदि में भी जो विषमताएं दिखाई देती हैं, वे भी उनके अपने-अपने कर्मानुसार ही होती हैं, क्योंकि पत्थर आदि में भी जीवन है, चेतना है।

(४०७) आगमाद् गम्यते चात्मा दृष्टेष्टार्थाऽविरोधिनः।
तद्वक्ता सर्वविच्चैनं दृष्टवान् वीतकश्मलः।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> दृष्ट और इष्ट-अर्थ के विरोध बिना आगम द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है। उसके वक्ता सर्वज्ञ हैं। राग-द्वेषरूपी मल से रहित ऐसे वीतराग द्वारा उसको (आत्मा को) देखा गया, अनुभव किया गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> शास्त्रों में परस्पर विरूद्ध विधान आते हैं-यह आरोप अनात्मवादी लगाते हैं, परंतु यह कष-छेद और तापरूपी परीक्षा की कसौटी में खरे उतरे शुद्ध स्वर्ण की तरह, जिनागम के लिए यथार्थ नहीं है। आगमों में जो आत्मतत्त्व पर चिंतन किया गया है, वह सर्वथा उचित है। उनमें कहीं विसंगति या परस्पर विरूद्ध कथन नहीं है। दृष्ट-अर्थ और इष्ट अर्थ-दोनों की दृष्टि से यथार्थ ही है। दृष्ट, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जिसका अनुभव किया जा सकता है, जिसको देखा जा सकता है। इष्ट, अर्थात् प्राप्त करने लायक पदार्थ। दृष्टार्थ, अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण और इष्टार्थ, अर्थात् अनुमान-प्रमाण। इन दोनों प्रमाणों से आत्मतत्त्व की सिद्धि की गई है। कुछ तथ्य का प्रत्यक्ष किया जा सकता है और कुछ तथ्य अनुभूतिपरक होते हैं, जैसे-चाय फीकी है या मीठी, इसे चखकर रसनेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है, किन्तु मैं (शरीर) मरणशील हूँ, यह दूसरों को मरते हुए देखकर अनुमान प्रमाण द्वारा स्वीकार किया जाता है।

वर्तमान में वैज्ञानिक जिन-जिन सत्य को उद्घाटित कर रहे हैं या परीक्षण करके सिद्ध कर रहे हैं, उन तथ्यों को सर्वजन बिना प्रत्यक्ष किए स्वीकार करते हैं। जब एक वैज्ञानिक की बात को सहर्ष सत्य मानकर स्वीकार कर लेते हैं, तो आगम की वाणी तो वीतराग की वाणी है। वीतराग

कभी दो वस्तु का संयोग होने का हो और नहीं हुआ हो, दो वस्तुएं एकरूप (अभिन्न) होने की हों और नहीं हुई हों या उस वस्तु के सामान्य या विशिष्ट धर्म प्रकट नहीं हुए हों, ऐसा हो सकता है। तात्पर्य यह है कि निषेध पदार्थ का नहीं, बल्कि संयोग-समवाय सामान्य और विशेष का होता है।

संयोग-संबंध, अर्थात् दो पृथक्-पृथक् वस्तुओं का एक-दूसरे से जो सम्बन्ध होता है, वह संयोग-सम्बन्ध कहलाता है और सम्बन्ध का निषेध होने पर पदार्थ का निषेध नहीं होता है ,जैसे-'वन में शेर नहीं है' या 'हाथ में पेन नहीं है'- जब कहते हैं, तब वहाँ वन और शेर के तथा हाथ और पेन के संयोग का निषेध है, वन का, शेर का, हाथ का या पेन का निषेध नहीं है।

समवाय-संबंध में दो वस्तुओं में तादात्म्य भाव रहता है। 'दूध में शकर नहीं है'- जब यह कहा जाता है, तब दूध और शकर के समवाय-संबंध का निषेध होता है। दूध और शकर का निषेध नहीं होता है। शकर दूध में नहीं, किन्तु अन्यत्र तो उसका अस्तित्व है। 'मेरे पास समाचार-पत्र नही आया'- जब यह कहा जाता है, तब यह सामान्य अर्थ में कहा गया है। 'समाचार-पत्र' अन्यत्र विद्यमान है।

'मैं लाल वस्त्र नहीं पहनता'- जब यह कहा जाता है, तब वस्त्र की विशिष्टता का निषेध है, वस्त्र का निषेध नहीं है। इस प्रकार निषेध अनेक प्रकार से किया जाता है। जब निषेधात्मक बात हो, तब पदार्थ का सर्वथा निषेध नहीं किया जाता है, इसलिए जब 'देह में आत्मा नहीं है'- यह कहा जाता है, तब आत्मा का निषेध नहीं होता है, परंतु देह और आत्मा के संयोग-संबंध का निषेध होता है।

**(४१२) शुद्धं व्युत्पत्तिमज्जीवपदं सार्थं घटादिवत्।
तदर्थश्च शरीरं नो पर्यायपदभेदतः।।२६।।**

<u>अनुवाद -</u> घटादि की तरह जीव-पद शुद्ध, व्युत्पत्तिवाला और सार्थ है। पद के पर्याय के भेद के कारण उसका (जीव-पद का) अर्थ शरीर नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव शब्द का अर्थ शरीर नहीं कर सकते हैं, इसलिए यहाँ व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से तर्क दिए गए हैं -

व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'सुप्तिऽन्तं पदं', 'सुव्' और 'तिङ्' अन्त वाले शब्द पद कहलाते हैं, अर्थात् विभक्तियुक्त शब्द पद कहलाते हैं। जो पद स्वतंत्र होते हैं और व्युत्पत्ति वाले होते हैं, वे शुद्ध पद कहलाते हैं। दो पद मिलकर कोई शब्द होता हो, अर्थात् सामासिक-पद हो, तो वह शुद्ध पद नहीं होता है, जैसे 'खरविषाण'- ये दोनों पृथक्-पृथक् शुद्ध पद हैं, किन्तु दोनों मिलकर जो एक पद बना, वह शुद्ध नहीं है। अगर स्वतंत्र पद हो परंतु उसकी व्युत्पत्ति नहीं मिलती हो या नहीं हो सकती हो, तो वह पद भी शुद्ध नहीं कहलाता है।

'जीव'- यह स्वतंत्र पद है, घट आदि पद की तरह व्युत्पत्तिवाला है। व्युत्पत्ति से शब्द का अर्थ होता है। शब्द किस प्रकार उत्पन्न हुआ और प्रचलित हुआ-यह व्युत्पत्ति से जान सकते हैं, जैसे घट की व्युत्पत्ति-घटते, चेष्टते जला-हरणादि कार्येषु इति घटः। जिस प्रकार घट शब्द की व्युत्पत्ति है, उसी प्रकार जीव शब्द की व्युत्पत्ति भी है - अजीवत् जीवति जीविष्यति। जो जीया है, जीता है और जो जीएगा, वह जीव कहलाता है।

इस प्रकार जीव शब्द व्युत्पत्तिपरक होने से और सामासिक-पद नहीं होने से 'जीव' शुद्ध पद है। जो पद शुद्ध हो, वह अर्थ वाला होना चाहिए, अतः जीव-पद सार्थ है। जिन शुद्ध पदों का वाच्यार्थ के अनुसार बोध होता है, उन पदार्थों का अस्तित्त्व दुनिया में होता ही है, इसलिए शुद्ध पद व्युत्पत्तिवाला और सार्थ होने से 'जीव' का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।

प्रत्येक पद के पर्यायवाची, अर्थात् समानार्थी शब्द होते हैं। कोई भी दो पद के पर्याय समान हों, तो दोनों पद भी एक-दूसरे के पर्याय बन सकते हैं, जैसे-सुमन का पर्याय पुष्प और कुसुम का पर्याय पुष्प, अतः सुमन के स्थान पर कुसुम का भी प्रयोग कर सकते हैं, परंतु दोनों पद के पर्याय भिन्न-भिन्न हों, तो दोनों पद एक दूसरे के पर्याय या अर्थरूप नहीं बन सकते हैं। शरीर के पर्याय हैं- देह, तन, काया, वपुः आदि और जीव के पर्याय हैं- चेतन, आत्मा आदि। जीव और शरीर-दोनों पदों के पर्याय भिन्न-भिन्न हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव और शरीर-ये दोनों पद

एक-दूसरे के पर्यायरूप नहीं हैं। अतः आत्मा को शरीर या शरीर को आत्मा नहीं मान सकते हैं। जीव और शरीर-दोनों के अर्थ बिल्कुल भिन्न हैं।

(४१३) आत्मव्यवस्थितेस्त्याज्यं ततश्चार्वाकदर्शनम्।
पापाः किलैतदालापाः सद्व्यापारविरोधिनः।।३०।।

<u>अनुवाद</u> - आत्मा की सिद्धि हो जाने पर चार्वाकदर्शन त्याग करने योग्य है। उसके अपलापक (कुतर्क) सद्व्यापार के विरोधी और पापरूप हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - चार्वाकदर्शन आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करता है। उनका मंतव्य है कि चार भूतों से बने इस शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर कुछ शेष नहीं रहता है, पुनर्जन्म नहीं होता है, अतः खाओ, पीओ और मौज करो, पाप-पुण्य कुछ नहीं होता है, परंतु चार्वाकदर्शन तर्क और अनुभव की कसौटी पर निष्फल हो जाता है। शरीर से भिन्न एक दिव्य चेतन-शक्ति है, वही आत्मा है। अनेक तर्कों व्यावहारिक-अनुभवों आदि के द्वारा आत्मा के अस्तित्व के सिद्ध हो जाने के बाद नास्तिक-दर्शन त्याग करने योग्य है। 'मेरा वह सच्चा नहीं, बल्कि सच्चा सो मेरा'। सत्य को समझने के बाद असत्य छोड़ देने योग्य होता है।

चार्वाकदर्शन आत्मा के अस्तित्त्व के साथ ही आध्यात्मिक-प्रगति के लिए किए जाने वाले शुभ अनुष्ठानों का विरोधी है, चार्वाकवादी पापप्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाले हैं, अतः जीव को उन्मार्ग पर ले जाने वाले, भटकाने वाले और भवभ्रमण को बढ़ाने वाले ऐसे दर्शन का त्याग करना ही हितकर है, श्रेष्ठ है।

(४१४) ज्ञानक्षणावलीरूपो नित्यो नात्मेति सौगताः।
क्रमाक्रमाभ्यां नित्यत्वे युज्यतेऽर्थक्रिया न हि।।३१।।

<u>अनुवाद</u> - बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानक्षण की परंपरारूप आत्मा नित्य नहीं है। नित्यत्व में क्रम से या अक्रम से अर्थ-क्रिया नहीं घटती है।

<u>विशेषार्थ</u> - बौद्ध, चार्वाक की अपेक्षा परिष्कृत बुद्धि वाले होते हैं, अतः उनका कहना है कि नश्वर देह आत्मा नहीं है। आत्मा शरीर से भिन्न है, किन्तु वह शाश्वत नहीं है, नित्य नहीं है। आत्मा ज्ञानक्षण की आवली, अर्थात् पंक्तिरूप है। उनका मंतव्य है कि प्रत्येक क्षण आत्मा का जन्म होता

है और दूसरे क्षण वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उत्पन्न होने की और नष्ट होने की क्रिया सतत चलती रहती है। इस प्रक्रिया के निरंतर चलते रहने से नित्यता का आभास होता है, किन्तु वास्तविक रूप में आत्मा नित्य नहीं है।

देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा है, परंतु वह आत्मा क्षणिक है। बौद्ध उपन्नेइवा और विगमेईवा, अर्थात् उत्पत्ति और विनाश को ही स्वीकार करते हैं, ध्रुवता को स्वीकार नहीं करते है। उसकी उत्पत्ति और विनाश की परंपरा ज्ञान की धारारूप है। उसमें सातत्य होने से उसे संतान, हार, परंपरा, धारा, आवली भी कहते हैं। प्रतिक्षण ज्ञान उत्पन्न होने से उसे आत्मा कहते हैं। बौद्धदर्शन की मान्यता है कि अगर आत्मा को नित्य मानेंगे, तो क्रम से, अर्थात् कालानुसार और अक्रम से, अर्थात् युगपत्-दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया घटित नहीं होगी, इसलिए आत्मा नित्य नहीं है।

(४१५) स्वभावहानितो ध्रौव्यं क्रमेणार्थक्रियाकृतौ।
अक्रमेण च तद्भावे युगपत् सर्वसंभवः।।३२।।

<u>अनुवाद -</u> (आत्मा) क्रम से अर्थक्रिया करे, तो उसमें स्वभाव की हानि होते ही वह अनित्य होगी। जो अक्रम से क्रिया करे तो एक ही समय में अर्थात् युगपत् सर्व (अर्थक्रिया) संभव होगी।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बौद्धों के मंतव्य का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानते हैं। वह एक क्षण में उत्पन्न होती है और दूसरे ही क्षण नष्ट होती है- इस प्रकार परंपरा चल रही है। वे आत्मा की अनित्यता को पुष्ट करने के लिए तथा नित्यता का निरसन (खण्डन) करने के लिए प्रश्न उठाते हैं कि यदि आत्मा नित्य है ,तो वह अर्थ-क्रिया क्रम से करती है या अक्रम से ? अगर यह कहा जाए कि आत्मा क्रम से कार्य करती है तो आत्मा का नित्यत्व स्वभाव नहीं रह पाएगा, क्योंकि प्रथम क्षण में आत्मा का जो अमुक कार्य करने का स्वभाव था, वह तो नष्ट हो गया और दूसरे ही क्षण दूसरे कार्य करने का स्वभाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार अगर आत्मा क्रम से कार्य करे, तो उसके नित्य स्वभाव की हानि होगी। स्वभाव के नष्ट होने का अर्थ यह है कि स्वयं आत्मा का ही नाश हो गया। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा क्षणिक है, नष्ट होने के स्वभाव

परमात्मा संपूर्ण रूप से राग-द्वेष से रहित होते हैं और सर्वज्ञ होते हैं। वे जो भी कहते हैं, उनमें उनका स्वार्थ नहीं होता है। वे तो जगत् के जीवों के प्रति निष्कारण करुणा से प्रेरित होकर उन्हें दुःखों से सर्वदा मुक्त करने के लिए कहते हैं। उनके द्वारा आत्मा को देखा गया है, जाना गया है, अनुभव किया गया है। जो आत्मस्वरूप राग-द्वेष से युक्त जगत् के अन्य जीवों के लिए प्रत्यक्ष नहीं है, उस आत्मस्वरूप का सर्वज्ञों ने, केवली भगवंतों ने दर्शन किया है, अनुभव किया है, अतः उनके लिए तो वह प्रत्यक्ष ही है।

(४०८) अभ्रान्तानां च विफला नामुष्मिक्यः प्रवृत्तयः।
परबंधनहेतोः कः स्वात्मानमवसादयेत्।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> अभ्रान्त (संदेहरहित) परलोक संबंधी प्रवृत्तियाँ निष्फल नहीं होती हैं। दूसरों को बंधन में डालने के लिए अपनी आत्मा को विषाद (कष्ट) में कौन डालेगा ?

<u>विशेषार्थ -</u> नास्तिकवादियों की 'खाओ, पीओ और मौज करो'- इसी सिद्धान्त में रुचि है, अतः वे स्वर्ग, नरक, मोक्ष, परमात्मा, कर्म आदि बातों का विरोध करते हैं और जो आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के विषय में उपदेश देते है, सन्मार्ग बताते हैं उन निष्कारण करुणा बरसाने वाले सर्वज्ञ परमात्मा को धूर्त कहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि मोक्ष आदि का कथन करने वाले धूर्त नहीं, बल्कि सर्वज्ञ हैं। उनके घातीकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय) के नष्ट हो जाने पर तीनों लोक के तीनो काल के समस्त द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों को जानने और देखने का उनमें सामर्थ्य होता है, अतः वे सन्देह से रहित होते हैं। उन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा देखकर सांसारिक जीवों के कल्याण हेतु मोक्ष का मार्ग प्ररूपित किया, कर्म-सिद्धान्त, स्वर्ग, नरक आदि की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, इसलिए उनकी इस विषय की प्रवृत्ति कभी निष्फल नहीं होती है। उनके उपदेशामृत का पान करके अनेक आत्माओं का कल्याण हुआ है। अनेक ने मोक्ष गति को प्राप्त किया है। राग-द्वेष से रहित, सर्वत्यागी, जिनश्वेर परमात्मा को दूसरों को बंधन में डालने में या छलने में कोई रुचि नहीं होती है। वे निःस्वार्थ भाव से जगत् के सभी जीवों का हित चाहते हैं। सांसारिक-बंधनों से मुक्त ऐसे सर्वज्ञ एषणा से रहित होते हैं। दूसरे को

ठगने के आशय से दूसरे को बंधन में डालने के लिए वे अपनी आत्मा को क्यों कष्ट में डालेंगे ? दूसरों को सुख से च्युत करने के लिए स्वयं सुख से क्यों च्युत होंगे? वे स्वयं सत्य के मार्ग पर चले और अनंत सुख को प्राप्त किया, दुःखों से मुक्ति पाई, उसी मोक्षमार्ग को उन्होंने अन्य के लिए प्ररूपित किया, न कि वे दूसरों को दुःख में डालने के लिए स्वयं दुःख में पड़े।

(४०६) सिद्धिः स्थाण्वादिवद् व्यक्ता संशयादेव चात्मनः।
असौ खरविषाणादौ व्यस्तार्थविषयः पुनः।।२६।।

__अनुवाद -__ स्तंभ आदि की तरह संशय से ही आत्मा की सिद्धि स्पष्ट रूप से होती है। फिर वह गधे के सींग आदि में भिन्न अर्थ का विषय होता है।

__**विशेषार्थ -**__ आत्मा के अस्तित्त्व को अस्वीकार करने वाले नास्तिकवादियों को ग्रंथकार ने तर्कयुक्त जवाब दिया। तर्कशास्त्र का एक नियम ऐसा है कि कोई वस्तु यहाँ है या नहीं, जब ऐसा संशय होता है, तब इसका कहीं-न-कहीं अस्तित्त्व होना ही चाहिए। 'शरीर में आत्मा जैसा कोई तत्त्व है ही नहीं'- इस प्रकार चार्वाकवादी कहते हैं, तो कहीं-न-कहीं आत्मा का अस्तित्त्व है ही, इस प्रकार निश्चित हो जाता है। पदार्थ के अस्तित्त्व के बिना संशय होता ही नहीं है। आत्मा है ही नहीं-इस कथन से यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार का ऐसा कोई तत्त्व कहीं विद्यमान है, जिसे 'आत्मा' संज्ञा दी गई है, नहीं तो आत्मा जैसा शब्द आए ही कहां से ?

प्रस्तुत श्लोक में उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है - स्थाणु, अर्थात् वृक्ष का तना। डाली और पत्ते से रहित छोटे तने (ठूंठ) को धुंध में देखने पर या मंद प्रकाश में देखने पर मनुष्य का आभास होता है। तने को देखते ही दूर से यह संशय उत्पन्न होता है कि यह कोई मनुष्य तो नहीं खड़ा है, लेकिन समीप जाने पर पता लग जाता है कि यह मनुष्य नहीं, वृक्ष का तना है। इस प्रकार वृक्ष के ठूंठ से मानव का संदेह हुआ, परंतु ठूंठ तो ठूंठ ही है, फिर भी मनुष्य जैसी कोई वस्तु का अस्तित्त्व इस संसार में होगा, तो ही मनुष्य का आभास या भ्रमणा होगी। कहने का तात्पर्य यही है

कि उस वस्तु के संदेह से ही उसकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार, आत्मा नहीं है-इस प्रकार कहने से ही आत्मा के अस्तित्त्व की सिद्धि हो जाती है।

कोई व्यक्ति अगर यह तर्क करे कि संदेह से ही वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है, तो फिर 'गधे के सींग' (खर-विषाण) का संशय जब करते हैं या आकाश-कुसुम का संशय करते हैं, तब गधे पर सींग और आकाश-कुसुम के अस्तित्व की सिद्धि तो नहीं हो जाती, क्योंकि गधे के सिर पर कभी सींग नहीं होते है। उसी तरह, अस्तित्व पर शंका करने से सींग का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है और इसी प्रकार आकाश-कुसुम, वंध्यापुत्र का अस्तित्त्व भी सिद्ध नहीं होता है, परंतु खरविषाण-आदि में भिन्न-भिन्न अर्थ लेना है, अर्थात् गधे के सिर पर सींग का अस्तित्व, आकाश में कुसुम का अस्तित्त्व, वंध्या के पुत्र का अस्तित्त्व चाहे नहीं हो, परंतु खरविषाण-इस प्रकार बोलने से खर, अर्थात् गधे का अस्तित्त्व भी सिद्ध होता है और सींग का अस्तित्त्व भी सिद्ध होता है। गधे के सिर पर नहीं, किन्तु कहीं-न-कहीं सींग का अस्तित्त्व तो है ही, उसी प्रकार आकाश-कुसुम का अस्तित्त्व नहीं होने पर भी आकाश का भी अस्तित्त्व है और कुसुम का भी। आशय यही है कि किसी भी वस्तु के विषय में संदेह किया जाता है, तो वह वस्तु कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही होगी। बिना अस्तित्त्व के संदेह भी नहीं होता है।

(४१०) अजीव इति शब्दश्च जीवसतानियंत्रितः।
असतो न निषेधो यत्संयोगादिनिषेधनात्।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> 'अजीव' शब्द ही जीव की सत्ता को नियंत्रित करता है, क्योंकि संयोगादि का निषेध होने से असत् का निषेध नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी वस्तु के लिए 'अजीव' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका अर्थ यह हुआ कि कहीं-न-कहीं जीव जैसा भी कोई पदार्थ है, जो अजीव से विपरीत है, नहीं तो अजीव शब्द का प्रयोग ही किस प्रकार हो, जीव के बिना अजीव शब्द कहाँ से आए। किसी एक वस्तु का निषेध किया जाता है, तो उसका अर्थ यही होता है कि उस वस्तु का कहीं-न-कहीं अस्तित्व है। अगर वस्तु ही नहीं होती है, तो उसके विषय में किसी को कल्पना भी नहीं होती है। जिसकी जानकारी ही नहीं हो, उस वस्तु का कोई

निषेध करे, तो वह निषेध निरर्थक है। वस्तुतः, निषेध ही वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करता है। अजीव शब्द से जीव की सिद्धि होती है।

जिस वस्तु का अस्तित्त्व ही नहीं हो, उसका निषेध भी नहीं हो सकता है। कोई यह कहे कि 'मुझे गधे के सिर पर सींग नहीं दिखाई देते हैं', परंतु गधे के सिर पर सींग होते ही नहीं हैं, अर्थात् गधे के सिर पर सींग-यह असत् है और वे नहीं दिखाई देते हैं- यह उनका निषेध है, अर्थात् असत् (अविद्यमान) का निषेध भी हो सकता है, परंतु यह बात सत्य नहीं है। यहाँ असत् या अविद्यमान या अनास्तित्व का निषेध नहीं है, क्योंकि सींग का अस्तित्व उसकी विद्यमानता तो है ही। गाय, भैंस के सिर पर सींग होते ही हैं। गधे के सिर पर सींग नहीं-इस प्रकार कहने से गधे और सींग के संयोग-संबंध का निषेध होता है, सींग की विद्यमानता का नहीं।

इस प्रकार के व्यवहार में अजीव शब्द का जब प्रयोग होता है, तब वह जीव के अस्तित्त्व को सिद्ध करता है।

(४११) संयोगः समवायश्च सामान्यं च विशिष्टता।
निषिध्यते पदार्थानां त एव न तु सर्वथा।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> पदार्थों के संयोग, समवाय, सामान्य और विशिष्टता का ही निषेध किया जाता है परंतु वह सर्वथा नहीं।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व के श्लोक को ही यहाँ और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। हम लोकव्यवहार में कितनी ही बार निषेधात्मक वाणी का प्रयोग करते हैं। 'अमुक वस्तु नहीं है', जब इस प्रकार के वाक्यों का उच्चारण करते हैं, तब उसका संदर्भ क्या है, वस्तुस्थिति क्या है, आदि देखना चाहिए, जैसे-आकाश में सूर्य नहीं है-इस प्रकार जब कहते हैं, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सूर्य जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, इसका अर्थ यह है कि बादलों के घिर जाने से या रात्रि होने से इस समय आकाश में सूर्य नहीं है, अन्य समय सूर्य हो सकता है। किसी वस्तु का अगर निषेध होता है, तो उस वस्तु का सर्वकाल के लिए सर्वथा निषेध हुआ-इस प्रकार नहीं कह सकते हैं।

वाली है। अगर यह कहा जाए कि आत्मा क्रम से नहीं, अक्रम से कार्य करती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा सारे कार्य युगपत् (एक साथ) करती है। भूत और भविष्यकाल के कार्य भी वर्तमान में करती है, परंतु ऐसा नहीं होता है, इसलिए आत्मा को नित्य नहीं, अनित्य ही मानना पड़ेगा।

इस प्रकार बौद्ध आत्मा को क्षणिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, परंतु आत्मा एकान्त-क्षणिक नहीं हो सकती है। आत्मा को क्षणिक मानने पर अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका समाधान नहीं हो पाता है।

(४१६) क्षणिके तु न दोषोऽस्मिन् कुर्वद्रूपविशेषिते।
ध्रुवेक्षणोत्थतृष्णाया निवृत्तेश्च गुणो महान्।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> कुर्वद्-रूप से विशेषित इस क्षणिकवाद में कोई दोष नहीं है, परंतु ध्रुवता से उत्पन्न हुई तृष्णा की निवृत्तिरूप महान् गुण (उसमें) है।

<u>विशेषार्थ -</u> वेदान्तदर्शन, सांख्यदर्शन आदि आत्मा को एकान्तनित्य मानते हैं, इसके विपरीत बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त-अनित्य मानता है और उसका मंतव्य है कि क्षणिकवाद में कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण ही है।

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा प्रत्येक क्षण उत्पन्न हो रही है और प्रत्येक क्षण नष्ट हो रही है, तो आत्मा प्रत्येक क्षण कार्य करने के स्वभाव वाली किस प्रकार हो सकती है ? चूंकि आत्मा प्रत्येक क्षण नष्ट हो रही और उत्पन्न हो रही है, तो वह कार्य कब करेगी ? कैसे करेगी ? शरीर द्वारा निरंतर जो सभी क्रियाएँ हो रही हैं, उन्हें कौन करता है और इन क्रियाओं में सातत्य, अर्थात् निरंतरता किस प्रकार संभव हो सकती है ?

इन प्रश्नों का समाधान करते हुए बौद्धवादी कहते हैं - आत्मा क्षणिक होने पर भी जिस क्षण आत्मा द्वारा कार्य होता है, उसके तुरंत पूर्व के क्षण में वह कुर्वद्-रूप से विशेषित होती है, अर्थात् कार्य करने की शक्ति से सम्पन्न होती है, अन्य समय में उसकी कार्य करने की शक्ति नहीं होती है। कुर्वद्-रूप, अर्थात् कार्य करने की शक्ति या अर्थक्रियाकारित्व।

आत्मा कार्य करने के लिए कुर्वद्-रूप से विशिष्ट होती है- बौद्धदर्शन का यह तर्क उचित नहीं है।

साथ ही, बौद्ध-दर्शन का मंतव्य है कि आत्मा को नित्य मानने की अपेक्षा अनित्य मानना विशेष हितकर है, क्योंकि आत्मा को शाश्वत मानने पर जीव को स्वयं कुछ है या सर्वशक्तिसम्पन्न है-इस प्रकार अहंकार रहता है। आत्मा की नित्यता का अवलोकन करते रहने से आत्मा के प्रति माया, अर्थात् स्नेह का बंधन दृढ़ हो जाता है। उसको सुखी करने की लालसा मन में उत्पन्न होती है। इससे तृष्णा का जन्म होता है और यह तृष्णा ही सभी दुःखों की मूल है। तृष्णा के कारण व्यक्ति बैचेन रहता है, जबकि आत्मा को यदि क्षणिक मान लिया जाए, तो व्यक्ति को यह आभास होगा कि वह स्वयं कुछ भी नहीं है, स्वयं का कुछ रहने वाला भी नहीं है, क्योंकि सभी अनित्य है, क्षणिक है, नाशवंत है। अतः, आत्मा भी क्षणिक है, उससे भी प्रीति करना हितकर नहीं है-इस प्रकार अनित्यता का भान होने पर उसकी आत्मा के प्रति स्नेह की ग्रन्थि नहीं बनेगी, जिससे उसे सुखी करने की लालसा भी उत्पन्न नहीं होगी और तृष्णा का भी उद्भव नहीं होगा और प्रशमभाव बना रहेगा। इस प्रकार क्षणिकवाद वैराग्यवाद का पोषक है। प्रेम, तृष्णा, लोभ, मोह, माया से मुक्त होना ही अध्यात्ममार्ग में सर्वश्रेष्ठ गुण है, जिसकी प्राप्ति क्षणिकवाद से होती है।

(४१७) मिथ्यात्ववृद्धिकृन्नूनं तदेतदपि दर्शनम्।
क्षणिके कृतहानिर्यत्तथात्मन्यकृतागमः।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> यह दर्शन (बौद्धदर्शन) भी अवश्य मिथ्यात्व की वृद्धि करने वाला है। आत्मा को क्षणिक मानने पर किए हुए कार्य की हानि और नहीं किए गए कार्य के फल की प्राप्ति होगी।

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्धदर्शन का मंतव्य है कि क्षण-क्षण में आत्मा की मृत्यु हो रही है और नई आत्मा का जन्म हो रहा है। यह क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि हमें यह आभास होता है कि आत्मा वहीं-की-वहीं है। बौद्धों की यह मान्यता तर्कयुक्त नहीं है। प्रत्येक क्षण अगर नई-नई आत्मा उत्पन्न हो, तो व्यावहारिक-जीवन में भी अनेक प्रश्नचिन्ह लग जाएंगे। आत्मा को क्षणिक मानने से कृतप्रणाश और अकृत कर्मभोग का महादोष उत्पन्न हो

जाएगा, अर्थात् जिसने जो कर्म किया है, उसको उस कर्म का फल नहीं मिल पाएगा (कृतप्रणाश) और जिसने जो कर्म नहीं किया हो, वह उस कर्मफल का उपभोग करेगा (अकृतभोग), जैसे-अध्ययन करने वाला व्यक्ति अलग, नौकरी करने वाला दूसरा, वेतन तीसरा ले जाएगा और उसका उपभोग करने वाला भिन्न हो जाएगा। एक व्यक्ति व्यापारी से माल उधार लेकर गया। जब वह वापस रुपए देने जाता है, तब व्यापारी भी बदल जाता है और रुपए देने वाला भी दूसरा होता है, इस प्रकार जीवन-व्यवहार नहीं चल सकता है। इससे अराजकता उत्पन्न होती है। जिसने दान दिया, पुण्यकार्य किया, उसे उसका फल नहीं मिलेगा, फल भोगने वाला दूसरा ही होगा। इस प्रकार निकृष्ट कार्य करने वाला भी अपने दोष को स्वीकार नहीं करेगा। उसका भी तर्क होगा कि दुष्ट कार्य करने वाला तो उसी समय नष्ट हो गया, मैं तो अन्य हूँ। पुण्य करने वाला अन्य और उसका फल अन्य को मिले, उसी प्रकार पाप करने वाला अन्य, उसका दण्ड दूसरे को मिले, इससे विसंगति खड़ी हो जाएगी।

अतः, बौद्धदर्शन की इस बात को स्वीकार करने पर मिथ्यात्व की वृद्धि होगी।

(४१८) **एकद्रव्यान्वयाभावाद्वासनासंक्रमश्च न।**
पौर्वापर्यं हि भावानां सर्वत्रातिप्रसक्तिमत्।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> एक द्रव्य के अन्वय के अभाव के कारण वासना का संक्रमण नहीं होगा। पुनः, पौर्वापर्य सम्बन्ध अतिव्याप्ति-दोष वाला है।

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्ध विचार के क्षणों की परम्परा को आत्मा मानते हैं। जिस प्रकार एक सूत का धागा बहुत से मोतियों के प्रविष्ट होने पर, सब मोतियों की एक माला बनाता है, उसी तरह बौद्धों के मत में विचार के सम्पूर्ण क्षणों में अन्वित होने वाली किसी एक वस्तु को आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है, इसलिए जिस विचार के क्षण से अच्छे या बुरे कर्म किए जाते हैं, उस विचार-क्षण के सर्वथा नष्ट हो जाने से बुरे कर्म करने वाले मनुष्य को उन अच्छे-बुरे कर्मों का फल नहीं मिल पाएगा। वह क्षण तो सर्वथा नष्ट हो चुका है, अतः कृतप्रणाश का दोष आएगा और जिस विचार-क्षण ने उन कर्मों को नहीं किया, उस विचार-क्षण को कर्मों के फल

भोगने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, अर्थात् स्वयं नहीं किए हुए दूसरे के कर्मों को भोगने से अकृत-कर्मभोग नामक दोष आएगा जैसे-जिस आत्मा ने चोरी की, वह तो नष्ट हो गई, उसके कर्म का फल जिसने चोरी नहीं की, उसे मिला।

इसके उत्तर में बौद्धमतानुयायी कहते हैं कि आत्मा ज्ञानक्षणरूप है। प्रत्येक क्षण आत्मा चाहे नष्ट होती हो, किन्तु उसमें रही हुई वासनाओं का संक्रमण दूसरे ही क्षण दूसरी उत्पन्न हुई आत्मा में हो जाता है, इसलिए आत्मा के क्षणिक होने पर भी वासनाओं के संक्रमण की निरन्तरता रहती है, अतः वासना के अनुसार कर्मफल भोगा जाता है।

• बौद्धों का यह अनुमान व्यर्थ है, क्योंकि सम्पूर्ण रूप से विनाश को प्राप्त होने वाले चित्तक्षण का अन्य चित्तक्षणों के साथ सम्बद्ध होना घटित नहीं होता है। दो क्षणिक आत्मा के बीच अन्वय नहीं हो, तो वासना का संक्रमण नहीं हो सकता है। दूसरी ओर, आत्मा यदि क्षण में ही पूर्णतः नष्ट हो जाती हो, तो दो आत्माओं के संबंध का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। संबंध नहीं होने पर वासना का संक्रमण भी नहीं हो सकता है। बौद्धवादी कहते हैं कि दो चित्तक्षण (आत्मा) के बीच पौर्वापर्य का संबंध है, अर्थात् एक आत्मा पूर्व के क्षण की है और दूसरी आत्मा उत्तर-क्षण की है, किंतु ऐसा स्वीकारने पर अतिव्याप्ति का दोष आएगा, अर्थात् 'क्ष' आत्मा की वासना का संक्रमण 'ज्ञ' नाम की आत्मा में हो जाएगा। अगर ऐसा हो, तो संसार में प्रत्येक क्षण में अव्यवस्था और अनर्थ की सीमा नहीं रहेगी। इस प्रकार आत्मा की क्षणिकता और वासना का संक्रमण-दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। दो चित्तक्षणों यदि सम्बन्ध कराने वाला कोई स्थाई तत्त्व है, तो उसे क्षणिकतावादी स्वीकार नहीं करते हैं, अतः दोनों चित्तक्षणों में जो अन्वित होता है, वह आत्मा है, जो द्रव्यरूप में नित्य है।

(४१६) कुर्वद्रूपविशेषे च न प्रवृत्तिर्न वाऽनुमा।
अनिश्चयान्न वाध्यक्षं तथा चोदयनो जगौ।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> कुर्वद्-रूप विशेष में पुनः प्रवृत्ति नहीं और अनुमान नहीं तथा अनिश्चय होने से प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं-इस प्रकार उदय, अर्थात् न्यायकुसुमांजलि के कर्त्ता उदयन आचार्य ने भी कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्धमत की समीक्षा उदयनाचार्य ने अपने ग्रंथ 'न्यायकुसुमांजलि' में की। प्रस्तुत श्लोक में उ. यशोविजयजी बौद्धमत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि बौद्ध-दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है। यदि एक ही शरीर में रही हुई आत्मा पूर्णतः नष्ट हो जाती हो और दूसरी नई आत्मा उत्पन्न हो जाती हो, तो नष्ट हुई आत्मा ने जो भी कार्य किया हो, विचार किया हो, वह नई उत्पन्न हुई आत्मा को किस प्रकार याद रहेगा। व्यवहार में सभी अनुभव करते ही हैं कि मनुष्य को मात्र तुरंत का ही नहीं, वर्षों पहले का भी याद रहता है।

बौद्धवादी कहते हैं कि प्रत्येक क्षण नष्ट हुई और नई उत्पन्न हुई आत्मा के मध्य वासना का संबंध होता है। पूर्व क्षण की जो आत्मा है, उसमें रही हुई वासना के कारण एक प्रकार का रूपविशेष होता है। उसे कुर्वद्-रूपविशेष कहते हैं। इस कुर्वद्-रूप-विशेष के कारण नई उत्पन्न हुई आत्मा को पूर्वक्षण की आत्मा के स्मृति-संस्कार प्राप्त होते हैं, इसलिए जब तक कुर्वद्रूपविशेष होता रहता है, तब तक वासना के संक्रमण के कारण पूर्व की स्मृति बनी रहती है।

बौद्ध-मत के इस विचार का खण्डन करते हुए उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में कहा है कि कुर्वद्रूपविशेष के कारण वासना का संक्रमण होता है-ऐसी प्रतीति नहीं होती है। यह प्रवृत्ति, अनुमान और प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। कुर्वद्रूप वाले क्षणिक पदार्थ में कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

यदि वासना और क्षणसंतति को परस्पर भिन्न मानें, तो वासना क्षणिक है या अक्षणिक ? यदि वासना क्षणिक है, तो वासना को क्षणों से भिन्न मानना निरर्थक है। यदि वासना अक्षणिक है, तो वासना को नित्य मानने से क्षणिकत्व की कल्पना अयथार्थ सिद्ध होती है।

(४२०) न वैजात्यं बिना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> वैजात्य के बिना वह (क्षणिकत्व) नहीं होगा, उसके (क्षणिकत्व) बिना उसमें अनुमान नहीं होगा और अनुमान के बिना

उसकी (क्षणिकत्व की) सिद्धि नहीं होगी, सिद्धि के बिना प्रत्यक्ष (प्रमाणभूत) नहीं होगा।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक उ. यशोविजयजी ने न्यायकुसुमांजलि के प्रथम स्तबक की सोलहवीं कारिका में से ग्रंथित किया है। वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, अभिन्न और तदुभय-तीनों प्रकार से किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती हैं। बौद्धवादी कहते हैं कि एक ही शरीर में रही हुई आत्मा प्रतिक्षण नष्ट होती है और नई उत्पन्न होती है। पूर्वक्षण की आत्मा में कुछ रूपविशेष होता है, जिसे कुवद्‌रूपविशेष या वैजात्य कहते हैं, जिससे नई उत्पन्न हुई आत्मा को स्मृतिसंस्कार प्राप्त होते हैं। पूर्वक्षण की आत्मा और उत्तरक्षण की आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। इसे सिद्ध करने के लिए वे दृष्टान्त देते हैं कि अनाज का एक दाना अनाज की कोठी में हो, तो अंकुर नहीं फूटता, किंतु खेत में डालने पर उसमें अंकुर निकल आता है, अर्थात् दाना एक-का-एक ही दिखता है, वह भ्रम है। कोठी का दाना अलग था और खेत का दाना अलग है। दाने में जो वैजात्य था, वह अतिशयविशेष था, इसलिए अंकुरित हुआ। वस्तुतः, खेत में मिट्‌टी, पानी, हवा, सूर्य-प्रकाश इत्यादि सहयोगी कारण मिलते ही दाने में से अंकुर निकला, परंतु बौद्ध-क्षणिकवाद मानने के कारण यह वैजात्य की कल्पना करते हैं। मलयुक्त स्वर्ण को अग्नि में डालने पर वह मलमुक्त होकर चमकने लगता है, लेकिन सोना तो वही है, वह नष्ट नहीं हुआ और न ही नया उत्पन्न हुआ। आत्मा की प्रक्रिया या पर्याय में यदि कोई परिवर्तन होता है, तो वह आत्मा के विनाश का हेतु नहीं माना जा सकता। बौद्धवादी वैजात्य की कल्पना करते हैं, क्योंकि वैजात्य के बिना क्षणिकत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है, अतः क्षणिकत्व को स्वीकारने पर वैजात्य या अतिशय विशेष या कारण विशेष स्वीकारना आवश्यक हो जाता है, जिससे कार्यविशेष होता है। अगर विशिष्ट कार्य-कारण स्वीकार करें, तो सामान्य कार्य-कारण का त्याग करना पड़ेगा, इसलिए सामान्य कारण से सामान्य कार्य उत्पन्न होता है- इस अनुमान का उच्छेद हो जाएगा, अर्थात् अनुमान से पदार्थ में क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। उसी प्रकार, संक्रमण भी दृश्यमान् नहीं होने से प्रत्यक्ष प्रमाण से भी क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं होती है।

पूर्व एवं उत्तर चित्तक्षणों में कार्यकारण भाव मानने पर भी उनमें होने वाले भेद का अभाव नहीं होता है, क्योंकि सभी चित्तक्षण क्षणिक होने से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। 'उनमें परस्पर भेद होने पर भी दोनों में कार्य-कारण का भाव होने से स्मृति उत्पन्न होती है'- इस कथन में उभयमान्य (वादी-प्रतिवादी) दृष्टांत के अभाव के कारण सिद्ध न होने और उनमें भेद होने से स्मृति का प्रादुर्भाव संभव नहीं होता है, अतः, स्मृति के अभाव में अनुमान भी नहीं बन सकता है और क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, इसीलिए बौद्धों का क्षणिकवाद मात्र एक बौद्धिक-व्यायाम है।

(४२१) एकताप्रत्यभिज्ञानं क्षणिकत्वं च बाधते।
योऽहमन्वभवं सोऽहं स्मरामीत्यवधारणात्।।३८।।

<u>अनुवाद -</u> मैंने जो अनुभव किया है, उसका मैं स्मरण करता हूँ। इस प्रकार की अवधारणा के कारण एकता का प्रत्यभिज्ञान क्षणिकत्व का खण्डन करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा के क्षणिकत्व की कल्पना जीवन के सामान्य अनुभव से विपरीत है। आत्मा अगर क्षण-क्षण में उत्पन्न होती हो और नष्ट होती हो, तो भूतकाल में हुई घटनाओं का स्मरण कैसे रहेगा, किसको रहेगा ? जीव के शरीर में जरूर प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता है। बालक युवा होता है, युवा वृद्ध होता है - इस प्रकार देह में तो निरंतर परिवर्तन होता है और परिवर्तन के मध्य एक ऐसा तत्त्व है, जो एकत्व बनाए रखता है। "अब से इक्यानवें भव में मैंने एक पुरुष को बलपूर्वक मार डाला, उस कर्म के दुष्परिणाम से मेरे पैर में कांटा लग गया है",- क्षणिकवाद से बुद्ध का यह वचन भी असत्य सिद्ध होगा। भूतकाल की घटना स्मरण रहती है, तो इसका अर्थ यही है कि किसी-न-किसी नित्य-तत्त्व की उपस्थिति अवश्य है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के मध्य भी जो एकता है, अभेद है, उसका प्रत्यभिज्ञान होता है। जैसे पूर्वपरिचित व्यक्ति यदि आए, तो उसे पहचानने के लिए पूर्व का स्मरण और वर्तमान की जाग्रति-दोनों चाहिए। 'यह वही है, जिसे मैंने दस वर्ष पूर्व देखा था',- यह पूर्वस्मृति के आधार पर ही निश्चय होता है। करने वाला और उसके फल-दोनों में कही एकत्व तो है ही। इस प्रकार स्मृति द्वारा होते हुए भूतकाल के अनुभव के कारण- 'मेरी आत्मा

वही-की-वही है'- इसमें एकता के प्रत्यभिज्ञान के कारण आत्मा का क्षणिकत्व असिद्ध होता है। क्षणिकत्व को स्वीकारने पर पाँच बड़े-बड़े दोष उत्पन्न हो जाते हैं - १. किए हुए कर्मों के फल को नहीं भोगना २. अकृत कर्मों को भोगने के लिए बाध्य होना ३. परलोक का नाश ४. मुक्ति का नाश ५.स्मरण-शक्ति का अभाव। क्षणिकता में भी एकता स्वीकार किए बिना इन दोषों का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

(४२२) नास्मिनूविषयबाधो यत् क्षणिकेऽपि यथैकता।
नानाज्ञानान्वये तद्वत् स्थिरे नानाक्षणान्वये।।३९।।

अनुवाद - जैसे क्षणिकता में भी एकता है, उसी प्रकार इसमें, अर्थात् आत्मा के नित्यत्व में विषय का बाध नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के ज्ञान के सम्बन्ध में (अन्वय में), उसी प्रकार नित्यता (स्थिरात्मा) के विषय में अनेक प्रकार के क्षणों के सम्बन्ध के बाध नहीं है।

विशेषार्थ - बौद्धवादी कहते हैं कि आत्मा में नित्यता सम्भव नहीं है, क्षणिकता ही संभव है। आत्मा के उत्पन्न होने की और नष्ट होने की क्रिया सतत चलती रहती है, इसलिए उसमें नित्यत्व का आभास होता है। बौद्ध-दर्शन का यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा में एकता के विषय में कोई प्रतिबन्धक ही नहीं है। जैसे बौद्धदर्शन के अनुसार क्षणिक आत्मा की ज्ञान-धारा में (संतति में) एकता स्थापित है, वैसे ही अन्य दर्शन के अनुसार स्थिर और नित्य-ऐसी आत्मा में भी एकता अवश्यमेव घट सकती है। चूंकि आत्मा नित्य होते हुए भी पर्यायों में परिणमन होता है, अतः क्षणिकता को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है।

(४२३) नानाकार्यैक्यकरणस्वाभाव्ये च विरुध्यते।
स्याद्वादसंनिवेशेन नित्यत्वेऽर्थक्रिया न हि।।४०।।

अनुवाद - विविध प्रकार के कार्यो के ऐयकरण के स्वभाव को मानने से स्याद्वाद की स्थापना द्वारा नित्यत्व में अर्थक्रिया का विरोध नहीं है।

विशेषार्थ - अनेकता में एकता, अर्थात् अनेक कार्यों को सम्पादित करने वाला, अनेक अवस्थाओं से गुजरने वाला, विविध पर्यायों को धारण करने वाला कर्त्ता एक ही है और वह कर्त्ता है- आत्मा। बौद्धों का तर्क है

कि आत्मा को नित्य मानने से उसमें अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, परंतु जैनदर्शन का कथन है कि स्याद्वाद का आश्रय लेने से उसमें अर्थक्रिया घट सकती है। वस्तु को एकान्तनित्य या एकान्त-अनित्य स्वीकार करने से यह लक्षण घटित नहीं होता है। चूंकि अनित्य पदार्थ क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला है, इसलिए वह क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता है। पूर्वक्रम और अपरक्रम क्षणिक पदार्थों में असंभव है, क्योंकि नित्य पदार्थ में ही अनेक देशों में रहने वाला देश क्रम और अनेक काल में रहने वाला कालक्रम सम्भव हो सकता है। सर्वथा अनित्य पदार्थों में देश और काल-क्रम नहीं हो सकता। कहा भी है- "जो पदार्थ जिस स्थान (देश) और जिस क्षण (काल) में है, वह उसी स्थान और उसी क्षण में है, क्षणिक भावों के साथ देश और काल की व्याप्ति नहीं बन सकती।" एक ही समय में दो उपयोग साथ में संभव नहीं हैं, अतः अनेक कार्यों को क्रम से करने का आत्मा का स्वभाव है। स्याद्वाद का आश्रय लेने से ही वस्तु का स्वरूप स्पष्ट होता है। स्याद्वाद-शैली के अनुसार आत्मा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, अर्थात् आत्मद्रव्य नित्य होते हुए भी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, इसलिए परिणामी-नित्यत्व में अर्थक्रिया का विरोध नहीं रहता है।

(४२४) **नीलादावप्यतद्भेदशक्तयः सुवचाः कथम्।**
परेणापि हि नानेकस्वभावोपगमं विना।।४१।।

<u>अनुवाद -</u> विविध स्वभाव को स्वीकार किए बिना अन्य (बौद्ध) के द्वारा नीलादि के असम्बन्ध में अतद्भेद की शक्तियों को किस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं ?

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्धवादी आत्मा को क्षणिक मानते हैं, अर्थात् ये प्रत्येक पल उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई चित्तक्षण या ज्ञान की आवलिकारूप मानते हैं। ये नित्य-तत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं, जबकि जैनदर्शन में आत्मा को परिणामी-नित्य माना है, अर्थात् द्रव्यद्रष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य स्वीकार करते हैं। वस्तु अनंत-धर्मात्मक है, अतः एक ही वस्तु में अनेक स्वभाव को स्वीकार करना पड़ेगा। बौद्धदर्शनवादी को स्याद्वाद का आश्रय लिए बिना छुटकारा नहीं। सम्पूर्ण वादी कदम-कदम पर

अनेकान्तदवाद का आश्रय लेकर ही पदार्थों का प्रतिपादन कर सकते हैं। एक सामान्य उदाहरण - नील वर्ण को सभी स्वीकार करते हैं, परंतु नीलवर्ण एक है, किन्तु यदि उसमें पीतवर्ण (अतद्) की छाया हो, तो उसके अनेक भेद हो जाते हैं और उन सभी को नीलवर्ण के रूप में ही स्वीकार करना पड़ता है। नील रंग में रहे हुए प्रत्येक भेद को आप किस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, वस्तुतः यह कहना शक्य नहीं है, फिर भी एक में अनेक स्वभाव को स्वीकारना पड़ेगा, जैसे-आम मीठा, अंगूर मीठा, गुड़ मीठा, शकर मीठी- सभी मीठे, किन्तु सबके मीठेपन में भेद होने पर भी उनको व्यक्त नहीं कर सकते हैं, अतः सभी को मीठे के रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा। दूसरा उदाहरण, जैसे-आम जब कच्चा और अर्द्धपरिपक्व हो, तब उसका वर्ण हरा और स्वाद खट्टा रहता है, वही आम जब पक जाता है, तब उसका वर्ण पीला और स्वाद मीठा हो जाता है, अगर वही आम अधिक समय तक रखा रहे, तो वह काला और बेस्वाद हो जाता है, अतः एक ही आम में अनेक स्वभाव निहित हैं। आम वही-का-वही रहने पर भी उसकी पर्यायों में परिणमन होता है। इस प्रकार एकता में भी अनेकता, नित्यता में भी अनित्यता समाविष्ट है।

(४२५) ध्रुवेक्षणेऽपि न प्रेम निवृत्तमनुपप्लवात्।
ग्राह्याकार इव ज्ञाने गुणस्तन्नात्र दर्शने।।४२।।

<u>अनुवाद -</u> ध्रुव (आत्मा की नित्यता) के दर्शन से प्रेम की निवृत्ति में विघ्न नहीं आता है-ऐसा नहीं है। इस बौद्धदर्शन में ग्राह्य-आकार की तरह ज्ञान में गुण नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्धवादी कहते हैं कि आत्मा को नित्य स्वीकारने की अपेक्षा क्षणिक स्वीकारने में अधिक लाभ हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु क्षणिक हो, नाशवंत हो, तो उस पर अधिक प्रेम उत्पन्न नहीं होता है। जो वस्तु नित्य हो, शाश्वत हो, सदाकाल रहने वाली हो, उस पर प्रेम, आसक्ति, अनुराग अत्यधिक होता है और इस आसक्ति से तृष्णा, मोह, लोभ आदि का जन्म होता है तथा इसी कारण से जीव में परिणाम दूषित, संक्लेशित हो जाते हैं, अतः अपनी आत्मा को नित्य मानने पर उसके प्रति अधिक प्रेम उत्पन्न होता है। जिस पर प्रेम हो, उसे सुखी बनाने की इच्छा होती है,

इसलिए आत्मा को सुखी करने के लिए जीव अत्यधिक परिश्रम करता है और इसीलिए वह संसार में मग्न रहता है। अपनी आत्मा पर ममत्वभाव रहने के कारण आर्त्तध्यान की संभावना भी रहती है। 'यह मेरी आत्मा मेरी आत्मा'-इस प्रकार ममत्वभाव बढ़ता है और यह ममत्व जीव को संसार-सागर में डुबो देता है, अतः आत्मा को नित्य मानने से प्रेम या मोह की निवृत्ति नहीं होती है और आत्मा को अनित्य, क्षणिक मानने से, प्रेम, आसक्ति या मोह की निवृत्ति हो जाती है। आसक्ति कम होने पर त्याग-तप आदि की प्रवृत्ति में वृद्धि होती है, जो निर्वाण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बौद्धदर्शन आत्मा की क्षणिकता को सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का अनुचित तर्क करते हैं।

बौद्धों के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं है। प्रथम तो पौद्‌गलिक वस्तुओं, शरीर, धनादि को अनित्य, नाशवंत मानने पर उनकी अनित्यता का अनुभव करते हुए भी व्यक्ति की उन पर तीव्र आसक्ति होती है, तीव्र राग होता है और यह राग अप्रशस्त होता है, इसके कारण परिणाम दूषित होते हैं, संक्लेशित होते हैं, किन्तु दूसरी ओर आत्मा को नित्य अनादि अनंत मानने पर भी किसी विरले व्यक्ति को ही उस पर प्रेम जाग्रत होता है और वह प्रेम या राग प्रशस्त होता है, शुभ परिणाम वाला होता है। उसमें चित्त में निर्मलता आती है और मलिनता दूर होती है। इस प्रशस्त राग से भी निवृत्ति नहीं हो- ऐसा नहीं है। इसकी निवृत्ति में कोई विघ्न नहीं आता है। इसको सिद्ध करने के लिए ग्रंथकार ने बौद्धदर्शन का ही दृष्टान्त दिया है।

जीव का आत्मा के प्रति प्रेम निवृत्त क्यों नहीं हो सकता है ? होता है, बौद्धदर्शन के ग्राह्य-आकार की तरह अवश्य होता है। बौद्धदर्शन मानता है कि प्रत्येक पदार्थ की ज्ञान की एक धारा या संतान चलती है। जब यह चलती है, तब चित्त उसके विविध आकारों को ग्रहण करता है, परंतु ये आकार भी क्षणिक हैं। इस प्रकार ज्ञानधारा में ग्राह्य-आकार निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् धारा सतत् रहती है, परंतु आकार निवृत्त हो जाते हैं। जिस प्रकार बौद्धदर्शन में ज्ञानधारा के आकार निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव का आत्मा के लिए प्रेम भी ज्ञान-दशा उत्पन्न होते ही निवृत्त हो जाता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा के प्रति प्रशस्त राग के कारण जो भी

आराधनाएँ, तप, त्याग, ध्यान किया जाता है, इससे क्रमशः जीव को ऐसी उच्च आध्यात्मिक-दशा प्राप्त होती है कि उसे निर्वाण या मोक्ष के लिए भी आकांक्षा शेष नहीं रहती है। उसके लिए मोक्ष और संसार में अब कोई अंतर नहीं रहता है।

अतः, बौद्ध जिस तर्क को लेकर क्षणिकता को सिद्ध करते हैं, क्षणिकता में लाभ को, आत्मकल्याण को स्वीकार करते हैं, वह हास्यास्पद है, आत्मा की क्षणिकता स्वीकारने योग्य नहीं है।

(४२६) प्रत्युतानित्यभावे हि स्वतः क्षणजनुर्धिया।
हेत्वनादरतः सर्वक्रियाविफलता भवेत्।।४३।।

<u>अनुवाद -</u> उल्टा अनित्यभाव से तो स्वयमेव ही क्षणिक जन्म की बुद्धि द्वारा हेतु अनादर होगा और सभी क्रिया की निष्फलता होगी।

<u>**विशेषार्थ -**</u> बौद्धदर्शन आत्मा को अनित्य मानता है, परंतु यह मान्यता व्यावहारिक जीवन में सर्वदा निष्फल है, क्योंकि इससे क्रिया के फल के प्रति मनुष्य को अनादर उत्पन्न होगा। जैसे-कोई व्यक्ति किसी का खून करके भी अपना बचाव कर सकता है। वह कह सकता है कि वह तो मात्र निमित्त है, जिस क्षण उसकी हत्या की गई, उसके पूर्व के क्षण में ही वह मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। मनुष्य चोरी करके, व्यभिचार करके, उधार लेकर या कोई भी अकृत्य करके कह सकता है कि अकृत्य के पहले ही उसकी आत्मा की तो मृत्यु हो गई थी, अकृत्य करने वाला तो नष्ट हो गया। किसी दुकान से कोई वस्तु खरीदकर व्यक्ति पैसे देने से इंकार कर सकता है कि वस्तु खरीदने वाला तो नहीं रहा और जिससे वस्तु ली गई है, उसकी भी मृत्यु हो गई। इस प्रकार अनेक अनर्थों का जन्म हो जाएगा, कोई भी कार्य करने के प्रति मनुष्य की रुचि नहीं रहेगी। उसके कार्य का फल दूसरा ही भोगेगा। आत्मा अगर स्वतः उत्पन्न होती है और स्वतः नष्ट होती है तो फिर शुभ या अशुभ कर्मबंधन का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। सुख-दुःख के कारण भी अस्वीकृत होंगे, परिणामस्वरूप सभी क्रियाओं की निष्फलता सिद्ध होगी। अगर ऐसा हुआ, तो मनुष्य सुकृत्य भी नहीं करेगा। आत्मा को अनित्य मानने से संसार में अनवस्था उत्पन्न होगी।

पारमार्थिक-दृष्टि से भी विचार किया जाए, तो क्षणिकवाद को स्वीकारने पर जो ज्ञानक्षण बद्ध होता है, वही ज्ञानक्षण मुक्त नहीं हो सकता है। फिर, जो मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न करेगा, उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकेगा ? क्षणवादियों के मत में अन्य ज्ञानक्षण बद्ध होता है और उससे भिन्न ज्ञानक्षण की मुक्ति होती है, अतएव मोक्ष के अभाव होने का प्रसंग उपस्थित होता है। आत्मा सर्वथा अनित्य है, तो वह उसकी मुक्ति के लिए क्यों प्रयत्न करेगा ? उल्टा वह संसार में अप्रशस्त भावों में डूब जाएगा, अतः क्षणिकवाद त्याज्य है।

(४२७) तस्मादिदमपि त्याज्यमनित्यत्वस्य दर्शनम्।
नित्यसत्यचिदानंदपदसंसर्ग मिच्छता।।४४।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए नित्य, सत्, चित् और आनंद पद के संसर्ग के इच्छुक के लिए यह अनित्यवादी-दर्शन त्याग करने के योग्य है।

<u>विशेषार्थ -</u> बौद्धों के अनित्यवाद की मीमांसा करके उसमें रही हुई त्रुटि को दर्शाकर ग्रंथकार सावधान करते हैं कि जिसे सत्-चित्-आनंदस्वरूप-ऐसी नित्य आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा हो, जो वास्तव में अपनी आत्मा को सर्व कर्मबन्धनों से मुक्त कर मोक्ष का इच्छुक हो, जो शाश्वत् सुख को प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे आत्मा के क्षणिकवाद के जाल में नहीं फंसना चाहिए। चूंकि उससे बन्धन, मुक्ति आदि की व्याख्या नहीं हो सकती है, अतः व्यक्ति के सर्वक्षणिक को स्वीकारने पर भ्रमित हो जाने से भटकने की संभावना रहती है। विपरीत मार्ग पर आरूढ़ होने से व्यक्ति अपने मोक्ष के लक्ष्य से चूक जाता है, अतः मुमुक्षु को अपने विवेक का दीप प्रज्वलित रखते हुए सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है। अल्प असावधानी भी लक्ष्य से भटका देती है।

(४२८) न कर्ता नापि भोक्तात्मा कापिलानां तु दर्शने।
जन्यधर्माश्रयो नायं प्रकृतिः परिणामिनी।।४५।।

<u>अनुवाद -</u> कपिल के दर्शन में आत्मा कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। यह (आत्मा) जन्मधर्म-आश्रयवाली नहीं है, किन्तु प्रकृति-परिणामिनी है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में सांख्यदर्शन का मंतव्य बताया गया है। सांख्यदर्शन में पुरुष और प्रकृतिरूप दो मुख्य तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। पुरुष अर्थात् आत्मा चेतनमय है और प्रकृति जड़ है। उनका कहना है कि पुरुष कमलपत्र की तरह सर्वदा और सर्वथा निर्लेप है, न कोई बंधता है, न कोई मुक्त होता है और न कोई संसार में परिभ्रमण करता है। बन्ध, मोक्ष और परिभ्रमण नाना आश्रयवाली प्रकृति के ही होते हैं, अर्थात् आत्मा न कर्म की कर्त्ता है, न भोक्ता है। वह तो पूर्णतया निर्मल है, विशुद्ध है। पुरुष नित्य, सर्वव्यापी और क्रियारहित है, किन्तु जड़ प्रकृति का प्रतिबिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। वस्तुतः, पुरुष और प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु प्रकृति के प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष भ्रमित होता है। उसे लगता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बीमार हूँ, मैं खाता हूँ, मैं करता हूँ। पुरुष को स्वयं में प्रतिबिम्बित प्रकृति के कारण ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि वह प्रकृति है, उसी प्रकार प्रकृति को भी यह भ्रम उत्पन्न होता है कि वह पुरुष है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत रहते हैं और संसार चलता रहता है। पतंजलि ने भी कहा है- "यद्यपि पुरुष स्वयं शुद्ध है, परंतु वह बुद्धि सम्बन्धी अध्यवसाय को देखकर बुद्धि से भिन्न होकर भी अपने-आपको बुद्धि से अभिन्न समझता है।" जिस प्रकार निर्मल जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं, उसी प्रकार आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने पर आत्मा में जो भोक्तृत्त्व है, वह केवल बुद्धि का विकार है, वास्तव में पुरुष निर्लेप है।

जैसे भिन्न-भिन्न रंगों के संयोग से निर्मल स्फटिकमणि काले, पीले आदि रूप की होती है, वैसे ही अविकारी चेतन पुरुष अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है। वास्तव में विकारी होने से मन चेतन नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे से रत रहते हैं, किन्तु जिस समय पुरुष का यह भ्रम टूट जाता है, तो वह स्वयं प्रकृति से अलग हो जाता है। पुरुष नित्य अविकारी है, अर्थात् आत्माजन्य धर्मों के आश्रयवाला नहीं है। दूसरी ओर, प्रकृति अनित्य, विकारी और परिणामी है। प्रकृति में उत्पन्न होते हुए सुख-दुःख का अनुभव स्वयं को होता है-यह भ्रम पुरुष को होता है, क्योंकि वह अपने-आपको प्रकृति से अभिन्न मानता है। जब यह भ्रम टूट जाता है, तब पुरुष प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है, अर्थात्

प्रकृति से अलग हो जाता है। बुद्धि के प्रतिबिम्ब का पुरुष में झलकना ही पुरुष का भोग है। इस दृष्टि से सांख्यवादी पुरुष को भोक्ता मानते हैं।

(४२६) प्रथमः परिणामोऽस्या बुद्धिधर्माष्टकान्विता।
ततोऽहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतोदयः क्रमात्।।४६।।

<u>अनुवाद -</u> धर्मादि आठ के द्वारा युक्त ऐसी बुद्धि इसका (प्रकृति का) प्रथम परिणाम है। उसके बाद अनुक्रम से अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रियों और भूतों की उत्पत्ति होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यदर्शन के अनुसार संसार पुरुष सहित पच्चीस तत्त्वों से बना हुआ है। उनमें प्रकृति में से अनुक्रम से भिन्न-भिन्न तत्त्वों का विकास किस प्रकार होता है, उसका संक्षिप्त में यहाँ निर्देश किया गया है। पुरुष शुद्ध, नित्य, निर्विकार, निर्गुण है, इसलिए केवल पुरुष से प्रकृति का सर्जन नहीं होता है। अंधे पुरुष व लंगड़े पुरुष की तरह दोनों मिलकर ही विश्व का सर्जन होता है। अंधा चल सकता है, किन्तु देख नहीं सकता है और लंगड़ा देख सकता है, किन्तु चल नहीं सकता है, अतः दोनों मिलकर ही एक-दूसरे के सहयोग से मार्ग को पार कर सकते हैं। उसी प्रकार, पुरुष के संयोग से प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। वस्तुतः, जगत् प्रकृति में बीजरूप में उपस्थित है। सृष्टि के सर्जन के पूर्व प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस्-ये तीनों गुण तुल्य मात्रा में होते हैं, परंतु पुरुष के सान्निध्य में आते ही प्रकृति के गुणों में एक प्रकार का आंदोलन उत्पन्न होता है, अर्थात् गुणक्षोभ होता है। इस स्पंदन के कारण गुणों के मध्य संघर्ष होता है। प्रत्येक गुण दूसरे दो गुणों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता है, उसमें से त्रिगुणात्मक सृष्टि का निर्माण होता है। सृष्टि में कहीं एक गुण की, तो कहीं अन्य गुण की प्रधानता होती है। प्रकृति से सर्वप्रथम महत् या बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि के ये आठ गुण हैं - धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य (सात्विक) और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (तामसिक)। बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार के वश होकर पुरुष, मैं स्वामी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं खाता हूँ आदि वचन बोलता है। इस प्रकार वह अपने को सभी क्रियाओं का कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है, परंतु यह उसका भ्रम है। अहंकार तीन प्रकार

का होता है-सात्विक, तामसिक और राजसिक। सात्विक-अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (घ्राण, रसना, चक्षु, स्पर्श और श्रोत) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पाद, पायु और उपस्थ) और एक मन-इस प्रकार ग्यारह उत्पन्न होते है।

तामसिक अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) उत्पन्न होती हैं। पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूतों का निर्माण होता है। शब्द-तन्मात्रा से आकाश, शब्द+स्पर्श-तन्मात्रा से वायु, शब्द+स्पर्श+रूप-तन्मात्रा से अग्नि, शब्द+स्पर्श+रूप+रस से जल और शब्द+स्पर्श+रूप+रस+गन्ध-पाँचों तन्मात्राओं से मिलकर पृथ्वी बनती है। राजस्-अहंकार सात्त्विक-अहंकार और तामसिक-अहंकार के सहायकरूप होता है।

इस प्रकार पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, पाँच तन्मात्रा, पंचभूत-इन २५ तत्त्वों से सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति होती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध से स्वतः विकार उत्पन्न होते ही दहीं बन जाता है, उसी प्रकार प्रकृति स्वतः परिणमित होती है। पुरुष, प्रकृति और विकृति से रहित शुद्ध व नित्य है।

(४३०) चिद्रूपः पुरुषों बुद्धेः सिद्धयेच्चैतन्यमानतः।
सिद्धिस्तस्याश्च विषयावच्छेदनियमाच्वितः।।४७।।

<u>अनुवाद -</u> चिद्रूप पुरुष चेतन (तत्त्व) की मान्यता बुद्धि की सिद्धि के लिए है और उसकी, अर्थात् चित् की सिद्धि विषय के अवच्छेद के नियम से है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में सांख्यवादियों के मतानुसार पुरुष-तत्त्व, अर्थात् आत्मा या चैतन्य की सिद्धि और प्रकृति-तत्त्व की सिद्धि किसलिए और किस प्रकार होती है ? बताया गया है। सांख्यदर्शन के अनुसार समस्त संसार पुरुष और प्रकृति के संयोग का परिणाम है। प्रकृति के २५ तत्त्वों में बुद्धि प्रधान है, इसलिए इन तत्त्वों में बुद्धि की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

अब कोई यह प्रश्न करे कि पुरुष-तत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता है ? नहीं मानने पर क्या होगा? क्योंकि पुरुष को तो वैसे भी

आपने अमूर्त, अक्रिय, अकर्त्ता, निर्गुण और चेतन माना है। पुरुष कुछ करता ही नहीं है, तो उसके अस्तित्त्व को मानने की भी आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में सांख्यवादी कहते हैं कि चाहे जड़ प्रकृति ही सारे कार्य सम्पादित करती है और पुरुष अक्रिय होता है, फिर भी प्रकृति के प्रधान तत्त्व बुद्धि को जो भ्रम होता है कि मैं चेतन-तत्त्व हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, वह भ्रम पुरुष के अस्तित्त्व के कारण ही होता है। पुरुष के संयोग से ही प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे २५ तत्त्वों का निर्माण होता है। अगर पुरुष नहीं हो, तो जड़ प्रकृति में विक्षोभ भी नहीं होगा और संसार की उत्पत्ति भी संभव नहीं होगी, अतः पुरुष के अस्तित्त्व को स्वीकारना आवश्यक है।

कोई यह प्रश्न करे कि इस स्थिति में बुद्धि को मानने की क्या आवश्यकता है ? बुद्धि को मानने की अपेक्षा सभी धर्मलक्षण चेतन के हैं- इस प्रकार मान लिया जाए, तो फिर क्या बुद्धि के अस्तित्व को स्वीकारने की आवश्यकता नहीं रहेगी ?

सांख्यवादी कहते हैं कि ऐसा नहीं है, पुरुष और प्रकृति (बुद्धि)-दोनों ही अंधे और लंगड़े की तरह संसार की उत्पत्ति में एक-दूसरे के सहायक हैं। पुरुष चाहे नित्य तथा अक्रिय हो, किन्तु उसे बाह्य-विषयों के ज्ञान होने का जो भ्रम उत्पन्न होता है, वह बुद्धि के कारण ही होता है। चित्-शक्ति (पुरुष) स्वयं पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकती है, क्योंकि सुख-दुःख इन्द्रियों द्वारा ही बुद्धि में प्रतिभासित होते हैं। बुद्धि दोनों ओर से दर्पण की तरह है, इसमें एक ओर चेतनशक्ति और दूसरी ओर बाह्य-जगत् झलकता है। बुद्धि में चेतनाशक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष (आत्मा) अपने को बुद्धि से अभिन्न समझता है और इसलिए आत्मा में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं धनवान् हूँ'- ऐसा भ्रममूलक ज्ञान होता है, अतः दोनों एक-दूसरे के कारण भ्रमित हैं और इसलिए ही इस संसार की उत्पत्ति हुई है। अगर बुद्धि के अस्तित्व को स्वीकार ही न किया जाए, तो चेतन को कोई भ्रम ही उत्पन्न नहीं होगा, तो फिर संसार के सभी जीव मृत्यु के बाद मोक्ष को ही प्राप्त कर लेंगे, परंतु ऐसा नहीं है, इसलिए बुद्धि-तत्त्व के

अस्तित्व को स्वीकार करना भी आवश्यक है। इस प्रकार पुरुष और बुद्धि-दोनों के अस्तित्व सिद्ध होते हैं। यह सांख्यवादियों का मंतव्य है।

(४३१) हेतुत्वे पुंस्प्रकृत्यर्थेन्द्रियाणामत्रनिर्वृतिः।
दृष्टादृष्ट विभागश्च व्यासंगश्च न युज्यते।।४८।।

<u>अनुवाद -</u> पुरुष, प्रकृति, अर्थ और इन्द्रियों के हेतुत्त्व में निवृत्ति, दृष्टादृष्ट विभाग और व्यासंग (विलंब) नहीं घटा सकते हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> सांख्यवादी प्रकृति के अन्तर्गत बुद्धितत्त्व को प्रमुख रूप में स्वीकार करते हैं। अगर कोई प्रश्न करे कि विषय के ज्ञान के लिए बुद्धि के अस्तित्व को स्वीकारने की क्या आवश्यकता है ? बुद्धि के बिना पुरुष या प्रकृति, अर्थ (वस्तु) और इन्द्रियाँ स्वयं ही विषय का ज्ञान नहीं कर सकते हैं ? सांख्यवादी कहते हैं कि इस प्रकार मानने पर निवृत्ति अर्थात् मोक्ष और दृष्ट (जो दिखाई देता है) तथा अदृष्ट (जो नहीं दिखाई देता है) विभाग और व्यासंग अर्थरहित हो जाते हैं। बुद्धि के अनास्तित्त्व में मोक्ष आदि की व्याख्या नहीं हो सकेगी।

पुरुष (आत्मा) अगर विषयों का ज्ञान स्वयं प्राप्त करने लग जाए, तो यह उसका स्वभाव बन जाएगा और अगर ऐसा हुआ, तो फिर कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा, अतः विषयों का ज्ञान प्राप्त करना-यह पुरुष का स्वभाव नहीं है।

प्रकृति को अगर बाह्य विषयों का ज्ञान करने वाली मान लिया जाए, तो फिर वह पुरुष से (आत्मा से) कभी अलग नहीं हो सकती है। अगर पुरुष से इसका वियोग नहीं हो, तो प्रकृति के भी पुरुष से मुक्त होने के रूप में मोक्ष की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

घट-पटादि अर्थ (वस्तुएँ) भी विषय का ज्ञान नहीं कर सकते है। अगर अर्थ चैतन्य के साथ जुड़ जाए, तो फिर चैतन्यशक्ति के कारण वे सब कुछ देख सकते है। फिर संसार में दृष्ट और अदृष्टविभाग ही नहीं रहेगा, सब कुछ दृष्ट हो जाएगा, अर्थात् 'पुस्तक मुझे दिख रही है, इसलिए दृष्ट है और कलम मुझे नहीं दिखाई दे रही है, इसलिए अदृष्ट है',- इस प्रकार के दृष्ट और अदृष्ट विभाग जगत् में नहीं रहेंगे। अर्थ को (वस्तुओं

को) ही अगर विषयावच्छेद करने वाला (विषयों का ज्ञान करने वाला) मान लिया जाए, तो जगत् के सभी पदार्थों के दृष्ट होने की आपत्ति आएगी। केवल इन्द्रियों को भी बाह्य-विषयों का ज्ञान करने वाली के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि अगर इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान होता हो, तो सभी बातें तुरंत समझ में आ जाना चाहिए, परंतु यह अनुभव की बात है कि कितने ही विषय तो तुरंत ही समझ में आ जाते हैं, किन्तु कितने ही विषयों को समझने में समय लगता है। उनमें व्यासंग अर्थात् विलम्ब होता है। व्यासंग का यहाँ अर्थ विलम्ब लिया गया है। सामान्यतया, व्यासंग का अर्थ आसक्ति होता है और अलग हो जाना भी होता है। इन्द्रियाँ अगर स्वयं बुद्धि का काम करने लग जाएं, तो कुछ भी ग्रहण करने में विलम्ब ही नहीं होगा। कोई वस्तु देखते ही या कोई बात सुनते ही तुरंत समझ में आ जाएगी, परंतु ऐसा होता नहीं है।

सांख्यवादियों का कहना है कि बुद्धितत्त्व को स्वीकार किए बिना बुद्धितत्त्व का कार्य या तो पुरुष करे, या प्रकृति करे, या इन्द्रियां करें, या अर्थ करे-यह संभव नहीं है, इससे मोक्ष आदि का अभाव सिद्ध हो जाएगा, अतः बुद्धितत्त्व के अस्तित्व को स्वीकारना ही पड़ेगा।

(४३२) स्वप्नेव्याघ्रादिसंकल्पान्नरत्वानभिमानतः।
अहंकारश्च नियतव्यापारः परिकल्प्यते।।४६।।

<u>अनुवाद</u> - स्वप्न में व्याघ्र आदि के संकल्प से नरत्व का अभिमान नहीं होने से नियत व्यापार वाले अहंकार की कल्पना की जाती है।

<u>विशेषार्थ</u> - सांख्यवादियों के अनुसार बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है और यह अहंकार नियत व्यापार वाला होता है, अर्थात् अहंकार सतत चौबीस घण्टे रहे- यह आवश्यक नहीं है। अहंकार मर्यादित होता है-इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने दृष्टान्त दिया कि व्यक्ति जब गहरी निद्रा में हो और उस समय उसे कोई स्वप्न आ रहा हो, तब स्वप्न में जो दिखाई देता है, उसे ही वह यथार्थ मान लेता है, उस समय वह अपने-आपको भी भूल जाता है, जैसे-स्वप्न में कई बार व्यक्ति को अनुभव होता है कि वह देव है, या राक्षस है, या राजा है, या सिंह है, या व्याघ्र है, और जब यह अनुभव होता है, तब वह स्वयं की वास्तविक स्थिति को भूल जाता है। वह

अपने-आपको उसी रूप में अनुभव करता है, जिस रूप में वह स्वप्न में दिखाई दे रहा है। उस समय उसका नरत्व का अभिमान नहीं रहता है, अर्थात् अपने मूल रूप का उसे भान नहीं होता है।

मनुष्य जब जाग्रत होता है, तब 'मैं मनुष्य हूँ'- इस प्रकार का उसका विवेक सतत् जाग्रत रहता है, अर्थात् मनुष्य होने का अहंकार निरंतर रहता है, परंतु स्वप्न में जब 'मैं व्याघ्र हूँ'- इस प्रकार का अनुभव होता है, तब 'मैं मनुष्य हूँ', इस प्रकार का अनुभव नहीं होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इससे अहंकार की सम्भावना चौबीस घण्टे सतत् नहीं रहती है और मर्यादित हो जाती है, अर्थात् अहंकार भी नियत व्यापार वाला हो जाता है।

(४३३) तन्मायादिक्रमस्तस्मात्प्रपंचोत्पत्तिहेतवे।
इत्थं बुद्धिर्जगत्कर्त्री पुरुषो न विकारभाक्।।५०।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए तन्मात्रा आदि का क्रम जगत् की उत्पत्ति के लिए है। इस प्रकार बुद्धि जगत् की कर्त्ता है, पुरुष (आत्मा) विकार वाला नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यदर्शन के अनुसार संसार में पुरुष और प्रकृति-दो मुख्य तत्त्व हैं। पुरुष अक्रिय, निर्मल, नित्य, निर्गुण, अमूर्त्त, चेतन है। प्रकृति में बुद्धितत्त्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और उसी से जगत् का निर्माण होता है, अर्थात् बुद्धि ही जगत् की कर्त्री है। बुद्धि से जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, यह पूर्व में बताया जा चुका है। यहाँ प्रसंगानुकूल पुनः संक्षिप्त में निर्देश करते हैं - बुद्धि से अहंकार-तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अहंकार से सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। उनमें पाँच तन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन है। पाँच तन्मात्रा से पंचमहाभूत की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, इसलिए बुद्धि जगत् की कर्त्री है।

पुरुष-अक्रिय

सक्रिय

सात्त्विक-अहंकार ⟶ पाँच ज्ञानेन्द्रिय+पाँच कर्मेन्द्रिय+मन

प्रकृति ——→बुद्धि ——— राजसिक-अहंकार
— तामसिक-अहंकार ——→ पाँच तन्मात्रा ——→
पंच महाभूत

इस प्रकार प्रकृति सक्रिय है और पुरुष अक्रिय, नित्य और निर्मल है। पुरुष में स्वयं में कोई विकार नहीं होता है। प्रकृति का इसमें प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वह मलिन दिखाई देता है, परंतु वह स्वयं मलिन नहीं है।

(४३४) पुरुषार्थोपरागौ द्वौ व्यापारावेश एव च।
अत्रांशो वेद्म्यहं वस्तु करोमीति च धीस्ततः।।५१।।

__अनुवाद -__ पुरुष-उपराग, अर्थ-उपराग ये दो और व्यापार-आवेश-ये यहाँ (बुद्धि के) अंश है। इस कारण से वस्तु या पदार्थ को मैं जानता हूँ, मैं करता हूँ, इस प्रकार की बुद्धि होती है।

__विशेषार्थ -__ सांख्यदर्शन का मंतव्य है कि बुद्धि के तीन अंश हैं- (१) पुरुषोपराग (२) विषयोपराग (अर्थोपराग) (३) व्यापारावेश। इस कारण से बुद्धि को यह भ्रम होता है कि मैं जानती हूँ, मैं सुनती हूँ, मैं करती हूँ। यह बुद्धि का असाधारण व्यापार है। इसे स्पष्ट करने के लिए दर्पण और प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया जाता है।

पुरुष चेतन, स्फटिक जैसा शुद्ध, निर्मल, नित्य और अक्रिय है। प्रकृति जड़ है और प्रकृति का मुख्य अंग बुद्धि है। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने से प्रकृति का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है। इससे पुरुष को यह प्रतिभासित होता है कि मैं प्रकृति हूँ और प्रकृति या बुद्धि को यह लगता है कि मैं पुरुष हूँ, चेतन हूँ। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब गिरने से बुद्धि को पुरुष या चेतन होने की जो भ्रान्ति होती है, उसे 'पुरुषोपराग' कहते हैं। पुरुष और बुद्धि के मध्य भेद होने पर भी दोनों एक-दूसरे से अपने को अभिन्न समझते हैं। पुरुष और बुद्धि का सम्बन्ध दर्पण में प्रतिबिंबित प्रतिबिम्ब की तरह है, जो वास्तविक नहीं है।

बुद्धि इन्द्रियों द्वारा प्रकट होती है और पदार्थ (अर्थ) को ग्रहण करती है। यह अर्थोपराग या विषयोपराग कहलाता है। पदार्थ के साथ बुद्धि का सम्बन्ध वास्तविक है। जिस प्रकार मुख के उच्छ्वास से दर्पण में जो

मलिनता आती है, वह वास्तविक है, उसी प्रकार यह ज्ञानपरिणति अर्थात् विषयोपराग तात्त्विक है और यह भी बुद्धि का एक अंश है।

बुद्धि का तीसरा अंश है- कर्त्तव्य या व्यापारावेश। इससे बुद्धि की कार्य में प्रवृत्ति होती है, क्रिया करने का अध्यवसाय होता है। चूंकि बुद्धि में कृति का गुण विद्यमान है, इसलिए बुद्धि का व्यापारावेश तात्त्विक है। इस प्रकार बुद्धि और चैतन्य के बीच सम्बन्ध भ्रान्त या अतात्त्विक है। प्रकृति नटि है और पुरुष दृष्टा। जब तक पुरुष भ्रम में रहता है, तब तक प्रकृति की चेष्टाएँ चलती रहती हैं, किन्तु जिस समय पुरुष का भ्रम भंग हो जाता है, उस समय प्रकृति भाग जाती है।

(४३५) चेतनोऽहं करोमीति बुद्धेर्भेदाग्रहात्स्मयः।
एतन्नाशेऽनवच्छिन्नं चैतन्यं मोक्ष इष्यते।।५२।।

<u>अनुवाद -</u> मैं चेतन हूँ, मैं करता हूँ- इस प्रकार बुद्धि के भेद के अज्ञान के कारण अहंकार (स्मय) उत्पन्न होता है और इसको, अर्थात् अज्ञान का नाश होते ही अवच्छेद बिना चैतन्य को मोक्ष कहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति-दोनों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। पुरुष नितान्त निर्मल, विकाररहित है, किन्तु बुद्धि (प्रकृति) का प्रतिबिम्ब निर्मल आत्मा पर प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि को भ्रम होता है कि 'मैं चेतन हूँ, मैं आत्मा हूँ और पुरुष को यह आभास होता है कि जो भी कुछ हो रहा है, उसे मैं कर रहा हूँ' अर्थात् अपने कर्त्तव्य का आभास होता है। जब तक अज्ञान होता है, तब तक दोनों के बीच अभेद बुद्धि बनी रहती है। जैसे निर्मल जल में चन्द्र आदि के प्रतिबिम्ब को कोई अज्ञानी बालक वास्तविक समझता है और पकड़ने दौड़ता है, उसी प्रकार जब तक अज्ञान रहता है, तब तक पुरुष प्रतिबिम्ब को वास्तविक या तात्त्विक समझता है और पुरुष तथा प्रकृति के मध्य अभेद-बुद्धि का जन्म होता है। इससे चैतन्य या आत्मा में अहंकार उत्पन्न होता है कि वह ही सबकी कर्त्ता है और बुद्धि को लगता है कि मैं ही चैतन्य है, परंतु अहंकाररूपी अज्ञान के नष्ट होते ही शुद्ध चैतन्य-दशा प्रकट होती है, प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, यही मोक्षावस्था है।

(४३६) **कर्तृबुद्धिगते दुःखसुखे पुंस्युपचारतः।**
नरनाथे यथा भृत्यगतौ जयपराजयौ।।५३।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे सेवक या सेना से सम्बन्धित जय-पराजय का उपचार राजा में किया जाता है, उसी प्रकार कर्त्ताबुद्धि से सम्बन्धित सुख और दुःख का उपचार पुरुष में किया जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यदर्शन का मंतव्य है कि पुरुष और प्रकृति द्वारा संसार चल रहा है। यद्यपि पुरुष तो अक्रिय, निर्गुण और अपरिणामी है, कुछ करता नहीं है, प्रकृति के तत्त्वों में से बुद्धि ही यह सब कार्य करती है, शुभाशुभ कर्म बुद्धि ही करती है, परंतु इसके लिए पुरुष उत्तरदायी रहता है। वस्तुतः, अपरिणामी आत्मा में वासना और क्लेशरूपी कर्मों के सम्बन्ध से बन्धन का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। आत्मा के निष्क्रिय होने से वह कुछ करती नहीं है, उसमें कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व नहीं है, लेकिन फिर भी व्यावहारिक-बुद्धि के कारण जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उनका उपचार पुरुष ही करता है, परंतु यह मात्र लोकव्यवहार है, वास्तविकता नहीं है। नाना पुरुषों के आश्रित प्रकृति को ही बन्ध होता है, वही संसार में भ्रमण करती है और प्रकृति को ही मोक्ष होता है, अतएव पुरुष के बन्ध, मोक्ष, संसार का व्यवहार उपचार से होता है। इसके लिए सांख्यवादी दृष्टान्त देते हैं कि युद्ध में दोनों पक्षों के सैनिक ही लड़ते हैं, जय, पराजय भी उनकी ही होती है, किन्तु जय-पराजय का उपचार राजा में किया जाता है, जैसे-अमुक राजा विजयी हुआ और अमुक राजा पराजित हुआ-इस प्रकार कहा जाता है। वस्तुतः, राजा ने चाहे युद्धभूमि भी नहीं देखी हो, फिर भी लोकव्यवहार से इस प्रकार ही कहा जाता है। ठीक उसी प्रकार, अच्छे-बुरे जो भी कार्य बुद्धि द्वारा किए जाते हैं, वे सब 'पुरुष ने किए हैं' - इस प्रकार कहा जाता है। वस्तुतः, सुख-दुःख का कर्त्ता पुरुष नहीं है और भोगने वाला भी पुरुष नहीं है। पुरुष तो निर्विकार-निरंजन है।

(४३७)कर्ता भोक्ता च नो तस्मादात्मा नित्यो निरंजनः।
अध्यासादन्यथाबुद्धिस्तथा चोक्तं महात्मना।।५४।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए आत्मा कर्त्ता या भोक्ता नहीं है। वह नित्य, निरंजन है, अध्यास (संस्कार) के कारण उस पर अन्यथा-बुद्धि होती है - इस प्रकार महात्माओं द्वारा कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यदर्शन का मंतव्य है कि आत्मा एकान्तरूप से नित्य और निरंजन है। आत्मा में कोई परिवर्तन, कोई विकार नहीं है। आत्मा निरंजन है, अर्थात् इसको कुछ लग नहीं सकता है, इससे कुछ चिपक नहीं सकता है, अर्थात् वह रागादि भावों से अलिप्त है। चिकनाई हो, तो धूल चिपकती है, किन्तु पुरुष या आत्मा रागादि की चिकनाई से रहित है, इसलिए पुरुष को बन्ध भी नहीं होता है। पुरुष कर्म का कर्त्ता भी नहीं है, कर्म-फल का भोक्ता भी नहीं है, परंतु बुद्धि के साथ सम्बन्ध होने पर उसे 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ,' ऐसा भ्रम होता है। जैसे किसी सीधी लकड़ी को निर्मल जल में डालने पर वह तिरछी दिखाई देती है, उसी प्रकार पुरुष तो सर्वथा निर्विकारी है, किन्तु अनादिकाल के संस्कार के कारण उसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व का भ्रम होता है। ऐसा सांख्यदर्शन के विद्वान् लोगों का कहना है।

(४३८) प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।।५५।।

<u>अनुवाद -</u> सर्वथा प्रकृति के गुणों से कार्य होते हैं, (परंतु) अहंकार से विमूढ़ हुई आत्मा 'मैं कर्त्ता हूँ' - इस प्रकार मानती है।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति तीन गुणों से युक्त है। ये तीन गुण हैं- सत्त्व, रजस् और तमस्। प्रकृति के कारण ही संसार है, इसलिए संसार त्रिगुणात्मक है। इन गुणों के कारण ही सुख-दुःख और मोह आदि उत्पन्न होते हैं। प्रकृति के साथ संलग्न विशुद्ध निरंजन आत्मा अहंकार, मिथ्याबुद्धि तथा अज्ञान के कारण यह मानने लगती है कि वह ही कर्त्ता हूँ। एकदा किसी सिंहनी का शावक जन्म से ही भेड़ों में मिल गया। भेड़ों के झुण्ड में पलकर ही वह बड़ा हुआ, वह सिंह उस परिवेश में

रहकर वह स्वयं को भेड़ मानने लगा। भेड़ों का मिमियाना सुनकर वह खुद भी मिमियाने लगता। भेड़ों वह की तरह ही भीड़ में चलने लगा, भेड़ों के समान ही भयभीत होने लगा। एक दिन एक सिंह ने उन भेड़ों पर हमला किया, तब सभी भेड़ें भागने लगी। उस समय भेड़ों के साथ उस सिंह को भागते हुए देख वह हमला करने वाला सिंह आश्चर्यचकित रह गया। उसने भयभीत होते हुए उस सिंह को पकड़ा और उसे जल में अपना प्रतिबिम्ब दिखाया। अपना प्रतिबिम्ब देखकर उस सिंह को स्वयं के भेड़ होने का भ्रम दूर हुआ और वह भेड़ों से अलग हो गया।

इसी प्रकार, पुरुष विशुद्ध अविकारी, अकर्त्ता और अभोक्ता है, किन्तु प्रकृति के संग से अनादिकाल के अभ्यास के कारण वह अपने-आपको कर्मों का कर्त्ता मानने लगा। जिस दिन किसी निमित्त से उसका यह भ्रम भंग हो जाता है, उस दिन प्रकृति और पुरुष-दोनों अलग हो जाते हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन के अनुसार शुभाशुभ कर्म के लिए पुरुष उत्तरदायी नहीं है, वह एकान्तनित्य तथा शुद्ध है। संसार में जो भी कुछ शुभाशुभ कर्म हैं, वे प्रकृति के किए हुए हैं।

जैनदर्शन को यह मान्यता मान्य नहीं है।

(४३६) विचार्यमाणं नो चारू तदेतदपि दर्शनम्।
कृतिचैतन्ययोर्व्यक्तं सामानाधिकरण्यतः।।५६।।

<u>अनुवाद</u> - इसलिए यह (सांख्य) दर्शन भी सुंदर विचारने योग्य नहीं है, क्योंकि कृति और चैतन्य का समान-अधिकरण स्पष्ट है।

<u>**विशेषार्थ**</u> - ग्रंथकर्त्ता उपाध्याय यशोविजयजी ने सांख्यदर्शन की मान्यताओं का शास्त्रानुसार चिन्तन-मनन करके अपना अभिप्राय दर्शाया है कि यह दर्शन भी सुंदर नहीं है, विचारने योग्य नहीं है, क्योंकि यह भी एकान्तवादी है तथा कृति (कार्य) और चेतन-तत्त्व के अधिकरण, अर्थात् स्थान भिन्न-भिन्न मानता है। उनका मंतव्य है कि पुरुष (आत्मा) एकान्त निर्विकारी और अक्रिय है, अर्थात् कूटस्थ-नित्य है। वह कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। यह सब करने वाली जड़ प्रकृति है, किन्तु व्यवहार में हम अनुभव करते हैं कि जीव स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता है, इसलिए

कृति और चैतन्य का अधिकरण एक ही है-यह स्पष्ट है। संसारी-अवस्था में जीव अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं है, अतः व्यावहारिक-दृष्टि से हम जीव को कर्त्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व से मुक्त नहीं मान सकते हैं। निश्चयदृष्टि से जीव कर्त्ता और भोक्ता नहीं है,-यह एक आदर्श स्थिति है, अतः एकान्तरूप से जीव में अकर्त्तृत्त्व और अभोक्तृत्त्व स्वीकारने योग्य नहीं है।

(४४०) बुद्धिः कर्त्री च भोक्त्री च नित्या चेन्नास्ति निर्वृतिः।
अनित्या चेन्न संसारः प्राग्धर्मादिरयोगतः।।५७।।

<u>अनुवाद -</u> बुद्धि अगर कर्त्ता, भोक्ता और नित्य हो, तो मोक्ष नहीं होता है और अगर अनित्य हो, तो पूर्व धर्म आदि के अयोग से संसार ही नहीं रहे।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यवादियों का यह मंतव्य है कि प्रकृति के तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व बुद्धि है। अचेतन बुद्धि से ही पदार्थों का ज्ञान होता है और बुद्धि ही कर्त्री और भोक्त्री है, परंतु कर्म करने वाली और भोगने वाली बुद्धि हो और वह नित्य हो, तो फिर कर्म का कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व निरन्तर चला ही करेगा, फिर कर्मों से मुक्त होने की क्रिया नहीं घट सकती है। कर्त्तापन और भोक्ता का भाव यदि नित्य ही है, तो उससे मुक्त नहीं हो सकते, अर्थात् मोक्ष-तत्त्व का अभाव स्वीकारना ही पड़ेगा।

दूसरी ओर, यदि बुद्धि को अनित्य या क्षणिक माना जाए, तो प्रत्येक क्षण नष्ट होने के कारण पूर्व धर्म का अयोग रहेगा। अगर ऐसा हो, तो संसार किस प्रकार चलेगा ? इस प्रकार बुद्धि को चाहे नित्य मानें या अनित्य दोनों ही प्रकार से संसार से मुक्ति संभव नहीं है, परंतु कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और नित्यत्व को यदि आत्मा में स्वीकार किया जा,ए तो संसार और मोक्ष का व्यवस्थित निरूपण किया जा सकता है।

(४४१) प्रकृतावेव धर्मादिस्वीकारे बुद्धिरेव का ?
सुवचश्च घटादौ स्यादीदृग्धर्मान्वयस्तथा।।५८।।

<u>अनुवाद -</u> यदि प्रकृति में धर्म आदि को स्वीकार किया जाए, तो फिर बुद्धि का क्या होगा? अर्थात् बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, तब धर्मादि का इस प्रकार का संबंध घटादि में भी स्वीकारना पड़ेगा।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यवादियों की प्रकृति के विषय में अवधारणा सर्वथा अनुचित है। वे प्रकृति को अचेतन मानते हैं और बुद्धि प्रकृति का विकार है। अब यदि प्रकृति को नित्य मानें, तो भी समस्या है और अनित्य मानें, तो भी समस्या है। यदि प्रकृति को नित्य माना जाए, तो उसमें रहे हुए धर्म-अधर्म आदि को भी नित्य स्वीकारना पड़ेगा। धर्मादि को नित्य स्वीकार करने पर बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं रहती है। प्रकृति या बुद्धि को जड़ मानना भी विरुद्ध है। यदि ऐसा माना जाए तो, धर्मादि गुण जड़ में रह सकते हैं- यह स्वीकारना पड़ेगा। बुद्धि को जड़ मानने से उसे पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। जिस प्रकार दर्पण में पुरुष का प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होने पर अचेतन दर्पण चेतन नहीं हो सकता है, उसी तरह अचेतन-बुद्धि चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब से चेतन नहीं कहीं जा सकती है, इसलिए धर्मादि को जड़-बुद्धि (प्रकृति) का गुण मानना अनुचित है।

(४४२) कृतिभोगौ च बुद्धेश्चेद् बंधो मोक्षश्च नात्मनः।
ततश्चात्मानमुद्दिश्य कूटमेतद्‌यदुच्यते।।५६।।

<u>अनुवाद -</u> कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व बुद्धि को ही होते हैं, तब आत्मा के बंध और मोक्ष नहीं रहेंगे, तो फिर आत्मा को लक्ष्य करके जो कहा गया है, वह मिथ्या होगा।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यवादियों का मंतव्य है कि कर्तृव्य और भोक्तृत्त्व- ये दो गुण बुद्धि के हैं। बुद्धि ही जगत् की कर्त्ता है और कर्म की भोक्ता भी वही है। पुरुष (आत्मा) निर्गुण और अपरिणामी है, परंतु सांख्यवादियों के मत का खण्डन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि जहाँ कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व है, वहीं बंधन और मोक्ष है, तो फिर आपको बंधन और मोक्ष भी बुद्धि का ही मानना होगा, आत्मा का नहीं, क्योंकि जो कर्म का कर्त्ता है, वही उसका

भोक्ता भी होगा तथा बन्धन और मोक्ष भी उसी का होना चाहिए। कपिलमुनि बंध और मोक्ष आत्मा में घटित करते हैं, अतः यह मिथ्या होगा। इस प्रकार बुद्धि में कर्त्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व बताने पर बंध और मोक्ष की अनवस्था उत्पन्न होगी।

(४४३) पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः।।६०।।

<u>अनुवाद -</u> पच्चीस तत्त्व को जानने वाला चाहे किसी भी आश्रम में रत हो, या जटावाला हो, या मुण्डन किए हुए हो, या फिर चोंटीवाला हो, वह मुक्ति प्राप्त करता है-इसमें संशय नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> सांख्यदर्शन में पुरुष और प्रकृति सहित जिन पच्चीस तत्त्वों का वर्णन किया गया है, उनका अत्यधिक महत्त्व है। इन्हीं पच्चीस तत्त्वों के आधार पर ही समग्र सृष्टि का संचालन होता है। पुरुष चेतन (आत्मा) है, वह एक नहीं अनेक है। प्रकृति जड़-तत्त्व है और जड़ तथा चेतन का संयोग होने पर, प्रकृति से ही सृष्टि का सर्जन होता है। पूर्व श्लोक में जो पच्चीस तत्त्व बताए गए हैं, इन तत्त्वों को जानने वाला, इनका ज्ञान प्राप्त करने वाला अवश्य मुक्ति को प्राप्त करता है, फिर वह चाहे किसी भी आश्रम में हो। चाहे वह ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम का जीव हो और उस आश्रम में आसक्त हो, चाहे वह जटावाला हो, या सिर मुंडन किया हुआ हो, या चोंटीवाला हो, परंतु वह इन तत्त्वों पर श्रद्धा करता हो, तो वह भव के बंधन से, अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है, उसकी मुक्ति में कोई संशय नहीं है। यह मन्तव्य सांख्यदर्शन का है। सांख्यदर्शन वाले पुरुष का मोक्ष, अर्थात् मुक्ति मानते हैं, परंतु यह विचारणीय है कि जो बंधन में नहीं है, उसकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? जो बंधन में हो, वही मुक्त होता है। सांख्यदर्शन पुरुष को निर्गुण, निर्विकारी, अकर्त्ता, अभोक्ता, नित्य मानता है, परंतु जैनदर्शन के अनुसार आत्मा द्रव्य से शुद्ध और नित्य है, किन्तु पर्याय की दृष्टि से अशुद्ध और अनित्य है।

(४४४) एतस्य चोपचारत्वे मोक्षशास्त्रं वृथाऽखिलम्।
अन्यस्य ही विमोक्षार्थे न कोऽप्यन्यः प्रवर्तते।।६१।।

<u>अनुवाद</u> - अगर इसका (बंध और मोक्ष का) उपचार (पुरुष में) करोगे, तो (आपका) समग्र मोक्षशास्त्र व्यर्थ होगा। अन्य के मोक्ष के लिए अन्य कोई प्रवृत्ति नहीं करता है।

<u>विशेषार्थ</u> - यदि पुरुष निर्गुण, अपरिणामी, नित्य और शुद्ध है, तो उसे मोक्ष किस प्रकार होगा ? 'मुच्' धातु का अर्थ बन्धन से छूटना है। अपरिणामी आत्मा में वासना और क्लेशरूप कर्मों के सम्बन्ध से बन्धन का उत्पन्न होना संभव नहीं है, अतएव आत्मा के निष्क्रिय होने से उसे परलोक (संसार) भी नहीं हो सकता है। सांख्यवादी कहते हैं कि अनेक पुरुषों के आश्रित बुद्धि (प्रकृति) को ही बन्ध होता है, वही संसार में भ्रमण करती है और बुद्धि को ही मोक्ष होता है। पुरुष के बन्ध, मोक्ष और संसार का व्यवहार उपचार से होता है। जिस प्रकार किसी सेना की जय, पराजय का आरोप राजा पर किया जाता है, उसी तरह वास्तव में संसार और मोक्ष-दोनों प्रकृति के होते हैं, परन्तु पुरुष की विवेक-ख्याति होने से पुरुष का ही संसार और मोक्ष माने जाता हैं।

सांख्यवादियों की पुरुष पर उपचार करने की बात तर्कसंगत नहीं है। बुद्धि के बंध और मोक्ष की बात यदि उपचार से पुरुष में घटाई जाए, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मेहनत एक करे और फल दूसरा भोगे, परंतु स्वयं की मेहनत का फल स्वयं को नहीं मिले, अन्य को मिले, किसी तो ऐसी मेहनत कौन करेगा ? जो बन्धन में आता है, वही मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है, अन्य को मुक्त करने के लिए पुरुष क्यों संयम, त्याग, तप आदि के रूप में प्रयत्न करेगा। प्रकृति की मुक्ति के लिए पुरुष मोक्षशास्त्र पढ़े, उसके अनुसार आचरण करे यह यथार्थ नहीं है। इस प्रकार तो मोक्षशास्त्र ही व्यर्थ हो जाएगा।

(४४५) कपिलानां मते तस्मादस्मिन्नैवोचिता रतिः।
यत्रानुभवसंसिद्ध कर्ता भोक्ता च लुप्यते।।६२।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए यह कपिल का मत भी प्रीति करने (अपनाने) योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें अनुभवसिद्ध ऐसे कर्त्तृत्व और भोक्तृत्त्व का लोप किया गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> कपिल का सांख्यमत आत्मा को एकान्तनित्य मानता है। वे आत्मा को कर्त्तृत्त्व तथा भोक्तृत्त्व से रहित शुद्ध मानते हैं, परंतु हम देखते हैं कि संसार में कोई सुखी होता है, कोई दुःखी। जीव शुभ तथा अशुभ कार्य करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसलिए जीव शुभ या अशुभ कर्म बांधता है और उसी के अनुसार वह फल भी भोगता है, अतः आत्मा को पर्यायदृष्टि से अनित्य मानने से ही कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व, बंधन, मोक्ष आदि की व्यवस्थित व्याख्या की जा सकती है किन्तु कपिल इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं। जो मत अनुभवसिद्ध बात का लोप करे, उस पर किस प्रकार श्रद्धा की जाए ? निश्चय से आत्मा कर्त्ता और भोक्ता नहीं है, किन्तु व्यवहार से है।

(४४६) नास्ति निर्वाणमित्याहुरात्मनः केऽप्यबंधतः।
प्राक् पश्चाद् युगपद्वापि कर्मबंधाव्यवस्थितेः।।६३।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा को बंध नहीं होने से मोक्ष नहीं है-इस प्रकार कुछ लोगों का मंतव्य है, क्योंकि आत्मा को पहले, बाद में या एकसाथ कर्मबंध हुए-इस प्रकार कर्मबंध की अव्यवस्था है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा के छः पदों में से चार्वाक् का खण्डन करके 'आत्मा है' (अस्तित्त्व), बौद्धदर्शन का खण्डन करके 'आत्मा नित्य है' तथा सांख्यदर्शन का खण्डन करके 'आत्मा के कर्त्तृत्त्व तथा भोक्तृत्व' को सिद्ध किया गया है। इन चार पदों को सिद्ध करने के बाद प्रस्तुत श्लोक में मोक्ष-पद पर चिंतन किया गया है। अमोक्षवादियों का मंतव्य है कि आत्मा को कर्म का बंध ही नहीं होता है, तो फिर मोक्ष की बात ही कहाँ रही? 'मूलं नास्ति कुतो शाखा', मूल ही नहीं है तो शाखाएँ कहाँ से होगी ?

इसे सिद्ध करने के लिए वे कुतर्क करते हैं -

१. आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध हुआ, तो पहले यह बताओ कि आत्मा पहले थी, या कर्म पहले था या दोनों का साथ ही सम्बन्ध हुआ ? अगर यह कहें कि पहले आत्मा की उत्पत्ति हुई, कर्म ने उसके साथ बाद में सम्बन्ध स्थापित किया, तो यह कहना भी योग्य नहीं है चूंकि विशुद्ध उत्पन्न हुई आत्मा को कर्म से बंधने का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः बिना प्रयोजन के आत्मा को कर्म से बंधने का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः बिना प्रयोजन के आत्मा कर्म से किस प्रकार और क्यों बंधे ?

२. यदि यह कहा जाए कि पहले कर्म उत्पन्न हुआ, तो यह भी असंगत है, क्योंकि कर्त्ता के अभाव में कर्म की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस प्रकार कर्म का बंध संभव नहीं है।

३. अगर यह कहा जाए कि आत्मा और कर्म-दोनों साथ ही उत्पन्न हुए, तो यह भी अयुक्त होगा, क्योंकि इसमें कर्त्ता कौन और बंध किसका ? यह प्रश्न उपस्थित होगा, क्योंकि कर्त्तृत्त्व और कार्यत्त्व- दोनों एक साथ संभव नहीं है।

इस प्रकार कर्म और आत्मा का सम्बन्ध पहले, पश्चात् या एकसाथ-यह किसी भी प्रकार संभव नहीं है ? अतः कर्मबंध अव्यवस्थित होने से स्वीकारने योग्य नहीं है। कर्मबंध ही नहीं है, तो फिर मोक्ष या मुक्ति की बात ही नहीं रही। बंध के अभाव में मोक्ष का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। अमोक्षवादी इस प्रकार से जो तर्क करते हैं वह अयुक्त है। पहले, पश्चात् या एकसाथ का जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, वह तर्क नहीं, मात्र तर्काभास है। ग्रंथकार ने इसका उत्तर आगामी श्लोक में दिया है।

(४४७) अनादिर्यदि संबंध इष्यते जीव कर्मणोः।
तदानन्त्यान्न मोक्षः स्यात्तदात्माकाश योगवत्।।६४।।

<u>अनुवाद -</u> अगर जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कहेंगे, तो आत्मा और आकाश के सम्बन्ध के समान वह अनंत भी होगा, इस कारण से मोक्ष नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में अमोक्षवादी या मोक्ष को नहीं मानने वाले का पूर्वपक्ष के रूप में तर्क दिया गया है।

आत्मा और कर्म का संबंध किस प्रकार शुरू हुआ, इसके विषय में तीन प्रकार के विकल्प हो सकते हैं - १. पहले तो जीव था, किन्तु बाद में कर्म का सम्बन्ध किसी विशिष्ट काल में हुआ २. अथवा जीव और कर्म-दोनों में कोई पहले नहीं तथा कोई बाद में नहीं, दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए ३. जीव और कर्म का संबंध अनादिकाल से चल रहा है।

यदि जैनदर्शन वाले जीव और कर्म का संबंध अनादि स्वीकारते हैं, तो फिर अनंत भी स्वीकारना पड़ेगा, क्योंकि जिस सम्बन्ध की आदि नहीं, उसका अंत भी नहीं है। आत्मा और आकाश का सम्बन्ध किसी काल विशेष में नहीं हुआ, बल्कि अनादिकाल से है, किन्तु जो संबंध अनादिकाल से हैं, वे अनंतकाल तक रहते हैं, अतः आत्मा और आकाश का संबंध जिस तरह अनादि है, उसी तरह अनंत भी है। अगर जीव और कर्म का संबंध अनादि है, तो अनंत भी स्वीकारना पड़ेगा और अगर जीव और कर्म का संबंध अनंतकाल तक रहने वाला हो, तो फिर मोक्ष की किस प्रकार संभावना हो सकती है ? जीव कर्मरहित हो, तब ही मुक्ति संभव है, इसलिए मोक्ष की कल्पना करना अनुचित है।

जो संबंध अनादि है, वह अनंत भी हो-यह आवश्यक नहीं है। आत्मा और आकाश का संबंध अनादि और अनंत है, किन्तु जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि तो है, किन्तु अनंत नहीं है, जिस तरह खदान से निकले हुए स्वर्ण और मिट्टी का संयोग अनादि है, किन्तु अनंत नहीं है। पुरुषार्थ करके स्वर्ण को मिट्टी से मुक्त किया जा सकता है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है, कर्मविशेष का सम्बन्ध आत्मा के साथ सादि है। जिस प्रकार नदी में पानी का प्रवाह चल रहा हो, तो प्रवाह में पानी तो बना रहता है, किन्तु पुराना पानी बहता रहता है और उसके स्थान पर नया पानी आता जाता है, उसी तरह आत्मा में पुराने कर्म उदय में आ-आकर निर्जरित होते जाते हैं और नए पुनः बंधते जाते हैं, अतः प्रवाह की अपेक्षा से आत्मा के साथ कर्म का संबंध अनादि है, कर्मविशेष की अपेक्षा से नहीं।

(४४८) तदेतदत्यसंबद्धं यन्मिथो हेतुकार्ययोः।
संतानानादिता बीजांकुरवद् देहकर्मणोः।।६५।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए (मोक्ष नहीं है) इस प्रकार कहना निरर्थक (असंबद्ध) है, क्योंकि कारण और कार्य के रूप में बीज और अंकुर की तरह ही देह (जीव) और कर्म के बीच संबंध संतानरूप में अनादि हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में अमोक्षवादियों ने तर्क दिया था कि आत्मा और कर्म का संबंध यदि अनादि है, तो अनंत भी होना चाहिए, इसलिए जीव कर्म से मुक्त नहीं हो सकता है, अतः मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने इसी कुतर्क का उत्तर दिया है। जगत् में कारण-कार्यभाव निरंतर गतिमान् है। प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य है। अगर आत्मा कारण है, तो कर्म कार्य है और कर्म कारण है, तो जीव की विविध पर्याएँ (अवस्थाएँ) कार्य हैं। कर्म से भवपरंपरा होती है, अर्थात् संसार में परिभ्रमण होता है और संसार-परिभ्रमण में पुनः नवीन कर्मों का बंध होता है। प्रायः, जो कर्म उदय में होते हैं, उन्हीं का बंध भी होता है। बीज और अंकुर की तरह परस्पर कार्यकारण-भाव अनादिकाल से संतानरूप में, अर्थात् परंपरा के प्रवाह के रूप में चलता रहता है, इसलिए आत्मा और कर्म का कार्यकारण-भावसम्बन्ध अनादिकाल से चल रहा है- यह स्वीकारना ही पड़ेगा और इसका अंत भी हो सकता है, इसलिए मोक्ष भी विद्यमान है।

(४४६) कर्ता कर्मान्वितो देहे जीवः कर्मणि देहयुक्।
क्रियाफलोपभुक्कुंभे दण्डान्वितकुलालवत्।।६६।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार दंडसहित कुम्हार कुंभ की क्रिया का फल भोगता है, उसी प्रकार कर्मसहित जीव देह का कर्त्ता बनता है और देहयुक्त यह (जीव) कर्मफल का भोक्ता भी बनता है।

<u>विशेषार्थ -</u> कुछ लोग आत्मा के बंधन व मोक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं। वे आत्मा के कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व को भी स्वीकार नहीं करते हैं। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने सिद्ध किया है कि देह से युक्त आत्मा कर्म करती है, अर्थात् कर्त्ता बनती है और यही जीव शुभाशुभ कर्म का भोक्ता

भी बनता है। भौतिक-जगत् के परिवर्तन चैतसिक-जगत् को प्रभावित करते हैं और चैतसिक-जगत् में परिवर्तन होने पर मानसिक-जगत् प्रभावित होता है। आत्मा का शरीर से कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है। कर्म शरीर द्वारा किया, किन्तु आत्मा शरीर से जुड़ी हुई है, उस कर्म का फल भी आत्मा को मिलेगा। कर्म और आत्मा का निमित्त-नैमत्तिक सम्बन्ध होने से आत्मा कर्म की कर्त्ता और भोक्ता है। जैसे कुम्हार अपने स्वयं के चाक को दंड द्वारा घुमाकर घड़ा बनाता है, इसलिए कुम्हार घट का कर्त्ता हुआ और कुम्हार उस घड़े का उपयोग करता है, तो वह घड़े का भोक्ता भी हुआ, उसी प्रकार देह में रहा हुआ जीव कर्म का कर्त्ता और कर्म का भोक्ता बनता है। घट का कर्त्ता और भोक्ता कुम्हार तब ही बन सकता है, जब दंड, चाक, मिट्टी, पानी आदि सभी सामग्री उपस्थित हो। उसी प्रकार, आत्मा भी कार्मण, तेजस, औदारिक आदि शरीर के होने पर कषाय, योग आदि की उपस्थिति में कर्म की कर्त्ता और भोक्ता बनती है। शुद्धात्मा कर्म की कर्त्ता और भोक्ता नहीं है।

(४५०) अनादिसंततेर्नाशः स्याद् बीजांकुरयोरिव।
कुक्कुट्र्यंडकयोः स्वर्णमलयोरिव चानयोः।।६७।।

<u>अनुवाद -</u> बीज और अंकुर की तरह, मुर्गी और अंडे की तरह तथा स्वर्ण और उसके मैल की तरह इस अनादि संतति का नाश है।

<u>विशेषार्थ -</u> बीज से अंकुर की उत्पत्ति हुई, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि बीज कहाँ से आया ? यही अंकुर विकसित होते हैं और वनस्पति उनके से जो फल आदि प्राप्त होते हैं, या धान्य उत्पन्न होते हैं, उनमें से ही बीज की प्राप्ति होती है, अतः बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की उत्पत्ति होती है। इनमें प्रथम कौन है ? अर्थात् पहले बीज की उत्पत्ति हुई या अंकुर की ? उसी प्रकार मुर्गी से अंडे की उत्पत्ति होती है और अंडे से मुर्गी की, इन दोनों में भी प्रथम कौन ? पहले अंडा या पहले मुर्गी ? उसी प्रकार स्वर्ण और मैल का भी संबंध है। इनके संबंध का प्रारंभ 'कब हुआ, कैसे हुआ', यह तर्क का विषय नहीं है। तर्क द्वारा, दोनों में से प्रथम कौन-इस प्रकार पूर्वकोटि का निश्चय नहीं किया जा सकता है, इसलिए इन संबंधों को अनादि स्वीकारना ही पड़ेगा। मुर्गी से अंडा और अंडे से

मुर्गी-इस प्रकार यह संतति प्रवाह के रूप में अनादिकाल से चल रही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह संबंध अनादि होने से अनंतकाल तक चलता रहेगा। सामान्यतया, मुर्गी और अंडे की उत्पत्ति का क्रम निरन्तर चलता ही रहेगा-यह भ्रम हो सकता है, किन्तु इस पर चिंतन-मनन करने या अनुभव से यह जाना जा सकता है कि यदि किसी अंडे को नष्ट कर दिया जाए या मुर्गी को नष्ट कर दिया जाए, उसी प्रकार यदि बीज को भूना जाए और स्वर्ण को अग्नि में डालकर शुद्ध किया जाए, तो इस प्रवाह का अंत हो जाता है। इस प्रकार जो-जो अनादि हों, उन सबका अनंत होना आवश्यक नहीं है। कोई संबंध अनादि अनंत होते हैं, तो कोई अनादिसात भी होते हैं।

उसी प्रकार, जीव और कर्म का संबंध भी अनादिकाल से है, किन्तु इस संबंध का अंत भी हो सकता है। लोहे में नमी लगने पर जंग लग जाती है, किन्तु लोहे को स्टील के रूप में परिणत कर दिया जाए, तो उसमें जंग नहीं लगेगी, उसी प्रकार आत्मा जब लोह रूप में है, अर्थात् राग, द्वेष, कषाय आदि विकारों से युक्त है, तब तक कर्मरूपी जंग उसमें लगेगी, यदि तप, संयम, त्याग, ध्यान आदि कषायों द्वारा आत्मा को कर्म से मुक्त कर लिया जाए, तो फिर शुद्धात्मा में कर्मरूपी जंग नहीं लग सकती। अतः, संयम आदि में पुरुषार्थ करके कर्म और आत्मा के अनादिकाल के संबंध का अंत किया जा सकता है।

खदान से निकला हुआ स्वर्ण मलयुक्त होता है, किन्तु यदि उसे अग्नि में तपाया जाए, तो स्वर्ण से मैल अलग हो जाता है तथा स्वर्ण अपने स्वरूप में आ जाता है। जिस तरह स्वर्ण और मैल एकरूप नहीं हैं, कभी भी उपचार करने पर अलग हो सकते हैं, उसी तरह धर्म द्वारा तथा ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा जीव भी कर्म से सर्वथा मुक्त हो सकता है, इसलिए जीव और कर्म की अनादिकाल से चली आ रही संतति का नाश हो सकता है और इस संबंध को अनादि-सान्त बना सकते हैं और कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

(४५१) भव्येषु च व्यवस्थेयं संबंधो जीवकर्मणोः।
अनाद्यनन्तोऽभव्यानां स्यादात्माकाशयोगवत्।।६८।।

अनुवाद - यह व्यवस्था, अर्थात् अनादि-सांत की व्यवस्था भव्य जीवों की अपेक्षा से है, अभव्यों की अपेक्षा से तो जीव और कर्म का संबंध आकाश और आत्मा के योग की तरह अनादि और अनंत है।

विशेषार्थ - जीव और कर्म का संबंध अनादिकाल से चल रहा है, किन्तु जीव पुरुषार्थ द्वारा इस संबंध का अंत कर सकता है, अर्थात् सभी कर्मों से पूर्णतया मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सभी जीव एक-न-एक दिन कर्मों से मुक्त होंगे ? क्या कभी-न-कभी जीवों को मोक्ष प्राप्त होगा ? इन प्रश्नों पर चिंतन किया जाए, तो जैनदर्शन के अनुसार संसार के सभी जीवों में मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती है। मुक्ति की अपेक्षा से जीव के दो भेद किए जा सकते हैं- १. भव्य २. अभव्य। भव्यत्व और अभव्यत्व-ये जीव के पारिणामिक-भाव हैं, अर्थात् जो जीव भव्य है, उसमें स्वाभाविक रूप से मोक्ष पाने की योग्यता है। भव्य जीव को मोक्ष के योग्य सामग्री प्राप्त होने पर वह पुरुषार्थ करके अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके, अपने शुद्धस्वरूप को, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, किन्तु अभव्य जीव मोक्षप्रापक सामग्री प्राप्त होने पर भी कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए अभव्य जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि और अनंत है, जबकि भव्य जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि-सांत है। अभव्य जीव धर्मानुष्ठान कर सकता है, संयम की उत्कृष्ट आराधना कर सकता है तथा नव ग्रैवेयक (देवलोक) तक जा सकता है, किन्तु मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या किसी जीव का कर्म के साथ संबंध अनादि-अनंत संभव हो सकता है ? इसका उत्तर यही है कि जिस तरह आकाशद्रव्य और जीव का सम्बन्ध अनादि और अनंत है, उसी तरह अभव्यजीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि-अनंत है।

(४५२) **द्रव्यभावे समानेऽपि जीवाजीवत्वभेदवत्।
जीवभावसमानेऽपि भव्याभव्यत्वयोर्भिदा।।६९।।**

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार द्रव्यभाव समान होने पर भी जीवत्व और अजीवत्व का भेद है, उसी प्रकार जीवभाव समान होने पर भी भव्यत्व और अभव्यत्व का भेद है।

<u>विशेषार्थ -</u> कोई यह प्रश्न उपस्थित कर सकता है कि सभी जीवों में जीवत्व एक समान है, आत्मा एक समान है, फिर उनमें भव्य जीव और अभव्य जीव-ऐसा भेद करने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यही है कि समान लक्षण वाली वस्तुओं में भी उत्तरभेद हो सकते हैं। जिस प्रकार द्रव्य का द्रव्यत्व सभी द्रव्यों में समान है, फिर भी जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य-ऐसे दो भेद किए गए हैं, जिसमें चेतना पाई जाती है, उसे जीवद्रव्य कहते हैं और जो चेतना से रहित है, ऐसे द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल-इनको अजीवद्रव्य कहते हैं, उसी प्रकार जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है उन्हें भव्यजीव कहते है तथा जिनमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता नहीं है, उन्हें अभव्य कहते हैं। इस प्रकार, द्रव्यत्व की अपेक्षा से छहों द्रव्य एक ही जाति के हैं, लेकिन फिर भी उनमें भेद है और वैसे ही जीवत्व की अपेक्षा से सभी जीव एक ही जाति के हैं, समान हैं, किन्तु माक्ष की योग्यता की अपेक्षा से उनमें भव्यत्व और अभव्यत्व का भेद है।

(४५३) **स्वाभाविकं च भव्यत्वं कलशप्रागभाववत्।
नाशकारणसाम्राज्याद्विनश्यन्न विरूध्यते।।७०।।**

<u>अनुवाद -</u> घट के प्रागभाव के लिए, नाश की कारण सामग्री को लेकर आवश्यकता नहीं रहने के समान ही स्वाभाविक रूप से रहे हुए भव्यत्व के नष्ट होने में भी कोई विरोध नहीं आता है।

<u>विशेषार्थ -</u> भव्यत्व, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता। यहाँ यह जिज्ञासा उपस्थित हो सकती है कि यह भव्यत्व कब तक रहता है ? क्या मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी रहता है ? इस जिज्ञासा को शांत करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि भव्यत्व स्वाभाविक है, मोक्ष प्राप्त होने के पूर्व भी यह कभी

विनष्ट नहीं होता है, अनादिकाल से यह चला आ रहा है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति के बाद जीव का भव्यत्व नहीं रहता है, क्योंकि तब उसकी आवश्यकता ही नहीं होती। जीव का जीवत्व उपादान-कारण है और भव्यत्व सहकारी-कारण। मोक्ष-प्राप्ति होते ही सहकारी-कारण का नाश हो जाता है, लेकिन आत्मत्व का नाश नहीं होता, क्योंकि यह उपादान-कारण है।

जैसे-मिट्टी से घट बनाया जाता है ,तो घट बनने से पूर्व घट का प्रागभाव (प्राक् + अभाव) रहता है, अर्थात् घट के निर्माण के पूर्व घट का अभाव रहता है। यह अभाव मिट्टी के रूप में रहता है, लेकिन घट की उत्पत्ति हो जाने पर मिट्टी मिट्टी के स्वरूप में नहीं रहती है, अर्थात् घट का प्रागभाव नष्ट हो जाता है, मिट्टीरूप स्थूल पदार्थ अब नहीं रहता है, क्योंकि अब मिट्टी की आवश्यकता नहीं रहती है। जो कार्य उससे सम्पादित होना था, वह हो चुका। इसी प्रकार, मोक्ष-प्राप्ति के बाद भव्यत्व की आवश्यकता नहीं रहती। भव्यत्व अर्थात् एबिलिटी जब एक्च्यूलिटी में जाती है, तो फिर एबिलिटी का कोई अर्थ नहीं रह जाता है इस प्रकार सिद्ध जीव नोभव्य नो-अभव्य होते हैं। सामान्य अनुभव के आधार पर भी यह सिद्ध हो जाता है, जैसे-किसी में मुनि बनने की योग्यता है और वह मुनि बन जाता है, तब यह नहीं कहा जाएगा कि उसमें मुनि बनने की योग्यता है, उसी तरह सिद्ध के जीव में भव्यत्व नहीं रहता।

(४५४) भव्योच्छेदो न चैवं स्याद् गुर्वानन्त्यान्नभोंशवत्।
प्रतिमादलवत् क्वापि फलाभावेऽपि योग्यता।।७१।।

<u>अनुवाद -</u> आकाश के प्रदेश की तरह बड़े अनंतवाले भव्य जीवों का उच्छेद नहीं होगा। कभी फल का अभाव हो, तो भी प्रतिमा बन सके-ऐसे दल की उसमें योग्यता है।

<u>विशेषार्थ -</u> संसार में जितने भी जीव हैं, उनका भव्य, अभव्य और जातिभव्य में वर्गीकरण किया जाता है। भव्य, अर्थात् जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है। अभव्य, अर्थात् जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता ही नहीं है और जातिभव्य, जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता तो है, किन्तु अनुकूल सामग्री के अभाव में वह कभी-भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। भव्य की परिभाषा ज्ञात होने पर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है

कि क्या सभी भव्य जीव मोक्ष प्राप्त कर लेंगे ? क्या संसार भव्य जीवों से शून्य हो जाएगा ? क्या संसार में केवल अभव्य और जातिभव्य ही रह जाएंगे ? इसका उत्तर यह है कि संसार का स्वरूप ही ऐसा है कि अनंत भव्यजीवों के मोक्ष में जाने पर भी संसार में अनंत भव्यजीव रहेंगे। जिस प्रकार शून्य में से शून्य घटाने पर भी शून्य ही शेष रहता है, जोड़ने पर भी शून्य ही शेष रहता है और भाग लगाने पर तथा गुणा करने पर भी शून्य ही रहता है, उसी तरह अक्षय-अनंत में से अनंत घटाने पर भी अनंत ही शेष रहता है, भागाकार करने पर भी अनंत शेष रहता है और अनंत में अनंत जोड़ने पर या गुणा करने पर भी अनंत ही रहता है, अतः भविष्य में अनंतकाल के बाद भी यदि कोई केवली भगवंत से प्रश्न करे कि अभी तक कितने भव्य जीव मोक्ष में गए ? तो कोई भी केवली भगवंत एक ही उत्तर प्रदान करेंगे कि संसार में जितने भी भव्य जीव हैं, उनमें से अनंतवें भाग ने ही सिद्धगति को प्राप्त किया है। भव्य जीव आकाश के प्रदेश के समान विशाल अनंतवाले हैं। अनंत के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट-अनंत - ऐसे भेद हैं। पुनः, इसके सक्षय-अनंत और अक्षय-अनंत- ऐसे भेद भी हैं। अक्षय अनंत भी अपेक्षाकृत छोटे-बड़े हैं। उदाहरणार्थ- प्रथम अक्षय-अनंत सिद्धगति के जीव हैं, उसमें असंख्यातगुणा या अनंतगुणा अधिक संख्या भूतकाल के समयों की संख्या है। इससे भी अनंतगुणा अधिक एक निगोद के शरीर में रहे हुए जीवों की संख्या है। इस अनंत से भी अनंतगुणा अधिक संपूर्ण जीवराशि है और इस चौथे अनंत से भी अनंतगुणा अधिक पुद्‌गलराशि है। इस पाँचवें अनंत से भी अनंतगुणा अधिक आकाशप्रदेशों की संख्या है। इस प्रकार क्रमशः एक अनंत से दूसरा अनंत बड़ा है, दूसरे से तीसरा अधिक है, अतः भव्य जीव भी आकाशप्रदेश के समान अक्षय-अनंत होने से संसार से कभी उनका उच्छेद संभव नहीं है।

कितने ही भव्य जीव को जातिभव्य अथवा दुर्भव्य के रूप में जाना जाता है। उनमें भव्यत्व होने पर भी वे कभी मोक्ष नहीं पा सकेंगे ? सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि मोक्ष की योग्यता होने पर भी वे जीव मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त करेंगे ? इसका उत्तर यह है कि इन जीवों में योग्यता होने

पर भी इनको कभी-भी मोक्षप्रापक सामग्री प्राप्त नहीं होने से ये मोक्ष नहीं पा सकेंगे ? जैसे स्वयंभूरमण समुद्र के मध्यतल में कोई पत्थर पड़ा है और इस पत्थर में मूर्ति बनने की योग्यता भी है, परंतु कभी इसे बाहर निकलने का ही योग प्राप्त नहीं होगा, तो प्रतिमा निर्मित होने की बात ही कहाँ रहेगी ? जो-जो पत्थर प्रतिमा बनने के योग्य हैं, वे सभी पत्थर सामग्री के अभाव में प्रतिमा नहीं बन पाते ,वैसे ही सभी भव्य जीवों में मोक्ष की योग्यता होने पर भी मोक्षप्रापक सामग्री के अभाव में सभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, उन्हें जातिभव्य कहते हैं। जातिभव्य जीव में कभी प्रत्येकत्व प्राप्त करने की संभावना भी नहीं रहती है, तो फिर मनुष्य-भव प्राप्त कर, रत्नत्रयी की आराधना करके, संयम ग्रहण कर, सभी कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त करने की बात ही कहा रह सकती है।

अगर जातिभव्य जीव कभी मोक्ष ही प्राप्त करने वाले नहीं हैं, तो इनको भी अभव्य की ही श्रेणी में रखना चाहिए। इनका अलग से जातिभव्य के रूप में उल्लेख करने की क्या आवश्यकता है? यह अवश्य है कि न जातिभव्य मोक्ष जाएंगे और न अभव्य मोक्ष जाएंगे, किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। जातिभव्य जीव में मोक्ष जाने की योग्यता है, भव्यत्व रहा हुआ है परंतु उसको मोक्ष के योग्य सामग्री कभी भी प्राप्त नहीं होती है जबकि अभव्य जीवों को तो मोक्ष के अनुकूल सामग्री का योग अनेक बार प्राप्त होता है परंतु उनमें मोक्ष के लिए रुचि ही जाग्रत नहीं होती है। इन्हें हम सधवा, विधवा और बांझ-इन तीन स्त्रियों के माध्यम से समझ सकते हैं। सधवा स्त्री, जिसमें सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता है और पति का योग होने पर वह सन्तान-उत्पत्ति करती भी है। विधवा स्त्री, जिसमें सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता तो है, परंतु निमित्त (पति) के अभाव में वह कभी सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकती। बांझ स्त्री के पति का योग होने पर भी उसमें सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता ही नहीं है। इसी तरह भव्य, जातिभव्य और अभव्य में अंतर समझना चाहिए।

स्वरूप और तत्त्व की दृष्टि से जातिभव्य और अभव्य जीवों को एक समान मान सकते हैं।

(४५५) नैतद्वयं वदामो यद् भव्यः सर्वोऽपि सिध्यति।
यस्तु सिध्यति सोऽवश्यं भव्य एवेति नो मतम्।।७२।।

अनुवाद - सभी भव्य जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं- यह हमारा अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो जीव सिद्धगति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं- वे अवश्य भव्य हैं- ऐसा हमारा अभिप्राय है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं कि जितने भी भव्य जीव हैं, वे सभी मोक्ष गए हैं, जाते हैं, या जाएंगे-ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार सभी भव्य जीवों में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी जीव मोक्ष अवश्य प्राप्त करेंगे, क्योंकि संसार का स्वरूप जिस प्रकार अनादि-अनंत है, उसी प्रकार कितने ही भव्य जीव भी अनंतकाल तक मोक्ष प्राप्त नहीं करेंगे, परंतु इतना निश्चित है कि जो-जो जीव मुक्त हुए हैं, जिन्होंने सिद्धगति को प्राप्त किया है, कर रहे हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे, वे अवश्य भव्य जीव ही हैं, क्योंकि अभव्य तो कभी-भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

(४५६) ननुमोक्षेऽपि जन्यत्वाद् विनाशिनी भवस्थितिः।
नैवं प्रध्वंसवत्तस्यानिधनत्वव्यवस्थितेः।।७३।।

अनुवाद - क्या मोक्ष में भी उत्पत्ति (जन्यत्व) है, इसलिए उसकी भवस्थिति विनाशी है? नहीं, इस प्रकार नहीं है। प्रध्वंस की तरह उसका अविनाशीत्व (अक्षयत्व) व्यवस्थित है।

विशेषार्थ - अमोक्षवादी का यह तर्क है कि जीव जब मोक्ष प्राप्त करता है, तब मोक्ष में उसकी उत्पत्ति हुई-यही इसका अर्थ हुआ। पहले वह मोक्ष में नहीं था, किन्तु अब वह वहाँ है। यह नियम है कि जिसका भी जन्म होता है, जिसकी भी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश निश्चित है, अर्थात् जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी निश्चित है, जैसे-घट की उत्पत्ति हुई, तो उसका विनाश भी निश्चित है, इसलिए मोक्ष में उत्पन्न हुए जीव को फिर संसार में आना होगा, अतः मोक्ष में भवस्थिति विनाशी है।

इसका उत्तर यह है कि मोक्ष में भवस्थिति विनाशी नहीं है। सूर्य से बादल हट जाएं, तो यह नहीं कहेंगे कि सूर्य नया उत्पन्न हुआ, उसका मात्र

आवरण नष्ट हुआ। मोक्ष का उत्पाद उस तरह का नहीं है, जो नष्ट हो। आत्मा के ऊपर जो कर्म का आवरण था, वह नष्ट हुआ है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो गई है। मोक्ष में जीव को देह नहीं है, आयुष्य आदि कर्म नहीं हैं, जैसे-घट को लकड़ी के प्रहार से नष्ट कर दिया, अब घड़े का प्रध्वंस हुआ, अर्थात् घट का अभाव उत्पन्न हुआ, वह सदैव रहेगा, उसमें से पुनः घट की उत्पत्ति नहीं होता है। प्रध्वंस अभावात्मक पदार्थ है, वह नित्य है। प्रध्वंसाभाव की तरह मोक्ष भी नित्य है, उसका भी विनाश नहीं होता है। एक बार सम्पूर्ण कर्मों का अभाव उत्पन्न होने पर, अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर आत्मा के साथ पुनः कर्मों का संयोग नहीं होता है, इसलिए सिद्धगति में गए हुए जीव का पुनः संसार में परिभ्रमण नहीं होता है।

(४५७) आकाशस्येव वैविक्त्यान्मुद्गरादेर्घटक्षये।
ज्ञानादेः कर्मणो नाशे नात्मनो जायतेऽधिकम्।।७४।।

<u>अनुवाद -</u> मुद्गर आदि के द्वारा घट का क्षय होने से पृथक्त्व के कारण जैसे आकाश की वृद्धि नहीं होती, उसी तरह ज्ञानादि कर्म का नाश होने से आत्मा की अधिकता नहीं होती है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> मुद्गर (नष्ट करने के साधन) द्वारा घट को चूर्ण कर दिया जाए, तो इससे आकाश-तत्त्व में कुछ वृद्धि या हानि नहीं होती है। घटाकाश के नष्ट होने से नया आकाश उत्पन्न नहीं होता है। घड़े का आवरण पृथक् हो जाने से आकाश-द्रव्य में घट के तुल्य वृद्धि नहीं होती है, आकाश तो जहाँ था, वहाँ था ही। उसने घट को अवकाश दिया था, अर्थात् रहने का स्थान दिया था। जैसे घट के नष्ट होने पर आकाश-तत्त्व (प्रदेश) की वृद्धि नहीं होती है, उसी तरह कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा-तत्त्व (प्रदेशों) की वृद्धि भी नहीं होती है। आत्मा के तो जितने प्रदेश थे, उतने ही रहते हैं और कर्मों के क्षय होने पर भी आत्मप्रदेश उतने ही रहते हैं। आत्मतत्त्व में कुछ वृद्धि नहीं होती है, बस इतना अवश्य है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप, जो अप्रकट था, वह आवरण नष्ट होने पर प्रकट हो जाता है।

**(४५८) न च कर्माणुसंबंधान्मुक्तस्यापि न मुक्तता।
योगानां बंधहेतूनामपुनर्भावसंभवात्।।७५।।**

अनुवाद - कर्म परमाणुओं के सम्बन्ध के कारण मोक्ष को प्राप्त हुए भी मुक्त नहीं हैं- ऐसा नहीं है, क्योंकि बंध के हेतुरूप योगों (मन-वचन-कायायोग) की उत्पत्ति पुनः संभव नहीं है।

विशेषार्थ - कर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणु चौदह राजलोक में ठसाठस भरे हुए हैं। सिद्धशिलालोक के अग्रभाग पर ४५ लाख योजन की है और वहाँ भी कर्मपरमाणु ठसाठस भरे हुए है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद आयुष्यकर्म का क्षय होने पर सम्पूर्ण कर्मो का नाश कर तथा मुक्त होकर विशुद्ध आत्मस्वरूप में सिद्धशिला पर अनंतकाल के लिए अविचल रूप से विराजमान होता है।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि जब कर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणु सिद्धशिला पर भी ठसाठस भरे हुए हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे सिद्धों को भी स्पर्श किए हुए हैं। जो मुक्त हो गए हैं, उन सिद्धात्माओं का भी कर्मपरमाणुओं के साथ बिल्कुल निकट का सम्बन्ध है। अगर इस प्रकार हो, तो ये कर्म आत्माओं के साथ पुनः जुड़ते हैं और कर्म का संयोग होने पर मुक्त हुई आत्मा को भी पुनः संसार में आना पड़ता है, इसलिए सिद्ध हुए जीव को भी, वे सिद्ध हुए या उन्होंने मुक्ति प्राप्त की-इस प्रकार नहीं कह सकते है, परंतु यह शंका यथार्थ नहीं है, क्योंकि सिद्धशिला के ऊपर कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु होने पर भी सिद्धात्माओं को कोई कर्मबन्ध नहीं होता है, क्योंकि सिद्धात्मा अशरीरी है। उनको मन-वचन और काया-योग नहीं होते हैं, क्योंकि रागादि भावों के कारण कर्मों का आस्रव तो योगों के द्वारा ही होता है। योगों के अभाव में कर्मों का आस्रव नहीं हो सकता है, कर्मबंध के हेतुओं का ही अभाव होता है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है, अतः कार्मणवर्गणा के परमाणु सिद्ध आत्माओं के आसपास होने पर भी उनका स्पर्श सिद्धों को नहीं होता है। जैसे मगशैलिया पत्थर पर कितनी भी बारिश हो, किंतु वह भींगता नहीं है, स्टील के बर्तन को पानी में भी रख दिया जाए, तो भी उस पर जंग नहीं लगती है, क्योंकि वह नमी को ग्रहण नहीं करता है, उसी तरह शुद्ध आत्मा भी कार्मणवर्गणा

के मध्य रहते हुए भी उन्हें ग्रहण नहीं करती है, अतः सिद्धात्माओं को पुनः कर्मबन्धन नहीं होता है, इसलिए मुक्त जीवों का संसार में पुनः परिभ्रमण संभव नहीं है। एक बार पूर्णतया कर्मों से मुक्त होने के बाद आत्मा बन्धन में नहीं आती है।

(४५६) **सुखस्य तारतम्येन प्रकर्षस्यापि संभवात्।**
अनंतसुखसंवित्तिर्मोक्षः सिध्यति निर्भयः।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> सुख की तरतमता से सर्वोत्कृष्ट सुख के संभव होने से, जिसमें अनंत सुख का ज्ञान होता है- ऐसा मोक्ष निराबाध (आपत्तिरहित) रूप से सिद्ध होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा के छः पदों में से पाँचवां पद मोक्ष भी सिद्ध होता है। इस संसार में सभी जीव सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, क्योंकि सभी सुख चाहते हैं। हम यह भी अनुभव करते हैं कि सभी जीवों का सुख एक ही श्रेणी का नहीं होता है। एक जीव भी अपने जीवन के सम्पूर्ण काल में सदा एक जैसा सुख नहीं भोगता है। इस प्रकार संसार में जो भौतिक-सुख दिखाई देते हैं, उनमें भी तरतमता है। चाहे शारीरिक-सुख हो या मानसिक-सुख, या फिर आध्यात्मिक-सुख हो, सभी में अल्प-अधिकता रही हुई है। जहाँ भी तरतमता है, वहाँ अन्तिम कोई स्थिति होना ही चाहिए, अर्थात् जहाँ भी क्रम होता है, उसका कहीं-न-कहीं अन्त होना ही चाहिए और वह अन्त अनंत में होता है। इस प्रकार तर्क से विचार करने पर भी अनंत सुख तक पहुँच सकते हैं। अनंत सुख के ऊपर कुछ नहीं हो सकता है, अगर हो, तो अनंत को अनंत नहीं कह सकते हैं। जैसे-जैसे कर्मों के दोषों का ह्रास होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मिक-गुणों का विकास भी होता जाता है और आत्मिक गुणों के विकास के साथ ही आत्मिक-आनंद में भी वृद्धि होती जाती है और एक समय ऐसा आता है कि आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाता है, साथ ही आत्मा के सम्पूर्ण गुणों का विकास हो जाता है और आत्मा अनंत सुख को प्राप्त करती है। यह अनंत सुख ही मोक्ष है। इस प्रकार अनंत सुख अर्थात् मोक्ष और मोक्ष अर्थात् अनंत सुख-ये एक दूसरे के पर्यायरूप हैं। इस प्रकार

तर्क या अनुमान के द्वारा भी चिंतन करने पर मोक्ष की सिद्धि निराबाध रूप से हो जाती है।

(४६०) वचनं नास्तिकाभानां मोक्षसत्तानिषेधकम्।
भ्रान्तानां तेन नादेयं परमार्थगवेषिणा।।७७।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए नास्तिकों जैसी भ्रान्तिवाले का मोक्ष की सत्ता को निषेध करने वाला वचन परमार्थ की गवेषणा करने वाले को स्वीकारने योग्य नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> कुछ लोग आत्मा पर तो विश्वास करते हैं, परंतु उसके बंधन व मोक्ष को नहीं स्वीकारते हैं। ऐसे व्यक्ति न तो पूर्णतया आस्तिक होते हैं और न ही पूर्णतया नास्तिक, किन्तु वे नास्तिक जैसी भ्रान्तिवाले होते हैं, नास्तिकाभास कराने वाले होते हैं ऐसे लोगों से भी सदा सावधान रहना चाहिए। चूंकि ये लोग आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकारते हैं, इसलिए इनकी अन्य बातों से, इनके तर्कों से भोले-भाले लोग भटक जाते हैं, अतः जो आत्मकल्याण के इच्छुक हैं, मोक्षाभिलाषी हैं ,परमार्थ की गवेषणा करने वाले हैं, उन्हें इनके मिथ्यात्व से युक्त वचनों का आदर नहीं करना चाहिए, उन्हें स्वीकारना नहीं चाहिए, क्योंकि अल्प भी उत्सूत्रप्ररूपणा करने पर या स्वीकारने पर जीव का संसार-परिभ्रमण बढ़ जाता है।

(४६१) न मोक्षोपाय इत्याहुरपरे नास्तिकोपमाः।
कार्यमस्ति न हेतुश्चेत्येषा तेषां कदर्थना।।७८।।

<u>अनुवाद -</u> नास्तिक की उपमा वाले (नास्तिक के समान) अन्य कितने ही लोग कहते हैं कि मोक्ष का उपाय नहीं है। कार्य है, परंतु उसका हेतु नहीं है, उनका इस प्रकार कहना कदर्थना है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा के पाँच पदों की सिद्धि के पश्चात् आत्मा का छठवां पद 'मोक्ष का उपाय है'- इस पर अनुशीलन किया गया है। संसार में जितने मस्तिष्क हैं उतने ही विचार हैं। इसलिए कहा जाता है -'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'। अलग-अलग विचारों के कारण ही अनेक दर्शनों का विकास हुआ। उन दार्शनिक-मतों में से एक मत मांडलिक के नाम से जाना जाता है। इस मत के अनुसार मोक्ष तो है, किन्तु उसे प्राप्त करने का कोई उपाय

नहीं है, उपायों को मानने की आवश्यकता नहीं है, जीव को जब मोक्ष होने का होगा, तब हो जाएगा और नहीं होने का होगा, तो करोड़ों उपाय करने पर भी नहीं होगा, सभी नियति (भाग्य) के अनुसार होता है, अतः मोक्ष भी भाग्य में होगा, तो अपने-आप मिल जाएगा, उसे कोई रोक नहीं सकता है, निरर्थक पुरुषार्थ करने से क्या लाभ ? इसलिए मोक्ष के उपायों पर चर्चा करना व्यर्थ है।

इस प्रकार की मान्यता वाले कार्य को तो मानते हैं, किन्तु कारण को नहीं स्वीकारते। कार्य हो और उसका उपाय न हो, कारण न हो, यह संभव नहीं है। चूंकि मोक्ष एक उपलब्धि है, अतः इसका मार्ग भी होना चाहिए। चाहे भौतिक-लक्ष्य को प्राप्त करना हो या आध्यात्मिक-लक्ष्य को, मात्र भाग्य के सहारे मंजिल नहीं पहुँचा जाता। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके योग्य पुरुषार्थ करना भी आवश्यक है। जैसे-किसी भी उपलब्धि को प्राप्त करने का लक्ष्य है, तो उसके लिए कठोर परिश्रमपूर्वक अध्ययन भी करना पड़ेगी है। मोक्ष है, तो उसका उपाय भी, हेतु भी होना निश्चित है। मोक्ष को मानने पर भी मोक्ष के उपाय को नहीं स्वीकारने वाला पूर्णतया नास्तिक नहीं, किन्तु नास्तिक जैसा ही है।

(४६२) अकस्मादेव भवतीत्यलीकं नियतावधेः।
कदाचित्कस्य दृष्टत्वाद् बभाषे तार्किकोऽप्यदः।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> अवधि की मर्यादा निश्चित होने से अचानक ही मोक्ष हो जाता है- इस प्रकार कहना असत्य है। ऐसा किसी का, कदाचित् देखने (होने) से तार्किक भी इस प्रकार कहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> मोक्ष के उपाय को नहीं स्वीकारने वाले का कथन है कि मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने की, त्याग-तप करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मोक्ष तो जब होना होगा, तब ही होगा। व्यक्ति की संसार में रहने की अवधि, उसके भवभ्रमण का काल पूर्व से ही निश्चित है उसके बाद वह स्वतः ही मुक्त हो जाएगा। निश्चित अवधि के पूर्व वह कितना भी प्रयत्न करे, मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और अवधि के पूर्ण होने पर एक क्षण भी संसार में रह नहीं सकता है, इसलिए मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही नहीं है। अवधि के परिपक्व

होने पर अचानक मोक्ष प्राप्त हो जाता है, किन्तु उनका यह कहना यथार्थ नहीं है। कदाचित् किसी जीव के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया हो या देखा गया हो कि उसे अचानक मोक्ष हुआ, परंतु यह भी हेतुसहित ही होता है।

विश्व में पाँच हेतु या कारण कहे गए हैं, जो किसी भी कार्य के पीछे होते हैं - १. काल २. स्वभाव ३. भवितव्यता ४. कर्म और ५. पुरुषार्थ। इन पाँचों कारणों में से कोई एक ही कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। हाँ, यह हो सकता है कि पाँचों में से एक कारण मुख्य हो और अन्य गौण। जीव के विकास में भी पाँचों कारण सहायक होते हैं, जैसे- भवितव्यता के योग से जीव को विकास का अवसर प्राप्त होता है, पुण्यकर्म के उदय से मनुष्य-भव प्राप्त होता है, काल के परिपक्व होने से व्यक्ति पुरुषार्थ के लिए प्रेरित होता है और भव्यत्व रूप स्वभाव हो, तो मोक्ष प्राप्त करता है।

(४६३) हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्याविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः।।८०।।

<u>अनुवाद -</u> अवधि का नियतत्त्व है, फिर भी हेतुभूत सामग्री का निषेध नहीं है। अपनी मति के अनुसार (मनोकल्पित) विधि नहीं है और ऐसा नियम भी नहीं है कि स्वभाव के अनुसार सभी मुक्त हों।

<u>विशेषार्थ -</u> मांडलिक के मतानुसार प्रत्येक जीव की मोक्ष की अवधि निश्चित है, इसलिए जन्म-मरण की परंपरा का अंत क्रम से अपने- आप अकस्मात् आ जाएगा, इसके लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने इस मंतव्य का खण्डन करते हुए कहा है कि मोक्ष का उपाय है और इसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है, जैसे- आम का बीज बोने पर यह कितने वर्षों पश्चात् फल देगा - यह जानने पर भी खाद, जल सिंचन आदि हेतुओं का निषेध नहीं किया जा सकता है।

मोक्ष का समय नियत होने पर भी वह वर्तमानकाल में छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं है, इसलिए आत्मशुद्धि द्वारा, रत्नत्रयी की आराधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ कर्तव्यरूप है। भव्य जीव की योग्यता है,

उसका स्वभाव है - मुक्ति प्राप्त करने का, किन्तु ऐसा भी नियम नहीं है कि जितने भी भव्य हैं, वे स्वभावानुसार मुक्त होंगे ही।

(४६४) न च सार्वत्रिको मोक्षः संसारस्यापि दर्शनात्।
न चेदानीं न तद्व्यक्तिर्व्यंजको हेतुरेव यत्।।८१।।

<u>अनुवाद -</u> संसार तो (सर्वदा) दिखाई देता है, इसलिए मोक्ष सार्वत्रिक नहीं है, वह (मोक्ष) व्यक्त नहीं है-इस प्रकार भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि व्यक्त करने वाले हेतु उपस्थित हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> अगर बिना किसी हेतु या उपाय द्वारा जीव का मोक्ष हो जाता हो, तो मोक्ष सार्वत्रिक होना चाहिए, अर्थात् सर्वक्षेत्र में सर्वकाल में हमेशा मुक्ति होती रहना चाहिए और सभी जीवों की मुक्ति हो जाना चाहिए। पश्चात्, संसार की समाप्ति, अर्थात् अंत हो जाना चाहिए, परंतु संसार तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अगर संसार का प्रवाह निरन्तर हो, तो फिर सभी काल में, सभी क्षेत्र में जीवों का मोक्ष होता रहता है, अर्थात् मोक्ष सार्वत्रिक है- यह किस प्रकार कह सकते हैं? अगर कोई इस प्रकार का तर्क करे कि संसार तो निरंतर दिखाई देता है और मोक्ष के चिह्न तो कहीं भी दिखाई नहीं देते हैं, अर्थात् मोक्ष की अभिव्यक्ति कहीं भी नहीं होती है, इसलिए मोक्ष नहीं है, किन्तु यह तर्क यथार्थ नहीं है। यदि कोई धूल में मनुष्य-पशु आदि के पैरों के चिह्नों को देखकर, गगन में पक्षी के पैरों के चिह्न और जल में मछली के पैरों के चिह्न खोजे तो वह मूर्ख है। चाहे मोक्ष की अभिव्यक्ति नहीं हो किन्तु मोक्ष के हेतु की मोक्ष के उपाय की अभिव्यक्ति तो है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्ष-मार्ग की अभिव्यक्ति तो स्पष्ट है, अतः मोक्ष भी है और उसका उपाय भी है।

(४६५) मोक्षोपायोऽस्तु किंत्वस्य निश्चयो नेति चेन्मतम्।
तन्न रत्नत्रयस्यैव तथा भावविनिश्चयात्।।८२।।

<u>अनुवाद -</u> मोक्ष का उपाय चाहे हो, परंतु उस उपाय का निश्चय नहीं है - इस प्रकार का मत हो तो वह भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि रत्नत्रयी के भाव के रूप में वह निश्चित है।

<u>विशेषार्थ -</u> अगर कोई इस प्रकार तर्क करे कि चाहे मोक्ष का उपाय भी हो किन्तु मोक्ष के अनेक उपाय है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न उपाय बताए गए हैं, कौनसा उपाय यथार्थ है और कौनसा उपाय अयथार्थ है इसका निश्चय किस प्रकार करें ? इस तर्क का उत्तर यही है कि रत्नत्रयी के रूप में मोक्ष का उपाय निश्चित है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग की प्राप्ति के उपाय के रूप में हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वातिजी ने भी प्रथम अध्याय के प्रथमसूत्र में ही रत्नत्रयी को मोक्षमार्ग के रूप में प्ररूपित किया है।

(४६६) भवकारणरागादि प्रतिपक्षमदः खलु।
तद्विपक्षस्य मोक्षस्य कारणं घटतेतराम्।।८३।।

<u>अनुवाद -</u> यह (रत्नत्रयी) संसार के कारण रूप रागादि का प्रतिपक्षी है इसलिए वह अर्थात् रत्नत्रय विपक्ष मोक्ष का कारण है यह सभी प्रकार से घटित होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> यह सर्वविदित है कि राग और द्वेष संसार का कारण हैं। जहाँ रागादि हैं, वहीं संसार है और जहाँ रागादि का सर्वथा अभाव है, जहाँ वीतरागता है, वहीं मोक्ष है, अर्थात् वीतरागी होने के बाद ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है और रत्नत्रयी की आराधना करते हुए साधक वीतरागता को प्राप्त करता है, अतः एक पक्ष में अगर संसार है, तो विपक्ष में मोक्ष है, एक पक्ष में अगर राग-द्वेष कषाय आदि हैं, तो दूसरे पक्ष में रत्नत्रयी है। साधारण तर्क से यह बात समझ में आने जैसी है। इस प्रकार मोक्ष का उपाय है और वह रत्नत्रयी की आराधना के रूप में निश्चित ही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-ये तीनों भिन्न-भिन्न मोक्ष के मार्ग नहीं हैं, बल्कि तीनों मिलकर एक उपाय हैं। अगर इन तीनों में से एक भी न हो, तो वह उपाय अपूर्ण है। हमारा जानना, देखना और आचरण-तीनों ही सम्यक् होना चाहिए।

(४६७) अथ रत्नत्रयप्राप्तेः प्राक्कर्मलघुता यथा।
परतोऽपि तथैव स्यादिति किं तदपेक्षया।।८४।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे रत्नत्रयी की प्राप्ति के पूर्व कर्म की अल्पता होती है, उसी प्रकार प्राप्ति के बाद भी (कर्म की अल्पता) हो जाएगी, इसलिए उसकी, अर्थात् रत्नत्रयी की अपेक्षा किसलिए ?

<u>विशेषार्थ -</u> मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आवश्यक हैं। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि रत्नत्रयी की प्राप्ति के लिए किसकी आवश्यकता है ? इसका उत्तर यही है कि रत्नत्रयी की प्राप्ति के लिए कर्मलघुता की आवश्यकता है, अर्थात् लघुकर्मी जीव, कर्म से हल्का हुआ जीव ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। भारी-कर्मी जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। आठों कर्मों में सर्वोत्कृष्ट स्थिति मोहनीय-कर्म की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। जब सभी कर्मों की स्थिति अन्तः-कोड़ाकोड़ी-सागरोपम, अर्थात् एक कोड़ाकोड़ी-सागरोपम से कुछ कम रह जाए ,तब जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है।

जीव को कर्म की लघुता या अल्पता के लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगसार में पूर्वसेवा के रूप में कर्मलघुता का मार्ग बताया है। पूर्वसेवा, अर्थात् जीवन में न्याय, नीति, सेवा, सदाचार, सरलता, विनम्रता, समता, पवित्रता, प्रभुभक्ति आदि होना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वसेवा से कर्म की लघुता, कर्म की लघुता से रत्नत्रयी की प्राप्ति तथ रत्नत्रयी की प्राप्ति से सिद्धगति की प्राप्ति होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव सतत न्याय, नीति आदि का सेवन करता रहे, पूर्वसेवारूप सदाचरण का सेवन करता रहे, तो उससे धीरे-धीरे कर्म क्षय होते रहेंगे और एक अवस्था ऐसी आएगी कि आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाएगी, इसलिए साधक पूर्वसेवारूप आचरण करता रहे। रत्नत्रयी की आराधना की क्या आवश्यकता है ? पूर्वपक्ष का कहना है कि मोक्षमार्ग के रूप में पूर्वसेवा को ही स्वीकार कर लेना चाहिए। रत्नत्रयी की अपेक्षा रखने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रश्न का समाधान आगामी श्लोक में किया गया है।

**(४६८) नैवं यत्पूर्वसेवैव मृद्वी नो साधनक्रिया।
सम्यक्त्वादिक्रिया तस्माद् दृढैव शिवसाधनम्।।८५।।**

<u>अनुवाद -</u> पूर्वसेवा आदि मृदु (कमजोर) होने से मोक्ष साधन की क्रिया नहीं है, इसलिए सम्यक्त्व आदि दृढ़ क्रिया ही मोक्ष साधना में समर्थ है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्वसेवा से भी कर्म की अल्पता प्राप्त होती है, तो मोक्ष के लिए पूर्वसेवारूप क्रियाओं की आवश्यकता है या रत्नत्रयी की आराधना आवश्यक है ? वस्तुतः, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर आवश्यक हैं। कोई व्यक्ति अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए किसी वाहन में बैठा। उस वाहन ने उसे अपनी निर्धारित सीमा तक पहुँचा दिया। पश्चात्, उस व्यक्ति को अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए अन्य वाहन का सहारा लेना पड़ा। पूर्व वाहन की अपनी निश्चित सीमा थी, उससे आगे उसका अधिकार नहीं था, अतः उससे मार्ग की लघुता तो हुई, किन्तु गन्तव्य तक नहीं पहुँचा जा सका। गन्तव्य तक पहुँचने के लिए उसे दूसरे वाहन में बैठना पड़ा। तात्पर्य यह है कि उसे अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए दोनों ही वाहन उपयोगी हुए। इसी प्रकार, पूर्वसेवा द्वारा साधक की इतनी कर्मलघुता अवश्य हो सकती है कि जो उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करा सके किन्तु सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने की सामर्थ्य पूर्वसेवा में नहीं है। पूर्वसेवा मृदु क्रिया है। मोक्षमार्ग में प्रवेश करने वाले मार्गानुसारी बाल जीवों के लिए उनकी रुचि और शक्ति के अनुसार कोमल क्रिया आवश्यक है क्योंकि अशुभ क्रियाओं की रुचि का त्याग तभी हो सकेगा जब वह अपनी भूमिका के अनुसार शुभ क्रियाओं में रुचिपूर्वक भाग लेगा। पूर्वसेवा रूप क्रियाओं का पर से अधिक सम्बन्ध है इसके द्वारा स्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, स्व को (आत्मा को) नहीं जाना जा सकता है, अतः पूर्वसेवा में ही उलझ नहीं रहना चाहिए परंतु क्रमशः आगे बढ़ते हुए रत्नत्रयी की आराधना का मार्ग अपनाना चाहिए, क्योंकि यह क्रिया दृढ़ है और मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। मोक्ष को प्रदान करने की घाती कर्मों को क्षय करने की सामर्थ्य पूर्वसेवा में नहीं रत्नत्रयी में है। बलवान् शत्रुओं को नष्ट करने के लिए बलवान् योद्धा चाहिए। रत्नत्रयीरूप आराधना कर्मरूपी शत्रुओं के लिए

बलवान् योद्धा के समान है, इसलिए केवल पूर्वसेवा ही नहीं, रत्नत्रयी की आराधना भी आवश्यक है।

(४६६) गुणाः प्रादुर्भवन्त्युच्चैरथवा कर्मलाघवात्।
तथाभव्यता तेषां कुतोऽपेक्षानिवारणम्।।८६।।

<u>अनुवाद -</u> अथवा उच्च गुण कर्म की अल्पता से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तथाभव्यता ही उस प्रकार की है - इस तरह से कहा जाए, तो भी हेतु की अपेक्षा का निवारण कहाँ से होगा?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में पूर्वपक्ष के इस प्रश्न का कि मोक्षप्राप्ति में रत्नत्रयी की अपेक्षा किसलिए ? समाधान किया गया है। रत्नत्रयी की उपेक्षा करने की, उसे नहीं स्वीकारने की आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि यह तो मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक है। भव्य जीवों के अपनी भव्यता के परिपक्व होने पर नदीघोलन्याय के अनुसार यथाप्रवृत्तिकरण, अर्थात् कर्म की लघुता होती है। कर्म की लघुता प्राप्त होने पर रत्नत्रयीरूप उच्च गुणों का प्रादुर्भाव भी अवश्य होगा, क्योंकि रत्नत्रयीरूप गुण प्रकट नहीं हो तो मार्ग में आगे बढ़कर मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते है। ये गुण प्रकट हों, तो ही सकल कर्मों का क्षय करके मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार उच्च गुणों के प्रादुर्भाव के लिए तथाभव्यतारूपी हेतु तो मध्य में आया ही है, इसलिए इस हेतु का निवारण कहाँ से हो सकता है ? कोई भी कार्य बिना हेतु के नहीं होता है। वस्तुतः, मार्गानुसारिता से मोक्षप्राप्ति तक की यात्रा में रत्नत्रयी की आराधना मुख्य साधन है, इसकी उपेक्षा करके मोक्षमार्ग में गति नहीं कर सकते हैं।

(४७०) तथाभव्यतयाक्षेपाद् गुणा न च न हेतवः।
अन्योन्यसहकारित्वाद् दंडचक्रभ्रमादिवत्।।८७।।

<u>अनुवाद -</u> गुण तो तथाभव्यता से प्रकट होते हैं। वे (गुण) मोक्ष के हेतु नहीं हैं - इस प्रकार नहीं कह सकते हैं जैसे (घट के निर्माण में) दंड, चक्र, भ्रमण आदि अन्योन्य सहकारी (हेतु) हैं, उसी प्रकार मोक्ष के लिए अन्य गुण सहकारी कारण है।

विशेषार्थ - तथाभव्यता के परिपक्व होने से आत्मा में कितने ही उत्तम गुण प्रकट होते है। कोई यह प्रश्न करे कि रत्नत्रयी से ही मोक्ष प्राप्त होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मुख्य हेतु है, तो फिर तथाभव्यता के परिपक्व होने से प्रकट होने वाले अन्य गुण, कर्म की अल्पता, पूर्वसेवा आदि के विषय में चर्चा करने की आवश्यकता ही क्या है ?

ग्रंथकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि मोक्षप्राप्ति में रत्नत्रयी को प्रमुख हेतु मानने का यह अर्थ नहीं है कि तथाभव्यता, पूर्वसेवा आदि का कोई मूल्य नहीं है, या ये गुण मोक्ष के हेतु नहीं हैं। तथाभव्यता के परिपक्व होने पर प्रकट होने वाले सभी उत्तम गुण सभी मोक्ष के हेतु हैं। वस्तुतः, ये सभी गुण एक दूसरे के सहकार से मोक्षप्राप्ति का कार्य करते हैं, जैसे-घट के निर्माण में केवल माटी की ही आवश्यकता है-ऐसा नहीं है। माटी उपादान-कारण है, किन्तु कुम्हार का चाक, दंड आदि निमित्त कारण के परस्पर सहयोग से ही घट का निर्माण होता है।

(४७१) ज्ञानदर्शनचारित्राण्युपायास्तद्भवक्षये।
एतन्निषेधकं वाक्यं त्याज्यं मिथ्यात्ववृद्धिकृत्।।८८।।

अनुवाद - इसलिए संसार का नाश करने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र- ये उपाय हैं। इस मार्ग का निषेध करने वाला वाक्य मिथ्यात्व की वृद्धि करने वाला होने से त्यागने के योग्य है।

विशेषार्थ - आत्मा के छठवें पद 'मोक्ष का उपाय है', इसके सिद्ध हो जाने पर यह निश्चित हो जाता है कि मोक्ष है तथा मोक्ष का उपाय भी है। मोक्ष का उपाय रत्नत्रयी की आराधना है, इसलिए उमास्वातिजी ने कहा है-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। रत्नत्रयी की आराधना करने से राग-द्वेष कम होते हैं, कर्मों का क्षय होता है, शनैः-शनैः राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है और वीतरागता प्राप्त होती है। आयुष्यकर्म के पूर्ण होने पर अन्य अघातीकर्म भी नष्ट हो जाते हैं और जीव सकल कर्मों से मुक्त होकर सिद्धगति को प्राप्त होता है।

रत्नत्रयी पर यथार्थ श्रद्धा हो जाने पर जीव को मोक्ष का निषेध करने वाले वाक्य, जैसे-मोक्ष नहीं है, मोक्ष हो, तो वह प्रकट दिखाई क्यों नहीं देता, मोक्ष का उपाय नहीं है, संसार का सुख ही वास्तविक सुख है आदि पर विश्वास नहीं करना चाहिए। ये वाक्य मिथ्यात्व की वृद्धि करते हैं, अतः मुमुक्षु को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि जब तक मिथ्यादर्शन के प्रति राग और श्रद्धा का अंत नहीं होगा, तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी नहीं होगी।

(४७२) मिथ्यात्वस्य पदान्येतान्युत्सृज्योत्तमधीधनाः।
भावयेत्प्रातिलोम्येन सम्यक्त्वस्य पदानि षट्।।८६।।

<u>अनुवाद -</u> उत्तम बुद्धिरूप धनवंत को मिथ्यात्व के इन पदों का त्याग करके इनसे विपरीत सम्यक्त्व के छः पदों पर चिंतन करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से जिसे श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त हुई है, उसे तत्त्वों को समझकर मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिए क्योंकि मिथ्यात्व का जब अंत होता है तब ही सम्यक्त्व प्रगट होता है। जब तक मिथ्या मान्यता नहीं जाती है तब तक मिथ्यात्व भी नहीं जाता है। मिथ्या मान्यता अनेक प्रकार की होती है, इसलिए मिथ्यात्व भी अनेक प्रकार का होता है। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में मिथ्यात्व के दस भेद बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं - १. अधर्म को धर्म समझना २. धर्म को अधर्म समझना ३. अमार्ग को मार्ग समझना ४. मार्ग को अमार्ग समझना ५. अजीव को जीव समझना ६. जीव को अजीव समझना ७. साधु को असाधु मानना ८. असाधु को साधु मानना ९. अमुक्त को मुक्त मानना और १०. मुक्त को अमुक्त मानना।

आस्रव और बन्ध के कारणों में सबसे प्रधान और मुख्य कारण मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व सबसे प्रबल शत्रु है, सबसे भयंकर विष है, सबसे अधिक घातक रोग है, सर्वाधिक गाढ़ अन्धकार है। मिथ्यात्वयुक्त जीव कभी-भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। शास्त्रकारों ने मिथ्यात्व के छः पदों का त्याग करने का निर्देश देते हुए मोक्षप्राप्ति की दृष्टि से सम्यक्त्व के छः पद स्वीकारने योग्य बताएं हैं। ये सम्यक्त्व के षट्स्थान कहलाते हैं। ये छः पद इस प्रकार हैं - १. आत्मा है २. आत्मा नित्य है ३. आत्मा कर्म की

कर्त्ता है ४. आत्मा कर्म की भोक्ता है ५. मोक्ष है और ६. मोक्ष का उपाय है।

सम्यग्दर्शन में श्रद्धा का ही सबसे अधिक महत्त्व है। जब तक श्रद्धा सम्यक् नहीं होगी, तब तक ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् नहीं होगा। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वातिजी ने कहा है -तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, इसलिए मोक्षमार्ग के साधकों को मिथ्यात्व से विपरीत सम्यक्त्व के छः पदों पर श्रद्धा, आदर, प्रीति और रुचि रखना चाहिए। इन छः पदों के प्रति रखने से मिथ्यात्वरूपी गहन अंधकार दूर होता है और सम्यक्त्व का प्रकाश फैलता है।

———000———

प्रबंध-चतुर्थ

चौदहवां अधिकार - असद् ग्रहत्याग अधिकार

(४७४) असद्ग्रहाग्निज्वलितं यदन्तः क्व तत्र तत्त्वव्यवसायवल्लिाः।
प्रशान्तिपुष्पाणि हितोपदेश-फलानि चान्यत्र गवेषयन्तु।।२।।

अनुवाद - जिसका हृदय असद्ग्रहरूपी अग्नि से जला हुआ है, उसमें तत्त्वज्ञान के व्यापाररूपी बेल (लता), शान्तिरूपी पुष्प और हितोपदेशरूपी फल कहाँ से हों ? इसलिए उनकी खोज अन्यत्र करना चाहिए।

विशेषार्थ - मरुस्थल की धरती, जहाँ असह्य गर्मी हो, वहाँ वपन की हुई लताएं विकास को प्राप्त नहीं कर सकती हैं। गरमी के कारण वे मुरझा जाती हैं। लताओं के विकास के लिए कोमल और नमी वाली भूमि की आवश्यकता होती है, जल-सिंचन की आवश्यकता होती है। सभी तरह से अनुकूल वातावरण में विकसित लताओं पर पुष्प आते हैं और फिर मधुर फल आते हैं, परंतु भूमि में ही यदि कमी है, मूल में ही भूल है, तो फिर पुष्प और फल की आशा कहाँ से रख सकते हैं ? इसी प्रकार, जिसका अन्तःकरण असद्ग्रहरूपी अग्नि से जल गया हो, अर्थात् कदाग्रह के कारण जिसका हृदय अभिमान से ग्रसित तथा कठोर हो, वहाँ तत्त्व के निश्चयरूपी लताओं का विकास कहाँ से हो ? कदाग्रही व्यक्ति सत्य और तत्त्व को समझना या सुनना भी नहीं चाहता है और यदि वह तत्त्वों को समझने के लिए ही तैयार न हो, तो प्रशमरूपी पुष्प तथा हितोपदेशरूपी फल की आशा कहाँ से रख सकते हैं ? कदाग्रह के कारण उसका मन संक्लेशित रहता है तथा उसके मुख पर प्रशमरस का अभाव रहता है। साथ ही, जो स्वयं असत्य की राह पर चल रहा हो, जो स्वयं अहित के मार्ग पर चल रहा हो, वह किसी अन्य को हित का उपदेश किस प्रकार दे सकता है ? प्रशमरस, हितोपदेश आदि की चाह वाले को जहाँ असद्-आग्रह नहीं है, वहीं इन गुणों की खोज करना चाहिए।

(४७५) अधीत्य किंचिच्च निशम्य किंचिद-सद्ग्रहात्पंडितमानिनो ये।
मुखं सुखं चुंबितमस्तु वाचो। लीलारहस्यं तु न तैर्जगाहे।।३।।

<u>अनुवाद -</u> किंचित् पढ़कर और किंचित् सुनकर जो असद् का आग्रह रखकर स्वयं को पण्डित मानते हैं, वे अपने मुख से चाहे वाणी का उच्चारण (चुंबन) सुख से करें, परंतु वे उसके गंभीर रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> कुछ लोग, जिन्हें सामान्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक जानकारी हो, वे फूले नहीं समाते हैं। उसमें भी जिसे ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, वास्तुविद्या, शिल्पस्थापत्यादि भौतिक-शास्त्रों का कुछ ज्ञान हो, वह शीघ्र ही जगत् में पंडित के रूप में प्रसिद्धि पाना चाहता है। वास्तविक आध्यात्मिक-ज्ञान के अभाव में किंचित् पढ़कर, कुछ सुनकर वह 'अध जल गगरी छलकत जाय' कहावत को ही सार्थक करता है। अल्प सम्मान मिलने पर वह अपने-आपको महापंडित मान लेता है तथा मुझे सब आता है, मैं ही सच्चा हूँ, मैंने सब शास्त्र पढ़ रखे हैं, मुझसे कोई जीत नहीं सकता है- इस प्रकार वह लोगों के समक्ष बताने का प्रयत्न करता है। ज्ञान के साथ अहंकार का योग हो जाता है, अतः साधक को निरन्तर जाग्रत रहना चाहिए। ज्ञान तो सागर के समान अनंत है, तत्त्वज्ञान में गूढ़, गंभीर रहस्य छुपे हुए हैं। व्यक्ति स्वयं तो बिन्दु के समान ही जानता है, इस प्रकार लघुता का भाव होना चाहिए, परंतु जिनके पास मात्र पल्लवग्राही पांडित्य है, अर्थात् कुछ-कुछ जानकारी है, किंचित् शास्त्रों के श्लोक मुखाग्र करके और वाचाल होकर जहाँ-तहाँ अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए ग्रंथकार ने कवि-परंपरा का अनुसरण करके श्रृंगाररस के रूपक का प्रयोग किया है। जैसे किसी को मुखचुंबन का किंचित् अनुभव हो, तो वह इतना मदहोश हो जाता है, प्रशंसा से फूल जाता है और मानने लगता है कि स्वयं को कामभोग का सम्पूर्ण अनुभव है, स्वयं कामशास्त्र का ज्ञाता है, उसकी जैसी हास्यास्पद दशा होती है, वैसी दशा शास्त्रों के गंभीर रहस्य को पाए बिना वाद-विवाद करने वाले कदाग्रही पंडितों की होती है।

**(४७६) असद्ग्रहोत्सर्पदतुच्छदर्पै-र्बोधांशतांधीकृतमुग्धलोकैः।
विडम्बिता हन्त जडैर्वितंडा-पांडित्यकंडूलतया त्रिलोकी।।४।।**

<u>अनुवाद -</u> असद् ग्रह के कारण जिनका गर्व उछल रहा है तथा ज्ञान के अंशमात्र से जिन्होंने मुग्ध लोगों को मोहित (अंधा) कर दिया है-ऐसे जड़ लोगों द्वारा वितंडावादी पांडित्यरूपी खुजली से तीनों लोक की विडम्बना कराई गई है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में सामान्य जनता प्रायः भोली-भाली होती है। लोग प्रायः अल्प चमत्कारों से, वक्तृत्त्व-कला से प्रभावित हो जाते हैं। सामान्य लोगों की समझ-शक्ति, अनुभव मर्यादित होते हैं। वे स्वयं कुछ चिंतन नहीं करते हैं। उनके समक्ष चमत्कारिक-ढंग से जो कुछ बताया जाता है, उस पर वे मुग्ध हो जाते हैं। जगत् में कदाग्रही का यदि कुछ प्रचार-प्रसार होता है, उसकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है, तो वह इन्हीं भोले, मुग्ध, अज्ञानी लोगों के कारण ही होती है। ऐसे अज्ञानी लोग अंधे बनकर कदाग्रही के पीछे दौड़ लगाते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं, क्योंकि कदाग्रही का ज्ञान चाहे अल्प हो, असत्य का पक्षपाती हो, परंतु वह अपने तथ्य को प्रभावी ढंग से पांडित्य के दंभ के साथ प्रस्तुत करता है। उसकी सम्मोहक वाणी से प्रभावित होकर लोग उसके भक्त हो जाते हैं। परंतु ऐसा ज्ञान खुजली के समान मात्र तात्कालिक सुख प्रदान करने वाला होता है, जैसे-किसी को खुजली का रोग हो जाए, तो उसे खुजलाने में आनंद का अनुभव होता है, किन्तु बाद में तो यह अत्यंत कष्ट प्रदान करने वाला होता है। सामान्य बुद्धि वाले लोग यह समझ नहीं पाते हैं और कदाग्रही उन भोले लोगों को ठगकर अपनी इच्छापूर्ति उनसे करवाता रहता है। इस प्रकार भ्रमित लोग कदाग्रही के संसर्ग के अंधकार में गोते लगाते रहते हैं। कदाग्रही हमेशा पत्थर की नाव के समान होते हैं, जो स्वयं भी डुबाते हैं और अन्य को भी डूबाने का उपक्रम करते हैं।

(४७७) विधोर्विवेकस्य न यत्र दृष्टि-स्तमोघनं तत्त्वरविर्विलीनः।
अशुक्लपक्षस्थितिरेषनूनम-सद्ग्रहः कोऽपि कुहू विलासः।।५।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें तत्त्वरूपी सूर्य अस्त हो गया है तथा विवेकरूपी चन्द्रमा के दर्शन नहीं होते हैं तथा गाढ़ अंधकार छा गया है-ऐसी कृष्णपक्ष की रात्रि की स्थिति के समान यह असद्ग्रह है।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशमान् है। ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर चारों ओर की स्थिति स्पष्ट हो जाती है, सन्मार्ग-कुमार्ग आदि का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है किन्तु जहाँ कदाग्रह होता है, वहाँ तत्त्व का अस्वीकार होता है। जहाँ यथार्थतत्त्व को स्वीकार नहीं किया जाता है, वहाँ तो अंधकार ही होता है। सूर्य के अस्त होने पर भी शुक्लपक्ष में चंद्र के तेज से थोड़ा प्रकाश रहता है ,किन्तु जहाँ कदाग्रह होता है, वहाँ तो सार-असाररूप अथवा कृत्य-अकृत्यरूप विवेकरूपी बन्ध नहीं रहता है। विवेक का तत्त्व शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान है। सूर्यास्त हो गया हो और चन्द्र भी नहीं हो, तो अंधकार फैल जाता है। अंधकार में यथार्थ दिखाई नहीं देता है और सही दिशा में गति नहीं होती है। उसी प्रकार, जब असद्ग्रह बलवान् हो जाता है, तब अभिमान के कारण जैसे कृष्ण-पक्ष की अमावस्या की रात्रि का साम्राज्य फैल गया हो-ऐसा लगने लगता है। सम्यक्त्व की चांदनी के अभाव में असद्ग्रह के घोर अंधकार में व्यक्ति भटक जाता है। कई बार असद्ग्रह की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि किसी के द्वारा सत्य को समझाने पर भी व्यक्ति सत्य को स्वीकार नहीं करता है और अनंतकाल तक भवभ्रमण करता रहता है। अतः, कदाग्रह से हमेशा दूर रहना चाहिए।

(४७८) कुतर्कदात्रेण लुनाति तत्त्व-वल्लीं रसात्सिंचाति दोषवृक्षम्।
क्षिपत्यधः स्वादुफलं शमाख्य-मसद्ग्रहच्छन्नमतिर्मनुष्यः।।६।।

अनुवाद - असद्ग्रह से आच्छादित (ग्रसित) बुद्धि वाला मनुष्य कुतर्करूपी दरांते द्वारा तत्त्वरूपी लता को काट देता है, दोषरूपी वृक्ष को (गर्व के) रस से सींचता है और शम नाम के स्वादिष्ट फल को नीचे फेंक देता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने, असद्ग्रह से ग्रसित मनुष्य अपने मानवभवरूपी वृक्ष की किस तरह दुर्दशा करता है-यह बताया है। अध्यात्म के क्षेत्र में तत्त्वरूपी लताओं का सद्गुणों द्वारा सिंचन किया जाए, तो वे शमरूपी फल प्रदान करती हैं और मानव-जीवनरूपी वृक्ष स्वयं विकसित होकर अनेकों के विकास का कारण बन जाता है, किन्तु जिसकी बुद्धि कदाग्रह के कारण दूषित है, वह विपरीत क्रिया करता है। वह मूल का सिंचन अभिमान, आदि दोषों के द्वारा करता हैं और विकसित होती हुई बेलों (लताओं) को कुतर्करूपी दरांते से काट देता है, शमरूपी स्वादिष्ट फल को नीचे फेंक देता है। जो मैं मानता हूँ, वही सत्य है-इस प्रकार की दुराग्रहबुद्धि रखकर तर्क-वितर्क करता है। सत्य को स्वीकार नहीं करता है और उत्तेजित हो जाता है। उसके हृदय में समभाव भी नहीं रहता है। अगर अभिमान को छोड़कर कदाग्रह से वह मुक्त हो जाए, तब ही उसका आध्यात्मिक-विकास संभव होता है और तत्त्वज्ञानरूपी बेलें भी तभी फलती हैं तथा उसके शमरूपी स्वादिष्ट, आरोग्यवर्धक फलों की प्राप्ति हो सकती है। असद्ग्रह आध्यात्मिक-जीवन के लिए विष का काम करता है।

(४७६) असद्ग्रहग्रावमये हि चित्ते न क्वाऽपि सद्भावरसप्रवेशः।
इहांकुरश्चेन्न विशुद्धबोधः सिद्धान्तवाचां बत कोऽपराधः।।७।।

अनुवाद - असद्ग्रही पाषाणमय (कठोर) चित्त में कभी भी सदभावरूपी रस का ही प्रवेश नहीं होता है, अतः उसमें विशुद्ध बोधरूपी अंकुर तो कभी नहीं निकल सकते हैं। इसमें सिद्धान्त की वाणी (शास्त्रवचन) का क्या अपराध है ?

विशेषार्थ - जहाँ कदाग्रह हो, वहाँ जड़ता आ जाती है। जहाँ जड़ता आती है, वहाँ लक्ष्य की संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है, कोमलता समाप्त हो जाती है तथा सद्भावनाओं का ह्रास हो जाता है। कदाग्रही व्यक्ति का हृदय इतना कठोर हो जाता है कि वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वीतराग की वाणी का, गुरु आदि का अपमान कर देता है। ऐसे हृदय को पत्थर की उपमा दे सकते हैं। जैसे जमालि ने 'कार्य पूर्ण होने के पश्चात् ही कार्य हुआ, इस प्रकार कह सकते हैं,' ऐसा कदाग्रह रखकर परमात्मा के 'कडेमाणे कडे', अर्थात् 'कार्य के प्रारम्भ हो जाने पर ही कार्य हो गया,

ऐसा व्यवहार से कह सकते हैं'- इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। स्वयं वीतराग परमात्मा की वाणी का भी उस पाषाण-हृदय पर असर नहीं हुआ और जीवन के अन्तिम समय तक वह कदाग्रह से दूषित ही रहा तथा अनंत भव-भ्रमण बढ़ा लिया। पत्थर कठोर होता है, उसमें जल का प्रवेश नहीं हो पाता है, जबकि मिट्टी मृदु होती है, उसमें जल प्रवेश कर जाता है, अतः जहाँ मिट्टी और जल का संयोग होता है वहीं अंकुर निकलते हैं। कदाग्रही व्यक्ति का हृदय भी पाषाण के समान कठोर होने के कारण उसके हृदय में वीतराग-वाणी (शास्त्रवचन) के प्रति अहोभाव उत्पन्न नहीं होता है, सद्भावनाओं का रस उसके हृदय में प्रवेश नहीं करता है, तो फिर विशुद्ध बोधरूपी अंकुर कहाँ से उत्पन्न हो ? हो सकता है कि कभी उसे बुद्धि से जिनवाणी समझ में आ भी जाए, किन्तु कदाग्रह के कारण वह हृदय में उतरती नहीं है। अगर ऐसा हो, तो उसमें दोष किसका ? इसके लिए जिनवाणी, का आगमवाणी का सिद्धान्त का दोष नहीं है। इसके लिए तो दोषित है-कदाग्रही का जड़ चित्त। वर्षा होने पर सारी वनस्पतियाँ खिल जाती है किन्तु जवासा नामक वनस्पति मुरझा जाती है तो इसमें वर्षा का क्या दोष ?

(४८०) व्रतानि चीर्णानि तपोऽपि तप्तं कृता प्रयत्नेन च पिंडशुद्धिः।
अभूत्फलं यत्तु न निह्नवानाम⁻सद्ग्रहस्यैव हि सोऽपराधः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> व्रत किए, तपस्याएँ की और प्रयत्नपूर्वक पिंडविशुद्धि की तो भी निह्नवों को उसका फल प्राप्त नहीं होता है। इसमें वास्तविक अपराध तो असद्ग्रह का ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> निह्नव यह जैन मत का एक पारिभाषिक शब्द है। जिनेश्वर देव के सिद्धान्त से विपरीत प्ररूपणा करने वाले स्वलिंगी निह्नव कहलाते है। ये परमात्मा के शासन में रहते हुए उनके सिद्धान्त का अपलाप करते है। इनका आचार पक्ष निर्मल होता है किन्तु विचारों में मतभेद होता है। आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, स्थानांगसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति इत्यादि जैन आगम ग्रन्थों में सात निह्नवों का वर्णन किया गया है जिन्होंने परमात्मा के कुछ सिद्धान्तों के विपरीत प्ररूपणा की। उन निह्नवों के नाम तथा उनकी मान्यता निम्न प्रकार से थी -

(१) जमालि :- जमालि भगवान का जमाई तथा शिष्य था। उसने भगवान के करेमाणे कड़े (क्रियमाण कृत्त) के सिद्धान्त के विपरीत प्ररूपणा की। उसकी मान्यता थी कि क्रियाकाल में कार्य नहीं होता है किन्तु क्रिया के अन्त में कार्य होता है। जब कार्य पूर्ण हो जाए तब ही हम कह सकते है कि कार्य हुआ। जबकि भगवान का सिद्धान्त है कि किये जाते हुए कार्य को कृत कह सकते है।

(२) तिष्यगुप्त :- आत्मप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करते समय जीवप्रदेश सम्बन्धी वक्तव्य को लेकर मिथ्यात्व के उदय से उसकी बुद्धि में विपरीतता आई कि चरमप्रदेश से ही जीव परिपूर्ण होता है, अतः वह चरमप्रवेश ही जीव है, शेष प्रदेश नहीं।

(३) आषाढ़ाचार्य के शिष्य :- भगवान महावीर के २१४ वर्ष बाद अव्यक्त दृष्टि के प्रतिपादक हुए। उनकी मान्यता थी कि कौन जानता है कि यह साधुवेषधारी साधु है या देव है ? इसका कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है। अतः संशय का विषय होने से कोई भी वन्दन योग्य नहीं है इस प्रकार मानकर उन्होंने परस्पर साधुओं में वंदनव्यवहार बंद करा दिया था। बाद में बालभद्र राजा के द्वारा युक्तिपूर्वक समझाने पर प्रतिबुद्ध हुए।

(४) अश्वमित्राचार्य :- नैपुणिक नामक वस्तु का अध्ययन करते हुए आगम के कथन के रहस्य को नहीं समझने के कारण उन्हें शंका उत्पन्न हुई कि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति के अनन्तर ही सम्पूर्ण रूप से नष्ट होने वाली है। इनको खण्डरक्ष नामक श्रावक ने युक्तिपूर्वक प्रतिबुद्ध किया।

(५) गंगाचार्य :- भगवान का सिद्धान्त है कि एक समय में एक ही क्रिया का अनुभव होता है, दो क्रियाओं का एक साथ एक ही समय अनुभव नहीं होता है। जब आचार्य गंग ने एक बार उल्लुका नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे पर जाते हुए सूर्य की गर्मी से खोपड़ी को तपते हुए तथा नदी के शीतल जल से शीतलता दोनों का अनुभव किया तब समय की सूक्ष्मता को नहीं पहचानते हुए उसने "दो क्रियाओं का एक साथ अनुभव होता है इस द्विक्रियावाद के सिद्धान्त" की प्ररूपणा की।

(६) रोहगुप्त (षडुलूक) :- इसने भगवान् के द्विराशि सिद्धान्त जीव तथा अजीव के विपरीत प्ररूपणा करते हुए जीव, अजीव और नोजीव इस प्रकार त्रैराशिक मत की स्थापना की।

(७) गोष्ठामाहिल :- आगमों में जीव प्रदेश के साथ कर्मो का बद्ध, स्पृष्ट निकाचित और सूचीकलाय के समान बंध का प्रतिपादन किया गया है किन्तु गोष्ठामाहिल ने 'सर्पकन्चुकीवत् बंध होता है' इस प्रकार मिथ्या प्ररूपणा की।

निह्नव अपने कदाग्रह के अलावा अन्य प्रकार से तप, जप, आचार की विशुद्धि आदि में उत्कृष्ट थे किन्तु कदाग्रह के कारण इनका तप-जप आदि भी कर्मनिर्जरा में सहायक नहीं हुआ तथा दीर्घकाल तक भवभ्रमण बढ़ गया। इसलिए चित्त की निर्मलता, सरलता और सत्य को स्वीकार करने तैयार होना अत्यंत आवश्यक है। मन में द्वेष, कपट आदि हो तो सत्य का बोध नहीं होता है और कदाग्रह के त्याग किए बिना कितना ही तप, जप, स्वाध्याय आदि करे वे मुक्ति में सहायक नहीं बन सकते है। इसमें दोष व्रत आदि का नहीं परंतु कदाग्रह का ही है।

(४८१) स्थालं स्वबुद्धि सुगुरोश्च दातु रूपस्थिता काचन मोदकाली।
असद्ग्रहृ कोऽपि गले ग्रहीता तथापि भोक्तुं न ददाति दुष्टः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> स्वयं की बुद्धि रूपी थाल है। उसमें (थाल में) सुगुरूपी दातार के द्वारा कितने ही मोदक प्राप्त हुए है किन्तु गले में लगा हुआ कोई दुष्ट असद्ग्रह भोजन नहीं करने देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने एक सुन्दर रूपक द्वारा बताया कि कदाग्रह के कारण ज्ञान हृदय में उतरता नहीं है। बुद्धि को थाली की उपमा दी है। जैसे थाली में उत्तम भोजन है। पेट में भूख भी है, खाने की इच्छा भी है किन्तु गले में केन्सर आदि की गांठ हो जाए या सामने भोजन होने पर भी कोई गले को पकड़ ले तो वह भोजन नीचे नहीं उतरता है और पेट की भूख को शांत नहीं कर सकता है। उसी प्रकार बुद्धि रूपी थाली में सद्गुरु उदारतापूर्वक सम्यग्ज्ञान रूपी लड्डू को परोस रहे हैं किन्तु कदाग्रह के कारण लड्डू नीचे नहीं उतरते है। ज्ञान ग्रहण हो सकता है ऐसी तीव्र बुद्धि है, ज्ञान प्रदान करने वाले सुयोग्य गुरु है। वे अत्यंत उदार है

और निरन्तर सदुपदेश देते है किन्तु वह उपदेश कदाग्रह के कारण हृदय में नहीं उतरता है। मिथ्याभिमान के कारण जो कदाग्रह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है वह सद्गुरु के उपदेश का लाभ नहीं उठा सकता है।

(४८२) गुरुप्रसादी क्रियमाणमर्थं ग्रहृणाति नासद् ग्रहवांस्ततः किम्।
द्राक्षा हि साक्षादुपनीयमानाः क्रमलेकः कंटकभुङ् न भुङ्क्ते।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> असद्ग्रही व्यक्ति गुरु द्वारा किए हुए अर्थ को प्रसादी रूप में ग्रहण नहीं करे तो आश्चर्य क्या ? काँटे को खाने वाला ऊँट दृष्टि समक्ष रखी हुई द्राक्ष नहीं खाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> देने वाला पात्र योग्य हो उदार हो फिर भी लेने वाले पात्र में अगर योग्यता नहीं है तो वस्तु शुद्ध रूप में ठहर नहीं सकती है। गुरु योग्य हो, उनके अन्तःकरण में शिष्य के प्रति वात्सल्य हो तथा शास्त्र के गूढ रहस्य को, गंभीर ज्ञान को प्रदान करने वाले हो तो भी शिष्य यदि कदाग्रही हो तो वह शास्त्र के वास्तविक अर्थ को ग्रहण नहीं करता है। विपरीत अर्थ को ग्रहण करता है। कितने ही कदाग्रहियों की प्रवृत्ति इतनी दुष्ट होती है कि उनकी उत्तम वस्तु के प्रति रूचि ही नहीं होती है। तुच्छ वस्तुओं में उनकी प्रीति रहती है। जैसे कंटक वनस्पति का भक्षण करने में रत ऊँट के समक्ष द्राक्ष भी रखी जाए तो वह उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता है। इसमें द्राक्षा का क्या दोष ? ऊँट की प्रकृति ही ऐसी है। उसी प्रकार दुराग्रही शिष्य को शास्त्र का बोध नहीं होता है तो इसमें वात्सल्ययुक्त गुरु की कृपा का क्या दोष ?

(४८३) इसद्ग्रहात्पामरसंगतिं ये कुर्वन्ति तेषां न रतिर्बुधेषु।
विष्टासु पुष्टाः किल वायसा नो मिष्टान्ननिष्टाः प्रसभं भवन्ति।।११।।

<u>अनुवाद -</u> असद्ग्रह के कारण जो पामर व्यक्तियों की संगति करते हैं उनको विद्वानों के प्रति प्रेम नहीं होता है। विष्टा खाकर पुष्ट हुआ कोआं मिष्ठान्न में बिल्कुल आसक्त नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जल की गति स्वभावतः निम्न की ओर अनायास होती है, ऊर्ध्वगति नहीं। ऊर्ध्वगति के लिये तो प्रयास वांछनीय है। पानी की जो गति बाह्य कोई भी प्रयत्न के बिना होती है तो वह अधोगति ही होती है

अर्ध्वगति नहीं। ऊर्ध्वगति के लिए तो प्रयास करना पड़ता है उसी प्रकार असद्ग्रह से ग्रसित व्यक्ति पामर व्यक्तियों की संगति करता है वह पतन के मार्ग पर चलता है उसे विद्वानों की संगति अच्छी नहीं लगता है। संगति का असर मनुष्य पर बहुत पड़ता है। "जैसा संग वैसा रंग" एक बार अधोगामी निम्न व्यक्तियों से मैत्री स्थापित हो गई तो उनसे मुक्त होना, सम्बन्ध विच्छेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। उनसे मुक्त होने की इच्छा भी नहीं होती है। उन्हें ज्ञानियों की बात अच्छी नहीं लगती है। कदाग्रही व्यक्तियों की प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें ज्ञानियों की निंदा करने में, उन पर आरोप लगाने में तथा असद् वचनों में रस आता है। ऐसे कदाग्रही व्यक्ति कौवे के समान होते है। कौवे यदि मिष्ठान्न और विष्टा दोनों पड़े हुए हो तो विष्टा खाने के लिए ही दौड़ते है। विष्टा खाकर पुष्ट बने हुए कौवों की प्रकृति ही ऐसी होती है।

(४८४) नियोजयत्येव मतिं न युक्तौ युक्तिं मतौ यः प्रसभं नियुङ्क्ते।
असद्ग्रहादेव न कस्य हास्योऽजले घटारोपणमादधानः।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> युक्ति के विषय में अपनी बुद्धि को नहीं जोड़ता है परंतु अपनी बुद्धि के अनुसार युक्ति को बलात्कार जोड़ता है वह असद्ग्रही मृगंजल में घड़ा डालने के समान किसके लिए हास्यास्पद नहीं होगा ?

<u>विशेषार्थ -</u> जब मनुष्य कदाग्रह से ग्रसित हो जाता है तो उसकी बुद्धि विपरीत चलती है। सामान्यतया धर्मजिज्ञासु, आत्मार्थी, सरल व्यक्ति शास्त्र की पंक्तियों का अर्थ करते समय अपनी बुद्धि को कसता है। शास्त्र वचनों के अर्थ को उनके रहस्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी बुद्धि को शास्त्र-वचन के वास्तविक अर्थ को प्राप्त करने में लगा देता है। इस प्रकार वह शास्त्रों में जैसा अर्थ और उसका आशय होता है, वह उल्लासपूर्वक उसी प्रकार ग्रहण करने के लिए तत्पर रहता है। जिस अपेक्षा से जो बात कही गई है। उसे वह उसी अपेक्षा से ग्रहण करता है, किन्तु जिसका मन कदाग्रह से ग्रसित हो गया है, जो अभिमान के ऊपर सवार है, जिसकी मति विपरीत हो गई है, वह स्वयं के द्वारा किए हुए अर्थ को, अपने काल्पनिक अभिप्राय को, सिद्ध करने के लिए शास्त्र में से तोड़ मरोड़कर अर्थ निकालने के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है। वह

परमात्मा की वाणी की अपेक्षा अपने अनुभव, अपनी बुद्धि पर अधिक विश्वास करता है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते है इसलिए वह उन शब्दों का अर्थ अपनी अच्छानुसार करने का प्रयत्न करता है, परंतु उसका यह बौद्धिक व्यायाम तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है और हास्यास्पद बन जाता है। जैसे कोई व्यक्ति मृगजल देखकर उसमें से जल निकालने के लिए अपना घड़ा डालता है तो वह हँसी का पात्र बनता है उसी प्रकार कदाग्रही व्यक्तियों के द्वारा अपनी बुद्धि के अनुसार किया हुआ अर्थ हास्यास्पद बन जाता है। असत्य पकड़ में आने पर कई व्यक्ति तो उसे छोड़ देते है किन्तु कई व्यक्ति मान भंग न हो इस कारण असत्य को पकड़ कर रखते है और जगत् में हँसी का पात्र बनते है।

(४८५) असद्ग्रहो यस्य गतो न नाशं न दीयमानं श्रुतमस्य शस्यम्।
न नाम वैकल्यकलंकितस्य प्रौढ़ा प्रदातुं घटते नृपश्रीः।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> जिसका असद्ग्रह नष्ट नहीं हुआ हो उसको श्रुतज्ञान देना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि विकलता से (शारीरिक कमी) कलंकित व्यक्ति को राज्यलक्ष्मी प्रदान करना योग्य नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> कहा गया है कि सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही सुरक्षित रहता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी योग्य पात्र को प्रदान करने पर ही वह शुद्ध रूप में सुरक्षित रह सकता है और उसका दुरुपयोग नहीं होता है। कदाग्रही व्यक्ति को श्रुतज्ञान नहीं दे सकते है। दिया भी जाये तो वह प्रशंसनीय नहीं है। श्रुतज्ञान महिमावन्त है प्रशस्य है, अमूल्य है अतः इसको अनधिकारी व्यक्ति को प्रदान नहीं कर सकते हैं। जो भूमि कठोर है उसमें बीज का वपन करने से बीज का ही नाश होता है। उसी तरह जिसकी हृदय रूपी भूमि सरल नहीं है, दुराग्रह से दृढ़ है उसे श्रुतज्ञान प्रदान करने से लाभ नहीं उल्टा नुकसान ही है। अयोग्य व्यक्ति के पास श्रुतज्ञान हो तो वह शास्त्रवचनों के अपनी इच्छानुसार अर्थ निकालकर लोगों को उन्मार्ग पर ले जाता है। कदाग्रही व्यक्ति श्रुतज्ञान का कब विपरीत उपयोग कर बैठे कुछ कह नहीं सकते। प्रस्तुत श्लोक में राजकुमार का उदाहरण देकर समझाया कि यदि राजकुमार अपंग हो, मंदबुद्धि वाला हो या पागल हो तो उसे राज्य लक्ष्मी का अधिकारी नहीं बनाया जाता है। राज्यलक्ष्मी तो उसी

को सौंप सकते हैं जो उसे संभाल सके। राजा विकल हो, अपंग हो, शारीरिक लक्षणों से रहित हो तो प्रजा में उसका बहुमान नहीं रहता है, सभा के मध्य शोभता नहीं है, उसके वचनों को कोई मान नहीं देता है। राज्य व्यवस्था ठीक तरह से संचालित नहीं होती है। दुश्मन राजा चाहे जब आक्रमण कर सकते हैं अतः राज्य का अधिकारी यदि योग्य राजकुमार ही बनाया जाता है तो ही राज्य सुरक्षित रहता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी योग्यपात्र को ही प्रदान करना चाहिये। पूर्वाग्रह से पीड़ित कदाग्रह युक्त, अभिमानी, अयोग्य व्यक्ति को श्रुतज्ञान प्रदान करने से अनर्थकारी परिणाम होते है।

(४८६) आमे घटे वारि धृतं यथा सद् विनाशयेत्स्वं च घटं च सद्यः।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव श्रुतात्प्रदत्ता दुभयोर्विनाश।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे कच्चे घट में भरा हुआ जल स्वयं का तथा घट का तुरंत नाश कर देता है उसी प्रकार जिसकी बुद्धि असद्ग्रह से युक्त है उसको श्रुतज्ञान देने से दोनों का नाश होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने जो सत्य बात को स्वीकारने का इच्छुक नहीं है ऐसे कदाग्रही व्यक्ति को श्रुतज्ञान प्रदान करने पर क्या दुष्परिणाम होते हैं, यह बताया है। कदाग्रह रहित व्यक्ति हो और उसे श्रुतज्ञान प्रदान किया जाये तो उसकी प्रज्ञा विकसित होती है। वह श्रुतज्ञान उसके लिए उपकारी होता है। उसके आत्मकल्याण में सहायक होता है परंतु कदाग्रही व्यक्ति को अगर श्रुतज्ञान दिया जाये तो वह श्रुतज्ञान का उपयोग अपने कदाग्रह के पोषण के लिए ही करता है। उसको दिया हुआ ज्ञान स्वयं भी विकृत रूप में परिणत हो जाता है और उस कदाग्रही का भी नुकसान होता है। वह अन्य को भी अधोपतन की ओर ले जाता है और अनर्थ परंपरा खड़ी हो जाती है। जैसे कोई घट पक्का हो और उसमें निर्मल जल भरा जाय तो जल उसमें ठहरता है। वह घट को भी ठंडक प्रदान करता है तथा अन्य लोगों की तृष्णा को भी शान्त करता है परंतु मिट्टी के कच्चे घट में जल भरा जाय तो कुछ समय पश्चात् ही घट का भी नाश हो जाता है और जल भी ढुल जाता है, फैल जाता है तथा किसी काम में नहीं आता है। उसी प्रकार कदाग्रही व्यक्ति को दिया गया श्रुतज्ञान निरर्थक हो जाता है

और उसकी विपरीत मति का पोषण होने पर, ज्ञान के बल पर, अभिमान उत्पन्न होने पर उसका भवभ्रमण बढ़ जाता है। उसकी आत्मा का अहित ही होता है।

(४८७) असद्ग्रहग्रस्तमतेः प्रदत्ते हितोपदेशं खलु यो विमूढः।
शुनीशरीरे स महोपकारी कस्तूरिकालेपनमादधाति।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> जिसकी बुद्धि असद्ग्रह से ग्रस्त है ऐसे व्यक्ति को जो कोई मूढ़ पुरुष हितोपदेश प्रदान करता है तो वह (उपदेश) महाउपकारी होने पर भी कुत्तिया के शरीर पर कस्तूरी का लेप करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> असद्ग्रह से ग्रसित व्यक्ति को उपदेश देना, भैंस के आगे बीन बजाने तथा पत्थर के ऊपर पानी ढोलने के समान व्यर्थ है। हितबुद्धि से कहे हुए वचनों की भी निरर्थक होने की संभावना रहती है जहाँ यह पता हो कि अपना परिश्रम व्यर्थ जाने वाला है तो वहाँ परिश्रम करना मूर्खता है। जैसे सुधरी ने बारिस में भीगते हुए बंदर को उपदेश दिया कि तुम शक्तिशाली हो, हाथ पैर वाले मनुष्य के समान हो तो घर का निर्माण क्यों नहीं कर लेते। जब दो चार बार सुधरी ने उपकार की दृष्टि से उपदेश दिया तो बन्दर क्रोधित हो गया और उसने सुधरी के बने बनाए घोसले को ही नष्ट कर दिया। इस प्रकार सभी के प्रति उपकार की दृष्टि रखने वाले महात्मा भी कदाग्रही व्यक्ति को समझाने के लिए, उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए उपदेश देते है तो वह व्यर्थ होता है। प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्त दिया गया कि शीतोपचार के लिए या औषधोपचार के लिए या केवल दुर्गंध का निवारण करने के लिए चंदन, कस्तूरी आदि का लेप किया जाता है किन्तु यह लेप योग्य स्थान पर हो तो ही उसकी उपयोगिता है। अयोग्य पात्र पर लेप किया जाय तो वह मेहनत व्यर्थ जाती है। कुत्तिया का स्वभाव धूल में लौटने का, गंदगी में घूमने का है। ऐसी कुत्तिया पर मूल्यवान् कस्तूरी का लेप किया जाय तो उससे कुत्तिया को कोई लाभ होने वाला नहीं है वह तो अपनी दृष्टि के समक्ष ही धूल में लौटने वाली है। इस प्रकार मूल्यवान् कस्तूरी भी नष्ट हो जाती है और कुतिया तो ऐसी ही दुर्गंध युक्त बनी रहती है। अतः कुतिया को कस्तूरी-चन्दन का लेप करना व्यर्थ है, उसी प्रकार कदाग्रही को सदुपदेश देने का कोई अर्थ नहीं है। उसे चाहे कितना

भी अच्छा मधुर उपदेश दिया जाय वह निरर्थक ही जाने वाला है। अतः कदाग्रही को उपदेश नहीं देने में ही सार है।

(४८८) कष्टेन लब्धं विशदागमार्थं ददाति योऽसद्ग्रहदूषिताय।
स खिद्यते यत्नशतोपनीतं बीजं वपन्नूषरभूमिदेशे।।१६।।

अनुवाद - जो मनुष्य कष्ट से प्राप्त हुए आगम के विशद अर्थ को असद्ग्रह से दूषित (व्यक्ति) को प्रदान करता है तो वह सैंकड़ों प्रयत्न से प्राप्त किए हुए बीज को क्षारवाली (ऊसरभूमि) भूमि में वपन करने के समान खेद को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ - परिश्रम किए बिना फल की प्राप्ति नहीं होती है। आगम शास्त्रों के रहस्य को उसके विशद अर्थ को प्राप्त करने का कार्य बौद्धिक श्रम से युक्त होता है। एकाग्रता पूर्वक अध्ययन करने के बाद ही ऋजुहृदय वाले व्यक्ति को शास्त्रों का रहस्य प्राप्त होता है। अर्थ समझ में आने के बाद उसके जीवन में अज्ञान का अंधकार समाप्त हो जाता है, चित्त को अद्भुत प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह श्रुतज्ञान का एक लक्षण है। अगर किसी कठिन विषय का सत्य अर्थ प्राप्त हो गया तो स्वाभाविक है वह अर्थ ज्ञान अन्य को उपकार दृष्टि से प्रदान करने की इच्छा होती है और उससे अनेक योग्य जीवों को लाभ होता है परंतु कोई व्यक्ति विपरीत मति वाला हो, अपनी मान्यता के प्रति कदाग्रह रखने वाला हो, ऐसे व्यक्ति को अर्थ समझाने से परिणाम शुभ नहीं होते है। कभी-कभी उसके दुष्परिणाम को देखकर खेद उत्पन्न होता है कि कहाँ इस जड़बुद्धि को अर्थज्ञान देने का प्रयत्न किया ? प्रस्तुत श्लोक में दृष्टांत देकर समझाया गया कि जैसे किसी किसान ने अच्छे से अच्छा मूल्यवान् बीज अत्यंत मेहनत से प्राप्त किया हो और परिश्रम करके उसने भूमि में वपन किया हो किन्तु बाद में उसे पता चले कि यह भूमि खार युक्त है, ऊसर भूमि है, इसमें कुछ फसल प्राप्त होने वाली नहीं है तो उसे अपने परिश्रम के लिए खेद उत्पन्न होता है। ऐसा ही कटु अनुभव सद्गुरु को कदाग्रही को श्रुतज्ञान प्रदान करने पर होता है।

(४८६) वृणोति शास्त्राणि गुरोस्तदाज्ञां करोति नासद्ग्रहवान् कदाचित्।
विवेचकत्वं मनुते त्वसार-ग्राही भुवि स्वस्य च चालनीवत्।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> असद्ग्रही व्यक्ति कदाचित् गुरु के पास शास्त्रों का अध्ययन करता है, परंतु उनकी आज्ञा में नहीं रहता है और वह स्वयं को विवेचक मानता है, लेकिन वस्तुतः वह पृथ्वी पर स्वयं के लिए तो चलनी की तरह असार को ही ग्रहण करने वाला होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> असद्ग्रह से ग्रसित व्यक्ति को गुरुमुख से शास्त्र-श्रवण की इच्छा ही नहीं होती है। कदाचित् इच्छा हो भी जाए, तो भी वह गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता है, गुरु का बहुमान नहीं करता है। स्वयं गुरु से अधिक समझदार है, स्वयं विवेचक है, ज्ञानी है-इस प्रकार मिथ्याभिमान में वह रत रहता है। प्रस्तुत श्लोक में ऐसे व्यक्ति को चलनी की उपमा दी गई है, क्योंकि सारे अनुकूल अवसर मिलने पर भी, जैसे-सद्गुरु का योग, शास्त्रश्रवण का सुअवसर, गुरु का वात्सल्य आदि प्राप्त होने पर भी वह कोई भी सारतत्त्व वस्तुतत्त्व ग्रहण नहीं कर पाता है। वह अपने-आपको ही बड़ा पंडित, विवेचनकर्त्ता मानता है। जैसे चलनी उत्तम वस्तु को निकालकर स्वयं के पास छिलके, कंकर, कचरा आदि असार वस्तुएं रखती है और यह अभिमान करती है कि मैंने कितना अच्छा प्राप्त किया, उसी प्रकार कदाग्रही व्यक्ति गुरु के समीप रहकर शास्त्रश्रवण करते हुए भी विपरीत-बोध ग्रहण करता है। वह आत्मकल्याण में सहायक उत्तम वस्तु का त्याग करके असार वस्तु को ही ग्रहण करता है।

(४९०) दंभाय चातुर्यमघाय शास्त्रं प्रतारणाय प्रतिभापटुत्वम्।
गर्वाय धीरत्वमहो गुणना-मसद्ग्रहस्थे विपरीतसृष्टिः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> आश्चर्य है, असद्ग्रही के गुणों की कैसी विपरीत सृष्टि है। उसकी चतुरता दंभ के लिए है, उसका शास्त्र-अध्ययन पाप के लिए है, बुद्धि की पटुता ठगने के लिए और धैर्यत्व गर्व के पोषण के लिए है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बताया है कि असद्ग्रही व्यक्ति के गुण भी दोषरूप बन जाते हैं, अर्थात् दोषों का पोषण करते हैं। घड़ी में यदि बड़ा काँटा है और छोटा कांटा नहीं है, तो उसका कोई मूल्य नहीं है,

उसी प्रकार जीवन में चतुराई है, किन्तु सरलता नहीं है, बुद्धि है, किन्तु निर्दोषता नहीं है, समझ है, किन्तु सद्भाव नहीं है, तो ऐसी चतुराई, बुद्धि और समझ का कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य में कुछ सद्गुण ऐसे होते हैं, जिनका वह सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। मोहनीयकर्म के क्षयोपशम के बिना ही ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम के कारण अगर बुद्धि का बहुत विकास हो गया हो, तो वह उसका दुरुपयोग करेगा। वह अपने दुर्गुणों को युक्तिपूर्वक ढँक देगा और अन्य के दुर्गुणों को प्रकट करेगा, क्योंकि निर्दोषता के अभाव में उसका आशय दुष्ट होता है। उसकी तीव्र बुद्धि और चतुराई के कारण उसकी दंभवृत्ति और बढ़ जाती है। श्रेष्ठ व सज्जन नहीं होने पर भी श्रेष्ठ रूप में प्रसिद्ध होने की कला उसे हाँसिल हो जाती है। शास्त्रों के अभ्यास से सारतत्त्व क्या है ? असारतत्त्व क्या है? पुण्य क्या है ? पापकर्म कौनसे हैं ? हेय (त्यागने योग्य) क्या है ? उपादेय (ग्रहण करने योग्य) क्या है ? आदि का विवेक जाग्रत हो जाता है, परंतु कदाग्रही व्यक्ति शास्त्राभ्यास द्वारा अपने पाप के बचाव के लिए कुतर्क करता है। तीव्र बुद्धि के कारण वह कुतर्कों को भी इतनी कुशलतापूर्वक प्रस्तुत करता है कि एक बार तो दूसरे सरल व्यक्ति के मन में भी यह बात बैठा देता है कि वह जो कह रहा है या कर रहा है, वही ठीक है - शास्त्रोक्त है। कदाग्रही व्यक्ति में अगर प्रतिभा हो, निपुणता हो, तो वह उसके द्वारा अन्य को ठगकर अनुचित लाभ उठाता है, अन्य को मोहित कर अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लेता है। कुशल बुद्धि और प्रतिभा के कारण वाणी पर भी उसका प्रभुत्व होता है। अपनी मुखर प्रकृति के कारण वह अन्य को फँसा देता है। अगर उसमें धैर्यत्व का गुण है, तो वह भी गर्व में परिणमित हो जाता है। अपनी स्वस्थता, लोकप्रियता, बुद्धि की तीव्रता के कारण वह अभिमान से फूल जाता है। इस प्रकार कदाग्रही व्यक्ति का लक्ष्य, स्वयं का मत ही सत्य है, स्वयं का कहा हुआ ही यथार्थ है, योग्य है-यह सिद्ध करने का होता है, अतः स्वयं में नैसर्गिक रूप से प्राप्त हुए गुणों का वह विपरीत उपयोग करता है, इसलिए कदाग्रही व्यक्ति के वचन में तुरंत विश्वास नहीं करना चाहिए।

(४६१) असदूग्रहस्थेन समं समन्तात्-सौहार्दभृद् दुःखमवैति तादृग्।
उपैति यादृक् कदली कुवृक्ष-स्फुटत्त्रुटत् कंटककोटिकीर्णा।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> खराब वृक्ष के फूटने और टूटने पर अनेक कंटकों के चुभ जाने से केल जिस प्रकार दुःख प्राप्त करती है, वैसे ही असदूग्रह के साथ मैत्री करने वाला दुःख प्राप्त करता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> कदाग्रही व्यक्ति स्वयं को तो नुकसान पहुँचाता ही है, किन्तु उसके सम्पर्क में रहने वाले की भी दुर्दशा कर देता है, इसलिए प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बताया है कि कदाग्रही व्यक्ति के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए। कदाग्रही व्यक्ति समझने का कभी प्रयास नहीं करता है। कदाग्रही व्यक्ति के साथ मित्रता रखने से उसके तिरस्कार के साथ-साथ स्वयं का भी तिरस्कार होता है। अपने आग्रही स्वभाव के कारण वह अन्य की सीधी-सरल बातों को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है। भौतिक क्षेत्र में भी आग्रही व्यक्ति के साथ मित्रता रखने से क्लेश की संभावना रहती है और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी विपरीत बुद्धि के कारण असत्य के आग्रह से अपनी आत्मा का अहित होता है। ऐसे व्यक्ति से मैत्री रखने से स्वयं की आत्मा पर भी गलत संस्कार पड़ते हैं और कभी-कभी ऐसी स्थिति उपस्थित हो जाती है कि उससे मैत्री रखने वाला व्यक्ति चाहते हुए भी उससे मैत्री-सम्बन्ध का विच्छेदन नहीं कर सकता है, अथवा वह स्वयं उसके जाल से मैत्री रखने वाले को बाहर निकलने नहीं देता है। बैर या बबूल जैसे काँटे कदलीवृक्ष के आरपार हो जाते हैं, उसके पत्तों को विदीर्ण कर देते हैं, कितने ही काँटे उसके तने या फलों में भी चुभ जाते हैं, इस कारण उसे निरन्तर पीड़ा होती है। वहाँ काँटे निकालने वाला भी कोई नहीं होता है, इसलिए उसे कष्ट सहन करना ही पड़ता है। कदाग्रही व्यक्ति की संगत भी काँटे वाले वृक्ष की संगति के समान ही है, इसलिए कदाग्रही व्यक्ति से विवेकपूर्वक दूर रहने में ही लाभ है, क्योंकि चतुर दुराग्रही व्यक्ति भोले-भाले लोगों को अपने जाल से निकलने नहीं देता है।

(४६२) विधा विवेको विनयो विशुद्धिः सिद्धान्तवाल्लभ्यमुदारता च।
असद्ग्रहाद् यान्ति विनाशमेते गुणास्तृणानीव कणाद् दवाग्नेः।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार दावानल के कण से घास नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार असद्ग्रह से विद्या, विवेक, विनय, विशुद्धि, सिद्धान्त के प्रति प्रेम और उदारता-ये गुण नष्ट हो जाते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जब व्यक्ति सत्य को समझने से, उसे स्वीकार करने से स्पष्ट इंकार कर देता है और अपनी गलत मान्यता का आग्रहपूर्वक पोषण करता है, तब उसमें रहे हुए कितने ही सद्गुण धीरे-धीरे बिदाई लेने लगते हैं, साथ ही जो सद्गुण पूर्व से ही उसमें नहीं है, तो कदाग्रही होने के बाद तो उनकी संभावना ही नहीं रहती हैं, तो कदाग्रही व्यक्ति मतांध हो जाता है। दृष्टिराग होने से उसे अपनी मान्यता के विपरीत कोई भी शास्त्र पढ़ने की रुचि नहीं होती है। उसे सिद्धान्त के प्रति भी प्रेम नहीं होता है। जो सिद्धान्त उसकी मान्यता में बाधक बनता है, उसके प्रति उसका द्वेषभाव उत्पन्न हो जाता है। वह सत्य सिद्धान्त को भी अपने कुतर्कों द्वारा मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अगर गुरु उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं, तो वह उनकी अवज्ञा, अविनय करता है। अपनी मान्यता का दुराग्रह रखने के कारण उसमें से विनय भी चला जाता है। हठाग्रह के कारण कृत्याकृत्य, सार-असार आदि का विवेक भी कम हो जाता है। चूंकि अब उसका एक ही लक्ष्य रहता है कि किसी भी तरह से उसका मत सुरक्षित रहे, खंडित न हो, अतः अपने मत को सुरक्षित रखने में उसके हृदय की विशुद्धि भी चली जाती है। उसमें नम्रता, लघुता निरभिमानता आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। अन्य की मान्यता भी किसी अपेक्षा से सत्य हो सकती है, अतः उसका भी आदर करना चाहिए-इस प्रकार की उसकी उदारता भी समाप्त हो जाती है। वह अपने से विपरीत मत को सहन नहीं कर सकता है। सत्य बात को सुनने की, स्वीकारने की, उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। असहिष्णुता के कारण वह अपने मत से विपरीत सुनने पर उत्तेजित हो जाता है। इस प्रकार असद्ग्रह रखने से एक-के-बाद-एक करके अनेक सद्गुण नष्ट हा जाते हैं। जैसे कहीं दावानल व्याप्त हो और उसमें से अग्निकण चारों ओर उड़ रहे हों, तथा यदि अग्नि कोई कण उड़कर खेत

में रखे हुए घास के समूह (गठरी) में गिर जाए, तो यह एक ही कण सारे घास को नष्ट करने की शक्ति रखता है, उसी प्रकार असद्ग्रह नामक एक ही दुर्गुण दूसरे अनेक सद्गुणों की होली जलाकर राख कर देने की, उन्हें नष्ट कर देने की, शक्ति रखता है।

(४६३) स्वार्थः प्रियो नो गुणावांस्तु कश्चिन् मूढेषु मैत्री न तु तत्त्ववित्सु।
असद्ग्रहापादितविभ्रमाणां स्थितिः किलासावधमाधमानाम्।।२१।।

<u>अनुवाद</u> - असद्ग्रह से भ्रमित अधमाधम व्यक्तियों की स्थिति ऐसी होती है कि उनको कोई गुणवान् व्यक्ति प्रिय नहीं लगता है और वे तत्त्वज्ञानी के साथ मैत्री नहीं रखते हैं, बल्कि मूर्खों के साथ मैत्री रखते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - कदाग्रही व्यक्ति अपने अभिप्राय के लिए आग्रह रखता है। हठाग्रही व्यक्ति का स्वभाव इतना विचित्र हो जाता है कि फिर उसे उसकी मान्यता का समर्थन करने वाले व्यक्तियों की मैत्री ही अच्छी लगती है। जो व्यक्ति जैसा है, उसे वैसे ही लोग पसंद आते हैं। चूंकि उसमें अपने स्वार्थ को सिद्ध करने की प्रवृत्ति जागती है और गुणवान् व्यक्ति उसके स्वार्थ में उसे बाधक नजर आते हैं, इसलिए वह गुणवानों से द्वेष रखता है। जहाँ उसके स्वार्थ का पोषण होता है, जहां उसकी हाँ में हाँ मिलाई जाती है, ऐसे मूर्ख व्यक्तियों की संगति उसे अच्छी लगती है। कहा गया है- "अंधों में काणा राजा"। ऐसे लोगों के मध्य ही उसे सम्मान मिलता है। तत्त्वज्ञ विद्वानों के साथ बैठना उसे अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वहाँ उसके मत का पोषण नहीं होता है, अतः विद्वानों से वह मित्रता भी नहीं रखता है। धीरे-धीरे अधम व्यक्तियों के साथ उसकी दोस्ती बढ़ती जाती है और उसकी दोस्ती का स्तर गिरता जाता है। उसका आध्यात्मिक-विकास अवरुद्ध हो जाता है। वह पतन के गर्त में गिर जाता है।

(४६४) इदं विदंस्तत्त्वमुदारबुद्धि-रसद्ग्रहं यस्तृणवज्जहाति।
जहाति नैनं कुलजेव योषिद्-गुणानुरक्ता दयितं यशः श्री।।२२।।

<u>अनुवाद</u> - इस प्रकार तत्त्व को जानने वाले उदारबुद्धि, जो तृण की तरह असद्ग्रह का त्याग करते हैं, गुणानुरागी यशलक्ष्मी, कुलवान स्त्री की तरह उनका त्याग नहीं करती है।

विशेषार्थ - एक बार कदाग्रह का स्वरूप समझ में आ गया हो और आध्यात्मिक-क्षेत्र में से होने वाली हानि उसके ध्यान में हो, तो उस व्यक्ति को कदाग्रह का त्याग कर देना चाहिए। विशेष रूप से तत्त्व को जानने वाले, स्याद्वाद के ज्ञाता, उदारचेता, दूसरे के मंतव्य को अपेक्षाभेद से सद्भावपूर्वक स्वीकार करने वाले मनीषी हमेशा कदाग्रह से दूर रहते हैं। कभी अपने मंतव्य में कुछ अयथार्थता या कमी नजर आती है, तो वे अपनी प्रतिष्ठा की उपेक्षा करके तुरंत उसे स्वीकार कर लेते हैं। वे सत्य के पक्षधर होते हैं। अपनी प्रतिष्ठा की उनको चिंता नहीं रहती है। ऐसे निर्मल, निर्दोष हृदय वाले, उच्च ध्येय की अभिलाषा वाले व्यक्तियों की इस प्रकार प्रतिष्ठा घटती नहीं है, बल्कि बढ़ती ही है। चुम्बक की ओर जैसे लोहा आकर्षित होता है, उसी प्रकार यशलक्ष्मी उसकी ओर आकर्षित होती है। जैसे कुलवान् पतिव्रता स्त्री कभी भी अपने पति का त्याग नहीं करती है, उसी प्रकार यशलक्ष्मी भी ऐसे अनाग्रही, उदारचेता व्यक्ति का कभी भी त्याग नहीं करती है, अर्थात् ऐसे उदारदिल, सहिष्णु, प्रामाणिक, तत्त्वज्ञ महात्माओं की कभी भी अपकीर्ति नहीं होती है।

ग्रंथकर्त्ता उपाध्याय यशोविजयजी ने इस प्रबंध के अन्तिम श्लोक में अपना नाम भी गुम्फित कर लिया है।

----oo----

प्रबंध पाँचवां

पंद्रहवाँ अधिकार - योग अधिकार

(४६५) असद्ग्रहव्ययाद्वान्त-मिथ्यात्वविषविप्रुषः।
सम्यक्त्वशालिनोऽध्यात्मशुद्धेर्योगः प्रसिध्यति।।१।।

अनुवाद - असद्ग्रह के नाश से मिथ्यात्वरूपी विष-बिंदुओं का जिसने वमन किया है, ऐसे सम्यक्त्व से शोभित (व्यक्ति) को अध्यात्म की शुद्धि से योग सिद्ध होता है।

विशेषार्थ - असद्ग्रह का त्याग और मिथ्यात्व का वमन-ये दो सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए आवश्यक पूर्वभूमिकाएं हैं। आध्यात्मिक-विकास में आगे बढ़ने के लिए तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्राथमिक योग्यता सम्यक्त्व की प्राप्ति है। जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो, तब तक योग-सिद्धि की प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। जब तक मिथ्यात्व का अंत नहीं हो, तब तक सम्यक्त्व का प्रवेश नहीं होता है। प्रस्तुत श्लोक में मिथ्यात्व को विषबिंदु की उपमा दी गई है। विष, अर्थात् मृत्यु का पैगाम। उदर में विषबिंदु अनजाने भी चला गया हो, तो यह जठर और आंत में आगे बढ़कर स्वयं ही बाहर निकलने देना चाहिए। वमन आदि के द्वारा विष के बाहर निकल जाने पर जीव की बेचैनी समाप्त हो जाती है और उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। मिथ्यात्वरूपी विष भी भयंकर है। संसार में परिभ्रमण का प्रमुख कारण मिथ्यात्व है। जब तक जीव में सम्यक् समझ नहीं है, तब तक उसका सम्यक विकास कैसे हो सकता है। मिथ्यात्वसहित जीव कितनी भी क्रियाएँ कर ले, कितना भी उत्कृष्ट संयम का पालन कर ले, किंतु वह जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकता है, मोक्ष-मार्ग में आगे कदम नहीं बढ़ा सकता है। चूंकि जब तक मिथ्यात्व है, तब तक पौद्गलिक-सुख के प्रति आसक्ति दूर नहीं होती है और मोक्ष के प्रति रुचि जाग्रत नहीं होती है, इसलिए मिथ्यात्वयुक्त जीव को प्रशमसुख का दिव्य अनुभव नहीं होता है, अतः जीव

को मिथ्यात्वरूपी विष से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। मिथ्यात्व के नष्ट होते ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और परमशान्ति का अनुभव होता है। मिथ्यात्व, अर्थात् विपरीत मान्यता। विपरीत मान्यताओं के त्याग के लिए कदाग्रह का त्याग होना भी आवश्यक है। कदाग्रह के कारण गलत मान्यता ऐसी दृढ़ हो जाती है कि उसे सरलतापूर्वक छोड़ा नहीं जा सकता है। प्रयास करके इस ग्रंथि को भेदने के बाद ही अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है। उसके पश्चात् ही योग की साधना सफल होती है।

'योग' शब्द का प्रयोग केवल जैनदर्शन में ही नहीं, बल्कि सभी भारतीय-दर्शनों में हुआ है। इस अधिकार में ग्रंथकार ने जैनदर्शन से सहमत सभी भारतीय-दर्शनों के समन्वयरूप योग की चर्चा की है।

(४६६) कर्मज्ञानविभेदेन स द्विधा तत्र चाऽदिमः।
आवश्यकादिविहितक्रियारूपः प्रकीर्तितः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> कर्म और ज्ञान के भेद को लेकर योग दो प्रकार के हैं। उसमें प्रथम (कर्मयोग) आवश्यकादि क्रियारूप कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में योग के प्रकारों का वर्णन किया गया है। योग शब्द संस्कृत की 'युज्' धातु से बना है। युज् का अर्थ है-'जोड़ना'। ज्ञानसार में कहा गया है- 'मोक्षेण योजानाद् योगः', मोक्ष के साथ जो आत्मा का सम्बन्ध कराता है, उसे योग कहते हैं। जिस मार्ग का अवलंबन कर आत्मा मोक्ष-मंजिल पर पहुँच जाए, वह योग-मार्ग कहलाता है। सामान्यतया अनेक प्रकार के योग होते हैं। अध्यात्ममार्ग में उपयोगी योगों में कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, समाधियोग, ज्ञानयोग आदि योग हैं, इनमें से ग्रंथकार ने प्रमुख दो योगों की चर्चा की है - १. कर्मयोग, २. ज्ञानयोग।

'कर्मयोग' शब्द को यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'कर्मयोग' शब्द में 'कर्म' का अर्थ कार्मण-वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं से बंधाते हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्म नहीं लिया गया है, बल्कि 'कर्म' का अर्थ यहाँ क्रिया अथवा कार्य लिया गया है।

शरीर द्वारा जो-जो चेष्टाएँ या आचरण किया जाता है, वे सभी क्रियाएँ भी कर्मयोग में नहीं आती हैं, क्योंकि शरीर द्वारा तो शुभ तथा

अशुभ-दोनों प्रकार की क्रियाएँ की जाती हैं। जैनधर्म में षडावश्यकादि तथा कायोत्सर्ग, पद्मासन आदि एवं योग-मुद्रा, मुक्तासुक्तिमुद्रा, जिनमुद्रा आदि मुद्राओं का समावेश 'कर्मयोग' में किया गया है। सामायिक, वीतराग परमात्मा की स्तुति-वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग-ये छः आवश्यक माने जाते हैं। साधुओं के लिए प्रतिलेखना, गोचरी हेतु गमन आदि क्रियाएँ भी होती हैं। इन सभी क्रियाओं को योग्य समय पर, योग्य विधि अनुसार, उचित लक्ष्यपूर्वक सम्पादित करना चाहिए। इनमें प्रमाद, शिथिलता, नीरसता, अबहुमान, अनादरपूर्वक न्यूनाधिकत्व का सेवन नहीं करना चाहिए। चिंता, खेद, उद्वेग आदि से रहित होकर प्रसन्नतापूर्वक ये क्रियाएं करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहा गया है। कहने का तात्पर्य यही है कि सभी आवश्यक क्रियाएँ आनंद व उत्साहपूर्वक नियमानुसार निपुणता से की जाएं, तो वे 'कर्मयोग' बन जाती हैं। जिसका कर्मयोग अशुद्ध है, उसका ज्ञानयोग भी अशुद्ध रहता है।

(४६७) शारीरस्पंदकर्मात्मा यदयं पुण्यलक्षणम्।
कर्माऽतनोति सद्रागात्कर्मयोगस्ततः स्मृतः।।३।।

<u>अनुवाद -</u> शरीर के स्पदंनरूपी कर्म से युक्त यह आत्मा शुभ राग के कारण पुण्य के लक्षणों से युक्त क्रियाएँ करती है, इसलिए उन्हें 'कर्मयोग' कहा गया है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> प्रस्तुत श्लोक में 'कर्मयोग' किसे कहते हैं ? यह बताया गया है। वैदिक दर्शन में 'कर्मयोग' शब्द का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है, किंतु जैनदर्शन में व्यापक रूप में प्रयोग नहीं हुआ है। जैनदर्शन में 'कर्म' शब्द का भी पारिभाषिक-अर्थ में प्रयोग हुआ है। शुभ तथा अशुभ बंध में निमित्त शुभ कर्म तथा अशुभ कर्म का सविशेष प्रयोग हुआ है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है - शरीर द्वारा जो कुछ स्पंदन होता है, अर्थात् छोटी-बड़ी जो भी क्रियाएँ होती हैं, उनमें से प्रशस्तभाव से देव-गुरु और धर्म के प्रति अनुराग से पुण्यबंध कराने वाली जो क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें 'कर्मयोग' कहा जाता है। वैसे तो शरीर द्वारा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म का सेवन, माया, कपट, निंदा, विकथा, कलह आदि अनेक प्रकार की अशुभ क्रियाएँ भी की जाती

हैं, जो पापरूप हैं। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान से युक्त सभी सांसारिक क्रियाएँ पापरूप हैं, अतः उन्हें 'कर्मयोग' की संज्ञा नहीं दी गई है। देववंदन, गुरुवंदन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि शुभभाव से जो शुभ प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, उनमें से प्रायः पुण्य का बंध होता है, अतः उन क्रियाओं के लिए ही 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(४६८) आवश्यकादिरागेण वात्सल्याद् भगवद्गिराम्।
प्राप्नोति स्वर्गसौख्यानि न याति परमं पदम्।।४।।

अनुवाद - आवश्यक आदि क्रियाओं पर राग से तथा जिनेश्वर की वाणी के प्रति वात्सल्य भाव से (जीव) स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करता है, मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है।

विशेषार्थ - जो प्रतिदिन अवश्य करने योग्य हैं, वे क्रियाएँ आवश्यक कहलाती है। इनमें सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स), गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान-ये षडावश्यक श्रावक तथा साधु-दोनों को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए। इसके अलावा साधु को प्रतिलेखन, स्वाध्याय आदि भी आवश्यक हैं। मोक्षमार्ग की साधना के लिए इन क्रियाओं का प्रतिदिन सेवन करना चाहिए। इनके अलावा भी साधक गुरु की आज्ञानुसार अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है। यह जीव अनादिकाल से देह, द्रव्य, कुटुंब आदि असार तत्त्वों में उलझकर अशुभ क्रियाएँ करता रहता है। उन अशुभ क्रियाओं के प्रति राग दूर हो जाए, इसके लिए प्राथमिक भूमिका में आवश्यक है कि व्यक्ति को शुभ क्रियाओं के प्रति राग उत्पन्न हो। जैसे टेप-रिकार्डर की कैसेट पर कोई गीत टेप हो चुका है, तो उस गीत को दूर करने के लिए उस पर दूसरा गीत टेप कर दिया जाए, उसी प्रकार अशुभ क्रियाओं के प्रति राग तोड़ने के लिए श्रेष्ठ उपाय यही है कि शुभ क्रियाओं के प्रति राग को जोड़ दो। ये शुभ क्रियाएँ आध्यात्मिक विकास में सहायक हैं, अतः बाल जीवों को स्वाभाविक रूप से इन क्रियाओं के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है, इसलिए बालजीव क्रियाओं का रागपूर्वक सेवन करते हैं। सैद्धान्तिक-दृष्टि से यह चिंतन किया जाए कि जहाँ राग है और क्रियाएँ शुभ हैं, तो वे क्रियाएँ शुभकर्मबंध की निमित्त बनती हैं। इस प्रकार की शुभ क्रियाएँ करने वाला बड़ा वर्ग शुभ कर्म का बंध करता है और पुण्य का

उपार्जन करता है। जहाँ पुण्य है, वहाँ उसके फलरूप में सुख भी उपस्थित है। विशेष पुण्य हो, तो स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है। रागपूर्वक क्रियाओं का सेवन करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन क्रियाओं का त्याग कर देना चाहिए, किन्तु शनैः-शनैः इन क्रियाओं के प्रति रागभाव का त्याग करना चाहिए। मोक्ष के लक्ष्य से, आत्मस्वरूप में रमणता के लिए, स्वरूप-अनुसंधान के लिए, रागभाव का त्याग करके जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनसे कर्म का बंध नहीं होता है, बल्कि कर्म की निर्जरा भी हो सकती है, परंतु साक्षीभाव से क्रिया तो उच्च भूमिका पर रहे हुए आत्मज्ञानी ही कर सकते हैं।

अतः, प्राथमिक कक्षा में तो शुभ क्रियाओं के प्रति राग, जिनवाणी के प्रति प्रगाढ़ वात्सल्यभाव आदि होना ही चाहिए। प्रथम सीढ़ी चढ़ने के बाद ही कदम दूसरी सीढ़ियों पर रखा जाएगा।

(४६६) ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमात्मरत्येकलक्षणम्।
इन्द्रियार्थोन्मनीभावात् स मोक्षसुखसाधकः।।५।।

<u>अनुवाद -</u> ज्ञानयोग शुद्ध तप है, आत्मरति इसका एक लक्षण है। इन्द्रियों के विषयों से ऊपर उठने की भावना के कारण वह (ज्ञानयोग) मोक्षसुख का साधक है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने कर्मयोग के स्वरूप को बताने के पश्चात् प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोग का स्वरूप बताया है। कर्मयोग और ज्ञानयोग-दोनों में फल की अपेक्षा से भेद यह है कि कर्मयोग अधिक-से-अधिक स्वर्गसुख को प्राप्त कराता है, जबकि ज्ञानयोग से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्मयोग सर्वथा निरर्थक है, इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए। कर्मयोग से शुभकर्म का बन्ध होता है और इस पुण्य के फलस्वरूप ही मोक्षप्रापक सामग्री मनुष्य-जन्म, इन्द्रियों की सम्पूर्णता, देव-गुरु-धर्म का संयोग आदि की प्राप्ति होती है, अतः प्राथमिक कक्षा में कर्मयोग स्वीकारने योग्य है, किन्तु वहीं पर रुक नहीं जाना, बल्कि ज्ञानयोग की ओर आगे कदम बढ़ाना आवश्यक है। वस्तुतः, कर्मयोग ही ज्ञानयोग में रूपांतरित होता है। अगर कर्मयोग नहीं हो, तो सीधे ज्ञानयोग तुरंत नहीं आता है, क्योंकि जब तक देह है, तब तक स्थूल या सूक्ष्म कर्मयोग रहता ही है। कर्मयोग

देशविरति और सर्वविरतिरूप है, अतः कर्मयोग ज्ञानयोग में रूपान्तरित हो जाए-यह लक्ष्य अवश्य रखना चाहिए।

ज्ञानयोग शुद्ध तपरूप है। यह ऐसा तर्क है, जिसमें आत्मरमणता उसका प्रमुख लक्षण है। आत्मा के सम्मुख होने की उत्कट अभिलाषा, बाहर से भीतर उतरने की तीव्र आकांक्षा, आत्मा के प्रति तीव्र अनुराग इसमें होता है, इसलिए यह तप पुण्यबंध में निमित्त न बनकर कर्मनिर्जरा में सहायक होता है। इस ज्ञानोदय में ऐन्द्रिक-विषयों से पूर्णरूपेण ऊपर उठने की भावना रहती है। ज्ञानयोग में पौद्गलिक-सुख के लिए इस भव में या भवान्तर के लिए भी कोई अभिलाषा नहीं रहती है। वहाँ तो केवल मोक्ष-सुख की अभिलाषा ही रहती है। एक बार आत्मस्वरूप का अनुभव होने के बाद स्वाभाविक रूप से पौद्गलिक-सुख के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है, इसलिए कर्मयोग से ज्ञानयोग श्रेष्ठ हैं और इसी कारण से ज्ञानयोग का विशेष माहात्म्य है।

(५००) न परप्रतिबंधोऽस्मिन्नल्पोऽप्येकात्मवेदनात्।
शुभं कर्माऽपि नैवात्र व्याक्षेपायोपजायते।।६।।

<u>अनुवाद</u> - इसमें (ज्ञानयोग में) केवल आत्मा का वेदन होने से दूसरा कोई प्रतिबंध नहीं होता है। यहाँ (ज्ञानयोग में) शुभ क्रिया भी विक्षेप पैदा नहीं करती है।

<u>**विशेषार्थ**</u> - पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जो आवश्यक आदि क्रियाओं को रागपूर्वक करता है तथा वीतराग की वाणी पर तीव्र अनुराग, वात्सल्य तथा अहोभाव रखता है, वह स्वर्ग के सुख को प्राप्त कर सकता है, किन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। मोक्षगति तो ज्ञानयोगी ही प्राप्त कर सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ज्ञानयोगी के लिए प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, गोचरी आदि आवश्यक क्रियाओं को करने का विधान नहीं है ? अगर वह ये क्रियाएँ करे, तो क्या उसे भी स्वर्ग के सुखों की ही प्राप्ति होती है, मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ?

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत श्लोक में दिया गया है। ज्ञानयोगी भी आवश्यक आदि क्रियाएँ अवश्य करते हैं, परंतु वे केवल आत्मस्वभाव में ही

रमण करते हैं। उनको आत्मा का वेदन (अनुभव) हो चुका होता है, इसलिए वे जो भी क्रिया करते हैं, उन क्रियाओं के प्रति उनका अनुराग नहीं होता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे आवश्यक आदि क्रियाएँ उपेक्षापूर्वक करते हैं। वे क्रियाएँ तो उनको श्वास की तरह सहज हो जाती हैं। विशुद्ध प्रकार से विधिपूर्वक क्रियाएँ करते हुए भी उन क्रियाओं के प्रति उनको राग नहीं होता है। रागरहित होकर क्रियाओं का सेवन करने से वे क्रियाएँ उनके ज्ञानयोग में प्रतिबंधक नहीं बनती हैं। वे अंतर्मुखी होकर शुभक्रियाओं का आचरण करते हैं, अतः वे क्रियाएँ उनकी आराधना में विघ्नरूप नहीं बनती हैं। वस्तुतः, ज्ञानयोगी की क्रियाएँ शुभकर्म का बंधन कराने वाली नहीं होती हैं, परंतु कर्म की निर्जरा कराने वाली होती हैं। इसलिए जो क्रियाएँ अन्य को स्वर्गसुख प्रदान कर संसार में ही रोके रखती हैं, वे ही क्रियाएँ ज्ञानयोगी को मोक्षसुख प्रदान कर सकती हैं। ज्ञानयोगी की क्रियाएँ मोक्ष में बाधक नहीं बनती हैं।

(५०१) न ह्यप्रमत्तसाधूनां क्रियाऽप्यावश्यकादिका।
नियता ध्यानशुद्धत्वाद्यदन्यैरप्यदः स्मृतम्।।७।।

अनुवाद - ध्यान से ही शुद्ध होने के कारण अप्रमत्त साधुओं की आवश्यकादि क्रियाएँ नियत नहीं होती हैं। अन्य दर्शनिओं ने भी इस प्रकार कहा है।

विशेषार्थ - आवश्यक आदि क्रियाएँ श्रावक और मुनि-दोनों के लिए करना आवश्यक है। इन क्रियाओं को करने से आचार में शुद्धि आती है, चित्त स्थिर होता है और प्रमाद दूर चला जाता है। ऐसी आवश्यक क्रियाएँ भी कई बार यंत्रवत् बन जाती हैं। न आसन का ध्यान रहता है, न मुद्रा का और न शब्दों के अर्थ पर ही ध्यान जाता है। मात्र करना आवश्यक है, इसलिए उपेक्षापूर्वक जैसे-तैसे क्रिया पूर्ण कर ली जाती है। जब ऐसा होता है, तब चित्त चंचल हो जाता है और प्रमाद में वृद्धि हो जाती है, अतः प्राथमिक कक्षा वाले के लिए आवश्यक आदि क्रियाएं नियत होती हैं। क्रियाओं का आलंबन लिए बिना उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता है, परंतु जो विशिष्ट ज्ञानी हैं, वे ध्यान में जैसे-जैसे एकाग्र होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी चित्तशुद्धि तथा उपयोग की अंतर्मुखता बढ़ती जाती है।

उनकी अप्रमत्तदशा भी बढ़ती जाती है। ऐसी दशा में किसी कारण से उनकी आवश्यक क्रिया नहीं भी होती है। कभी-कभी वे ध्यान में ही इतने एकाग्र हो जाते हैं, लीन हो जाते हैं कि क्रिया रह जाती है। ध्यान की ऐसी उच्च श्रेणी पर पहुँचने के बाद आवश्यक आदि क्रियाएँ नियत नहीं होती हैं। प्रमाद या अनादर के कारण उनकी क्रियाएँ नहीं छूटती हैं, बल्कि उनकी अप्रमत्त-दशा के कारण क्रियाएँ नियत नहीं होती हैं। उनका उदाहरण लेकर प्रमाद-दशा वाले साधुओं या श्रावकों को क्रियाओं का त्याग करना योग्य नहीं है।

अन्य दर्शनों में भी अप्रमत्त, ध्यानयोगी के लिए क्रियाएँ नियत नहीं बताई गई है।

(५०२) **यत्स्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।८।।

अनुवाद - जो मानव आत्मा में रमण करने वाला हो, जो आत्मतृप्त हो और जो आत्मा में संतुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक में ग्रंथकार ने कहा है कि अन्य दर्शनी भी अप्रमत्त मुनि के लिए क्रियाओं का नियतत्त्व नहीं मानते हैं। उसी सन्दर्भ में उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का सत्रहवाँ श्लोक यहाँ दिया है। इसमें कहा गया है कि जिस मनुष्य की आत्मा के प्रति ही प्रीति हो, जो आत्मा में ही तृप्त हो और जो आत्मसंतुष्ट हो, उस मनुष्य के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। यहाँ आत्मप्रीति, आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टि-ये तीनों शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जब तक व्यक्ति को पर के प्रति प्रीति, पर में ही तृप्ति का अनुभव और पर में ही संतुष्टि का अनुभव होता है, तब तक व्यक्ति को क्रिया करना आवश्यक है, तब तक शास्त्र के शासन में रहना आवश्यक है। यह चित्त अत्यंत चंचल है। इसे यदि शुभ क्रियाओं में नहीं जोड़ा गया, तो यह अशुभ में चला जाएगा। प्राथमिक कक्षा में व्यक्ति संसार के प्रति, शरीर के प्रति, नाम-यश आदि के प्रति आसक्ति से पूर्ण मुक्त नहीं हो पाता है, किन्तु उच्च कक्षा में पहुँचे हुए ज्ञानयोगी को संसार के सभी पदार्थों के प्रति अनित्यता का आभास हो जाता है। वह शरीर के प्रति भी पूर्णतः अनासक्त हो जाता है। उसकी कोई कामना शेष नहीं रहती

है। उसे कुछ भी प्राप्त करने का प्रयोजन नहीं रहता है। क्रियाओं का उद्देश्य अप्रमत्त-दशा को प्राप्त करना है। जब अप्रमत्त-दशा प्राप्त हो जाती है और वह उच्च कोटि की आध्यात्मिक दशा को प्राप्त कर लेता है, तब वह आत्मरमणता में इस प्रकार मग्न हो जाता है कि उसने देह को धारण कर रखा है, उसे यह भी भान नहीं रहता है। ऐसी देहातीत अवस्था प्राप्त होने पर देह से होने वाली क्रियाएँ न हों - यह स्वाभाविक है। ज्ञानयोग से सिद्ध महापुरुष की रति, तृप्ति और संतुष्टि जब अपने-आप में ही हो जाती है, तब वह विधि निषेध से ऊपर उठ जाता है। यद्यपि उस पर शास्त्र का शासन नहीं रहता है, फिर भी उसकी क्रियाएँ स्वाभाविक ही शास्त्रानुकूल होती हैं तथा दूसरों के लिये आदर्श होती हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि कर्मयोग जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है, उस उद्देश्य की पूर्णतः प्राप्ति होने के बाद ज्ञानयोगी के लिए क्रिया आवश्यक नहीं है। सामान्य व्यक्ति के लिए तो षडावश्यक आदि क्रियाएँ आवश्यक हैं।

(५०३) नैवं तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।६।।

अनुवाद - उसे इस लोक में कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं होता है, उसी प्रकार कर्म न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं होता है। किसी भी प्राणी के साथ उसका मोह या स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में कही हुई बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए गीता के तीसरे अध्याय का अठारहवाँ श्लोक दिया है। आत्मरति वाले आत्मा में ही संतुष्ट, ऐसे ज्ञानी का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है। जब तक मनुष्य में करने का राग, पाने की इच्छा, जीने की आशा, मृत्यु का भय, स्वार्थ आदि रहते हैं, तब तक उसके द्वारा क्रिया करने का भी प्रयोजन होता है और न करने का भी प्रयोजन होता है, परंतु जिसमें संसार की किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं है, जिसकी इहलौकिक, पारलौकिक-सारी इच्छाएँ समाप्त हो गई हैं, जो सर्वथा निःस्पृह है और जिसका क्रिया में से कर्त्तव्य का भाव नष्ट हो गया है ,अथवा जिसमें क्रिया को करने या न करने का कोई राग नहीं है ,ऐसे अनासक्त साधक को सराग कोई कार्य करने का प्रयोजन नहीं होता है। ऐसी उच्च

भूमिका पर स्थित साधक लोकसंग्रह का कार्य करने की भी इच्छा नहीं करते हैं। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उसके कार्य करने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है, फिर भी उसके समक्ष कोई कार्य उपस्थित हुआ, तो वह करता है या नहीं करता है ? इसका उत्तर यही है कि वह कार्य अवश्य करता है ,क्योंकि सामने उपस्थित कार्य यदि वह नहीं करे, तो कार्य नहीं करने का प्रयोजन होना चाहिए। ज्ञानयोगी की जिस प्रकार इच्छा नहीं होती है, उसी प्रकार अनिच्छा भी नहीं होती है। अनिच्छा हो, तो उसका भी कारण होना चाहिए। वास्तव में करना और न करना-दोनों की एक ही जाति है। जैसे गच्छति (जाता है) क्रिया है, उसी प्रकार तिष्ठति (खड़ा है) भी क्रिया ही है। इसी प्रकार, किसी काम को करना और नहीं करना-दोनों में ही क्रिया है। जिस महापुरुष का लौकिक एवं पारलौकिक, भौतिक, आध्यात्मिक कोई प्रयोजन नहीं रहता है, उस महापुरुष का करने एवं न करने का कोई स्वार्थ नहीं रहता है, इसलिए ऐसा ज्ञानयोगी जिस समय, जो कार्य उसके सामने उपस्थित है, वह कार्य करता जरूर है, परंतु उसका मन उसमें आसक्त नहीं होता है। कार्य करने से या नहीं करने से उसकी चित्तविशुद्धि में कोई अंतर नहीं आता है। ऐसे ज्ञानयोगियों का संसार के किसी भी जीव के साथ राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ, वैर, ईर्ष्या, लोभ-कुछ नहीं रहता है। सभी जीवों के प्रति उनकी समदृष्टि होती है।

ऐसी उच्च भूमिका पर स्थित ज्ञानयोगी संसार को मात्र साक्षीभाव से देखता है, जैसे तीर्थंकर भगवन्त इच्छा-अनिच्छा से रहित होकर देशना देते हैं।

(५०४) अवकाशो निषिद्धोऽस्मिन्नरत्यानंदयोरपि।
ध्यानावष्टंभतः क्वास्तु तत्क्रियाणां विकल्पनम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> इसमें (ध्यान में) अरति और आनंद का अवकाश भी निषिद्ध है, तो फिर ध्यान के अवलंबन से उन क्रियाओं का विकल्प ही कहाँ से हो ?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोगी के ध्यान की विशिष्ट कोटि का वर्णन किया गया है। सामान्य व्यक्ति ऐन्द्रिक-विषयों में तीव्र रति-अरति का अनुभव करता है, इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर अत्यंत आनंद प्राप्त करता है और अनिष्ट पदार्थ का संयोग हो जाने पर खेद करता है, जैसे - अच्छे

स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ को देखकर खाने के लिए मन ललचाता है, मुख से लार टपकती है और रसहीन, रूखा-सूखा खाद्य पदार्थ सामने आए, तो गले के नीचे भी नहीं उतरता है, वमन हो जाता है। कहीं से भीनी-भीनी सुगंध आ रही हो, तो मन खुश हो जाता है, घ्राणेन्द्रिय उत्तेजित हो जाती है और दुर्गन्ध आ रही हो, तो नाक पर रूमाल चला जाता है, मुखाकृति विकृत हो जाती है। रूपवान् को देखकर उस पर राग हो जाता है, कुरूप को देखकर उससे घृणा होती है। कर्णप्रिय संगीत सुनकर या किसी के मधुर वचन सुनकर, अपनी प्रशंसा सुनकर मन आनंदित हो जाता है और किसी के द्वारा कटु वचन सुनकर, अपनी निंदा सुनकर मन में उद्वेग पैदा होता है। इस प्रकार अनेक प्रसंगों में सामान्य मनुष्य की रति-अरति की प्रतिक्रिया का अनुभव होता है, परंतु जो उच्चकोटि का साधक है, उसके जीवन से रति-अरति का, प्रीति-अप्रीति का भाव नष्ट हो जाता है। उसे चाहे महल में रहना पड़े या वन में, मिष्ठान्न खाने को मिले या रूक्ष भोजन, निंदा सुनने को मिले या प्रशंसा-सभी प्रसंगों में उसके चित्त की दशा एक समान ही रहती है, उनमें आनंद या रति तथा क्लेश या अरति का किंचित् भी अवकाश नहीं होता है। ऐसा ज्ञानयोगी जब ध्यान की उच्च श्रेणी पर आरूढ़ होता है, तब वह यह मैं करूं, वह मुझे नहीं करना आदि विकल्पों से मुक्त रहता है।

(५०५) देहनिर्वाहमात्रार्था याऽपि भिक्षाटनादिका।
क्रिया सा ज्ञानिनोऽसंगान्नैव ध्यानविघातिनी।।११।।

<u>अनुवाद -</u> मात्र देह के निर्वाह के लिए भिक्षाटन आदि जो क्रिया है, वह असंगत्व के कारण ज्ञानी के ध्यान में विघ्न करने वाली नहीं होती है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> जो ज्ञानयोगी होता है, उसको भी औदारिक-शरीर होता है और शरीर के धर्म होते हैं। इसलिए ज्ञानी को भी देह के संरक्षण के लिए आहार की आवश्यकता होती है। आहार लेने के लिए उसे गमनागमन करना पड़ता है, किन्तु प्रश्न उठता है कि जब वह आहार लेने के लिए जाता है, तो उसके मन में भी कोई विकल्प तो उठता ही होगा कि वह अमुक दिशा में जाए, अमुक के घर जाए, उस घर से अमुक वस्तु ग्रहण करे। इन सबमें पसंद करने का विकल्प तो उठता ही है ? ये विकल्प क्या

उसके ध्यान में बाधक नहीं बनते हैं ? ऐसे प्रश्न उठना स्वाभाविक है, परंतु ग्रंथकार इन प्रश्नों के उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसे उच्च भूमिका पर स्थित ज्ञानयोगी का स्वयं की देह से भी ममत्व नहीं रहता है, इसलिए क्रिया करते समय उसका कर्त्तृत्वभाव नहीं रहता है, इसलिए ये क्रियाएँ उसके ध्यान में विघातक नहीं बनती हैं।

(५०६) रत्नशिक्षादृगन्या हि तन्नियोजनदृग् यथा।
फलभेदात्तथाचार क्रियाऽप्यस्य विभिद्यते।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> रत्न (परीक्षण) के अभ्यास के समय दृष्टि भिन्न होती है और उसके व्यापार (उपयोग) के समय दृष्टि भिन्न होती है। इसी प्रकार उनकी (ज्ञानी की) आचार-क्रिया भी फल के भेद के कारण भेदवाली होती है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> बाह्य-दृष्टि से देखने पर कितनी ही क्रियाएँ एक जैसी लगती हैं।एक सामान्य व्यक्ति आहार ग्रहण करता है और एक ज्ञानी व्यक्ति आहार ग्रहण करता है। दोनों की आहार ग्रहण करने की क्रिया समान है। दोनों का आहार, आसन, जलपान सभी समान दिखाई देते हैं। बाह्य-दृष्टि से समान होने पर भी आन्तरिक-भावों के कारण दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति का चित्त अज्ञानदशा में आहार में आसक्त रहता है, उसके प्रति उसका रागभाव रहता है। वह आहार करते हुए कर्म का बन्ध करता है, जबकि अज्ञानी व्यक्ति अनासक्तभाव से आहार ग्रहण करता है। वह समझता है कि पुद्गल-पुद्गल का ग्रास बन रहा है, इसलिए उसे आहार के प्रति रागभाव नहीं रहता है। प्रस्तुत श्लोक में ऐसी क्रिया दिखने पर भी दृष्टि में भेद को दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि जौहरी के लड़के को रत्न-परीक्षण का अभ्यास कराया जाएगा, तो वह रत्नों की परीक्षा करना सीखता है उस समय उसके हाथ में रत्न रखा जाए, तो उस समय उसकी दृष्टि रत्न के गुण-दोषों को ठीक तरह से समझने की होती है, इसके अलावा उसके मन में दूसरा कोई विकल्प नहीं होता है। जब अभ्यास पूर्ण हो जाता है, वह रत्न-परीक्षण में पारंगत हो जाता है, तब वह दुकान पर बैठता है। उस समय वह ग्राहकों के साथ रत्नों का व्यापार करते हुए रत्न हाथ में लेकर मात्र उसके गुण-दोष ही नहीं देखता है, बल्कि यह

ग्रहण करने लायक रत्न है या नहीं ? इसकी कीमत कितनी ? इसको बेचने पर कितना लाभ होगा ? आदि विचार उसे उस रत्न को देखते हुए आते हैं। बाह्य-दृष्टि से वही युवक रत्न का परीक्षण कर रहा है, किन्तु अभ्यास करते समय और व्यापार करते समय-दोनों समय में उसकी दृष्टि भिन्न होती है। दोनों दृष्टियों के मध्य परिणाम की भिन्नता है। इसी प्रकार, ज्ञानी और अज्ञानी व्यक्ति की बाह्य-क्रिया एकसमान होने पर भी दोनों के परिणाम में भेद होने के कारण फल में भेद होता है।

(५०७) ध्यानार्था हि क्रिया सेयं प्रत्याहृत्य निजं मनः।
प्रारब्धजन्मसंकल्पादात्मज्ञानाय कल्पते।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> यह क्रिया भी ध्यान के लिए ही है। वह (ज्ञानयोगी) अपने मन को लौटाकर या नियंत्रण करके पूर्व के कर्म के उदय के कारण के लिए उसका (क्रिया का) उपयोग करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में बताया गया है कि देहनिर्वाह के लिए और अन्य आवश्यक क्रियाएँ ज्ञानयोगी मुनि करता है, तो उससे उसके ध्यान में विक्षेप नहीं होता है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार कहते हैं कि भिक्षाटनादि क्रियाओं से ध्यान में विघ्न तो नहीं होता है, बल्कि उसके ध्यान को पुष्टि मिलती है। 'प्रारब्ध जन्म संकल्प' वाक्य का प्रयोग प्रस्तुत श्लोक में किया गया है, जिसका अर्थ है-पूर्व कर्मों के उदय के परिणामस्वरूप घटित प्रसंग के समय आता हुआ विचार। पूर्वजन्म के कर्म के कारण कोई भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित होती है, तो उससे ज्ञानी का चित्त प्रभावित नहीं होता है, चंचल नहीं होता है, बल्कि और अधिक ध्यान में दृढ़ होता है। जैसे निकाचित कर्म के उदय के कारण किसी गंभीर रोग ने घेर लिया, तो वह कर्म तो भोगना ही पड़ता है, परंतु ऐसी कठोर परीक्षा उसके ध्यान की एकाग्रता और बढ़ जाती है। 'देह छता जेहनी दशा वर्ते देहातीत' - इस पंक्ति को चरितार्थ करते हुए वह असंग हो जाता है। उन घटनाओं के साथ देह के साथ, उसका कोई लगाव नहीं रहता है। वह प्रत्येक क्रिया का उपयोग आत्मज्ञान के लिए करता है। आवश्यकादि क्रिया भी ज्ञानयोगी के ध्यान में विघ्नरूप नहीं होती है, बल्कि सहायक होती है।

(५०८) स्थिरीभूतमपि स्वान्तं रजसा चलतां व्रजेत्।
प्रत्याहृत्य निगह्णति ज्ञानी यदिदमुच्यते।।१४।।

अनुवाद - स्थिर हुआ मन रजोगुण से चंचलता प्राप्त करता है। ज्ञानी उसको पुनः लौटाकर (खींचकर) उसका निग्रह करते हैं। इस प्रकार यहाँ कहा गया है।

विशेषार्थ - मन बंदर के समान चंचल है। यह पल-भर भी स्थिर नहीं रहता है। किसी कवि ने चंचलता को अभिव्यक्त करते हुए कहा है-

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन के मते न चालिए, पलक-पलक मन ओर।।

पल-पल में मन बदल जाता है। इसका निग्रह किस प्रकार करें। जीव के सत्त्व, रजस् एवं तमस्-ये तीन गुण हैं। सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर मन की स्थिरता बढ़ जाती है। तमो गुण की प्रधानता होने पर अज्ञानता बढ़ जाती है और रजोगुण की प्रधानता से चंचलता बढ़ जाती है। मन को अभ्यास द्वारा अत्यंत संयमपूर्वक स्थिर किया गया हो, फिर भी किंचित् निमित्त मिलने पर वह एक विषय से दूसरे विषय पर, दूसरे विषय से तीसरे विषय पर क्षण भर में भाग जाता है। मनुष्य यदि अकेला हो और स्वस्थ होकर, एकाग्र बनकर चिंतन करे, स्मरण करे कि कुछ क्षण पूर्व उसने किन-किन विषयों पर किए चिन्तन कर लिया ? कैसे-कैसे विचार किए? यह जानकर स्वयं को ही आश्चर्य होगा, हँसी आएगी। चित्त जब चंचल हो जाता है, तब सामान्य व्यक्ति उसके प्रवाह में बह जाता है, परंतु जो ज्ञानी हैं, भटके हुए चित्त को पुनः आत्मा में स्थिर कर देते हैं। वे अपने मन का निग्रह कर सकते हैं। जैसे जल हवा से चंचल हो जाता है और सारे पानी को गंदा कर देता है, लेकिन स्थिर होने पर पुनः स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही कर्मरज के कारण द्रव्यकर्म के उदय होने पर चित्त चंचल हो जाता है, किन्तु ज्ञानी निरन्तर सावधान रहते हैं, जागरूक रहते हैं, अतः वे अपने मन को नियंत्रण में कर लेते हैं, इसलिए वे ज्ञानी कहलाते हैं। मन के अनुसार वे नहीं चलते हैं, बल्कि अपने अनुसार मन को चलाते हैं। मन उन पर सवार नहीं रहता है, बल्कि वे मन पर सवार रहते हैं। जो अज्ञानी होते हैं, उनका मन पर नियंत्रण नहीं होता है। जिस समय जो विचार मन

में चल रहे होते हैं, वे चलने देते हैं और उसमें ही डूब जाते हैं। कई बार वे अयोग्य विचारों के कारण अयोग्य प्रवृत्ति भी कर लेते हैं।

(५०९) शनैः शनैरूपमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।१५।।

<u>अनुवाद</u> - धृति द्वारा ग्रहण की हुई बुद्धि से धीरे-धीरे विश्राम प्राप्त करके मन को आत्मा में स्थिर करके कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिए।

<u>**विशेषार्थ**</u> - ग्रंथकार ने यहाँ गीता के छठवें अध्याय का पच्चीसवाँ श्लोक दिया है। इसमें मन को नियंत्रण में रखने के लिए प्राथमिक कक्षा के साधकों के लिए निर्देश दिया गया है। मन को नियंत्रण में रखना सामान्य काम नहीं है। इसे बलपूर्वक भी नियंत्रण में नहीं कर सकते हैं। मन तो छोटे बालक के समान है। इसे धीरे-धीरे समझाकर शांत करना चाहिए। मन को साधने के लिए धैर्य रखना आवश्यक है। धैर्यपूर्वक मन को ऐसे विषय से जोड़ देना चाहिए, जो उसे पसंद हो। मन को रुचने वाले विषय श्रेष्ठ भी हो सकते हैं और निकृष्ट भी। दुर्जन व्यक्ति अपने मन को असद्व्यापार में जोड़ देता है, जबकि साधक, आत्मार्थी मुमुक्षु अपने मन को आत्मस्वरूप में जोड़ता है। साधना के प्रारंभ में मन को स्वाध्याय, षडावश्यक आदि क्रियाओं में स्थिर करना चाहिए। धीरे-धीरे जैसे-जैसे साधना बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मन स्थिर होता जाता है और उसका उपयोग सतत् आत्मा में रहने लगता है। ऐसे ज्ञानी का चित्त फिर चंचल नहीं होता। संकल्प-विकल्प से मुक्त होकर, अन्य किसी भी विषय का चिन्तन नहीं करते हैं, फिर उसमें विचारों की तरंगें नहीं उठती है।

(५१०) यतो यतो निःसरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।१६।।

<u>अनुवाद</u> - चंचल और अस्थिर मन जब-जब बाहर निकल जाता है, तब-तब उसको पुनः लौटाकर नियंत्रण में रखकर आत्मा में ही भलीभाँति लगाएं।

<u>**विशेषार्थ**</u> - यह भी गीता का ही श्लोक है। इसमें पुनः उसी बात को दोहराया गया है। साधक ने जो ध्येय बनाया है, उसमें यह मन ठहरता नहीं

है, अतः इसे अस्थिर कहा गया है। यह मन भिन्न-भिन्न सांसारिक-भोगों का, पदार्थों का चिन्तन करता है, अतः इसे चंचल कहा गया है। साधक को चाहिए कि यह मन जहाँ-जहाँ, जिस-जिस कारण से जाता है, इसे वहाँ-वहाँ से हटाकर आत्मा में लगाए, फिर से यदि यह भटक जाए, तो पुनः उसे आत्मा से जोड़े। इस प्रकार मन को बार-बार ध्येय में लगाता रहें। साधक जब परमात्मा में (आत्मा में) मन लगाने का अभ्यास करता है ,तब प्रारंभ में भूतकालीन अनेक स्मृतियाँ उभरने लगती हैं। सांसारिक-कार्य करते हुए संसार की बातें उतनी याद नहीं आती हैं, उतना चिन्तन नहीं होता है, जितना कि एकान्त में आत्मा (परमात्मा) का ध्यान करने पर होता है, परंतु ऐसा सोचकर साधक को घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि अब साधक का उद्देश्य बन गया - आत्मस्वरूप को प्राप्त करना। संसार के चिंतन के रूप में आत्मा से कूड़ा-कचरा निकल रहा है, आत्मा की सफाई हो रही है। भावमन का कचरा जब तक निकलेगा नहीं, तब तक आत्मदर्शन नहीं होंगे। नदी, तालाब आदि में बारिश का गंदा पानी जमा है, तो उसका तल नहीं दिखाई देता है। जब जल स्वच्छ और शांत हो, तब ही तल दिखाई देता है। उसी प्रकार, पुराने संस्कार कषायरूपी कचरा जब बाहर निकलता है, तब ही आत्मदर्शन होते हैं। जैसा कि कबीर ने कहा है -

यह तो गति है अटपटी - झटपट लखै न कोय।
जो मन की खटपट मिटै, चटपट दरसन होय।।

मन की स्थिरता के बिना आत्मदर्शन संभव नहीं है। जैसे हनुमान की प्रतिमा आदि पर तेल लगाकर उसके चोले पर नया चोला चढ़ाया जाता है, लेकिन जब अंदर का तेल सूख जाता है, तो एक दिन स्वतः सम्पूर्ण चोला उतर जाता है, वैसे ही राग के छूटने पर कषायरूपी चोला उतर जाता है। प्याज के छिलके की तरह कर्म की परतें एक-एक करके अलग होती जाती हैं। वर्षो के सतत अभ्यास से ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है। 'जिस समय, जिस विषय का विचार करना हो, उस समय मात्र उसी विषय का विचार होना, अन्य किसी विषय का विचार उत्पन्न नहीं होना'-इस प्रकार की सिद्धि महापुरुषों को भी दो-चार दिन में प्राप्त नहीं होती।

मन को आत्मकेन्द्रित करने के लिए, ध्यान में स्थिर बनाने के लिए सर्वप्रथम इस बात का ध्यान रखें कि ध्यान करते समय मन में कोई कार्य जमा न रहे, अर्थात् अमुक कार्य करना है, अमुक स्थान पर जाना है, अमुक व्यक्ति से मिलना है आदि। सभी प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर शांतचित्त से ध्यान में बैठना चाहिए। आसनबद्ध होकर, श्वास की गति को नियमित करके अभ्यास करने पर उत्तरोत्तर चंचलता घटती है और स्थिरता बढ़ती है।

निर्देश -संकल्प-विकल्प को मिटाने के लिए पहले नासिका से श्वास को दो-तीन बार जोर से बाहर निकालें और फिर अन्त में जोर से पूरे श्वास को बाहर निकालकर बाहर ही रोक दें। जितनी देर श्वास रोक सकें, उतनी देर रोककर फिर धीरे-धीरे श्वास लेते हुए स्वाभाविक श्वास लेने की स्थिति में आ जाएं। इससे सभी संकल्प विकल्प समाप्त हो जाते है।

(५११) **अत एवादृढ़स्वान्तः कुर्याच्छास्त्रोदितां क्रियाम्।**
सकलां विषयप्रत्याहरणाय महामतिः।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए जिसका चित्त दृढ़ नहीं है - ऐसे बुद्धिशालियों को, मन को विषयों में से लौटाने के लिए शास्त्र में कही हुई समस्त क्रियाओं को करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> जो जीव मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा वाले हैं, परंतु जिनका मन अभी उतना स्थिर नहीं हुआ है, वह चंचल बनकर बार-बार विषयोन्मुख हो जाता है, जो जीव अपने चित्त की चंचलता के विषय में सावधान हैं, किन्तु फिर भी प्रसंग उपस्थित होने पर विवश हो जाते हैं- ऐसे मुमुक्षुओं को चित्त की चंचलता के निवारण के लिए प्रस्तुत श्लोक में अचूक उपाय बताया गया है। मन का खाली रहने का स्वभाव नहीं है, इसलिए कहा गया है- 'खाली मन, शैतान का घर।' मन को अगर किसी काम से नहीं जोड़ा गया, तो उसमें अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं। चित्त के आवेगों को रोकना आसान नहीं है, किन्तु मुमुक्षु अगर जाग्रत हो, तो उसे उन आवेगों को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि शास्त्र में कही गई आवश्यक क्रियाओं में वह अपने मन को जोड़े रखे। विषयोन्मुख मन को आत्मोन्मुख बनाने के लिए ही सारी

क्रियाएँ हैं। जैसे पेट में मल जमा हो, तो उसकी शुद्धि करने के लिए सर्वप्रथम विरेचन लेना पड़ेगा, क्योंकि उसमें मल निकालने की ताकत है। मल निकलने के बाद विरेचन को निकालने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है वह तो स्वतः ही निकल जाता है। उसी प्रकार, अशुभ क्रिया के निस्सरण के लिए शुभ क्रियारूपी जुलाब लेना चाहिए। शुभ क्रियाओं में मन को लगा देने से सांसारिक-विषयों से वह शनैः-शनैः विरक्त हो जाएगा। शास्त्रोक्त क्रियाएँ चित्त को अन्य विषयों से निवृत्त करके चंचलता से मुक्त कर उसे आत्मा में स्थिर करती है। मन चोर है, उसे स्वयं की चौकीदारी में लगा देने पर फिर उसे इधर-उधर झांकने का अवसर नहीं मिलेगा।

(५१२) श्रुत्वा पैशाचिकीं वार्तां कुलवध्वाश्च रक्षणम्।
नित्यं संयमयोगेषु व्यापृतात्मा भवेद्यतिः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> पिशाच की वार्त्ता और कुलवधू के रक्षण के सम्बन्ध में सुनकर यतियों को नित्य संयमयोगों में उद्यमवन्त होना चाहिए।

<u>**विशेषार्थ -**</u> पूर्व श्लोक में बताया गया है कि मन अत्यंत चपल है, उसे कोई-न-कोई विषय चाहिए। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने कहा है कि मन को वश में रखने के लिए, अशुभ व्यापारों से निवृत्त करने के लिए यतियों को निरन्तर उसे संयमयोगों में जोड़े रखना चाहिए, साथ ही अपने मन की स्थिति के विषय में सरलतापूर्वक गुरु को निवेदन करना चाहिए और गुरु के द्वारा जो मार्ग बताया जाए, उसका प्रयोग करना चाहिए। मन को कभी स्वाध्याय, कभी ध्यान, प्रतिलेखना, वैयावृत्य (सेवा) आदि कार्यों में निरन्तर जोड़े रखना चाहिए। शुभ कार्य में मन नहीं जोड़ने पर मन स्वच्छंद बनकर किस तरह हानि पहुँचाता है, उसे समझाने के लिए ग्रंथकार ने दो दृष्टान्त दिए हैं। एक पिशाच का दृष्टान्त और दूसरा कुलवधू के शीलरक्षण का दृष्टान्त।

पिशाच का दृष्टान्त अलग-अलग ढंग से स्पष्ट किया गया है, परंतु सभी का सार एक ही है। एक वणिक एक विशाल वृक्ष के नीचे रोज शौचक्रिया के लिए जाता और वहाँ जाकर कहता- "यह जगह जिसकी हो, वह मुझे अनुज्ञा प्रदान करे।" उस वृक्ष पर एक व्यंतरदेव रहता था। वह देव विचार करता कि यह वणिक् रोज मेरी अच्छी भूमि को दुर्गन्धयुक्त कर

देता है, परंतु यह मेरी अनुज्ञा ले लेता है, इसलिए मैं इसे सता नहीं सकता, अतः मुझे कोई दूसरा रास्ता निकालना चाहिए।

एक दिन देव ने प्रत्यक्ष होकर उससे कहा- "हे वणिक् ! तू शिष्टाचार वाला है, सज्जन है। मैं इस वृक्ष पर रहता हूँ। मैं तुझे वरदान देता हूँ कि तू जो भी काम मुझे बताएगा, मैं तुरंत कर दूँगा।" वणिक् उसे घर ले गया। तब यक्ष ने कहा- "मैं काम तो सभी कर दूँगा, लेकिन खाली बैठने की मुझे आदत नहीं है। यदि मुझे कार्य नहीं बताया, तो मैं तुझे ही खा जाऊँगा।" वणिक् जो भी काम बताता, पिशाच उसे दैवी-शक्ति से क्षण में ही कर देता। वणिक् परेशान हो गया। उसने पिशाच से कहा कि वह जंगल से ऊँचे बांस लेकर आए और उसकी नसेनी बनाए। पिशाच ने तुरंत वह काम कर दिया। तब वणिक् ने घर के बाहर नसेनी रखवाई और पिशाच से कहा-"जब तक मैं तुझे दूसरा काम नहीं बताऊँ, तक तक तू नसेनी पर चढ़ और उतर"। पिशाच वचनबद्ध था। बुद्धिमान् वणिक ने पिशाच को जिस तरह वश में कर लिया, उसी प्रकार संयमरूपी साधकों को मनरूपी पिशाच को निरन्तर शुभ क्रियाओं में जोड़कर वश में कर लेना चाहिए।

दूसरा दृष्टान्त कुलवधू का है, जो इस प्रकार है - एक नगर में एक सेठ रहता था। उसका पुत्र व्यापार के कारण कई बार विदेशों में जाता और लम्बे समय तक वहीं रहता। उसकी युवा पत्नी का विरह सहन नहीं होता था। वह कामवासना से उत्तेजित हो जाती थी। यह बात श्रेष्ठि को पता चली, तो उसने विचार किया कि गृह का सारा कार्य नौकर करते हैं, बहू गरिष्ठ भोजन खा-पीकर अकेली आराम करती रहती है। स्वाभाविक है, मन विषयों की ओर भागेगा, अतः उसने युक्तिपूर्वक धीरे-धीरे सारे नौकरों को निवृत्त कर दिया और गृह की सारी जिम्मेदारी बहू का सौंप दी। उसे घर के काम में इस तरह जोड़ दिया कि पति-विरह में उत्पन्न हुई उसकी कामवासना समाप्त हो गई।

इन दोनों दृष्टान्तों द्वारा उ. यशोविजयजी ने स्पष्ट किया है कि मन सतत प्रवृत्तिशील रहता है। चित्त में सतत विचार चलते रहते हैं। उसमें भूतकाल की स्मृति, भविष्यकाल की तरंगें उठती रहती हैं। भय, चिंता,

उद्वेग, लोभ, लालच, ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, असूया, गुणमत्सर, कामवासना की कल्पनाएँ, अहंकार, हीनभाव, दीनभाव-ऐसे अनेक प्रकार के अशुभभाव चित्त में जाने-अनजाने उत्पन्न होते रहते हैं, किन्तु साधक यदि जाग्रत हो, तो वह मन को कभी भी शुभ क्रियाओं से निवृत्त नहीं होने देता। शास्त्र में बताई हुई आवश्यक क्रियाओं में चित्त को सतत जोड़कर रखने से चित्त की चंचलता को रोका जा सकता है, अतः, प्रमाद का त्याग करके मन को सतत शुभ योगों में जोड़कर रखना चाहिए।

(५१३) या निश्चयैकलीनानां क्रिया नाऽतिप्रयोजनाः।
व्यवहारदशास्थानां ता एवातिगुणावहाः।।१६।।

<u>अनुवाद</u> - जो क्रियाएं केवल निश्चय में लीन रहने वालों के लिए अति प्रयोजन वाली नहीं हैं, वे ही व्यवहार-दशा में रहे हुए के लिए अत्यंत गुणकारक हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - ज्ञानयोग और क्रियायोग-दोनों का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद ग्रंथकार यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि दोनों योगों में से किसका महत्व अधिक है। वस्तुतः, ज्ञानशून्य क्रिया और क्रियाशून्य ज्ञान-दोनों ही निरर्थक हैं। ज्ञान के साथ क्रिया की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भोजन के साथ पानी की। यदि क्रिया और भाव-दोनों में किसकी अधिक महत्ता ? कोई यह प्रश्न करे, तब स्पष्ट है कि क्रिया से भाव अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भावरहित क्रिया का महत्व नहीं है। किसी व्यक्ति ने प्रतिक्रमण किया, किन्तु प्रतिक्रमण करने के उसके भाव अल्प भी नहीं है। मात्र अन्य का अनुकरण करके अनिच्छा से प्रतिक्रमण करने आया और नींद में ही जैसे-तैसे प्रतिक्रमण पूर्ण किया। एक अन्य व्यक्ति विशेष परिस्थितिवश प्रतिक्रमण नहीं कर पाया। उसके प्रतिक्रमण करने के भाव हैं, उसको क्रिया के प्रति बहुमान है और नहीं करने का उसके मन में पश्चाताप है, तो इस प्रकार की स्थिति में क्रिया से भाव अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने अनिच्छापूर्वक उपवास किया, लेकिन खाने की लालसा सतत है और वह अपने मान कषाय को पुष्ट कर रहा है। दूसरा व्यक्ति अशक्ति के कारण या अन्य कोई परिस्थिति के कारण उपवास नहीं कर पा रहा है, किन्तु उपवास नहीं कर पाने का उसके मन में पश्चाताप है। आहार ग्रहण करते

समय स्वादवृत्ति न हो - ऐसी दो प्रकार की स्थितियों में भाव की महत्ता अधिक है, किन्तु हर समय ऐसी ही दो स्थितियाँ हों, यह आवश्यक नहीं है। तरतमता की दृष्टि से दूसरी अनेक स्थितियाँ भी संभव हो सकती हैं, इसलिए अनेकान्तदृष्टि रखकर चिंतन करना चाहिए। प्राथमिक भूमिका पर क्रिया का महत्व अधिक होता है और उच्च भूमिका पर पहुँच जाने के बाद क्रिया गौण हो जाती है तथा ज्ञान का महत्व बढ़ जाता है।

संयममार्ग में आगे बढ़ते हुए साधक आवश्यकादि क्रियाओं को करते हुए उच्च स्तर पर आरोहण करते हैं। प्रारंभिक दशा में उनको क्रियाओं के प्रति दृढ़ राग होता है, किन्तु जैसे-जैसे वे अंतर्मुख होते जाते हैं, वे आत्मस्वभाव में ही रमण करने लगते हैं। उनके विषय कषाय आदि निर्मूल हो जाते हैं, तब वे क्रियाएँ छोड़ते नहीं हैं, क्रियाएं स्वयं छूट जाती हैं। क्रियाओं के प्रति उनका उपेक्षाभाव नहीं होता है। क्रियाओं की उपयोगिता भी वे समझते हैं, किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर उन क्रियाओं का उनके लिए कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता है। चूंकि वे ध्यान की उच्चश्रेणी पर पहुँच गए हैं, अतः वे आत्मस्वरूप में ही लीन रहते हैं। ऐसी निश्चयदशा प्राप्त करने के बाद आवश्यकादि क्रियाओं का महत्त्व नहीं रहता है। ऐसे महापुरुषों की छूटी हुई क्रियाओं को देखकर कोई कहे कि मोक्षमार्ग की आराधना के लिए क्रियाओं की कोई आवश्यकता नहीं है, तो यह उसकी भूल है। निश्चयदशा वाले जीव विरले ही होते हैं, व्यवहारदशा वाले ही अधिक होते हैं। जो निश्चयदशा वाले महापुरुषों का अनुकरण करते हुए निम्न भूमिका पर स्थित संयममार्ग की क्रियाओं को छोड़ दे, उसका पतन हो जाएगा। बीच समुद्र में नाव का सहारा छोड़ देने पर वह व्यक्ति डूब जाएगा। आवश्यकादि क्रियाएँ उसके आत्मगुणों की वृद्धि और दोषों के ह्रास के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। बीमार व्यक्ति के लिए औषध ग्रहण करना गुणकारी है, किन्तु स्वस्थ व्यक्ति के लिए औषधि का कोई प्रयोजन नहीं है।

कितने ही लोग अनेकान्तदृष्टि नहीं रखते हुए एकान्तरूप से क्रियाओं की उपेक्षा करते हैं। उनका कहना है कि मुख्य लक्ष्य आमस्वरूप की प्राप्ति है। आत्मरमणता है, तो उसी के लिए प्रयास करना चाहिए। व्रत, तप, जप, प्रतिक्रमण, जिनभक्ति आदि की क्या आवश्यकता है ? किन्तु यह

उचित नहीं है। पूर्वजन्म के उच्च आराधक जीव अपवाद हो सकते हैं। सामान्यतया, जीव पर अनादिकाल के कुसंस्कार जमे हुए रहते हैं। मन सतत विषयों में रमण करता है। ऐसे विषय-कषाय से युक्त जीव सीधा आत्मा में स्थिर नहीं हो सकता है। क्रियाओं का आलम्बन लेने पर भी मन मुश्किल से स्थिर होता है। स्थूल आलम्बन पर भी मन स्थिर नहीं रह सकता है, तो अरूपी आत्मा में मन सीधे स्थिर हो जाए-यह प्रायः असंभव है। ऐसी मान्यता वाले जीव दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाते हैं, तथा अपने उपदेश द्वारा अन्य को भी भ्रमित करते हैं।

(५१४) **कर्मणोऽपि हि शुद्धस्य श्रद्धामेधादियोगतः।**
अक्षतं मुक्तिहेतुत्वं ज्ञानयोगानतिक्रमात्।।२०।।

<u>अनुवाद -</u> श्रद्धा, मेधा आदि के योग से शुद्ध हुई क्रिया भी ज्ञानयोग के अतिक्रमणरूप नहीं होने से अक्षत मुक्ति की हेतु होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> आवश्यकादि क्रियाओं के महत्व को दर्शाते हुए ग्रंथकार आगे स्पष्ट करते हैं कि आवश्यकादि क्रियाएँ केवल स्वर्ग के सुख की हेतु हैं, इसलिए हेय हैं-इस प्रकार की एकान्त धारणा उचित नहीं है। कदम-दर-कदम व्यक्ति मंजिल पर पहुँचता है। इन क्रियाओं के करते समय यदि फलरूप में पौद्गलिक-सुख की आकांक्षा हो, तो उसका अवश्य त्याग करना चाहिए। अगर क्रियाएँ हेय ही होतीं, तो भगवान् महावीर पुणिया श्रावक की सामायिक की, धन्ना अणगार के तप की प्रशंसा नहीं करते, शास्त्रों में क्रिया करने का उपदेश नहीं दिया जाता। उपवास, आयम्बिल, सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदन, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ भी श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा के योग से, अर्थात् पूर्व आस्था, बहुमान, आदर के साथ विवेकपूर्वक पूर्ण जागरूकता के साथ चिंतन-मनन करते हुए, सूत्र तथा अर्थ को धारण करते हुए मोक्ष के हेतु से की जाएं, तो वे अवश्य ही ज्ञानयोग में रूपांतरित हो जाती हैं। इनसे कर्म की निर्जरा होती है। आवश्यकादि क्रियाएँ परम्परा से मोक्षगति को प्राप्त कराने वाली बनती हैं। साधक के जीवन में कर्मयोग और ज्ञानयोग-ये दोनों एकरूप बन जाते हैं। इनकी एकरूपता ही मोक्ष का हेतु बनती है। इसे असंग-अनुष्ठान भी कहते हैं। यह असंग-अनुष्ठान आयुष्यबंध, फलाकांक्षा, आसंगदोष, अतिचार आदि

विघ्नों से रहित मोक्ष का साधन है, इसलिए आवश्यकादि क्रियाएँ ज्ञानयोग का अतिक्रमता करती हैं, या उसमें विघ्न डालती हैं- इस प्रकार नहीं कह सकते हैं।

(५१५) अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा योगिनां चित्तशुद्धये।
ज्ञानपाके शमस्यैव यत्परैरप्यदः स्मृतम्।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> प्रारंभिक-कक्षा (प्रशिक्षण के समय) में योगियों को सत्क्रिया की अपेक्षा रहती है। ज्ञान की परिपक्वता की दशा में (उच्च भूमिका में) मात्र शम की अपेक्षा रहती है। इस सम्बन्ध में अन्य दर्शनियों ने भी कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में कर्मयोग से ज्ञानयोग में जाने पर फिर क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती है - यह बताया गया है। अवस्था में परिवर्तन आ जाने पर अपेक्षा में भी परिवर्तन आ जाता है। बचपन में शिक्षा के आरंभकाल में बच्चों को जिस प्रकार बारहखड़ी आदि सिखाई जाती है, जोड़, घटाव, भाग, गुणनफल आदि सिखाए जाते हैं, वैसा महाविद्यालय में जाने पर नहीं सिखाया जाता है। छोटा बच्चा चलना सीखता है, तो उसे वाकर की आवश्यकता रहती है या किसी के सहारे की आवश्यकता होती है, परंतु चलना सीख जाने के बाद उसकी आवश्यकता नहीं रहती। नदी पार करते समय नाव की आवश्यकता रहती है, किनारा प्राप्त कर लेने के बाद नाव की आवश्यकता नहीं रहती। उसी प्रकार, साधना के प्रारंभ में योगियों को आवश्यकादि सत्क्रिया की आवश्यकता रहती है। इनका आलंबन लेकर साधक का मन स्थिर हो सकता है। अगर ये क्रियाएँ नहीं हों तो मन इधर-उधर विषयों में भटकने लगे, इसलिए मन को नियंत्रण में रखने के लिए, मन को निर्मल रखने के लिए, अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रारंभिक कक्षा में योगियों को सत्क्रियाएँ करते रहना चाहिए। ये क्रियाएँ तब तक करते रहना चाहिए, जब तक कि ज्ञान की परिपक्व दशा प्राप्त न हो। ज्ञान की परिपक्व दशा प्राप्त हो जाने पर मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है, सर्वत्र आसक्ति से रहित हो जाता है। ज्ञानयोगी पूर्णतः अंतर्मुखी बन जाता है। उसके आन्तरिक उपयोग में स्थिरता न रहे, तब मात्र उपशम की

ही अपेक्षा रहती है। स्वभावगत वह अपने क्षमाधर्म को भी प्रायः विकृत नहीं होने देता है। अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार की चर्चा की गई है।

(५१६) आरुरूक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> जो योग में आरूढ़ होना चाहता है - ऐसे मुनि के लिए कर्म करना कारण या आलम्बन कहा गया है। योगारूढ़ मनुष्य का शम (आत्मप्राप्ति में) कारण कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने गीता के छठवें अध्याय का तीसरा श्लोक अपनी बात को पुष्ट करने के लिए दिया है। जो मुनि ज्ञानयोग पर आरोहण करने की इच्छा रखता है तथा जिसने ज्ञानयोग को प्राप्त कर लिया है, उन दोनों में यहाँ अन्तर बताया गया है।

योगारूढ़ होने की इच्छा वाले साधक के लिये योगारूढ़ होने में निष्कामभाव से कर्म करना कारण है, अर्थात् उसके लिए सत्क्रिया की अपेक्षा है। मुनि को साधना के प्रारंभिक-काल में कर्मयोग का अभ्यास करना चाहिए। अपनी भूमिका के अनुरूप जिनउपदिष्ट-क्रियाओं को अप्रमत्तभाव से विधिपूर्वक, अनासक्त होकर करना चाहिए। इस प्रकार क्रिया करने से चित्त की चंचलता कम होती है, स्थिरता तथा विशुद्धि में वृद्धि होती है। चूंकि निष्काम कर्म के बिना चित्त की विशुद्धि नहीं होती है और चित्त की शुद्धि के बिना ज्ञानयोग की प्राप्ति नहीं होती है, अतः कर्मयोग की अवस्था में ही प्रसन्न नहीं होना है, बल्कि अभ्यास करते-करते आगे बढ़ना है। इस तरह से चित्त की स्थिरता प्राप्त करते हुए कर्मसंन्यास (त्याग) द्वारा ज्ञानयोग पर आरूढ़ होने पर मन विषय-कषाय में नहीं भटकता है। ऐसी स्थिति में कभी मन में संकल्प-विकल्प उठें, तब उनको शांत करने के लिए उपशम की आवश्यकता है। आत्मा का स्वभाव सम ही है। समत्व ही साध्य है।

जैसे बालक की रुचि पहले खेल में होती है, परंतु बड़ा होने पर जब उसकी रुचि धन में हो जाती है, तब खेल में रुचि अपने-आप समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार योगारूढ़ होने, अर्थात् ज्ञानयोग को साध लेने के बाद क्रिया का सहज ही त्याग हो जाता है।

(५१७) यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> जब इन्द्रियों के विषयों में और कर्मों में आसक्ति नहीं रखे, तब सभी संकल्पों का त्याग करने वाला (मुनि) योगारूढ़ (ज्ञानयोगी) कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक गीता के छठवें अध्ययन का चौथा श्लोक है, जिसे ग्रंथकार ने अन्य दर्शनों के उदाहरण के रूप में लिया है। इसमें योगारूढ़ की पहचान के तीन लक्षण बताए गए हैं- (१) इन्द्रियों के विषयों मे, अर्थात् वस्तुओं तथा व्यक्तियों में आसक्ति नहीं होना (२) क्रियाओं में आसक्ति नहीं होना (३) संकल्प, अर्थात् इच्छाओं का त्यागी, निःस्पृह।

सांसारिक-जीवों में राग-द्वेष के भाव सतत चलते रहते हैं। उन्हें अनुकूल विषयों तथा अनुकूल व्यक्तियों के प्रति राग रहता है तथा अपने द्वारा संपादित कार्यों में भी आसक्ति रहती है, उसके फल की आकांक्षा रहती है। मन में अनेक संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं, लेकिन योगारूढ़ व्यक्ति की न तो पदार्थ में आसक्ति होती है, न पदार्थ के अभाव में, न क्रियाओं में आसक्ति होती है, न क्रियाओं के अभाव में। इच्छा नहीं होने के कारण कोई संकल्प-विकल्प भी नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि पदार्थ मिले या न मिले, व्यक्ति मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो, इसका कोई आग्रह नहीं होता है। जिस समय जो कार्य समक्ष आ गया हो, उसे वे सहज रीति से कर लेते हैं, परंतु उसमें लिप्त नहीं होते हैं। यह मुनि की उत्कृष्ट अवस्था कहलाती है। ऐसे मुनि योगारूढ़ कहलाते है।

(५१८) ज्ञानं क्रियाविहीनं न क्रिया वा ज्ञानवर्जिता।
गुणप्रधानभावेन दशाभेदः किलैनयोः।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> क्रिया के बिना ज्ञान नहीं होता है और ज्ञान के बिना क्रिया नहीं होती है। गौण और प्रधान-ऐसे भाव से दोनों के मध्य अवस्था का भेद है।

<u>विशेषार्थ -</u> सूक्ष्म दृष्टि से यदि चिंतन किया जाए, तो क्रिया और ज्ञान के क्षेत्र इस प्रकार से भिन्न नहीं हैं कि जहां एक हो, वहाँ दूसरा न हो,

अर्थात् जहाँ क्रिया हो, वहाँ ज्ञान की उपस्थिति होती है और जहाँ ज्ञान हो, वहाँ क्रिया की उपस्थिति होती है। एक पंख से पक्षी नहीं उड़ता है, एक चक्के से रथ नहीं चलता है, एक हाथ से ताली नहीं बजती है, उसी प्रकार केवल क्रिया या केवल ज्ञान से मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती है। "सम्यग्ज्ञान दर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः", अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्क्रिया-तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहे गए हैं। ज्ञान और क्रिया का समन्वय चाहिए। चारित्रगुण से हीन ज्ञान की अधिकता भी अंध के सामने लाखों दीपक जलाने के समान निष्फल है। आत्मा पर लगे दोषों को दूर करने के लिए ज्ञान का प्रकाश और सम्यक्क्रिया-दोनों ही आवश्यक हैं। यह हो सकता है कि किसी भूमिका पर ज्ञान प्रधान है, क्रिया गौण और किसी भूमिका पर क्रिया प्रधान है और ज्ञान गौण। प्रमत्त गुणस्थान तक क्रिया की प्रधानता है। चौथे गुणस्थान पर सम्यक्त्व प्राप्त होता है और उसका रक्षण करने वाली क्रिया, देव-गुरु-संघ की भक्ति, शासनोन्नति की क्रिया है। देशविरति का रक्षण करने वाली क्रियाएँ गृहस्थ के षट्कर्म, बारहव्रत आदि का पालन हैं। सर्वविरति का रक्षण करने वाली क्रिया साधु की प्रतिदिन की सामाचारी, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के अवलम्बन के बिना ये गुणस्थान टिक नहीं सकते हैं। प्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त यदि बिना क्रिया के केवल भाव से विशुद्धि मानें-यह उचित नहीं है। अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से ज्ञान की प्रधानता हो जाती है और क्रिया गौणरूप में होती है। देश, काल, परिस्थिति, साधक की भूमिका के अनुरूप ज्ञान तथा क्रिया प्रमुख तथा गौण रूप में रहते हैं। कर्मयोग में केवल क्रिया ही होती है, अन्य नहीं और ज्ञानयोग में केवल ज्ञान ही होता है, अन्य कुछ भी नहीं - ऐसा संभव नहीं है। ज्ञान तथा क्रिया दोनों साथ-साथ ही रहते हैं। साधक को कर्मयोग से ज्ञानयोग में जाने का प्रयास करना चाहिए। कर्मयोग और ज्ञानयोग-दोनों के मध्य दशाभेद है। ज्ञानयोग की दशा उत्कृष्ट है।

(५१६) ज्ञानिनां कर्मयोगेन चित्तशुद्धिपेयुषाम्।
निरवद्यप्रवृत्तीनां ज्ञानयोगौचिती ततः।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> कर्मयोग द्वारा चित्त की शुद्धि प्राप्त करने वाले, निरवद्य प्रवृत्ति वाले ज्ञानियों को उससे (कर्म से) ज्ञानयोग की योग्यता प्राप्त होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग श्रेष्ठ है, परंतु जब तक जीव में कर्मयोग की योग्यता नहीं आती है, तब तक ज्ञानयोग की योग्यता भी नहीं आ सकती है। ज्ञानयोग का चित्त (मन) के साथ अधिक सम्बन्ध है, इसलिए ज्ञानयोगी में चित्तशुद्धि की प्रथम आवश्यकता है और चित्तशुद्धि के विविध उपायों में महत्वपूर्ण उपाय कर्मयोग है। क्रिया के बिना ज्ञानी की भी चित्तशुद्धि नहीं है। साधक को जिस-जिस समय, जो-जो क्रिया या कार्य कर्त्तव्यरूप में सामने हैं, उन क्रियाओं को क्या वह शुद्ध रूप से विधिपूर्वक करता है या उनकी उपेक्षा करता है ? जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे करता है ? मन में रोष या द्वेष के साथ करता है या उसमें स्वस्थता धारण करके करता है ? क्या वह उन्हें आसक्ति के बिना करता है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर से साधक की अवस्था का कितना विकास हुआ है- यह समझ सकते हैं। सामान्य मनुष्य ऐसी क्रियाएँ जिस प्रकार करता है, उसके चित्त की जितनी शुद्धि होती है, उसकी उपेक्षा ज्ञानीजन की क्रियाएँ विशुद्धिपूर्वक चित्त की एकाग्रता और पवित्रतापूर्वक तथा कालादि नियमों का पालन करते हुए विधिपूर्वक होती हैं। जैसे-जैसे वे क्रिया करते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके चित्त की विशुद्धि बढ़ती जाती है। उनके चित्तशुद्धिकरण का स्वयं को तो पता चलता ही है, किन्तु उनके व्यवहार से अन्य लोगों को भी चित्त की स्वस्थता की विशुद्धि का आभास होता है। जब ऐसा होता है, तब ज्ञानी में कर्मयोग से ज्ञानयोग में आने की पात्रता का विकास होता है। ज्ञानयोग में आने के बाद उनकी तमाम प्रवृत्तियाँ निर्दोष, पापरहित, निरवद्य बन जाती हैं। इस प्रकार जब वे दोषमुक्त, अर्थात् सावद्य-प्रवृत्तियों से मुक्त बन जाते हैं, तब ज्ञानयोग के लायक बनते हैं। इस प्रकार कर्मयोगी से ज्ञानयोगी बनने के लिए, अपने चित्त की विशुद्धि के लिए घोर पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। ज्ञानयोगी बनना सरल नहीं है और ज्ञानयोगी बनने के बाद उसमें स्थिर रहना भी सरल नहीं है।

(५२०) अत एव हि सुश्राद्ध-चरणस्पर्शनोत्तरम्।
दुःष्पालश्रमणाचारग्रहणं विहितं जिनैः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए सुश्राद्ध के चरण, अर्थात् देशविरति का स्पर्श करने के बाद ही कष्टसाध्य ऐसे साधु के आचार को ग्रहण करने के लिए जिनेश्वरों ने कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> जैनधर्म में साधना के क्रम में पहले मार्गानुसारी, फिर सम्यग्दर्शन, फिर देशविरति और अंत में सर्वविरति का क्रम आता है। देशविरति-यह सच्चे श्रावक का आचारधर्म है और सर्वविरति-यह साधु का आचारधर्म है। देशविरति, अर्थात् अमुक अंश में दोषमय प्रवृत्तियों का त्याग करना और सर्वविरति, अर्थात् पापमय (सावद्य) प्रवृत्तियों से सर्वथा विराम पाना। जब तक देशविरति में निपुणता नहीं आए, तब तक सर्वविरति की ओर कदम कैसे बढ़ा सकते हैं ? क्योंकि सर्वविरति का पालन तो अत्यंत कष्टसाध्य है। वह तलवार की धार पर चलने के समान है।

त्यागियों की यह संस्था है,
कायरों का यहाँ काम नहीं,
पंचमहाव्रत का पालन करते,
शूरवीर का मुकाम यहीं।

श्रावक के अणुव्रत हैं और साधु के महाव्रत। जो अणुव्रत का बराबर पालन नहीं कर सकता है, वह सीधे महाव्रत के पालन का भार कैसे उठा सकता है ? अतः, प्रथम तो अणुव्रत का अभ्यास करना चाहिए, जब उसमें निपुणता आ जाए, वो सहज हो जाए, तब सर्वविरति की ओर कदम बढ़ाना चाहिए। एक अपेक्षा से, श्रावक के अणुव्रत (देशविरति) -यह कर्मयोग है और साधु का सर्वविरतित्त्व-यह ज्ञानयोग है, इसलिए जिनको ज्ञानयोग को सिद्ध करना है, उन्हें पहले कर्मयोग को सिद्ध करना पड़ता है। जिसे स्नोतकोत्तर की उपाधि लेना है, उसे पहले स्नातक होना ही पड़ेगा है। जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है कि जब तक देशविरति के पालन करने का सामर्थ्य नहीं है, योग्यता नहीं है, तब तक सर्वविरति के पालन की योग्यता भी नहीं आ सकती। पूर्वजन्म के उच्च संस्कार वाले जीवों के लिए यह

अपवाद हो सकता है। सामान्य (उत्सर्ग) नियम तो यही है - प्रथम, देशविरति की योग्यता को प्राप्त करे फिर सर्वविरति को ग्रहण करें।

(५२१) एकोद्देशेन संवृत्तं कर्म यत्पौर्वभूमिकम्।
दोषोच्छेदकरं तत्स्याद् ज्ञानयोगप्रवृद्धये।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> पूर्व भूमिका के रूप में जो कर्म एक उद्देश्य (भाग) से हुआ हो, तो वह (कर्म) दोषों का नाश करने वाला तथा ज्ञानयोग की वृद्धि करने वाला होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्वश्लोक में देशविरति और सर्वविरति-धर्म की चर्चा की गई। देशविरतिधर्म प्रायः कर्मप्रधान होता है, जबकि सर्वविरतिधर्म ज्ञानप्रधान है। साधक का लक्ष्य कर्मयोग से ज्ञानयोग में जाने का होना चाहिए। ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग निकृष्ट है, इसलिए वह निरर्थक है - ऐसा नहीं मानना चाहिए। इसकी भी उपयोगिता है। क्रियायोग ज्ञानयोग की पूर्वपीठिका है। क्रिया अन्तिम लक्ष्य नहीं है, किन्तु पूर्वभूमिकारूप जो 'कर्मयोग' का आचरण किया गया, वह अब दोष-निवारण के लिए होता है। देशविरति व्रत में स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमरण आदि, अर्थात् संकल्पपूर्वक निर्दोष जीव की निष्कारण हिंसा नहीं करना-इस रूप में पहला अणुव्रत होता है, जिसमें सम्पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं होता है, किन्तु आंशिक हिंसा का त्याग होता है। इस प्रकार सभी व्रतों का आंशिक पालन होता है। इसका अभ्यास करते-करते साधक श्रावक की उत्कृष्ट भूमिका पर तब आता है, जब उसके क्रोधादि कषाय निर्बल हो जाते हैं। जब अनंतानुबंधी क्रोधादि बारह कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो जाता है, तब वह कर्मयोग से ज्ञानयोग में गति करने के योग्य होता है। जब वह आंशिक त्याग से पूर्ण त्याग में आता है, तब उसके दोष घटते जाते हैं और आत्मसाधना की ओर रुचि बढ़ती जाती है। इस प्रकार देशविरतिव्रतरूपी कर्मयोग दोषों के निवारण के लिए और ज्ञानयोग की वृद्धि के लिए सुंदर भूमिका निभाता है।

(५२२) अज्ञानिनां तु यत्कर्म न ततश्चित्तशोधनम्।
यागादेरतथाभावाद् म्लेच्छादिकृतकर्मवत्।।२८।।

अनुवाद - अज्ञानियों का जो कर्म है, उससे चित्त की शुद्धि नहीं होती है। म्लेच्छादि द्वारा किए गए कर्म की तरह यज्ञ आदि में भी वैसे भाव नहीं होते हैं।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने पूर्व में बताया है कि जीव की प्रत्येक क्रिया कर्मयोग नहीं बनती है। जो क्रिया अध्यात्म के आशय से, मोक्ष के लक्ष्य से, विधिपूर्वक मन के शुभ अध्यवसायों द्वारा की जाए, वह क्रिया ही कर्मयोग के अन्तर्गत आती है। इसमें भी ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया के मध्य अन्तर हो जाता है। जहाँ ज्ञान नहीं हो, वहाँ क्रिया शुद्ध हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। शुभ आशय होने पर भी अज्ञानी की क्रिया अशुद्ध हो सकती है। जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ क्रिया का आशय शुद्ध हो या न भी हो, इसलिए भगवान् महावीर ने कहा-"पढमं नाणं तओ दया", पहले ज्ञान, विवेक होना जरूरी है, फिर उसका आचरण। ज्ञान से ही व्यक्ति को हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान होता है, उसमें सत्य, असत्य, तत्त्व, अतत्त्व आदि का विवेक जाग्रत होता है। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति अविवेकपूर्वक आचरण करता है। ग्रंथकार ने यहाँ उदाहरण दिया है कि कई म्लेच्छ, अर्थात् जंगली अनार्य व्यक्ति अपने इष्ट देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिए पशु की या मनुष्य की बलि देते हैं, अतः बलि देने की उनकी क्रिया कर्मयोग नहीं कहला सकती है। देवी-देवता को प्रसन्न करना-ऐसा शुभ आशय होने पर भी अज्ञान के कारण वह क्रिया पापमय हो जाती है। इस प्रकार अज्ञानी की धर्मक्रिया कर्मयोग नहीं बन सकती है। इससे चित्त की विशुद्धि नहीं होती है। इसी प्रकार, कितने ही लोग यज्ञ आदि करते हैं, परंतु उनके चित्त का शोधन नहीं होता है, इसलिए कर्मयोग के स्वरूप को सूक्ष्मता से समझना आवश्यक है।

(५२३) न च तत्कर्मयोगेऽपि फल संकल्पवर्जनात्।
संन्यासो ब्रह्मबोधाद्वा सावद्यत्वात्स्वरूपतः।।२६।।

अनुवाद - ऐसे कर्मयोग में भी फल के संकल्प का त्याग करने से, अथवा ब्रह्मबोध से वह संन्यास (ज्ञानयोग) नहीं बन सकता है, क्योंकि वह स्वरूप से ही सावद्य है।

विशेषार्थ - पूर्वश्लोक की ही बात को यहाँ स्पष्ट किया गया है। अनासक्त, निष्काम-भाव से भी यदि कोई सावद्य-क्रिया करता है-तो वह ज्ञानयोग का आधार नहीं बनती है। यज्ञ आदि ऐसे कर्मयोग में फल के संकल्प का त्याग हो, अथवा जिसमें ब्रह्मबोध हो, तो भी जब तक क्रियाएँ पापरूप हैं, सावद्य हैं, तब तक वे ज्ञानयोग नहीं बन सकती हैं। यज्ञ करने से राज्यसुख, पुत्रसुख, स्वर्ग का सुख आदि प्राप्त होते हैं- इस प्रकार कहा जाता है। वे यदि कोई यज्ञ करे और राज्य, पुत्रादि इहलौकिक तथा स्वर्गादि पारलौकिक सुख की फलाकांक्षा न करे और वह चित्त की शुद्धि के लिए यज्ञ करे, तो उसके चित्त की शुद्धि नहीं होती है, क्योंकि मूल प्रवृत्ति ही सावद्य है, दोषरूप है, पापरूप है। जब तक प्रवृत्ति स्वयं निष्पाप नहीं हो, अथवा पाप से युक्त हो, तब तक अन्य प्रकार की निर्मलता से कुछ प्राप्त नहीं होता। आशय चाहे शुद्ध हो, किन्तु साधन अशुद्ध हो, तो भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। किसी चिकित्सक का लक्ष्य रोगी को बचाने का, बीमारी से मुक्त करने का होता है, किन्तु उसे उस बीमारी से सम्बन्धित औषधि का ज्ञान नहीं है और वह अविवेकपूर्वक कोई गलत औषधि दे देता है, तो उस चिकित्सक का आशय शुद्ध होने पर भी गलत साधन का उपयोग करने से वह उस रोगी को रोगमुक्त करने के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। ठीक इसी प्रकार, यज्ञादि सावद्य-क्रियारूपी गलत साधन होने से आशय शुद्ध होने पर भी चित्त की शुद्धि नहीं होती है, ज्ञानयोग की प्राप्ति नहीं होती है।

(५२४) नो चेदित्थं भवेच्छुद्धिर्गोहिंसादेरपि स्फुटा।
श्येनाद्वा वेदविहिताद् विशेषानुपलक्षणात्।।३०।।

अनुवाद - अगर इस प्रकार न हो, अर्थात् वेदविहित हिंसा अमान्य न हो, तो फिर गो-हिंसा आदि से भी शुद्धि होना चाहिए और वेद में

कहे हुए श्येनयाग से भी शुद्धि होना चाहिए, क्योंकि दोनों में कोई विशेष लक्षण भेद नहीं हैं।

विशेषार्थ – प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने कितनी ही सावद्य-प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में अपना मंतव्य स्पष्ट किया है। कोई यदि इस प्रकार तर्क करे कि यज्ञ आदि क्रिया चाहे सावद्य हो, परंतु वेद को अगर मान्य हो, तो उसमें कोई दोष नहीं लगता है, अर्थात् वेदविहित क्रिया चाहे सावद्य हो, उससे चित्त की शुद्धि होती है, परंतु वेदों को मानने वालेयज्ञ में पशु की बलि देते हों और जंगली अनार्य व्यक्ति भी अपने इष्टदेवता को प्रसन्न करने के लिए गाय का वध करते हों, तो दोनों प्रकार की सावद्य-प्रवृत्तियां एक जैसी ही मानी जाएंगी, इसलिए वेदों को मानने वाले यदि यज्ञ को योग्य मानते हों, तो अनार्यों के गोवध को भी योग्य मानना. चाहिए।

वेदों को मानने वाले यह तर्क देते हैं कि गोवध की क्रिया को वेद ने मान्यता प्रदान नहीं की है, परंतु हमारे यज्ञ को वेद ने मान्यता प्रदान की है, इसलिए हमारे वेदविहित यज्ञादि से चित्तशुद्धि हो सकती है। सभी दर्शनों के ज्ञाता उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि यदि कोई वेदविहित सभी क्रियाओं को शुभ और चित्तशुद्धि करने वाली मानता है, तो फिर उसे वेद में 'श्येनयाग' को भी पवित्र और शुभ ही मानना पड़ेगा। श्येन अर्थात् बाज नामक पक्षी, याग अर्थात् यज्ञ। इस यज्ञ में बाज की आहुति दी जाती है। श्येनयाग में मारण आदि प्रकार के मंत्र होते हैं। ऐसे यज्ञ दूसरे को खत्म करने के लिए किए जाते हैं। इस प्रकार के यज्ञ करने का वेद में आदेश दिया गया है, परंतु बाद के शास्त्रकारों ने श्येनयाग का निषेध कर दिया इसलिए उपाध्याय यशोविजयजी तर्क करते हैं कि वेदों में जो करने के लिए कहा गया है, वह सब पवित्र ही है, तो फिर श्येनयाग भी पवित्र और करने जैसा है-इस प्रकार स्वीकार करना पड़ेगा, परंतु वेदों को मानने वालों को यह स्वीकार नहीं है।

इस प्रकार, सभी दृष्टिबिन्दुओं पर विचार करने पर सार यही निकलता है कि धर्मक्रिया में हिंसादि दोष हों, तो वह धर्मक्रिया सावद्य होने से चित्त की शुद्धि नहीं कर सकती है, अतः साध्यशुद्धि के साथ साधन की शुद्धि भी आवश्यक है।

(५२५) सावद्य कर्म नो तस्मादादेयं बुद्धिविप्लवात्।
कर्मोदयागते त्वस्मिन् न संकल्पादबंधनम्।।३१।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए बुद्धि को विपरीत करने वाला होने से सावद्य कर्म स्वीकारने योग्य नहीं है। कर्म के उदय के कारण से ऐसा हुआ हो, किंतु उसमें संकल्प नहीं होने से कर्म का बंध नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार पूर्व बात को ही पुष्ट करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार पशुवध, नरबलि आदि जिसमें होती हो, ऐसी घोर हिंसा वाली धर्मक्रिया चाहे जैसा इष्ट फल प्रदान करती हो, किंतु वह आदर के योग्य नहीं है। एक बार अगर ऐसी प्रवृत्तियों को बहुमान दे दिया जाए, तो लोगों की बुद्धि विपरीत हो जाती है, फिर धर्म के नाम पर घोर हिंसा के कार्य होने की संभावना रहती है, अतः इस प्रकार की हिंसात्मक धार्मिक-क्रियाविधि का आदर नहीं कर सकते हैं। जिसमें सूक्ष्म हिंसा होती हो, ऐसी सावद्य-क्रियाएँ भी होती हैं। पूर्वकर्म के उदय के कारण अनजाने में ऐसी कोई सावद्य-क्रिया हो जाए, तो उसमें करने का संकल्प या इरादा नहीं होने से अशुभ कर्म का बंध नहीं होता है।

(५२६) कर्माप्याचरतो ज्ञातुर्मुक्तौ भावो न हीयते।
तत्र संकल्पजो बंधो गीयते यत्परैरपि।।३२।।

<u>अनुवाद -</u> कर्म का आचरण होने पर भी ज्ञानी के मुक्ति के भाव को हानि नहीं होती है, क्योंकि उसमें संकल्प से ही बंध उत्पन्न होता है। अन्य दर्शनियों ने भी ऐसा कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> क्या ज्ञानयोगी मुनि को सावद्य कर्म करने का कभी अवसर नहीं आता है ? ग्रंथकार इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहते हैं - ऐसा नहीं कह सकते हैं कि ज्ञानयोगी मुनि को सावद्य-कर्म करने का कभी अवसर नहीं आता है। कभी-कभी निकाचित पूर्वकर्म के उदय से मुनि से भी विकट संयोग में सावद्य-कर्म हो जाते हैं, जैसे-विकट समय में नदी पार करने का अवसर आए, या प्राचीन दृष्टान्त, जैसे वज्रस्वामीजी ने जिनपूजा के लिए संघ को पुष्प उपलब्ध कराए, कालिकाचार्य ने साध्वी के शील की रक्षा के लिए युद्ध किया, विष्णुकुमार ने जिनशासन की रक्षा के लिए नमुचि

की हत्या की। इस समय ऐसे कर्म करने का उनका संकल्प नहीं था, उनके भाव नहीं थे, इसलिए संकल्प के अभाव में अशुभकर्म का बंध उनको नहीं होता है, अतः उनके मुक्ति के भाव को हानि नहीं पँहुचती है। उनकी मोक्ष की भावना बराबर बनी रहती है, चित्त की शुद्धता भी बनी रहती है।

जैनदर्शन में द्रव्यक्रिया और भावक्रिया-दोनों पर अत्यंत सूक्ष्म चिंतन किया गया है। हृदय में अत्यंत निर्मल भाव हों, परंतु कार्य का परिणाम अशुभ आता है, तो वहाँ संकल्प अशुभ का नहीं है, इसलिए अशुभ का बंध नहीं होता है, इसलिए कहा गया है- 'भावना भव नाशिनी', भावना से भव का नाश होता है। शुभ भाव होने पर क्रिया भी प्रायः शुभ ही होती है, किन्तु कभी-कभी ऐसे प्रतिकूल अवसर पर जिनशासन का आदि की रक्षा का प्रश्न हो और उस समय कोई सावद्य-क्रिया करना पड़े, तो अशुभ कर्म का बंध नहीं होता है। जैनदर्शन के साथ अन्य दर्शनों ने भी इस बात की पुष्टि की है।

(५२७) कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येष स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।३३।।

<u>अनुवाद</u> - जो कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला योगी है।

<u>विशेषार्थ</u> - ग्रंथकार ने अपने वक्तव्य के समर्थन में गीता के चौथे अध्याय का अठारहवां श्लोक यहाँ दिया है। प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। कर्म में अकर्म को देखना, अर्थात् कर्म करते हुए भी उसमें से कर्तृत्त्वभाव निकाल देना, उससे निर्लिप्त रहना। काजल की कोठरी में प्रवेश करके भी काजल से सर्वथा निर्लिप्त रहना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। ऐसे ही, सम्पूर्ण कर्त्तव्य निभाते हुए, कर्मो को करते हुए भी कर्म से सर्वथा निर्लिप्त रहना साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति का काम नहीं है, इसलिए ऐसे कर्मयोगी को मनुष्यों में विशिष्ट बुद्धिमान कहा गया है। कर्मयोगी की प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनों निर्लिप्ततापूर्वक होती हैं। अनासक्त भाव से अर्थात् रागद्वेषरहित होकर आँख, नाक, कान आदि के द्वारा कर्त्तव्य रूप में जो कर्म सामने उपस्थित हुए, वह उन कर्मों को करता है। शरीर है,

तो वह आहार भी ग्रहण करेगा, आखँ हैं, तो देखेगा भी, कान है तो सुनेगा भी, किन्तु इन प्रवृत्तियों में न उसे राग होता है, न द्वेष। अपने कर्म के अलावा वह अन्य के कर्मों को भी साक्षी भाव से देखता है, उसमें अपनी कर्म-आत्मा को जोड़ता नहीं है, क्योंकि वह अनासक्त और इच्छारहित होता है।

बुद्धिमान् पुरुष अकर्म में कर्म को देखता है। इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य व्यवहार देहभाव में रहने से कई बार बाह्यदृष्टि से वह कुछ भी नहीं करता है, किन्तु मन से अंहकार, ईर्ष्या, क्रोध आदि बहुत कुछ करता है, इसलिए अज्ञानी लोगों के अकर्म में भी वे कर्म (कर्मबंध) देखते हैं। अकर्म में कर्म का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्ञानी बाह्यदृष्टि से कुछ नहीं करते हुए अपने आत्मस्वरूप का कर्त्ता और भोक्ता होता हैं। ऐसा योगारूढ़ मुनि अपनी सभी क्रियाओं को योगपूर्वक करने के कारण सभी कर्मों को करने वाला माना जाता है।

जब तक कुछ-न-कुछ पाने की इच्छा रहती है, तब तक करने का राग नहीं मिटता है। जब तक नाशवान् फल की इच्छा है, तब तक कर्मबंध करना समाप्त नहीं होता है, परंतु जब नाशवान् से सर्वथा सम्बन्ध छूटकर अविनाशी फल की, अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, तब ज्ञानी को कर्म करने तथा नहीं करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता है, अर्थात् उसके लिए अब कुछ करना शेष नहीं होता है। वह कृतकृत्य हो जाता है।

सार यही है कि मनुष्य में फलेच्छा और कर्तृत्त्व-अभिमान नहीं रहना चाहिए, क्योंकि इन दोनों से ही मनुष्य कर्मबन्ध करता है।

(५२८) कर्मण्यकर्म वा कर्म कर्मण्यस्मिन्नुभे अपि।
नोभे वा भंगवैचित्र्याद कर्मण्यपि नो मते।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> कर्म में अकर्म अथवा कर्म में कर्म- इन दोनों के होने पर अथवा नहीं होने पर भंग की विचित्रता के कारण उसी प्रकार अकर्म के विषय में भी माना गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> कार की चार अवस्थाएँ होती हैं-

१. कार गैरेज में खड़ी होने पर न इंजन चलता है और न पहिए चलते हैं। २. कार चालू करने पर इंजन तो चलने लगता है, पर पहिए नहीं चलते। ३. कार को वहाँ से रवाना होने पर इंजन भी चलता है और पहिए भी चलते हैं। ४. निरापद अथवा ढलान का मार्ग आने पर इंजन को बंद कर देते हैं और मात्र पहिए चलते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की भी चार अवस्थाएँ होती हैं - १. न कामना होती है और न कर्म होता है। २. कामना तो होती है, पर कर्म नहीं होता है। ३. कामना भी होती है और कर्म भी होता है। ४. कामना तो नहीं होती, परन्तु कर्म होता है। मन, वचन, काया के योग जैन धर्म के अनुसार असंख्य हैं, इसलिए कर्मयोग का रहस्य भी गहन है। कार्य करते हुए भी मनुष्य कार्य नहीं करता हुआ कहलाता है और कार्य नहीं करते हुए भी वह कार्य करते हुए माना जाता है। ऐसी सूक्ष्म स्थिति मन के कारण होती है। कर्म में कर्म और अकर्म हैं और नहीं हैं; अकर्म में कर्म और अकर्म हैं और नहीं हैं, इस प्रकार भेद किए जाते हैं। इस प्रकार कर्मयोग के निम्न आठ भेद हो सकते है -

१. कर्म में कर्मरूपी कर्मयोग (कर्त्तृत्त्व के अभिमान से युक्त क्रिया)

२. कर्म में अकर्मरूपी कर्मयोग (क्रिया ही, किन्तु कर्त्तृत्त्व का अभिमान नहीं हो)

३. कर्म में कर्म-अकर्मरूपी कर्मयोग, अर्थात् क्रिया में क्वचित् कर्त्तृत्त्व का अभिमान हो और क्वचित् अभिमान नहीं भी हो।

४. कर्म में न कर्म न अकर्मरूपी कर्मयोग, अर्थात् क्रिया में न क्रियारूपता हो और न कृर्त्तृत्व का अभिमान हो।'

इसी प्रकार अकर्म, अर्थात् कर्त्तृत्त्वबुद्धि से रहित क्रिया के भी चार भेद हो सकते है।

कर्म और अकर्म का यह विषय अत्यंत गहन है। यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के रूप में किया गया है और अकर्म शब्द का अर्थ कर्त्तृत्त्वबुद्धि या राग-द्वेष आदि से रहित क्रिया से है।

(५२९) कर्म नैष्कर्म्यवैषम्यमुदासीनी विभावयन्।
ज्ञानी नो लिप्यते भोगैः पद्मपत्रमिवांभसा।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> कर्म और निष्कर्म की विषमता का चिंतन करते हुए उदासीन ज्ञानी जल कमलपत्र की तरह भोगों में लिप्त नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> कर्म और निष्कर्म (कर्मयोग और ज्ञानयोग) के मध्य विषमता का चिंतन करते हुए ज्ञानी उदासीन हो जाता है। उदासीन, अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सभी प्रकार के द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना। इस प्रकार की उदासीनता जिसने प्राप्त की है, ऐसे योगी खान-पान आदि के प्रति भी उदासीन रहते हैं। कदाचित् उनको भोग भोगने भी पड़ते हैं, तो भी वे उसमें लिप्त नहीं होते हैं। जैसे कमल का पत्र (पत्ता) जल में ही उत्पन्न होकर जल में रहते हुए भी जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी कर्ममय जगत् में रहकर कर्म करते हुए भी कर्मों से लिप्त नहीं होता, देह के निर्वाह के लिए या अन्य प्रयोजन के लिए ज्ञानी भी कर्म करते हैं, परंतु उसमें वे रस नहीं लेते, इसलिए वे कर्म से लिप्त नहीं होते और कर्म करते हुए भी उसमें उनका कर्त्तृत्त्वभाव, भोक्तृत्त्वभाव नहीं रहता। बैंक में केशियर के हाथों में लाखों-करोड़ों रुपए प्रतिदिन आते हैं, किंतु उन रुपयों से उसका लगाव नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि वे उसके नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञानीजन भी मानते हैं कि शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब बिछुड़ने वाली हैं, अपनी नहीं हैं, इससे अपनेपन की मान्यता का त्याग हो जाता है। वे ज्ञातादृष्टा बनकर कर्म को मात्र साक्षीभाव से करते हैं, इसलिए उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

(५३०) पापकरणमात्राद्धि न मौनं विचिकित्सया।
अनन्यपरमात्साम्याद् ज्ञानयोगी भवेन्मुनिः।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> केवल पापाचरण नहीं करने से एवं विचिकित्सा मात्र से मुनि नहीं बना जा सकता। अनन्य परम समता (समत्व) धारण करने से ही ज्ञानयोगी मुनि होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मुनि को सावद्य-प्रवृत्ति नहीं करने के प्रत्याख्यान होते हैं। गृहस्थ-जीवन का त्याग करके कोई व्यक्ति साधु बनता है, तो गृहस्थ-जीवन

की आरंभ-समारंभ की प्रवृत्तियों से वह मुक्त हो जाता है। उसे धन के उर्पाजन की चिंता नहीं होती है; परिवार के पालन-पोषण की प्रवृत्ति नहीं रहती है, उसके द्वारा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा की प्रवृत्ति भी नहीं रहती है। इस प्रकार द्रव्य से मुनि को किसी भी प्रकार सावद्य-प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु मात्र पापरूप प्रवृत्ति छोड़ देने से क्या वह मुनि हो जाता है ? नहीं, मुनि बनने के लिए केवल सावद्य-प्रवृत्तियों का त्याग ही काफी नहीं है, बल्कि संयम आदि व्रतों की उपासना भी करना पड़ती है। परीषह आदि सहन करते हुए कर्म की निर्जरा के लिए उसे पुरुषार्थ करना पड़ता है।

वस्तुतः, श्रमण को साधना करनी है-कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए, राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए, अन्य द्रव्यक्रिया तो साधन हैं, समता ही साध्य है, साधना द्वारा समता को प्राप्त करना है। जब मुनि साधना करते-करते उत्कृष्ट समता प्राप्त कर लेता है, तब वह ज्ञानयोगी बनता है। इस प्रकार मुनिजीवन में भी आदर्श तो ज्ञानयोगी बनने का ही है, अतः सावद्य-व्यापार के त्याग के साथ-साथ स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यकादि, तप आदि क्रियाओं को करते हुए समता को साधकर मुनि को ज्ञानयोगी बनने का प्रयास करना चाहिए। इसी दशा में आत्मा का साक्षात्कार होता है।

(५३१) विषयेषु न रागी या द्वेषी वा मौनमश्नुते।
समं रूपं विदंस्तेषु ज्ञानयोगी न लिप्यते।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> विषयों में रागी या द्वेषी नहीं होने से, वे मुनित्व को प्राप्त करते हैं। उनको (विषयों के स्वरूप को) समभाव से जानते हुए ज्ञानयोगी उनमें लिप्त नहीं होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोगी का स्वरूप बताया गया है। ज्ञानयोगी सांसारिक-विषयों के प्रति रागी भी नहीं होते और द्वेषी भी नहीं होते। सामान्य व्यक्तियों में विषय सुख के प्रलोभन के कारण आसक्ति, कषाय, कामना, राग-द्वेष, ममता, अहंता आदि समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। जो विषयों की पूर्ति में साधक होता है, उसके प्रति राग हो जाता है, जो विषयपूर्ति में बाधक बनता है, उसके प्रति द्वेष हो जाता है, इसका कारण विषयभोगों में ही सुख मान लेना है, किन्तु ज्ञानी विषयों का स्वरूप समझते हैं। जिस प्रकार हजारों नदियाँ समुद्र को तृप्त नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार

विषय-भोग भी इन्द्रियों को तृप्त नहीं कर सकते। विषयों से क्षणिक सुख का आभास होता है, किन्तु वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए ज्ञानियों को विषयों के प्रति राग नहीं होता। ज्ञानयोगी की राग-द्वेष से मुक्त होने की साधना होती है। वे शरीर, इन्द्रिय, मन, घर, सम्पत्ति आदि समस्त पौद्गलिक परिवर्तनशील विनाशी पदार्थों की कामना, ममता, तादात्म्य तथा इनसे मिलने वाले विषयभोगों के विकारी सुखों का त्याग कर, इनसे संबंध विच्छेद कर, इनसे असंग व अतीत होकर ध्रुव, शाश्वत, अविनाशी निजस्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। कदाचित् कर्मवश उन्हें सुख भोगना भी पड़े, तो भी वे उसमें लिप्त नहीं होते हैं। ये सब पुद्गल की माया है - इस तरह उनको स्पष्ट ज्ञान रहता है, इसलिए वे आन्तरिक रूप से इनसे अलिप्त रहते हैं और इसीलिए न उन्हें राग होता है, न द्वेष।

(५३२) सतत्त्वचिन्तया यस्याभिसमन्वागता इमे।
आत्मवान् ज्ञानवान् वेदधर्म ब्रह्ममयो हि सः।।३८।।

<u>अनुवाद -</u> तत्त्वचिंतन करने के बाद जिसने इनको, अर्थात् विषयों को स्ववश कर लिया है, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवित् और ब्रह्मवित् है।

<u>विशेषार्थ -</u> मोदक में जहर है - यह जानने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति उस मोदक को खाने के लिए नहीं ललचाएगा। वैसे ही, जिन ज्ञानियों ने विषयों के स्वरूप को समझ लिया है, उनकी निरर्थकता को जान लिया है, उनके विषमय स्वभाव का अनुभव कर लिया है, उन ज्ञानियों के मन से ही विषयों का आकर्षण सदा के लिए समाप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञानयोगी को कोई आत्मवान् कहता है, तो वह योग्य ही है, क्योंकि वे अपने आत्मस्वरूप में ही रमण करते हैं। उनकी देहदृष्टि निकल जाती है, देह होने पर भी वे देहातीत हो जाते हैं। देह और आत्मा के भेदज्ञान को उन्होंने स्पष्ट अनुभव कर लिया है, इसलिए वे आत्मवान् हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है - ऐसा वे अनुभव करते हैं। उनका विवेक जाग्रत रहता है, अतः उन्हें ज्ञानवान् भी कहते हैं। वे वेदवान् हैं, क्योंकि वैदिक-दर्शन वाले ऐसे ज्ञानयोगी को वेदवान् कहते हैं। वे वेदविद्, अर्थात् वेद को जानने वाले होते हैं। जैनदर्शन के अनुसार वेद, अर्थात् आगमग्रंथ। ऐसे ज्ञानयोगी उत्तराध्ययन,

आचारांग, दशवैकालिक आदि आगमशास्त्रों के समर्थ ज्ञाता होने से वेदवान् कहलाते हैं, अथवा उन्होंने आत्मा के वेदन का अनुभव किया, इसलिए भी उन्हें वेदवान् कह सकते हैं। वे धर्म को, मोक्षमार्ग को जानने वाले होने से धर्मवित् कहलाते हैं। उन्हें ब्रह्मवित् भी कहते हैं। ब्रह्म, अर्थात् आत्मा। उन्होंने आत्मिक-सुख को जान लिया है, अनुभव कर लिया है, अतः वे ब्रह्मवित् हैं। इस प्रकार शब्द अलग-अलग होने पर भी भाव सबके समान हैं।

(५३३) वैषम्यबीजमज्ञानं निघ्नन्ति ज्ञानयोगिनः।
विषयांस्ते परिज्ञाय लोकं जानन्ति तत्त्वतः।।३६।।

अनुवाद - ज्ञानयोगी विषमता के बीजरूप अज्ञान का नाश करते हैं। वे विषयों को पहचानकर लोकस्वरूप को तत्त्वतः (वास्तविक रूप में) जानते हैं।

विशेषार्थ - लौकिक-दृष्टि से देखा जाए, तो जगत् में अनेक विषमताएँ समाई हुई हैं। कोई गरीब है, कोई धनवान्, कोई मूर्ख है, कोई विद्वान्, कोई सुखी, कोई दुःखी। अपने-अपने कर्म के अनुसार जीव को सामग्री प्राप्त होती है। कभी अनुकूल अवसर आते हैं, कभी प्रतिकूल, किंतु जो अज्ञानीजन हैं, वे अनुकूलता में सुखी और प्रतिकूलता में दुःखी हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति धन की प्राप्ति से सुख और धन की हानि से दुःख, व्यक्ति के संयोग से सुख और वियोग से दुःख, अपने सम्मान से सुख और अपमान से दुःख, इष्ट वस्तु के संयोग से सुख और वियोग में दुःख का अनुभव करते हैं। वास्तव में, सुख-दुःख का कारण वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति नहीं है, बल्कि अपनी अज्ञानजनित राग-द्वेषात्मक प्रतिक्रिया है। कोई व्यक्ति बबूल के काँटों से बचने के लिए उन्हें तोड़ता रहे, पर बबूल की जड़ को नहीं उखाड़े, तो काँटों से छुटकारा कभी नहीं होगा, बल्कि नए काँटे उत्पन्न होते रहेंगे। इसी प्रकार, दुःख के मूल अज्ञान को दूर न कर, विद्यमान दुःख को दूर करने से नए दुःख सतत् उत्पन्न होते रहेंगे। यदि हम किसी भी घटना के प्रति कोई प्रतिक्रिया न करें, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति उपेक्षाभाव रखें, समता में रहें, तटस्थदृष्टा बनकर रहें, तो कोई वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति आदि सुख-दुःख नहीं दे सकती है। अन्य से जो सुख या दुःख की प्रतीति होती है, वह किसी-न-किसी दोष या अज्ञान की देन है।

ज्ञानयोगी दुःख के मूल अज्ञान को ही दूर कर देता है। अज्ञानता के कारण ही चित्तवृत्ति में विषमता उत्पन्न होती है, और उसी के कारण सुख-दुःख का भेद होता है। ज्ञानयोगी के पास ऐसी तत्त्वदृष्टि होती है, जिससे वह समग्र लोक के स्वरूप को वास्तविक रूप से जानता है, इसलिए वह समग्र लोक का ज्ञातादृष्टा बनकर रहता है। घटनाएँ उसके मन को प्रभावित नहीं करती हैं।

(५३४) **इतपश्चापूर्वविज्ञानाच्चिदानंदविनोदिनः।**
ज्योतिष्मंतो भवन्त्येते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।४०।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार अपूर्व ज्ञान से चिदानंद, अर्थात् आत्मानंद में मस्त रहने वाला यह, ज्ञान द्वारा पाप का नाश करते हुए ज्योतिर्मय होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोगियों के आत्मिक-विकास का परिचय कराया गया है। ज्ञानयोगी समता में स्थित होकर आत्मस्वरूप में रमण करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें शांत, अखण्ड, अनंत रस की उपलब्धि होती है। अपूर्व ज्ञान से, निजस्वरूप के अनुभव से उन्हें परमानंद प्राप्त होता है। ज्ञानयोगी क्रिया, प्रतिक्रिया से रहित ज्ञानदशा में जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त की विशुद्धि बढ़ती जाती है और अशुभ पापकर्मों का क्षय होने लगता है। आत्मा से कर्मों के आवरण हटते जाते हैं। जैसे बादलों में छिपा हुआ सूर्य बादल के हटने से प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के आवरण हटते जाने से आत्मा विशेष ज्योतिर्मय बनती जाती है। उसे आत्मज्योति का साक्षात्कार होने लगता है तथा समता की साधना में स्थिर होने से उसे निराकुलतामय असीम अविनाशी सुख उपलब्ध होता है।

(५३५) **तेजोलेश्याविवृद्धिर्या पर्यायक्रमवृद्धितः।**
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थंभूतस्य युज्यते।।४१।।

<u>अनुवाद -</u> भगवती आदि सूत्रों में कहा गया है कि पर्याय (संयम) के क्रम की वृद्धि से तेजोलेश्या की वृद्धि होती है। यह बात ऐसे ज्ञानयोगी पर ही घटित होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक ग्रंथकार ने स्वयं द्वारा रचित 'ज्ञानसार' नामक ग्रंथ के 'मग्नता' नामक अष्टक से लिया है।

कामना की निवृत्ति और त्याग से जिस सुख का अनुभव होता है, वह सुख वास्तविक होता है। ज्ञानमूलक वैराग्य से प्रेरित होकर जो जीवात्मा संसार का त्याग करके श्रमण-जीवन अंगीकार करता है, जिसने ज्ञान-दर्शन चारित्रमय जीवन जीने का संकल्प कर लिया है, उसे उसी समय से आराधना करते हुए अपूर्व आनंद का अनुभव होता है। दूसरे दिन और अधिक, तीसरे दिन उसमें और वृद्धि होती है। इस तरह साधक विकासक्रम की सीढ़ियाँ चढ़ता जाता है और उसकी शुभलेश्या की वृद्धि होती जाती है। जैसे-जैसे संयमपर्याय में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उसकी शुभलेश्या में भी वृद्धि होने लगती है, उसके आनंद में वृद्धि होती है। एक वर्ष में तो अनुत्तर-देव के सुख भी उसके लिए कोई मूल्य नहीं रखते। चित्तसुख को भी तेजोलेश्या कहा जाता है। यही चित्तसुख एक वर्ष बाद असीम, अमर्यादित बन जाता है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि आत्मानंद अथवा पूर्णानंद की ऐसी क्रमशः वृद्धि केवल श्रमण ही करने में समर्थ हो सकता है।

वैसे, लेश्या छः प्रकार की होती हैं- कृष्ण, नील, कापोत, तेजो (पीत), पद्म और शुक्ल। लेश्या, अर्थात् शुभाशुभ अध्यवसायों के कारण चित्त में से प्रकट होती हुई एक आभा। शुभलेश्या का प्रारंभ तेजोलेश्या से ही होता है। इसके पूर्व की तीनों लेश्याएं अशुभ हैं। क्रोधी, पापी, दुराचारी, पौद्गलिक-सुख में आसक्त व्यक्ति की लेश्या तरतमता के अनुसार कृष्ण, नील या कापोत रंग की होती है। महापुरुषों के विशुद्ध, पवित्र आचरण के कारण भावों की तरतमता के अनुसार अनुक्रम से पीत, पद्म और शुक्ल-लेश्या प्रकट होती है। पीतलेश्या को तेजोलेश्या भी कहते हैं। तेजोलेश्या एक प्रकार की विशिष्ट लब्धि भी होती है।

(५३६) विषमेऽपि समेक्षी यः स ज्ञानी स च पंडितः।
जीवन्मुक्तः स्थिरं ब्रह्म तथा चोक्तं परैरपि।।४२।।

<u>अनुवाद -</u> जो विषम परिस्थिति में भी समदृष्टि वाला है, वही ज्ञानी है, वही पंडित है, वही जीवन्मुक्त है, वही स्थिर ब्रह्म है। अन्य ने भी इसी प्रकार कहा है।

विशेषार्थ - विषमता ही समस्त द्वन्द्वों व दुःखों का कारण है, अतः विषमता के अन्त में ही समस्त द्वन्द्वों, दोषों व दुःखों का अन्त है। संसार के सामान्य जीव जैसा देखते हैं, वैसा मानते हैं और वैसा ही अनुभव करते हैं। चूंकि वे केवल बाह्यदृष्टि से संसार का निरीक्षण करते हैं, इसलिए उनको विषमता का अनुभव होता है। लौकिक-दृष्टि से यह संसार अनेक विषमताओं, विचित्रताओं से भरा हुआ है। संसार में चौरासी लाख योनियों के जीव हैं और प्रत्येक योनियों के जीवों के मध्य भी अनेक भेद हैं। केवल मनुष्य का ही विचार करें, तो उसमें शरीर, रूप, रंग, विद्या, जाति, कुल, धन, सत्ता, वैभव, बुद्धि आदि में भिन्नता है, विषमता है। यह विषमता अनादिकाल से चली आ रही है, परंतु सभी जीव जीवतत्त्व की, आत्मस्वरूप की दृष्टि से एक जैसे हैं- इस प्रकार ज्ञानी अनुभव करते हैं। विषमता वाले सभी जीवों में रहा हुआ समान आत्मतत्त्व देखना, अनुभव करना सामान्य बात नहीं है। जैसे चन्द्रिका का विकास चन्द्र के विकास का द्योतक है, उसी प्रकार जैसे-जैसे आत्मीयता का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा का विकास होता है। जो सभी जीवों में रहे हुए आत्मतत्त्व को समान रूप से देखते हैं, उनका जीवन-व्यवहार भी इतना विवेक से युक्त, करुणा से पूर्ण और विशुद्ध होता है कि उनको ज्ञानी, पण्डित, जीवन्मुक्त, स्थिरब्रह्म इत्यादि नामों से पहचाना जाता है। अन्य धर्मों में भी इस प्रकार कहा गया है।

(५३७) विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।।४३।।

अनुवाद - विद्या और विनय से सम्पन्न ऐसे ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान (कुत्ता) और चांडाल-इन सभी के प्रति पंडित (ज्ञानी) समदर्शी होते हैं।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक श्रीमद्भगवदगीता के पाँचवें अध्याय का अठारहवाँ श्लोक है। अन्य दर्शन में समदृष्टि वाले को ज्ञानी पंडित के रूप में माना गया है- इस बात की पुष्टि के लिए ग्रन्थकार ने यह श्लोक दिया है। ब्राह्मण हो या चांडाल, गाय हो या हाथी या कुत्ता, बाह्यदृष्टि से तरतमता होने पर भी सभी जीवों के प्रति ज्ञानी पंडित समदर्शी होते हैं। वे सभी प्राणियों में समान रूप से रही हुई विशुद्ध आत्मा को देखते हैं। उनकी करुणादृष्टि सभी जीवों के प्रति एक जैसी होती है।

ब्राह्मण, अर्थात् आत्मज्ञानी और चाण्डाल में तथा गाय, हाथी, कुत्ते में व्यवहार की विषमता अनिवार्य है, जैसे-पूजन और सत्कार विद्या तथा विनय से युक्त आत्मज्ञानी का ही हो सकता है, चाण्डाल का नहीं, दूध गाय का ही पीया जा सकता है, कुत्तिया का नहीं, सवारी हाथी पर ही की जा सकती है कुत्ते पर नहीं। इनमें व्यवहार की समता सम्भव नहीं होने पर भी तत्त्वतः सभी प्राणियों में एक जैसा आत्मतत्त्व रहा हुआ है। सभी भव्य जीवों की आत्मा विकास करके परमात्मा बन सकती है। महापुरुषों की दृष्टि उस परमात्मतत्त्व पर सदा-सर्वदा रहती है, इसलिए उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती है।

संत तुकाराम ने भोजन के लिए थाली में रोटी रखी ही थी कि एक कुत्ता आया और रोटी लेकर भाग गया। सन्त तुकाराम घी की कटोरी लेकर उसके पीछे भागे कि मैं और उस कुत्ते से कहने लगे- घी से बिना चुपड़ी रोटी नहीं खाता हूँ, तो तुम बिना घी की रोटी कैसे खाओगे ? अतः इस रोटी पर घी तो चुपड़ने दो।

कहने का तात्पर्य यह है कि सभी प्राणियों में समान आत्मतत्त्व होने के कारण महापुरुषों की दृष्टि में भेद नहीं होता है। उन प्राणियों के प्रति महापुरुषों की आत्मीयता, प्रेम, हित, दया आदि के भावों में अन्तर नहीं पड़ता है। उनके अन्तःकरण में राग, द्वेष, ममता, आसक्ति, अभिमान, पक्षपात, विषमता आदि का सर्वथा अभाव होता है। जैसे अपने शरीर के किसी अंग का दुःख दूर करने की चेष्टा स्वाभाविक होती है, वैसे ही पता लगने पर दूसरे प्राणी का दुःख दूर करने की और उसे सुख पहुँचाने की चेष्टा भी उनके द्वारा स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि ऐसे महापुरुषों को समदर्शी कहा गया है।

(५३८) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।४४।।

<u>अनुवाद -</u> जिनका मन समता में स्थित है, उन्होंने इसी जन्म में संसार को जीत लिया है, अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गए हैं। चूंकि ब्रह्म (आत्मा) निर्दोष और सम है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थित हैं।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक श्रीमद्भगवतगीता के पाँचवें अध्याय से लिया गया है। सभी जीवों के प्रति समान दृष्टि का विकास आसान नहीं है। जिन महापुरुषों ने अपने-आपको समत्व में स्थापित कर लिया है, वे वास्तव में धन्य हैं। जो समत्व में स्थित हैं, वे परमात्मा में स्थित हैं। उन्होंने सारे संसार को जीत लिया है। संसार-सागर से तीर जाने की योग्यता उन्होंने प्राप्त कर ली है। स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति का अनुभव होने पर जब मन में राग-द्वेष, कामना, विषमता आदि का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब स्वतः स्वाभाविक समता आ जाती है, लाना नहीं पड़ती है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सभी 'पर' हैं और जो इनके अधीन रहता है, उसे पराधीन कहते हैं और जब तक पराधीनता नहीं छूटती, तब तक वह पराजित ही रहता है। वास्तविक विजय हृदय से वस्तु की अधीनता दूर होने पर ही प्राप्त होती है। ज्ञानी महापुरुष में कामना का सर्वथा अभाव होने से वह पूर्णतः स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन पुरुष ही विजयी होता है। जिसने संसार को जीत लिया है, ऐसे समदर्शी महापुरुष को संसार का बड़ा-से-बड़ा सुख भी आकृष्ट नहीं कर सकता है। यद्यपि उन्हें अनुकूलता, प्रतिकूलता का ज्ञान होता है तथा उसके अनुसार यथोचित चेष्टा भी होती है, तथापि अनुकूलता-प्रतिकूलता का उनके अन्तःकरण पर कोई असर नहीं पड़ता है। ऐसे ज्ञानियों को सर्वत्र ब्रह्म का, अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार होता है। आत्मतत्त्व सर्वत्र निर्दोष और समत्वरूप है। आत्मतत्त्व में दोष, विकार या विषमता नहीं है। जितने भी दोष या विषमताएँ आती हैं, वे सब प्रकृति से रागपूर्वक सम्बन्ध मानने से ही आती हैं। आत्मतत्त्व निर्दोष और सम है, इसलिए जिन महापुरुषों का अन्तःकरण निर्दोष और सम हो गया है, वे आत्मतत्त्व में ही स्थित हैं। जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि अवश्य है, क्योंकि अग्नि के बिना धुआँ सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार, जिनके अन्तःकरण में समता है, वे अवश्य ही आत्मतत्त्व में स्थित हैं, क्योंकि आत्मतत्त्व में स्थित हुए बिना पूर्ण वास्तविक समता आना सम्भव नहीं हैं।

(५३९) न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः।।४५।।

अनुवाद - जो प्रिय को प्राप्त करके हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त करके उद्विग्न नहीं हो-ऐसा स्थिरबुद्धि वाला मूढ़तारहित (ज्ञानी) ब्रह्म (आत्मा) को जानने वाला मनुष्य ब्रह्म में स्थित है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक भी गीता से ही लिया गया है। यह गीता के पाँचवें अध्ययन का बीसवां श्लोक है। यहाँ तीन शब्द महत्वपूर्ण आए हैं - १. स्थिरबुद्धि २. असम्मूढ़ और ३. ब्रह्मवित्। स्थिरबुद्धि, अर्थात् जिसकी प्रज्ञा या बुद्धि आत्मा में स्थिर हो गई है। स्वरूप का ज्ञान स्वयं के द्वारा ही स्वयं को होता है। अन्य साधनों से, अर्थात् इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि से होने वाला ज्ञान स्थिर तथा संदेहरहित नहीं होता है, परंतु स्वयं का ज्ञान स्वयं को ही होने से उसमें कभी परिवर्तन या सन्देह नहीं होता है। जिस महापुरुष में ऐसे करणनिरपेक्ष ज्ञान का अनुभव हो गया है, उसमें कभी विकल्प, सन्देह, विपरीत भावना, असम्भावना आदि होते नहीं हैं, इसलिए उसे स्थिरबुद्धि कहा गया है।

१. असम्मूढ़ - आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं होना, उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानना, उत्पत्ति तथा विनाशशील संसार से आत्मीयता स्थापित करना, उसे नित्य मानना - ऐसी मूढ़ता साधारण मनुष्य में रहती है। इस मूढ़ता का जिसमें सर्वथा अभाव हो गया है, उसे ही यहाँ असम्मूढ़ कहा गया है।

२. ब्रह्मवित् - जिसे ध्यान करने वाला, ध्यान धरने योग्य और ध्यान अर्थात् ध्याता, ध्येय और ध्यान या अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्य - तीनों की एकता प्राप्त हुई है, जिसका चित्त अन्यत्र नहीं है, वह ब्रह्मवित् या ब्रह्म में स्थित कहलाता है।

इन विशेषणों से युक्त ज्ञानी की समाधि को, कोई भी प्रिय या अप्रिय घटना या ऐसी वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति, खंडित नहीं कर सकती है। सांसारिक-जीवों को शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के अनुकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि की प्राप्ति हो जाती है ,तो उनके हर्ष का पार नहीं होता है और इनके प्रतिकूल प्राप्त होने पर शोक, संताप आदि का

भी पार नहीं होता है। धन-धान्य आदि भौतिक पदार्थ, स्वजन, परिजन यहाँ तक कि यह शरीर भी पर है, आत्मा से भिन्न है। पर में आत्मत्वभाव स्थापित करना एवं उनमें सुख-दुःख देने की शक्ति मानना भ्रम या मिथ्यात्व है। जीव जितने-जितने अंशों में शरीर आदि परपदार्थों से समत्व भाव या आसक्ति हटाता जाता है, वह उतने-उतने अंशों में उनके सुख-दुःखात्मक प्रभावों से मुक्त होता जाता है। जिसका मोह दूर हो गया है, जो तत्त्ववेत्ता है, उसे जड़ वस्तु हर्षित या उद्विग्न नहीं कर सकती है। ऐसी दशा को प्राप्त करने के लिए प्रमादरहित होकर निरन्तर पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

(५४०) अर्वाग्दशायां दोषाय वैषम्ये साम्यदर्शनम्।
निरपेक्षमुनीनां तु रागद्वेषक्षयाय तत्।।४६।।

<u>अनुवाद -</u> व्यवहारदशा (अर्वाग्दशा) में विषमता में साम्यदर्शन रखना दोष के लिए है, परंतु निरपेक्ष मुनि को तो वह राग-द्वेष के क्षय के लिए होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानयोगी की दशा बहुत ही उच्चकोटि की है। वह तो स्वरूप में ही लीन रहता है। व्यवहारदशा में (कर्मयोग की दशा में) विषमता में साम्यदर्शन करना महान् पतन कराने वाला है। यह अत्यंत शांतचित्त से विचार करने योग्य तथ्य है। यह संसार अनेक विषमताओं से भरपूर है। इस संसार में कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य है, कोई शूद्र, कोई गरीब है, कोई अमीर, कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख, कोई स्त्री है, कोई पुरुष, कोई बालक है, कोई वृद्ध, कोई रूपवान् है, कोई कुरूप है, ऐसी अनेक प्रकार की विषमताएँ दिखाई देती है। संसारी-लोग उस विषमता को विषमता के रूप में स्वीकारें - यही योग्य है। कोई न्यायाधीश अगर दोषित व्यक्ति को सजा न दे और यह कहे कि मेरी दृष्टि में तो सभी जीव समान हैं या कोई सामान्य पुरुष यह कहे कि मैं स्वस्त्री और परस्त्री में भेद नहीं मानता हूँ, मैं तो समदृष्टि से देखता हूँ या कोई उच्चकुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति समानता के आधार पर शूद्र कन्या से विवाह करे या शूद्र लोगों के साथ खान-पान आदि का व्यवहार रखे, तो अपवित्रता, अशान्ति, अराजकता, अनर्थ होने की संभावना रहती है, इसलिए व्यवहारदशा में, कर्मयोग की दशा में विषमता में समदृष्टि रखना दोषरूप है, पतन का

कारण है। व्यवहारदशा वाले को जाति, कुल, पात्रता आदि को समझकर व्यवहार करना पड़ता है।

जो मुनि ज्ञानयोगी है, जो व्यवहार से ऊपर उठ गया है, जिसका जीवन निर्दोष है, जिसने निजस्वरूप रमणता का अनुभव कर लिया है - ऐसे ज्ञानी को संसार के सभी जीवों में एकसमान आत्मा का अनुभव होता है, क्योंकि संसार में अब उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रहा। वह संसार की किंचित्मात्र भी आवश्यकता का अनुभव नहीं करता है। उसे किसी के प्रति राग तथा किसी के प्रति द्वेष नहीं होता है। उसकी समदृष्टि का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे-वैसे राग-द्वेष का क्षय होता जाता है, अतः उसके लिए समदृष्टि कर्मक्षय में निमित्त बनती है।

(५४१) रागद्वेषक्षयादेति ज्ञानी विषशून्यताम्।
छिद्यते भिद्यते वाऽयं हन्यते वा न जातुचित्।।४७।।

<u>अनुवाद</u> - राग-द्वेष के क्षय हो जाने से ज्ञानी विषयशून्यता को प्राप्त करते हैं। वे कभी भी छेदित, भेदित या नष्ट नहीं होते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - आत्मज्ञानी महापुरुषों को संसार में किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ - ये उनके चारों कषाय बिल्कुल मंद हो जाते हैं। विषय रहते हैं, किन्तु विषयों के प्रति चाह का अभाव रहता है, इसलिए विषय उन्हें विकारित नहीं कर सकते हैं। बाह्य-पदार्थों की आसक्ति मिटने पर अन्तःकरण में उन्हें सात्त्विक- सुख का अनुभव होता है। ज्ञानी अपनी आत्मा के उपयोग में इतने स्थित हो जाते हैं कि देह और आत्मा की भिन्नता का उनको स्पष्ट आभास हो जाता है। देह तो क्षणभंगुर पौद्गलिक-पदार्थों की बनी हुई है और आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है। वे देहातीत अवस्था में होते हैं, ऐसे समय में वे गजसुकुमालमुनि, खंधकमुनि, मेतारजमुनि आदि के समान स्वरूप में अभेद का अनुभव करते हैं। कोई मारणान्तिक उपसर्ग आए, तो भी वे किंचित् भी विचलित नहीं होते हैं। मृत्यु का उनको डर नहीं होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि नाश होगा तो देह का, आत्मा का नहीं, इसलिए ऐसे ज्ञानी जीव कभी भी छेदित नहीं होते हैं, भेदित नहीं होते हैं और नष्ट नहीं होते हैं, अर्थात्

शरीर के छेदन-भेदन होने पर भी देह से तादात्म्य-भाव नहीं होने पर वे कष्ट का अनुभव नहीं करते हैं।

(५४२) अनुस्मरति नातीतं नैव कांक्षत्यनागतम्।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समो मानापमानयोः।।४८।।

<u>अनुवाद -</u> वे (ज्ञानयोगी) भूतकाल का स्मरण नहीं करते और भविष्यकाल की अभिलाषा नहीं करते। वे शीत या ऊष्ण में, सुख या दुःख में, मान या अपमान में समभाव से रहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानयोगी, अर्थात् जिन्हें गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है, ऐसे महापुरुष भूतकाल को याद करके हर्ष या शोक नहीं करते हैं। भूतकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण या विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन भोगों में पुनः आसक्ति पैदा हो जाती है तथा इससे वासनाओं के जाग्रत होने की संभावना रहती है। आसक्ति से कामना पैदा होती है और कामना-पूर्ति के लिए कई प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं। अपनी वर्तमान सात्त्विक-स्थिति के लिए पश्चाताप होने लगता है। अन्य के भोग-सुख को देखकर ईर्ष्या पैदा होने की संभावना रहती है। व्यक्ति का मोह जाग्रत हो जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा पतन की पूर्ण संभावना रहती है। यदि भूतकाल में किसी के साथ वैर बंध गया हो, किसी ने प्रतिकूल व्यवहार किया हो, तो उसके संस्मरण ताजा होने पर चित्त में संक्लेश पैदा होने लगता है, जैसे- अग्निसेन को गुणशर्मा द्वारा उसके प्रति भूतकाल में किया गया दुष्ट व्यवहार, परिहास स्मरण में आ गया, जिससे उसका द्वेषभाव जाग्रत हुआ और उसने भव-भव में उसे मारने का निदान कर लिया। इस प्रकार भूतकाल को स्मरण करने से राग-द्वेष की परिणति तीव्र हो जाती है, वर्तमान भी दूषित होता है, अतः प्रत्येक पल को सार्थक करने वाले ज्ञानयोगी भूतकाल का स्मरण नहीं करते हैं।

दूसरी ओर, ज्ञानयोगी भविष्यकाल की अभिलाषा पर भी पर्दा डाल देते हैं, क्योंकि उनकी कोई कामना या इच्छा ही नहीं होती है। साधारण मनुष्य का मन भविष्य की ओर नजर करके सतत दौड़ता रहता है। जिन्होंने संसार का त्याग कर दिया है, ऐसे साधु-संत भी धर्म के नाम पर कई कार्य गृहस्थों से कराने की आकांक्षा रखते हैं। वे एक दूसरे प्रकार का संसार

स्थापित कर लेते हैं। कौन उनका भक्त है, उनके कहने से कौन कितना धन खर्च कर सकता है, राजनेताओं के साथ किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित हों, जिससे धर्म के काम हो जाएं, मेरी प्रसिद्धि किस प्रकार हो, कोई मेरे द्वारा कराए कार्यों का यश न ले जाए- इस प्रकार भविष्य के सपने सजाकर मन में कई तरह के संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं, किंतु आत्मस्वभाव में रमण करने वाले ज्ञानयोगी भविष्य के ऐसे कोई आयोजनों की अपेक्षा या अभिलाषा नहीं रखते हैं। वे शीत-ऊष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान-सबमें समभाव से रहते हैं, क्योंकि उनकी अपनी देह के प्रति भी आसक्ति नहीं रहती है। जब तक उन्हें आन्तरिक विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होता, तब तक बाहर की अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धि-असिद्धि और मान-अपमान में वे प्रशान्त नहीं रह सकते। अतः, जिसने समत्व को प्राप्त कर लिया है, जिसने आंतरिक-वैभव को प्राप्त कर लिया है, उसे बड़ा-से-बड़ा सुख आकर्षित नहीं कर सकता और बड़ा-से-बड़ा दुःख विचलित भी नहीं कर सकता है। बाहर से होने वाले संयोग-वियोग का उसकी आत्मा पर कोई असर नहीं पड़ता। आनंदघनजी ने ज्ञानयोगी का लक्षण बताते हुए शान्तिनाथ भगवान् के स्तवन में कहा है -

मान अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक पाषाण रे
वंदक निंदक सम गणे रे ईस्यो होय तु जाण रे - ९
स्र्व जग जंतु ने सम गणे, सम गणे तृण मणि भाव रे
मुक्ति संसार बिहु सम गणे, मुणे भवजलनिधिनाव रे - १०

मान-अपमान, निंदा-स्तुति आदि को जो समान मानता है, जो मित्र, शत्रु आदि पर समभाव धारण करता है, वह ज्ञानयोगी है। इस प्रकार का उत्कृष्ट समभाव संसाररूपी समुद्र को तैरने के लिए नाव के समान है।

(५४३) जितेन्द्रियो जितक्रोधो मानमायानुपद्रुतः।
लोभसंस्पर्शरहितो वेदखेदविवर्जितः।।४६।।

<u>अनुवाद -</u> वह (ज्ञानयोगी) इन्द्रियों को जीतने वाला, क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला, मान और माया द्वारा उपद्रवित नहीं होने वाला, लोभ के स्पर्श से रहित और वेद के खेद से मुक्त होता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में भी ज्ञानयोगी के प्रमुख लक्षण बताए गए हैं - वह इन्द्रियों को जीतने वाला होता है। स्पर्श, रस, गंध, शब्द, वर्णादि पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय होते हैं, परंतु ज्ञानयोगी की ऐन्द्रिक-विषयों में किंचित् भी रुचि नहीं होती हैं। इन्द्रियों का वह गुलाम नहीं होता है। इन्द्रियाँ सदा ज्ञानयोगी की आज्ञानुवर्ती बनकर रहती है। इन्द्रिय परवशता कभी उसे स्पर्श नहीं करती है। इन्द्रियों की चंचलता से उत्पन्न राग द्वेष का उसमें अभाव होता है।

सामान्य मनुष्य इन्द्रियों के अनुकूल पदार्थ में राग और प्रतिकूल में द्वेष किए बिना नहीं रहता है। अनुकूलता में कदाच् प्रलोभन में नहीं भी आए, किंतु प्रतिकूलता को सहन करना दुष्कर है, जैसे- कहीं से सुगंध आ रही हो, तो घ्राणेन्द्रिय उत्तेजित न भी हो, किन्तु कहीं से दुर्गंध आ रही हो, तो तुरंत नाक पर रूमाल चला जाता है। मधुर संगीत सुनने का त्याग भी कर दे, किन्तु कटु शब्द सुनकर व्यक्ति विचलित हो जाता है, जबकि ज्ञानयोगी हमेशा प्रशान्त रहते है ज्ञानयोगी का क्रोध के ऊपर संयम रहता है। ज्ञानी क्रोध, मान, माया और लोभ-चार कषाय तथा नौ नोकषाय में से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद-इन तीनों वेदों के खेद से रहित होते हैं। ज्ञानयोगी काम और क्रोध के वेग को उत्पन्न हीं नहीं होने देते। काम-क्रोध का संकल्प उत्पन्न होने के बाद वेग आता है और वेग आने के बाद काम-क्रोध रोकना कठिन हो जाता है। काम-क्रोध के वेग को रोकने के लिए संकल्प को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। चूंकि ज्ञानयोगी कामनारहित होते हैं, अतः उनके मन में किसी भी वस्तु के प्राप्त होने पर या नहीं होने पर कोई संकल्प नहीं उठता है। जहाँ इच्छाएं हों, वहीं मान-माया-लोभ आदि का उपद्रव होता है, किन्तु ज्ञानयोगी के इच्छा से रहित होने पर मान-माया-लोभ भी उसे नहीं सताते हैं।

(५४४) संनिरूध्यात्मनात्मानं स्थितः स्वकृतकर्मभित्।
हेठप्रयत्नोपरतः सहजाचारसेवनात्।।५०।।

अनुवाद - आत्मा को आत्मा द्वारा नियंत्रित किया हुआ, स्वयं के किए हुए कर्मों को भेदने वाला तथा सहज आचार का सेवन करने से हठयोग के प्रयत्नों से मुक्त बना हुआ ज्ञानयोगी होता है।

विशेषार्थ - ज्ञानयोगी के लक्षण बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि ज्ञानयोगी आत्मा का आत्मा द्वारा दमन करता है। स्वयं में उठते हुए विषय-कषाय के विकारों को स्वयं ही शमन करता है। प्रथम आत्मा भावमनरूपी आत्मा है। यदि इसे नियंत्रित नहीं किया गया, तो वह द्रव्यमन द्वारा इन्द्रियों को चंचल बना देगी। भावमनरूपी आत्मा को शुद्धोपयोगरूपी आत्मा संयम में रख सकती है। अन्य प्रकार से व्याख्या की जाए, तो बहिरात्मा को अंतरात्मा नियंत्रण में रखती है। जो इस प्रकार कर सकता है, वही परमात्मा बनने के योग्य होता है। ज्ञानयोगी की परीक्षा शुभ तथा अशुभ कर्मों के उदय के समय होती है। अशुभ भारी कर्म के उदय के समय किसी गंभीर रोग ने घेर लिया हो, असह्य पीड़ा होती हो या झूठे आरोप लगा दिए हों, अपकीर्ति हो रही हो, घोर अपमान सहन करना पड़ रहा हो - ऐसे कटु प्रसंग के समय भी जिसका मन विचलित नहीं हो, वही सच्चा ज्ञानयोगी होता है। षडयंत्रकारी तथाकथित धर्मगुरुओं के संकेत पर परिव्राजिका सुन्दरी ने बुद्ध को बदनाम करने का प्रयास किया। उसे सफलता मिली और पूरे नगर में, यहाँ तक कि आस-पास के गाँवों में भी बुद्ध की अपकीर्ति फैल गई, किन्तु बुद्ध मुस्कुराते रहे, उनके हृदय की शांति भंग नहीं हुई। वे यही कहते रहे कि सत्य के लिए कोई स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानयोगी ऐसे ही मेरुपर्वत की तरह दृढ़ होते हैं।

शुभकर्म के उदय के समय विविध इन्द्रियों के विषय भोगने को मिलते हों, मान-सम्मान, पूजा-सत्कार प्राप्त हो, खाने-पीने, रहने सभी की अनुकूलता हो, लाखों भक्त चरण में लौटते हों- इस प्रकार पूर्वसंचित पुण्योदय से मिलती हुई अनुकूलता में भी ज्ञानयोगी आसक्त नहीं होते हैं। ऐसे ज्ञानयोगी का जीवन सहज होता है। उनके लिए जिस समय जो हुआ, वह योग्य है। वे इन्द्रियों के दमन के लिए कोई बलात् प्रयत्न नहीं करते। उनकी इन्द्रियाँ तो सहज ही नियंत्रण में होती हैं। तप-जप आदि के लिए उनका हठपूर्वक कोई आग्रह नहीं होता है। उनका जीवन सहज-स्वाभाविक होता है, निर्मल दर्पण की तरह स्पष्ट होता है।

(५४५) लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तो मिथ्याचारप्रपंचहृत्।
उल्लसत्कण्डकस्थानः परेण परमाश्रितः।।५१।।

<u>अनुवाद -</u> वे (ज्ञानयोगी) लोकसंज्ञा से मुक्त, मिथ्याचार के प्रपंच को हरने वाले, संयम के स्थान में उल्लासपूर्वक आगे बढ़ते हुए पर से पर दशा में स्थिर होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञानयोगी लोकसंज्ञा से मुक्त होते हैं। ज्ञानियों को अज्ञानियों की पद्धति पसंद नहीं। अज्ञानांधकार में डूबी हुई दुनिया में रहते हुए भी ज्ञानी पुरुष दुनिया के प्रवाह में नहीं बहते है। दुनिया से वे निश्चिंत-बेफिक्र होते हैं। लोक की प्रसन्नता-अप्रसन्नता को लेकर वे कोई विचार नहीं करते हैं। ज्ञानियों की यह अपेक्षा नहीं होती है कि कोई उन्हें त्यागी, विद्वान्, तपस्वी, ब्रह्मचारी, परोपकारी और बुद्धिमान् कहे। उनके मन में लोक-प्रशंसा, लोकाभिनन्दन प्राप्त करने की लालसा नहीं रहती है। लोकप्रशंसा के इच्छुक धर्माराधक जीव अपनी त्रुटियाँ, क्षतियाँ और दोषों को छिपाने का हेतुपूर्वक प्रयत्न करता हैं, किन्तु लोकसंज्ञा से रहित ज्ञानी का जीवन मायाचार से रहित होता है। कीचड़ के गंदे पानी के प्रवाह में सूअर लौटता है, हंस नहीं। राजहंस के समान ज्ञानयोगी लोकसंज्ञा के भोग नहीं बनते हैं। गृहस्थ जीवन में तो नहीं करने योग्य कार्य भी, लोग क्या कहेंगे ? इस डर से किए जाते हैं। व्यवहार में रहना है, तो उन कार्यों को करना ही पड़ता है। सामाजिक-दृष्टि से कितने ही कार्य किए बिना छुटकारा नहीं होता है, परंतु ज्ञानयोगी साधुओं के लिए तो लोकाचार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

शास्त्र के अनुसार सदाचार का पालन करने वाले ज्ञानयोगी समाज में बढ़ते हुए मिथ्याचार से सदा सावधान रहते हैं। वर्तमान में, प्रायः लोगों की यह मान्यता हो गई है कि श्रमण को अस्वच्छ, पुराने वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए, बल्कि स्वच्छ नए वस्त्र पहनना चाहिए। श्रमण-समाज को अस्पताल, महाविद्यालय, धर्मशालाओं का निर्माण करवाना चाहिए। धर्म के प्रचार के लिए श्रमणों को कार, वायुयान आदि का उपयोग करना चाहिए। ज्ञानयोगी इन मान्यताओं का शिकार नहीं बनते हैं। ज्ञानयोगी निःस्पृह, निडर और निर्भर होते है। ज्ञानयोगी उल्लास और उत्साहवर्द्धन करते हुए कंडकस्थान, अर्थात् संयम के स्थानकों का पालन करते हैं। संयमधर्म में वे

उल्लासपूर्वक आगे बढ़ते जाते हैं। वे पर से पर, अर्थात् संसार से परे होकर परमात्मा में लीन होते हैं। वे अत्यंत उच्च आत्मिक-दशा में स्थिर रहते हैं।

(५४६) श्रद्धावानाज्ञया युक्तः शास्त्रातीतो ह्यशस्त्रवान्।
गतो दृष्टेषु निर्वेदमनिह्नुतपराक्रमः।।५२।।

अनुवाद - श्रद्धावान्, आज्ञा से युक्त, शस्त्रातीत, अशस्त्रवान्, दृष्टपदार्थों के प्रति निर्वेद को पाया हुआ और पराक्रम को नहीं छुपाने वाला वह (ज्ञानयोगी) होता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में भी ज्ञानयोगी के ही लक्षण बताए गए हैं। ज्ञानयोगी जिनेश्वर भगवान् के वचन में दृढ़ श्रद्धा वाला होता हैं। 'तमेव सच्चं निःसंकं जं जिणेहिं पवेइअं', चाहे वह कितना भी बुद्धिशाली हो, तर्कशक्ति वाला हो, परंतु जहाँ कोई वाद-विवाद की बात उपस्थित होती है, तो वह जिनाज्ञा को, जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित धर्म को ही समक्ष में रखकर निर्णय करता है। जिनेश्वर द्वारा कही हुई बात को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, भगवान् की आज्ञा का वह निष्ठापूर्वक पालन करता है। उसकी भगवान् में श्रद्धा भी होती है और उनकी आज्ञा-पालन के प्रति रुचि भी होती है।

ज्ञानयोगी के लिए यहाँ दो विशेषण-शस्त्रातीत और अशस्त्रवान् दिए गए हैं। शस्त्रातीत का शाब्दिक अर्थ है- शस्त्र से पर, शस्त्र का भी उल्लंघन करने वाला, अर्थात् शस्त्र उसका नाश नहीं कर सकते हैं। ये शस्त्र दो प्रकार के हो सकते हैं, बाह्य-शस्त्र-तलवार आदि, आभ्यंतर-शस्त्र-विषय-कषाय आदि। ज्ञानयोगी की उच्च आध्यात्मिक-दशा होती है। वह चाहे जैसे घातक शस्त्रों के उपसर्ग से चलित नहीं होता है। चूंकि वह भेदविज्ञान को पाया हुआ होता हैं, इसलिए शरीर के नाश को वह अपना नाश नहीं समझता है। कटु वचनरूपी शस्त्रों का भी उस पर कोई असर नहीं होता है। आभ्यंतर-शस्त्र-क्रोध, मान, माया, लोभ आदि उसे परेशान नहीं कर सकते हैं, क्योंकि क्रोधादि शस्त्रों से वह परे होता है। अशस्त्रवान्, अर्थात् ज्ञानयोगी बाह्य स्थूल शस्त्रों से रहित होता है, क्योंकि उसे किसी का भय नहीं होता

है। वह अभय होता है, अतः उसका अपने पास शस्त्र रखने का कोई प्रयोजन नहीं होता है।

ऐसे ज्ञानयोगी को भौतिक पौद्गलिक-पदार्थों के सुख के प्रति निर्वेद, अभाव, अरुचि होती है। ऐसे पदार्थ, चाहेवे दृश्यमान् जगत के हों या अदृश्यमान् स्वर्गलोग के, उसे सभी के प्रति निर्वेद होता है। श्रीराम जब दीक्षा लेकर ध्यानस्थ थे, उस समय उनकी ध्यान-शृंखला को तोड़ने के लिए सीता के जीव सीतेन्द्रदेव ने सीता का मनमोहक रूप धारण कर, सुन्दर दृश्य उपस्थित कर नृत्य हाव-भाव आदि प्रयास किए, परंतु उसे किंचित् भी सफलता नहीं मिली। ज्ञानयोगी अपने आत्मवीर्य, अर्थात् पराक्रम को छुपाता नहीं है, बल्कि पंचाचार का उत्साहपूर्वक पालन करते हुए, ज्ञान, ध्यान, तप-त्याग आदि में प्रमादरहित हो पुरुषार्थ करता है।

पराक्रम को छुपाने से, अर्थात् शक्ति होते हुए भी धर्माराधना नहीं करने से अन्तराय-कर्म का बंध होता है और शक्ति क्षीण होती है।

(५४७) निक्षिप्तदंडो ध्यानाग्निदग्धपापेन्धनव्रजः।
प्रतिस्रोतोऽनुगत्वेन लोकोत्तरचरित्रभृत्।।५३।।

<u>अनुवाद -</u> दंड का निक्षेप करने वाला, अर्थात् त्रिदंड से मुक्त होने वाला, पापरूपी ईंधन-समूह को ध्यानरूपी अग्नि द्वारा नष्ट करने वाला, लोकप्रवाह के विरुद्ध चलने वाला तथा लोकोत्तर संयम को धारण करने वाला ज्ञानयोगी होता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> ज्ञानयोगी का आगे और लक्षण बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि ज्ञानयोगी मन-वचन-काया की पापमयी प्रवृत्ति, दुष्ट प्रवृत्ति से मुक्त होता है। मन-वचन और काया-तीनों पर उसका नियंत्रण होता है। वह कभी भी मन से, वचन से और काया से निरर्थक प्रवृत्ति नहीं करता है। अब ऐन्द्रिक-विषयों की ओर न भागकर आत्मा की ओर ही उसकी गति रहती है। सामान्य गृहस्थ अज्ञानता के कारण कितने ही पाप अकारण करता है, जिनका कोई खास प्रयोजन नहीं होता है। ऐसे पापों का त्याग करने के लिए जिनधर्म में अनर्थदंड-विरमण नाम व्रत दिया गया है। साधुओं को इस प्रकार का पाप करने का प्रायः अवकाश ही नहीं होता है, उसमें भी उच्च भूमिका

पर स्थित ज्ञानयोगी के मन-वचन-काया का उपयोग इतना सुयोग्य होता है कि उसे कहीं भी अशुभ कर्म का बंध नहीं होता है। पूर्वसंचित पापों को भी ज्ञानयोगी ध्यानरूपी अग्नि द्वारा जलाकर भस्म कर देता है। नए पाप तो उसके समक्ष आने में ही भयभीत होते हैं।

ज्ञानयोगी लोकप्रवाह के विरुद्ध, प्रतिकूल दिशा में गति करता है। जिस दिशा में नदी बहती है, उसके प्रवाह में, अनुकूल दिशा में सभी प्रवाहित होते हैं, किन्तु उफनते, विद्युतवेग से बढ़ते प्रवाह की प्रतिकूल दिशा में तैरना बच्चों का खेल नहीं है। लोकसंज्ञा- रूपी नदी के प्रवाह में बहना, प्रवास करना कोई बड़ी बात नहीं है। खाना-पीना, विकथाएँ करना, भोगोपभोग के आनंद लूटना, पुत्र-पत्नी-परिवार में मस्त रहना, तन को सजाना-सवाँरना, वस्त्राभूषण धारण करना आदि समस्त क्रियाएं सहज हैं, इनमें कोई विशेषता नहीं है। इसके अलावा भी वर्तमान में कई विवेकहीन रीति-रिवाज, सुशिक्षा और सुधार के नाम पर कई गंदी, वीभत्स और समाज को पतनोन्मुखी बनाने वाली योजनाएँ कार्यान्वित होती नजर आती हैं। वर्तमान में कई लोग साधुओं को भी शास्त्रीय-मर्यादा के विरुद्ध चलने की प्रेरणा करते हैं, जैसे- आधुनिक युग में साधुओं को लाईट, फोन, वाहन आदि का उपयोग करना चाहिए, उनको समाज-सुधार के कार्य करना चाहिए आदि। जिसकी आत्मा जाग्रत न हो और ज्ञानदृष्टि खुली न हो, ऐसा साधु लोकप्रवाह का भोग बने बिना नहीं रहता है, परंतु जो ज्ञानयोगी होता है, उसे कोई स्वार्थ नहीं होता है। वह सामाजिक-प्रतिष्ठा का मोहताज नहीं होता है, इसलिए धर्म और सत्य के मार्ग को धारण करके वह लोकप्रवाह के विरुद्ध गमन कर सकता है। क्या कहेंगे लोग ? यह प्रश्न उसे नहीं सताता है। ऐसे ज्ञानयोगी का समग्र जीवन संयम से सुवासित होता है। स्वकल्याण और लोककल्याण का समन्वय करके वह चलता है। ऐसे ज्ञानयोगी का संयम-जीवन लोकोत्तर होता है। प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त लोकोत्तर शब्द लब्धि-सिद्धि के अर्थ में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। संयम के प्रभाव से ज्ञानयोगी के जीवन में कितनी ही चमत्कारी घटनाएँ घटित होती हैं।

**(५४८) लब्धान्कामान् बहिष्कुर्वन्नकुर्वन्बहुरूपताम्।
स्फारीकुर्वन्परं चक्षुरपरं च निमीलयन्।।५४।।**

अनुवाद - वे (ज्ञानयोगी) प्राप्त हुए काम-भोगों से दूर रहने वाले, बहुरूपीपन, अर्थात् मायाचार नहीं करने वाले, परम चक्षु, अर्थात् आंतरचक्षु को खुली रखने वाले तथा चर्मचक्षु को बंद रखने वाले होते हैं।

विशेषार्थ - ज्ञानयोगी लब्धिवाला होता है। उसे अपनी लब्धि के कारण तथा अन्य प्रकार से कई प्रकार की पौद्गलिक सुख-सामग्री स्वतः प्राप्त होती है। इस प्रकार की सुख-सामग्री देखकर सामान्य मुनि का मन विचलित हो सकता है। काया से वह कदाचित् उन सामग्री का भोग न भी करे, किंतु मन में उसे भोगने के भाव आ ही जाते हैं, परंतु जो ज्ञानयोगी होता है, वह तो आत्मरति में ही मग्न रहता है, वह कमल के समान निर्लिप्त रहता है।

ज्ञानयोगी लब्धि के कारण अलग-अलग अनेक रूप धारण कर सकता है, परंतु ज्ञानयोगी किसी को आकर्षित करने के लिए, दुनिया को चरणों में झुकाने के लिए बहुरूपीत्व धारण नहीं करता। वह धर्म-प्रचार के लिए भी लब्धियुक्त अनेक रूपों का आश्रय नहीं लेता है। वह लब्धि होते हुए भी उसका प्रयोग नहीं करता, साथ ही मायाचार नहीं करता। उसके मन-वचन-काया की प्रवृत्तियां भिन्न-भिन्न नहीं होती हैं। उसके विचार और आचरण, करनी और कथनी एक ही होते हैं। वर्तमान में चमत्कार का खूब प्रचार है। कोई घटना अनायास या स्वाभाविक रूप से हो गई हो, तो भक्त उसे गुरु महाराज के चमत्कार के रूप से प्रचारित कर देते हैं। उस समय गुरु स्वयं जानते हैं कि उन्होंने कुछ किया नहीं है, फिर भी अपनी महिमा बढ़ाने के लिए वे स्वयं ऐसी चामत्कारिक बातों का प्रचार-प्रसार करवाते हैं, किंतु वास्तविक ज्ञानयोगी मायामृषावाद से दूर रहता है। उसके मन में परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति की तीव्र लालसा रहती है, शेष सभी इच्छाओं का अभाव होता है।

ज्ञानयोगी को बाह्य जगत् को देखने की, जानने की कोई स्पृहा नहीं होती है, इसलिए उसके चर्मचक्षु बंद रहते हैं, अर्थात् बाह्य-जगत् के पदार्थ उसे तृणवत् भासित होते हैं। आंतरचक्षु खुल जाने से वह आत्मिक-वैभव का अनुभव कर लेता है। आत्मिक-वैभव के सामने बाह्य-विभूति शून्य ही है,

तृणवत् है। वह परमतत्त्व के प्रति आँख खोलता है, भौतिक-तत्त्व के प्रति आँख बंद कर लेता है। वह आत्मा के प्रति जाग्रत, संसार के प्रति सुषुप्त होता है।

(५४६) पश्यन्नन्तर्गतान्भावान् पूर्णभावमुपागतः।
भुंजानोऽध्यात्मसाम्राज्यमवशिष्टं न पश्यति।।५५।।

अनुवाद - अंतर में रहे हुए भावों को देखते हुए, पूर्ण भावों को प्राप्त करने वाले और अध्यात्म के साम्राज्य को भोगते हुए, वे (ज्ञानयोगी) अवशिष्ट को नहीं देखते हैं।

विशेषार्थ - ज्ञानयोगी अध्यात्मयोगी हैं। वे अपने अन्तर में ही रमण करते हुए ऐसी पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं, फिर उन्हें बाह्य-जगत् में कुछ भी देखने योग्य नहीं लगता है। एक बार आत्मरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति हो गई, फिर बाह्य-जगत् उन्हें तिनके जैसा तुच्छ, परिवर्तनशील, क्षुद्र, क्षणभंगुर, निरर्थक, शून्यवत् लगता है। बाह्य दृश्यमान् जगत् में कहीं पर उनकी दृष्टि नहीं ठहरती है। वे अपने आध्यात्मिक-साम्राज्य को भोगने में, अर्थात् आत्मरमणता में इतने मग्न बन जाते हैं कि अवशिष्ट, अर्थात् शेष सांसारिक-पदार्थों की ओर वे नजर भी नहीं डालते हैं।

(५५०) श्रेष्ठो हि ज्ञानयोगोऽयमध्यात्मन्येव यज्जगौ।
बंधप्रमोक्षं भगवान लोकसारे सुनिश्चितम्।।५६।।

अनुवाद - अध्यात्म में यह ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान ने 'लोकसार' में इसे कर्मबंध से मुक्त करने वाला कहा है।

विशेषार्थ - अध्यात्म की भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ और भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियाँ हैं, उनमें ज्ञानयोग सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् महावीर ने आचारांगसूत्र के लोकसार नामक पाँचवें अध्ययन में कहा है कि ज्ञानयोग कर्मबंधन से मुक्ति दिलाने वाला है। ग्रंथकार ने यहाँ आचारांगसूत्र का आधार दिया है। उसके लोकसार नामक अध्ययन में कहा गया है कि 'बंधपमोक्खे अज्झत्थेव'। बंध और मोक्ष में आत्मपरिणामों की प्रधानता है। ज्ञानयोग द्वारा कर्मबंध से मुक्ति त्वरित मिलती है। परिणामों में निर्मलता आए बिना ज्ञानयोग का प्रारंभ नहीं होता है। ज्ञानयोग में प्रवृत्त महापुरुष

सदैव सावधान रहते हैं, उनका विवेक जाग्रत रहता है, उनके पतन की संभावना प्रायः नहीं रहती है, इसलिए कहा गया है कि ज्ञानयोग कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाने वाला है।

(५५१) उपयोगैकसारत्वादाश्वसंमोहबोधतः।
मोक्षाप्तेर्युज्यते चैतत्तथा चोक्तं परैरपि।।५७।।

__अनुवाद -__ यह (ज्ञानयोग) केवल उपयोगमय है। वह शीघ्र मोहरहित बोध देने वाला और मोक्षप्राप्ति के साथ जोड़ने वाला है। अन्य दर्शनियों ने भी इस प्रकार कहा है।

__विशेषार्थ -__ यह ज्ञान केवल उपयोगमय है। उपयोग अर्थात् चित्तवृत्ति की सजगता। ज्ञानयोगी अप्रमत्त रहता है। चलने-बैठने, उठने, खाने-पीने, वार्तालाप करने-सभी में सजगता रहती है। जैसा कि दशवैकालिक में कहा गया है -'जयं चरे, जयं चिट्ठे, जय मासे, जयं सये। जयं भुजंतो-भांसतो पाव कम्मं न बंधई।।' इसका तात्पर्य यह है कि आवश्यक सभी कार्य उपयोगपूर्वक करते हुए पापकर्म का बंध नहीं होता है। ज्ञानयोगी ध्यान के द्वारा आत्मानुभव करते हैं, आत्मा में रमण करते हैं। बाह्य-जगत् के सभी पौद्गलिक-पदार्थों से उनका चित्त (ध्यान) हटकर आत्मिक-वैभव को प्राप्त करने में लग जाता है, क्योंकि जीव को आत्मोन्मुख होकर ध्यान की उच्चश्रेणी पर चढ़ना है। जब दर्शनमोहनीय-कर्म का क्षय होता है, तब सम्यग्दर्शन होता है, अतः ज्ञानयोगी शीघ्र और मोहरहित बोध देने वाला है। ज्ञानयोगी की साधना करते-करते साधना में वृद्धि होने पर घातीकर्मों का क्षय हो जाता है, इसलिए यह मोक्ष के साथ संयोग कराने वाला है। अन्य दार्शनिकों या दर्शनों ने भी ज्ञानयोग की महिमा को गाया है।

(५५२) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः।।५८।।

__अनुवाद -__ योगी (सकामभाव वाले) तपस्वियों से भी श्रेष्ठ हैं (आत्मानुभव से रहित) ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ हैं, कर्मकांडियों से भी श्रेष्ठ हैं, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो जा।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठवें अध्याय का छयालीसवां श्लोक उद्धरण के रूप में दिया है। इसमें ग्रंथकार की दार्शनिक उदारता और गुणग्राही तथा समन्वय की दृष्टि स्पष्ट नजर आती है।

गीता में योगी को तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकांडी से भी अधिक श्रेष्ठ बताया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तपस्या, ज्ञान और क्रिया निरर्थक है। योगी तपस्या, शास्त्राध्ययन और क्रिया नहीं करते हैं - ऐसा भी नहीं है, किंतु जो मात्र बाह्य-तपस्वी हैं, वे केवल देहदमन करते हैं। ऐसे तपस्वी महीनों तपस्या करते हैं, धूप में घंटों खड़े रहते हैं, किंतु वे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं का दमन नहीं करते हैं, कषायों को कम नहीं करते हैं। तप का उन्हें अभिमान रहता है। क्रोधित होने पर वे किसी को भी श्राप दे देते हैं। वे तपस्या भी सकामभाव से इहलौकिक, पारलौकिक और पौद्गलिक-सुख के लिए करते हैं, अतः उनकी तपस्या योग नहीं बन पाती है, अर्थात् मोक्ष से जोड़ने वाली नहीं होती है।ऐसे तपस्वी से योगी श्रेष्ठ हैं। जो मात्र शब्दज्ञानी हैं, अर्थात् शास्त्रों के जानने वाले, पढ़े-लिखे विद्वान् हैं, वे उस ज्ञान का उपयोग वादविवाद, वितंडावाद के लिए करते हैं। वे संसार में प्रसिद्ध होने के लिए, लोकप्रशंसा प्राप्त करने के लिए उपदेश देते हैं, किन्तु उनके हृदय को वह ज्ञान स्पर्श नहीं करता है। उनका ज्ञान मात्र बौद्धिक-व्यायाम जैसा हो जाता है। वे अपनी गलत बात को भी तर्क द्वारा सिद्ध कर देते हैं तथा खुश होते हैं। वे शब्द के विभिन्न अर्थ करके अन्य को भ्रमित कर देते हैं। ऐसे पोथी-पंडितों के लिए कबीर ने भी कहा है- "पोथी पढ़-पढ़ जग मुवा, पंडित भया न कोई।" ऐसे पंडितों को भी ज्ञान का अभिमान होता है, प्रतिष्ठा का लोभ होता है। ऐसे सकाम शब्दज्ञानियों से योगी श्रेष्ठ हैं।

जो इस लोक में पद, प्रतिष्ठा, धन, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए या परलोक में सुखप्राप्ति के लिए कर्म करते हैं, अर्थात् सकामभाव से जो यज्ञ, दान, तीर्थयात्रा तथा अन्य शास्त्रीय विधि-विधान करने में कुशल होते हैं, ऐसे क्रियाकांण्डियों से भी योगी श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार, उपर्युक्त तपस्वी, ज्ञानी और क्रियाकांडी से आत्मस्वरूप में रमण करने वाले ज्ञानयोगी श्रेष्ठ हैं। तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी-इन तीनों की क्रियाएँ अलग-अलग हैं, अर्थात् तपस्वियों में सहिष्णुता की, ज्ञानियों में शास्त्रीय-ज्ञान की और कर्मियों में

शास्त्रीय-क्रियाओं की प्रधानता है, किंतु इन तीनों में सकामभाव होने से, विपरीत उद्देश्य होने से ये तीनों योगी नहीं हैं, अतः निष्कामभाव वाले, आत्मरमणता वाले योगी ही श्रेष्ठ हैं।

(५५३) समापत्तिरिहव्यक्तमात्मनः परमात्मनि।
अभेदोपासनारूपस्ततः श्रेष्ठतरो ह्ययम्।।५६।।

अनुवाद - इसमें (ज्ञानयोग में) परमात्मा में आत्मा के एकत्व की प्राप्ति स्पष्ट है, इसलिए अभेद उपासनारूप यह (ज्ञानयोग) सबसे श्रेष्ठ है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकांडी की अपेक्षा ज्ञानयोगी को श्रेष्ठ बताया है। यह ज्ञानयोग श्रेष्ठ क्यों है ? इसको स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत श्लोक में कहा गया कि ज्ञानयोग में आत्मा और परमात्मा का एकत्व प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ध्येय और ध्याता में अभेद सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

आत्मा में परमशक्ति है और कर्मों के आवरण हटने पर प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है, किन्तु जब कोई परमतत्त्व की उपासना में अपनी आत्मा और परमात्मा को भिन्न-भिन्न मानता है, तब वह स्वयं हमेशा भक्त ही रहेगा, परमात्मा नहीं बन सकता है, क्योंकि वह सोचता है कि परमात्मा बनना किसी के लिए संभव नहीं है। परमात्मा की इच्छा हो, तो खुश होकर दर्शन प्रदान करते हैं और इच्छा हो, तो दण्ड देकर दुःखी भी कर सकते हैं- इस प्रकार की मिथ्या धारणा हो, तो परमात्मा के साथ कभी भी एकता स्थापित नहीं होती है।

ज्ञानयोगी साधना में अपनी आत्मा को ही परमात्मस्वरूप बना सकते हैं। यह साधना जब उच्चतम कोटि पर पहुँचती है, तब आत्मा ही परमात्मा बन जाती है। जब तक आत्मा और परमात्मा में भेद है, तब तक साधना अधूरी है, किन्तु जिस दिन आत्मा और परमात्मा में भेद समाप्त हो जाता है, उस दिन साधना की पूर्णता हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानयोगी की अभेदरूप साधना सर्वसाधना में श्रेष्ठ है। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप बन जाते हैं।

(५५४) उपासना भागवती सर्वेभ्योऽपि गरीयसी।
महापापक्षयकारी तथा चोक्तं परैरपि।।६०।।

<u>अनुवाद -</u> भगवान् की यह उपासना सबसे महान् है तथा वह महापाप को क्षय कराने वाली है। इस प्रकार अन्य दर्शनी भी कहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> भगवान की उपासना विविध रूपों में होती है। ज्ञान से, ध्यान से, कर्मयोग से, भक्ति से, शरणागति से, सख्यभाव से-इस प्रकार विविध प्रकार के भावों से, अनेक प्रकार की साधना-पद्धतियों से विविध प्रकार के कर्मकांडों से जगत् में परमात्मा की उपासना होती है। इन सबमें ज्ञानयोग से परमात्मा की उपासना श्रेष्ठ है। ज्ञानयोग में साधक परमात्मा बनने के लिए, सभी कर्मों से मुक्त होने के लिए साधना करता है। यज्ञ आदि, जिसमें पशुओं की बलि चढ़ाई जाती है, ऐसी उपासना तो घोर पाप कराने वाली होती है, परंतु यह अभेद उपासना तो पाप का क्षय कराने वाली है। मात्र जैनदर्शन का ही यह सिद्धान्त नहीं है, बल्कि अन्य दर्शनी भी इसका समर्थन करते है।

(५५५) योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।६१।।

<u>अनुवाद -</u> सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् भक्त तुझमें तल्लीन हुए मन से मेरा भजन करता है, वह मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी है।

<u>विशेषार्थ -</u> श्रीमद्भगवद्गीता के छठवें अध्याय का सैंतालीसवां श्लोक यहाँ उद्धरण के रूप में दिया गया है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि सभी योगियों में भी जो श्रद्धावान् ज्ञानयोगी मेरी अंतरात्मा के साथ एकरूप बनकर मुझे भजता है और मेरे जैसा होकर रहता है, वह ज्ञानयोगी अत्यंत योग्य है-ऐसा मैं मानता हूँ। यहाँ श्रद्धावान् शब्द पर जोर दिया गया है। श्रद्धावान्, अर्थात् जिसके भीतर परमात्मा की ही सत्ता है, महत्ता है, जो परमात्मा में तल्लीन होकर स्वयं को भी भूल जाता है, अर्थात् देहातीत हो जाता है, फिर खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते आदि सभी क्रियाओं में जिसका मन भगवान् के स्वरूप का ही चिन्तन करता है, भगवान् में ही लगता रहता है। परमात्मा के साथ अभेद

उपासना को श्रेष्ठ बताने के बाद ऐसी उपासना में भी जो योगी श्रद्धापूर्वक भगवान् की भक्ति करता है, वह अधिक श्रेष्ठ है। संसार से विमुख होकर अपना उद्धार करने में लगने वाले जितने योगी हो सकते हैं, वे सभी योग्य हैं, किन्तु जो योगी भगवान् की शरण लेकर उनकी श्रद्धापूर्वक भक्ति करके, उनकी अंतरात्मा के साथ एकरूप बनकर उनके जैसा परमात्मस्वरूप हो जाता है ,वह अधिक श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि जो संसार से सर्वथा विमुख होकर भगवान् में ही परायण हो गया है, जिसको अपने बल का, उद्योग का, ज्ञान का अभिमान नहीं है, वह कभी योगभ्रष्ट नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार ज्ञानयोग में भी परमात्मा की भक्ति अंतर्निहित है। भक्ति द्वारा परमात्मा जैसा बनना है ,अर्थात् स्वस्वरूप में रमणता करने वाले ज्ञानयोगियों को जिनेश्वर भगवान् की श्रद्धापूर्वक भक्ति करके अभेद उपासना सिद्ध करना है।

(५५६) उपास्ते ज्ञानवान् देवं यो निरंजनमव्ययम्।
स तु तन्मयतां याति ध्याननिर्धूत कल्मषः।।६२।।

<u>अनुवाद -</u> निरंजन और अव्यय-ऐसे देव की जो ज्ञानवान् उपासना करता है, वह ध्यान द्वारा पाप का नाश करके तन्मयता (देवस्वरूप) प्राप्त करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार पूर्व दो श्लोकों को पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो राग-द्वेष से मुक्त हैं, ऐसे वीतराग परमात्मा की श्रद्धापूर्वक भक्ति करना चाहिए। जो ज्ञानयोगी है वह स्वस्वरूप में रमण करता है, आत्मदर्शन करता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और स्वयं की आत्मा ही परमात्मा है, इसका परमात्मस्वरूप कर्मों के आवरण से ढका हुआ है, अतः इसे प्रकट करना है-ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है, परंतु ऐसा ज्ञानयोगी अगर यह कहे-मुझे अब वीतराग भगवान् के आलंबन की कोई आवश्यकता नहीं है, मैं उनके आलंबन के बिना ही स्वपुरुषार्थ से अपने में रहा हुआ भगवद्ज्ञान प्रकट करूंगा, तो यह यथार्थ नहीं है। आत्मा के अनंतकालीन अशुभकर्मों और मलिन संस्कारों को उखेड़ने के लिए अकेला पुरुषार्थ कभी कामयाब नहीं होता है, किसी की कृपा की जरूरत तो पड़ती ही है। अरिहंत का प्रभाव ही ऐसा है कि उनके द्वारा शरण में आई हुई आत्मा की विशुद्धि

तीव्रगति से होने लगती है। एक व्यक्ति नाव में बैठकर समुद्र पार करे और एक भुजा से पार करना चाहे, तो सरलता और शक्यता कहाँ अधिक है ? अतः संसाररूपी सागर से भी तैरने के लिए वीतराग का आलम्बन, शरणागति, समर्पण आवश्यक है। अरिहंत चाहे निरंजन हों, रागरहित हों, भक्तों पर खुश नहीं होते हों, तो भी उनको हृदय में स्थापित करने वाले उनका ध्यान करने वाले, उनमें तल्लीन बनने वाले को स्वर्ग या मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। सूर्य कभी विचार नहीं करता कि वह धरती के लोगों को प्रकाश दे, तो भी सूर्य आकाश में दृश्यमान् होता है और धरती पर प्रकाश फैल जाता है, अग्नि कभी यह विचार नहीं करती कि वह लोगों की ठंड दूर करे, उसके अस्तित्व से ही अपने-आप ठंड दूर हो जाती है, वैसे ही अरिहंत का स्वभाव (प्रभाव) शरणागत के अहंभाव, द्रोहभाव को नष्ट कर सूक्ष्मबल पैदा कर शुद्धि उत्पन्न करने का है।

वस्तुतः, मोक्षमार्ग की पहचान जिनेश्वर कराते हैं। उनकी भक्ति से, उनका शरण स्वीकारने से आत्मदर्शन का मार्ग समझ में आता है। जिनेश्वर भगवान्, अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा से निरंजन, अविनाशी, परमतत्त्व- इनकी उपासना ज्ञानयोगी करता है, उनका ध्यान धरता है और उनके जैसा ही बनने का संकल्प करता है। जिनेश्वर भगवान् की ऐसी भक्ति और ध्यान से ही पाप का क्षय होता है, केवलज्ञान प्राप्त होता है, फिर सिद्धगति प्राप्त होती है।

इसलिए, ज्ञानयोगी के लिए भी वीतराग का ध्यान अनिवार्य है। जिनेश्वर की उपेक्षा करके कोई ज्ञानयोगी आत्मविकास नहीं कर सकता है, बल्कि उसका योग भी चला जाता है, वह स्वच्छंद हो जाता है और उसे कृतघ्नता का दोष लगता है।

(५५७) विशेषमप्यजानानो यः कुग्रहविवर्जितः।
सर्वज्ञं सेवते सोऽपि सामान्ययोगमास्थितः।।६३।।

अनुवाद - विशेष ज्ञान नहीं होने पर भी जो कदाग्रह से रहित है तथा जो सर्वज्ञ की सेवा करता है, वह भी सामान्य योग में स्थित है।

विशेषार्थ - कितने ही लोग सर्वज्ञ की पूजा-भक्ति करते हैं, फिर भी उनको सर्वज्ञ के विषय में कोई विशिष्ट जानकारी नहीं होती है। उनके मन में सर्वज्ञ का चित्र या स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। ऐसे व्यक्ति में भी दो गुण हों, तो उसे सामान्य योग में स्थित मान सकते हैं। प्रथम तो यह कि वह कदाग्रह से मुक्त हो, अर्थात् अपने मत का दृढ़ आग्रह नहीं होता है, अगर उसे यह सत्य समझाया जाए, वह स्वीकारने के लिए तैयार हो जाता है। दूसरा यह कि वह जिस देव को सर्वज्ञ समझकर भजता हो तो उस सर्वज्ञ के प्रति उसकी सेवा-भक्ति यथार्थ और शुद्ध हो। ऐसे मनुष्य की साधना को सामान्य योग वाली कह सकते हैं। ऐसे व्यक्ति को सर्वज्ञ का सत्य विशिष्ट स्वरूप जब समझ में आ जाता है, तो उसे वह अवश्य स्वीकार कर लेता है, क्योंकि उसको किसी बात का आग्रह नहीं है। ऐसा सरलहृदय व्यक्ति ज्ञानयोग के सामान्य मार्ग में आ गया है- इस प्रकार कह सकते हैं।

(५५८) **सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्प्रतिपत्तिश्च यावताम्।**
सर्वेऽपि ते तमापन्ना मुख्यं सामान्यतो बुधाः।।६४।।

अनुवाद - सर्वज्ञ मुख्य एक ही हैं, जिनको उनके प्रति भक्तिभाव है, उन सभी पंडितों ने सामान्य से उनको (सर्वज्ञ को) प्राप्त कर लिया है।

विशेषार्थ - जैनदर्शन में वीतराग परमात्मा को सर्वज्ञ कहा गया है। सर्वं जानाति इति सर्वज्ञ, अर्थात् जो सबको जानता है, वह सर्वज्ञ है। सर्व, अर्थात् सभी काल के सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को जानने वाला। घातीकर्म, अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म के क्षय से सर्वज्ञता आदि गुण प्रकट होते हैं-यह जैन-मान्यता है। इस दृष्टि से ऐसे लक्षण वाले मुख्य रूप से एक ही प्रकार के सर्वज्ञ हैं। जो भी सर्वज्ञ है, वह त्रिकालज्ञ तथा वीतराग है। अन्य दर्शनों के सुज्ञ पंडित, जो सर्वज्ञ को मानते है और भक्तिभावपूर्वक उनकी सेवा करते हैं, उन प्रत्येक के हृदय में सर्वज्ञ के लिए अपना एक विचार होता है। वे अपने-अपने इष्टदेव को सर्वज्ञ मानते हैं। प्रत्येक के इष्टदेव अलग-अलग होते हैं, जैसे कोई राम का भक्त है, कोई हनुमान का, कोई महावीर का भक्त है, कोई पार्श्वनाथ का, कोई बुद्ध का, परंतु सर्वज्ञ की अवधारणा मुख्य रूप से एक ही है। रूप

चाहे अलग-अलग हों, लेकिन स्वरूप सबका एकसमान है, सर्वज्ञ की अवधारणा स्पष्ट होना चाहिए, चाहे अलग-अलग नाम से उन्हें पुकारें।

(५५९) न ज्ञायते विशेषस्तु सर्वथाऽसर्वदर्शिभिः।
अतो न ते तमापन्ना विशिष्य भुवि केचन।।६५।।

<u>अनुवाद -</u> असर्वदर्शी, अर्थात् असर्वज्ञ सर्वथाविशेष को नहीं जानते हैं, इसलिए जगत् में कोई भी उनको (सर्वज्ञ को) विशेष स्वरूप से प्राप्त नहीं कर सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस जगत् में सर्वज्ञ को विशेष-से कौन पहचान सकता है? विविध दर्शनों में श्रद्धा रखने वाले महापुरुष स्वयं असर्वदर्शी, अर्थात् असर्वज्ञ हैं। जो असर्वज्ञ हो, वह सर्वज्ञ को विशेषरूप से किस प्रकार जान सकता है। तात्पर्य यही है कि वे सर्वज्ञ को जिस रूप में भी जानते हैं, वह संपूर्ण रूप में नहीं, सामान्य रूप में ही जानते हैं, अर्थात् संपूर्ण रूप से नहीं बल्कि अंशरूप में ही जानते हैं। सामान्य को पकड़ने पर विशेष तो अपने-आप आ जाएगा, इसलिए सर्वज्ञ के लिए अलग-अलग नामों का प्रयोग होता है- यह स्वाभाविक है।

(५६०) सर्वज्ञप्रतिपत्त्यंशात्तुल्यता सर्वयोगिनाम्।
दुरासन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं निहन्ति न।।६६।।

<u>अनुवाद -</u> सभी योगियों में सर्वज्ञ सेवारूप अंश समान हैं। दूर और समीप आदि भेद उसके सेवकत्व को नष्ट नहीं करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> सभी योगी अपने-अपने मत में जो सर्वज्ञ हो, उनकी सेवा करते हैं। इस प्रकार समर्पण का भाव, सेवा का भाव सबमें समान है। सभी का उद्देश्य सर्वज्ञ की सेवा, भक्ति करना है इसलिए सभी योगी अंशरूप में सर्वज्ञ की उपासना करते हैं- इस प्रकार कहा जा सकता है। इस सेवा में चाहे कोई आगे हो या पीछे, कोई दूर हो या समीप, भक्ति करने का ढंग चाहे अलग-अलग हो, इससे उसका सेवकत्व नष्ट नहीं होता है। किसी भी माध्यम से, किसी भी विधि से, परमात्मा की सेवा करे, मूल लक्ष्य तो सबका एक ही है - आत्मोपलब्धि।

प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि कोई सेवक समीप हो या दूर, उसका सेवकत्व नष्ट नहीं होता है। राजा का मंत्री राजा के पास ही रहता है, फिर भी वह राजा का सेवक ही कहलाता है, राजा का द्वारपाल राजा से बहुत दूर होता है, वह भी राजा का सेवक ही कहलाता है। मंत्री और द्वारपाल-दोनों में सेवकत्व का गुण रहा हुआ है। उसी प्रकार आराधना के मार्ग में कोई सर्वविरति ग्रहण कर साधु बन जाता है, साधना करके ज्ञानयोग प्राप्त कर लेता है, ध्यान की उच्च श्रेणी में चढ़कर मोक्ष के समीप होता है, तो कोई देशविरति में भी नहीं होता है। वह मात्र मार्गानुसारीत्व ही प्राप्त कर सकता है और मोक्ष से बहुत दूर होता है, फिर भी उसकी आराधना निरर्थक नहीं होती है।

चाहे कोई ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, मन्त्रयोग, ध्यानयोग किसी पर भी स्थित हो, कोई मोक्ष के नजदीक हो या दूर, फिर भी उसकी आराधना, सर्वज्ञ की सेवा उसे आत्मा की ओर ले जाती है। उसका सेवकत्व नष्ट नहीं होता है।

(५६१) माध्यस्थमवलंब्यैव देवतातिशयस्य हि।
सेवा सर्वैर्बुरिष्टा कालातीतोऽपि यज्जगौ।।६७।।

<u>अनुवाद -</u> माध्यस्थभाव का अवलंबन लेकर अतिशययुक्त देवता की सेवा करना सभी पंडितों को इष्ट है। कालातीत (एक विद्वान्) भी इस प्रकार कहते हैं, या प्राचीन समय से ऐसा कहा गया है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> भिन्न-भिन्न मत के अनुयायी माध्यस्थभाव का अवलंबन लेकर अतिशययुक्त देवता की स्तुति करते हैं, तो वह उपासना की ही कोटि में आएगी। विद्वानों ने उसे उचित माना है। माध्यस्थ, अर्थात् स्वयं सर्वथा सत्य है और दूसरे सर्वथा असत्य -ऐसे मिथ्या आग्रह से रहित। जहाँ कठोरता या कट्टरता आ जाती है, अपने मत के प्रति आग्रह आ जाता है, वहाँ हृदय की उदारता समाप्त हो जाती है। जो सुज्ञ हैं, ज्ञानी हैं तथा तटस्थबुद्धि वाले हैं, वे न्याययुक्त बात को अवश्य स्वीकार करते हैं। वे व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं पड़ते। नदियाँ भले ही विविध मार्गों से, प्रदेशों से प्रवाहित होती हों, लेकिन अंत में समुद्र में ही जाकर मिलती हैं। ठीक उसी तरह, संसार में रहे हुए मध्यस्थ पुरुष के मार्ग, उपासना चाहे अलग-अलग

हों, लेकिन लक्ष्य सबका एक ही है। सभी परमात्म स्वरूप में विलीन होना चाहते हैं। यहाँ ग्रंथकार ने आधार या प्रमाण दिया है कि कालातीत ने भी इसी प्रकार कहा है। कालातीत सांख्यमतानुयायी पंडित थे। ग्रंथकार ने उनका आधार दिया है। इससे ऐसा लगता है कि उनके समय में कालातीत द्वारा लिखे हुए शास्त्र होंगे, या फिर कालातीत, अर्थात् अतीतकाल भी इस बात को स्वीकार करता है, यह अर्थ भी हो सकता है।

(५६२) अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम्।
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः।।६८।।

<u>अनुवाद -</u> मुक्तवादी, अविद्यावादी आदि अन्य के भी भिन्न-भिन्न नाम से मार्ग वही हैं, तत्त्वदृष्टि से व्यवस्थित (समान) हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्राचीन समय में भारत में अध्यात्म के क्षेत्र में अलग-अलग अनेक वाद थे। इन वादों में प्रत्येक किसी एक तत्त्व पर अधिक भार देते, इसलिए वे वाद उसी नाम से पहचाने जाते। ऐसे वादियों में मुक्तवादी और अविद्यावादी का उल्लेख प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। ऐसे अनेक वादों में मात्र नाम ही भिन्न-भिन्न हैं, मूल बात तो एक जैसी ही है, इसलिए नामभेद से तत्त्वभेद नहीं होता। तत्त्व की दृष्टि से सब समान हैं, सभी का लक्ष्य एक है। स्थूल, संकुचित दृष्टि से देखा जाए, तो अलग-अलग आभास होता है, परंतु सूक्ष्मतत्त्व की उदारदृष्टि से देखा जाए, तो सब एक समान लगता है। मुक्तवादी कर्मबंध से मुक्त आत्मा को सर्वज्ञ मानते हैं और अविद्यावादी अविद्या (माया) से मुक्त आत्मा को सर्वज्ञ मानते हैं। वस्तुतः, ईश्वर संबंधी तत्त्वतः एक ही मार्ग है, इसलिए उपासना तो अतिशययुक्त देवतत्त्व की करना ही है। लक्ष्य सभी का कर्मबन्धन से मुक्त होने का, जन्म-मरण से छुटकारा पाने का, ईश्वर को भजकर ईश्वर बनने का है।

(५६३) मुक्तो बुद्धोऽर्हन्वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः।
तदीश्वरः स एक स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम्।।६९।।

<u>अनुवाद -</u> मुक्त, बुद्ध या अर्हन्, जो ऐश्वर्य द्वारा युक्त हो, वही ईश्वर कहलाता है। यहाँ केवल संज्ञा (नाम) का भेद है।

विशेषार्थ - इस विश्व में जिसका सम्पूर्ण विकास हो चुका हो, जिसको कुछ भी करना, पाना शेष नहीं रहा- ऐसी सर्वोच्च कक्षा की विभूति है, यह सभी स्वीकार करते हैं। परब्रह्मवादी उसे मुक्त कहते हैं, बौद्धमत वाले उसे बुद्ध कहते हैं और जैन उसे अर्हन् कहते हैं। ये तीनों नाम अलग-अलग हैं, किंतु एक ही बात के द्योतक हैं। मुक्त, अर्थात् सभी कर्मो से मुक्त सर्वज्ञ और बुद्ध जिसे कुछ जानना शेष नहीं रहा, जो त्रिकालज्ञ है तथा अर्हन्, जो देव, मनुष्य सभी के द्वारा पूजनीय हैं, सर्वज्ञ हैं। इन तीनों के स्वरूपों का सूक्ष्म रूप से चिन्तन किया जाए, तो नाम अलग होने पर भी उनका स्वरूप एक जैसा ही है, अतः जो ऐश्वर्य (आन्तरिक-लक्ष्मी) से युक्त हो, उसे ईश्वर के रूप में स्वीकारने में कुछ बाधा नहीं है। यहाँ ग्रंथकार की समन्वय की दृष्टि स्पष्ट नजर आती है।

(५६४) अनादि शुद्ध इत्यादिर्यो भेदो यस्य कल्प्यते।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः।।७०।।

अनुवाद - अनादि, शुद्ध आदि इसके (सर्वज्ञ के) भेदों की जो कल्पना की गई है, वह उस-उस दर्शन के अनुसार है और वह भी निरर्थक है - इस प्रकार मैं मानता हूँ।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने ईश्वर के सम्बन्ध में विविध कल्पनाओं को निरर्थक बताया है, अर्थात् साधक को उससे साधना में कोई फर्क नहीं पड़ता हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनकारों ने ब्रह्मस्वरूप ईश्वर के लक्षण अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार दिए है। शैवमतानुयायी ईश्वर को अनादि, शुद्ध मानते हैं, अर्थात् ईश्वर बना नहीं जाता है, वह तो अनादि से है, कोई पुरुषार्थ करके ईश्वर नहीं बन सकता है। जबकि जैन कहते हैं कि सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव का जीव भी कर्ममलयुक्त अनादि से अशुद्ध था, इस जीव ने पुरुषार्थ करके आत्मा को मलिनता से मुक्त कर लिया और सर्वज्ञता प्राप्त की। कोई ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है, कोई असर्वव्यापी, परंतु ऐसी अलग-अलग मान्यताओं से साधक की साधना में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, इसलिए अनादि, शुद्ध आदि जो भेद या कल्पनाएँ की गई हैं, उनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

किसी अपेक्षा को पकड़कर वैसे स्वरूप की कल्पना की गई है। अनेकान्तवाद से सभी मतों में सामंजस्य बिठाया जा सकता है।

(५६५) विशेषस्यापरिज्ञानाद् युक्तीनां जातिवादतः।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावतः।।७१।।

<u>अनुवाद -</u> विशेष को नहीं जानने से, युक्तियों के जातिवाद (असत्यता) से प्रायः उनमें ही परस्पर विरोध होने से और भाव से फल के अभेद होने से (यह स्वरूपभेद निरर्थक है।)

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक के सन्दर्भ में ही यह श्लोक दिया गया है। ग्रंथकर्त्ता कहते हैं कि भिन्न-भिन्न दर्शनों के मध्य ईश्वर के स्वरूप के विषय में जो भेद हैं, उनको महत्व देने से, वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं है। उसके निम्नलिखित चार कारण बताए गए हैं -

१. दर्शनकार विशेष को नहीं जानते हैं, क्योंकि उनका ज्ञान सीमित है। भिन्न-भिन्न दर्शनकारों ने सर्वज्ञ को स्वयं देखा नहीं है। वे मात्र तर्क से ही अनुमान करते हैं, इसलिए वे ईश्वर के स्वरूप की जो बातें करते हैं, वह सामान्य प्रकार की है, विशेष प्रकार की नहीं। अन्य किसी ने ईश्वर को साक्षात् विचरते हुए देखा हो और उसके पास से बात सुनी हुई हो, ईश्वर का स्वरूप जाना हो -ऐसा भी नहीं है। तात्पर्य यही है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में कोई सविशेष पूर्ण चिंतन उन्हें नहीं है।

२. वे जो तर्क देते हैं, वे भी अनुमान के आधार पर होने से असत्य हैं। तर्क सटीक नहीं, खण्डित हो जाते हैं।

३. सांख्य, योग, वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शनों में भी अंदर-ही-अंदर विरोध है, वे भी एक मत नहीं हैं।

४. ईश्वर को अलग-अलग स्वरूप मानकर कराती हुई आराधना का फल भाव से तो एक जैसा ही होता है।

तात्पर्य यही है कि अंत में सभी का उद्देश्य अशुद्धि, क्लेशकर्म आदि से मुक्त होने का ही है। स्वरूपभेद होने से परिणाम में भेद नहीं होता है, इसलिए स्वरूपभेद की सार्थकता का कोई प्रयोजन नहीं रहता है।

(५६६) अविद्याक्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम्।
ततः प्रधानमेवैतत्संज्ञाभेदमुपागतम्।।७२।।

__अनुवाद -__ जैसे अविद्या, क्लेश, कर्म आदि संसार के कारण हैं, वैसे यही प्रधान है (ऐसे आग्रह के कारण) संज्ञा-भेद प्राप्त हुआ।

__विशेषार्थ -__ भारतीय-दर्शनों में जैसे ईश्वर या सर्वज्ञ के भिन्न-भिन्न स्वरूप बताए गए हैं, भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से पुकारा गया है, उसी प्रकार संसार-परिभ्रमण के कारण भी भिन्न-भिन्न बताएँ हैं। उनके लिए अलग-अलग संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है।

वैदिक, जैन और बौद्धदर्शन जन्म-जन्मांतर को मानता है तथा इसमें से मुक्त हो सकते हैं- यह भी जानता है। जीव किस कारण से चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है ? इसका उत्तर सभी दर्शन भिन्न-भिन्न देते हैं। वेदान्ती कहते हैं कि अविद्या (माया) के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है। सांख्यमत वाले कहते हैं कि क्लेश के कारण जीव जन्म-मरण करता है। जैन कर्म को संसार का कारण मानते हैं। बौद्ध वासना को परिभ्रमण का कारण बताते हैं। इन सब मतों से इतना तो निश्चित हो गया है कि जीव किसी न किसी कारण से संसार में घूमता रहता है। एक कारण को प्रधान करके मात्र उसी का कथन किया जाए, तो अन्य निरर्थक हो जाते हैं। फिर भी क्लेश, कर्म, अविद्या, वासना आदि उन-उन दर्शनों के पारिभाषिक-शब्दों की अवधारणा में किंचित् अंतर तो पड़ता ही है, परंतु मुख्य बात भवभ्रमण के कारण की है, उसमें अंतर नहीं पड़ता है। चाहे अविद्या हो, या माया या क्लेश या अन्य कोई दोष हो, जब तक दोष विद्यमान है, तब तक कर्मबन्धन होता रहेगा और संसार-परिभ्रमण भी चलता रहेगा, अतः कर्मबन्ध के कारणों से मुक्त होने पर ही जीव कर्मबन्ध से मुक्त होगा और संसार का परिभ्रमण समाप्त होगा।

(५६७) अस्यापि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः।।७३।।

<u>अनुवाद -</u> इसके (संसार के कारण के) अन्य जो भेद हैं, वे भी उसी प्रकार भिन्न-भिन्न उपाधि वाले हैं, पूर्व में कहे गए उन हेतुओं के कारण बुद्धिमान् को वे भी निरर्थक लगते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में संसार परिभ्रमण के जो भिन्न-भिन्न कारण बताएँ हैं, उनके अलावा भी अनेक चित्र-विचित्र उपाधि वाले भेद-प्रभेद कहे गए हैं। जिस प्रकार सर्वज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में बुद्ध, मुक्त, अर्हन् आदि भेद व्यर्थ हैं और उसकी निरर्थकता के चार हेतु पूर्व श्लोक में बताए गए हैं, उसी प्रकार भवभ्रमण के कारणरूप में अविद्या, क्लेश, वासना आदि भेद व्यर्थ हैं और उनके निरर्थक होने के हेतु भी वे चार हैं, जो पूर्व श्लोक में कहे गए है। इसके अलावा भी संसार-परिभ्रमण के कारण के अनेक भेद-प्रभेद कहे जाते है। ज्ञानियों के लिए वे सब भी व्यर्थ हैं, अतः किसी कारणविशेष को संसार-परिभ्रमण का हेतु नहीं कह सकते हैं। सामान्य रूप से यही स्वीकारना चाहिए कि संसार-परिभ्रमण का कोई-न-कोई कारण है। पुरुषार्थ द्वारा उन दोषों से मुक्त होने का ही सभी का लक्ष्य है।

(५६८) ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत्तद्भेदनिरूपणम्।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः।।७४।।

<u>अनुवाद -</u> इस कारण से ही उन भेदों का निरूपण करने का प्रयास करना अनावश्यक है, क्योंकि अनुमान का विषय सामान्य धर्म होता है-इस प्रकार स्वीकारा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक के अनुसंधान में ही यह श्लोक भी कहा गया है कि देवतत्त्व, भवभ्रमण के कारण आदि के पारिभाषिक-भेदों को करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार के भेद करने में मुख्य रूप से अनुमान-प्रमाण का ही आधार लेना पड़ता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण कोई दे नहीं सकता। वर्तमान में यहाँ कोई सर्वज्ञ तो है नहीं, अतः ईश्वर जैसे अतीन्द्रिय तत्त्व के लिए मात्र अनुमान ही लगा सकते हैं। इस विषय में किसी को विशेष स्वरूप का ज्ञान तो होता नहीं है। अनुमान-प्रमाण की

मर्यादा है कि वह सामान्य का बोध कराता है, विशेष का नहीं, अतः विशेष का कथन करना व्यर्थ है। तात्पर्य यही है कि इस प्रकार भेदों का निरूपण करने का प्रयास करना अनावश्यक है। इससे मात्र व्यर्थ परिश्रम ही होता है।

(५६९) संक्षिप्तरुचिजिज्ञासोर्विशेषानवलम्बनम्।
चारिसंजीविनीचार ज्ञातादत्रोपयुज्यते।।७५।।

अनुवाद - संक्षिप्त रुचि वाले जिज्ञासु को विशेष का आलंबन नहीं करना चाहिए। चारिसंजीवनी न्याय के अनुसार वह (सामान्य) यहाँ उपयोगी है।

विशेषार्थ - सारभूत या बीजरुचि वाले व्यक्ति को विशेष का आलंबन नहीं लेना चाहिए, क्योंकि विशेष को जानने की शक्ति, अधिकार तथा योग्यता नहीं है। ऐसे जिज्ञासु लोगों को तो जितने से अपना काम निकल जाए, अपने उद्देश्य की पूर्ति हो जाए, उतना ही अंदर जाना चाहिए। जीवन अत्यंत अल्प है, बुद्धि सीमित है और तत्त्व की गहनता का पार नहीं, इसलिए देव का विशेष स्वरूप, लक्षण निर्धारित करने और वाद-विवाद करने की अपेक्षा देव-सामान्य का अवलंबन ले लेना चाहिए। सामान्य का अवलंबन लेने से चारिसंजीवनी के न्याय द्वारा कहीं-न-कहीं तो मार्ग मिल ही जाएगा। जो अपनी अल्परुचि वाली जिज्ञासा से सामान्य देव का सर्वज्ञ के रूप में अवलंबन लेते हैं, वे समय निकलने पर एक न एक दिन सर्वज्ञविशेष और मुक्तिमार्ग को प्राप्त कर सकते हैं। चारिसंजीवनी का प्राचीन दृष्टान्त प्रसिद्ध है। एक स्त्री ने अपने पति को वश में करने के लिए मंत्र-प्रयोग से पति को बैल बना दिया, किन्तु बाद में उसे घोर पश्चाताप हुआ। वह रुदन करने लगी। उसी समय आकाशवाणी हुई- "तेरे पति को बैल से वापस मनुष्य बनाना हो, तो अमुक पहाड़ी पर से संजीवनी औषधि लाकर उसे खिला दे।" अब पहाड़ी पर तो घास, छोड़, बेले आदि अनेक वनस्पतियाँ थीं। उनमें से संजीवनी कौनसी है-इसका उसे ज्ञान नहीं था। संजीवनी-विशेष की खोज करने में समय का दुरुपयोग करने के बजाय वह पहाड़ी की सारी वनस्पति धीरे-धीरे उसे खिलाने लगी। एक दिन ऐसा आया कि चारे के साथ उसे अचानक औषधि भी खाने में आ गई और वह बैल से पुनः मनुष्य बन गया।

इस दृष्टान्त के अनुसार कोई जिज्ञासु जीव सामान्य रूप से सर्वज्ञ को जानकर उनकी पूजा, भक्ति, सेवा करता है, तो कालक्रम से योग्यता प्राप्त होते ही उसे वास्तविक सर्वज्ञ का अवलंबन मिलता है और सर्वज्ञ बननेरूप फल की भी प्राप्ति होती है।

(५७०) जिज्ञासाऽपि सतां न्याय्या यत्परेऽपि वदंत्यदः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> सत् पुरुषों की जिज्ञासा भी योग्य है। अन्यदर्शनी भी इस प्रकार कहते हैं। योग का जिज्ञासु भी 'शब्द ब्रह्म' से आगे बढ़ जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य उपाय जिज्ञासा है। धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जिज्ञासा का होना अति महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता है, इसलिए जो स्वयं नहीं जानते हैं, उसे जानने की जिज्ञासा मनुष्य में स्वाभाविक ही होती है। जिज्ञासा का होना अच्छा लक्षण है, किंतु शंकाकुशंका करना, तर्क-वितर्क करना, वाद-विवाद करना-यह पतन की निशानी है। जिज्ञासा का होना उचित है, जिससे परमतत्त्व की खोज निरन्तर चलती रहे। ऐसे जिज्ञासु बहुत अधिक शास्त्रों के ज्ञाता और जिज्ञासारहित शब्दशास्त्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं- इस प्रकार गीता में भी कहा गया है। कितने ही लोगों को शुष्क शब्दचर्चा में भी रस होता है और स्वयं तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में बहुत निपुण है - ऐसा घमण्ड होताहै। मस्तिष्क को ऐसे लोगों ने पुस्तक का भंडार बना लिया है, किंतु हृदय में वह ज्ञान अल्प मात्रा में भी नहीं उतरता है। अधिक जानकारी प्राप्त करना अलग बात है और अंतर्मुख होकर आत्म-संवेदन का अनुभव करना दूसरी बात है। पोथीपण्डित आत्मचिंतन नहीं करते हैं। वे तो नई-नई जानकारी प्राप्त करके अपने मान कषाय को पुष्ट करते रहते हैं। उनकी आत्मा निर्मल नहीं होती है। उन्हें यश-कीर्ति, मान-सम्मान का अतिशय लोभ होता है। शास्त्रग्रंथों के श्लोक-उद्धरण बात-बात में देते हुए वे अपनी विद्वत्ता को जगजाहिर करते हैं। गंभीरता उनमें नहीं होती है। ऐसे शुष्कज्ञानी की अपेक्षा आत्मज्ञान के क्षेत्र में कदम रखने वाला जिज्ञासु श्रेष्ठ है। वह योग का अधिकारी होकर, योगारूढ़ होकर योगातीत हो सकता है, अर्थात् संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(५७१) आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चेति चतुर्विधाः।
उपासकास्त्रयस्तत्र धन्या वस्तुविशेषतः।।७७।।

<u>अनुवाद -</u> आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी-इस प्रकार चार प्रकार के उपासक हैं। इनमें तीन उपासक वस्तुविशेष को लेकर धन्य (मुख्य) हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने गीता के सातवें अध्ययन का सोलहवें श्लोक का आधा भाग लिया है तथा शेष भाग अपने शब्दों में गुम्फित कर लिया है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए ईश्वर के चार प्रकार के उपासक बताए हैं -

१. आर्त्त २. जिज्ञासु ३. अर्थार्थी और ४. ज्ञानी।

आर्त्त, अर्थात् दुःखी। प्राण संकट में आने पर, मन के प्रतिकूल घटना घटने पर, सांसारिक आधि-व्याधि-उपाधि से त्रस्त हो ,दुःखी हो, तो उस दुःख से मुक्त होने के लिए कोई शरण चाहिए। चूंकि ईश्वर अपने भक्तों को संकट से मुक्त कराने वाले हैं, अतः अपना दुःख दूर करने के लिए ऐसे भक्त भगवान् को पुकारते हैं, उनकी शरण स्वीकार करते हैं, उनकी सेवा, भक्ति, उपासना करके उनको प्रसन्न करना चाहते हैं, उनकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपना दुःख दूर करने के लिए केवल भगवान् पर ही विश्वास करते हैं, दूसरे किसी उपाय को काम में नहीं लेते हैं, ऐसे भक्त आर्त्तभक्त कहलाते हैं।

जिज्ञासु संसार का अवलोकन करते हुए, सुख-दुःख का कारण क्या है ? मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? भगवद्‌तत्त्व क्या है ? इस प्रकार के तत्त्व को जानने के लिए शास्त्र, गुरु या पुरुषार्थ का आश्रय न रखते हुए केवल भगवान् के आश्रित होकर उस तत्त्व को भगवान् की भक्ति, उपासना आदि से प्राप्त करता है। भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण रखते हुए जैसे-जैसे उसकी जिज्ञासा शांत होती है, वैसे-वैसे देवतत्त्व पर वह स्थिर हो जाता है। वह जिज्ञासु-भक्त कहलाता है।

अर्थार्थी-भक्त, ऐसे भक्त को धन, सम्पत्ति, वैभव, यश, कीर्ति आदि सांसारिक-सुखों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है, पर वह समझता है कि भगवान् के समान धन की इच्छा पूरी करने वाला कोई नहीं है और

ऐसा समझकर वह धन-प्राप्ति के लिए तत्परतापूर्वक भगवान् का जप-कीर्त्तन, भगवान् का ध्यान-भक्ति आदि करता है। धन प्राप्त करने के लिए उसे भगवान् पर ही निष्ठा और विश्वास होता है। वह भगवान् की तरफ ही बढ़ता जाता है ऐसे भक्त अर्थार्थी-भक्त कहलाता है। इसके मन में धन की अपेक्षा प्रभु का महत्व अधिक होता है।

आजकल जो धन प्राप्ति के लिए झूठ-कपट, बेईमानी आदि करता है, वह भी धन के लिए समय-समय पर भगवान् को पुकारता है। वह अर्थार्थी तो है, पर भगवान का भक्त नहीं है, क्योंकि उसका झूठ-कपट, बेईमानी पर जितना विश्वास है, उतना विश्वास भगवान् पर नहीं है। उसका पाप के बिना, झूठ-कपट के बिना काम नहीं चलता है। ज्ञानी वे हैं, जो संसार में समत्व की साधना करते हैं। वे अन्य कोई भौतिक-प्रयोजन के बिना परमतत्त्व की उपासना करते हैं। वे जानते हैं कि निष्काम उपासना ही अंत में बंधन से मुक्त कराने वाली है। ज्ञानी भक्त को अनुकूल-से-अनुकूल और प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना, व्यक्ति, वस्तु आदि सब भगवत्स्वरूप ही दिखाई पड़ते हैं, अर्थात् वे किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होते हैं, परमानन्द में मस्त रहते हैं। वे भगवान् से कुछ चाहते नहीं हैं। जिनकी भगवान् में रुचि हो गई है, वे ही भाग्यशाली हैं, धन्य हैं, श्रेष्ठ हैं। वह रुचि चाहे किसी पूर्व पुण्य के उदय से हुई हो, चाहे संकट के समय दूसरों का सहारा छूट जाने से हो गई हो, चाहे किसी विश्वसनीय मनुष्य द्वारा समय पर धोखा दिए जाने से हो गई हो, चाहे सत्संग, स्वाध्याय, चिंतन आदि से हो गई हो, वे सभी धन्य हैं।

प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि चारों उपासकों में से तीन धन्य हैं। तीन कौन ? यह श्लोक में स्पष्ट नहीं किया गया है। कितने ही लोगों का मानना है कि जो धन की इच्छा से प्रभु की उपासना करता है, वह उच्च कक्षा का उपासक नहीं माना जा सकता है, अतः आर्त्त, जिज्ञासु व ज्ञानी-तीनों धन्य हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञानी के लिए भिन्न श्लोक की रचना की गई है, अतः आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी को धन्य कहा गया है। यहाँ जो धन्यता दर्शाने में आई है, वह वस्तुविशेष के सन्दर्भ में है। पहले तीन के लिए परमेश्वर वस्तुविशेष हैं, उपास्य हैं।

**(५७२) ज्ञानी नु शान्तविक्षेपो नित्यभक्तिर्विशिष्यते।
अत्यासन्नो ह्यसौ भर्तुरन्तरात्मा सदाशयः।।७८।।**

<u>अनुवाद -</u> ज्ञानी विक्षेप से रहित (शान्त), (परमेश्वर की) नित्य भक्ति से विशिष्ट, सदाशय से युक्त और अंतरात्मा के अत्यंत समीप होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी की विशेषताएं बताई गई हैं। इस श्लोक में चौथे उपासक ज्ञानी की विशेषता गीता के सातवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक के अनुसार दर्शाई गई है। शब्द ग्रंथकार के ही हैं। ज्ञानी कैसा होता है ? ज्ञानी शान्तचित्त होता है। कोई भी परिस्थिति उसके चित्त की समाधि को खण्डित नहीं कर सकती है। कोई उपद्रव भी होता है, तो वह या तो स्वयमेव शान्त हो जाता है या शान्त नहीं हो, तो भी वह ज्ञानी की शांति को भंग नहीं कर सकता है। ज्ञानी नित्यप्रति परमेश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है। उसकी भक्ति अखंडित और निःस्वार्थ होती है। ज्ञानी लौकिक और पारमार्थिक-सब क्रियाएं करते समय सदा-सर्वदा भगवान् से जुड़ा रहता है। भगवान् का सम्बन्ध रखते हुए, उनकी आज्ञा को प्रधान रखते हुए ही उसकी सब क्रियाएं होती हैं। ज्ञानी हमेशा सदाशय वाला होता है, अर्थात् वह शुभ आशय वाला होता है। उसके हृदय में दुष्ट आशय नहीं होता है। वह सभी के कल्याण की भावना रखता है, सभी के हित की कामना करता है। ऐसे ज्ञानी के हृदय में ही परमात्मा बसे हुए होते हैं। ज्ञानीजन हमेशा अंतर से परमात्मा के समीप ही होते हैं। उनके लिए सब कुछ परमात्मा ही है। वे परमात्मा के इतने निकट आ जाते हैं कि वे स्वयं परमात्मस्वरूप हो जाते हैं।

**(५७३) कर्मयोगविशुद्धस्तज्ज्ञाने युंजीत मानसम्।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयानो विनश्यति।।७९।।**

<u>अनुवाद -</u> कर्मयोग से विशुद्ध हुआ वह मन को ज्ञान में जोड़ता है। अज्ञानी और अश्रद्धावान-ऐसा संशयात्मा विनाश को प्राप्त होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने गीता के चौथे अध्ययन के उनचालीसवें और चालीसवें श्लोक का आधार लिया है। कर्मयोग जीवन को विशुद्ध बनाता है। क्रियाओं की विशुद्धि उसे ज्ञान-ग्रहण के योग्य बनाती हैं।

ऐसी पात्रता प्राप्त करने के बाद जो कर्मयोगी अपने मन को ज्ञान में जोड़ते हैं, वे क्रमशः विकास करते हुए ज्ञानयोगी बन जाते हैं। ज्ञानयोगी बनने का यह अर्थ नहीं है कि फिर वे कर्मयोगी नहीं रहते हैं। उनका कर्मयोग ज्ञानयोग में एकरूप हो जाता है। वे कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समन्वय की उच्च भूमिका में पहुँच जाते हैं। जो इस भूमिका पर पहुँच जाते हैं, वे ही मोक्षमार्ग की अच्छी तरह से साधना कर सकते हैं। यदि साधक एकमात्र परमात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता हो और परमात्मा अपने में है ऐसी श्रद्धावाला हो, तो उसे अवश्य परमात्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है। 'अप्पा सो परमप्पा', अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है - इस बात में साधक की पूर्ण श्रद्धा होना चाहिए। श्रद्धा-विश्वास और विवेक की आवश्यकता सभी साधकों के लिए है।

जो कर्मयोगी नहीं हुए, वे ज्ञानयोगी भी नहीं बन पाते हैं। विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयात्मा मनुष्य का पतन हो जाता है। शंकालु व्यक्ति की बुद्धि परिपक्व नहीं होती है। वह साधना से भ्रष्ट होकर इहलोक और परलोक-दोनों में ही दुःखी होता है। तात्पर्य यह है कि मन में संशय रहने पर भी उस मनुष्य की न तो अपनी विवेकवती बुद्धि है और न वह दूसरे की बात मानता है, इसलिए उस संशयात्मा का पतन हो जाता है, क्योंकि संशय होने के साथ-साथ वह अश्रद्धावान् है और अज्ञानी भी है। श्रद्धावान् विवेकी व्यक्ति को संदेह होने पर वह तुरंत साधु-महात्माओं से, अथवा ग्रंथ के माध्यम से किसी-न-किसी प्रकार से उस संदेह का निवारण कर लेता है। संशय दूर करने वाला कोई न मिले, तो भगवत्कृपा से उसका संशय दूर हो जाता है। अल्पश्रद्धा वाले अविवेकी के लिए कहा गया है -

कुछ श्रद्धा, कुछ दुष्टता, कुछ संशय, कुछ ज्ञान।
घर का रहा न घाट का, ज्यो धोबी का श्वान।।

संशयात्मा मनुष्य दुविधा में रहने के कारण कोई एक निश्चय नहीं कर सकता है। संशय होने के कारण उसके मन में सुख-शांति भी नहीं रहती है। ज्ञान हो, तो भी संशय मिट जाता है और निर्मल श्रद्धा हो, तो भी संशय मिट जाता है। संशय की स्थिति व्यक्ति को उबारने में सहायक नहीं होती है।

(५७४) निर्भयः स्थिरनासाग्रदत्तदृष्टिर्व्रतस्थितः।
सुखासनः प्रसन्नास्यो दिशश्चानवलोकयन्।।८०।।

(५७५) देहमध्यशिरोग्रीवमवक्रं धारयन्बुधः।
दन्तैरसंस्पृशन् दंतान् सुश्लिष्टाधरपल्लवः।।८१।।

(५७६) आर्त्तरौद्रे परित्यज्य धर्मे शुक्ले च दत्तधीः।
अप्रमत्तो रतो ध्याने ज्ञानयोगी भवेन्मुनिः।।८२।।

अनुवाद - निर्भय, नासिका के अग्रभाग पर स्थिर दृष्टि रखने वाले, व्रतयुक्त, सुखासन में स्थित, प्रसन्न मुखमुद्रा वाले, दिशाओं का अवलोकन नहीं करने वाले, देह का मध्यभाग, अर्थात् रीढ़ की हड्डी, मस्तक और ग्रीवा सीधी रखने वाले दाँत के द्वारा दाँत का स्पर्श नहीं करने वाले, ओष्ठ को बंद रखने वाले, आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग करके धर्म और शुक्लध्यान में बुद्धि को स्थिर रखने वाले तथा प्रमादरहित होकर ध्यान में तल्लीन होने वाले मुनि ज्ञानयोगी बनते हैं।

विशेषार्थ - प्रस्तुत तीनों श्लोकों में ग्रंथकार ने ज्ञानयोगी महापुरुष के महत्त्वपूर्ण स्थूल तथा सूक्ष्म लक्षणों का निर्देश किया है। इसके लिए ग्रंथकार ने प्राचीन ग्रंथों का आधार लिया है। जो ज्ञानयोगी होते हैं, वे निर्भय होते हैं। ज्ञानयोगी को भेदज्ञान स्पष्ट होता है, अतः संसार में होने वाली आकस्मिक दुर्घटनाओं, प्राकृतिक-विपदाओं, शारीरिक व्याधि, उपद्रव, स्वजन का वियोग, मारणान्तिक-उपसर्ग, मिथ्या आरोप आदि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वे समदर्शी साधक निर्भय रहते हैं। उनका चित्त अस्वस्थ, व्यग्र, उद्विग्न नहीं होता है। उनको किसी के प्रति द्वेष नहीं होता है, न उनके मन में किसी के प्रति तिरस्कार की भावना होती है। यदि वे चिंता या शोक करने लगें, तो समझना चाहिए कि वे अभी ज्ञानयोगी की भूमिका में नहीं पहुँचे हैं।

सुदर्शन सेठ पर अभयारानी ने शीलखण्डन का मिथ्या आरोप लगाया, परंतु सुदर्शन सेठ ध्यान से विचलित नहीं हुए। उन्हें फांसी की सजा सुना दी गई, तब भी उन्होंने न सत्य का स्पष्टीकरण किया और न भयभीत

हुए, रानी पर द्वेषभाव भी नहीं किया। मेतारजमुनि, खंधकमुनि और अनेक ऐसे ज्ञानयोगी साधकों के उदाहरण शास्त्रों में आए हैं।

ऐसे मुनि जब ध्यानयोग में बैठते हैं, तब उनकी स्थिति कैसी होती है ? प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि जब वे ध्यानयोग में बैठते हैं, तो सुखासन, अर्थात् स्थिरतापूर्वक सहजता से जिस आसन पर अधिक समय तक बैठ सके, जैसे-पद्मासन, वज्रासन, भुजंगासन आदि में स्थित, नाक के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर, चंचलता का त्याग, रीढ़ की हड्डी सीधी, दोनों ओष्ठ बंद, दाँत अस्पर्श तथा प्रसन्न मुखमुद्रा वाले होते हैं। इस प्रकार ध्यान में बैठे हुए महापुरुष के चित्त में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं चलते हैं। वे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में अपने चित्त को तल्लीन कर देते हैं। इस प्रकार वे ध्यान में अप्रमत्त भाव से लीन रहते हैं।

ध्यान में लीन रहने वाले ज्ञानयोगी का सुन्दर शाब्दिक-वर्णन किया गया है तथा ध्यान करने वाले को कैसे आसन में बैठना, कैसी मुखमुद्रा रखना आदि का संक्षिप्त तथा सुंदर मार्गदर्शन दिया गया है। ध्यान में और भी कई महत्वपूर्ण बातें होती हैं, जिनका मार्गदर्शन अन्य पुस्तकों या प्राज्ञ गुरुभगवंतों से लिया जा सकता है।

(५७७) कर्मयोगं समभ्यस्य ज्ञानयोगसमाहितः।
ध्यानयोगं समारूह्य मुक्तियोगं प्रपद्यते।।८३।।

<u>अनुवाद -</u> कर्मयोग का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करके, ज्ञानयोग में अच्छी तरह स्थिर होकर ध्यानयोग पर आरूढ़ होकर मुनि मुक्तियोग को प्राप्त करे।

<u>विशेषार्थ -</u> योगाधिकार का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार प्रस्तुत श्लोक में कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और मुक्तियोग-इन चारों की महत्ता दर्शाते हैं। इन चारों योगों का क्रम है तथा ये एक-दूसरे में समन्वित हैं। कर्मयोग की पूर्णता अनासक्ति भाव में है और ज्ञानयोग का प्रारंभ अनासक्ति से है। निष्कामभाव से कर्म या क्रिया करते हुए व्यक्ति क्रमशः ज्ञानयोग का पात्र बनता है। यहाँ कर्म शब्द का अर्थ कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं से नहीं है बल्कि क्रिया से है। निष्कामभाव से की गई षडावश्यक आदि क्रियाएँ

परम्परा से मोक्ष का कारण होती हैं। कर्मयोग में निपुणता आने पर ही ज्ञानयोग को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तु के स्वरूप को समझ लेने के बाद उसमें आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है। ऐसा अनासक्त ज्ञानयोगी ही ध्यानयोग में स्थिर होकर अपने कर्मों को जलाकर राख कर देता है और अन्त में मुक्तियोग को प्राप्त कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग-इन तीनों योगों की मीमांसा सांख्य आदि दर्शन के अनुसार की गई है। इस अधिकार में उपाध्याय यशोविजयजी ने गीता की मीमांसा का जैनदर्शन के अनुरूप सुंदर समन्वय किया है, साथ ही जहाँ-जहाँ उचित लगा, वहाँ-वहाँ उद्धरण के रूप में गीता के श्लोकों को भी स्थान दिया है।

मोक्षाभिलाषी जीव की धर्मक्रिया में तीव्र रुचि होती है। अकेला कर्मयोग या अकेला ज्ञानयोग आराधक मुनियों के जीवन में नहीं होता है। इसमें आत्मदशा के अनुसार साधक की भूमिका के आधार पर गौण और मुख्यता का अन्तर होता है। ज्ञानयोग से समता और समाधि प्राप्त होती है। ऐसा ज्ञानयोगी ध्यान में आरूढ़ होकर धर्मध्यान और क्रमशः शुक्लध्यान प्राप्त करके क्षपकश्रेणी चढ़कर मुक्तियोग प्राप्त कर लेता है, अर्थात् मन-वचन-काया के योग से रहित योगातीत सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आत्मा का क्रमशः पूर्ण विकास हो जाता है।

---oo---

प्रबंध पाँचवां

सोलहवां अधिकार - ध्यान-अधिकार

**(५७८) स्थिरमध्यवसानं यत् तद्ध्यानं चित्तमस्थिरम्।
भावना चाप्यनुप्रेक्षा चिन्ता वा तत्त्रिधा मतम्।।१।।**

अनुवाद - जो स्थिर अध्यवसाय है, वह ध्यान है। अस्थिर चित्त के भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता इस तरह तीन प्रकार कहे गए हैं।

विशेषार्थ - पूर्व अधिकार में योग का स्वरूप समझाने के बाद अब ग्रंथकार ध्यान का स्वरूप समझाते हैं। जैनधर्म, बौद्धधर्म तथा वैदिक आदि धर्मों में ध्यान पर बहुत गहन चर्चा की गई है। चित्त का भ्रमण, चित्त की गतिविधियाँ, चित्त की भागदौड़ सर्वाधिक है। मन की चंचलता को रोकना, मन को संयम में रखना अत्यंत कठिन है। जैसे आकाश में विचरण करते हुए वायु को कोई मुट्ठी में बांध नहीं सकता, ऐसे ही इस मन को कोई पकड़ नहीं सकता। इसका निग्रह करना महान दुष्कर है।

मन का आत्मा के साथ गहरा संबंध है, दूसरी ओर, मन का इन्द्रियों के साथ भी इतना ही घनिष्ठ संबंध है, इसलिए अध्यात्म की मीमांसा में मन के विषय में चिंतन अवश्य करना पड़ता है। मन को एक विषय में स्थिर रखना अत्यंत कठिन है। वह कब दूसरे विषय पर चला जाता है, इसका पता ही नहीं चलता है। मन को एक विषय में स्थिर रखने के लिए सतत अभ्यास करने की आवश्यकता है। अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है।

मन के व्यापार को दो भागों में बाँट सकते हैं। मन को जब एक ही विषय में एकाग्र किया जाता है, तो वह ध्यान है और जब मनएक विषय से दूसरे विषय पर, दूसरे से तीसरे पर दौड़ता है, अस्थिर रहता है, वह चित्त है। पुनः, चित्त के तीन भेद किए गए हैं :-

(१) भावना (२) अनुप्रेक्षा (३) चिंता।

जिसमें मन भावित होता है, उसे भावना कहते हैं। जैनधर्म भावप्रधान धर्म है। भावना पर ही हमारा उत्थान और पतन निर्भर है। शुभ भावों से भावित मन आत्मिक-विकास में सहायक होता है, जबकि अशुभ भावों से भावित मन आत्मा को पतन की ओर ले जाता है। 'खाली मन शैतान का घर', मन को कभी-भी खाली नहीं रखना चाहिए। अगर उसे अच्छे विषयों से नहीं जोड़ा गया, तो वह ऐन्द्रिय-विषयभोगों की ओर दौड़ जाता है, अतः अनभ्यासी साधक को सतत अपनी भावनाओं का, विचारों का ध्यान रखना पड़ता है। अगर साधक को ध्यान के लिए मन को तैयार करना है, तो जिस विषय का भी ध्यान करना हो, उस विषय के ग्रंथों का अभ्यास करे, अपना जो लक्ष्य है, ध्येय है, उसमें मनोवृत्ति लगाए और दूसरी वृत्ति आने पर, अर्थात् दूसरा कुछ भी चिंतन होने पर, उसकी उपेक्षा कर दे, उससे उदासीन हो जाए तथा भावना को हमेशा शुद्ध रखे, क्योंकि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'।

अनुप्रेक्षा 'अनु' और 'प्र' उपसर्ग तथा 'इक्ष' धातु से बना है। अनु, अर्थात पीछे से, प्रेक्षा अर्थात देखना या दर्शन। किसी भी विषय का अभ्यास किया हो, तो याद करके फिर चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा ध्यान के लिए उपकारक है। ध्यान जब टूट जाता है और चित्त जब अनुप्रेक्षा में लग जाता है, तो पुनः मन को ध्यान में जोड़ सकते हैं। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं को बारह अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। अनुप्रेक्षा और भावना-दोनों शब्दों में अत्यंत समीपता है।

चिंता शब्द ध्यानाभ्यास की दृष्टि से भावना और अनुप्रेक्षा की उपेक्षा हल्का है। चिंता, अर्थात् भावना और अनुप्रेक्षा के अलावा चित्त की अस्थिर अवस्था। इस अवस्था में चित्त शरीर, पुत्र, परिवार, व्यापार, धन आदि में दौड़ जाता है या धार्मिक-विषयों के प्रश्नों में उलझ जाता है।

संसार के भोगों से राग जितना कम होगा, उतना ही मन ध्यान में स्थिर होगा। पुराने संस्कारों के कारण कभी कोई स्फुरणा हो भी जाए, तो उसकी उपेक्षा कर देना चाहिए।

मन इतना संकुल और गहन है कि मन के व्यापारों को समझना अत्यंत कठिन है। मन को संसार से हटाकर बार-बार ध्येय में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।

(५७६) मुहूर्तान्तर्भवेद् ध्यानमेकार्थे मनसः स्थितिः।
बह्वर्थसंक्रमे दीर्घाप्यविच्छिन्ना ध्यान संततिः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> एक ही विषय में मन को अंतर्मुहूर्त्त तक स्थिर रखना ध्यान है। बहुत विषयों में संक्रमण करती हुई या घूमती हुई दीर्घ और अविच्छिन्न जो स्थिति है, वह ध्यान की श्रेणी है।

<u>विशेषार्थ -</u> जिसका मन वश में है, वह मन को जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लगा सकता है, जितनी देर लगाना चाहे, उतनी देर लगा सकता है और जहाँ से हटाना चाहे, वहाँ से हटा सकता है। किसी भी एक पदार्थ के किसी एक भाव पर चित्त को केन्द्रित करना ध्यान कहलाता है। जिसमें सातत्य नहीं हो और एक विषय से मन दूसरे विषय पर चला जाता हो - ऐसी विविध स्थिति को चिंता, भावना, अनुप्रेक्षा आदि शब्दों से पहचान सकते हैं।

मन एक विषय पर कितने समय तक ठहर सकता है, यह ध्यान करने वाले के अभ्यास पर निर्भर है, फिर भी छद्मस्थ व्यक्ति अधिक-से-अधिक अंतर्मुहूर्त्त तक ध्यान कर सकता है, उसके बाद विचलन हो जाता है, मन दूसरे विषय पर चला जाता है। ध्यान के प्रारंभिक-अभ्यासियों का मन यदि एक विषय में पॉच-छः मिनिट भी स्थिर रह सके, तो यह भी बहुत अच्छी सिद्धि कहलाती है। पाँच मिनिट में अपना चित्त कितनी बार विषय से बाहर गया, इसकी प्रामाणिक-गिनती लगाकर उसे घटाने का और एकाग्रता को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। छद्मस्थ के ध्यान में अंतर्मुहूर्त्त के बाद अवश्य परिवर्तन होता है, चाहे वह परिवर्तन सूक्ष्म हो, मन एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर चला जाए। इस प्रकार सूक्ष्म परिवर्तन के साथ एकाग्रता एक ही विषय पर दीर्घकाल तक रह सकती है। अंतर्मुहूर्त्त, अर्थात् मुहूर्त्त के अंदर। एक मुहूर्त्त दो घड़ी का होता है और दो घड़ी में ४८ मिनट होते हैं, अतः ४८ मिनट के अन्दर की अवधि २ समय से लेकर ४८ मिनिट में एक समय कम अंतर्मुहूर्त्त कहलाता है। काल का

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अविभाज्य अंश समय कहलाता है। एक पलक झपकने में तो असंख्य समय पसार हो जाता है। काल का इतना सूक्ष्म स्वरूप है। असंख्य समय बराबर एक स्वस्थ मनुष्य का श्वासोच्छ्वास अथवा प्राण है। सात प्राण बराबर एक स्तोक, सात स्तोक बराबर एक लव, ७७ लव बराबर एक मुहूर्त्त, एक मुहूर्त्त बराबर दो घड़ी, अर्थात् ४८ मिनट और अंतर्मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनिट के अंदर की अवधि।

व्यक्ति अगर पूरे दिन एक आसन पर ध्यान में बैठने की इच्छा करे, तो वह बैठ सकता है, परंतु अंतर्मुहूर्त्त के बाद उसका ध्यान टूट जाता है, लेकिन खंडित हुआ ध्यान उसी विषय में या अन्य विषय में पुनः जुड़ सकता है। इस प्रकार दो ध्यानों के मध्य का काल ध्यानान्तरिका कहलाता है। ध्यानान्तरिका के साथ लंबे समय तक चलते हुए ध्यान को ध्यान की श्रेणी या ध्यानधारा कहते हैं।

(५८०) आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।
तत् स्याद् भेदाविह द्वौ द्वौ कारणं भवमोक्षयोः।।३।।

<u>अनुवाद -</u> (ध्यान के) आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल-चार प्रकार हैं। इनमें दो भेद संसार के और दो भेद मोक्ष के कारण हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के चार भेद बताए गए हैं। इनमें से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान-दो अशुभ हैं और भवभ्रमण में वृद्धि करने वाले हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान दो शुभ हैं और मोक्ष के हेतुभूत कहे गए हैं।

आर्त्त शब्द ऋत् से बना है। ऋत्, अर्थात् दुःख। दुःख के निमित्त या दुःख में होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान है, अथवा दुःखी प्राणी का ध्यान आर्त्तध्यान है, अथवा मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ वस्तु के संयोग के कारण से होने वाला चित्तविक्षोभ आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यान की स्थिति में यदि व्यक्ति की आयुष्य का बंध हो जाता है, तो जीव बहुधा तिर्यंचगति में जाता है। क्रूर और कठोर वृत्ति के व्यक्ति की हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षण के लिए जो सतत चित्तप्रवृत्ति होती है, वह रौद्रध्यान है। जब व्यक्ति रौद्रध्यान की स्थिति में हो और उस समय आयुष्य का बंध हो, तो

वह नरकगति के आयुष्य का बंध होता है। रौद्रध्यान जीव को नरक का अधिकारी बना देता है। रौद्रध्यान आर्त्तध्यान से भी अधिक भयंकर है। इस प्रकार आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों दुर्गति में ले जाने वाले हैं, संसार की वृद्धि कराने वाले हैं।

धर्मध्यान-इसके नाम के अनुसार ही धर्म शुक्लध्यान है। श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के संबंध में सतत चिंतन धर्मध्यान कहलाता है। तत्त्वसंबंधी विचारणा, हेयोपादेय संबंधी विचारधारा तथा देव-गुरु-धर्म की स्तुति आदि भी धर्मध्यान के अंग हैं। शुभ परिणाम होने से धर्मध्यान की स्थिति में जीव की शुभ आयुष्य का बंध होता है, देवगति प्राप्त होती है और परंपरा से मोक्ष प्राप्त होता है।

जो आत्मा के आठ कर्मरूपी मैल को धोकर उसे स्वच्छ धवल बना देता है, वह शुक्लध्यान है। इस ध्यान के प्रभाव से कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है।

उपयुक्त चारों ध्यानों में से आर्त्त और रौद्रध्यान हेय हैं, त्याग करने योग्य हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु होने से उपादेय हैं, आदरने योग्य हैं।

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र धर्मध्यान और शुक्लध्यान के लिए योग्यता या पात्रता का क्रम बताते हुए कहा है कि ध्यान की सीढ़ी पर चढ़ने के पहले इन्द्रियों का गोपन करना चाहिए, उससे मन शुद्धि करना चाहिए और राग-द्वेष को जीतकर समता का अभ्यास करना चाहिए। समता का अभ्यास होने पर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अवलंबन लेना चाहिए। इस क्रम को ध्यान में रखे बिना अन्धानुकरण करके जो मूढ़ लोग ध्यान करने लगते है, वे उभयतः च्युत होते हैं। जो विधिपूर्वक ध्यान करते हैं, वे आत्महित का साधन करते हैं।

(५८१) शब्दादीनामनिष्यनां वियोगासंप्रयोगयोः।
चिन्तनं वेदनायाश्च व्याकुलत्वमुपेयुषुः।।४।।

<u>अनुवाद -</u> अनिष्ट शब्द आदि के वियोग का और अप्राप्ति का तथा वेदना की व्याकुलता का चिंतन करना।

विशेषार्थ - दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं। उनमें से प्रथम दो प्रकारों का निर्देश यहाँ किया गया है। ये प्रकार हैं- (१) अनिष्टवियोगचिंता (२) रोग-चिंता। अमनोज्ञ वस्तु के संयोग होने पर दुःख से व्याकुल आत्मा उसे दूर करने के लिए सतत चिंतन करती है। यह अनिष्ट-वियोग की चिंतारूप आर्त्तध्यान है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि अनचाही वस्तु का संयोग न हो। प्रथम तो, किसी की भी सभी मनचाही बातें कभी पूरी नहीं होती हैं, अतः अनचाही होने का दुःख सदा बना ही रहता है। अनिष्ट का संयोग होने पर मनुष्य आकुल-व्याकुल हो जाता है और कब इस प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति से छुटकारा प्राप्त हो, इसकी सतत चिंता उसे बनी रहती है। अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति, विषय, संयोग आदि के प्रति मनुष्य को अभाव, अरुचि, अप्रीति रहती है। विद्यमान दुःख को न चाहने का, दूर करने का भाव द्वेष है और सुख को चाहने का, सुख बनाए रखने का भाव राग है। राग-द्वेष ही दुःख के कारण हैं। अनिष्ट के वियोग की चिंता कभी-कभी इतनी ज्यादा हो जाती है कि चित्त सतत उसका ही चिंतन करता रहता है, इसलिए उसे ध्यान कहा गया है। वह केवल वर्तमान की ही चिंता नहीं करता, बल्कि भूत और भविष्यकाल की भी चिंता करता रहता है। वह वर्तमान में उपस्थित प्रतिकूल परिस्थिति को दूर करने की चिंता तो करता ही है, साथ ही वह ऐसे अनिष्ट विषयों की भी चिन्ता करता है, जिसकी प्राप्ति अभी हुई नहीं है, परंतु भविष्य में होने की संभावना है। कहीं चोरी न हो जाए, व्यापार में नुकसान नहीं हो जाए आदि भविष्य की चिंता भी वह करता रहता है और भूतकाल में अनिष्ट संयोगों में, प्रतिकूल परिस्थिति में कितने कष्ट उठाए ऐसे कष्ट अब न आएं- इस प्रकार तीनों काल की चिन्ता करता हुआ आर्त्त ध्यान में डूबा रहता है।

दूसरे प्रकार का आर्त्तध्यान रोग की चिन्ता करना है। शारीरिक या मानसिक-पीड़ा होने पर उसके निवारण की व्याकुलतापूर्वक चिंता करना रोगचिंता आर्त्तध्यान है। जुकाम-ज्वर, रक्तचाप आदि क्षुद्र रोगों की उतनी चिंता नहीं होती, किन्तु कोई गंभीर व्याधि क्षय, केन्सर आदि हो जाए, तो वह आकुल-व्याकुल हो जाता है तथा उस रोग का वियोग कैसे हो, इसकी निरन्तर चिंता करता रहता है। यदि किसी को कोई रोग नहीं है, तब भी उसे, कभी भी कोई रोग हो सकता है - यह भय सदा ही बना रहता है।

भय का दुःख वास्तविक दुःख से भी अधिक भयंकर होता है। इसी प्रकार मानसिक-रोग के रूप में तनाव, हीनभाव, अंतर्द्वन्द्व, अशांति, उद्विग्नता, चिंता, भय, शोक आदि असंख्य दुःख हैं। मानव-जीवन का हर क्षेत्र अनेक दुःखों से ग्रस्त तथा त्रस्त है। उन दुःखों से मन को जोड़ लेना, उनसे द्वेष रखना, उनको दूर करने की सतत चिंता करना आर्त्तध्यान है।

(५८२) इष्टानां प्रणिधानं च संप्रयोगावियोगयोः।
निदानचिन्तनं पापमार्त्तमित्थं चतुर्विधम्।।५।।

<u>अनुवाद -</u> इष्ट के संयोग और अवियोग का चिंतन (प्रणिधान) तथा निदान का चिंतन करना इस प्रकार पापमय आर्त्तध्यान चार प्रकार का है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व के श्लोक में आर्त्तध्यान के चार प्रकारों में से दो को बताया गया है। प्रस्तुत श्लोक में शेष दो प्रकारों का निर्देश किया गया है। तीसरे प्रकार का आर्त्तध्यान इष्ट के संयोग और वियोग का है और चौथा प्रकार आर्त्तध्यान के निदान के रूप में है।

जिस प्रकार अनिष्ट के संयोग-वियोग की चिंता बनी रहती है, उसी प्रकार इष्ट के संयोग-वियोग की चिंता भी बनी रहती है। मनचाहे शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि विषय-ऐसे विषयों का आनंद देने वाले पदार्थ या प्रिय व्यक्ति हमेशा अपने पास ही रहें, उनका कभी वियोग न हो, सदा पूर्णिमा ही रहे, कभी अमावस आए ही नहीं-इस तरह सुख के दिनों का वियोग न हो जाए, इसकी चिंता व्यक्ति करता है और आतुर रहता है। इस प्रकार का चिंतन करना ही आर्त्तध्यान है। सुख के प्रति तीव्र राग के कारण मनुष्य को इस प्रकार का आर्त्तध्यान होता है। यह स्थिति भौतिक-पदार्थों से सुख-प्राप्ति के इच्छुक सभी व्यक्तियों की है। वे अपने इष्ट-सुख की मृगमरीचिका के पीछे निरन्तर दौड़ते रहते हैं और एक क्षण के लिए भी उस कल्पित सुख की इच्छा के संकल्पों के भार को उतारकर निर्विकल्प स्थितिरूप विश्रान्ति के सुख का उपभोग नहीं करते हैं और अंत में इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए आर्त्तध्यान करते-करते श्मशान-घाट पहुँच जाते हैं।

आर्त्तध्यान का चौथा प्रकार निदान-चिंतन है। निदान, अर्थात् इष्ट फल की प्राप्ति का संकल्प करना। मनुष्य द्वारा अपने तप-त्याग, संयम,

सेवा, साधना आदि के बदले में अमुक वस्तु की मुझे प्राप्ति हो, अमुक व्यक्ति का संयोग हो आदि अभिलाषा करना निदानचिंतन है। यह भी एक प्रकार का गाढ़ मानसिक-चिंतन है। देवगति के सुख, चक्रवर्ती के सुख, सुंदर प्रिय पात्र का संयोग, कामभोग की प्राप्ति आदि मनुष्य अपनी तपस्या के बदले में मांग लेता है। अगर उत्कृष्ट तप हो, तो प्रायः उसको इच्छा के अनुरूप फल मिल जाता है, परंतु यह भी एक प्रकार का अशुभ ध्यान है। अज्ञान और मोह के कारण इस प्रकार का आर्त्तध्यान होता है और इससे आत्मा का अधःपतन ही होता है।

इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं, आकांक्षाओं की उत्पत्ति या पूर्ति से होने वाला सुख, सुख नहीं सुखाभास है। ऐसे पौद्गलिक-सुखों को प्राप्त करने के लिए चिंतन करना, आतुर होना, आर्त्तध्यान करना उचित नहीं है।

(५८३) पोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र संभवः।
अनतिक्लिष्टभावनां कर्मणां परिणामतः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> अति क्लिष्ट नहीं, अर्थात् कम क्लिष्ट भावों के कर्मों के परिणामस्वरूप यहाँ कापोत, नील और कृष्ण-लेश्या संभव है।

<u>विशेषार्थ -</u> आर्त्तध्यान से अनुरंजित व्यक्ति की लेश्या किस प्रकार की होती है, उसका यहाँ निर्देश किया गया है। लेश्या, अर्थात् मन के परिणाम। जीव के बदलते हुए परिणामों या मनोंभावों और उनके आधार पर कर्मवर्गणाओं से बने हुए आभामण्डल को लेश्या कहते हैं। मनोभावों को भावलेश्या और कर्मवर्गणा से निर्मित व्यक्ति के आभामण्डल को द्रव्यलेश्या कहा जा सकता है। मनोभाव शुभ या अशुभ-दो प्रकार के होते हैं। इन मनोभावों की तरतमता के आधार पर जैनदर्शन में छः लेश्याएँ मानी गईं हैं।

(१) कृष्णलेश्या (काले रंग की) (२) नीललेश्या (नीले रंग की) (३) कापोतलेश्या (कबूतर के पंख जैसे रंग की) (४) पीत या तेजोलेश्या (पीले रंग की) (५) पद्मलेश्या (गुलाबी रंग की) (६) शुक्ललेश्या (श्वेत रंग की)। इनमें से प्रारंभ की तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन लेश्याएं शुभ हैं। लेश्या मन के अध्यवसाय पर आधारित है। लेश्या में मंदता और तीव्रता आती है। पुनः, एक लेश्या से दूसरी लेश्या प्रकट होती है। कृष्ण-लेश्या में

सबसे अधिक क्लिष्ट परिणाम रहते हैं, जबकि अंतिम शुक्ललेश्या सर्वश्रेष्ठ होती है। कृष्ण, अर्थात् अंधकार ,काला, अमावस की रात जैसा। काला रंग कलुषता का परिचायक है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान होने से ऐसा ध्यान करने वालों को कापोत, नील और कृष्णलेश्या होती हं, परंतु आर्त्तध्यान में अशुभ लेश्या होते हुए भी बहुत अधिक संक्लिष्ट परिणाम वाली नहीं होती है। रौद्रध्यान में बहुत अधिक संक्लिष्ट परिणाम वाली लेश्या होती है। आर्त्तध्यान में व्यक्ति स्वयं दुःखी होता है और उस दुःख को दूर करने की चिंता वाला होता है तथा सुख-प्राप्ति का इच्छुक होता है, परंतु इसमें दूसरों को नुकसान पहुँचाने की भावना नहीं होती है, इसलिए इसमें कम क्लिष्ट परिणाम वाली अशुभ लेश्या होती है।

कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति अधिक क्रोधी तथा हिंसक होता है। नीललेश्या वाला व्यक्ति स्वार्थसिद्धि में सजग, ईर्ष्यालु, कदाग्रही, प्रमादी, रसलोलुपी, निर्लज्ज होता है।

कापोतलेश्या वाला व्यक्ति अत्यधिक हँसने वाला, दुष्ट वचन बोलने वाला, अतिशोकाकुल, अतिभयभीत, आत्मप्रशंसक, परनिंदक तथा शीघ्र रुष्ट होने वाला होता है।

आर्त्तध्यानी में कम या अधिक मात्रा में इस प्रकार के भाव बने रहते हैं, अतः उसमें दुर्गति प्रदान करने वाली अशुभ लेश्या की ही प्रधानता होती है।

(५८४) क्रंदनं, रूदनं, प्रोच्चैः शोचनं परिदेवनम्।
ताड़नं, लचनं चेति लिंगान्यस्य विदुर्बुधाः।।७।।

<u>अनुवाद -</u> क्रंदन, अर्थात् अश्रुप्रवाहित करते हुए जोर-जोर से रोना-चिल्लाना, उच्च्य स्वर से रुदन करना, शोक करना, दीनतायुक्त रुदन, स्वयं को पीटना, बाल खींचना-ये इसके (आर्त्तध्यान के) चिह्न हैं। इस प्रकार ज्ञानी कहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जिसका आर्त्तध्यान अत्यंत तीव्र बन गया हो, ऐसे व्यक्ति द्वारा कितनी ही चेष्टाएँ अनायास हो जाती हैं। जब इष्ट-वियोग के कारण या अनिष्ट-संयोग के कारण उसका स्वयं का दुःख उसके हृदय में समाता

नहीं है, तब वह व्यक्ति रोने लगता है। वह अश्रुओं द्वारा अपने दुःख को व्यक्त करता है। ऐसे व्यक्तियों में भी भिन्न-भिन्न स्थिति संभव है। कोई व्यक्ति एकान्त में जाकर रोता है, दूसरों की उपस्थिति में नहीं रोता है। कोई व्यक्ति दूसरों की उपस्थिति में जोर-जोर से रोता है, चिल्लाता है। किसी के सहानुभूतिपूर्ण वचन सुनकर किसी को और अधिक रोना आ जाता है। कोई व्यक्ति किसी के आश्वासन से शांत हो जाता है, उसका आर्त्तध्यान कम हो जाता है।

पुत्र आदि स्वजन की मृत्यु के समय, आकस्मिक दुर्घटना, कोई प्राकृतिक आपत्ति आदि आघातजनक परिस्थितियों में व्यक्ति जोर से रुदन करता है। दुःख उससे सहन नहीं होता है। आर्त्तध्यानी के कुछ लक्षणों का निर्देश प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। क्रंदन, अर्थात् आँख से सतत अश्रु प्रवाहित होना। रुदन, अर्थात् उच्च स्वर से लंबे आवाज के साथ रोना। शोचन, अर्थात् शोक करना, गुमसुम हो जाना तथा गहरी चिंता में डूब जाना। परिदेवन, अर्थात् विलाप करना, स्वयं को ही मारना, सिर कूटना, दांती पीटना, हाथ-पैर पछाड़ना, व्याकुलतापूर्वक लोटना। लुंचन, अर्थात् आवेग में आकर अपने सिर के बाल खींचना। ये सब आर्त्तध्यान के चिह्न है, जो अनुभवी बुद्धिमानों ने निर्धारित किए हैं। ये सभी लक्षण एक साथ होना चाहिए - यह आवश्यक नहीं है। कभी इनमें से एक दो लक्षण ही दिखाई देते हैं, फिर भी वह आर्त्तध्यान के अंतर्गत ही आता हैं। जहाँ ये लक्षण नहीं हों, वहाँ आर्त्तध्यान नहीं होगा यह भी आवश्यक नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी तीव्रता उतनी नहीं होती है, क्योंकि कितने ही व्यक्ति अपने आर्त्तध्यान को दबाकर रखते हैं, बाह्य-लक्षणों को प्रकट नहीं होने देते हैं, वस्तुतः, जहाँ अहं तथा मम के भाव की क्रिया-प्रतिक्रिया है, वहाँ आर्त्तध्यान है।

(५८५) मोघं निन्दन्निजं कृत्यं प्रशंसन्परसंपदः।
विस्मितः प्रार्थयन्नेताः प्रसक्तश्चैतदर्जने।।८।।

<u>अनुवाद -</u> अपने निष्फल हुए कार्य की निंदा करता है, अन्य की संपत्ति की प्रशंसा करता है, विस्मय प्राप्त करके उसके लिए (संपत्ति के लिए) प्रार्थना करता है और उसे प्राप्त करने में आसक्त हो जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पुनः, आर्त्तध्यानी के शेष लक्षणों को दर्शाया गया है। आर्त्तध्यानी को सुख के प्रति तीव्र राग और दुःख के प्रति तीव्र द्वेष होता है, अतः वह हमेशा चाहता है कि अनचाह कभी न हो और मनचाह हमेशा होती रहे। अपने व्यापार में, विवाह आदि के अवसर पर, अर्थात् आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक आदि क्षेत्रों में वह अपना सोचा हुआ करने तथा करवाने की प्रवृत्ति वाला होता है। वह हर क्षेत्र में सफलता पाना चाहता है, परंतु जब उसे निष्फलता मिलती है, तो वह उसकी निंदा करता है, अपने भाग्य को दोष देता है एवं अत्यंत दुःखी हो जाता है, निष्फलता उससे सहन नहीं होती है। वह दूसरों की संपत्ति देखकर ललचाता है, उसकी प्रशंसा करता है और चाहता है कि ऐसी संपत्ति उसे भी मिलना चाहिए। वह इस प्रकार संकल्प-विकल्प करता है। दूसरों को सुखी देखकर ईर्ष्या होती है, आश्चर्य होता है एवं स्वयं में योग्यता हो या नहीं हो, उस सुख को पाने के लिए वह दीनहीन स्वरों में प्रार्थना करता है तथा उसे पाने के लिए विविध प्रयत्न करता है। अनेक लालसाएँ, कामनाएँ उसे सताती है तथा दुनियाँ में जो भी कुछ अच्छा है, वह उसे प्राप्त करना चाहता है। दुःख से वह भयभीत होता है, उसे शीघ्र विदा करना चाहता है और सुख को बाँहों में आबद्ध रखना चाहता है और इसी चाह में वह दुःखी होता रहता है।

(५८६) प्रमत्तश्चेन्द्रियार्थेषु गृद्धो मर्धपराङ्मुखः।
जिनोक्तमपुरस्कुर्वन्नार्त्तध्याने प्रवर्तते।।६।।

<u>अनुवाद -</u> प्रमत्त, इन्द्रियों के विषयों का लोलुप, धर्म से विमुख तथा जिनवचन की उपेक्षा करने वाला - ये (लक्षण) आर्त्तध्यान में होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> आर्त्तध्यानी के और लक्षण बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि आर्त्तध्यानी प्रमादी या आलसी होता है। उसे सत्कार्यों में परिश्रम करना अच्छा नहीं लगता है। ऐन्द्रिक-विषयों में वह रत रहता है। वह वासनाओं का दास होता है। वह विषय-भोगों से बाहर नहीं निकल सकता है। उसकी लोलुपता के कारण वह धर्म से विमुख रहता है। तत्त्वज्ञान के ग्रंथों को पढ़ने का उसे समय नहीं रहता है। धार्मिक-स्थानों पर जाने से वह कतराता है। धर्म कथा में, प्रवचनों में जाने वालों का, तत्त्व की चर्चा करने वालों का,

पूजा, उपासना करने वालों का वह उपहास करता है। धार्मिक-स्थानों पर जाने का प्रसंग आए, तो वह अनेक दोष निकालता है, धर्मात्माओं की निंदा करता है, उन पर व्यंग्य करता है, उसे जिनवचन पर श्रद्धा नहीं होती है। वह इच्छाओं का दास होता है, इन्द्रियों का गुलाम होता है और अनेक पापकर्म करके अपनी आत्मा को पतन की ओर ले जाता है। केवल इतने लक्षण ही आर्त्तध्यानी के नहीं हैं, उसके ओर भी कई प्रकार के लक्षण अव्यक्तरूप में भी होते हैं।

सारांश में हम कह सकते हैं कि पौद्‌गलिक-सुख के प्रति तीव्र आसक्ति और उन्हें प्राप्त करने की प्रबल इच्छा तथा दुःख के प्रति तीव्र द्वेष और उसे दूर करने का निरंतर चिंतन करते हुए उसके बाह्य तथा आन्तरिक-व्यक्तरूप में या अव्यक्तरूप में जो-जो भी चेष्टाएँ होती हैं, वे सब आर्त्तध्यान में आती हैं।

(५८७) प्रमत्तान्तगुणस्थानानुगमेतन्महात्मना।
सर्वप्रमादमूलत्वात्‌त्यानयं तिर्यगगसिप्रदम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> प्रमत्त-गुणस्थान के अन्त तक रहने वाला, तिर्यंचगति को प्राप्त कराने वाला यह (आर्त्तध्यान) सभी प्रमाद का मूल होने से महापुरुषों का त्याग करने योग्य है।

<u>विशेषार्थ -</u> जब तक राग-द्वेष, मोह का साम्राज्य है और प्रमत्तदशा है, तब तक आर्त्तध्यान होने की संभावना है। अतः प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार के अनुसार छठवें प्रमत्त गुणस्थान के अंत तक आर्त्तध्यान रहता है। मिथ्यात्वी को तो अशुभध्यान ही प्रायःहोते हैं, किंतु सम्यग्दृष्टि, देशविरति और प्रमत्त-गुणस्थान पर स्थित साधुभगवन्त को भी आर्त्तध्यान हो जाता है। अनिष्टसंयोग-वियोगानुबंधी, वेदनानुबंधी, इष्टसंयोग-वियोगानुबंधी और निदान-अनुबंधी - ये चारों प्रकार के आर्त्तध्यान राग-द्वेष तथा ममत्व के कारण होते हैं। गृहस्थ-जीवन में आर्त्तध्यान के निमित्त बहुधा मिलते हैं, परंतु साधुजीवन में इनकी संभावना कम होती है, फिर भी पूर्व पापकर्मोदय के प्रभाव से शरीर में कोई व्याधि हो गई हो, अनुकूल आहार नहीं मिला हो, किसी ने उचित सम्मान नहीं किया हो आदि कारणों से प्रमत्त साधु आर्त्तध्यान के वशीभूत हो जाते हैं। कई बार ज्ञानावरणीय-कर्म के उदय से

ज्ञानार्जन नहीं कर पाने के कारण आर्त्तध्यान हो जाता है। विहार, शीत, उष्ण आदि परिषह सहन नहीं होने के कारण भी आर्त्तध्यान की संभावना रहती है। गृहस्थ जीवन में तो कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल अवसर प्राप्त होते रहते हैं। पुत्र, पत्नी, धन आदि पर ममत्व होने के कारण यदि उनका अकस्मात् वियोग हो जाए, अनिष्ट स्वजन का संयोग हो जाए, पद-प्रतिष्ठा धूमिल हो जाए, शरीर में कोई रोग हो जाए आदि कई कारणों से व्यक्ति आर्त्तध्यान से ग्रसित हो जाता है, परंतु जो जाग्रत हैं, सावधान हैं - ऐसे महापुरुष सभी परिस्थितियों को समभाव से सहन करते हुए आर्त्तध्यान का त्याग करते हैं। आर्त्तध्यान के परिणाम से जो कर्मबंध होते हैं, वे एकेन्द्रियादि तिर्यंचगति में ले जाने वाले होते हैं, इसलिए कर्म के उदय को समभाव से सहन करना चाहिए। मन यदि समत्वभाव में स्थित हो, तो फिर किसी भी परिस्थिति में आर्त्तध्यान नहीं होता है।

(५८८) निर्दयं वधबंधादिचिन्तनं निबिड़क्रुधा।
पिशुनासभ्यमिथ्यावाक् प्रणिधानं च मायया।।११।।

<u>अनुवाद</u> - अत्यंत क्रोधित होकर निर्दयतापूर्वक वध, बंधन आदि का चिन्तन करना, माया द्वारा चुगली, असभ्यवचन, असत्यवाणी का विचार करना (ये रौद्रध्यान के भेद हैं)।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने रौद्रध्यान के चार भेदों में से दो भेदों का निर्देश किया है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान-ये दो अशुभ ध्यान हैं। इनमें भी रौद्रध्यान आर्त्तध्यान की अपेक्षा अधिक भयंकर है, क्योंकि इसमें क्रोध की प्रधानता रहती है तथा व्यक्ति दूसरों के अनिष्ट का चिंतन करता है। रौद्र शब्द का अर्थ ही- भयंकर। स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या, शत्रुता, लोभ आदि के कारण मनुष्य के चित्त में जो भयंकर अहितकर विचारों का उद्भव होता है, हिंसा आदि के भाव चलते रहते हैं, वही रौद्रध्यान का विषय है।

रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं- (१) हिंसानुबंधी (२) मृषानुबंधी (३) स्तेयानुबंधी (४) संरक्षाणुबंधी अथवा परिग्रहानुबंधी।

प्रस्तुत श्लोक में हिंसानुबंधी और मृषानुबंधी का उल्लेख है। हिंसानुबंधी जीव हिंसा का अनुबन्ध करने वाला होता है, अर्थात् हिंसा के पाप विचार द्वारा भारी कर्मबंध करने वाला होता है। हिंसा स्थूल और सूक्ष्म-दो प्रकार की होती है। वध, हत्या, खून करने का विचार करना स्थूल-हिंसा के अंतर्गत आता है। बड़े-बड़े हिंसक कत्लखाने खोलने का विचार करना, मांसाहार के लिए पशुओं, पक्षियों, मछलियों आदि जीवों के वध करने की योजना बनाना, अपने मनोरंजन के लिए शिकार खेलने का चिंतन करना, अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए किसी का खून करने का विचार करना आदि स्थूल हिंसा है। इसके अलावा प्राणियों को निर्दयतापूर्वक बांधना, उन्हें कष्ट देना, पीटना, किसी को मानसिक-त्रास देना, उसके अहित का चिंतन करना, उसे कष्ट में डालने का विचार करना आदि सूक्ष्म-हिंसा है। हिंसा की घटनाएँ अनेक प्रकार की तरतमता वाली हो सकती हैं।

हिंसा का आचरण करना अलग बात है और हिंसा का विचार करना अलग बात है। संकल्पी-हिंसा में हिंसा का आचरण करने के पहले मन में विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं, उस पर चिंतन चलता है, योजनाएँ बनती हैं, परंतु जितनी बार विचार किया जाए, उतनी बार सफलता मिले या विचार के आधार पर आचरण हो ही जाए, यह आवश्यक नहीं है। कभी तो अन्य किसी को पता भी नहीं चलता है और क्रूर हिंसात्मक-भाव आ जाते हैं एवं चले भी जाते हैं। वह बाह्य-कानून में जगत् में अपराधी घोषित नहीं होगा, किन्तु कुदरत के कानून में या कर्मसत्ता में तो उसके मानसिक-अपराध का लेखा होकर उसकी सजा भी तय हो जाती है। मन में जो ऐसे क्रूर भावों का जन्म होता है, वह एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को मारने तक का हो सकता है। अपने मन में किसी भी व्यक्ति या प्राणी के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना आने मात्र से ही हम अपने शुद्ध भावों को नष्ट कर लेते हैं और यहीं अपने शुद्ध भावों की नष्टता ही हिंसा है। हमारे मन की दुर्भावना कार्यान्वित हो या न हो और उससे किसी प्राणी को कष्ट पहुँचे या नहीं पहुँचे, परंतु इन दुर्भावनाओं के आने मात्र से ही हम हिंसा के दोषी अवश्य हो जाते हैं। तंदुलिया-मत्स्य किसी जीव की हिंसा नहीं करता है, परंतु भयंकर हिंसा के परिणामस्वरूप रौद्रध्यान के कारण सातवीं नरक के आयुष्य का बंध कर लेता है।

मनुष्य क्रोध के आवेश में अनेक प्रकार के भयंकर विचार मन में लाता है, जैसे- सभी को गोली से उड़ा दूँ, मेरा बस चले तो एक को भी जिन्दा नहीं रहने दूँ, ऐसी दवाई छिड़को कि सारे जीवों का कचूमर निकल जाए, अब तो यह मर जाए तो ही अच्छा, दुःख से मुक्ति मिले-इस तरह क्रूरतापूर्ण विचार हिंसानुबंधी-रौद्रध्यान है। क्रोध के अलावा ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि के कारण भी ऐसे विचार आते हैं। मांसाहारी लोगों में इस प्रकार का ध्यान विशेष होता है, क्योंकि आहार का प्रभाव विचारों पर भी पड़ता है। सभी प्रकार का रौद्रध्यान भयंकर अशुभकर्मों का बंधन करा कर दुर्गति में ले जाने वाला होता है।

रौद्रध्यान का दूसरा प्रकार मृषानुबंधी-ध्यान है। मृषा, अर्थात् असत्य। असत्य के अनेक प्रकार हैं। दुष्टवचन बोलने का मन में विचार उत्पन्न होना, चुगली करने का विचार होना, किसी की गुप्त बात या दोष को प्रकट करने का विचार, असभ्य या अपमानजनक शब्द बोलने भाव, गाली देने भाव, व्यापार-धंधे में, पुत्र-पुत्री की सगाई में, जमीन-जायदाद को बेचते समय, कोर्ट-कचहरी के प्रसंग में किस प्रकार झूठ का आचरण करना, सफाई देना, अपराध से बच निकलना, विपक्ष का दोषित करना आदि अग्रिम विचारों को मन में लाकर जीव कल्पनाओं के जगत् में ही रौद्रध्यान करके भयंकर कर्मों का उपार्जन कर लेता है। मायाकपट के कारण ऐसा मृषानुबंधी-रौद्रध्यान विशेष होता है। यह जीव को दुर्गति में ले जाता है।

(५८६) चौर्यधीनिरपेक्षस्य तीव्रक्रोधाकुलस्य च।
सर्वाभिशंकाकलुषं चित्तं च धनरक्षणे।।१२।।

<u>अनुवाद</u> - तीव्र क्रोध से व्याकुल और (सजा या दुःख से) निश्चिन्त व्यक्ति को चोरी करने की बुद्धि होती है तथा धन के संरक्षण के लिए सभी के प्रति शंका से चित्त कलुषित होता है।

<u>विशेषार्थ</u> - रौद्रध्यान का तीसरा प्रकार स्तेयानुबंधी है। स्तेय, अर्थात् चोरी। क्रोध, लोभ और धन के अभाव आदि से व्याकुल बना हुआ व्यक्ति दूसरे का धन चोरी करने का विचार करता है। चोरी करने का मुख्य कारण द्रव्यलोलुपता है। व्यक्ति जब विषयों का लालची बनता है, भोगों के लिए

लालायित रहता है, तब वह इनको प्राप्त करने के लिए चोरी का विचार करता है। चोरी से व्यक्ति बिना पसीना बहाए रातों-रात मालदार बनने का विचार करता है। यह अनीति है, अत्याचार है, भयंकर पाप है आदि विचार उसके मन में नहीं आते हैं। चोरी का विचार केवल गरीब ही करते हैं-ऐसा नहीं है। साधन सम्पन्न लोग भी चोरी का विचार करते हैं। किसी वस्तु पर दूसरे का स्वामित्व हो, उसे चुपचाप उसके मालिक की आज्ञा के बिना ले लेना चोरी है। सेंध लगाने की, जेब काटने की, किसी को लूटने की, डाका डालने की योजना बनाना, किसी भी तरह धन आए मुट्ठी में और इमान जाए भट्टी में- इस तरह के पापमय विचार, स्तेयानुबंधी-रौद्रध्यान है। आज के भौतिक और सभ्य कहे जाने वाले युग में चोरी के पुराने तरीके तो कम हो गये हैं, परंतु नए सैकड़ों तरीकों का विकास हो गया है। सभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वाले हजारों, लाखों, करोड़ों रूपयों की चोरी करके भी निश्चिन्त बने रहते हैं, राज्यदण्ड से बचे रहते हैं। चोरी करने के जितने भी विचार हैं, वे चाहे कार्यान्वित न भी हों, तो भी कर्म के न्यायालय में उसके भयंकर फल से वे बच नहीं सकते हैं।

रौद्रध्यान का चौथा प्रकार संरक्षणानुबंधी अथवा परिग्रहानुबंधी है। विषय-सुख को प्राप्त करने के साधन, धन को सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य अनेक युक्ति-प्रयुक्ति का विचार करता है। धन कमाने का विचार आर्त्तध्यान है और कमाए हुए धन को सुरक्षित रखने का विचार जब उग्र आवेश वाला हो जाता है, तब वह रौद्रध्यान के अंतर्गत आ जाता है। भय और शंका के कारण ऐसे अशुभ विचार आते हैं कि स्वयं के स्वजन, पिता, पुत्र, पत्नी आदि का विश्वास नहीं होता है। उसमें तीव्र आसक्ति के कारण दिन-रात धन की सुरक्षा का चिंतन चलता रहता है। कल्पना में ही कोई उसके धन को हरण करने का प्रयत्न करता है, तो वह उसका खून कर देता है। कभी-कभी तो धन कमाया नहीं, उसके पूर्व ही उसके संरक्षण के सपने देखने लगता है। कोई मेरे धन को हाथ न लगाए, जो भी मेरे धन को बुरी नजर से देखेगा, उसकी आँखें फोड़ दूँगा, जान से मार डालूँगा एसे भयंकर विचार उसके मन में आते हैं और व्यर्थ में पाप का बोझा लेकर वह नरकगति की ओर प्रयाण करता है। ये तो रौद्रध्यान के मुख्य लक्षण बताए हैं, इसके और भी अनेक लक्षण होते हैं। चित्त में उठते अशुभ भयंकर

अध्यवसायों से अनेक अनर्थों का जन्म होता है, इसलिए नरकगति में ले जाने वाले इस रौद्रध्यान पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

(५६०) एतत्सदोषकरण - कारणानुमतिरिथति।
देशविरतिपर्यनतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> यह दोषयुक्त (कार्य) करना, करवाना और अनुमोदनरूप जिसकी स्थिति है, वह चार प्रकार का रौद्रध्यान देशविरति (गुणस्थानक) तक होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> यह चार प्रकार का रौद्रध्यान-हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, स्तेयानुबंधी और संरक्षणानुबंधी, इनमें से प्रत्येक के (१) करना (२) करवाना (३) अनुमोदन करना और (४) देशविरति-इस प्रकार के भेद होते हैं।

रौद्रध्यान में अत्यंत क्रूर भाव होते हैं। हिंसा करते समय मनुष्य के हृदय में निर्दयता के भाव आते हैं। सामान्यतया, लोगों की यह धारणा होती है कि स्वयं हिंसा करो तो पाप है, साथ ही पकड़े जाने पर दंडित होने का भय, परंतु दूसरों के द्वारा हत्या करवाने में पाप भी कम लगेगा और अपराधी के रूप में स्वयं पकड़े भी नहीं जाएंगे, परंतु यह एक प्रकार का भ्रम है। शास्त्रकार कहते हैं कि हिंसा करने वाले, कराने वाले और अनुमोदन करने वाले-तीनों को हिंसा का समान फल मिलता है। हिंसा का फल उसके क्रूर भावों पर आधारित है। कोई जैन राजा या न्यायाधीश किसी बड़े अपराधी को फांसी की सजा सुनाता है, किंतु उसके हृदय में करुणाभाव है, अतः फांसी की सजा सुनाते हुए वह चिंतन करता है - यह अपराधी मारा नहीं जाए, परंतु इस भयंकर अपराध की सजा न दी जाए, तो न्याय का उल्लंघन होता है। फांसी पर ले जाने वाला सोच रहा है - यह काम बुरा है, मैं किसी को मारना नहीं चाहता हूँ, परंतु राजा की नौकरी राजाज्ञा है, विवश हूँ। तीसरा व्यक्ति, जिसका कोई अधिकार नहीं था, वह उमंगवश खड़ा होकर देख रहा है और कहता है - अरे देखना क्या है ? इस पापी को जल्दी से फाँसी दे दी जाए, यह इसी लायक है। प्रस्तुत दृष्टांत में अनुमोदन करने वाले तीसरे व्यक्ति के परिणाम कठोर हैं। उसने कुछ किया नहीं, किन्तु अनुमोदन करते हुए हिंसा का घोर पापकर्म अर्जित कर लिया।

पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या ही नहीं, एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा में भी क्रूरता के भाव संभव हो सकते हैं। जिस प्रकार हिंसा करने में, उसी प्रकार झूठ बोलने में, छल-कपट कर किसी को ठगने में, चोरी करने में भी कर्मबंध होता है। परिग्रह को बढ़ाने तथा उसका संरक्षण करने में भी पापप्रवृत्ति होती है।

अनुमोदन द्वारा होते हुए पाप की सूक्ष्म समझ बहुत कम लोगों में होती है। वर्तमान में तो टी. वी. पर नाटक आदि देखते हुए खलनायक के प्रति दुर्भाव पैदा हो जाता है, उसकी हानि देखकर दर्शकों को खुशी होती है, युद्ध चलता हो और दुश्मन देश के सैनिकों के मारे जाने का आँकड़ा अधिक हो, तो मन में खुशी होती है, प्रतिस्पर्धी व्यापारी के यहाँ चोरी हो जाने पर, हानि होने पर मन में खुशी होती है - ऐसे अनेक प्रसंगों में बिना वजह अनुमोदना करके जीव पापार्जन करता है। ऐसे आक्रोशयुक्त अशुभ अध्यवसाय चित्त में चलते रहते हैं-यह भी रौद्रध्यान है। इस प्रकार के रौद्रध्यान देशविरति-गुणस्थानक तक के जीवों के होते हैं। मिथ्यादृष्टि वाले अज्ञानी जीव तो सम्यक्श्रद्धा के अभाव में रौद्रध्यान करते ही हैं, परंतु सम्यग्दृष्टि-अविरति या देशविरति वाले जीव भी इस प्रकार का रौद्रध्यान करते हैं। भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण इस प्रकार का ध्यान नहीं करना चाहिए-यह समझते हुए भी चारित्रमोहनीय-कर्म के कारण ऐसा रौद्रध्यान उनसे हो जाता है, परंतु ऐसे ध्यान के समय भी वे सजग रहते हैं, उसमें आसक्त नहीं होते हैं तथा मन को पुनः दुर्ध्यान से खींच लेते हैं, किंतु ऐसे दुर्ध्यान के समय यदि वे सावधान नहीं रहते हैं, रसपूर्वक उसमें रुचि लेते हैं, तो उनका सम्यग्दर्शन भी चला जाता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सर्वविरतिधर साधुओं को रौद्रध्यान नहीं होता? नहीं। सामान्यतया, पंचमहाव्रतधारी सच्चे साधुओं को रौद्रध्यान नहीं हो सकता है, परंतु जो मात्र वेश से ही साधु हैं, द्रव्यलिंगी हैं, उनको किसी प्रसंग पर रौद्रध्यान हो भी सकता है। सर्वविरतिधर भावलिंगी साधुओं का रौद्रध्यान टिक नहीं सकता है। उनकी जाग्रति इतनी होती है कि वे तत्क्षण उससे पश्चातापपूर्वक निवृत्त हो जाते हैं। प्रसन्नचन्द्रराजर्षि का दृष्टांत सुप्रसिद्ध है। स्वयं कायोत्सर्ग में स्थित होते हुए भी वे क्रूर हिंसा के रौद्रध्यान में चढ़

गए, परंतु तुरंत जाग गए, सावधान हो गए और शुभध्यान की धारा में चढ़ गए। इतना ही नहीं, शुक्ल ध्यान में आ गए एवं केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

(५६१) कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र संभवः।
अतिसंक्लिष्टरूपाणां कर्मणां परिणामतः।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> यहाँ (रौद्रध्यान में) अत्यंत क्लिष्ट कर्मों के परिणामस्वरूप कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएँ संभव हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> आर्त्तध्यान के समान रौद्रध्यान में भी तीनों अशुभ लेश्याएँ होती हैं, किन्तु आर्त्तध्यान में तीन अशुभ लेश्याएँ होते हुए भी परिणाम कम संक्लिष्ट होते हैं और रौद्रध्यान में कृष्ण, नील और कापोत-तीनों ही लेश्याएँ अत्यंत क्लिष्ट परिणाम वाली होती हैं। श्रेणिक महाराजा को अंतिम समय में कोणिक के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होने से हिंसानुबंधी रौद्रध्यान के कारण तीव्र संक्लेशवाली कृष्णलेश्या के भाव उत्पन्न हुए।

लेश्या कर्मजन्य पुद्गल-परिणाम है, जैसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के पुद्गल होते हैं, जीव में उसी प्रकार के भाव होते हैं। रौद्रध्यानी व्यक्तियों में हिंसा, चोरी, झूठ आदि के तीव्र भाव होते हैं, इसलिए लेश्या भी इसी प्रकार की होती है। कृष्णलेश्या का वर्ण काजल के समान काला, मृत कुत्ते जैसी दुर्गन्ध, अतिकटु तथा स्पर्श अतिकर्कश होता है। कृष्णलेश्या से ग्रसित व्यक्ति को क्षणभंगुर थोड़े से सुख के लिए असंख्य जीवों की हत्या करने का भाव आ जाता है, छोटे-से सुख के लिए, दूसरे को विनष्ट करने का भाव आ जाता है। जिस राह से वह निकल रहा है, यदि वहां वृक्ष लहरा रहे हो, तो वह व्यक्ति पत्तों को ही तोड़कर, मसलकर, कुचलकर फेंक देता है। हिंसकता उसके स्वभाव का अंग बन जाती है।

नीललेश्या का वर्ण नीला, मरी हुई गाय के समान दुर्गंध, रस अति तीखा तथा स्पर्श खुरदरा होता है। नीललेश्या से दूषित व्यक्ति के भी परिणाम मलिन होते हैं। वह खुदगर्ज, धनसंग्रह का लोभी और रसलोलुपी होता है। कृष्णलेश्या की अपेक्षा इसमें कम क्रूर परिणाम होते हैं।

कापोतलेश्या में कबूतर की ग्रीवा जैसा रंग, सड़ी लाश जैसी दुर्गन्ध, रस कसैला और कम खुरदरा स्पर्श होता है। रौद्रध्यानी में इन तीनों अशुभ लेश्याओं की संभावना रहती है।

(५६२) उत्सन्नबहुदोषत्वं नानामरणदोषता।
हिंसादिषु प्रवृत्तिश्च कृष्वाऽद्यं समयमानता।।१५।।

(५६३) निर्दयत्वाननुशयौ बहुमानः परापदि।
लिंगान्यत्रेत्यदों धीरैस्त्याज्यं नरकदुःखम्।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> हिंसादि की प्रवृत्ति में उत्सन्न (ओसन्नदोष), बहुलदोष, आमरणदोष, पापकरके हर्ष से अभिमान करना, निर्दयता, पश्चातापरहितता, दूसरों के दुःख में अभिमान - ये इसके (रौद्रध्यान के) लिंग हैं। धीर पुरुष को नरक-दुःख देने वाले इनका (चिह्नों का) त्याग करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में रौद्रध्यानी की पहचान के कुछ लक्षण बताए गए हैं। इन लक्षणों द्वारा हम स्वयं का निरीक्षण कर सकते हैं कि कहीं हमारे अन्दर तो रौद्रध्यान का प्रवेश नहीं है? हिंसादि, अर्थात हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि के संबंध में पापविचारों का समावेश रौद्रध्यान में होता है। प्रस्तुत श्लोक में रौद्रध्यानी के निम्नलिखित लक्षण बताए गए हैं-

(१) उत्सन्नदोष - उत्सन्न, अर्थात् सतत, बार-बार। रौद्रध्यानी बहुलता से (बार-बार) हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है, वह उत्सन्न या ओसन्नदोष है। हिंसा या चोरी या परिग्रह या झूठ आदि में से किसी एक के संबंध में वह लगातार विचार करता रहता है।

(२) बहुलदोष - मात्र एक बात में नहीं, बल्कि हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि सभी के संबंध में अनेक दोषयुक्त, पापयुक्त विचार करता रहता है। बहुलदोष वाला सभी दोषों का सेवन करने में निपुण होता है।

(३) नानाविधदोष - रौद्रध्यानी हिंसादि के उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति करता है, प्रत्येक पाप में विविध युक्तियों का प्रयोग करता है, अथवा रौद्रध्यानी अज्ञान के कारण कुशास्त्र में श्रद्धा से, हिंसादि में धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति करता है, पशु आदि की बलि देता है।

(४) आमरणान्तदोष - जीवन के अंतिम क्षण तक भी पाप-विचारों का त्याग नहीं करता है। रौद्रध्यानी या तो मरूं या मारूं - इस सिद्धांत वाला होता है। वह जब तक अपने शत्रु या अन्य को नष्ट नहीं कर दे, तब तक उसे शांति नहीं होती। उसे स्वयं के मरने का भी डर नहीं होता है।

(५) स्मयमानता - पाप करके फिर उसका अभिमान करना, जैसे - हम इतनी कुशलता पूर्वक अपराध करते हैं कि कभी पकड़े ही नहीं जाते, या हम चोरी करने में इतने निपुण हैं कि उसकी आँखों के सामने ही धूल झोंक देते हैं, या कितनी ही हत्याएँ कीं, पर आज तक पकड़े नहीं गए - इस प्रकार पाप करके फिर अभिमान करना, और प्रसन्न ना। श्रेणिक ने गर्भवती हरिणी का शिकार करके हरिणी और उसके गर्भ को तड़पते देखकर इस प्रकार अभिमान और प्रसन्नता व्यक्त की थी - मैं कितना कुशल हूँ, शिकार करने में एक ही तीर से दो को घायल कर दिया। इस भयंकर रौद्रध्यान के कारण ही उन्हें नरकगति का बंध हुआ।

(६) निर्दयता - हृदय अत्यंत कठोर होता है। पाप करते समय, किसी की हत्या, चोरी करते समय वह विचार नहीं करता है कि उस व्यक्ति का, उसके परिवार का जीवन बर्बाद हो जाएगा। सामने तड़पते हुए दुःखी व्यक्ति पर भी उसे दया नहीं आती है।

(७) अन् अनुशय (अननुशय) - अनुशय, अर्थात् पश्चाताप। अननुशय, अर्थात् पश्चाताप नहीं होना। कितने ही व्यक्ति पाप करने के बाद पश्चाताप करते हैं। कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं कि पाप करने से दुष्कृत्य का सेवन करने से स्वयं को प्रत्यक्ष हानि हुई हो तो पश्चाताप करते हैं, किन्तु रौद्रध्यानी तो स्वयं का नुकसान होने पर भी पश्चाताप नहीं करता है, बल्कि दुगने बल से पापकार्य करने लगता है।

(८) दूसरों के दुःख में स्वयं का बहुमान समझता है। पाप करके वह अभिमान ही नहीं करता, बल्कि दूसरे व्यक्ति को दुःखी देखकर, उसकी दयनीय हालत देखकर उसे अधिक खुशी का अनुभव होता है।

इस प्रकार इसके अलावा रौद्रध्यानी के अन्य लक्षण भी होते हैं। अभी तो केवल पाप का विचार ही किया है, कार्यरूप में परिणत नहीं हुआ,

फिर भी उसके भयंकर परिणाम होते हैं। निकाचित कर्मबंध हो जाते हैं, तो फिर क्रियान्वित होने के बाद तो असीम कर्मों का बंध हो जाता है, इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने विचार हमेशा अच्छे रखना चाहिए और नरकगति को प्रदान करने वाले रौद्रध्यान से बचना चाहिए। अपने मन का हमेशा निरीक्षण करते रहना चाहिए और अगर इस प्रकार का रौद्रध्यान हो गया है, तो उसका पश्चाताप करना चाहिए।

(५६४) अप्रशस्ते इमे ध्याने दुरन्ते चिरसंस्तुते।
प्रशस्तं तु कृताभ्यासो ध्यानमारोढुमर्हति।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> ये (दो) अप्रशस्त-ध्यान दुरन्त और चिरपरिचित होने से प्रशस्त-ध्यान में अभ्यास करके आरूढ़ होना योग्य है।

<u>विशेषार्थ -</u> आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान-दोनों अशुभ हैं और अनादिकाल से जीव का इनसे परिचय है। ये दोनों ध्यान सहज स्वभाव बन गए हैं। इन ध्यानों को करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। जीव का अनंतकाल मिथ्यात्व-अवस्था में ही व्यतीत होता है और मिथ्यात्व-अवस्था में प्रायः अशुभ ध्यान ही होता है। पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान तथा छठवें गुणस्थान तक आर्त्तध्यान होने की संभावना रहती है, अतः इन दोनों ध्यानों से मुक्ति पाना अत्यंत कठिन है। व्यक्ति आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान करता रहता है और वह इतना प्रमादी हो जाता है कि उसे पता भी नहीं चलता है कि उसके अशुभ ध्यान चल रहे हैं। इनकों दूर करने के लिए तथा धर्मध्यान में आने के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्यास के साथ-साथ वैराग्य भी होना चाहिए, अहं और मम की भावना भी छूटना चाहिए। जब तक ज्ञानपूर्वक जागरूक रहकर घोर पुरुषार्थ न किया जाए, तब तक ये दोनों ध्यान जीवन से निकलते नहीं हैं, अवसर आने पर ये पुनः-पुनः उपस्थित हो जाते हैं और जीवात्मा को मलिन करते रहते हैं।

जीव को अगर दुर्गति से बचना हो ,तो उसे क्रमशः धर्मध्यान और शुक्लध्यान-इन दो प्रशस्त-ध्यानों का आलंबन लेना ही पड़ेगा, परंतु जब तक धर्मध्यान नहीं आता है, तब तक शुक्लध्यान का प्रवेश होना मुश्किल है, अतः सर्वप्रथम धर्मध्यान को आदरने के लिए पुरुषार्थ और अभ्यास की आवश्यकता है, हृदय की शुद्धि, आसन का अभ्यास, विषय का ज्ञान आदि

भी होना आवश्यक है। एक-दो दिन या एक दो महीने में शुभध्यान सिद्ध नहीं होता है। इसके लिए प्रारंभिक-काल में अनुकूल स्थान, काल आदि का चयन करके किसी अनुभवी सद्गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त करते रहना चाहिए और उत्साहपूर्वक धर्मध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए। ध्यान के अनेक विषय हैं, विविध साधना-पद्धतियाँ हैं। धर्मध्यान के भी भेदाभेद हैं। सद्गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त कर अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते साधक धर्मध्यान में आरूढ़ हो सकता है।

(५६५) **भावनादेशकालौच स्वासनालंबनक्रमान्।**
ध्यातव्यध्यात्रनुप्रेक्षालेश्यालिंगफलानि च।।१८।।

<u>अनुवाद</u> - भावना, देश, काल, स्वयं का आसन, आलंबन, क्रम, धातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल (इनके संबंध में जानने की आवश्यकता है।)

<u>विशेषार्थ</u> - पूर्व श्लोक में शुभध्यान का अभ्यास करने के लिए निर्देश किया गया था। प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि प्रशस्त-ध्यान में आरूढ़ होने के लिए किन-किन बातों का ध्यान आवश्यक है।

ध्यान का विषय अत्यंत गहन है, अतः जिसे वास्तव में ध्यानयोगी बनना है, अशुभ ध्यान से मुक्ति पाना है, उसे एक विशिष्ट अनुभवी मार्गदर्शक से विविध विषयों की जानकारी ले लेना चाहिए। आँख बंद करके बैठ जाने से ध्यान नहीं होता है। ध्यान का अभ्यास व्यवस्थित हो, इसके लिए ग्रंथकार ने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करके निम्नलिखित बारह विषयों का निर्देश किया है -

(१) भावना - भावितेन अनेन इति भावना, अर्थात् जिसके द्वारा हृदय को भावित किया जाए, वह भावना है। ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना, मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ- भावना आदि।

(२) देश - ध्यान के लिए उचित अनुकूल देश, अर्थात् स्थल का चयन।

(३) काल - ध्यान के लिए योग्य तथा अनुकूल समय का चयन।

(४) आसन - ध्यान के लिए जिस आसन पर अधिक देर तक स्थिरतापूर्वक बैठा जा सके, जैसे - पद्मासन, सुखासन आदि।

(५) आलंबन - ध्यान के लिए प्रभुभक्ति, वाचना आदि का आलंबन।

(६) क्रम - ध्यान के लिए मननिरोध आदि का क्रम।

(७) ध्यातव्य - ध्यान का विषय, जैसे - जिनाज्ञा, संसार की असारता का चिंतन, कर्म के विपाक का चिंतन, विश्व के स्वरूप पर चिंतन आदि।

(८) ध्याता - ध्यान करने वाले की योग्यता, उसकी शारीरिक, मानसिक-स्वस्थता तथा जागरूक अवस्था आदि।

(९) अनुप्रेक्षा - ध्यान के पूरा हो जाने पर अनित्यादि भावनाओं का चिंतन।

(१०) लेश्या - धर्मध्यान की शुभ लेश्याएँ।

(११) लिंग - धर्मध्यान की पहचान शुद्ध सम्यक्श्रद्धान आदि।

(१२) फल - देवलोक आदि गति की प्राप्ति।

पश्चात् के श्लोकों में इन पर विस्तार से चिंतन किया गया है।

(५६६) ज्ञात्वा धर्म्यं ततो ध्यायेत्वतस्त्रस्तत्र भावनाः।
ज्ञानदर्शन चारित्र वैराग्याख्याः प्रकीर्तिताः।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> इस विषय को जानने के बाद धर्मध्यान करना चाहिए। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नाम की चार भावनाएं कही गई हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में जो धर्मध्यान के अभ्यास के लिए बारह अंग बताए हैं, उनमें से प्रथम अंग भावना है। भावनाएँ विविध प्रकार की होती हैं। मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ भी हैं, अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ भी हैं। यहाँ प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य-इन चार भावनाओं के अभ्यास की बात कही गई है। इससे ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है।

अनादिकाल के संस्कार के कारण जीव अभी तक मिथ्यात्व, इन्द्रियविषय, कषाय, आहार, परिग्रह, विषय-वासना, भय, शोक, राग, द्वेष आदि अप्रशस्त-भावनाओं से भावित था मोह का ज्वर चढ़ा हआ था, संसार

के रंग से रंगा हुआ था, अतः इन अप्रशस्त भावनाओं का निदान प्रशस्त-भावनाओं से हृदय को भावित करके करना है। इन भावनाओं के अभ्यास से मन की चंचलता, निर्बलता, अशांतता नष्ट होकर स्थिरता, सबलता और शुद्धता बढ़ती है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में कहा है कि ज्ञानभावना का अभ्यास करने वाले को श्रुतज्ञान में हमेशा प्रवृत्ति रखना चाहिए, सूत्र और अर्थ का चिंतन-मनन करना चाहिए। मन को अशुभ भावों की ओर जाने से रोकना चाहिए। सम्पन्न ज्ञान के द्वारा, सम्यग्ज्ञान के द्वारा पौद्‌गलिक-पदार्थों के स्वरूप को समझकर तथा संसार की असारता का ज्ञान करके संसार के प्रति निर्वेद-भाव उत्पन्न करना चाहिए। उसके बाद धर्मध्यान में स्थित होने पर स्थिरता प्राप्त होती है।

दर्शनभावना का अभ्यास करने वाले को सुदेव-सुगुरु-सुधर्म के स्वरूप को जानना चाहिए तथा जिनवचनों में पूर्ण श्रद्धा स्थापित करना चाहिए। शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, प्रशंसा, संस्तव - इन पाँच सम्यक्त्व के दूषणों को प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए तथा जिनशासन की प्रभावना, तीर्थसेवा, भक्ति, प्रशमादि गुणों को आदरना चाहिए। चारित्र भावना का अभ्यास करने वाले को इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करके विषयों और कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। हिंसादि पापों की अविरतिरूप आश्रमों का त्याग करना चाहिए। बारह प्रकार के तपों का सेवन करना चाहिए तथा समिति और गुप्ति - इन अष्टप्रवचन-माता का बराबर पालन करना चाहिए।

वैराग्यभावना का अभ्यास करने वाले को विनाशशील संसार के स्वभाव तथा शरीर के स्वरूप को जानकर अनासक्त बनना चाहिए; पराधीन बनाने वाले, जड़ता तथा प्रमाद को उत्पन्न करने वाले क्षणभंगुर, नीरस वैषयिक-सुख-भोगों से दूर रहना चाहिए। इस प्रकार चारों भावनाओं से हृदय को भावित करने पर धर्मध्यान करने वाले की योग्यता में वृद्धि होती है।

(५६७) निश्चलत्वमसंमोहा निर्जरा पूर्वकर्मणाम्।
संगा शंसाभयोच्छेदः फलान्यासं यथाक्रमम्।।२०।।

<u>अनुवाद</u> - निश्चलत्व, असम्मोह, पूर्वकर्मों की निर्जरा तथा संग आशंसा और भय का उच्छेद - ये अनुक्रम से इसके (चार भावना के) फल हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> पूर्व श्लोक में धर्मध्यान की तैयारी के लिए जिन चार भावनाओं से मन को भावित करने का निर्देश दिया गया था, उन भावनाओं का फल प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है।

(१) ज्ञानभावना से निश्चलत्व का लाभ होता है। श्रुतज्ञान के अभ्यास से व्यक्ति को हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का ज्ञान होता है। जो आत्मा के लिए अहितकर है, ऐसे अशुभ आश्रमों और पापादि तत्त्वों को दुर्गति प्रदायक जानकर वह उनका त्याग करता है। उसका भेदज्ञान पुष्ट होता है तथा उसे शरीर की नश्वरता समझ में आती है, सांसारिक-संबंधों की क्षणभंगुरता जानकर उससे वैराग्य प्राप्त हो जाता है। आत्मा की शाश्वतता की प्रतीति होती है, उसे अपने स्वरूप को जानने की उत्सुकता पैदा होती है। फलस्वरूप, उसमें ऐसी निश्चलता प्रकट होती है कि चाहे जैसे प्रतिकुल संयोगों में, परीषह-उपसर्ग में भी वह विचलित नहीं होता है, विषमता उत्पन्न नहीं होती है।

(२) दर्शनभावना से असम्मोह का लाभ :- दर्शनभावना से सम्यक्त्व के दूषण, शंका, कांक्षा आदि दूर हो जाते हैं, व्यक्ति का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है, फिर वह मिथ्यात्वी देवी-देवताओं की उपासना के लिए सम्मोहित नहीं होता है। असम्मोह, अर्थात् मोहमुग्ध दृष्टि या विश्वास नहीं रखना। दर्शनभावना से देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और लोक संबंधी सारी मूढ़ताएँ, मिथ्या मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं, जिससे व्यक्ति को धर्म में स्थिरता प्राप्त होती है।

(३) चारित्रभावना से कर्मनिर्जरा का लाभ होता है। चारित्रभावना के अभ्यास से तप में अभिवृद्धि होती है। इससे पूर्व में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है तथा नए अशुभ कर्मों का बंध रुक जाता है एवं जीव अनायास ही शुभ कर्म में जाता है, क्योंकि जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित चारित्रधर्म की आराधना रागपूर्वक की जाए, तो उससे शुभकर्म का बंध होता है। प्राथमिक-भूमिका में जीव समिति, गुप्ति आदि का पालन व अन्य क्रियाएँ रागपूर्वक ही सेवन करता है।

(४) वैराग्यभावना से संग, आशंसा और भय का उच्छेद हो जाता है। इस भावना के अभ्यास से संसार की असारता समझ में आती है, जिससे

राग-द्वेष की वृद्धि होती है। ऐसे निमित्तों का त्याग कर देने। व्यक्ति की निःसंगता बढ़ती है। आशंसा, अर्थात् इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं, आकांक्षाओं पर वह विजय प्राप्त करता जाता है। कामनाएँ ही दुःखों का कारण है। निःस्पृह हो जाने पर अब उसे कोई सांसारिक-स्वार्थ नहीं रहता है, अतः वह आत्मरमणता का अभ्यास करते हुए पूर्णतः निर्भय हो जाता है।

इन भावनाओं से केवल उपर्युक्त लाभ ही होते हैं - ऐसा नहीं है और भी अनेक लाभ आत्मा को प्राप्त होते हैं, जो आध्यात्मिक विकास में सहायक होते हैं तथा धर्म-ध्यान के लिए उपयोगी बनते हैं।

(५६८) स्थिरचित्तः किलैताभिर्याति ध्यानस्य योग्यताम्।
योग्यतैव हि नान्यस्य तथा चोक्तं परैरपि।।२१।।

अनुवाद - स्थिर चित्तवाला ही इनके (भावनाओं के) द्वारा ध्यान की योग्यता प्राप्त करता है, इसके अलावा अन्य कोई की योग्यता नहीं है। अन्य दर्शनियों ने भी इस प्रकार कहा है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रथम शर्त स्थिरचित्त है। चंचल चित्तवाला ध्यान नहीं कर सकता है। धर्मध्यान की चार भावनाओं (ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वैराग्य) द्वारा मन को भावित करना चाहिए। बार-बार अभ्यास करने से संसार का रंग उतरकर मन भावनाओं के रंग में रंग जाता है, फिर उसे सांसारिक विचार नहीं आते हैं। भावनाओं पर ही उसका चिंतन चलता रहता है, इससे चित्त स्थिर तथा शांत होता है, तब वह धर्मध्यान की योग्यता प्राप्त करता है। जिसका चित्त अति चपल है, विषय-कषाय जिसके चित्त में रमण करते हैं, जो इन्द्रियों के विषय देखते ही उन्हें प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठता है, जिसका चित्त आरंभ, परिग्रह, राग-द्वेष आदि में दौड़ता रहता है, उसके चित्त में चंचलता आए बिना नहीं रहती है। कुछ भी निमित्त मिलने पर उसका चित्त स्थिर न रहकर वहाँ चला जाएगा। जब तक चित्त एक विषय के विचार से दूसरे विषय पर विचार करने के लिए भटकता रहता है, तब तक स्थिरता कहाँ से प्राप्त हो ? जब भावनाओं का अभ्यास किया जाता है, तो भावनाओं का रंग लगने के बाद फिर चित्त की चंचलता कम

हो जाती है। स्थिरचित्त ही ध्यान के लिए योग्य होता है, अतः जब तक मन को भावनाओं से भावित न किया जाए, तब तक ध्यान की योग्यता प्राप्त नहीं होती है। ध्यान के लिए भावनाओं के अभ्यास की आवश्यकता है। श्रीमद् - भगवद्गीता आदि ग्रंथ भी इस बात के साक्षी हैं।

(५६६) चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।२२।।

अनुवाद - हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल, क्षोभ उत्पन्न करने वाला, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है, उसे रोकना मैं (आकाश में स्थित) वायु की तरह अत्यंत कठिन मानता हूँ।

विशेषार्थ - ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने वक्तव्य के समर्थन में गीता के छठे अध्याय के तीन श्लोक (३४, ३५, ३६) क्रमशः दिए हैं। प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन अपनी विवशता को बता रहे हैं कि यह मन अत्यंत चंचल है। मनुष्य का मन अनादिकाल से कुछ लाक्षणिकताएं लिए हुए है, इसमें देश, जाति, कुल इत्यादि का कोई भेद नहीं है, यह सर्वत्र समान है, इसलिए किसी भी धर्म के, किसी भी समाज के किसी भी शास्त्र में तथा वर्तमान में मनोवैज्ञानिकों ने भी मन की इन्हीं लाक्षणिकताओं को दर्शाया है। इसलिए ग्रंथकार ने अन्यदर्शनों का भी मन के संबंध में प्रमाण दिया है। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि यह मन अत्यंत, चंचल, बलवान्, जिद्दी, शरीर और इन्द्रियों को क्षोभित करने वाला और वायु की तरह मुट्ठी में कैद करके नहीं रखा जा सकने वाला है, अतः ऐसे मन को स्थिर करना अति दुष्कर है। अर्जुन का यह अनुभव सर्वसामान्य है। मानवमात्र की उलझन को अर्जुन ने वाणी में व्यक्त किया है। मन को शांत व स्थिर रखना अत्यंत दुष्कर है, क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल है। चंचलता के साथ-साथ यह प्रमादी भी है, अर्थात् यह साधक को अपनी स्थिति से विचलित कर देता है। मन को सरलता से नहीं जीता जा सकता, क्योंकि यह अत्यंत बलवान् है। जब कोई कामना मन में पैदा हो जाती है, तो वह साधक को महान व्यथित कर देती है, जिससे साधक अपनी स्थिति पर नहीं रह पाता है। मन बड़ा बलवान् है, जो कि साधक को (बलपूर्वक) विषयों में ले जाता है। शास्त्रों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मन ही मनुष्यों के

मोक्ष और बंधन का कारण है, इसलिए मन के विषय में कुछ अतिशयोक्ति के साथ किन्तु सत्य ही कहा गया है कि समुद्र का पान करना, मेरु पर्वत का उन्मूलन करना या अग्नि का भक्षण करना सरल है, परंतु मन को अपनी धारणा के अनुसार पकड़ कर रखना अत्यंत कठिन है। बड़े-बड़े महारथी भी मन को वश में नहीं कर सके। मन को किसी भी एक विषय में अधिक समय तक एकाग्र रखना अत्यंत कठिन है। चित्त में प्रतिक्षण सोते हुए या जागते हुए हो सतत विचारों का प्रवाह चलता रहता है। कुछ ही क्षण में मन कहाँ से कहाँ चला जाता है, इसलिए कहा गया है कि "मन के मते न चालिए, पलक-पलक मन और", यह मन तो पल-पल में बदल जाता है। सभी मन के अनुसार ही चलते रहते हैं, लेकिन जिसने मन को वश में कर लिया, जो मन पर सवार हो गया वह तो लाखों में से कोई एक होता है।

मन का निग्रह करना, उसे वश में रखना, उसे अपने अनुसार चलाना अत्यंत कठिन है ,फिर भी असंभव नहीं है। अनेक उपायों द्वारा मन को वश में किया जा सकता है।

(६००) असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> हे महाबाहो ! यह मन बड़ा चंचल है (और) इसका निग्रह करना भी कठिन है, इसमें संशय नहीं है, परंतु हे कुन्तीनंदन ! अभ्यास और वैराग्य द्वारा (इसे) वश में किया जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने यह श्लोक भी गीता के छठवें अध्याय से लिया है। इसमें श्रीकृष्ण मन की चंचलता के विषय में अर्जुन का समर्थन करते हुए उसे मन को वश में करने का उपाय बताते हैं। यहां श्रीकृष्ण अर्जुन को "महाबाहो" का संबोधन कर उसके सामर्थ्य का उसे भान करा रहे हैं।

"महाबाहो" संबोधन का तात्पर्य शूरवीरता बताने से है, अर्थात् अभ्यास करते हुए कभी ऊबना नहीं चाहिए, स्वयं में धैर्यपूर्वक वैसी ही शूरवीरता रखना चाहिए। अर्जुन ने पहले चंचलता के कारण मन का निग्रह करना बड़ा कठिन बताया। उसी बात पर श्रीकृष्ण कहते हैं - तुम जो कहते

हो, वह एकदम ठीक बात है, निःसन्दिग्ध है, क्योंकि मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना भी कठिन है - ऐसा असंख्य लोगों का अनुभव है, यही वास्तविकता है, परंतु यह आदर्श नहीं है। भूतकाल में अनेक महापुरुषों ने मन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अर्जुन की माता कुन्ती बहुत विवेकवती तथा भोगों से विरक्त थी, अतः यहाँ कौन्तेय संबोधन देकर श्रीकृष्ण अर्जुन को याद दिलाते हैं कि जैसे तुम्हारी माता कुन्ती बड़ी विरक्त है, वैसे ही तुम भी संसार से विरक्त होकर मन को परमात्मा में लगाओ। मन को बार-बार ध्येय में लगाने का नाम अभ्यास है। इस अभ्यास की सिद्धि एक दो दिन में नहीं होती है। अभ्यास निरंतर प्रतिदिन होना चाहिए। कभी अभ्यास किया, कभी नहीं किया - ऐसा नहीं होना चाहिए। निरन्तर व्यायाम करने वाले अपने शरीर के अंगों को हर तरह से मोड़ लेते हैं। खिलाड़ी कूदने में, तैरने में या अन्य किसी खेल में अभ्यास से ही आगे बढ़ते हैं। मन को ससत अभ्यास से वश में किया जा सकता है।

मन सहज ही सांसारिक-प्रवृत्तियों मे चला जाता है, अब उसे विपरीत दिशा में मोड़ना है, अतः पहले प्रथम दिशा को बंद करना पड़ेगा, अर्थात् मन को चंचल बनाने वाले जो-जो भी कारण हैं, उन कारणों का विचार करके उनका निवारण करना पड़ेगा। मन विविध विषयों में सहज ही दौड़ जाता है। ऐन्द्रिक-विषयों में वह तल्लीन बन जाता है। जब तक ऐसा होगा, तब तक मन को वश में करने के कितने भी उपाय कर लें, सब व्यर्थ हो जाएंगे, अतः मन को सर्वप्रथम विषयों से विरत बनाना चाहिए। जब तक विषयों के दुष्परिणाम नजर नहीं आते हैं, तब तक वैराग्यभाव नहीं आता है और विषयभोग की इच्छा शान्त नहीं होती है। जब वैराग्य आ जाता है तब चित्त अंतर्मुख हो जाता है। जब चित्त अंतर्मुख हो जाता है, तब ही उसे आत्मा में या परमात्मा में रुचि जाग्रत होती है। जैसे-जैसे परमात्मा में रुचि बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शरीर से ममत्वभाव भी छूटता जाता है। वैराग्यभाव प्रकट हो जाने पर चित्त को संयम में रखना आसान हो जाता है। जितने भी दुःख हैं, वे सभी संसार के राग से ही पैदा होते हैं और जितनी सुख-शांति मिलती है, वह सब रागरहित होने से ही मिलती है- ऐसा विचार कर संसार से विरक्त होकर अपना जो लक्ष्य है, उसमें मनोवृत्ति को लगाना चाहिए और दूसरी वृत्ति आ जाने पर, अर्थात् दूसरा

कुछ भी चिंतन होने पर उसकी उपेक्षा कर देना चाहिए, उससे उदासीन हो जाना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चंचल मन को जीता जा सकता है।

(६०१) असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> जिसका मन पूरा वश में नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, परंतु उपायपूर्वक यत्न करने वाले (तथा) वशित मन वाले साधक को (योग) प्राप्त हो सकता है-ऐसा मेरा मत है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक भी गीता के छठवें अध्याय से लिया गया है। श्रीकृष्ण ने अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को वश में करने का उपाय बताया। अब वे अर्जुन को समझाते हैं कि जो असंयमी है, उसके लिए योग दुष्प्राप्य है और जो संयमी है, उसे योग की प्राप्ति हो जाती है। जिसका मन वश में नहीं है, उसे योग सिद्ध होना कठिन है। प्रायः साधकों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे साधन तो श्रद्धापूर्वक करते हैं, पर उनके प्रयत्न में शिथिलता रहती है, जिससे साधक में संयम नहीं रहता है, अर्थात् मन, इन्द्रियों और अंतःकरण का पूर्णतया संयम नहीं होता है। विषयभोगों की रुचि के कारण ही वह संयतात्मा नहीं हो पाता है, मन इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर पाता है, इसलिए उसे ध्यानयोग की सिद्धि में कठिनता होती है, परंतु जो तत्परतापूर्वक साधन में लगा हुआ है, अर्थात् ध्यानयोग की सिद्धि के लिए ध्यानयोग के उपयोगी आहार, विहार, विचार, सोना, जागना आदि नियमों का नियमित रूप से पालन करता है और जिसका मन सर्वथा वश में है, ऐसे वशात्मा साधक द्वारा योग प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि संयतात्मा प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी क्षुभित नहीं होते हैं, दुःखी नहीं होते हैं और विषय-भोग के वातावरण में अनुकूल प्रसंगों के प्रति आकर्षित नहीं होते हैं - ऐसी समत्वबुद्धि का उनमें विकास होता है।

जब मन शुद्ध हो जाता है, तब वह स्वतः वश में हो जाता है। मन में उत्पत्ति और विनाशशील वस्तुओं का राग रहना ही मन की अशुद्धि है।

जब साधक का आत्मप्राप्ति का उद्देश्य दृढ़ हो जाता है, तब विनाशशील वस्तुओं का राग हट जाता है और मन शुद्ध हो जाता हैं, अतः विविध उपायों द्वारा साधक को मन शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६०२) सदृशप्रत्ययावृत्या वैतृष्ण्याद् बहिरर्थतः।
एतच्च युज्यते सर्वं भावनाभावितात्मनि।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> सदृशबोध (गीता व जैनदर्शन में वैराग्य का समान बोध) के अभ्यास से और बाह्य विषयों के प्रति तृष्णारहित होने से भावना से भावित हुई आत्मा के लिए यह सब शक्य है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार प्रस्तुत श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि वैराग्य का बोध जैनदर्शन और गीता में एकसमान है, इसलिए वैराग्य की भावना से भावित आत्मा के लिए मन को वश में करना शक्य है। वैराग्य की भावना के लिए जगत् के बाह्य-पदार्थों से मन को दूर करने की आवश्यकता है। तृष्णाओं और वासनाओं पर विजय प्राप्त करने से मन वैराग्यवासित होता है। ऐसे मन के लिए भी तत्त्व का यथार्थबोध आवश्यक है। बोध से मन शुद्ध और निर्मल होता है। सतत आत्मविचार से निर्मलता बनी रहती है। विनाशी वस्तुओं से असंग होकर, कामनारहित होकर अमरत्व का अनुभव करना, भोगों के क्षणिक सुखों को त्याग कर निजस्वरूप के अक्षय निराकुल सुख का अनुभव करना ही दुःख से पूर्णतः मुक्ति और सुख-प्राप्ति का उपाय है। ध्यानयोग की सिद्धि के लिए केवल वैराग्य नहीं, बल्कि आत्मभावना की भी आवश्यकता है। आत्मभावना का भी उपयोगपूर्वक सतत अभ्यास आवश्यक है। ध्यानयोग में जिन्हें स्थिर होना है, उन्हें बार-बार विवेकपूर्वक जाग्रति के साथ-साथ अभ्यास की भी आवश्यकता है और जिसकी प्रतीति तो हो, परंतु प्राप्ति नहीं हो - ऐसे सांसारिक-वैषयिक-सुखाभास से सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। अच्छा साधक बनने क लिए यह पूर्व तैयारी है। जिस तरह शिक्षित घोड़े को सवार जिधर ले जाना चाहे उधर ले जा सकता है उसी प्रकार शिक्षित व नियंत्रित मन को साधक जिसमें लगाना चाहे उसमें लगा सकता है।

(६०३) स्त्रीपशुक्लीबदुःशीलवर्जित स्थानमागमे।
सदा यतीनामाज्ञप्तं ध्यानकाले विशेषतः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> आगम में मुनि, स्त्री, पशु, नपुंसक और दुःशील से रहित स्थान कहा गया है, इसमें भी ध्यान के समय विशेष रूप से कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के लिए योग्य स्थान की चर्चा की है। ध्यान में कोई विघ्न न आए, ध्यान अच्छी तरह से हो, इसके लिए कौन-सा स्थान चयन करना चाहिए ? इस प्रश्न पर शास्त्रकारों ने गहन विचार किया है। आगमों में भी इस संबंध में चर्चा की गई है। ध्यान में सफलता तब ही मिलती है, जब चित्त की एकाग्रता हो, अतः ऐसे स्थान पर ध्यान करने के लिए नहीं बैठना चाहिए, जहाँ चित्त की एकाग्रता खंडित होने की संभावना हो, जहाँ किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका हो। ध्यान करते समय स्थल, आसन, वातावरण और समय आदि योग्य नहीं हों, तो चित्त की एकाग्रता का टिक पाना मुश्किल होता है। प्रस्तुत श्लोक में स्थान पर विचार किया गया है। ध्यान करने के लिए मन की शांति आवश्यक है और मन की शांति के लिए इन्द्रियों का शांत होना आवश्यक है। यह इन्द्रियों का स्वभाव है कि अपने विषयों का निमित्त प्राप्त होते ही वे चंचल हो जाती हैं। इससे मन की चंचलता बढ़ती है। सरस भोजन हो, तीव्र सुगंधमय या दुर्गंधमय वातावरण हो, कामभोग के दृश्य हो, कर्णमधुर संगीत हों या बहुत अधिक कोलाहल हो, ऐसे स्थानों पर ध्यान करके बैठने से प्रारंभिक-अभ्यासियों का मन दोलायमान हो जाता है, अतः उनको ऐसे स्थानों या परिस्थितियों से दूर रहना चाहिए। विक्षेप उत्पन्न करने वाले स्थानों का त्याग कर देना चाहिए। मुनियों को भी अपने रहन के लिए ऐसे स्थानों का चयन करना चाहिए, जिससे उनकी संयम साधना में बाधा उत्पन्न न हो, इसलिए जहाँ पास में स्त्रियों का वास हो, वहाँ नहीं रहना चाहिए, ताकि विजातीय का आकर्षण पैदा न हो, मन विकृत न हो (जिस तरह मुनियों के लिए स्त्रियों से युक्त स्थान उसी तरह साध्वियों के लिए पुरुषयुक्त स्थान त्यागने योग्य है)। उसी प्रकार, जहाँ पशु हों, नपुंसक हों अथवा जुआरी, शराबी, दुःशील मनुष्य रहते हों, वह स्थान भी साधुसाध्वियों के लिए वर्जित है। अशुभ अध्यवसायों को उत्पन्न करने वाले निमित्त

बार-बार सामने उपस्थित होते हों, तो अनादिकाल के आत्मा पर पड़े हुए अशुभ संस्कारों के जाग्रत होने की संभावना रहती है। शास्त्रों में अनेक दृष्टांत आते हैं कि ऐसे अशुभ निमित्तों को पाकर कई मुनि पतित हो गए। लक्ष्मणा साध्वी ने एक बार चक्रवाक एवं चक्रवाकी की प्रणय-क्रिया को कुछ क्षणों तक ध्यान से देखा, तो हृदय में वासना के सुप्त संस्कार जाग्रत हो गए। सिंहगुफावासी मुनि का कोशा को देखते ही मन विकृत हो गया। जीव निमित्तवासी है। निमित्तों का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, इसलिए साधक को साधना के लिए अनुकूल, एकांत निरुपद्रवी, प्रेरक स्थान होना चाहिए। साधु-साध्वियों के लिए तो सामान्य रूप से ही रहने के लिए योग्य स्थान का चयन करना होता है, तो फिर ध्यान के लिए तो विशेष रूप से अनुकूल ही स्थान होना चाहिए। साधना के प्रारंभिक काल में योग्य स्थानादि पर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि कई बार तो साधक को स्वयं भी पता नहीं चलता है कि उसका मन ध्यान से क्यों विचलित हो गया, ध्यान का रस क्यों खंडित हो गया? ध्यान में सिद्धि क्यों नहीं मिल रही है ? अतः, आरंभिक-अभ्यासियों के लिए अनुकूल स्थान का चयन करना आवश्यक है।

(६०४) स्थिरयोगस्य तु ग्रामे विशेषः कानने वने।
तेन यत्र समाधानं स देशो ध्यायतो मतः।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> स्थिरयोग वाले को, अर्थात् ध्यानसिद्ध योगी को तो गाँव में, जंगल में या उपवन में कोई विशेषता नहीं, जहाँ समाधि रहे, वह प्रदेश या स्थान योग्य माना जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि जो ध्यानयोग में स्थिर हो गए हैं - ऐसे सिद्धपुरुषों के लिए स्थानादि का महत्व नहीं रहता है, उनका तो कैसे भी स्थान पर मन स्थिर हो सकता है, परंतु इस प्रकार की स्थिरता दो-चार दिन में प्राप्त नहीं होती है। कुसंस्कारों से वासित मन को मोड़ने में, स्थिर करने में वर्षों लग जाते हैं। ध्यान के प्रारंभ में तो साधक का मन बार-बार अस्थिर हो जाता है, उसके निश्चित किए हुए विषय पर एक मिनट भी नहीं ठहरता है। बार-बार अभ्यास करने से, अपने लक्ष्य की ओर खींचकर लाने से साधक का मन एक विषय में धीरे-धीरे स्थिर होने लगता है। चित्त अगर दूसरे विषय में चला भी गया हो, तो कुछ ही क्षणों

में उसे पता चल जाता है। वह पुनः सावधान हो जाता है और अन्य विषयों से चित्त को निवृत्त करके पुनः अपने विषय पर केन्द्रित करता है। साधक की श्रद्धा और दृढ़ मनोबल अभ्यास आदि के कारण मन की एकाग्रता और स्थिरता में वृद्धि होती है और जब ऐसा हो जाता है, तब बाह्य-निमित्त उसे विक्षेप नहीं करते हैं। संसार में सांसारिक-व्यक्ति भी अपनी मनपसंद प्रवृत्ति में लीन हो, तो उसके आस-पास क्या हो रहा है - यह पता नहीं चलता है, जैसे- कोई व्यापारी हिसाब लगा रहा हो, कोई चित्रकार, शिल्पी, सुवर्णकार आदि अपनी कलाकृति को तैयार करने में मग्न हो, शतरंज, टेनिस, क्रिकेट आदि को खेलने में कोई खिलाड़ी मग्न हो, उस समय उनके सामने कोई नृत्यांगना नृत्य कर रही हो, कहीं से सुगंध आ रही हो, कामोत्तेजक वातावरण हो, तो भी उनका मन तो अपनी प्रवृत्ति में, अपने खेल में इतना एकाग्र हो जाता है कि आसपास के वातावरण का उन पर कोई असर नहीं होता है। रस और रुचि की जितनी प्रबलता हो, उतनी ही एकाग्रता नें तीव्रता आती है। सांसारिक-कार्यों का अभ्यास तो अनादिकाल से है और उनमें रुचि भी गहन होती है, इसलिए उनमें एकाग्रता जल्दी आ जाती है, किन्तु ध्यान के लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। संयमी-योगी का मन एक बार अपने विषय में रस, रुचि, श्रद्धा और दृढ़ता से ध्यान करने में लग जाता है, तो उसमें भी अनुक्रम से स्थिरता आ जाती है। फिर तो उसका मन इतना अभ्यस्त हो जाता है कि सहज ही स्थिर हो जाता है। ऐसे ध्यानयोगियों के लिए अनुकूल स्थान का प्रश्न नहीं रहता, चाहे छोटा गाँव हो या बड़ा नगर, वीरान जंगल हो या सुंदर उपवन, वे किसी भी स्थल पर ध्यान करने बैठ सकते हैं। बाढ़ आदि प्रतिकूलताएँ उन्हें विचलित नहीं कर सकती हैं, क्योंकि उनका मन अभ्यस्त हो चुका होता है, उनकी एकाग्रता अत्यधिक होती है।

(६०५) यत्र योगसमाधानं कालोऽपीष्टः स एव हि।
दिनरात्रिक्षणादीनां ध्यानिनो नियमस्तु न॥२८॥

<u>अनुवाद -</u> जिसमें योग की स्थिरता प्राप्त हो, वही काल इष्ट है। ध्यानी को दिन या रात्रि के क्षण का कोई भी नियम नहीं है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ध्यान किस समय करना चाहिए ? कौन-सा समय ध्यान के लिए उचित है ? इसके विषय में चर्चा की गई है। ध्यानयोग के प्रारंभिक-अभ्यासियों के लिए समय का यदि विचार करें, तो उन्हें ऐसे समय पर ध्यान करने के लिए बैठना चाहिए, जब कोई विक्षेप न हो, शोरगुल न हो, वातावरण शांत व शीतल हो, हृदय में तीव्र उल्लास हो, शरीर श्रमित, अर्थात् थका हुआ न हो । इस कारण ब्रह्ममुहूर्त्त का समय ध्यान के लिए श्रेष्ठ बताया गया है। वैसे ही, रात्रि में भी ग्यारह बजे के बाद का समय भी शांति का होता है। भोजन करने के तुरंत बाद ध्यान करने बैठा जाए, तो नींद के झोंके आने की संभावना रहती है। शरीर के आवेग भूख, प्यास, लघुशंका, गुरुशंका आदि से निवृत्त होकर ध्यान के लिए बैठना चाहिए। अतः, ध्यान के लिए कौन-सा समय अनुकूल है, यह तो प्रत्येक साधक द्वारा अपने-अपने अनुभव से जाना जा सकता है। इसके लिए कोई समय-विशेष का बंधन नहीं है। अपने अनुकूल और प्रेरक समय में उल्लास और उत्साह से युक्त हृदय से ध्यान करने से एकाग्रता बढ़ती जाती है और स्थिरता प्राप्त होती है। स्थिरता में सिद्धि प्राप्त होने के बाद काल की प्रतिकूलता का बंधन कम हो जाता है, फिर तो ध्यान की ऐसी लगन लगती है कि दिन हो या रात, जितना अवकाश मिलता है, उतने समय वह साधक अंतर्मुखी हो जाता है। शरीर के आवेग भी स्वाभाविक रूप से शांत हो जाते हैं, इसलिए ध्यानी के लिए काल का कोई बंधन नहीं होता है। वह तो जब बैठे, तब उसका मन ध्यान में स्थिर हो जाता है, फिर तो मन को ध्यान से बाहर आने में कष्ट महसूस होता है, अर्थात् वह बाह्य-जगत् में आना ही नहीं चाहता है।

(६०६) **यैवावस्था जिता जातु न स्याद्ध्यानोपघातिनी।**
तथा ध्यायेन्निषण्णो वा स्थितो वा शयितोऽथवा।।२६।।

अनुवाद - जो अवस्था या आसन जीता हुआ है (सिद्ध है) वह ध्यान का उपघात करने वाला नहीं होता है, अतः उसके अनुसार बैठे-बैठे, खड़े रहकर या सोए-सोए ध्यान करना चाहिए।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने आसन का निर्देश किया है। ध्यान करने के लिए किस तरह बैठना ? कौन-सा आसन योग्य है ? ध्यान

की प्रक्रिया का अभ्यास करने वाले के लिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। जब तक शरीर की स्थिरता प्राप्त नहीं हो, तब तक मन की स्थिरता भी प्राप्त नहीं होती। ध्यान करने के लिए जिस आसन पर बैठें, वह ऊँचा-नीचा हो या आसन के नीचे कंकर आदि आ गए हों, तो बार-बार मन वहाँ जाता है। कई लोगों की शारीरिक-प्रकृति इस प्रकार की होती है - अमुक प्रकार से, अर्थात् पद्मासन, सुखासन आदि अवस्था में बैठने पर कुछ ही समय में पैर शून्य हो जाते हैं या दर्द होने लगता है। किसी के पैर मुड़ते नहीं हैं, अर्थात् पलांठी लगाकर नहीं बैठ सकते हैं, अतः अपनी शारीरिक-अनुकूलता को सर्वप्रथम देखना चाहिए। अगर शारीरिक-अनुकूलता हो, तो पद्मासन और वीरासन श्रेष्ठ आसन हैं। इनसे इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं और मन शांत होकर ध्यान में एकाग्र हो जाता है। यदि शरीर की अनुकूलता न हो और ऐसे आसनों पर अधिक समय नहीं बैठ सकते हों, तो अर्द्धपद्मासन या पलांठी लगाकर बैठ सकते हैं। जिस आसन में अपनी समाधि बनी रहे, हलचल न हों, अधिक देर तक बैठ सकते हो वही आसन ध्यान के लिए योग्य है।

ध्यान करने वाले को आँखे बंद रखना आवश्यक है, ताकि वह बाह्य-जगत् से संबंध विच्छेद कर आंतरिक-जगत् में या अपने लक्ष्य पर मन को स्थिर रख सके। बाह्यदृश्य ध्यान में विक्षेप उत्पन्न करते हैं। शारीरिक-शक्ति यदि कम हो, तो सोए-सोए भी ध्यान कर सकते हैं, परंतु इसमें जल्दी नींद आने की संभावना रहती है। शारीरिक-शक्ति अधिक हो, शरीर मजबूत हो, तो खड़े-खड़े कायोत्सर्ग-मुद्रा (जिनमुद्रा) में भी ध्यान कर सकते हैं। इसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रक्तचाप (बी.पी.) घट न जाए या चक्कर न आ जाएं।

यह सब सावधानी ध्यान के प्रारंभिक अभ्यासी को रखना आवश्यक है, किन्तु जिन्होंने निमित्त ध्यान करते हुए ध्यान में सिद्धि प्राप्त कर ली है, एकाग्रता व स्थिरता प्राप्त कर ली है, उन ध्यानयोगियों के लिए आसन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वे तो सोए-सोए, बैठे-बैठे, कैसे भी, कहीं पर भी ध्यान कर सकते हैं। प्रसन्नचंद्र राजर्षि एक पैर पर खड़े होकर दूसरा पैर घुटने से मोड़कर दो हाथ ऊँचे रखकर कायोत्सर्ग ध्यान करते थे।

भगवान महावीरस्वामी ने गोदोहासन में केवलज्ञान प्राप्त किया था। कितने ही महापुरुष, खुली आँख रखकर या अर्द्ध बंद रखकर बिना विक्षेप प्राप्त किए ध्यान कर सकते हैं। यह ध्यान योगी के अभ्यास के आधार पर निर्भर है। जितेन्द्रिय बनने से ही ध्यानसिद्धि प्राप्त होती है।

(६०७) सर्वासु मुनयो देशकालावस्थासु केवलम्।
प्राप्तास्तन्नियमो नसां नियता योगसुस्थता।।३०।।

अनुवाद - सभी देश, काल और अवस्था में मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त किया है, इसलिए इसमें नियम नहीं है, मात्र योग की स्थिरता का नियम है।

विशेषार्थ - ध्यान करने के लिए पूर्वश्लोक में देश, काल, अवस्था आदि का विचार किया गया है, परंतु यह तो ध्यान के प्रारंभिक-अभ्यासियों के लिए है। जिन्होंने ध्यान सिद्ध कर लिया है, उनके लिए देश, काल आदि का कोई बंधन नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि प्राचीनकाल में कितने ही महापुरुषों ओर तीर्थंकरों ने सभी देश, सभी काल और सभी अवस्था में ध्यान करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। इसका तात्पर्य यही है कि सभी देश, सभी काल और सभी अवस्था में ध्यान कर सकते हैं। महत्वपूर्ण प्रश्न तो यही है कि ध्यानयोग में स्थिरता प्राप्त होती है या नहीं ? यदि आसन अनुकूल है, शरीर स्वस्थ है, देश और काल की भी अनुकूलता है, किन्तु सब कुछ मनपसंद होने के बाद भी यदि ध्यान में चित्त स्थिर नहीं रहता है, मन इधर-उधर विचलित होता है, तो फिर सारी अनुकूलताएँ भी कुछ मूल्य नहीं रखती हैं। कितने ही प्रारंभिक-ध्यान के अभ्यासी अपरिपक्व होने के कारण अपने मन की चंचलता का बचाव करने के लिए कभी आसन को दोष देते हैं, कभी स्थान अनुचित बताते हैं, कभी काल को दोषी ठहराते हैं। इन तीनों की खोज करने में, चयन करने में ही अपना समय निकाल देते हैं। सर्वप्रथम ध्यान के लिए तो उसमें गहरी रुचि की आवश्यकता है। जब ध्यान के प्रति प्रेम जाग्रत होगा, आन्तरिक-जगत् में प्रवेश करने की इच्छा होगी, तब संसार के प्रति रुचि अपने-आप कम हो जाएगी और भावनाओं द्वारा भावित मन ध्यान का अभ्यास करते हुए स्थिरता को प्राप्त होगा।

(६०८) वाचना चैव पृच्छा च पराकृत्यनुचिन्तने।
क्रिया चालम्बनानीह सद्धर्मावश्यकानि च।।३१।।

<u>**अनुवाद -**</u> वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुचिंतन तथा सद्धर्म की आवश्यक-क्रिया इसके (धर्मध्यान के) आलंबन हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के आलंबन के विषय में चर्चा की गई है। आत्मा को ज्ञानादि भावनाओं से भावित करने के बाद ध्यान पर आरूढ़ होने के लिए आलंबनों की आवश्यकता होती है, ताकि ध्यान में मन स्थिर रह सके, क्योंकि मन को खूँटे पर बांधना आवश्यक है। यदि उसके लिए किसी खूँटे का चयन नहीं किया गया, तो वह इधर-उधर भागता ही रहेगा, इसलिए शास्त्रकारों ने बताया है कि धर्मध्यान में स्थिर रहने के लिए आलंबन की उपयोगिता भी है और आवश्यकता भी है। पंचमहाव्रतधारी साधुओं के लिए श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को लक्ष्य में रखकर जो आलंबन बताए हैं, वे निम्न प्रकार के हैं - वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा-ये श्रुतधर्म के आधार हैं तथा सामायिक, प्रतिक्रमण आदि चारित्रधर्म के आधार हैं।

वाचना - सूत्र और अर्थ को शुद्धतापूर्वक पढ़ना वाचना है। शिष्यों को आगमों की वाचना देना और शिष्यों द्वारा मन की एकाग्रता के साथ भक्तिपूर्वक वाचना लेना - इससे ज्ञानावरणीय-कर्म की निर्जरा होती है तथा नवीन-नवीन ज्ञान की पर्याएं प्रकट होती है। श्रुत की भक्ति के साथ रुचिपूर्वक वाचना करने से तीर्थंकर प्ररूपित धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है और धर्मध्यान में चित्त स्थिर हो जाता है।

पृच्छना - पृच्छना, अर्थात् पूछना। वाचना लेते समय होने वाली शंकाओं को, जिज्ञासाओं को विशिष्ट ज्ञानीजनों से पूछकर यथार्थ निर्णय करना पृच्छना नामक स्वाध्याय है। इस स्वाध्याय से सूत्र और अर्थ संबंधी भ्रांतियों और त्रुटियों का संशोधन होता है। शंका का समाधान हो जाने पर मन स्थिर हो जाता है।

परावर्तना - उपार्जित ज्ञान को स्थिर रखने के लिए पुनः-पुनः उसको दोहराना परावर्तन-स्वाध्याय है। यह भी धर्मध्यान का आलंबन है। इससे

ज्ञान ताजा बना रहता है, विस्मृति और स्खलना से बचाव होता है। मन शुभ प्रवृत्ति में जुड़ा रहता है।

अनुप्रेक्षा - सूत्र और अर्थ का गहन चिंतन करना अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय है। किसी भी शास्त्रीय और आगमिक-विषय पर एकाग्रतापूर्वक संपूर्ण मनोयोग के साथ गहन चिंतन करने से अनेक गुत्थियों का समाधान प्राप्त होता है। जैसे-जैसे आत्मा श्रुतसागर में अवगाहन करती है, वैसे-वैसे उसे अनुपम ज्ञानरत्नों की उपलब्धि होती है। अनुप्रेक्षा या चिंतन का लाभ बताते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि आयुकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मप्रकृतियाँ यदि गाढ़ बंधन से बँधी हुई हों, तो उन्हें अनुप्रेक्षा-स्वाध्यायी शिथिल बंधन वाली बना लेता है। यदि वे दीर्घकाल की स्थिति वाली हों, तो उन्हें अल्प स्थिति वाली बना लेता है, यदि तीव्र रस वाली हों, तो मंद रस वाली बना लेता है और यदि बहुत प्रदेश वाली हों, तो अन्य प्रदेश वाली कर डालता है। इस प्रकार वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा-ये चारों श्रुतधर्म के अंतर्गत रहे हुए धर्मध्यान के आलंबन है।

इसके उपरांत सामायिक, स्तुति, प्रतिक्रमण, पड़िलेहण आदि आवश्यक-क्रियाएँ भी धर्मध्यान के आलंबनरूप हैं। ये क्रियाएँ चारित्रधर्म के अंतर्गत आती हैं।

(६०६) रोहति दृढ़द्रव्यालंबनो विषमं पदम्।
तथारोहति सद्ध्यानं सूत्राद्यालंबनाश्रितः।।३२।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे दृढ़ वस्तु (मजबूत रस्सी आदि) के आलंबन वाला व्यक्ति विषम स्थान पर भी आरोहण कर सकता है, उसी प्रकार सूत्र आदि के आलंबन को लेने वाला सद्ध्यान पर आरूढ़ हो जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी विकट ऊँचे स्थान पर चढ़ाई करना हो, तो कोई न कोई आलंबन की आवश्यकता होती है। ऊपर चढ़ने के लिए सहारा हो, तो कष्ट कम होता है, गिरने का भय नहीं होता है और आसानी से लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक में सूत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्र का एक अर्थ वाचना होता है तथा दूसरा अर्थ धागा या रस्सी होता है। कितने ही शिखर सीधे और इतने ऊँचे होते हैं कि साधारण मनुष्य तो उन

पर चढ़ ही नहीं सकता, किन्तु पर्वतारोहक मजबूत रस्सी का उपयोग कर विषम शिखर पर भी चढ़ जाता है। कुए से बाहर आने के लिए मनुष्य रस्सी का उपयोग करता है। सैनिक भी छोटी खाई नाले आदि को रस्सी का आलंबन लेकर पारकर जाते हैं। रस्सी का आलंबन जिस तरह विषम स्थान को प्राप्त करने में उपयोगी है, उसी तरह धर्मध्यानरूपी पर्वत पर आरोहण करने के लिए सूत्र, अर्थात् वाचना, पृच्छना, परावर्तना आदि का आलंबन उपयोगी है। संसाररूपी सागर को पार करना और धर्मध्यानरूपी उच्च शिखर पर चढ़ाई करना आसान नहीं है, अतः सूत्रादि का आलंबन लेकर मन को एकाग्र करके धर्मध्यान में स्थिरता प्राप्त करना चाहिए।

(६१०) आलंबनादरोद्भूतप्रत्यूहक्षययोगतः।
ध्यानाद्यारोहणभ्रंशो योगिनां नोपजायते।।३३।।

<u>अनुवाद</u> - आलंबन पर आदर उत्पन्न होने से, विघ्नों को क्षय करने की भक्ति होने से ध्यानादि पर आरोहित योगियों का पतन नहीं होता है।

<u>**विशेषार्थ**</u> - वाचना, पृच्छना, परावर्तना आदि आलंबनों का आश्रय लेकर ध्यानयोगी अपने धर्मध्यान में दृढ़ बने रहते हैं। उनके दृढ़ होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उनका आलंबन के प्रति अत्यंत आदर, बहुमान एवं भक्तिभाव रहता है। श्रुत के प्रति अतिशय भक्ति के कारण उनका धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है, रुचि बढ़ती है, अतः उनके हृदय की भक्ति, आदर, बहुमान साधना में सहायक होते हैं। बड़े-बड़े ध्यानयोगियों को भी ध्यान से चलित होने के प्रसंग उपस्थित होते हैं। पूर्वबद्ध कर्म के उदय से उनकी साधना में विघ्न भी आते हैं, परंतु जिन्हें परमात्मा की वाणीरूप सूत्र-अर्थ की वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुचिंतन आदि के प्रति विशुद्ध भावपूर्वक आदर होता है, श्रद्धा सहित आलंबन को स्वीकार करने के कारण वे आलंबन कर्मनिर्जरा में सहायक बनते हैं तथा विघ्नों को क्षय करने की शक्ति भी उनमें आती है, इसलिए ऐसे ध्यानयोगी की जब योग से पतन होने की संभावना होती है, तब ये आलंबन उसके पतन को अवरुद्ध कर देते हैं, साधक को जाग्रत कर देते हैं तथा पुनः ध्यानयोग में स्थिर कर देते हैं। कई योगी महापुरुष जब ध्यान में स्थित हों, तो उनके आस-पास हिंसक पशु जैसे- सिंह आदि भी आकर बैठ जाते हैं, परंतु वे

ध्यान से विचलित नहीं होते हैं। सूत्र पर आदरभाव होने के कारण अहमुत्ता मुनि पणग-दग पद बोलते-बोलते गहन चिंतन तथा पश्चाताप में उतर गए एवं धर्मध्यान से शुक्लध्यान प्राप्त कर चार घातीकर्मों का क्षय करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, अतः आलंबन के प्रति भक्ति तथा बहुमान होना आवश्यक है।

(६११) मनोरोधादिको ध्यानप्रतिपत्तिक्रमो जिने।
शेषेषु तुयथायोगं समाधानं प्रकीर्तितम्।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> जिन (केवलज्ञानी) के संबंध में मनोरोध आदि ध्यान की प्राप्ति का क्रम है, शेष के लिए तो यथायोग्य समाधान कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> ध्यान का मन-वचन और काया क योग के साथ संबंध है। छद्मस्थ के ध्यान में तो मन-वचन और काया के व्यापारों का कोई निश्चित क्रम नहीं होता है, परंतु शास्त्रकार केवली भगवंत के शुक्ल, ध्यान के संबंध में स्पष्ट कहते हैं। केवलज्ञानी महापुरुषों का मोक्ष प्राप्त करने का जब अति निकट समय हो, अर्थात् शैलेशीकरण के पहले का अंतर्मुहूर्त्त का काल हो, तब उन्हें शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद ध्यान के चलते हैं। उस समय वे योग निरोध करते हैं, अर्थात् योग का निग्रह करते हैं। इसमें क्रम होता है। वे सर्वप्रथम बादरकाययोग का आश्रय लेकर बादरवचनयोग को, बादरमनोयोग को और श्वासोच्छ्वास को रोकते हैं, फिर सूक्ष्म काययोग से बादरकाययोग, सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग और अंत में सूक्ष्म काययोग को रोकते हैं। इस प्रकार मन-वचन और काया के योगों के निरोध का क्रम निश्चित होता है। यह तो केवलज्ञानी के अंतिम समय में शुक्लध्यान की चर्चा है, परंतु जो नीचे के गुणस्थान पर स्थित हैं, उनके लिए ध्यान-प्राप्ति का निश्चित क्रम नहीं होता है। उन्हें जिस क्रम से योग का समाधान हो, अर्थात् ध्यानयोग में स्थिरता प्राप्त हो, वैसा करना चाहिए।

इतना आवश्यक है कि निम्न भूमिका वाले को मन को स्थिर करने के लिए आलंबन लेना पड़ता है, तब ही वह मन-वचन और काया का ध्यान में स्थिर कर सकता है। केवलज्ञानी को छोड़कर शेष योगियों के लिए योगों को स्थिर करने का क्रम निश्चित नहीं होता है।

(६१२) **आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात्।**
धर्मध्यानोपयुक्तानां ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम्।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> धर्मध्यान से युक्त योगियों द्वारा आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान पर चिंतन करने से, वह (धर्मध्यान) चार प्रकार का होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान - इन दो अशुभ ध्यानों को दूर करने के लिए शुभ ध्यान करना चाहिए। चूंकि मनुष्य का मन अति चंचल है, वह खाली नहीं रह सकता है, अतः अशुभ से तोड़ने के लिए मन को शुभ में जोड़ना आवश्यक है। जाग्रतिपूर्वक अशुभ ध्यान को रोककर शुभ ध्यान में चित्त लगाने पर, उसमें रस पैदा करने पर, अशुभ ध्यान स्वतः छूट जाता है। आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान से बचाने वाला धर्मध्यान है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के चार प्रमुख कारण हैं। (१) विषयराग (२) हिंसा आदि पापों में तीव्र रस और निर्भयता (३) अहंकार और दीनता (४) अज्ञान और मूढ़ता। धर्मध्यान के चार प्रकार इन चार कारणों का निरसन करने वाले हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति महाराज ने धर्मध्यान की परिभाषा इस प्रकार दी है- आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्त- संयतस्य (६/३७) (१) आज्ञा (२) उपाय (३) विपाक और (४) संस्थान-इन पर चिंतन करने के लिए चित्त को एकाग्र करना धर्मध्यान है। ग्रंथकार ने भी प्रस्तुत श्लोक में धर्मध्यान के चार प्रकार बताए हैं -

(१) आज्ञाविचय - वीतराग और सर्वज्ञदेवों की क्या आज्ञा है और वह कैसी होना चाहिए, उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार वीतराग आज्ञा के विषय में मनोयोग लगाना आज्ञाविचय है। इसमें जिनेश्वरदेवों की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए इस प्रकार चिंतन किया जाता है कि यह वीतराग-वाणी परम सत्य है, तथ्य है, निश्शंक है। यह संसार-सागर से पार उतारने वाली, पापपंक को नष्ट करने वाली और परम कल्याणकारी है। परमात्मा के वचनों में विषयराग का त्याग तथा सम्यक्चारित्र का बोध आ जाता है। वीतराग प्ररूपित धर्म में जिस भूमिका पर जिस कर्त्तव्य की अनुज्ञा दी गई है, उसके विषय में चिंतन की धारा को प्रवाहित करना चाहिए। किसी सूक्ष्म विषय में अपनी मतिमन्दता तथा योग्य उपदेशदाता के अभाव में स्पष्ट निर्णय की स्थिति न बन सके, उस समय वीतराग की आज्ञा को ही प्रमाण मानना

चाहिए। एक बार जिनवाणी का रस लग जाने के बाद विषयों के प्रति रस स्वतः समाप्त हो जाता है।

(२) अपायविचय - हिंसादि पापों से और राग-द्वेष-कषाय आदि के दुष्परिणामों के चिंतन में मन को एकाग्र करना अपायविषय-धर्मध्यान है। राग-द्वेषादि से कैसे-कैसे अनर्थों का जन्म होता है एवं जीव को कैसे-कैसे कष्ट भोगना पड़ते हैं। जैसे महाव्याधि से पीड़ित पुरुष के लिए अपथ्य अन्न की इच्छा हानिप्रद है, वैसे ही राग भी जीव के लिए हानिप्रद एवं दुःखदायी है। जैसे कोटर में रही हुई अग्नि वृक्ष को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही द्वेष प्राणी के गुणों को नष्ट कर देता है। चारों कषाय, क्रोध, मान, माया और लोभ - ये संसाररूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करने वाले हैं। इस प्रकार चिंतन करने से पापों के प्रति घृणा हो जाती है और दोषों को दूर करने की भावना होती है। हिंसादि आस्रवों से अर्जित पापकर्मों से जीव चिरकाल तक नरकादि नीच गतियों में भ्रमण करता हुआ दुःखों का पात्र बन जाता है। इस प्रकार दोषों के दुष्परिणामों का चिंतन करना और उनसे बचने की भावना करना अपायविचय-धर्मध्यान है।

(३) विपाकविचय - अनुभव में आने वाले शुभाशुभ कर्मफालों में से कौन-सा फल किस कर्म के कारण है, कौनसे कर्म का क्या फल है, इसके विचारार्थ मनोयोग को लगाना विपाकविचय है। आत्मा अपने द्वारा किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल पाती है। अपने कर्म ही सुख-दुःख के दाता हैं, कोई अन्य नहीं। कषाय और योग के निमित्त से आत्मा के साथ कर्मों का प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध होता है इत्यादि कर्मविषयक चिंतन में मन को एकाग्र करना विपाकविचय नामक धर्मध्यान है। कर्मसिद्धांत पर अटल विश्वास हो जाने के बाद व्यक्ति सुख में लीन और दुःख में दीन नहीं बनता है। इससे उसका अभिमान व दीनता का दोष चला जाता है।

(४) संस्थान विचय - धर्मध्यान का चौथा प्रकार संस्थानविचय है। संस्थान, अर्थात् संरचना, व्यवस्था, स्थिति इत्यादि। यहाँ चौदह राजलोक और जीव-अजीवादि छः द्रव्यों की स्थिति कैसी है ? और इस विराट् विश्व की व्यवस्था कितनी अद्भुत है - यह चिंतन करते-करते स्वयं की अल्पता तथा विश्व के रहस्यों को समझने की स्वयं की अशक्ति इत्यादि की प्रतीति होती

है। जैसे-जैसे रहस्य समझ में आता है, वैसे-वैसे जीव की मूढ़ता (मोह) दूर हो जाती है। इस प्रकार धर्मध्यान अशुभ ध्यान को अवरुद्ध करता है। अभ्यास के प्रारंभ में तो आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि के विषय में सामान्य चिंतन चलता है, परंतु बाद में वह चिंतन धारारूप बन जाता है। इसमें गहनता, लीनता और तन्मयता आती है, तब वह धर्मध्यान में परिणत हो जाता है।

(६१३) नयभंगप्रमाणाढ्यां हेतूदाहरणान्विताम्।
आज्ञां ध्यायेज्जिनेन्द्राणामप्रामाण्याकलंकिताम्।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> नयभंग और प्रमाण से व्याप्त, हेतु और उदाहरण से युक्त तथा प्रामाणिक- ऐसी जिनेश्वर की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> धर्मध्यान के चार प्रकारों में प्रथम आज्ञाविचय है, अर्थात् जिनेश्वर की आज्ञा पर चिंतन करना। परमात्मा की वाणी कैसी है ? अर्थात् जिनेश्वर का स्वरूप प्रस्तुत श्लोक में दर्शाया गया है। जिनवाणी की महिमा अनेक शास्त्रकार भिन्न-भिन्न विशेषणों द्वारा दर्शाते रहे हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने भी जिनवाणी के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण यहाँ दर्शाये हैं।

जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा जगत् के अंधकार को नष्ट करने में दीपक के समान होती है। जिनवाणी नयभंग और प्रमाणों से समृद्ध है। नय, अर्थात् एक अपेक्षा अथवा एक दृष्टिकोण, भंग अर्थात् प्रकार, प्रमाण अर्थात् सर्वांश, जो वस्तु के संपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करे। जिनवाणी का कोई भी कथन नय के बिना नहीं कहा गया है, अर्थात् कोई भी कथन निरपेक्ष नहीं है, एकांत नहीं है। प्रत्येक कथन किसी-न-किसी अपेक्षा को दृष्टिकोण में रखकर कहा गया है। वस्तु को सूक्ष्मता से निरीक्षण करना हो, तो नय की आवश्यकता पड़ती है। दो नय परस्पर विरुद्ध होते हैं, तो भी दोनों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे- पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है और द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा से आत्मा नित्य है। नय पदार्थ का अनेकांतिक दर्शन कराता है।

जिनेश्वर भगवान की वाणी नय और प्रमाण से युक्त संपूर्ण होने के कारण उसमें कोई त्रुटि या तर्कदोष नहीं बता सकता है।

जिनेश्वर भगवान् की वाणी हेतु और उदाहरणों से युक्त होती है। कितने ही जीवों को समझाने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है। हेतु, अर्थात् प्रयोजन, किसी कथन का क्या प्रयोजन है ? किसलिए वह कथन कहा गया ? आदि स्पष्ट होते हैं, साथ ही किसी सत्य घटना या कल्पित दृष्टांत द्वारा अत्यंत सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। कितने ही व्यक्ति को ज्ञानावरणीय-कर्म के उदय के कारण, मंदबुद्धि होने से हेतु तथा उदाहरण के अभाव में तात्त्विक-बात समझ में नहीं आती है, परंतु जिनवाणी सरस एवं सरल होने से, उदाहरणों से युक्त होने से सभी को समझ में आनेवाली होती है। संसार से संतप्त लोगों के लिए वह गोशीर्ष-चंदन के समान शीतल है।

परमात्मा की वाणी प्रामाणिक है। प्रत्यक्षप्रमाण, परोक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, उपमानप्रमाण आदि विविध प्रकार के प्रमाण हैं। परमात्मा की वाणी सभी प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध है। प्रमाणयुक्त होने से वह अपूर्ण नहीं है, असत्य नहीं है, अमृत जैसी मीठी है और परम कल्याण करने वाली, महासामर्थ्यवाली तथा पापरहित है, महान् अर्थवाली है। अनादिकाल से उसी स्वरूप में रही हुई है और महामूल्यवान् है। इस प्रकार जिनवाणी की महिमा जानकर उस पर अत्यंत भक्ति बहुमान करना चाहिए तथा उसका चिंतन-मनन करके अपने मन को एकाग्र करना चाहिए।

(६१४) रागद्वेषकषायादिपीड़ितानां जनुष्मताम्।
ऐहिकामुष्मिकांस्तांस्तान्नापायान् विचिन्तयेत्।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> राग, द्वेष, कषाय आदि से पीड़ित जीवों के ऐहिक और परलोक संबंधी उन-उन विविध प्रकार के उपायों (कष्टों) का विचार करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> धर्मध्यान का दूसरा प्रकार अपायविचय है। अपाय, अर्थात् कष्ट, दुःख, अनर्थ। जीव अनादिकाल से चौरासी लाख योनियों में भवभ्रमण करते हुए कितने ही कष्टों का, अनर्थों का अनुभव करता है। भवभ्रमण का कारण कर्म और कर्म का कारण कषाय है। राग-द्वेषरूपी भावों से युक्त होने के कारण जीव कर्मबंध करता है। कर्मसंयोग के कारण उसे चतुर्गति में जन्म लेना पड़ता है और जन्म लेने से शरीर का संयोग होता है। शरीर में

इन्द्रियों की व्यवस्था होती है, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। विषयभोग में जीव राग-द्वेष करता है, राग-द्वेष से पुनः कर्मबंधन होता है - यह क्रम सतत चलता रहता है। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष को कर्म का बीज कहा गया है। राग-द्वेष करना जीव का स्वभाव नहीं है, परंतु विभाव दशा में अज्ञानता के कारण जीव राग से, द्वेष से कषाय करके अत्यंत दुःख उठाता है। राग से लोभ का जन्म होता है और क्रोध से अहंकार का जन्म होता है। दृष्टि राग, कामराग, स्नेहराग और द्वेष रूपी अग्नि से जीवन में दुःख, अशांति, आकुलता, व्याकुलता का अनुभव होता है। चारों कषायों और मिथ्यात्व से भयंकर अनर्थों का जन्म होता है और भारी कर्मबंध होते हैं। ऐहिक और पारलौकिक-ऐसे तमाम दुःखों, अपायों, अनर्थों का मूल राग और द्वेष है। इस प्रकार अपायविचय नामक धर्मध्यान से आर्त्तध्यान अटकता है।

(६१५) ध्यायेत्कर्मविपाकं च तं तं योगानुभावजम्।
प्रकृत्यादिचतुर्भेदं शुभाशुभविभागतः।।३८।।

<u>अनुवाद -</u> उन-उन योग के प्रभाव से उत्पन्न हुए और प्रकृति आदि चार प्रकार के कर्मों के विपाक का शुभ और अशुभ के विभाग से ध्यान करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> धर्मध्यान का तीसरा प्रकार विपाकविचय है, अर्थात् कर्म के फल के विषय में चिंतन करना विपाकविचय है।

इस संसार में कितनी ही विषमताएँ देखने को मिलती हैं, शुभ-अशुभ फल देखने को मिलते हैं। सारा विश्व कर्म के अधीन है। कर्मसत्ता जीव को कैसे-कैसे नाच नचा रही है। कोई दुःखी है, कोई सुखी, कोई मंदबुद्धि है, किसी को बहुत परिश्रम करने के बाद भी याद नहीं होता है, तो किसी को अल्प परिश्रम करने पर ही सफलता मिल जाती है। कोई व्यक्ति आफिस में बैठे-बैठे टेलीफोन का डायल घुमाता है और हजारों रुपए कमा लेता है, कोई कष्टपूर्वक मजदूरी करने पर, अत्यंत परिश्रम करने पर भी निर्धन रहता है। यह निर्धनता सती स्त्री की तरह पीछा नहीं छोड़ती है। किसी को सुंदर गुणवती पत्नी मिली है, जिसने घर को स्वर्ग बना दिया। किसी को बहुत खोज करने के बाद भी, अनेक योग्यता होने पर भी पत्नी

कर्कशा मिली, जिसने क्लेश करके जीवन को जहर बना दिया। किसी को शरीर रोगिष्ठ मिला, किसी को अत्यंत स्वस्थ शरीर मिला। किसी का पुत्र विनयवान्, किसी का पुत्र अति-उद्दण्ड है। यह सब क्यों ? जो कर्मसिद्धान्त के रहस्य को जानते हैं, उन्हें ये सब विषमताएँ आसानी से समझ में आ जाती हैं। किसी व्यक्ति की अज्ञान, मूर्खता और मंदबुद्धि को देखकर उसके ज्ञानावरणीयकर्म का चिंतन करना चाहिए। किसी को निरोगी, स्वस्थ देखकर उसके सातावेदनीयकर्म का विपाक तथा किसी को रुग्ण, बीमार, सड़ते-गलते देखकर उसके असातावेदनीयकर्म के विपाक को जानना चाहिए। घर में विवाह का उत्सव हो, संपूर्ण तैयारियाँ हो गई हों और दूसरे ही दिन अखबार में यह समाचार छपवाना पड़े कि अनिवार्य संयोग के कारण विवाह अभी निरस्त कर दिया गया है, तो अंतरायकर्म का कैसा उदय समझ में आता है। स्वयं की पढ़ी - लिखी, सुंदर, समझदार लड़की, स्वयं के विधर्मी, अनपढ़, गरीब ड्रायवर के साथ भागकर विवाह कर ले तो मोहनीयकर्म का यह कैसा उदय समझना चाहिए। किसी को मनुष्यरूप में, किसी को पशुरूप में, किसी को देवरूप में, किसी को नारकीय-जीवन के रूप में देखकर उसके आयुष्यकर्म और गतिनामकर्म के विपाक का चिंतन करना चाहिए। किसी को बाल्यावस्था में, किसी को युवावस्था में, किसी को वृद्धावस्था में मरते हुए देखकर उसके आयुष्यकर्म का परिणाम समझना चाहिए। किसी को सौभाग्यशाली, किसी को दुर्भागी, किसी को सफल, किसी को असफल, किसी को मृदुभाषी, किसी को कटुभाषी, किसी को खूबसूरत, किसी को बदसूरत, किसी को हंसगति वाला, तो किसी को ऊँट गति वाला देखकर उसके नामकर्म का विपाक समझना चाहिए। जो कर्म के विपाकों का चिंतन करता है, वह विषम, प्रतिकूल प्रसंग में भी यह कैसे हुआ? यह किस तरह संभव है? आदि प्रश्न उपस्थित करके उद्विग्न नहीं होता है। कर्मविपाक के विज्ञान और कर्मबंध के विज्ञान को जानने वाले को सुख-दुःख के द्वंद्व स्पर्श नहीं कर पाते हैं। कर्मोदय चाहे शुभ हो या अशुभ वे उसमें खो कर किसी प्रकार की सुख-दुःख की कल्पना नहीं करते हैं। दीनता-हीनता और हर्षोन्माद के चक्रवात से बचने का यह एक वैज्ञानिक-मार्ग है। संसार की प्रत्येक घटना के पीछे रहे हुए कर्मतत्त्व की गहरी और वास्तविक जानकारी, चिंतन-मनन करने से दीनता और अभिमान, विस्मय आदि नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार के धर्मध्यान में कर्म के विपाक तथा मन-वचन-काया के योग से बंधाते हुए कर्म और कर्म की प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश आदि पर चिंतन करना चाहिए।

कर्म की प्रकृति, अर्थात् स्वभाव - बंधाते हुए कर्मों में से भी कोई आत्मा के ज्ञानगुण को आवरित करता है, कोई दर्शनगुण को आवरित करता है, किसी कर्म का स्वभाव, साता-असाता प्रदान करने का होता है, अतः उनके स्वभाव के आधार पर भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय आदि आठ प्रकार के कर्म होते हैं। स्थिति, अर्थात् आत्मा के साथ उस-उस कर्म के रहने का काल निश्चित होना स्थितिबंध है, जैसे- किसी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम, किसी की ३०, किसी की ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति है।

रसबंध - रसबन्ध, अर्थात् कर्म की तीव्रता-मंदता, यानी प्रतिसमय बंधाते हुए शुभ या अशुभ कर्म की तीव्रता या मंदता के आधार पर कर्म का फल तीव्र या मंद आदि होना। प्रदेश, अर्थात् आत्मप्रदेश से कर्मप्रदेशों का कम मात्रा में या अधिक मात्रा में जुड़ना, प्रदेशबंध। ये आठ प्रकार के कर्म मन-वचन-काया के योग से बंधते हैं। वे स्पृष्ट, बद्ध और निकाचित प्रकार से बंधते हैं यदि वे कर्म शुभ होते हैं, तो सुख का अनुभव कराने वाले तथा अशुभ होते हैं, तो दुःख का अनुभव कराने वाले होते हैं। इस प्रकार धर्मध्यान का ध्याता कर्मविपाक का चिंतन कर सकता है।

(६१६) **उत्पादस्थितिभंगादिपर्यायैर्लक्षणैः पृथक्।**
भेदैर्णामादिभिर्लोकसंस्थानं चिन्तयेद्भृतम्।।३६।।

<u>अनुवाद</u> - उत्पत्ति, स्थिति, विनाश आदि पर्यायरूपी लक्षणों द्वारा तथा नाम आदि पृथक भेदों से युक्त लोकसंस्थान का चिंतन करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ</u> - चौथे प्रकार का धर्मध्यान संस्थानविचय है। इस प्रकार के धर्मध्यान में चौदह राजलोक समग्र संसार का चिंतन किया जाता है। इस संसार में छः द्रव्य हैं- जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। इन छः द्रव्यों के लक्षण, आकृति, आधार, प्रकार आदि तथा उत्पाद-व्यय से युक्त पर्यायों का चिंतन

किया जाता है। यह संसार सब पर्यायों का खेल है। पर्यायों के आधार पर ही संबंध बनते हैं। कोई भी वस्तु या जीव द्रव्यरूप में नित्य और पर्यायरूप में अनित्य है। पर्याय बनती हैं और बिगड़ती हैं। पर्याय की उत्पत्ति होती है और नाश होता है, किन्तु द्रव्यरूप में वस्तु नित्य है। पर्याय को पर्यायरूप में देखें, तो धर्मध्यान और पर्याय को ही यथार्थ समझकर राग-द्वेष करें, तो कर्मबंध होता है। पुन; नाम, स्थान, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, लोक- इस प्रकार आठ भेद से भी लोक का चिंतन किया जाता है। देवलोक, नरक आदि सहित चौदह राजलोक के संबंध में चिंतन किया जा सकता है। जीव के लक्षण, देह की नश्वरता, कर्म का कर्त्ता, कर्म का भोक्ता इत्यादि दृष्टि से भी ध्यान कर सकते हैं। संसार एक समुद्र है और चारित्ररूपी जहाज से पार पहुँचकर मोक्षनगरी में जा सकते हैं, इत्यादि प्रकार का भी ध्यान कर सकते हैं। इस प्रकार संस्थानविचय में पदार्थों का चिंतन विस्तार से कर सकते हैं।

(६१७) चिन्तयेत्तत्र कर्तारं भोक्तारं निजकर्मणाम्।
अरूपमव्ययं जीवमुपयोगस्वलक्षणम्।।४०।।

अनुवाद - जीव उपयोगरूपी स्वलक्षणवाला, स्वयं के कर्म का कर्त्ता और भोक्ता है, अरूपी है, अव्यय है, इसका इसमें (संस्थानविचय में) चिंतन करना चाहिए।

विशेषार्थ - संस्थानविचय नामक धर्मध्यान में चौदहराजलोक उपरांत छः द्रव्यों में मुख्य ऐसे जीवद्रव्य का भी चिन्तन करना चाहिए। जीव के संसारी और सिद्ध-दोनों स्वरूपों के विषय में क्या चिन्तन करना है ? जीव के स्वरूप और उसके लक्षणों का चिन्तन अत्यंत गहन, गंभीर, विशाल है, अतः उनमें से कुछ लक्षणों को ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में दर्शाया है।

(१) जीव स्वकर्म का कर्त्ता है - अध्यात्म की दृष्टि से जीव का जैसे शुद्धस्वरूप जानना आवश्यक है जिससे उसको प्राप्त किया जा सके, वैसे ही जीव के अशुद्ध स्वरूप को भी जानना आवश्यक है, जिससे उसे हेय समझकर उससे मुक्त होने की भावना उत्पन्न हो। जीव, अर्थात् आत्मा स्वभाव से शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, इसलिए वह अपने स्वरूप का कर्त्ता है किन्तु इस संसार में अनादिकाल से वह अशुद्धावस्था, अर्थात् कर्मयुक्त

अवस्था वाला है। आत्मा और कर्म का संयोग अनादि है। विभावदशा में अज्ञानता के कारण जीव कर्म का कर्त्ता तथा भोक्ता है। शरीर और इन्द्रियाँ तो साधनमात्र हैं, वे कर्त्ता-भोक्ता नहीं हैं, परंतु यह आत्मा शरीर और इन्द्रियों द्वारा योग और कषाय के वश होकर कर्म करती है और पूर्वबद्ध कर्म को भोगती है। जब तक केवलज्ञान और मोक्षगति प्राप्त नहीं हो, तब तक कर्म बांधने और उसका फल भोगने की यह प्रक्रिया निरंतर भवभवांतर में चलती रहेगी। अतः, इस संसार में जीव स्वयं अपने सुख और दुःख का कर्त्ता है। आत्मा यदि जाग्रत हो जाए, तो वह पुण्योदय से प्राप्त मोक्ष के हेतुभूत मनुष्य-जन्म आदि सामग्री का सदुपयोग करके, कर्मों का क्षय करके हमेशा के लिए कर्मों से मुक्त हो सकती है।

(२) जीव स्वकर्म का भोक्ता है - जीव स्वभाव से तो स्वयं के स्वरूप का भोक्ता है, परंतु विभावदशा में अज्ञान के कारण बचे हुए कर्म का भी भोक्ता है, और जब तक संपूर्ण कर्मों का क्षय नहीं होता है, तब तक बाँधे हुए कर्म उदय में आते रहते हैं। यदि जीव कर्म को भोगने में आसक्त हो जाता है, तो पुनः नए कर्मों का उपार्जन होता है। जीव यदि अनासक्त-भाव से बाँधे हुए कर्म को भोगे, उनमें राग-द्वेष नहीं करे, तो नए कर्म नहीं बंधते हैं।

(३) जीव अरूपी है - आत्मा स्वभाव से शुद्ध, निरंजन, निराकार, अशरीरी एवं अरूपी है। जब सभी कर्म से मुक्त हुए जीव सिद्धशिला पर विराजमान होते हैं, तब वे अरूपी ही होते हैं और अनंतकालपर्यंत अरूपी ही रहते हैं। जीव संसार में स्वकर्म के कारण, जड़ द्रव्य के आवरण के कारण शरीरधारी दिखाई देता है, आकृतिवाला दिखाई देता है, परंतु यह उसकी विभावदशा है, कर्मकृत अवस्था है। वस्तुतः, जीव अरूपी ही है।

(४) अव्यय - अव्यय, अर्थात् जिसका व्यय न हो, अर्थात् अविनाशी। जो नाश होता है, वह पर्यायों का होता है। आत्मा तो द्रव्यरूप में नित्य है, उसका कभी नाश नहीं होता है। वह कभी उत्पन्न नहीं होती है। आत्मा तो अजर अमर है अनुत्पन्न और अनादि है। अमुक काल में इसकी उत्पत्ति हुई हो - ऐसा नहीं है, परंतु अनादिकाल से कर्मसंयोग के कारण यह जो देह धारण करती है, उसके जन्म-मरण की क्रिया चलती रहती है। ढांचे

बदलते रहते हैं, नष्ट होते हैं और नए उत्पन्न होते हैं, परंतु माल (द्रव्य) तो वही रहता है। आत्मा एक देह का त्याग कर दूसरी देह धारण करती है, परंतु रूपी आत्मा जब सभी कर्मों का क्षय करके शुद्ध स्वरूप में प्रकट होती है, सिद्धशिला पर स्थित होती है, तब वह अव्यय, अरूपी, अविनाशी होती है।

(५) उपयोग-लक्षण - उपयोग जीव का लक्षण है। उप, अर्थात् पास और योग, अर्थात् जुड़ना। जीव जिसके साथ दृढ़ रूप से जुड़ा हो, वह उपयोग है। ज्ञान और दर्शन के साथ दृढ़ रूप से जुड़ा हुआ होने के कारण जीव ज्ञानोपयोग वाला और दर्शनोपयोग वाला होता है। जीव का साकार उपयोग या विशेष उपयोग ज्ञानोपयोग है। यह मतिज्ञान आदि की दृष्टि से पाँच ज्ञान एवं तीन अज्ञान मिलकर आठ प्रकार का होता है। निराकार उपयोग या सामान्य उपयोग को दर्शन-उपयोग कहते हैं। यह चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन की अपेक्षा से चार प्रकार का होता है। इस श्लोक में जीव के पाँच लक्षण बताए गए हैं। दो लक्षण जीव के अशुद्धस्वरूप के, अर्थात् संसारी-अवस्था के एवं तीन लक्षण कर्मयुक्त अवस्था के हैं। इस प्रकार जीव के स्वरूप को जानकर उसका चिन्तन-मनन करना भी धर्मध्यान है।

(६१८) तत् कर्मजनितं जन्मजरामरणवारिणा।
पूर्णं मोहमहावर्तं कामौर्वानलभीषणम्।।४१।।

(६१९) आशामहानिलापूर्णकषाय-कलशोच्छलत्।
असद्विकल्पकल्लोलचक्रं दधतमुद्धतम्।।४२।।

(६२०) हृदि श्रोतसिकावेलासंपातदुरतिक्रमम्।
प्रार्थनावल्लिसंतानं दुष्पूरविषयोदरम्।।४३।।

(६२१) अज्ञानदुर्दिनं व्यापद्वियुत्पातोद्भवद्भयम्।
कदाग्रहकुवातेन हृदयोत्कंपकारिणम्।।४४।।

(६२२) विविध व्याधि संबंधमत्स्यकच्छपसंकुलम्।
चिंतयेच्च भवांभोधिं चलद्दोषाद्रिदुर्गमम्।।४५।।

अनुवाद - वह (भवसमुद्र) कर्म से उत्पन्न हुआ, जन्म-जरा-मरणरूपी जल से भरा हुआ, मोह के बड़े भँवर (आवर्त्त) से युक्त कामरूपी बड़वानल से भीषण बना हुआ, आशारूपी महावायु से पूर्ण, कषायरूपी कलशों से उछलता हुआ, असत् विकल्परूपी उद्धत तरंगों के समूह को धारण करता हुआ, हृदय में विषयवासनाओं, इच्छाओंरूपी ज्वार (भरती) के कारण अत्यंत कष्टपूर्वक पार कर सके - ऐसा, प्रार्थना या याचना (वासनाओं के संतोष के लिए) - रूपी लहरों की परंपरावाला, कठिनतापूर्वक तृप्त (क्षणिक) हो ऐसे विषयरूपी उदर (मध्यभाग) वाला, अज्ञानरूपी दुर्दिन वाला, विपत्तिरूपी बिजली के गिरने से भय को उत्पन्न करने वाला, कदाग्रहरूपी दुष्ट वायु द्वारा हृदय को कंपित करने वाला तथा विविध प्रकार की व्याधियोंरूपी मत्स्य एवं कछुओं से पूर्ण दोषरूपी चलायमान् (ग्लेशियर) पर्वतों से दुर्गम - ऐसे भवसमुद्र का चिंतन करना चाहिए।

विशेषार्थ - इन पाँच श्लोकों में संसाररूपी सागर का वर्णन किया गया है। विशाल संसाररूपी सागर कभी सूखता नहीं है तथा इसमें प्रतिदिन जन्मरूपी भरती और मृत्युरूपी ओट उठती हुई होने से, प्राचीनकाल से कविगण संसार का रूपक देते आए हैं। जिस तरह तूफानी-समुद्र को पार करना मुश्किल होता है, वैसे ही राग-द्वेषरूपी तूफानों से युक्त संसाररूपी समुद्र को भी पार करना अत्यंत मुश्किल है। विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित "ध्यान-शतक" में संसार-सागर के अंगों की जो उपमाएँ दी हैं, उस पर श्री हरिभद्रसूरिजी ने टीका रची है। उसके आधार पर उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने इस संसार को समुद्र से उपमा देकर इसके विभिन्न अंगों को दर्शाया है। (१) यह संसाररूपी समुद्र कर्म से उत्पन्न हुआ है। कर्म अनादि है, इसलिए संसार भी अनादि है और सभी जीवों की अपेक्षा से संसार का अंत भी नहीं है। (२) वह जन्म-जरा-मरणरूपी जल से भरा हुआ है। यह जल कभी भी सूखता नहीं है। संसार में निरंतर जन्म-जरा और मृत्यु आदि चलते ही रहते हैं। (३) यह मोह रूपी बड़े भूंवर (आवर्त्त) वाला है। जैसे भँवर में जहाज आदि फँस जाते हैं, तो वे डूब जाते हैं वैसे ही मोहनीय-कर्म भँवर के समान है। जीव इसमें फँस जाता है, तो संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है। (४) संसार

कामरूपी बड़वानल से भीषण बना हुआ है। जैसे समुद्र में लगी हुई आग पर काबू पाना मुश्किल है, वैसे ही कामरूपी अग्नि के उत्पन्न होने पर, उस पर भी काबू पाना मुश्किल है। (५) वह आशारूपी वायु से भरा हुआ है। इच्छाओं, आकांक्षाओं, आशाओं पर संसारी-प्राणी जीवित रहते हैं। कोई-न-कोई आशा बनी हुई रहती है। (६) वह क्रोधादि कषायरूपी पाताल-कलशों से उछलता रहता है। जैसे लवण समुद्र में चार महाकलश हैं, इन्हें, पाताल-कलश भी कहा जाता है। समुद्र में भरती आने का कारण जलराशि उछलना है और जलराशि के उछलने का कारण समुद्र में रहे हुए पाताल-कलश हैं। संसार में भी क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चार पाताल-कलश हैं, जिससे संसार खलबलाता है। (७) संसाररूपी समुद्र में असत् विकल्परूपी भयंकर लहरें उठती रहती है। (८) संसाररूपी समुद्र में हृदय में उठती हुई वासनाओं के प्रबल प्रवाह के कारण उसको पार करना मुश्किल है। वासनाओं की पूर्ति कभी नहीं होती है। (९) संसार रूपी समुद्र सुख की प्रार्थनारूपी लहरियों की परंपरा वाला है। सभी संसारी प्राणी सुख चाहते हैं, सुख की तलाश करते हैं, उसके लिए प्रार्थना करते हैं। सुख की तलाश में उन्हें अधिकतर दुःख ही मिलता है। क्योंकि सुख की प्रार्थना, तलाश ही दुख है। (१०) यह तृप्त विषयरूपी उदरवाला है। कामना पूर्ति या विष्यसुख को जितना भोगा जाता है, व्यक्ति उसका आदी हो जाता है। तब सुख पाने के लिए नयी कामना की उत्पत्ति होती है, परंतु भोग से तृप्ति हो जाए एवं फिर नई कामना की उत्पत्ति न हो - ऐसा संभव नहीं है। (११) यह संसार अज्ञान (मिथ्यात्व)-रूपी दुर्दिन वाला है। (१२) यह संसार आपत्ति रूपी बिजली के गिरने से भयजनक है। यहाँ निरंतर संकट आते रहते हैं। जीवन में दुःख सदा ही बना रहने वाला है। जीव एक सुख को प्राप्त करने जाता है, तो अनेकों दुःख आकर खड़े हो जाते हैं। (१३) यह संसार कदाग्रहरूपी दुष्ट वायु द्वारा हृदय में कंपन उत्पन्न करने वाला है। (१४) यह संसार रूपी समुद्र व्याधियों रूपी मछलियों और कछुओं से भरपूर है। "शरीरं व्याधि मंदिरं", शरीर को रोगों का घर कहा गया है, क्योंकि यहाँ प्राणी कोई-न-कोई व्याधि से ग्रस्त ही रहते हैं। (१५) यह संसाररूपी समुद्र दोषरूपी जंगम और चलायमान विशाल हिमशैलखण्डों से दुर्गम है। जैसे बर्फ

के पर्वत से टकराकर जहाज आदि नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही सांसारिक-जीवन में अनेक दोष व्यक्ति के जीवन को नष्ट कर देते हैं।

इस तरह जन्म, जरा, मृत्यु, अज्ञान, मिथ्यात्व, वासना, कषाय, परिग्रह, व्याधियों, आपत्तियों आदि से परिपूर्ण संसार भयंकर है। इस प्रकार चिंतन करने से संसार के प्रति राग नष्ट होता है और धर्मध्यान में स्थिरता आती है।

(६२३) तस्य संतरणोपायं सम्यक्तवदृढबंधनम्।
बहुशीलांगफलकं ज्ञान निर्यामिकान्वितम्।।४६।।

(६२४) संवरास्ताश्रवच्छिद्रं गुप्तिगुप्तं समन्ततः।
आचारमंउपोद्दीपतापवादोत्सर्गभूद्वयम्।।४७।।

(६२५) असंख्यै दुर्धरैर्योधैर्दुष्प्रधृष्यं सदाशयैः।
सद्योगकूपस्तंभाग्रन्यसताध्यात्मसितांशुकम्।।४८।।

(६२६) तपोऽनुकूलपवनोद्भूतसंवेगवेगतः।
वैराग्यमार्गपतितं चारित्रवहनं श्रिताः।।४६।।

(६२७) सद्भावनाख्यमंजूषान्यस्तसच्चित्तरत्नतः।
यथाऽविघ्नेन गच्छन्ति निर्वाणनगरं बुधाः।।५०।।

<u>अनुवाद</u> - उसे (संसाररूपी सागर को) तैरने के उपाय के रूप में सम्यक्त्वरूपी दृढ़बंधन वाले, बहुशीलांगरूपी पटिए (या नाव), साथ में ज्ञानरूपी निर्यामक-संवर द्वारा जिसके आसव-छिद्र बंद कर दिए गए हैं, चारों ओर से गुप्तियों द्वारा रक्षित है, अपवाद और उत्सर्गरूपी दो मंजिलों से युक्त और आचाररूपी मंडप से प्रदीप्त है, सदाशयरूपी असंख्य दुर्धर योद्धाओं के कारण अपराजित, सद्योगरूपी अनुकूल पवन से उत्पन्न हुए, संवेगरूपी वेग से वैराग्यरूपी मार्ग पर आरूढ़, चारित्ररूपी वाहन में बैठे हुए ज्ञानी सद्भावना नामक पेटी में शुद्ध चित्तरूपी रत्न रखकर निर्विघ्न रूप से निर्वाण-नगर में पहुँच जाते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - श्री जिनभद्रगणि ने ध्यानशतक में संसाररूपी सागर को तैरने के लिए चारित्ररूपी जहाज की उपमा दी है। उसी का अनुसरण करते

हुए हरिभद्रसूरी और फिर उपाध्याय यशोविजयजी ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है। इसमें थोड़ा अंतर है। सागर बहुत विशाल, गहन तूफानी हो, तो उसे पार करने के लिए साधन भी पूर्ण सुरक्षित और मजबूत होना चाहिए। यह संसाररूपी सागर मोह, मिथ्यात्व, कषाय, कदाग्रह, जन्म, मरण, व्याधियों से अत्यंत दुर्गम है, अतः इस विषम संसार को पार करने के लिए सामग्री और शक्ति भी अधिक चाहिए, इसलिए इस समुद्र को तरने के लिए चारित्ररूपी जहाज तैयार किया गया। शीलांगरूपी पटिए और सम्यक्त्वरूपी दृढ़ बंध से उसे बांधा गया। इसमें उत्सर्ग और अपवादरूपी दो मंजिले हैं तथा आचाररूपी मंडप तैयार किया गया है। इसमें मिथ्यात्व आदि आसवरूपी जो छिद्र हैं, इनसे कर्मरूपी पानी चारित्ररूपी जहाज में आता है, जिससे डूबने का भय रहता है, अतः उन छिद्रों को संवर (पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह भावना, बाईस परीषह, दस यतिधर्म और पॉच चारित्र) के द्वारा बंद कर दिया गया है। इसमें सद्योग रूपी कूपस्तंभ के ऊपर अध्यात्म रूपी श्वेत रेशमी वस्त्र बाँधा गया है जिससे जहाज को चलने में अनुकूलता रहै। सुकानीया नाविक के रूप में ज्ञान का चयन किया, क्योंकि ज्ञान से ही मार्ग प्रकाशित होता है। ज्ञान ही व्यक्ति को मोक्षमार्ग पर ले जाता है। वाहन के रक्षक के रूप में सदाशय रूपी योद्धाओं को लिया गया। इस वाहन में ज्ञानी बैठे हैं उनके पास में सद्भावना रूपी मंजूषा में शुद्ध उपयोग रूपी रत्न है। वाहन गतिमान हुआ और उसने वैराग्य रूपी दिशा पकड़ी। तप रूपी तीव्र अनुकूल पवन के कारण संवेग रूपी वेग प्राप्त हुआ। इस कारण यह जहाज सुरक्षित रूप से निर्वाणरूपी नगरी में पहुँच गया।

इस प्रकार संसाररूपी सागर और उसे पार करने के लिए चारित्ररूपी जहाज की उपमा संस्थानविचय नामक धर्मध्यान के लिए प्राचीन समय से दी जाती रही है। इस प्रकार इस संसाररूपी सागर के स्वरूप को समझने तथा उसे पार करने के लिए पूर्ण सुरक्षित चारित्ररूपी जहाज का चिंतन करने में ही बहुत समय निकल जाता है। इस प्रकार ध्याता इस धर्मध्यान में ठीक तरह से स्थिर हो जाता है। उसके चित्त में चंचलता या अन्य विकल्प आने की संभावना नहीं रहती है।

(६२८) यथा च मोहपल्लीशे लब्धव्यतिकरे सति।
संसारनाटकोच्छेदाशंकापंकाविले मुहुः।।५१।।

(६२९) सज्जीकृतस्वीयभटे नावं दुर्बुद्धिनामिकाम्।
श्रिते दुर्नीतिनौवृन्दारूढशेषभटान्विते।।५२।।

(६३०) आगच्छत्यथ धर्मेशभटौघे रणमंडपम्।
तत्वचिन्तादि-नाराचसज्जीभूते समाश्रिते।।५३।।

(६३१) मिथो लग्ने रणावेशे सम्यग्दर्शनमंत्रिणा।
मिथ्यात्वमंत्री विषमां प्राप्यते चरमां दशाम्।।५४।।

(६३२) लीलयैव निरूद्धयन्ते कषायचरटा अपि।
प्रशमादि महायोधैः शीलेन स्मरवस्करः।।५५।।

(६३३) हास्यादिषट्लुंटाकवृन्द वैराग्यसेनया।
निद्रादयश्च ताड्यन्ते श्रुतोयोगादिभिर्भटैः।।५६।।

(६३४) भटाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यांमार्त्तरौद्राभिधौ भटौ।
निग्रहेणेन्द्रियाणां च जीयते द्रागसंयमः।।५७।।

(६३५) क्षयोपशमतश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः।
नश्चत्यसातसैन्यं च पुण्योदयपराक्रमात्।।५८।।

(६३६) सह द्वेषगजेन्द्रेण रागकेसरिणा तथा।
सुतेन मोहभूपोऽपि धर्मभूपेन हन्यते।।५९।।

(६३७) ततः प्राप्तमहानंदा धर्मभूपप्रसादतः।
यथा कृतार्था जायन्ते साधवो व्यवहारिणः।।६०।।

<u>अनुवाद -</u> जब मोहराजा ने इस वृत्तान्त (घटना) को जाना, तो संसाररूपी नाटक के उच्छेद की शंकारूपी कीचड़ से बार-बार मलिन हुआ। उसने अपने सुभटों को तैयार करके दुर्बुद्धि नामक नौका में बैठाया और शेष को दुर्नीतिरूपी नौका में बैठाया। तब तत्वचिंतनादिरूपी बाणों से सजे हुए सुभटों के समूह के साथ धर्मराजा रणमैदान में आ पहुँचा। परस्पर उनके बीच रणयुद्ध होते ही सम्यग्दर्शनरूपी मंत्री द्वारा मिथ्यात्वरूपी मंत्री को मृतप्राय कर दिया गया। प्रशम आदि बड़े योद्धा कषायरूपी चोरों और शील

रूपी सुभटों द्वारा कामरूपी चोरों को क्षणमात्र में नष्ट कर दिया गया। हास्य आदि छः डाकुओं के समूह को वैराग्यरूपी सेना ने तथा निद्रा आदि को श्रुत-उद्योग आदि सुभटों ने मार गिराया। धर्म और शुक्लध्यानरूपी सुभटों ने आर्त्त और रौद्रध्यानरूपी योद्धाओं को जीत लिया और इन्द्रिय निग्रह द्वारा असंयम को तत्काल जीत लिया गया। क्षयोपशमरूपी सुभट से चक्षुदर्शनावरण आदि और पुण्योदयरूपी सुभट के पराक्रम से अशातारूपी सैन्य नष्ट हो जाते हैं। धर्मराजा द्वारा मोहरूपी राजा अपने द्वेषरूपी गजेन्द्र और रागरूपी केसरीसिंह नामक पुत्रों के साथ मारा जाता है। उसके बाद धर्मराजा की कृपा से जिसको महाआनंद प्राप्त हुआ, ऐसे साधुरूपी व्यापारी कृतार्थ हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ....

(६३८) चिन्तयेत्रथा सर्वं धर्मध्याननिविष्टधीः।
ईट्टगन्यदपि न्यस्तमर्थजातं यदागमे।।६१।।

अनुवाद - धर्मध्यान में जिसकी बुद्धि रम गई है, उसे आगम में निरूपित अन्य पदार्थों के विषय में भी चिंतन करना चाहिए।

विशेषार्थ - संसार रूपी सागर को तरने के लिए, निर्वाण-नगर में पहुँचने के लिए चारित्ररूपी जहाज में बैठकर मुनि निकलते हैं, परंतु यह अनुभव की बात है कि संयमयात्रा अत्यंत कठिन है तथा इसमें अनेक विघ्न आते हैं। इन विघ्नों पर विजय पाने के लिए तथा धर्मध्यान करने के लिए पूर्व श्लोक में सुंदर रूपक दिया गया है। मोहराजा को यह कभी सहन नहीं होता है कि धर्मरूपी राजा उस पर विजय प्राप्त कर उसे हृदयरूपी सिंहासन से च्युत कर दे, अतः दोनों में युद्ध होना स्वाभाविक है। किस तरह धर्मरूपी राजा ने अपने समकित रूपी मंत्री तथा शील, प्रशमादि सेना की सहायता से मोहरूपी राजा को पराजित किया। यह सुंदर रूपक धर्मध्यान धरने के लिए दिया गया है। संस्थान विचय धर्मध्यान में कोई भी एक पदार्थ के विषय में सतत ध्यान करने से तथा उसमें कुछ घटना घट रही हो - ऐसे दृश्य अन्तर्चक्षु के समक्ष खड़े करने से मन अधिक समय तक एकाग्र रह सकता

है। उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रस्तुत श्लोक में निर्देश दिया है कि आगम में निरूपित ऐसे अन्य पदार्थों के विषय में भी ध्यान कर सकते हैं, जैसे - नाभि के अंदर सोलह पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करना। उस कमल के प्रत्येक पत्र में अनुक्रम से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॄ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः - इन सोलह स्वरों की स्थापना करना। फिर, हृदय में आठ पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करना। उसमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय - इन आठ कर्मों को अनुक्रम से एक-एक पंखुड़ी में स्थापित करना और उस कमल का मुख नीचे रखना, अर्थात् सोलह पंखुड़ी वाले कमल के ठीक ऊपर उल्टे आधारहीन आठ पंखुड़ी वाले कमल का चिंतन करना । फिर, नीचे स्थित कमल के मध्य अर्हं अक्षर में से धीरे-धीरे निकलती हुई धुएं की शिखा का चिंतन करना। तत्पश्चात्, उसमें से अग्नि के कण निकलते हुए देखना। पुनः, उसमें से अनेक ज्वालाएँ उठती हुई देखना। उन ज्वालाओं के समूह से हृदय में स्थित आठ कर्मों से बने हुए आठ पंखुड़ी वाले उल्टे कमल को जलते हुए का चिंतन करना। अर्हं के ध्यान से उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि अवश्य कर्मयुक्त कमल को जला रही है - इस प्रकार चिंतन करना। फिर शरीर के बाहर त्रिकोण अग्नि का समूह स्वस्तिक द्वारा चिह्नित और वह्नि बीज 'र' कार सहित का चिंतन करना। फिर, शरीर के अंदर महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न हुई अग्नि की ज्वाला एवं शरीर के बाहर अग्निकोण की ज्वाला - इन दोनों ज्वालाओं द्वारा देह तथा आठ कर्मों से युक्त कमल को जलाकर राख कर देना । फिर, अग्नि को शांत कर देना। फिर, प्रचंड वायु का चिंतन करना और जो राख है, उसे वायु द्वारा उड़ती हुई देखना। फिर, प्रबल वायु को धीरे-धीरे शांत करना। फिर मेघ से पूर्ण आकाश का चिंतन करना एवं उसमें अर्द्धचंद्राकार कलाबिन्दु सहित वरुण-बीज (वँ) का चिंतन करना। फिर वरुण-बीज से उत्पन्न हुए अमृत जैसे पानी से आकाश में उड़ी हुई रज को पानी से साफ कर देना। फिर, निर्मल कांतिवाले और सर्वज्ञ जैसी अपनी आत्मा का चिंतन करना। फिर, सिंहासन के ऊपर आरूढ़ सभी अतिशयों से सुशोभित सभी कर्मों का नाश करने वाली, उत्तम महिमावाली, अपने शरीर के अंदर रही हुई निराकार आत्मा का स्मरण करना चाहिए।

(६३९) मनश्चेन्द्रियाणां च जयाद्यो निर्विकारधीः।
धर्मध्यानस्य स ध्याता शान्तो दान्तः प्रकीर्तितः।।६२।।

<u>अनुवाद -</u> मन और इन्द्रियों पर विजय पाने से जो निर्विकार बुद्धिवाले होते हैं - ऐसे शान्त और दान्त (मुनि) धर्मध्यान के ध्याता कहे गए हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> ध्यान करने वाले व्यक्ति में क्या-क्या योग्यताएं होना चाहिए ? कौन व्यक्ति ध्यान करने के योग्य है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। सर्वप्रथम ध्यान करने का अधिकारी वही हो सकता है, जिसने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। अश्व को काबू में रखे और उस पर लगाम चढ़ाए, तभी सवार उस पर चढ़कर चाहे जहाँ पहुँच सकता है। अगर अश्व को लगाम नहीं रही, तो सवार के उस पर बैठने की जगह अश्व ही सवार की छाती पर सवार हो जाएगा। उसी प्रकार, मनरूपी अश्व पर यदि आत्म-नियंत्रण नहीं रहा, संयम की लगाम नहीं रही, तो मन उस व्यक्ति को अपने अनुसार चलाएगा। अनियंत्रित मन की प्रवृत्ति तो विषय और कषाय की ओर ही होगी, अतः मन से, इन्द्रियों से पराजित व्यक्ति ध्यान के योग्य नहीं होता है। इन्द्रियों और मन पर जिसका स्वामित्व हो - ऐसा व्यक्ति ही धर्मध्यान का अधिकारी है, अतः निर्विकार, बुद्धिवाले, शान्त और दान्त मुनि ही वास्तविक रूप में ध्यानस्थ हो सकते हैं। जब तक व्यक्ति आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में ही रत हो, तब तक वह धर्मध्यान में स्थिर नहीं हो सकता है। जब तक जीवन में विषय, कषाय और प्रमाद का जोर अधिक है, तब तक जीव इन्द्रियों का दमन नहीं कर सकता है, अतः धर्मध्यान की पात्रता प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विषय, कषाय, निद्रा, विकथा, अज्ञान, भ्रम, संशय, विस्मृति इत्यादि से जो रहित हो, जो शान्त व दान्त हो - ऐसा निर्विकारी बुद्धिवाला व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी हो सकता है।

(६४०) परैरपि यदिष्टं च स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम्।
घटते त्यत्र तत्सर्वं तथा चेदं व्यवस्थितम्।।६३।।

<u>अनुवाद -</u> अन्य दर्शनियों ने भी जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे, वे सब यहाँ घट सकते हैं, इसलिए यह भी व्यवस्थित ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकर्त्ता उपाध्याय यशोविजयजी ने जैन-दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनों का भी तलस्पर्शी अध्ययन किया था इसलिए इनके ग्रंथ में अन्य दर्शनों के साथ तुलना स्वाभाविक रूप से आ जाती है पुनः दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे होते है कि उनको स्वयं के धर्म की दर्शन की इतनी जानकारी नहीं होती है अपने शास्त्रों का ज्ञान नहीं होता है इसलिए अन्य दर्शनों की कुछ बात सुनकर वे खुश हो जाते हैं और कभी यह भी कह सकते हैं कि देखो गीता में स्थितप्रज्ञ के कितने सुंदर लक्षण बताए गए हैं, ऐसा अपने शास्त्रों में है क्या ? वस्तुतः जैनदर्शन में धर्मध्यानी के जो लक्षण कहे गये हैं वैसे ही लक्षण स्थितप्रज्ञ के बताए गये हैं। शब्दों में कुछ अंतर हो सकता है परंतु अर्थ से दोनों के लक्षण एक दूसरे के साथ घटा सकते हैं, दोनों के भावार्थ में अंतर नहीं है, इसलिए जैनदर्शन में धर्मध्यानी के जो लक्षण बताए गए हैं, वे सर्वथा योग्य और व्यवस्थित ही हैं। इसकी तुलना के लिए ग्रंथकार ने पश्चात् के चार श्लोक भगवद्‌गीता से लिए हैं।

(६४१) प्रजाहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।६४।।

<u>अनुवाद -</u> हे अर्जुन (हे पृथानन्दन) ! जब (साधक) मन में आई हुई संपूर्ण कामनाओं का अच्छी तरह से त्याग कर देता है (और) अपने-आप से अपने-आप में ही संतुष्ट रहता है, तब (वह) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के दूसरे अध्याय के चार श्लोक (५५-५८) यहाँ दिए हैं। इन श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन को संबोधित कर उसे स्थितप्रज्ञ के लक्षण समझाते हैं। जैनदर्शन में जो धर्मध्यानयोगी है, वही गीता में स्थितप्रज्ञ है। प्रस्तुत श्लोक में स्थिरबुद्धिवाले के दो लक्षण बताये हैं - स्थितप्रज्ञ उसे कहते हैं, जिसने सभी कामनाओं का संपूर्ण रूप से त्याग कर दिया हो और जो स्वयं की आत्मा में ही संतुष्ट हो।

यहाँ कामनाओं के त्याग पर जोर दिया गया है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से तादात्म्य होने के कारण मनुष्य मन में उठने वाली कामनाओं को अपने में मान लेता है। अपने स्वरूप का कभी त्याग नहीं होता है, त्याग उसी का होता है, जो अपना नहीं है, पर उसको अपना मान लिया है।

जिसका संसार का उद्देश्य होता है, जिसकी पर में बुद्धि रहती है, उसकी बुद्धि असंख्य कामनाओं वाली होती है। चूंकि सांसारिक-वस्तुएँ असंख्य हैं, अतः कामनाओं के कारण मनुष्य का मन क्लेश वाला रहता है। मनुष्य की कोई कामना फलित होती है, किसी इच्छा की पूर्ति हो जाती है, तो वह अपने-आपको कुछ समय के लिए सुखी अनुभव करता है, परंतु तत्काल ही दुःख भी महसूस होने लगता है, क्योंकि एक इच्छा के पूरी होते ही अनगिनत नई इच्छाओं का जन्म हो जाता है। इच्छाएँ या कामनाएँ सीमित हों, तो उन्हें पूरी करना भी संभव है, परंतु इच्छाएँ तो अनंत हैं और जितनी इच्छाएँ पूरी होती हैं, उतनी ही नई पैदा होती हैं। अपूर्ण इच्छाओं का समूह बढ़ता जाता है और मनुष्य दुःखी, व्यथित रहता है। कामना ही दुःख है। इच्छाएँ ही बुद्धि को अस्थिर बनाती हैं। मनुष्य की विविध प्रकार की ऐषणाओं को शास्त्रकारों ने चार भागों में बाँट दिया है- दारेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा। पुरुष को स्त्री के साथ और स्त्री को पुरुष के साथ कामभोग की प्रबल वासना रहती है। तदुपरांत, संतानप्राप्ति की तथा धनप्राप्ति की इच्छा रहती है। कई लोग इन तीनों इच्छाओं पर तो विजय प्राप्त कर लेते हैं, परंतु लोकेषणा पर विजय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। स्वयं की लोगों में प्रसिद्धि हो, यशकीर्ति में वृद्धि हो, लोकनेता बने आदि महत्वाकांक्षाएँ बनी रहती हैं। उन्हें तुष्ट करते-करते अधिक पूजा-सत्कार प्राप्त करने की अभिलाषा बढ़ती जाती है। वस्तु, व्यक्ति और कीर्ति की कामना जब तक रहती है, तब तक मनुष्य का मन शांत एवं निर्मल नहीं होता है, इसलिए जो संपूर्ण इच्छाओं, आकांक्षाओं, कामनाओं का त्याग कर देता है, जो निष्काम और अनासक्त होता है, वही स्थितप्रज्ञ बनने का अधिकारी होता है और वही धर्मध्यान करने के योग्य होता है।

कामनाओं पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति अंतर्मुखी हो सकता है। जो अंतर्मुखी होता है, वही आत्मविचार, आत्मज्ञान, आत्मध्यान की ओर आगे कदम बढ़ाता है। वही अध्यात्ममार्ग का सच्चा प्रवासी बन सकता है। उसे स्वयं में ही इतना आनंद, इतना संतोष प्राप्त हो जाता है कि फिर कोई भी भौतिक-सुख उसे आकर्षित नहीं कर सकते हैं।

कामनाओं के सर्वथा त्याग होने पर बुद्धि को स्थिर बनाना नहीं पड़ता है, वह स्वतः स्वाभाविक स्थिर हो जाती है तथा उसे अपने-आप में सहज-स्वाभाविक संतोष होता है। संतोष दो तरह का होता है- एक संतोष गुण है और एक संतोष स्वरूप है। अंतःकरण में किसी प्रकार की कोई भी इच्छा न हो - यह संतोष गुण है और स्वयं में असंतोष का अत्यन्ताभाव हो- यह संतोष स्वरूप है। यह स्वरूपभूत संतोष स्वतः सर्वदा रहता है। स्वरूपभूत संतोष में प्रज्ञा सवतः स्थिर होती है। इस प्रकार, आत्मसंतुष्ट, आत्मज्ञानी, आत्मस्थ व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

(६४२) दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मनिराच्यते।।६५।।

अनुवाद - दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता है, सुखों में जिसकी स्पृहा नष्ट हो गई है, जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो गया है, (वह) मननशील मनुष्य स्थिरबुद्धि कहा जाता है।

विशेषार्थ - स्थितप्रज्ञ संसार में किस तरह रहता है ? किस तरह बोलता है? इत्यादि अर्जुन के प्रश्नों का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त तथा मार्मिक-ढंग से स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताए हैं।

संसार में सभी प्राणियों को सुख-दुःख के अनुभव तो होते ही रहते हैं। संसार में प्राणीमात्र को सुख पसंद है, दुःख किसी को भी पसंद नहीं है। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता है, परंतु नैसर्गिक नियम यह है कि सुख को सदा बनाए रखने की चाह होने पर भी सुख चला ही जाता है और न चाहने पर भी दुःख बिना बुलाए ही आ जाता है। समान्य व्यक्ति सुख में हर्षित हो जाता है और दुःख में दुःखी हो जाता है। इन्द्रियों के भोग-उपभोग की सामग्री अनुकूल मिलती है, मनचाही वस्तु का संयोग हो जाता है, तो सामान्य व्यक्ति खुश हो जाता है और इससे विपरीत प्रतिकूल परिस्थिति में, अनचाही वस्तु का संयोग और मनचाही वस्तु के वियोग होने पर वह दुःखी हो जाता है, परंतु ज्ञानी सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, संयोग-वियोग,अनुकूलता-प्रतिकूलता में, हर्षविषाद नहीं करते हैं एवं इनसे प्रभावित नहीं होते हैं। मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप व गंध से वे विरक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी या स्थितप्रज्ञ चाहे

जैसे प्रतिकूल प्रसंग में, विपत्ति में उद्विग्न नहीं होते हैं, उनकी प्रसन्नता लेशमात्र भी कम नहीं होती है। वे दुःख को समभाव से सहन कर लेते हैं। वे समझते हैं कि जो संकट आया है, वह पूर्वजन्म के अशुभकर्मों का उदय है। उनके कर्मों का ही दोष और दुःख आया है, तो वह देह पर आया है, उनकी आत्मा का तो उससे कोई लेना-देना नहीं है। आत्मा तो अविनाशी है। स्थितप्रज्ञ का सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, यहाँ तक कि स्वयं के शरीर आदि पर से भी स्वामित्वभाव, मैं और मेरेपन का भाव नष्ट हो जाता है, वैसे ही सुख या अनुकूलता के प्रसंग में भी वे हर्षित नहीं होते हैं, अभिमान नहीं करते हैं, बल्कि अनासक्त रहते हैं। अनुकूलताएँ आने पर भी उनके मन में "यह परिस्थिति ऐसी ही बनी रहे, यह परिस्थिति सदा मिलती रहे" - ऐसी स्पृहा नहीं होती है, न ही अधिक सुख प्राप्त करने की उनकी अभिलाषा होती है, क्योंकि वे जानते हैं कि यह सब अनित्य है, क्षणिक है, सुख भी जाने वाला है और दुःख भी जाने वाला है। जो अनुकूलता का सुख चाहता है, उसे ही प्रतिकूलता का दुःख अनुभव होता है, परंतु ज्ञानियों को तो कोई कामना ही नहीं रहती है, इस कारण वे सुख और दुःख से अलिप्त रहते हैं।

संसार के पदार्थों का मन पर जो रंग चढ़ जाता है, उसे राग कहते हैं। पदार्थों में राग होने पर अगर कोई सबल व्यक्ति उन पदार्थों का नाश करता है, उनके मिलने में बाधक बनता है, उनसे संबंध विच्छेद कराता है, तो मन में भय होता है। अगर वह व्यक्ति निर्बल होता है, तो उसके प्रति क्रोध का भाव उत्पन्न होता है, परंतु जो अनासक्त भाव से जीवन जी रहे हैं, जो राग से मुक्त हैं, देहातीत अवस्था में रहते हैं, उन्हें संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति से राग नहीं होता है, शरीर से भी राग नहीं रहता है, अतः वे मृत्यु के भय से भी मुक्त रहते हैं। जिसे मृत्यु का भय नहीं है, उसे अन्य किसी प्रकार का भय नहीं होता, राग नहीं होता, तो द्वेष भी नहीं होता, इस कारण से किसी भी प्रसंग में क्रोध या उद्वेग उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी उच्चस्थिति स्थितप्रज्ञ की होती है।

(६४३) यः सर्वत्रनभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६६।।

अनुवाद - सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो मनुष्य उस-उस शुभाशुभ को प्राप्त करके न तो प्रसन्न होता है (और) न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

विशेषार्थ - इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ का एक और महत्त्वपूर्ण लक्षण बताया है। स्थितप्रज्ञ सब जगह स्नेहरहित होते हैं, अर्थात् उनको अपने कहलाने वाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान, धन आदि किसी में भी आसक्ति, लगाव नहीं रहता है।

वस्तु आदि के बने रहने से मैं बना रहा और उनके बिगड़ जाने से मैं बिगड़ गया, नष्ट हो गया, धन के आने से मैं बड़ा हो गया और धन के चले जाने से मैं मारा गया- यह जो वस्तु आदि में एकात्मता की तरह स्नेह है, उसका नाम "अभिस्नेह" है। स्थितप्रज्ञ को किसी भी वस्तु आदि में यह अभिस्नेह किंचित् भी नहीं रहता है।

बाहर से वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, शरीर आदि का संयोग रहते हुए भी वे भीतर से सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं।

कई बार अनासक्त कहलाने वाले व्यक्ति भी परीक्षा के अवसर पर डगमगा जाते हैं। कभी विपरीत प्रसंगों में, शारीरिक या मानसिक-कष्टों के समय मन से, वचन से, पर पदार्थों के प्रति आवेग, आक्रोश, ईर्ष्या या द्वेष व्यक्त हो जाता है, या अपने अनुकूल रहने वाले के प्रति राग हो जाता है, परंतु अंतर्मुखी स्थितप्रज्ञ के सामने प्रारब्धवशात् स्वयं के निकाचित शुभकर्म या अशुभ कर्म का उदय हो, शोभनीय-अशोभनीय, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती हो, तब वह अनुकूल परिस्थिति को लेकर अभिनन्दित नहीं होता है और प्रतिकूल परिस्थिति को लेकर द्वेष नहीं करता है, क्योंकि जिसने आत्मस्वरूप में लीन होकर, स्व-पर के भेद को समझकर साधना की हो, वह तो इन सभी बातों को क्षणिक मानकर अनित्य एवं संसार में निर्लिप्त रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिन-जिन अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि से विकार होने की संभावना रहती है और साधारण लोगों में विकार होते हैं, उन-उन अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु आदि के कहीं भी, कभी भी और कैसे भी प्राप्त होने पर उसको न अभिनन्दन होता है और न द्वेष ही होता है। उसकी बुद्धि में विवेक विवके पूर्णरूप से जाग्रत् हो जाता है कि संसार में अच्छे-बुरे के साथ वास्तव में उसका कोई संबंध नहीं है, कारण कि ये अच्छे-बुरे अवसर तो बदलने वाले हैं, पर उसका स्वरूप न बदलने वाला है, अतः बदलने वाले के साथ न बदलने वाले का संबंध कैसे हो सकता है ? वास्तव में देखा जाए, तो फर्क न तो स्वरूप में पड़ता है और न शरीर आदि में, क्योंकि स्वयं का जो स्वरूप है, उसमें तो किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य शरीरादि स्वाभाविक ही बदलते हैं, तो फर्क कहाँ पड़ता है ? शरीर से तादात्म्य होने के कारण बुद्धि में फर्क पड़ता है। जब यह तादात्म्य मिट जाता है एवं बुद्धि में जो फर्क पड़ता था, वह मिट जाता है तथा बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है ऐसे स्थिरबुद्धि वाले ही धर्मध्यान के वास्तविक अधिकारी होते हैं।

(६४४) यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६७।।

<u>अनुवाद -</u> जिस तरह कछुआ (अपने) अंगों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों से बि प्रकार से जो हटा लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर स्थितप्रज्ञ के एक और लक्षण को दर्शाया गया है। कछुआ उभयचर प्राणी है, अर्थात् वह स्थल पर भी चल सकता है और जल में भी रह सकता है। उसकी पीठ वज्र के समान मजबूत होती है। वह ढाल के समान होती है। उस पर प्रहार करने पर भी कछुए को चोंट नहीं पहुँचती है, परंतु उसके दूसरे अंग कोमल होते हैं। जब कछुआ चलता है तो उसके छः अंग दिखाई देते हैं चार पैर, एक पूँछ और एक मस्तक। जब उसे अल्प भी खतरा नजर आता है, तो वह तुरंत अपने अंगांगों को पीठ के अंदर खींच लेता है तथा सुरक्षित बन जाता है। अब उसे कोई भय नहीं रहता। इन्द्रियों के संरक्षण और संगोपन के

लिए जैसी व्यवस्था कछुए को प्राप्त है, वैसी व्यवस्था अन्य किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं है, इसलिए इन्द्रियों के संयम के लिए यहाँ कछुए का उदाहरण दिया गया है। कछुए के समान स्थितप्रज्ञ भी पाँचों इन्द्रियों और एक मन - इन छहों को अपने-अपने विषय से हटा लेता है। वह मन से भी विषयों का चिन्तन नहीं करता है। वह खाते हुए भी उपवासी होता है, देखते हुए भी नहीं देखता है, वे सुनते हुए भी नहीं सुनता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी परिपक्व बुद्धि स्थिर है, वह अनासक्त है। बाह्य किसी भी विषय से, पदार्थ से उसका मन प्रभावित नहीं होता है। उसमें राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं। इन्द्रिय-निग्रह के कारण उसका मन शांत हो जाता है। वह आत्मस्वरूप में लीन रहता है। उसमें से कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का भाव निकल जाता है, इसलिए वह कर्त्ता होते हुए भी कर्त्ता नहीं होता और भोक्ता होते हुए भी भोक्ता नहीं होता। स्थितप्रज्ञ की विषयों में रसबुद्धि आत्मतत्त्व का अनुभव हो जाने के पश्चात् निवृत्त हो जाती है। विषयों का त्याग करने पर भी रसबुद्धि के रहते हुए जब भोगों की प्राप्ति होती है, तब मनुष्य का चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगों के वशीभूत हो जाता है, परंतु रसबुद्धि निवृत्त होने के बाद जब भोगों की प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुष के चित्त में (कछुए की पीठ की तरह) किंचिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता। उसके भीतर ऐसी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, जिससे भोग उसे अपनी ओर खींच सकें। गीता में जो लक्षण स्थितप्रज्ञ के बताए गए हैं, वे ही लक्षण जैनदर्शन में धर्मध्यानयोगी के हैं।

(६४५) शान्तो दान्तो भवेदीदृगात्मारामतया स्थितः।
सिद्धस्य हि स्वभावो यः सैव साधक योग्यता।।६८।।

<u>अनुवाद -</u> जो शान्त, दान्त ओर आत्मरमणता में स्थित होते हैं वे ही इस प्रकार (ध्याता) होते हैं। सिद्धयोगी का जो स्वभाव है, वही साधक योग्यता है।

<u>विशेषार्थ -</u> धर्मध्यान के अधिकारी के विषय में पुनः यहाँ निर्देश दिया गया है। ग्रंथकर्त्ता ने पूर्व श्लोक में धर्मध्याता के लक्षण बताते हुए कहा है कि जो मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला, निर्विकार बुद्धिवाला, शान्त और दान्त होता है, वही धर्मध्यान का अधिकारी बन सकता है।

जैन-दर्शन के धर्मध्याता तथा गीता के स्थितप्रज्ञ की समानता दर्शाने के पश्चात् ग्रंथकार कहते हैं कि सिद्धयोगी या स्थितप्रज्ञ का जो स्वभाव होता है, वही योग्यता धर्मध्यान के ध्याता की होती है, अर्थात् वह शान्त, दान्त और निर्विकारी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धयोगी की इन्द्रियाँ सहज ही शान्त रहती हैं। निर्विकारत्व उनका स्वभाव ही बन जाता है। उनके स्वभाव में विकृति नहीं आती है, और उन्हें इन्द्रियों को वश में रखने के लिए कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता है, किन्तु ध्यान के साधक को प्रारंभ में इन्द्रियों आदि के प्रति सावधान रहना पड़ता है। सिद्ध का जो स्वभाव है, वह साधक की योग्यता है।

(६४६) ध्यातायमेव शुक्लस्याप्रमत्तः पादयोर्द्वयोः।
पूर्वविद् योग्ययोगी च केवली परयोस्तयोः।।६६।।

<u>अनुवाद -</u> यही अप्रमत्त (मुनि) पूर्वधर तथा शुक्लध्यान के दानों पायों (भेद) का ध्याता है, उसमें बाद के दो भेद, अर्थात् शुक्लध्यान के तीसरे और चौथे पायों के ध्याता सयोगी और अयोगी-केवली (अनुक्रम से) है।

<u>विशेषार्थ -</u> धर्मध्यान के ध्याता की योग्यता दर्शाने के पश्चात् ग्रंथकार अब शुक्लध्यान के ध्याता की योग्यता बताते हैं।

वस्तुतः, धर्मध्यान का जो ध्याता होता है, वही आगे जाकर अधिक योग्यता प्राप्त हो जाने पर शुक्लध्यान का ध्याता बन सकता है। धर्मध्यान का ध्याता प्रमत्त-गुणस्थान वाला हो सकता है और अप्रमत्त-गुणस्थान वाला भी हो सकता है। इसमें अप्रमत्त गुणस्थानक वाला ध्याता यदि शुक्लध्यान के प्रथम दो पायों का ध्यान करे, तो उसे अवश्य पूर्वधर, अर्थात् चौदह पूर्व का ज्ञाता होना चाहिए।

श्री जिनभद्रगणि ने 'ध्यानशतक' में कहा है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो पायों का ध्यान करने वाला अप्रमत्त ध्याता पूर्वधर होने के साथ-साथ प्रशस्त संघयण वाला, अर्थात् वज्र-ऋषभ-नाराच-संघयण वाला होना चाहिए।

तदुपरान्त, यदि यह कहा जाए कि शुक्लध्यान का ध्याता पूर्वधर होना चाहिए, तो प्रश्न उठता है कि मरुदेवी माता, मासतुषमुनि आदि ने केवलज्ञान प्राप्त किया था और शुक्लध्यान के बिना केवलज्ञान होता नहीं है,

जबकि उनको पूर्व का ज्ञान नहीं था, अर्थात् वे पूर्वधर नहीं थे, तो फिर किस प्रकार केवलज्ञान हुआ ? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि उनको अप्रमत्त-गुणस्थान पर नहीं, बल्कि उसके पश्चात् के ऊपर के गुणस्थान पर शुक्लध्यान हुआ था। कषाय् की मंदता से, सामर्थ्ययोग के प्रभाव से, ज्ञानावरणीय चौदह पूर्व के ज्ञान के सूक्ष्म पदार्थों का रहस्य आ ही जाता है। वे क्षपक-उपशमक थे। पूर्वधर न भी हो, तो भी ऐसे निर्ग्रन्थ क्षपक को केवलज्ञान हो सकता है। शुक्लध्यान का तीसरा भेद सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति है। यह ध्यान सयोगी-केवली को होता है। सयोगी, अर्थात् मन-वचन-काया के योग वाला। विहार, गोचरी, उपदेश, शंकानिवारण इत्यादि में काययोग, वचनयोग और मनोयोग वाले केवली भगवंतों को शैलेशी-अवस्था प्राप्त होने के पूर्व के अंतर्मुहूर्त्त में शुक्लध्यान का तीसरा पाया प्राप्त होता है। उसके बाद मन, वचन और काया के योगों का निरोध करके अयोगी-केवली बनकर वे जब शैलेशी-अवस्था प्राप्त करते हैं, तब शुक्लध्यान का चौथा पाया प्राप्त होता है।

(६४७) नत्यत्वाप्यनुप्रेक्षा ध्यानस्योपरमेऽपि हि।
भावयेन्नित्यमभ्रान्तः प्राणा ध्यानस्य ता खलु।।७०।।

<u>अनुवाद</u> - ध्यान से (धर्मध्यान से) निवृत्त हो जाने के बाद भी अभ्रान्त आत्माओं को हमेशा अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना चाहिए, क्योंकि वे (अनुप्रेक्षा) वास्तव में ध्यान के प्राणरूप हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में धर्मध्यान करने वाले के लिए एक सलाह दी गई है। कोई भी छद्मस्थ जीव दिन-रात किसी एक प्रकार के ध्यान में सतत नहीं रह सकता है। चित्त अत्यंत चपल है, कब यह ध्यान का विषय छोड़कर अन्य विषय में चला जाए, कुछ कह नहीं सकते। धन के प्रखर अभ्यासी निश्चित समय के लिए एक प्रकार के ध्यान में तन्मय या स्थिर हो सकते हैं, परंतु यह समयावधि पूर्ण होने के बाद उनका मन भी बाह्य-जगत् में चला जाता है, इसलिए इस मन को कभी भी खाली नहीं रहने देना चाहिए। ध्यान करने के लिए दो-तीन निश्चित समयावधि के मध्य जब मन निवृत्त हो जाता है, तब अभ्रान्त आत्माओं को मध्य के समय में अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं द्वारा मन को भावित करना चाहिए। (१) अनित्य-अनुप्रेक्षा

- इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन और यह शरीर आदि सभी अनित्य हैं- इस प्रकार का चिंतन करना। (२) अशरण-अनुप्रेक्षा - स्वजन, धन-वैभव आदि संसार में कोई भी शरण नहीं है; मृत्यु, बीमारी आदि से कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है- ऐसा चिंतन करना। (३) संसार-अनुप्रेक्षा - यह चतुर्गतिक संसार दःख से भरा हुआ है। संपूर्ण संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं। जहाँ स्पृहा है, वहीं दुःख है। देवों के सुख की भी अंतिम परिणति दुःख ही है। इस प्रकार मनुष्य, पशु, नरकादि के दुःखों का चिंतन करना। (४) एकत्व-अनुप्रेक्षा - 'एगो में सासओ अप्पाणाणदंसण-संजुओ' ज्ञान-दर्शन से संपन्न मेरी आत्मा शाश्वत है ,अन्य सभी संयोग अस्थायी हैं। इस भावना से आत्म-प्रतीति दृढ़ होती है। (५) अन्यत्व-अनुप्रेक्षा - शरीर, कुटुम्ब, जाति, धन-वैभव आदि से मैं अलग हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ - ऐसा चिंतन करना। (६) अशुचि-अनुप्रेक्षा - यह शरीर अशुचिमय सप्त धातुओं से बना है। रक्त, मांस आदि निंद्य पदार्थ इसमें भरे हुए हैं- इस प्रकार का अनुचिंतन करना। (७) आस्रव-अनुप्रेक्षा - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, प्रमाद आदि आस्रवों के अनिष्टकारी और दुःखद परिणामों पर चिंतन करना। (८) संवर-अनुप्रेक्षा - दुःखद आस्रवों या कर्मों को रोकने के सम्यक्त्व, व्रत आदि उपायों का चिन्तन करना। (६) निर्जरा-अनुप्रेक्षा - कर्मों के क्षय करने के उपायों का, बारह प्रकार के तप के स्वरूप का चिंतन करना। (१०) लोक-अनुप्रेक्षा - लोक की शाश्वतता, अशाश्वतता, आदि का चिंतन करना। (११) बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा - रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति जीव को दुर्लभ है। बोधिप्राप्ति किन उपायों से और कैसे होती है इसका बार-बार विचार करना। (१२) धर्म-अनुप्रेक्षा - क्षमा, मार्दव आदि दस यतिधर्म का चिंतन करना, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म आदि का चिंतन करना।

इन बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा करने की सूचना अत्यंत उपयोगी है। चूंकि धर्मध्यान के प्रकार - आज्ञा, उपाय, विपाक और संस्थान में जो चिंतन करने के विषय हैं, उनके साथ अनित्यादि भावनाओं का सुमेल है, इसलिए धर्मध्यान की धारा जब टूट जाती है, तब ये अनित्यादि भावनाएँ धारा को जोड़ने में सहायक होती हैं। इस प्रकार की भावनाओं से संसार के प्रति आसक्ति और देह के प्रति ममत्व छूट जाता है। अनुप्रेक्षा को एक प्रकार से ज्ञान की जुगाली कहा जा सकता है। जैसे गाय आदि पशु खाने के

बाद एकान्त शांत स्थान पर बैठकर जुगाली करके भोजन को सुपाच्य बना लेते हैं, उसी प्रकार जाने हुए ज्ञान को अनुप्रेक्षाओं द्वारा हृदयंगम कर लिया जाता है। बार-बार के चिंतन-मनन से वह ज्ञान दृढ़ हो जाता है, अंतर-चेतना तक व्याप्त हो जाता है, इसलिए इन अनुप्रेक्षाओं को ध्यान के प्राणरूप कहा गया है।

(६४८) तीव्रादिभेदभाजः स्युर्लेश्यास्तिस्र इहोत्तराः।
लिंगान्यत्रागमश्रद्धा विनयः सद्गुणस्तुतिः।।७१।।

<u>अनुवाद</u> - यहाँ (धर्मध्यान में) तीव्र आदि भेद वाली अंतिम तीन लेश्याएं होती हैं। आगमश्रद्धा, विनय और सद्गुणस्तुति - ये इसके लिंग हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में धर्मध्यान की लेश्या तथा धर्मध्यानी को पहचानने के लक्षण बनाए गए हैं। लेश्या छः प्रकार की होती है, उनमें से तीन प्रारंभ की कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ अशुभ होती हैं, जो धर्मध्यानी को नहीं होती हैं। चूंकि धर्मध्यानी के अध्यवसाय निर्मल रहते हैं, अतः उनमें लेश्या भी शुभ ही रहती है। अंतिम तीन शुभ लेश्याएं पीत (तेजो), पद्म और शुक्ल धर्मध्यानी में होती हैं। तीव्रादि भेद, अर्थात् तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम भी ले सकते हैं या तीव्र, मध्यम और मंद भी ले सकते हैं। इनमें यदि पीतलेश्या को तीव्र कहें, तो पद्मलेश्या तीव्रतर और शुक्ललेश्या तीव्रतम शुभ अध्यवसायवाली होती है। यदि पीतलेश्या को मंद कहें, तो पद्मलेश्या मध्यम व शुक्ल को तीव्र शुभ अध्यवसायवाली लेश्या कह सकते हैं। साधना के अनुसार उनकी लेश्या उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध बनती जाती है। धर्मध्यान करने वाले के शुभ अध्यवसाय में भी मंदता और तीव्रता हो सकती है, उसी के आधार पर उनकी लेश्या रहती है। धर्मध्यानी को कैसे पहचाना जाए ? उसके लक्षण क्या हैं ? ग्रंथकार ने धर्मध्यानी को पहचानने के लिए प्रमुख तीन लक्षण बताए हैं - प्रथम लक्षण है - श्रद्धा। उसकी तीर्थंकर परमात्मा के उपदेश, अर्थात् आगम पर अटल श्रद्धा होती है, षड्द्रव्य, नवतत्त्व, आठ कर्म, चौदह गुणस्थान, गुणपर्याय आदि में दृढ़ श्रद्धा होती है। आगम के स्वाध्याय से श्रद्धा अधिक दृढ़ होती है। वह निरंतर स्वाध्याय करता है। यदि उसे स्वयं आगम पढ़ने को नहीं मिले, तो वह आचार्य भगवंत द्वारा तत्त्वों की बात सुनता है। इस प्रकार उपदेश द्वारा

उसकी श्रद्धा दृढ़ होती है। जिनेश्वर भगवान ने जो भी आज्ञारूप में कहा है, वह यथार्थ और व्यवस्थित है - ऐसी उसको प्रतीति होती है। कितने ही लोगों को स्वाभाविक रूप से मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म का क्षयोपशम होने पर जिनोक्त तत्त्व में श्रद्धा प्रकट होती है। जब तक अंतर में वास्तविक श्रद्धा न हो, तब तक मात्र शास्त्र का शुष्क ज्ञान, विद्वत्ता से पूर्ण वाणी वाला व्यक्ति भी धर्मध्यानी नहीं हो सकता है, अतः धर्मध्यानी का प्रमुख लक्षण श्रद्धा कहा गया है। धर्मध्यानी को पहचानने का दूसरा चिह्न उसमें रहा हुआ विनयभाव है। धर्मध्यानी उद्धत या अविनयी नहीं होता है। वह स्वभाव से नम्र ओर विनयवान् होता है। अगर वह तीर्थंकर भगवान् के काल में होता है, तो तीर्थंकर भगवान् का अत्यंत विनयी होताता है। विनय से धर्मध्यान करने की पात्रता का विकास होता है। वह तीर्थंकर भगवंत या गुरुभगवंत के सामने अंजलिबद्ध होता है, उन्हें सामने लेने जाता है, छोड़ने जाता है, उनका वंदन करता है। तीर्थंकर भगवान् के विरहकाल में उनकी प्रतिमाजी का भी उतना ही विनय करता है। वह गुरुभगवंतों को आसन प्रदान करता है, उनके आने पर खड़ा हो जाता है, उनकी वैयावच्च करता है तथा आहार, औषधि आदि का ध्यान रखता है।

धर्मध्यानी का तीसरा लक्षण है - सद्गुण-स्तुति। वह जिनेश्वर भगवान् के सद्गुणों का कीर्त्तन करता है। उनके गुणों की स्तुति-स्तवन भक्तिभाव से मधुर कष्ट से करता है। वह साधुभगवंतों के निरतिचार चारित्र की प्रशंसा, अनुमोदना करता है। जहाँ भी उसे संयमादि गुण दिखाई देते हैं, वह प्रशंसा किए बिना नहीं रहता है। उसका हृदय आनंद-उल्लास से युक्त होता है। यदि कोई व्यक्ति धर्मनिष्ठ होने का नाटक करता है, उपचार हेतु दिखाने के लिए विनय, सद्गुणस्तुति करता है, उसके हृदय में वास्तविक श्रद्धा-भक्ति नहीं है, तो उसकी नाटकीय दंभी-वृत्ति तुरंत ही पता चल जाती है, उसमें रही हुई कृत्रिमता की गंध आ जाती है। हृदय का भावोल्लास अलग ही दिखाई देता है। जो धर्मध्यानी होने का नाटक करता है, उसकी अशुभ लेश्या और आर्त्तध्यान अधिक समय तक गुप्त नहीं रह सकते हैं। अन्य प्रतिकूल परिस्थिति आने पर उसकी वास्तविकता का पता चल जाता है।

(६४६) शीलसंयमयुक्तस्य ध्यायतो धर्म्यमत्तमम्।
स्वर्गप्राप्तिं फलं प्राहुः प्रौढ़पुण्यानुबंधिनीम्।।७२।।

<u>अनुवाद</u> - शील और संयम से युक्त ऐसे उत्तम धर्मध्यान के ध्याता को प्रौढ़ पुण्यस के अनुबंधवाला स्वर्गप्राप्तिरूप फल कहा है।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने धर्मध्यान के फल की ओर ध्यान आकर्षित किया है। हालांकि निष्कामभाव से बिना किसी फल की आकांक्षा के एकमात्र मोक्षप्राप्ति के ध्येय से ध्यान ध्करना चाहिए, फिर भी हर क्रिया का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। धर्मध्यान का यह सामर्थ्य है कि ध्याता अगर शील और संयम से युक्त हो, तो वह उसे स्वर्ग की प्राप्ति कराता है। धर्मध्यान से पुण्य का उपार्जन भी होता है और कर्म की निर्जरा भी होती है। जो पुण्य होता है, वह पुण्यानुबंधी-पुण्य होता है। उत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप उच्च्व देवगति की प्राप्ति होती है। देवगति, अर्थात् मात्र भोगविलास ही नहीं है। उच्च्व देवलोक में तो निरंतर मोक्षाभिलाषा बनी रहती है और सतत आत्मचिंतन भी चलता है। लेश्या भी शुभ होती है।

साधु अगर ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करे, शील और संयम की सुंदर आराधना करे, तो उसे उच्च्व देवलोक प्राप्त होने की शक्यता रहती है। ऐसे साधुओं के मन में स्वर्ग के सुख की कोई महिमा नहीं रहती है। उन्हें वह सुख तृणतुल्य लगता है, किंतु उनका पुण्य ही इतना उत्कृष्ट होता है कि उन्हें उत्कृष्ट देवलोक की ही प्राप्ति होती है। ऊपर के देवों में यद्यपि द्युति, शक्ति, सुख आदि अधिक-अधिक हैं, किन्तु उन्हें अपनी विभूति, तेज, लब्धि आदि का अहंकार नहीं होता है। उनके कषाय मंद होते हैं तथा वे गंभीर स्वभाव वाले होते हैं और वे समकिती होते हैं, इसलिए धर्मध्यान उन्हें देवगति में ले जाते हुए भी परंपरा से मोक्षगति प्राप्त कराने में सहायक होता है।

(६५०) ध्यायेच्छुक्लमथ क्षान्तिमृदुत्वार्जवमुक्तिभिः।
छद्मस्थोऽणौ मनो धृत्वा व्यपनीय मनो जिनः।।७३।।

अनुवाद - उसके बाद क्षमा, मृदुता, सरलता और निस्पृहता से युक्त छद्मस्थ (मुनि) को परमाणु में मन को जोड़कर और जिन, अर्थात् केवली को मन का निरोध करके शुक्ल ध्यान करना चाहिए।

विशेषार्थ - धर्मध्यान के पश्चात् अब चतुर्थ शुक्लध्यान के विषय में निर्देश किया गया है। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं। इन चारों प्रकारों को चार पाद, पाया या चरण कहा जाता है क्योंकि इन्हें अनुक्रम से ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रारंभ के तीन ध्यान आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान कहे गए हैं, उनके उत्तरभेदों में क्रम आवश्यक नहीं है। वे आगे-पीछे हो सकते हैं, परंतु शुक्लध्यान में साधक उसके उत्तरभेदों को अनुक्रम से ही प्राप्त कर सकता है। शुक्लध्यान में, तीसरे प्रकार के ध्यान में प्रवेश करने के बाद पुनः पहले या दूसरे प्रकार में नहीं आ सकते हैं। शुक्लध्यान के ध्याता छद्मस्थ और केवली-दोनों होते हैं। यदि शुक्लध्यान को करने वाला अप्रमत्त-गुणस्थान पर होता है, अर्थात् छद्मस्थ मुनि होता है, तो वह शुक्लध्यान के पहले व दूसरे पाये का या प्रकार का ध्यान करता है और अगर तेरहवें गुणस्थान पर स्थित केवली भगवंत हो, तो वह तीसरे तथा चौथे प्रकार का शुक्लध्यान करता है।

छद्मस्थ ध्याता क्षमा, मृदुता, सरलता, निस्पृहता आदि गुणों की उत्कृष्ट भावना के आलंबन द्वारा शुक्लध्यान पर आरोहण करता है। वह अपने मन के विषयों को संक्षिप्त करके उसे परमाणु में जोड़ता है। इसमें संक्षिप्तिकरण में क्रम रहा हुआ है। वह धर्मध्यान में, प्रारंभ में तीन लोकों का ध्यान करता हैं, अब शुक्लध्यान में ध्यान के विषय का संक्षिप्तिकरण करता है और जो विषय छोड़ दिए हैं, उन पर पुनः नहीं जाता है। इस प्रकार, विषय का संक्षिप्तिकरण करते-करते अंत में वह एक परमाणु के ध्यान में अपने मन को केन्द्रित कर देता है।

श्री जिनभद्रक्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में संकोच के इस क्रम के लिए तीन दृष्टांत दिए हैं- (१) विष का दृष्टांत - जैसे, किसी व्यक्ति को बिच्छू आदि के डंक मारने पर जहर शरीर में व्याप्त हो गया हो, तो मंत्रविद्

शरीर के विभिन्न अंगों का, एक के बाद एक भाग का जहर उतारते-उतारते या संकोचन करते-करते जहाँ डंक लगा हो वहाँ आता है और फिर मंत्र के योग से डंक में से जहर निकाल देता है। इसमें विष-संकोचन का क्रम रहा हुआ है। (२) अग्नि का दृष्टांत - जैसे, एक साथ अनेक लकड़े जलते हुए, अग्नि को कम करते हुए, अंत में अल्प अग्नि को बुझाया जाता है। (३) पानी का दृष्टांत - जिस प्रकार पतीली में या अन्य कोई बर्तन में पानी गरम होता है, तो अंत में पानी जलते हुए एक बिंदु मात्रा रह जाता है, फिर वह भी जल जाता है (वाष्पित हो जाता है)। इस प्रकार ध्यान के विषय का संकोच करते हुए, अंत में एक परमाणु पर ध्याता का ध्यान स्थिर हो जाता है। शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकारों में विषयों का संकोच करते हुए अंत में मन की एकाग्रता एक परमाणु पर स्थिर हो जाती है। यह ध्यान छद्मस्थ को होता है। शुक्लध्यान के अंतिम दो प्रकारों का ध्यान केवलज्ञानी को अंत समय में होता है। जब मोक्ष प्राप्त करने में अंतर्मुहूर्त्त का समय हो, तब योगनिरोध होता है। उसमें मनोयोग का निरोध होते ही केवलज्ञानी अमन बन जाता है।

(६५१) सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वं तदादिमम्।
नानानयाश्रितं तत्र वितर्कः पूर्वगं श्रुतम्।।७४।।

<u>अनुवाद -</u> सवितर्क, सविचार और सपृथक्त्व - इस प्रकार यह (शुक्लध्यान का प्रथम पाया) है। इसमें विविध नय का आश्रय करके रहा हुआ पूर्वगत श्रुत, वह वितर्क है।

<u>विशेषार्थ -</u> शुक्लध्यान शुभ तथा सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। यह शोक को पूर्णतया नष्ट करता है, इसलिए भी इसे शुक्लध्यान कहते हैं। शुक्ल, अर्थात् श्वेत, जिसमें स्फटिक की तरह निर्मल भाव रहते हैं। यह शुक्लध्यान चार प्रकार का होता है- (१) सपृथक्त्व, सवितर्क, सविचार (२) एकत्व, सवितर्क, सविचार (३) सूक्ष्मक्रिया, अनिवृत्ति (४) समुच्छिन्न (व्यवच्छिन्न) क्रिया, अप्रतिपाती। इन चारों प्रकारों में से प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान के तीन लक्षण प्रस्तुत श्लोक में दर्शाए गए हैं- (१) सवितर्क (२) सविचार (३) सपृथक्त्व। तीनों शब्द पारिभाषिक हैं। इसका अर्थ निम्नलिखित है -

वितर्क - प्रस्तुत श्लोक में वितर्क की जो व्याख्या दी गई है, उसके आधार पर वितर्क, अर्थात् विविध नयों का आश्रय करके चौदह पूर्व में रहे हुए श्रुतज्ञान का बोध। चौदह पूर्व में पदार्थ की, अर्थात् तत्त्व की अत्यंत सूक्ष्म, गहन और सविस्तार चर्चा की गई है। इसके आधार पर ध्याता द्रव्यगुण-पर्याय का अत्यंत सूक्ष्म चिंतन कर सकता है, इसलिए यह शुक्लध्यान पूर्वश्रुत के ज्ञाता ही कर सकते हैं। वर्तमान में इन पूर्वों का विच्छेद है। इस प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान में ध्यान का विषय है - द्रव्य के पर्याय। पर्याय उत्पाद-व्यय और ध्रुवता से युक्त होती है। ध्यान करने वाला ध्याता किसी भी द्रव्य की पर्यायों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का सूक्ष्म चिंतन कर सकता है।

विचार - यहाँ विचार शब्द का अर्थ है - विचरण, अर्थात् संक्रमण। चित्त का एक विषय से दूसरे पर जाना संक्रमण कहलाता है। अर्थ, व्यंजन और मनादि योगों का जो संक्रमण होता है, उसे विचार या विचरण कहते हैं। अर्थ, अर्थात् द्रव्य या पदार्थ और व्यंजन, अर्थात् शब्द। योग, अर्थात् मन-वचन-काया के योग, जैसे - चित्त का मनोयोग से वचन-योग में, वचनयोग से काययोग में संक्रमण होता है। एक पर्याय में से दूसरी पर्याय में या एक गुण में से दूसरे गुण में संक्रमण होता है, वह विचार कहलाता है।

पृथक्त्व - पृथक्त्व, अर्थात् द्रव्यपर्याय और गुण में अंतरगति करना। द्रव्य से द्रव्य में, पर्याय से पर्याय में और गुण से गुण में चित्त का जाना, वह पृथक्त्व कहलाता है। पृथक्त्व का दूसरा अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। इस ध्यान में ध्याता और ध्येय - दोनों भिन्न होते हैं। पृथक्त्व का एक अर्थ विस्तार भी किया जाता है, क्योंकि संक्रमण के कारण इस प्रकार के ध्यान में विषय का विस्तार बहुत होता रहता है।

(६५२) अर्थव्यंजनयोगानां विचारोऽन्योन्यसंक्रमम्।
पृथक्त्वं द्रव्यपर्याय गुणान्तरगतिः पुनः।।७५।।

<u>अनुवाद -</u> अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगों का अन्योन्य संक्रम (परिवर्तन), वह विचार तथा द्रव्य, गुण, पर्याय की अंतरगति (संक्रम), वह पृथक्त्व कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> भेदरूप से श्रुत का विचार जिस ध्यान में होता है, उसे पृथक्त्व सवितर्क सविचार कहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में विचार और पृथक्त्व शब्द की व्याख्या की गई है - **अर्थ-** अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ, ध्येय। ध्येय वस्तु को ही अर्थ कहते हैं। वह द्रव्य और पर्यायरूप होता है।

व्यंजन- वचन, शब्द, वाक्य आदि को व्यंजन कहते हैं।

योग- मन-वचन और काया की प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होने वाली चंचलता को योग कहा जाता है। चित्तवृत्ति का परिवर्तन (बदलना) संक्रांति कहलाता है। यह तीन प्रकार की है- एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर चित्तवृत्ति का गमन अर्थसंक्रांति है। श्रुत के किसी भी एक शब्द से दूसरे शब्द पर चित्तवृत्ति का परिवर्तन व्यंजनसंक्रान्ति है। मन-वचन-काया के योगों पर परस्पर एक-दूसरे-तीसरे पर चित्त की वृत्ति का गमन या परिवर्तन योगसंक्रांति है। इस प्रकार से मन की वृत्ति का बदलते रहना विचार कहलाता है। इस ध्यान में चित्तवृत्ति भेदप्रधान होती है। प्रथम शुक्लध्यान में तीनों योगों का अवलम्बन होता है। द्रव्य से द्रव्यांतर, गुण से गुणान्तर, पर्याय से पर्यायान्तर में चित्त का संक्रमण होना पृथक्त्व कहलाता है। प्रथम शुक्लध्यान में वितर्क और विचार - दोनों ही होते हैं। इस ध्यान का फल संवर और निर्जरा है।

(६५३) **त्रियोगयोगिनः साधोवितर्काद्यन्वितं ह्ययदः।**
ईषच्चलतरंगाब्धेः क्षेभाभावदशानिभम्।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> तीन योग से युक्त योगवाले साधु को वितर्क आदि से युक्त यह (प्रथम प्रकार का शुक्लध्यान) कुछ चपल तरंग वाले समुद्र की क्षोभरहित दशा जैसा होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व के दो श्लोक में प्रथम शुक्लध्यान के लक्षण दर्शाए गए हैं। प्रस्तुत श्लोक में पृथक्त्वसवितर्कसविचार-नामक शुक्लध्यान को एक सुंदर उपमा द्वारा समझाया गया है।

सर्वप्रथम यह ध्यान सातवें अप्रमत गुणस्थान या इससे ऊपर के गुणस्थान पर रहे हुए मुनियों को ही हो सकता है, सामान्य गृहस्थ या देशविरति-श्रावक इस ध्यान के अधिकारी नहीं हैं। अप्रमत्त मुनि

मन-वचन-काया - तीनों योग वाले होते हैं और उनका ध्यान वितर्कयुक्त होता है, इसलिए यह ध्यान धीर, गंभीर विशाल समुद्र जैसा होता है। ज्ञान से गंभीर होने के कारण यह विशाल भरती वाले क्षोभित समुद्र जैसा नहीं होता, बल्कि यत्किंचित् कंपवाला, चंचलतावाला, विविध छोटी-छोटी लहरों वाले समुद्र जैसा यह ध्यान होता है। इस ध्यान में वैचारिक चंचलता तो होती है, किंतु वह अत्यंत सूक्ष्म होती है, स्थूल नहीं होती। इसका तात्पर्य यही है कि ध्याता को इस ध्यान में विशालता, गहनता और अद्‌भुत शांति का अनुभव होने के साथ-साथ अन्य स्पंदन का अनुभव होता है।

(६५४) एकत्वेन वितर्केण च संयुतम्।
निर्वातस्थप्रदीपाभं द्वितीयं त्वेकपर्ययम्।।७७।।

<u>**अनुवाद -**</u> एकत्व से, वितर्क से और विचार से संयुक्त एक पर्यायवाला दूसरा (शुक्लध्यान) निर्वात-स्थान पर रही हुई दीपक की ज्योति के समान है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान में चित्त एक पर्याय से दूसरी पर्याय में, एक गुण से दूसरे गुण में, एक योग से दूसरे योग में संक्रमण कर सकता है। विकास करते हुए ध्याता शुक्लध्यान के दूसरे पाये में प्रवेश करता है। यहाँ वितर्क तो पूर्ववत् रहता है, परंतु पृथक्त्व की जगह एकत्व आ जाता है। अब ध्याता कोई भी एक ही पर्याय का ध्यान करता है, अर्थात् पूर्वश्रुतानुसार किसी भी परमाणु, जीव, ज्ञानादि गुण, उत्पादादि कोई एक पर्याय तथा शब्द, अर्थ तीन योगों में से कोई भी एक योग ध्येयरूप में होता है, अलग-अलग नहीं होता है। एक ही ध्येय होने से इसमें अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण नहीं होता। चित्तवृत्ति एक ही ध्येय पर स्थिर रहने के कारण इसे एकत्ववितर्क- शुक्लध्यान कहा गया है। इसमें चित्त की वृत्ति अभेदप्रधान होती है, इस कारण अर्थ, व्यंजन और योग की एकरूपता रहती है। इसमें चित्त अधिक स्थिर बन जाता है। यह ध्यान निष्कंप होने से इसमें चित्तवृत्ति हवारहित स्थान में दीपक की ज्योति की तरह स्थिर रहती है। प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान से इसमें ध्यान की स्थिरता और निर्मलता अधिक होती है।

वज्रऋषभनाराच-संघयण वाला शूरवीर, चौदह, दस या नौ पूर्वधारी क्षायिक- सम्यग्दृष्टि जीव ही अंतर्मुहूर्तकाल तक यह ध्यान कर सकता है।

(६५५) सूक्ष्मक्रियानिवृत्याख्यं तृतीयं तु जिनस्य तत्।
अर्धरूद्धांगयोगस्य रूद्धयोगद्वयस्य च।।७८।।

<u>अनुवाद -</u> सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति नामक यह तीसरा ध्यान केवली को होता है। इसमें काययोग का आधा निरोध तथा दूसरे दो योग (मन और वचनयोग) का पूर्ण निरोध होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यान का तीसरा पाया, सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति का परिचय दिया गया है। यह ध्यान केवली भगवंत को ही होता है। शुक्लध्यान के दूसरे पाये के अंत में केवलज्ञान प्रकट होता है, तब केवली भगवंत के मन-वचन-काया के योग आरम्भ होते हैं, इसलिए इनको संयोगी-केवली कहा जाता है। ये तेरहवें गुणस्थानक पर होते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्ष की होती है और कम-से-कम आठ वर्ष की उम्र में वह दीक्षा ले लेता है। यदि दीक्षा लेते ही उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, ऐसी अवस्था में वह (केवलज्ञानी) जघन्य में दो घड़ी तक और उत्कृष्ट से आठ वर्ष कम एक पूर्व करोड़ वर्ष तक तेरहवें गुणस्थान पर रहते हुए भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हुए विहार करता है। जब केवली की आयु अंतर्मुहूर्त्त शेष रहती है और वेदनीय, नाम तथा गोत्र की भी स्थिाति उतनी ही रहती है, तब तीसरा शुक्लध्यान होता है, इसलिए दूसरे पाये और तीसरे पाये के ध्यान के मध्य किसी को घंटे, किसी को दिन, किसी को महीने और किसी को वर्षों का अंतर रहता है। इस तीसरे पाये के ध्यान में योगनिरोध की क्रिया आरम्भ होती है। वचन और मन-योग का निरोध हो जाने के बाद, अर्थात् वचन और मन की कुछ भी स्थूल या सूक्ष्म-क्रिया ही शेष हो, काया का भी आधा योग-निरोध हो गया हो, तब इस तीसरे पाये का ध्यान आरम्भ होता है। इस ध्यान में मनयोग और वचनयोग की पूर्णतः निवृत्ति हो जाती है और काययोग की सूक्ष्मक्रिया की अभी अतिवृत्ति रहती है, इसलिए इस ध्यान को सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति कहा जाता है। इसे सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती भी कहा जाता है, क्योंकि

आत्मस्थिरता के परिणाम से अब पीछे नहीं लौटने वाली, सूक्ष्म में से पुनः बाहर नहीं आने वाली - ऐसी, काया की सूक्ष्म-क्रिया है।

(६५६) तुरीयं तु समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति तत्।
शैलवन्निष्प्रकंपस्य शैश्यां विश्ववेदिनः।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> यह चौथा (शुक्लध्यान) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती है वह शैलेशी अवस्था में पर्वत की तरह निष्प्रकंप रहने वाले सर्वज्ञ को होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> तीसरे धन के पश्चात् चतुर्थ समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती ध्यान का प्रारंभ होता है। तीसरे पाये के ध्यान में संयोगी केवली मन और वचन इन दोनों योगों का संपूर्ण निरोध करके काया के बाहर योग का निरोध करते हैं, केवल सूक्ष्म काययोगरूपी श्वासोच्छवास की क्रिया शेष रहती है। अब वे तुरंत सूक्ष्मकाय-योग के निरोध करने का प्रबल पुरुषार्थ करते हैं, इसलिए तीसरे प्रकार के शुक्लध्यान का काल अत्यंत अल्प होता है। केवली भगवंत अपने आत्मप्रदेशों को निश्चल करने का पुरुषार्थ करते हैं। इस पुरुषार्थ में वे अडिग रहते हैं और सूक्ष्मकाययोग का निरोध भी करते रहते हैं। आत्मप्रदेशपरिस्पंदरूप क्रिया का उच्छेद हो जाने पर समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती- ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है। यह सब सूक्ष्मक्रिया तेरहवें गुणस्थान के अंतिमकाल में होती है। सर्वथा कायनिरोध होते ही तेरहवाँ गुणस्थान पूर्ण होता है और अयोगी-केवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान आरम्भ होता है। इस चौदहवें अयोगी-केवली के गुणस्थान पर स्थित केवली के ध्यान को ही समुच्छिन्न-क्रिया, अथवा व्यवच्छिन्न-क्रिया, अथवा व्युपरत-क्रिया कहा जाता है। सिद्ध-अवस्था प्राप्त न हो, तब तक इस ध्यान से पीछे लौटा नहीं जाता है, इसलिए इसे अप्रतिपाती कहते हैं। इस ध्यान का पुरुषार्थ तेरहवे गुणस्थान के अंतिम समय से प्रारंभ होता है और चौदहवें गुणस्थान पर पूर्ण होता है। शुक्ल ध्यान का तीसरा और चौथा पाया श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है। जीवप्रदेशों के परिस्पंद का अभाव होने से तथा अर्थ-व्यंजन व योग-संक्रांति का अभाव होने से अविचार है। इस ध्यान के समय आत्मप्रदेश निष्प्रकम्प, निश्चल होने से मेरु-पर्वत के समान स्थिर होते हैं। अतः यह अवस्था शैलेश की तरह स्थिर

होने से शैलेशी अवस्था कहलाती है। शैल, अर्थात् पर्वत और शैलेश, अर्थात् पर्वतों में श्रेष्ठ पर्वतों का राजा - ऐसा मेरु-पर्वत।

(६५७) एवच्चतुर्विधं शुक्लध्यानमत्र द्वयोः फलम्।
आद्ययो सुरलोकाप्तिंरत्ययोस्तु महोदयः।।८०।।

<u>अनुवाद -</u> इन चार प्रकार के शुक्लध्यानों में से पहले दो प्रकारों का फल स्वर्गलोक की प्राप्ति है और अंतिम दो का फल मोक्ष है।

<u>विशेषार्थ -</u> शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं। प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यान के फल के विषय में चर्चा की गई है। प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई फल तो अवश्य होता ही है। शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार, पृथक्त्व सवितर्क सविचार और एकत्व सवितर्क, सविचार (तत्त्वार्थ में एकत्व-सवितर्क-अविचार) हैं। इन दानों प्रकारों के शुक्लध्यान से विशिष्ट कोटि का शुभास्रव होता है और कर्म की निर्जरा भी होती है। इस ध्यान की श्रेणी में चढ़े हुए मुनि यदि उपशमश्रेणी से चढ़ाई करते हैं, अथवा काल क्षय से या भव क्षय होने से पतित होते हुए आयुष्य पूर्ण करते हैं, तो वे देवगति में देव बनते हैं। अगर वे क्षपकश्रेणी से चढ़ाई करते हैं, तो केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षगति प्राप्त करते हैं। शुक्लध्यान के अंतिम दो पाये सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती और अयोगी-केवलज्ञानी को ही लेते हैं, इसलिए इनका फल तो मात्र मोक्षगति ही है।

(६५८) आश्रवापायसंसारानुभावभवसंततीः।
अर्थे विपरिणामं वाऽनुपश्येच्छुक्लविश्रमे।।८१।।

<u>अनुवाद -</u> शुक्लध्यान के विश्राम के दौरान आश्रवों से होते हुए अपायों की, संसार के अुनभव की, भवपरंपरा की, अथवा पदार्थ की विपरीतता की अनुप्रेक्षा करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी भी प्रकार का ध्यान अंतर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं टिक सकता है, अर्थात् किसी भी एक विषय पर चित्त की एकाग्रता अंतर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं रहती है। तत्पश्चात् विषयांतर हो जाता है। ध्यानयोगी ध्यान करने के पहले समयावधि निश्चित कर लेते हैं। धर्मध्यान से आगे शुक्लध्यान में पहुँचे हुए मुनि ध्यान में अधिक समय तक स्थिर रह सकते

हैं, फिर भी अधिक-से-अधिक अंतर्मुहूर्त तक। उसके बाद विश्राम का समय आता है। दो ध्यानयोगों के मध्य के अल्पकाल को ध्यानान्तरिका कहते हैं।

धर्मध्यान की ध्यानांतरिका में अनित्यादि बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा का निर्देश दिया गया है तथा शुक्लध्यान की ध्यानांतरिका के लिए शास्त्रकारों ने अनुप्रेक्षा के चार विषय सूचित किए हैं। इन विषयों को अनुक्रम से लेना आवश्यक नहीं है। इसमें विकल्प हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी ध्यानशतक में इन विषयों का निर्देश किया है।

(१) आश्रव-अपाय-अनुप्रेक्षा - आश्रव का अर्थ है- कर्मों के आने का द्वार। आश्रव पाँच प्रकार के होते हैं- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद। मिथ्यात्व आदि के कारण शरीर की इन्द्रियों आदि के द्वारा प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्म बंधते रहते हैं। इसके अतिरिक्त आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, तीन शल्य, तीन गारव, राग, द्वेष आदि के कारण जीव अनेक अनर्थों को उठाता है। पाँचों आश्रवों में योग को छोड़कर शेष चार मोहनीयकर्म के उदय के कारण ही होते हैं। मोहनीयकर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। इस मोहनीयकर्म के कारण जीव इहलोक और परलोक - दानों में दुःखी होता है। उसे नरकगति के भयंकर दुःखों का सामना करना पड़ता है, निगोद में अव्यक्त चेतना के रूप में अनंतकाल व्यतीत करना पड़ता है। जीव इतना कष्ट उठाते हुए भी अज्ञान और मिथ्यात्व के अंधकार में भटकता रहता है।

(२) संसार के स्वभाव या संसार के अनुभव की अनुप्रेक्षा - यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। समस्त लोकाकाश का कोई भी प्रदेश ऐसा न रहा है, जहाँ कभी जीवों ने जन्म न लिया हो। आकाश-प्रदेश के एक-एक प्रदेश में अनेक बार जीव जन्मे और मरे हैं। इस प्रकार जीवों ने इस संसार में अनंतानंत भव व्यतीत किए हैं। जिस संसार में जीव अनेक प्रकार के दुःख, चिंता व रोगों की अग्नि-ज्वालाओं में प्रतिदिन जला करता है, उसी संसार से वह राग करता है। इस संसार में मनुष्य की एक चिंता दूर होती है, तो दूसरी चिंता उत्पन्न हो जाती है। मन-वचन-काया में निरंतर विकार उत्पन्न होते रहते हैं। जीव क्षणिक् नाशवंत सुख के पीछे दौड़ लगाता है। संसार के रंगमंच पर भाँति-भाँति के नाटक खेलता है। इस संसार में भवपरिवर्तन के साथ पुत्र

पिता बन जाता है और पिता पुत्र, माता पत्नी बन जाती है और पत्नी माता। इस प्रकार विषमता से भरा हुआ यह संसार है। धन-दौलत, रिश्ते-नाते कुछ भी स्थाई नहीं रहने वाले हैं, किंतु जीव मोह-मदिरा पीकर दिन-रात पापकर्म में रत रहता है। इन्द्रियों के विषय-सुख विषतुल्य हैं, अंत में दुःख प्रदान करने वाले हैं, पराधीनता में आबद्ध करने वाले हैं और वक्रता, कठोरता, क्रूरता, कषाय आदि दोषों को बढ़ाने वाले हैं, जबकि आत्म ध्यान का सुख उच्चकोटि का है, सर्वहितकारी हैं, फिर भी अज्ञानी जीव सांसारिक-सुखों के पीछे दिन-रात दौड़ता रहता है। इस प्रकार संसार के स्वभाव का चिंतन करना चाहिए।

(३) भवसंसति की अनुप्रेक्षा - भवसंतति, अर्थात् जन्म-मरण की परंपरा अनादिकाल से चल रही है। प्रत्यक्ष में हम प्रतिदिन कितने ही लोगों को जन्म लेते हुए और कितने ही लोगों का मरते हुए देखते हैं। संसार की यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है। माता के अशुचिमय उदर में आकर जीव नौ-नौ महीने भयंकर कष्ट उठाता है। जन्म के समय असाद्य वेदना होती है, जैसे लाखों बिच्छुओं ने एकसाथ डंक मारे हों। जीव जन्म लेकर सब कुछ भूल जाता है और निरंतर कर्मबंध करते हुए भवपरंपरा का सिंचन करता रहता है। इस प्रकार भवसंतति-अनुप्रेक्षा से मन को भावित करना चाहिए।

(४) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा - संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। जड़ अथवा चेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिंतन इस प्रकार करना चाहिए कि सर्वस्थान अशाश्वत् हैं, सर्वद्रव्य परिणामी, सर्वपर्याय परिवर्तनशील हैं। जीवों का भी एक पर्याय में रहना नियत नहीं है। पुद्गल का स्वभाव परिणमनशील है। युवा-अवस्था में जो शरीर सबको आकर्षित करता है, वही शरीर रोगों से घिर जाने पर, जरा-अवस्था आने पर कुरूप हो जाता है। सुगन्धित वस्तु कुछ ही समय में दुर्गंधयुक्त हो जाती है। इष्ट वस्तु ही समय निकलने पर अनिष्ट हो जाती है। एक ही उदर से जन्म लेने वाले भाई-भाई बैरी हो जाते हैं, रिश्ते-नाते सभी बदलते रहते हैं। आज जो प्राणों से प्यारा है, कल वही प्राणों का दुश्मन हो जाता है। इस संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है।

शुक्लध्यान के पहले पाये के अंत में तथा दूसरे पाये के अंत में इस प्रकार की अनुप्रेक्षा से मन को भावित करना चाहिए। शुक्लध्यान के तीसरे-चौथे पाये में तो केवलज्ञान होता है, जो मोक्ष को शीघ्र प्रदान कराने वाला होता है, अतः उसमें अनुप्रेक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(६५६) द्वयोः शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता।
चतुर्थः शुक्लभेदस्तु लेश्यातीतः प्रकीर्तितः।।८२।।

<u>अनुवाद -</u> दो में (शुक्लध्यान के पहले दो पायों में) शुक्ललेश्या, तीसरे में परमशुक्ल- लेश्या मानी गई है तथा शुक्लध्यान का चौथा प्रकार लेश्यातीत कहलाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में शुक्ल शब्द ध्यान के लिए भी प्रयोग किया गया है और लेश्या के लिए भी शुभध्यान दो प्रकार का होता है- धर्मध्यान और शुक्लध्यान। शुभलेश्या तीन प्रकार की है- तेजो (पीत) लेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या। लेश्या, अर्थात् अध्यवसाय, परिणाम, भाव। भाव लेश्या हमेशा एक जैसी नहीं होती है, परिणाम के आधार पर बदल जाती है। इसके कभी मंद, कभी तीव्र, कभी तीव्रतर, तीव्रतम आदि भेद परिणाम के आधार पर हो सकते हैं। शुक्ल के चार पाये हैं, उनमें से प्रथम दो पाये, पृथक्त्ववितर्क-विचार और एकत्ववितर्क-विचार, इन दोनों में शुक्ल लेश्या होती है। शुक्लध्यान के तीसरे पाये में, अर्थात् सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती में शुक्ललेश्या उत्कृष्ट कोटि की होती है। शुक्लध्यान के चौथे पाये समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती में मन-वचन-काया के योग का सर्वथा निरोध हो जाता है, अतः इस ध्यान में ध्यानी लेश्यातीत अथवा लेश्यारहित हो जाता है।

(६६०) लिंगं निर्मलयोगस्य शुक्लध्यानवतोऽवधः।
असंमोहो विवेकश्च व्युत्सर्गश्चाभिधीयते।।८३।।

<u>अनुवाद -</u> निर्मल योग वाले शुक्लध्यानी के अवध, असंमोह, विवेक और व्युत्सर्ग - ये चार लिंग कहे गए हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यानी के लिंग कहे गए हैं लिंग, अर्थात् चिह्न या निशानी, जिससे उसे पहचाना जा सके। लिंग भी दो प्रकार के होते हैं। कुछ चिह्न स्थूल होते हैं, जिन्हें बाहर से भी अनुभव किया जा

सकता है। इन्हें द्रव्यलिंग भी कहते हैं। कुछ लक्षण आंतरिक-सूक्ष्म होते हैं, जो बाहर से नहीं दिखाई देते हैं, उन्हें भावलिंग कहते हैं। किसी व्यक्ति को शुक्लध्यान हुआ है - यह किस प्रकार पता चले ? उसके लिए प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यानी के चार भावलिंग बताए गए हैं - (१) अवध (२) असंमोह (३) विवेक और (४) व्युत्सर्ग। शुक्लध्यानी के मन-वचन-काया के योग निर्मल हो जाते हैं। वे देह से भिन्न - ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करते हैं। इससे उनमें चार विशेषताओं का जन्म होता है, जो उन्हें पहचानने के लक्षण हैं। लक्षण उसे कहते हैं, जो अतिव्याप्त और अव्याप्त-दोष से रहित हो, अर्थात् जिस किसी वस्तु या व्यक्ति के जो लक्षण बताए गए हैं, वे लक्षण उसमें तथा उसकी जाति में पूर्णरूपेण व्याप्त हों, किन्तु उसके बाहर अन्य में न हों, जैसे शुक्लध्यानी के जो चार लक्षण बताए गए हैं, वे जो-जो भी शुक्लध्यानी होगा, उसमें होंगे, इसके सिवाय अन्य में नहीं होंगे। इन चारों लिंगों की व्याख्या आगामी श्लोकों में की गई है।

(६६१) अवधादुपसर्गेभ्यः कंपते न बिभेति वा।
असंमोहान्न सूक्ष्मार्थे मायास्वपि च मुह्यति।।८४।।

<u>अनुवाद -</u> अवध के कारण वे उपसर्ग से कांपते नहीं हैं, अथवा डरते नहीं हैं। असंमोह के कारण वे सूक्ष्म अर्थ में या माया में व्यामोहित नहीं होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> शुक्लध्यान के ध्याता योग-पुरुष के प्रथम दो लिंगों का यहाँ परिचय दिया गया है। अवध का अर्थ है - अचलता, चलायमान नहीं होना। शुक्लध्यान पर आरूढ़ हुए महापुरुष को देह और आत्मा की भिन्नता का भान सतत रहता है, इसलिए देह से उसका ममत्वभाव नष्ट हो जाता है। देह छता जेहनी दशा वर्ते, देहातीत देह में रहते हुए भी देह से मूर्च्छा आने पर भी विचलित नहीं होते हैं, कोई उनका वध करे, मारे या काल बनकर उनके सिर पर मंडराता रहे, तो भी वे भयभीत नहीं होते हैं, कांपते नहीं हैं, व्यग्र या शोकातुर नहीं बनते हैं। भूख, प्यास, धूप, ठंड, मच्छर आदि परिषहों को वे समभाव से सहन करते हैं। सहनशीलता उनका सहज स्वभाव बन जाता है। वे सहन करते हैं - यह अहसास भी उनको नहीं होता है, क्योंकि वे तो आत्मरमणता में मस्त हो रहे हैं। जो कुछ हो रहा है वह देह

को हो रहा है, मुझे कोई मार नहीं सकता, कोई कष्ट दे नहीं सकता- यह उनके अंतर में बसा हुआ रहता है, इसलिए मारणान्तिक-उपसर्ग के समय भी वे ज्ञाता-दृष्टाभाव में ही होते हैं। वे समत्वभाव में स्थिर होते हैं।

शुक्लध्यानी का दूसरा लिंग है- असंमोह। संमोह का अर्थ है- व्यामोहित हो जाना, ललचा जाना, ठगा जाना, धोखे में रहना आदि का नहीं होना। असंमोह का दूसरा अर्थ भी होता है। जब ध्यानी शुक्लध्यान में मग्न हो, तब चौदह पूर्व में आते हुए सूक्ष्म पदार्थों का एकाग्रता से चिंतन चलता है और उस समय चाहे जितना रहस्यमय गहन पदार्थ हो, तो भी ध्याता का चित्त व्यामोहित नहीं होता है, क्योंकि उसे प्रमाद नहीं होता है और वह श्रद्धा से संपन्न होता है, इसलिए सूक्ष्म अर्थ को समझ सकता है। सूक्ष्म अर्थ के चिंतन में या सूक्ष्म पदार्थों के रहस्य समझने में वह गड़बड़ाता नहीं है, मोहित नहीं होता है, क्योंकि सभी रहस्य उसे स्पष्ट होने लगते हैं। पुनः, शुक्लध्यान के प्रकट होने पर ध्याता को कई प्रकार की लब्धियाँ-सिद्धियाँ भी प्रकट होती हैं। देवी-देवता भी उसे ललचाने के लिए, उसकी परीक्षा के लिए मायाजाल रचते हैं, परंतु वह विचलित नहीं होता है। वैक्रिय-लब्धि वाले देवीदेवताओं से भी वे प्रभवित नहीं होते हैं, आकर्षित नहीं होते हैं। उनकी ऋद्धियों का देखकर खुश नहीं होते हैं। उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा का जन्म नहीं होता है, इस दृष्टि से भी वह असंमोहित रहता है। अनुकूल या प्रतिकूल परिषह में वह किंचित भी विचलित नहीं होता है। इस प्रकार शुक्लध्यानी अवध और असंमोह - इन लक्षणों के कारण समत्वभाव से युक्त, धीर तथा वीर होते हैं।

(६६२) विवेकात्सर्वसंयोगाद्भिन्नमात्मानमीक्षते।
देहोपकरणासंगो व्युत्सर्गाज्जायते मुनिः।।८५।।

<u>अनुवाद</u> - विवेक के द्वारा वे सर्वसंयोग से अपनी आत्मा को भिन्न देखते हैं। व्युत्सर्ग द्वारा मुनि शरीर और उपकरण से असंग होते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यानी के तीसरे तथा चौथे लिंग की व्याख्या की गई है। तीसरा लिंग विवेक तथा चौथा लिंग व्युत्सर्ग है। विवेक, अर्थात् भेदविज्ञान का पुष्ट होना, देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखना, अनुभव करना। देह के साथ सर्वसंयोग होते हुए भी देह से भिन्नता का

उनका विवेक सदा जाग्रत रहता है। जीव और अजीव का जो भेदज्ञान है, वही विवेक है। अविद्या से मुक्त आत्मा अपने-आपको पुद्‌गल से भिन्न समझते हुए वास्तव में मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, और निराकार हूँ। दूसरा कोई एक परमाणु भी मेरा नहीं है। कर्म और जीव अनादिकाल से दूध और पानी की तरह एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं, किंतु कभी भी एक भी कार्मण-परमाणु जीवस्वरूप नहीं हुआ और जीव का एक भी प्रदेश जड़ नहीं हुआ है। दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। भेदज्ञान के रहस्यों को जानने के लिए अंतरात्मदशा प्राप्त करना जरूरी है। सदा-सर्वदा शुक्लध्यानी के हृदय में निश्चयनय की दृष्टि की अखंड ज्योति प्रज्वलित रहती है। इस कारण चाहे देह को अनुकूलता आए या प्रतिकूलता, कहीं मान हो या अपमान, कोई शरीर को मारे, काटे या जलाए, उनका उसमें उपयोग नहीं होता है। मारणान्तिक-उपसर्गों में भी वे ध्यान से विचलित नहीं होते हैं, जैसे गजसुकुमाल, मेतारजमुनि, खंधकमुनि, परमात्मा महावीर, पुरुषादानीय पार्श्वनाथ भगवान् आदि कई दृष्टांत शास्त्रों में आते हैं, जिनके अनुसार भयंकर उपसर्ग भी इन महापुरुषों के ध्यान को भंग नहीं कर सके। गजसुकुमाल श्मशान में कायोत्सर्ग में खड़े हुए हैं। उसी समय क्रोधित श्वसुर ने उनके सिर पर मिट्टी की पाल बनाकर जलते हुए कोयले सिर पर रख दिए। उस समय गजसुकुमाल का चिन्तन चलता है- 'देह जल रहा है, मेरा कुछ नहीं जल रहा है,' मैं तो देह से परे हूँ। जो जलता है, वह मेरा नहीं है और जो मेरा है, वह जलता नहीं है।' इस भाव के साथ वे ध्यान में स्थिर रहे। परिणामस्वरूप, केवलज्ञान प्राप्त करके शुक्लध्यान के तीसरे तथा अंत में चौथे पाये में पहुँचकर सकल कर्म का विनाश करके उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

व्युत्सर्ग - यह शुक्लध्यानी का चतुर्थ चिह्न है। वि+उत्सर्ग, अर्थात् विशेष रूप से त्याग करना। वह विवेकपूर्वक से देह और उसके साथ संबंधित संयोगों को स्व से भिन्न समझता है। उससे आगे कदम बढ़ाते हुए उसका देह और सभी उपकरणों से असंग हो जाता है, अर्थात् वह उनका त्याग कर देता है। यहाँ त्याग करने का तात्पर्य यह है कि शरीर और उपाधि के प्रति उनका अल्प भी राग या द्वेष-भाव नहीं रहता है। वे द्रव्य, उपकरण,

शरीरादि तथा भाव-कषाय आदि से मुक्त रहते हैं। शुक्लध्यानी मुनि को जब केवलज्ञान हो जाता है, तो जब तक आयुष्य शेष रहता है, तब तक देह रहता है, परंतु देह के प्रति उसका ममत्वभाव नहीं रहता है। इस प्रकार अवध, असंमोह, विवेक और व्युत्सर्ग - इन चार लक्षणों द्वारा शुक्लध्यानी महापुरूष को पहचाना जा सकता है।

(६६३) एनं ध्यानक्रमं शुद्धं मत्वा भगवदाज्ञया।
यः कुर्यादेतदभ्यासं संपूर्णाध्यात्मविद् भवेत्।।८६।।

<u>अनुवाद -</u> जो (योगी) भगवान् की आज्ञा द्वारा शुद्ध ध्यान का यह क्रम जानकर इसका अभ्यास करते हैं, वे संपूर्ण अध्यात्म को जानने वाले होते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> इस अधिकार का समापन करते हुए ग्रंथकर्त्ता अब ध्यान के सामान्य फल की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के अनुसार शुद्ध ध्यान का क्रम इस अधिकार में दर्शाया गया है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान-इन दो अशुभ ध्यानों का त्याग करके जीव को क्रमशः धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ओर बढ़ना है। जो इन ध्यानों के स्वरूप को जानकर उसके आधार पर नियमित ध्यान करता है, वह योगी अध्यात्म को जानने वाला होता है। अर्थात् आत्मा के समीप पहुँच जाता है, स्व से परिचित हो जाता है और पर से संबंध विच्छेद कर लेता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से शुभास्रव (पुण्यबंध) संवर और कर्म की निर्जरा होती है, अंत में सभी कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार मुमुक्षु जीवों के लिए ध्यान की महिमा अपरंपार है।

---००० ---

प्रबंध पाँचवा

सत्रहवाँ अधिकार - ध्यान स्तुति अधिकार

(६६४) यत्र गच्छति परं परिपाकं पाकशासनपदं तृणकल्पम्।
स्वप्रकाशसुखबोधमयं तद् ध्यानमेव भवनाशि भजध्वम्।।१।।

अनुवाद - जिस (ध्यान) की परम परिपक्वता को प्राप्त करने पर इन्द्र के शासन का पद भी तृण के समान लगता है, जो ध्यान स्वप्रकाशक, सुखरूप, बोधमय और भवभंजक है उसका तू सेवन कर।

विशेषार्थ - उपाध्याय यशोविजयजी ने ध्यान के शुद्ध स्वरूप, अभ्यास-प्रक्रिया, भेद आदि का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् इस अधिकार में ध्यान की महिमा का, सतवनीयता का विवेचन किया है। ध्यान में निष्णात और सफल हो जाने पर साधक को जो आध्यात्मिक उपलब्धि होती है, वह वास्तव में अत्यंत गहनीय है। प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि जब साधक ध्यानयोग में उत्कृष्ट परिपक्वता या सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब वह इन्द्र के पद को भी तृणतुल्य समझता है। उच्च कोटि के ध्यान के मुख्य चार लक्षण हैं- (१) स्वप्रकाशक (२) सुखरूप (३) बोधमय (४) भवभंजक। यह ध्यान स्वप्रकाशक है, अर्थात् स्व की पहचान कराने वाला, स्व के ज्योतिर्मय स्वरूप का बोध कराने वाला है। जीव को ध्यान के द्वारा 'स्व' का भान होता है। वह स्वस्वरूप में लीन रहता है और आत्मा के दिव्य प्रकाश का अनुभव करता है। यह आनंद सुखरूप होता है, आनंदस्वरूप होता है और अक्षय होता है। इस ध्यान के योग से जीव को स्व की शक्ति का, स्व की स्थिति का बोध होता है। ऐसा ध्यान जन्म-मरण के चक्र का अंत करके मोक्षगति को प्राप्त कराने वाला है। ऐसे परम प्रकृष्ट ध्यान के द्वारा जब आध्यात्मिक-सुख की अनुभूति होती है, तब उसे सांसारिक-लक्ष्मी तुच्छ लगती है। इतना ही नहीं, इन्द्र के दिव्य सुख-वैभव-पद भी तृण के समान मूल्यहीन लगते हैं। इससे हम कल्पना कर

सकते हैं कि इस उच्चतम ध्यान का अनुभव कितना आनंदमय, समृद्ध, स्वाधीन और महिमावंत होता है। जब तक जीव ने ऐसा अनुभव नहीं किया, तब तक उसके हृदय में भौतिक सुख-समृद्धि, चक्रवर्ती, वासुदेव, इन्द्र आदि के सुखों की, उनकी सत्ता की महिमा रहती है। उनके प्रति आकर्षण रहता है, परंतु भौतिक सुखानुभव तो मात्र आभासरूप होता है, वास्तविक नहीं होता, इसलिए सच्चे आत्मिक-सुख का अनुभव करने वाले भौतिक-सुख की चाह नहीं रखते हैं, न ही उनके मन में उन सुखों के प्रति कोई आकर्षण रहता है। जिसके घर में ही कल्पवृक्ष हो, वह बाहर के आम आदि वृक्षों का देखकर लालायित नहीं होता है, उन्हें पाने को उत्सुक नहीं होता है। जिसने स्व में ही परम आनंद को प्राप्त कर लिया है, वह पराधीन बनाने वाले दुःखयुक्त सुखों को पाने के लिए उत्सुक नहीं होता है, अतः ऐसे भव्य आत्मिक-सुख को प्राप्त कराने वाले शुभ ध्यान का आलंबन साधक को लेना चाहिए।

(६६५) आतुरैरपि जड़ैरपि साक्षात् सुत्यजा हि विषया न तु रागः।
ध्यानवांस्तु परमद्युतिदर्शी तृप्तिमाप्य न तमृच्छति भूयः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> आतुर और जड़ व्यक्ति के लिए विषयों का साक्षात् त्याग करना सरल है, परंतु राग ऐसा नहीं है कि जिसका त्याग सरलतापूर्वक हो सके। परमज्योति का दर्शन करने वाले ध्यानी तो (पूर्ण रूप से) तृप्त होकर उसको (राग को) पुनः स्वीकार ही नहीं करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में, 'सामान्य संसारी व्यक्ति तथा ध्यानी महापुरुष-दोनों में कितना अंतर है, यह बताया गया है। ध्यानी महापुरुष सांसारिक विषयों का त्याग करते हैं। यदि कोई यह कहे कि संसार में ऐसे कितने ही लोग हैं, जो ऐन्द्रिक-विषयों का भोग नहीं कर पाते हैं, अथवा कोई व्यक्ति बीमार हो, कोई अशक्त हो, व्यापार में लगा हुआ हो, पत्नी से दूर विदेश में रहता हो, वह भी विषयों का सेवन नहीं करता है, तो ध्यानी व्यक्ति और उन लोगों में क्या अंतर है ? ध्यानी भी विषय भोग से दूर रहता है और वे भी विषयभोग नहीं कर पाते हैं, किंतु दोनों परिस्थितियों में जमीन-आसमान का अंतर है। संसारी व्यक्ति द्वारा मजबूरीवश विषयभोग नहीं भोग पाने पर भी विषयों के प्रति उसकी रुचि होती है। उसे विषयभोग

अच्छे लगते हैं। तन से नहीं भोग पाने पर भी उसके मन में विषय बसे हुए रहते हैं। विषयों में उसकी सुखबुद्धि रहती है, उसमें विषयों को भोगने की इच्छा, आसक्ति, अभिलाषा, वासना रहती है। ऐसे व्यक्ति अतृप्त होते हैं, जबकि ध्यानी को विषयों के प्रति राग नहीं होता है, वे स्व में ही तृप्त होते हैं। उनकों न कुछ चाह होती है, न कुछ चिंता रहती है। बाह्य-दृष्टि से दानों एक जैसे लगते हैं, दोनों में विषयभोग का अभाव हैं परंतु आभ्यन्तररूप से परिणाम में महान् अंतर है। ध्यानी की दृष्टि में विषयभोग या वस्तु का मूल्य, महत्त्व, अभिलाषा, रुचि कुछ नहीं होता है। सांसारिक-व्यक्ति का विषयभोग नहीं भोगने पर भी उससे संबंध बना हुआ रहता है, जबकि ध्यानी योगी-पुरुष का बाह्य भौतिक-वस्तुओं से, विषय भोग से संबंध विच्छेद हो जाता है। कोई सांसारिक-दरिद्र सड़क पर बसेरा डाले होने पर भी मकान के स्वप्न देखता रहता है, मकान से संबंध बनाए रखता है। ध्यानी साधु भव्य भवन में ठहरने पर भी उस भवन से संबंध नहीं जोड़ता है ,क्योंकि उसका संबंध परमात्मा से जुड़ गया है। उसने परमात्मस्वरूप परमज्योति का दर्शन कर लिया है, अपने अन्तर में भी परम आनंद, उल्लास का अनुभव कर लिया है। ऐसे ध्यानी को कभी भी विषयभोग से राग नहीं होता है।

(६६६) या निशा सकलभूतगणानां ध्यानिनो दिनमहोत्सव एषः।
यत्र जाग्रति च तेऽभिनिविष्टा ध्यानिनो भवति एत्र सुषुप्तिः।।३।।

<u>अनुवाद -</u> सकल प्राणीसमूह के लिए जो रात्रि है, वह ध्यानी के लिए दिवस महोत्सव है। अभिनिवेश वाले, अर्थात् सांसारिक-लोग जिसमें जाग्रत रहते हैं, उसमें ध्यानी को सुषुप्ति होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में सांसारिक-विषयों के रंग में रंगे हुए प्राणियों और संसार से विरक्त ध्यानी महापुरुषों-दोनों के अनुभवों में कितना अन्तर है, यह दर्शाया गया है। संसारी स्व में सोते हैं और पर में जागते हैं, जबकि ध्यानी स्व में जागता है और पर में सोता है। जिस व्यक्ति की जिस विषय या वस्तु में रुचि है, वह उस वस्तु या विषय में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे दिन और रात का भी भान नहीं रहता है एवं जिस विषय में उसे रुचि नहीं हो, उस विषय को सुनने में उसे

आलस्य आता है, दिन में भी नींद के झोंके आते हैं। जिनकी इन्द्रियाँ और मन वश में नहीं हैं, जो भोगों में आसक्त हैं, वे सभी स्व के प्रति सोए हुए हैं। आत्मतत्त्व क्या है ? तत्त्वज्ञान क्या है ? हम दुःख क्यों पा रहे हैं ? जन्म-मरण क्यों हो रहा है ? हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका परिणाम क्या होगा ? इस ओर बिल्कुल न देखना, जाग्रति नहीं होना ही उन प्राणियों की रात है, उनके लिए अंधेरा है, स्व के प्रति निद्रा है। तत्त्वज्ञानी ध्यानी महर्षियों के लिए तत्त्वज्ञान बातें, आत्मा-परमात्मा की बातें उत्सवरूप होती हैं। सामान्य मनुष्यों की जो रात है, अर्थात् अपने कल्याण की तरफ से जो विमुखता है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है। ज्ञानी स्व के प्रति जाग्रत है और पर के प्रति सुषुप्त है, पर से विमुख है।

सांसारिक भोगोपभोग की बातें सांसारिक-जीवों के लिए जाग्रतिप्रेरक होती हैं। ज्ञानियों के लिए ऐसी बातें तुच्छ, निरर्थक, नीरस लगती हैं। वे उसमें सुषुप्त होते हैं। सामान्य प्राणी भोग और संग्रह में बड़े सावधान रहते हैं, एक-एक पैसे का हिसाब रखते हैं, जमीन के एक-एक इंच का ख्याल रखते हैं, जितने रुपए अधिकार में आ जाएं, वे चाहे न्यायपूर्वक हो या अन्यायपूर्वक, उसमें वे बड़े खुश होते हैं कि इतना लाभ हमें हो गया है - इस तरह वे सांसारिक, क्षणभंगुर भोगों को बटोरने में और आदर-सत्कार, मान-बड़ाई प्राप्त करने में ही निमग्न रहते हैं, उसमें वे बड़े सावधान रहते, ही उन लोगों का जागना है।

जिन सांसारिक-पदार्थों का भोग और संग्रह करने में संसारी मनुष्य अपने को बुद्धिमान्, चतुर मानते हैं, खुश होते हैं; ध्यानी, मननशील, संयमी की दृष्टि में वह सब रात के समान है, बिल्कुल अंधेरा है। उनकी दृष्टि में उन वस्तुओं का किंचित्मात्र भी महत्त्व नहीं है। जैसे बच्चे खेलते हैं, तो वे कंकर, पत्थर, काँच के रंगीन टुकड़ों के लिए लड़ते हैं, अगर वे मिल जाते हैं, तो वे बच्चे खुश होते हैं, परंतु जिसके मन में कंकर-पत्थर का महत्व नहीं है, ऐसा समझदार व्यक्ति इस बात को समझता है कि इन पत्थरों के मिलने से क्या लाभ हुआ और न मिलने से क्या हानि हुई ? इन बच्चों को अगर कंकर पत्थर मिल भी जाएंगे तो ये कब तक उनके साथ रहेंगे ? इसी तरह भोग-संग्रह में लगे हुए मनुष्य को देखकर परमतत्त्व में मग्न संयमी

मनुष्य, ध्यानी महर्षि विचार करते हैं कि भोग मिल गए, आदर-सत्कार हो गया, खा पी लिया, खूब शृंगार कर लिया, तो क्या हो गया? इससे मनुष्य को क्या मिला? इनमें से इनके साथ क्या जाएगा ? ये कब तक इन भोगों के साथ रह सकेंगे ? इस तरह उनकी दृष्टि में प्राणियों का जागना रात के समान है। दुनिया आँख खोलकर देखती है, चर्मचक्षु से देखती है, जबकि ध्यानी आँखें बंद करके देखता है, अपने अन्तर चक्षु से निहारता है। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में यही बात कही गई है -

या निशा पूर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

(६६७) संप्लुतोदक इवांधुजलानां सर्वतः सकल कर्म फलानाम्।
सिद्धिरस्ति खलु यत्र तदुच्चै-र्ध्यानमेव परमार्थनिदानम्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे कुएँ के जल की सिद्धि या प्राप्ति चारों तरफ की (अन्दर) आव पर निर्भर है, उसी प्रकार सभी क्रियाओं के फल की सिद्धि जिसमें रही हुई है, वह परमार्थ का कारणरूप उच्च ध्यान ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> कुएँ में जो पानी है, उसका कारण कुएँ में विद्यमान पानी का स्रोत है। स्रोत से निकलता हुआ पानी कुएँ में एकत्रित होता है। कुएँ के जल के लिए अन्दर का स्रोत महत्त्वपूर्ण है। यदि कुएँ की कितनी ही खुदाई की जाए, गहरा कर दिया जाए, किंतु स्रोत नहीं निकले, तो वह कुआं व्यर्थ है। जिस प्रकार स्रोत के बिना कुआं सूख जाता है, स्त्रोत से ही कुएँ में जल रहता है, उसी प्रकार सभी क्रियाओं की सफलता ध्यान में रही हुई है। जिस प्रकार क्रिया के साथ यदि ध्यान नहीं जुड़ा, चित्त की एकाग्रता नहीं जुड़ी, तो वह क्रिया निष्फल हो जाती है। कुएँ में जितना महत्त्व स्रोत का है, क्रिया में उतना ही महत्त्व चित्त की एकाग्रता का है। जितना ध्यान एकाग्र रहेगा, उतना फल विशेष होगा।

(६६८) बाध्यते न हि कषायसमुत्थै-र्मानसैर्न नतभूपनमद्भिः।
अत्यनिष्टविषयैरपि दुःखै-र्ध्यानवान्निभृतमात्मनि लीनः।।५।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा में पूर्ण रूप से हुए ध्यानी को कषाय से उत्पन्न हुए मनोविकारों से, विनम्र बने हुए राजाओं के नमस्कारों से या अत्यंत अनिष्ट विषयों से या दुःखों से भी बाधा प्राप्त नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ध्यानी महापुरुषों की आत्मस्थिरता के विषय में चर्चा की गई है। जब ध्यानी स्वरूपरमण में, अपने स्वभाव में तल्लीन हो, तब अनुकूल या प्रतिकूल, कैसे भी उपसर्ग आएं, वे उसे विचलित नहीं कर सकते हैं। कषायों से उत्पन्न हुए मनोविकार भी उसे पीड़ित नहीं करते हैं। वस्तुतः, ध्यानियों के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी, क्रोध-मान-माया और लोभ - ये बारह कषाय उपशमित हो जाते हैं, मात्र संज्वलन-कषाय ही शेष रहता है, परंतु उनके आगे वे झुकते नहीं हैं, सदा जागरूक रहते हैं। बड़े-बड़े ध्यानियों, योगियों के चरणों में राजा, महाराजा, चक्रवर्ती भी झुकते हैं। उनकी चरणरज को सिर पर लगाकर वे अपने को धन्य मानते हैं, फिर भी ध्यानी महापुरुषों को गर्व नहीं होता है। उनका मान-कषाय जाग्रत नहीं होता है। प्रतिकूल परिस्थिति, अनिष्ट, भयंकर कष्ट भी उनके ध्यान में विघ्न नहीं डाल सकते हैं। ऐसे ध्यानी महापुरुषों ने ध्यान के द्वारा देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव किया है, इस कारण देह में उनका ममत्व नहीं होता है। वे अनासक्त होकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही बने रहते हैं। सारे दुःख की जड़ आसक्ति है, पर का ममत्व ही दुःख उत्पन्न करता है, ध्यान द्वारा उस दुःख की जड़ का विनाश हो जाता है।

(६६९) स्पष्टदृष्टसुखसंभृतमिष्टं ध्यानमस्तु शिवशर्मगरिष्ठम्।
नास्तिकस्तु निहतो यदि न स्या-देवमादिनयवाङ्मयदंडात्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> स्पष्ट रूप से देखे हुए सुख से परिपूर्ण, इष्ट और मोक्षसुख से गरिष्ठ-ऐसा ध्यान मुझे प्राप्त हो। जो नास्तिक इस नयगर्भित वाणीरूप दंड के प्रहार से हत (नष्ट) न हो, तो उससे क्या ?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ध्यान द्वारा हुए आत्मदर्शन के अनुभव की बात करते हैं। जब ध्यानी ध्यान की उच्च-अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसे आत्मा का अनुभव होता है, स्वरूप का वेदन होता है। आत्मदर्शन का यह अनुभव अत्यंत प्रिय और सुख से परिपूर्ण होता है। इस अनुभव में मोक्षसुख के अंश की प्रतीति होती है। इस अनुभव द्वारा स्पष्ट बोध होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर से भिन्न चेतनद्रव्य, आत्मद्रव्य हूँ। आत्मा के ऐसे अनुभव के लिए फिर शास्त्र के किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रत्यक्ष आत्मिक-सुख का अनुभव कर लेने के बाद शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती है।

ऐसे अनेक महापुरुषों ने ध्यान के बल पर आत्मानुभव प्राप्त किया और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर शास्त्रों की रचना की, इसलिए अनेक प्रमाण, तर्क देकर शास्त्र में आत्मा के अस्तित्त्व को सिद्ध किया गया है, परंतु कितने ही नास्तिक लोग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। प्रस्तुत श्लोक में शास्त्रीय-वचनों की दंड-प्रहार से उपमा दी गई है। कितने ही विद्यार्थियों को समझाने के लिए, उन्हें अध्ययन के प्रति जागरूक बनाने के लिए शिक्षक छड़ी या डंडे से प्रहार करता है। इससे विद्यार्थी का चित्त जाग्रत हो जाता है और वह प्रमाद का त्याग कर अध्ययन करने लग जाता है, इसलिए यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गई कि 'छड़ी पड़े छम-छम, विद्या आवे धम-धम', लेकिन फिर भी कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं कि उन पर दंड-प्रहार का भी कोई असर नहीं होता। उन्हें कितनी भी सजा दी जाए, वे अध्ययन नहीं करते हैं। ऐसे विद्यार्थियों के प्रति शिक्षक उपेक्षाभाव रखता है। ठीक वैसे ही, शास्त्र के वचनरूपी दंड-प्रहार से जीव जागरूक बनता है तथा वह आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है, किन्तु कुछ आग्रही नास्तिक ऐसे होते हैं कि शास्त्र के वचनरूपी दंड-प्रहारों का भी उन पर कोई असर नहीं होता है। उन्हें कितने भी शास्त्रों के प्रमाण देकर समझाया जाए, किन्तु वे आत्मा के अस्तित्त्व को ही स्वीकार नहीं करते हैं, तो फिर ऐसे नास्तिकों के प्रति उपेक्षाभाव रखना ही योग्य है।

(६७०) यत्र नार्कविधुतारकदीप-ज्योतिषां प्रसरतामवकाशः।
ध्यानभिन्नतमसां मुदितात्म-ज्योतिषां तदपि भाति रहस्यम्।।७।।

<u>अनुवाद -</u> जहाँ सूर्य, चंद्र, तारा और दीपक की फैलती हुई ज्योति को अवकाश नहीं रहता है, वहाँ भी ध्यान से अंधकार को भेदने वाले और आत्मज्योति को उदित करने वाले का रहस्य प्रकाशमान् होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> सूर्य, चंद्र, तारे और दीपक-ये प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अंधकार का नाश करते हैं। दीपक की अपेक्षा तारों का प्रकाश अधिक व्यापक है, तारों की अपेक्षा चंद्र का प्रकाश अधिक है और चंद्र की अपेक्षा सूर्य का प्रकाश सर्वाधिक है। इन सबकी शक्ति स्थूल अंधकार को भेदने की है, परंतु विश्व में मोहमायारूपी, अज्ञानरूपी और मिथ्यात्वरूपी अंधकार इतना सक्ष्म और गहरा है कि चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देता है। प्रज्ञाचक्षु द्वारा ही उसे देखा जा सकता है। ऐसे प्रगाढ़ अंधकार को भेदने के लिए सूर्य, चंद्र, तारे, दीपक आदि समर्थ नहीं हैं। इनकी एक किरण भी इस अंधकार में प्रवेश नहीं कर सकती है। वस्तुतः, वहाँ उनको अवकाश ही नहीं है, उनका स्थान ही नहीं है, परंतु आत्मज्योति तो सूर्य और चंद्र से भी अधिक प्रकाशमान् है। ध्यान के द्वारा आत्मज्योति के दर्शन हो सकते हैं। ध्यानी महर्षि अपने ध्यान के द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञानरूपी अंधकार को भेद सकते हैं और आत्मज्योति को निहार सकते हैं। वे इसके रहस्य को प्रकाश सकते हैं। ध्यान के द्वारा ही केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान का ऐसा दिव्य प्रकाश है, जिससे बाह्य और आंतरिक-सभी अंधकार का नाश हो जाता है, अर्थात् कोई भी रहस्य उसमें छुपा हुआ नहीं रह सकता है।

(६७१) योजयव्यमितकालवियुक्तां प्रेयसीं शमरतिं त्वरितं यत्।
ध्यानमित्रमिदमेव मतं नः किं परैर्जगति कृत्रिममित्रैः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> अनादिकाल से वियुक्त हुई शमरतिरूपी प्रिया का जो शीघ्रता से मिलन करवा देता है, वह ध्यानरूपी मित्र ही हमारे लिए माननीय है। जगत् में दूसरे कृत्रिम मित्रों से हमारा क्या काम ?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ध्यान को एक सच्चे हितकारी मित्र की उपमा दी गई है। सच्चा मित्र दुःख में या कष्ट में सहायक होता है। वह

मित्र के हित के लिए, उसके सुख के लिए हमेशा प्रयत्न करता है, परंतु संसार में ऐसे निःस्वार्थ मित्रों की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। प्राप्ति हो भी जाए, तो भी वे अधिक-से-अधिक पौद्गलिक-सुख को प्राप्त कराने में सहायक हो सकते हैं, किन्तु वे आत्मिक-सुख को, समत्व को प्राप्त नहीं करा सकते हैं। वे बाह्य-प्रेमिका से मिलन करवा सकते हैं, किन्तु अनादिकाल से जिस प्रिया का वियोग है, उस शमरतिरूपी प्रिया से भेंट नहीं करा सकते हैं। शमरति, अर्थात् समता और शांति का आनंद। शमरति, अर्थात् स्वरूप में स्थिरता का आनंद। शमरति, अर्थात् कषायों की उपशान्ति का आनंद। इस आनंद के लिए प्रियतमा की उपमा का प्रयोग किया गया है। संसार में यदि परिस्थितिवश प्रेमी-प्रेमिका का या पति-पत्नी का वियोग हो गया हो, दोनों एक-दूसरे के वियोग में अश्रु बहा रहे हों, एक-दूसरे से मिलने के लिए तड़प रहे हों, ऐसे में यदि कोई निःस्वार्थी मित्र किसी आयोजन द्वारा उनका मिलन करवा दे, तब दोनों को अति आनंद की अनुभूति होती है। जीव और शमरति का परस्पर गहरा सम्बन्ध है, किन्तु विषय, कषाय आदि शत्रुओं के कारण अनादिकाल से दोनों का वियोग है। ध्यानरूपी मित्र इस वियोग को दूर करने के लिए कटिबद्ध रहता है। ध्यानरूपी मित्र शमरति को ढूंढकर लाता है। सभी शत्रुओं का सामना करता है और उन्हें धराशायी कर देता है।

जीव जब ध्यान में आरूढ़ होता है और ध्यान की उच्च भूमिका पर पहुँचता है, तब वह शमरूपी रति के आनंद का अनुभव करता है। वस्तुतः, ध्यान ही जीव को प्रशमसुख का अनुभव कराता है, मोक्षगति प्राप्त कराता है। जहाँ ऐसा सच्चा मित्र मिलता हो, वहाँ फिर संसार में परिभ्रमण कराने वाले विषय-कषायरूपी नकली मित्रों से दुःख के अतिरिक्त और क्या मिलेगा?

(६७२) वारितस्मरबलातपचारे, शीलशीतल सुगंधिनिवेशे।
उच्छ्रिते प्रशमतल्पनिविष्टो ध्यानधाम्नि लभते सुखमात्मा।।६।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें कामदेव के बलरूपी आतप को अवरूद्ध कर दिया गया है, जिसकी रचना शील द्वारा शीतल और सुगंधित है, जो

विशाल-उत्तुंग है, ऐसे ध्यानरूपी प्रासाद में प्रशमरूपी पलंग (तल्प) पर बैठी हुई आत्मा सुख प्राप्त करती है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ध्यान को महल की उपमा दी गई है। यह महल ऐसा है, जिसमें प्रखर धूप का, उष्णता का प्रवेश नहीं होता है। धूप अर्थात् कामदेव का बलरूपी आतप। तात्पर्य यह है कि जहाँ शुभध्यान में मग्नता है, वहाँ कामवासना प्रवेश नहीं कर सकती। वहाँ तो ब्रह्मचर्य की ही महिमा है। यह महल अत्यंत शीतल तथा सुगंधित है। चारों ओर से महल में भीनी-भीनी खुशबू आ रही है। शीतलता और सुगंध शीलरूपी है। जहाँ शील है, संयम है, चारित्र है, वहाँ शीतलता, शान्ति, मधुरता आदि का अनुभव होता है। इस महल में पधारे हुए आत्मारूपी अतिथि प्रशमरूपी पलंग पर आराम से विराजित हैं। वे सुख तथा आनंद का अनुभव करते हैं। जब तक प्रशमभाव नहीं है, समत्व नहीं है, तब तक आत्मा को आराम नहीं है, आनंद नहीं है। प्रशमरूपी पलंग पर आनंद का अनुभव करने के लिए ध्यानरूपी महल में प्रवेश करना आवश्यक है।

(६७३) शीलविष्टरदमोदकपाद्य-प्रातिभार्घ्यसमतामधुपर्कैः।
ध्यानधाम्नि भवति स्फुटमात्मा हूतपूतपरमातिथिपूजा।।१०।।

अनुवाद - ध्यानरूपी महल में स्वयं के द्वारा ही व्यक्त रूप में आमंत्रित पवित्र और उत्तम अतिथि के पूजा-सत्कार के लिए शीलरूपी आसन, दमरूपी चरणोदक, प्रातिभरूपी अर्घ्य और समतारूपी मधुपर्क है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के लिए उत्तम महल और आत्मा के लिए विशिष्ट अतिथि की उपमा का प्रयोग किया गया है। भारतवर्ष में अतिथि का अत्यंत महत्त्व रहा है। यहाँ 'अतिथि देवो भव', अर्थात् अतिथि को देव के समान माना गया है। जब कोई भी अतिथि कहीं आता है, तो उसका सत्कार-सम्मान किया जाता है। उसमें भी यदि श्रीमंत के महल में कोई विशिष्ट अतिथि आए हों, तो उनके प्रवेश करते ही जोर-शोर से उनका आदर-सत्कार किया जाता है। उन्हें बैठने के लिए आसन दिया जाता है, सुगंधित जल से उनके चरण प्रक्षालित किए जाते हैं तथा स्वस्थ और प्रसन्न होने के लिए शीतल पेय पदार्थ, अर्घ्य और मधुपर्क (विशिष्ट खीर आदि भेंट किए जाते हैं। यहाँ जिस प्रकार आसन, सुगंधित जल, अर्घ्य औ

मधुपर्क अनुक्रम से हैं, वैसे ही शील, संयम, प्रातिभ (अनुभव-ज्ञान) और समता अनुक्रम से उच्च भूमिका में ले जाने वाली हैं। प्रातिभ, अर्थात् प्रतिभासम्पन्न का विशिष्ट ज्ञान। सूर्योदय के पहले अरुणोदय के समान ही केवलज्ञान के पूर्व अनुभव ज्ञान की प्रतीति होती है। यह केवलज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों से भिन्न है। मधुपर्क, अर्थात् दूध, दही, साकर आदि पाँच द्रव्यों का मिश्रण, जिसे हथेली में लेकर मुख में रखते ही ताजगी का अनुभव होता है। अतिथि को प्रसन्न करने के लिए मधुपर्क पवित्र उपचार है। यहाँ आत्मा को अतिथि की उपमा दी गई है। यह चैतन्यरूपी अतिथि अचानक नहीं आए बल्कि ध्यानरूपी निमंत्रण देकर अपने यहाँ पधारने के लिए व्यक्त रूप में विनती की गई है। पुनः इस अतिथि की योग्यता कितनी है। यह पवित्र और उच्चतम है। ग्रंथकार ने पूजा-योग्य पदार्थों को अत्यंत सुन्दर रूप में रूपक के आधार पर आध्यात्मिक-ढाँचे में ढाला है। आत्मारूपी अतिथि का तो शील, शुद्ध, शिष्टाचार, शुद्ध आचार, दमनशीलता, तितिक्षा, आध्यात्मिक-उल्लास आदि उत्तम भावों द्वारा ही पूजन किया जा सकता है।

वस्तुतः, ध्यान करने वाले ध्यानी में यहाँ बताए अनुसार शील, संयम, प्रातिभ, समता इत्यादि नहीं हों, तो उसे ध्यान द्वारा वास्तविक आत्मानुभूति नहीं होती है। केवलज्ञान की प्राप्ति के पहले ये सब उत्तम लक्षण ध्यानी में होना आवश्यक है। ऐसी ध्यानी और चैतन्य की महिमा यहाँ दर्शाई गई है।

(६७४) आत्मनो हि परमात्मनि योऽभूद्-भेदबुद्धिकृत एव विवादः।
ध्यान संधिकृदमुं व्यपनीय द्रागभेदमनयोर्वितनोति।।११।।

<u>अनुवाद</u> - आत्मा और परमात्मा के विषय में जो विवाद है, वह भेद-बुद्धि द्वारा किया हुआ है। ध्यानरूपी संधिकर्त्ता ने अविलम्ब ही उसे दूर कर दोनों (आत्मा और परमात्मा) में अभेद करवा दिया।

<u>विशेषार्थ</u> - दो राजाओं में, विशिष्टजनों में, अथवा किन्हीं दो व्यक्तियों में पारस्परिक मतभेद के परिणामस्वरूप विवाद उत्पन्न हो जाता है। दोनों परस्पर खिंचे हुए होते हैं, इसलिए विवाद मिट नहीं सकता, किन्तु कोई बीच का संधिकारक योग्य पुरुष आकर दोनों का भेद मिटा देता है और उनमें

परस्पर एकता घटित कर देता है। ग्रन्थकार ने ध्यान को मध्यस्थ, सुयोग्य, संधिकारक पुरुष के रूपक द्वारा बड़े ही समीचीन रूप में वर्णन किया है। संसार में परिभ्रमण करने वाली जीवात्मा और सिद्धशिला पर विराजमान परमात्मा-दोनों एक है या अलग-अलग। कई बार यह विवाद होता है। संसारी-जीव अज्ञानवश अपने को परमात्मा से भिन्न मानता है। ध्यान से आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है, क्योंकि विशुद्धभाव की दृष्टि से उनमें कोई भेद है ही नहीं। ध्यान अज्ञान के आवरण को मिटा देता है। जीव स्वयं परमात्मा बन सकता है। ध्यान के द्वारा जीव अपने संसार-परिभ्रमण को सीमित कर, कर्मों का क्षय करके, मोक्षगति प्राप्त कर परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के मध्य अभेद ही है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष समाया हुआ है, परंतु व्यक्त नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा समाया हुआ है किन्तु व्यक्त नहीं है। वह ध्यान के द्वारा व्यक्त होता है। शुभध्यान ही आत्मा और परमात्मा के भेद को समाप्त करा देता है। शुक्लध्यान के द्वारा जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धगति प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से ध्यान जीवात्मा और परमात्मा के मध्य संधि कराने वाले दूत का कार्य करता है, दोनों के मध्य अभेद करा सकता है, तभी आत्मा परमात्मा बन सकती है।

(६७५) क्वामृतं विषभृते फणिलोके क्व क्षयिण्यपि विधौ त्रिदिवे वा।
क्वाप्सरोरतिमतां त्रिदशानां ध्यान एव तदिदं बुधपेयम्।।१२।।

__अनुवाद -__ विष से भरे हुए सर्पलोक में अमृत कहाँ से हो ? प्रतिदिन क्षीण होते हुए चन्द्र में और अप्सराओं के साथ प्रेम-क्रीड़ा में संलग्न देवों के देवलोक में भी अमृत कहाँ संभव है। ज्ञानीजनों द्वारा पान करने योग्य अमृत तो ध्यान में ही है।

__विशेषार्थ -__ भौतिक बाह्य-रस अमृत आदि की विविध परिकल्पनाएं इस लोक में तथा देवलोक में की जाती है। विविध मनोज्ञ, मधुर, सुन्दर पदार्थों में उसे सन्निहित माना जाता है, किन्तु उससे कदापि अविनश्वर सुख, तृप्ति या शान्ति नहीं मिलती। जिसका पान करने के बाद जीव अमर हो जाता है, मृत्यु से पार हो जाता है, ऐसा अमृत कहाँ है ? कोई कहे कि नागलोक में कदाचित् अमृत हो सकता है, परंतु नहीं, वहाँ तो होने की संभावना ही नहीं

है, क्योंकि सर्पलोक तो विष से भरा हुआ है। जहाँ विष हो, वहाँ अमृत कहाँ से हो सकता है। कोई कहे कि चंद्र को सुधांशु कहा जाता है, इसलिए चंद्र की शीतल चांदनी में अमृत हो सकता है, परंतु वहाँ भी अमृत नहीं स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि जहाँ अमृत हो, वहाँ क्षय नहीं होता है। चंद्र तो कृष्ण-पक्ष में उत्तरोत्तर क्षय को प्राप्त होता है। यदि कोई कहे कि देवलोक में अमृत है, सदा युवावस्था में रहने वाले देव अप्सराओं के साथ आनंद-महोत्सव करते हैं, उसमें अमृत है, परंतु नहीं, वहाँ भी अमृत नहीं है, क्योंकि जहाँ अमृत हो, वहाँ अतृप्ति नहीं होती है, मृत्यु नहीं होती है। देव भी अतृप्त होते हैं तथा आयुष्य पूरी होने पर उनका भी च्यवन (मृत्यु) होता है। तो फिर अमृत कहाँ है ? अमृत तो है, ध्यानियों के ध्यान में। ध्यानयोगी इतना आत्मतृप्त, सन्तुष्ट या आत्मकाम हो जाता है कि उसे फिर बाह्य-पदार्थों में कोई भी रसानुभूति नहीं होती है। ध्यान के द्वारा जीव घातीकर्म का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करता है और फिर अघातीकर्म का क्षय करके सिद्धगति प्राप्त करता है। ऐसी परम उच्चदशा प्राप्त होती है कि जीव के पुनः जन्म-मरण शेष नहीं रहते हैं, किसी भी प्रकार की अतृप्ति नहीं रहती है। अतः, ध्यान में ही अमृत रहा हुआ है।

(६७६) गोस्तनीषु न सितासु सुधायां नापि नापि वनिताधरबिंबे।
तं रसं कमपि वेत्ति मनस्वी ध्यानसंभवधृतौ प्रथते यः।।१३।।

<u>अनुवाद</u> - ध्यान से उत्पन्न धैर्यरूप जिस रस को ज्ञानी अनुभूत करता है, वह रस न तो द्राक्षाओं में है, न शर्करा में, न अमृत में है, न वनिताओं के अधरोष्ठ में प्राप्त होता है।

<u>विशेषार्थ</u> - संसार में विविध प्रकार के पौद्गलिक-रसों का अनुभव व्यक्ति को होता है, जिसमें वह मधुरता का आनंद लेता है। द्राक्ष, साकर, सुधा (अमृत) आदि के स्वाद में, भोगोपभोग में मनुष्य आनंद का अनुभव करता है और रसनेन्द्रिय को तृप्त करने का प्रयास करता है। किसी को रसनेन्द्रिय के आनंद से भी अधिक किसी स्त्री के अधरामृत-पान का आनंद विशेष अनुभव होता है, परंतु इन सभी पौद्गलिक-पदार्थों के आनंद की एक सीमा होती है। इनका अतिभोग नहीं हो सकता है और भोग के अंत में थकान, उद्वेग, ग्लानि, अतृप्ति आदि का अनुभव होता है। यह सुख-भोग्य,

सामग्री व भोक्ता-दोनों के बने रहने पर भी प्रतिक्षण क्षीण होता है तथा क्षीण होते-होते अंत में समाप्त हो जाता है। यह रस आकुलतायुक्त होता है। किसी को द्राक्षा या साकर खिलाई जाए उसे खाते हुए वह कितनी देर तक आनंद का अनुभव कर सकता है ? उसे यदि बहुत अधिक मात्रा में बलात् खिलाई जाए, तो उसका रस समाप्त हो जाएगा, उसके लिए वह सुख की अपेक्षा दुःख की जनक लगेगी, जबकि ध्यान का रस, ध्यान के द्वारा उत्पन्न चित्त की स्थिरता का आनंद अपूर्व, अलौकिक होता है। यह अक्षय होता है, इसमें सदा सरसता बनी रहती है तथा इससे सदा तृप्ति रहती है। धृति द्वारा प्राप्त अपूर्व आनंद का वर्णन तो उसका अनुभवी ही कर सकता है।

(६७७) इत्यवेत्य मनसा परिपक्व ध्यानसंभव फले गरिमाणम्।
तत्र यस्य रतिरेनमुपैति प्रौढ़धामभृतमाशु यशः श्री।।१४।।

अनुवाद - इस प्रकार परिपक्व, सुदृढ़ ध्यान से आविर्भूत (उत्पन्न) हुई फल की गरिमा को मन से जानकर जो उसमें (ध्यान में) प्रीति करता है, उस प्रौढ़ मनीषी, तेजस्वी साधक के पास यशरूपी लक्ष्मी शीघ्र ही पहुँच जाती है।

विशेषार्थ - जो मुनि यम, नियम, आसन आदि में स्थिर होकर योग्य ध्यान करता है तथा उसमें उत्तरोत्तर प्रगति करता है, ऐसे मुनियों को ध्यान की महिमा समझ में आती है। ध्यान के फल की गरिष्ठता की उनको प्रतीति होती है। जिस प्रवृत्ति का परिणाम शुभ और उच्च हो, उस प्रवृत्ति में लगे रहने का मन स्वाभाविक ही होता है। योगियों को सांसारिक भोगविलास की कोई इच्छा नहीं रहती है। उनकी वासना निर्मूल हो जाती है। अब तो एकमात्र आत्मस्वरूप के अनुभव की, अणाहारी-पद-प्राप्ति की लगन लगी हुई होती है। इसके लिए ध्यान अनिवार्य है, क्योंकि अंत में तो ध्यान ही मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करवाता है। वैसे तो मार्गानुसारी से लेकर सम्यग्दर्शन, श्रावकधर्म, मुनिधर्म, पंचमहाव्रत आदि क्रियायोग व्यक्ति को ध्यान की भूमिका के लिए तैयार करते हैं, अर्थात् व्यक्ति में ध्यान करने की पात्रता के विकास में सहायक होते हैं, इसलिए परम्परा से इन सभी को मोक्ष का हेतु माना जा सकता है, परंतु मोक्ष का प्रत्यक्ष एवं अन्तिम हेतु ध्यान ही है। केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है, और शुक्लध्यान के बिना

केवलज्ञान नहीं है, इसलिए उच्च स्थिति प्राप्त होने के बाद मुमुक्षुओं को ध्यानमार्ग में ही स्थिर होना है।

पाँचवें प्रबंध के अंतिम ध्यानस्तुति-अधिकार के अंतिम श्लोक में 'यशःश्री' शब्द रखकर श्लेष-अलंकार से कवि परंपरा के अनुसार ग्रन्थकार ने अपने नाम का निर्देश किया है।

-----oo-----

प्रबंध छठवां

अठारहवाँ अधिकार - आत्मनिश्चय अधिकार

(६७८) आत्मज्ञानफलं ध्यान (ज्ञान) मात्मज्ञानं च मुक्तिदम्।
आत्मज्ञानाय तन्नित्यं यत्नः कार्यो महात्मना।।१।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मज्ञान-यह ध्यान का फल है और आत्मज्ञान मुक्ति दिलाने वाला है, इसलिए महात्माओं को हमेशा आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> ध्यान्-अधिकार के अन्तर्गत ग्रंथकार ने ध्यान का स्वरूप बताकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। ये दोनों ध्यान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयी की आराधना द्वारा साधक को आत्मज्ञान की ओर ले जाते हैं, इसलिए आत्मज्ञान इन दोनों ध्यान के फलस्वरूप है। आत्मज्ञान के विकास की अनेक भूमिकाएँ हैं। "मैं देह नहीं हूँ, आत्मा हूँ, अथवा शरीर नाशवान् है, आत्मा अमर है"-ऐसे सामान्य बोध से शुरू करके केवलज्ञान तक की आत्मज्ञान की अनेक भूमिकाएँ हैं। इनमें उत्तरोत्तर उच्च भूमिका पर आरोहण करने के लिए ध्यान का माध्यम अत्यंत उपयोगी है। शास्त्राभ्यास से साधक को पदार्थ का विशद बोध प्राप्त होता है। प्रारंभिक भूमिका में यह भी अत्यंत आवश्यक है, परंतु साधक को वहीं पर रुकना नहीं है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे ज्ञानी गुरु के मुख से ग्रहण किए हुए उपदेशों को ध्यान द्वारा आत्मानुभव में परिणमन करना चाहिए। निश्चयदृष्टि से ध्यान उसे आत्मस्वरूप का अनुभव करवाता है, परंतु इस ध्यान का अभ्यास निरंतर होना चाहिए, तब ही आत्मज्ञान विशुद्ध होता जाएगा और देह तथा आत्मा के मध्य भिन्नता स्पष्ट होगी। ऐसा भेदज्ञान ही आत्मा का वेदन करवाता है। इसमें जैसे-जैसे स्थिरता आती जाती है, वैसे-वैसे कषायों का बल कम होता जाता है तथा घातीकर्म हल्के होते जाते हैं और परिणाम निर्मल होते जाते है। ध्यान के

फलस्वरूप प्राप्त हुए आत्मज्ञान द्वारा साधक निरंतर पुरुषार्थ करके आगे बढ़ते हुए, अप्रमत्त-गुणस्थान से ऊपर चढ़ते हुए, क्षपक श्रेणी का आश्रय लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर उसी भव में आयुष्यकर्म अत्यल्प रह जाने पर अंत में योगनिरोध होते ही मुक्ति हो जाती है, इसलिए यहाँ कहा गया है कि ध्यान का फल आत्मज्ञान है और आत्मज्ञान का फल मुक्ति है। ध्यान के स्थान पर ज्ञान-पाठ हो, तो भी भावार्थ में कोई अन्तर नहीं होता है। इस पंचम आरे के विषमकाल में इस क्षेत्र से केवलज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु आत्मज्ञान तो अवश्य होता है। एक बार प्राप्त हुआ आत्मज्ञान भवान्तर में अतिशीघ्र मोक्षमार्ग की ओर ले जाता है, इसलिए ग्रंथकार ने आत्मज्ञान की प्राप्ति में निरंतर प्रयत्नशील रहने की साधक को सलाह दी है। इस काल में इस क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है, किन्तु मोक्षमहल की नींव तो अवश्य तैयार की जा सकती है।

(६७६) ज्ञाते ह्यात्मनि नो भूयो ज्ञातव्यमवशिष्यते।
अज्ञाते पुनरेतस्मिन् ज्ञानमन्यन्निरर्थकम्।।२।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा को जानने के बाद अन्य कुछ भी जानने को शेष नहीं रहता है, परंतु इसको (आत्मा को) ही नहीं जाना, तो दूसरा (आत्मज्ञान के अतिरिक्त) ज्ञान निरर्थक है।

<u>विशेषार्थ -</u> 'जे एगं जाणइं ते सव्वं जाणइं' - जिसने एक को जान लिया, जिसने आत्मस्वरूप को जान लिया उसने सभी को जान लिया, किन्तु जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसका दूसरा बाह्य वस्तुगत ज्ञान कितना भी विस्तृत क्यों न हो, सब निरर्थक है। छांदोग्योपनिषद् में कहा गया है - "यः आत्मवित् स सर्ववित्" - जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है। आचारांगसूत्र में भी कहा गया है -"जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ"- जो अध्यात्म, अर्थात् आत्मस्वरूप को जानता है, वह बाह्य-जगत् को जानता है, क्योंकि बाह्य की अनुभूति भी आत्मगत ही है। इस संसार में जानने योग्य कोई तत्त्व है, तो वह आत्मा ही है। आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है। एक बार आत्मतत्त्व में, उसके स्वरूप में रुचि जाग्रत होने के बाद फिर दूसरी वस्तुएँ तुच्छ और निरर्थक लगती हैं। जगत् के अन्य सभी पदार्थ सतत परिवर्तनशील हैं, क्षणभंगुर हैं। समय निकलने पर ये जानकारियाँ निरर्थक हो

जाती हैं। भवान्तर में भी आत्मबोध ही काम आता है। आत्मतत्त्व का शास्त्रों के वचनों द्वारा बोध होना, उसके विषय में ज्ञान प्राप्त करना एक अलग बात है, किन्तु ध्यान के द्वारा आत्मा का वेदन होना-यह अलग बात है। आत्मा का शाब्दिक ज्ञान और आत्मा का वास्तविक अनुभव-इन दोनों के मध्य एक- से बढ़कर एक कई श्रेष्ठ भूमिकाएँ होती है। अन्य द्रव्यों का ज्ञान आत्मज्ञान को अधिक स्पष्ट और विशद करने के लिए हो सकता है, किंतु जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान में ही रस नहीं है, उसका अन्य पदार्थों का ज्ञान अंत में निरर्थक ही रहता है।

(६८०) नवानामपि तत्त्वानां ज्ञानमात्मप्रसिद्धये।
येनाजीवादयो भावाः स्वभेदप्रतियोगिनः।।३।।

अनुवाद - नौ तत्त्वों का ज्ञान भी आत्मा की सिद्धि के लिए है, क्योंकि अजीव आदि भाव (पदार्थ) आत्मभेद के प्रतियोगी हैं।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जिसने आत्मा को जाना, उसने सबको जान लिया। जगत् में अगर कोई जानने जैसा तत्त्व है, तो वह आत्मा ही है, परंतु केवल आत्मा को ही जानने के लिए पुरुषार्थ किया, प्रयास किया और अन्य किसी भी द्रव्यों को जानने की जिज्ञासा नहीं रखी, तो क्या आत्मा को पूर्ण रूप से जान सकेंगे ? केवल आत्मा को जानना ही पर्याप्त है ? नहीं, यह अधूरा है, अपूर्ण है। जैसे सफेद रंग को केवल अकेला ही देखें और उसके पास काले रंग को रखकर देखें, तो बहुत अंतर दिखाई पड़ेगा। सफेद रंग काले के सामने अत्यधिक उज्ज्वल भासित होगा। अंधकार का अनुभव करने के बाद ही प्रकाश के अनुभव की महिमा विशेष रूप से समझ में आती है। किसी भी पदार्थ का मूल्य उसके विपरीत पदार्थ को समझने के बाद ही अधिक प्रतीत होता है। उसी प्रकार, आत्मा के प्रतियोगी, अर्थात् उससे विपरीत तत्त्वों को जानने से आत्मज्ञान अधिक पुष्ट व स्पष्ट हो जाता है। संसार में मुख्य रूप से नौ तत्त्व हैं - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। इन नौ तत्त्वों में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमुख तत्त्व हैं - जीव अथवा आत्मा। यह चेतनरूप शाश्वत है। प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यह ज्ञान पहले बोधरूप में और फिर अनुभवरूप में होना अनिवार्य है,

केवल शाब्दिक-ज्ञान महत्त्वपूर्ण नहीं है। जब तक उस आत्मस्वरूप का स्वयं अनुभव नहीं करें, तब तक असीम अनंत आनंद को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, परंतु आत्म तत्त्व को पूर्ण रूग से समझने के लिए, उसकी अन्य तत्त्वों से विलक्षणता, महत्ता जानने के लिए उसके प्रतियोगी अजीव आदि शेष तत्त्वों को भी समझना जरूरी है। जीव और अजीव के मध्य क्या अंतर है ? उसका स्वरूप कैसा है ? पुण्य-पाप आदि तत्त्वों का जीव के साथ क्या सम्बन्ध है ? ये जीव से भिन्न हैं या अभिन्न ? इत्यादि का ज्ञान जीव सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति में उपकारी है, सहायक है। किसी भी वस्तु का अस्ति तथा नास्ति-दोनों का स्वरूप समझना आवश्यक है, अर्थात् वस्तु कैसी है, उसमें कौन-कौनसे गुण पाए जाते हैं और कैसी नहीं है, उसमें कौन-कौनसे गुण अविद्यमान हैं ? दोनों प्रकार की जानकारी के बाद ही ज्ञान परिपूर्ण बनता है, जानना तो एक को ही है। आत्मा का ज्ञान ही सार्थक है, परंतु आत्मस्वरूप को पूर्ण रूप से जानने के लिए आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए, अन्य तत्त्वों का ज्ञान भी आवश्यक है। इसमें मोक्षमार्ग में आत्मतत्त्व की महिमा स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है।

(६८१) श्रुतो ह्यात्मपराभेदोऽनुभूतः संस्तुतोऽपि च।
निसर्गादुपदेशाद्वा वेत्ति भेदं तु कश्चन।।४।।

<u>अनुवाद</u> - आत्मा तथा अनात्मा या जड़ (पर) के अभेद को सुना है, अनुभव किया है और परिचय भी किया है (या स्तुति भी की है), परंतु कोई-कोई या विरले जीव ही निसर्ग से या उपदेश से इसके भेद को जानते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - अनादिकाल से आत्मा और देह का सम्बन्ध चला आ रहा है। किसी भी संसारी-प्राणी की आत्मा बिना शरीर के नहीं रहती है। सिद्धगति में आत्मा अशरीरी है, परंतु इस संसार में रहे हुए जीव, शरीर और आत्मा के अभेद की वासना से वासित है। अज्ञान के कारण देह और आत्मा की भिन्नता समझ में नहीं आती है। सांसारिक-जीव इस शाश्वत सत्य से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं कि शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व नामक कोई तत्त्व भी है। वे तो आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व तक को नहीं जानते, फिर समझ के आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप को जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है ? विश्वविजेता सम्राट, मोह के साम्राज्य में अनादिकाल से देह

और आत्मा के एकत्व का अनुभव कर रहा है। उसने कथा भी सुनी तो देह की, परिचय भी किया तो देह से, गुण भी गाये तो देह के। जीव देहभाव में ही विशेष रहता है- "मैं गौरा हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं मोटा, मैं पतला, व्यवहार में इसी प्रकार के वचन बोले जाते है और सुने जाते है। पाप और पुण्य के अनुसार जीव सुख और दुःख भोगता है और सुखी तथा दुःखी होता रहता है। शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर आर्त्तध्यान करता है, किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाने पर शोकाकुल हो जाता है क्योंकि देह के साथ एकत्वबुद्धि के संस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। देह से सम्बन्धित पदार्थों की, विषयभोग की कथाएँ असंख्य बार सुनी है। जीवन में उसका जी भरकर अनुभव भी किया है, किन्तु शरीर से भिन्न विशुद्ध आत्मा का संगीत उसे कहीं भी सुनाई नहीं दिया, न ही आत्मा की चर्चा में रस उत्पन्न हुआ। फिर भी कुछ सुज्ञ-जन इस प्रकार बोलते हुए जरूर सुने गये कि "आत्मा अमर है, देह नश्वर है, जन्म के साथ मृत्यु तो जुड़ी हुई है, मृत्यु होने पर देह का ही नाश होता है, देह छोड़कर तो सभी को जाना है" इस प्रकार बोलते हुए भी जब उनके जीवन में ऐसा कोई अवसर उपलब्ध होता है तो उनकी देहबुद्धि प्रबल बन जाती है। यह ज्ञान मात्र शब्दों तक ही सीमिति रहता है।

इस प्रकार देह और आत्मा के अभेद की कथाएँ सुनीं, अनुभव किया, परंतु सामान्य जनसमुदाय में कोई विरल व्यक्तित्व वाला मनुष्य ही देह और आत्मा की भिन्नता को वास्तविक रूप से समझता है एवं अनुभव करता है। कितने ही महापुरुषों को पूर्वजन्म के ऐसे संस्कारों के कारण नैसर्गिक रूप से इस प्रकार के अनुभव होते हैं, तो कुछ मुमुक्षुओं को गुरु के उपदेश से भेदज्ञान की प्रतीति होती है। इस प्रकार निसर्ग (स्वतः) और अधिगम (अभ्यास) से देह और आत्मा का भेदज्ञान होता है।

भेदज्ञान के रहस्यों को जानने के लिए अंतरात्मदशा प्राप्त करना आवश्यक है। उसके लिए पंचेन्द्रियों की विषयों के प्रति विरक्ति, उपेक्षाभाव और तत्संबंधित विषयों का त्याग करते रहना चाहिए।

(६८२) तदेकत्वपृथक्त्वाभ्यामात्मज्ञानं हितावहम्।
वथैयाभिनिविष्टानामन्यथाधीर्विडंबना।।५।।

<u>**अनुवाद -**</u> इसलिए एकत्व (अभेद) और पृथक्त्व (भेद) से आत्मज्ञान हितावह है। कदाग्रहाविनिविष्ट व्यक्ति की विपरीत बुद्धि तो व्यर्थ और विडंबनारूप है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> जो मुमुक्षु हैं और आत्मज्ञान के इच्छुक हैं, उन्हें यहाँ एक सुन्दर सलाह दी गई है। प्रत्येक वस्तु को देखने के अलग-अलग दृष्टिकोण होते हैं, उन्हें नय कहते हैं। आत्मद्रव्य के सम्बन्ध में भी व्यवहारनय के अनुसार अलग अभिप्राय होता है और निश्चयनय के अनुसार अन्य अभिप्राय होता है। एक नय जहाँ भेद देखता है, वहीं दूसरा नय अभेद देखता है। यहाँ ग्रंथकार कहते हैं कि दोनों नयों को समझने का दृष्टिकोण रखना चाहिए। एक नय के पक्षधर न बनकर विशाल दृष्टिकोण द्वारा आत्मा को विभिन्न नयों से समझने का प्रयास करना चाहिए, इसमें ही आत्मकल्याण है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यही हितकारी है। अगर कोई भी व्यक्ति एक ही नय का आग्रही हो, उसे ही पकड़ कर रखे, अन्य नयों के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करे तथा केवल तर्क-वितर्क में ही रुचि रखे, तो वह एकान्तवादी कदाग्रही व्यक्ति स्वयं अपनी आत्मा का अहित करता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय के अनुसार एकत्व और पृथक्त्व किस प्रकार घटित होता है - यह लक्ष्य में रखना आवश्यक है। निश्चयनय के अनुसार आत्मा का अपने ज्ञानादि गुणों के साथ और स्वाभाविक भाव के साथ एकत्वभाव है और आत्मा का कर्मों के साथ, पाप-पुण्य के साथ, शरीर के साथ, रागादि भावों के साथ आदि परद्रव्यों के साथ पृथक्त्व है। व्यवहारनय के अनुसार जब तक मोक्षप्राप्ति नहीं होती है, तब तक आत्मा शरीर से, कर्मों से, पाप-पुण्य से, आस्रवसंवर आदि से जुड़ी हुई है, अभिन्न है। शरीर, कर्म, राग, द्वेषादि भाव का प्रभाव आत्मा पर तथा आत्मा का प्रभाव शरीर आदि पर पड़ता है। इस प्रकार दोनों नयों में रही हुई भिन्न-भिन्न दृष्टि को समझना चाहिए। निश्चयनय शुद्ध आत्मा की अपेक्षा से कथन करता है, जबकि व्यवहारनय अशुद्ध आत्मा के दृष्टिकोण

से कथन करता है। एक नय पूर्णतः सत्य है और दूसरा नय सर्वथा असत्य है। इस प्रकार के कदाग्रह से आत्मकल्याण सिद्ध नहीं होता है। एकत्व और पृथक्त्व को अच्छी तरह से समझकर, अंतर्मुख होकर स्याद्वाद-शैली का अनुसरण करके आत्मतत्त्व को समझना चाहिए एवं आत्मतत्त्व का अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार का आत्मज्ञान ही जीव के लिए कल्याणकारी होता है। व्यवहारनय से अपनी आत्मा की अशुद्ध अवस्था जानकर तथा निश्चयनय से शुद्ध आत्मा को दृष्टिकोण में रखकर पुरुषार्थ द्वारा अशुद्ध दशा से शुद्ध- दशा को प्राप्त करना चाहिए।

मानवभव प्राप्त करके आत्मज्ञान की प्राप्ति के इच्छुक, आत्मकल्याण के लिए उद्यमशील ऐसे कितने ही जीव एकान्त विचारधारा के कदाग्रह के कारण मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य से चूक गए और भवभ्रमण बढ़ा लिया।

(६८३) एक एव हि तत्रात्मा स्वभावसमवस्थितः।
ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः प्रतिपादितः।।६।।

<u>अनुवाद -</u> स्वभाव में स्थित और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के लक्षणों से युक्त एक ही आत्मा उसमें (निश्चयनय में) प्रतिपादन हुआ है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मात्र एकत्व या मात्र पृथक्त्व से नहीं, परंतु एकत्व और पृथक्त्व-दोनों द्वारा हुआ आत्मज्ञान जीव के लिए कल्याणकारी है, इसलिए जीवन में और साधना में निश्चयनय और व्यवहारनय-दोनों का समन्वय होना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में एकत्व तथा पृथक्त्व-दोनों में से शुद्ध निश्चयनय द्वारा एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। यह एकत्व दो प्रकार से है। जगत् के सभी जीवों में एक जैसा शुद्ध चैतन्य-तत्त्व रहा हुआ है, उनमें अल्पमात्र भी भिन्नता नहीं है। सभी की आत्मा असंख्य प्रदेशी (लोकाकाश के बराबर) है। एक आत्मप्रदेश भी कम या अधिक नहीं है। अनंतज्ञानादि गुण की दृष्टि से भी सभी की आत्मा समान है। चाहे एकेन्द्रिय जीव, पृथ्वीकाय आदि की आत्मा हो या त्रस जीव चींटी, हाथी, मनुष्य-सभी में एक समान आत्मा ही है। इस दृष्टि से सभी आत्माओं में स्वभाव से एकत्व रहा हुआ है, इसलिए

समग्र संसार में एक ही आत्मा है, अथवा एक जैसी ही शुद्ध आत्मा है। ऐसा शुद्ध निश्चयनय से कह सकते हैं।

पुनः, गुण-लक्षणों की दृष्टि से आत्मतत्त्व का विचार करें, तो ज्ञान-दर्शन और चारित्र - ये आत्मा के गुण हैं। ये गुण ही आत्मा के स्वभाव हैं। गुण और गुणी के मध्य हमेशा अभेद होता है। गुण आधार के बिना स्वतंत्र रूप से कहीं नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार, आत्मा का अपने गुणों से एकत्व है, अभेद है, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार अन्य आत्माओं के साथ और आत्मा के स्वयं के गुणों के साथ अभेद है, एकत्व है।

(६८४) **प्रभानैर्मल्यशक्तीनां यथा रत्नान्न भिन्नता।**
ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणानां तथात्मनः।।७।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे रत्न की प्रभा, निर्मलता और शक्ति उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप लक्षण आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र से अभिन्न है, इसे दर्शाने के लिए रत्न का उदाहरण दिया गया है। जब किसी प्रकाशमान् रत्न को हम देखते है तब हमें यह महसूस नहीं होता है कि रत्न भिन्न वस्तु है और उसका प्रकाश भिन्न है। रत्न को अगर हाथ में उठाएंगे, तो प्रकाश भी साथ में रहेगा ही। रत्न और उसके तेज को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता है। रत्न के साथ ही, रत्न के अन्दर ही वह प्रकाश रहा हुआ है। दोनों में गुण और गुणी का सम्बन्ध है। पुनः, यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र यदि भिन्न-भिन्न है तो ये तीनों आत्मा में एक साथ किस प्रकार रह सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार रत्न की प्रभा, निर्मलता और शक्ति (मनोवांछित फल प्रदान करने की चिंतामणि-रत्न की शक्ति) भिन्न-भिन्न होने पर भी ये तीनों गुण रत्न में ही रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र-ये तीनों गुण आत्मा के साथ ही रहते हैं, वे आत्मा से अभिन्न हैं। कोई भी आत्मा इन गुणों से रहित नहीं होती है और आत्मा के अतिरिक्त ये गुण अन्य द्रव्यों में नहीं रहते हैं।

(६८५) आत्मनो लक्षणानां च व्यवहारो हि भिन्नताम्।
षष्ठ्यादिव्यपदेशेन मन्यते न तु निश्चयः।।८।।

अनुवाद - व्यवहारनय षष्ठी आदि विभक्ति के प्रयोग द्वारा आत्मा और उसके लक्षणों को भिन्न मानता है, परंतु निश्चयनय ऐसा नहीं मानता है।

विशेषार्थ - व्यवहार में सामान्यतया कहा जाता है-'आत्मा का ज्ञान', 'आत्मा का दर्शन', 'आत्मा का चारित्र' इत्यादि। इसमें 'का' 'की' आदि प्रत्ययों का प्रयोग करते हैं। ये प्रत्यय षष्ठी विभक्ति के हैं। इन प्रत्ययों के लगाने पर आत्मा और ज्ञानादि गुण जैसे भिन्न-भिन्न हों, यह प्रतीत होता है। षष्ठी विभक्ति भिन्नता का बोध कराती है, जैसे - 'राम का पेन' यहाँ राम और पेन-दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करने पर आत्मा और उसके गुणों में भिन्नता का आभासमात्र होता है, वास्तव में निश्चयनय की दृष्टि से तो आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है। इस प्रकार ज्ञानादि गुणों से आत्मा अभिन्न है।

(६८६) घटस्य रूपमित्यत्र यथा भेदो विकल्पजः।
आत्मनश्च गुणानां च तथा भेदो न तात्त्विकः।।६।।

अनुवाद - जैसे 'घट का रूप' इसमें भेद विकल्प से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार आत्मा के गुणों में भेद तात्त्विक नहीं है।

विशेषार्थ - पूर्व के श्लोक में 'रत्न' का उदाहरण दिया गया है। प्रस्तुत श्लोक में घट का उदाहरण देकर आत्मा और उसके गुणों में अभेद प्रतिपादित किया गया है। जैसे कोई 'घट का रूप' - इस प्रकार कहता है, तो उसमें घट और उसके रूप में भेद व्यक्त होता है, परंतु वास्तव में घट और उसके रूप में कोई भेद नहीं है। यह तो व्यवहार में बोलने का ढंग है, प्रकार है। यह भेद तो कल्याण से उत्पन्न हुआ है। 'घट का रूप' - इसमें षष्ठी विभक्ति से घट और उसके रूप के मध्य भेद सूचित किया जाता है, परंतु निश्चयनय से, तत्त्व की दृष्टि से देखा जाए, तो घट और उसके रूप के मध्य कोई भेद नहीं, अभेद ही है। जिस प्रकार घट को उसके रूप से पृथक् नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार 'आत्मा का ज्ञान' - इस प्रकार

जब कहा जाता है, तो वह व्यवहार में किसी को समझाने के लिए है, जिससे आत्मा और उसके ज्ञान को भिन्न-भिन्न बताया जाता है, परंतु यह तात्त्विक नहीं है। निश्चयनय की दृष्टि से तो आत्मा ही ज्ञान है, अथवा आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है - ऐसा कह सकते हैं। आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं, अभिन्न ही हैं। कभी भी, किसी प्रकार, किसी विधि से आत्मा और ज्ञानादि गुणों को भिन्न नहीं किया जा सकता है।

(६८७) शुद्धं यदात्मनो रूपं निश्चयेनानुभूयते।
व्यवहारो भिदाद्वारानुभावयति तत्परम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> निश्चयनय द्वारा आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप अनुभव होता है, उस उत्कृष्ट स्वरूप का व्यवहारनय भेद द्वारा अनुभव कराता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में पुनः उसी बात को दोहराया गया है। आत्मा का ज्ञानादिमय शुद्धस्वरूप निश्चयनय से अनुभव किया जाता है। इसी स्वरूप को व्यवहारनय भेद द्वारा अनुभव करवाता है, अर्थात् यह आत्मा है और ये आत्मा के ज्ञानादि गुण है। यह गुणी है और ये इसके गुण हैं - ऐसा अनुभव व्यवहारनय करवाता है। इस भेद को केवल व्यावहारिक-भाषा द्वारा ही व्यक्त कर सकते हैं, वास्तविक रूप से उसे भिन्न नहीं कर सकते है। आत्मा ज्ञानादिमय है-इस प्रकार कहा जाए, तो इसमें निश्चयनय रहा हुआ है। आत्मा ज्ञानादि गुणवाला है-इस प्रकार कहा जाए, तो उसमें व्यवहारनय रहा हुआ है। पदार्थ को समझने के लिए व्यवहारनय की आवश्यकता है। वस्तुतः, निश्चयनय ही इसमें मुख्य है।

(६८८) वस्तुतस्तुगुणानां तद्रूपं न स्वात्मनः पृथक्।
आत्मा स्यादन्यथाऽनात्मा ज्ञानाद्यपि जड़ं भवेत्।।११।।

<u>अनुवाद -</u> वस्तुतः तो उन गुणों का स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है, अन्यथा आत्मा अनात्मारूप हो जाएगी और ज्ञानादि भी जड़ हो जाएंगे।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा और उसके ज्ञानादि गुण भिन्न नहीं हैं, परंतु अभिन्न हैं। प्रस्तुत श्लोक में इसे तार्किक-शैली में समझाया गया है। वस्तुतः, आत्मा से उसके ज्ञानादि गुण भिन्न नहीं हैं, फिर भी भिन्न मान लिया जाए और आत्मा को उसके ज्ञानादि गुण से अलग किया जाए, तो क्या होगा ?

आत्मा जो चेतनवंत है, उसमें से ज्ञानादि गुण निकल जाएं, तो वह मृत शरीररूप हो जाएगी, अर्थात् जड़ बन जाएगी। दूसरी ओर, ज्ञानादि गुण पृथक् होकर आधाररहित बन जाएंगे, तो वे भी जड़ हो जाऐंगे, परंतु ऐसा कभी भी शक्य नहीं है। गुण गुणी के बिना नहीं रह सकते है। जैसे सफेद वस्त्र में से सफेद वर्ण और वस्त्र को अलग-अलग नहीं कर सकते हैं, दोनो अभिन्न हैं, जैसे सूर्य का प्रकाश, चंद्र की चांदनी - यह व्यावहारिक-भाषा के प्रयोग हैं, सूर्य और उसके प्रकाश को तथा चंद्र और उसकी चांदनी को भिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानादि गुणों को भिन्न नहीं किया जा सकता है, दोनों अभिन्न हैं।

(६८६) चैतन्यपरसामान्यात् सर्वेषामेकात्मनाम्।
निश्चिता कर्मजनितो भेदः पुनरूपप्लवः।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> सभी आत्माओं की शुद्ध संग्रहनय (परसामान्य) से चैतन्यरूप एकता निश्चित है, परंतु कर्मजनित भेद उसमें अनिष्ट विषमतारूप (उपप्लवरूप) हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में संग्रहनय की दृष्टि से चैतन्य के संदर्भ में 'परसामान्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। संग्रहनय भेद में अभेद को देखता है, भिन्न-भिन्न तत्त्वों या पदार्थों में रहे हुए समान तत्त्व को देखता है। इस प्रकार एक सामान्य से दूसरा सामान्य, दूसरे सामान्य से तीसरा सामान्य उत्तरोत्तर व्यापक होते चले जाते हैं। पर सामान्य, अर्थात् परमसामान्य, महासामान्य, सामान्य में सबसे ज्येष्ठतम सामान्य, उदाहरण-एक जैसे आकार के घट हों, तो उनमें आकार का समान होना सामान्य है। छोटे-बड़े घट हों, तो उनमें घटत्व सामान्य है। मिट्टी के घट, दीपक आदि हों, तो उनमें मिट्टी सामान्य है। मिट्टी, लोहे, तांबे, चाँदी आदि के बर्तनों में बर्तन का गुण सामान्य है। इस प्रकार एक सामान्य से दूसरा सामान्य व्यापक हो सकता है। दूसरा उदाहरण, जैसे अमुक गच्छ के लोग एक स्थान पर बैठे हुए हों, तो वहाँ खरतरगच्छ या तपागच्छ आदि गच्छत्व का सामान्य है। यदि सभी श्वेताम्बर जैन बैठे हों, तो उनमें श्वेताम्बरत्व सामान्य है। यदि श्वेताम्बर दिगम्बर सभी सभा में बैठे हों, तो उनमें जैनत्व सामान्य है। यदि ब्राह्मण आदि अन्य जाति के भी बैठे हों, तो उनमें हिन्दुत्व

सामान्य है। यदि मुस्लिम आदि भी सभी प्रान्त के लोग हों, तो उनमें भारतीयत्व सामान्य है। यदि अन्य विदेशों के लोग भी सम्मिलित हों, तो उन सबमें मनुष्यत्व सामान्य है। इस प्रकार सामान्यत्व व्यापक होता जाता है। ठीक वैसे ही संसार के सभी जीवों में जितनी विचित्रताएँ, विविधताएँ दृष्टिगत होती हैं, उनमें परसामान्य या महासामान्य - वह चैतन्यत्व का गुण है। यह चैतन्यरूप एकता एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में सामान्य है। यह चैतन्यरूप एकता सभी जीवों में रही हुई होने पर भी निम्न भूमिका पर रहे हुए जीवों में इतनी विविधताएँ देखी जाती हैं कि उनका वर्गीकरण करना मुश्किल हो जाता है, असमंजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह विविधता एक प्रकार का उपद्रव है, कष्टप्रद है, विषम है, अनिष्ट है।

(६९०) मन्यते व्यवहारस्तु भूतग्रामादिभेदतः।
जन्मादेश्च व्यवस्थातो मिथो नानात्वमात्मनाम्।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> व्यवहारनय प्राणी के समूह आदि के भेद से तथा जन्म आदि की व्यवस्था से आत्मा का परस्पर विविधत्व मानता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> निश्चयनय अभेद को देखता है और व्यवहारनय भेद को। निश्चयनय के अनुसार सैद्धान्तिक-दृष्टि से देखा जाए, तो सभी जीवों में एक जैसी आत्मा रही हुई है, किन्तु सभी संसारी जीवों का स्थूल रूप से अवलोकन करें, तो प्राणियों के समूह के मध्य इतनी विविधताएँ, विषमताएँ रही हुई हैं, जिनका आकलन करना मुश्किल है। पुनः, एक ही जीव में भी जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत भी कितने ही भेद देखे जाते हैं। चार गति के जीव- १. मनुष्य २. तिर्यंच ३. देवता और ४. नारकी के जीव है। इन चार गतियों में भी कई प्रकार के उत्तरभेद हैं। मुख्य रूप से मनुष्य के ३०३, तिर्यंच के ४८, देवता के १९८ और नारकी के १४, भेद वर्णित हैं। पुन; पृथ्वीकाय, अपकाय, वाउकाय, तेउकाय, वनस्पतिकाय ये स्थावर जीव तथा त्रसजीव मिलकर छःकाय के जीव कहलाते हैं। पुनः, इन्द्रियों के भेद से जीव एकेन्द्रिय, बेईन्द्रिय, तेईन्द्रिय, चौरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय - इस प्रकार पाँच तरह के होते हैं। वेद की अपेक्षा से जीव के स्त्री, पुरुष और नपुंसक - तीन भेद हैं। एक जीव के जीवन में भी जन्मावस्था, बाल्यावस्था,

युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था आदि भेद दृष्टिगत होते हैं। नामकर्म के अनुसार कोई जीव काला, कोई गोरा, कोई लम्बा, कोई छोटे कद वाला है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के आधार पर कोई मंद-बुद्धि, कोई तीव्र बुद्धि वाला है। कोई अंधा, कोई लूला, कोई लंगड़ा, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई त्यागी, कोई भोगी, कोई क्रोधी, कोई क्षमाशील - ऐसी कर्मों के आधार पर अपार विविधताएँ जगत् में दिखाई देती हैं। इस प्रकार व्यवहारनय के आधार पर विविध प्रकार के जीव संसार में दिखाई देते हैं।

(६९१) न चैतन्निश्चये युक्तं भूतग्रामो यतोऽखिलः।
नामकर्म प्रकृतिजः स्वभावो नात्मनः पुनः।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> यह (जीवों की विविधता) निश्चयनय की अपेक्षा से युक्त नहीं है, क्योंकि समग्र प्राणीसमूह की भिन्नता नामकर्म की प्रकृतियों से उत्पन्न हुई है, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय के आधार पर त्रस, स्थावर, स्त्री-पुरुष-नपुंसक, एकेन्द्रिय बेईन्द्रिय आदि, चार गति की अपेक्षा से नरकादि चार प्रकार के जीव तथा जन्म-मरण, बाल्यावस्था, युवावस्था आदि कई प्रकार के भेद दिखाई देते हैं। किसी भी काल में, समय में, प्राणीसमूह में ये भेद तो रहते ही हैं। अनंतकाल की दृष्टि से एक-की-एक ही आत्मा प्रत्येक जन्म में नए-नए रूप धारण कर भ्रमण करती रहती है, परंतु व्यवहारनय के द्वारा माने गए ये सभी भेद निश्चयनय स्वीकार नहीं करता है। निश्चयनय के अनुसार सांसारिक-जीवों में जो विविधताएँ दिखाई देती हैं, वे तो नामकर्म के कारण हैं, आत्मा के कारण नहीं हैं। यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। खोखे या पेटी बदलती जाती है, माल तो वही का वही है, उसी प्रकार नामकर्म के आधार पर शरीर बदल जाते हैं, जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है, परंतु आत्मा नहीं बदलती है। सभी की आत्मा आत्मस्वरूप की दृष्टि से एक जैसी ही है। आत्मा में भेद करना संभव नहीं है। वह तो स्वभाव से ही शुद्ध है।

(६९२) जन्मादिकोऽपि नियतः परिणामो हि कर्मणाम्।
न च कर्मकृतो भेदः स्यादात्मन्यविकारिणि।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> जन्म आदि के भेद निश्चय से तो कर्म का ही परिणाम है तथा कर्मकृत भेद अविकारी आत्मा को नहीं हो सकते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जीवों के जन्म, जीवन और मरण की घटनाएँ संसार में प्रतिक्षण चला ही करती है। जन्म-मरण की घटना वस्तुतः आयुष्य नामकर्म के आधार पर होती है। आत्मा का न जन्म होता है, न मरण, आत्मा तो शाश्वत है, अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगी। आत्मा को न कोई जला सकता है, न मार सकता है, न काट सकता है, जो भी कुछ होता है, वह शरीर का। शरीर नष्ट होता है और शरीर ही उत्पन्न होता है। उसी प्रकार, अन्य प्रकार की विविधताएँ भी कर्मों के कारण ही होती है। कर्म के कारण जो भेद दिखाई देते हैं, वे आत्मा के भेद नहीं हैं। शुद्ध निश्चयनय के अनुसार तो आत्मा निर्विकारी है, त्रिकालध्रुव है और सच्चिदानंदस्वरूप है। कर्म के साथ आत्मा की अभिन्नता नहीं है। कर्म आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, इसलिए शुद्ध निश्चय नय के आधार पर आत्मा एक है, विशुद्ध है, अविकारी है।

(६९३) आरोप्य केवलं कर्मकृतां विकृतिमात्मनि।
भ्रमन्ति भ्रष्टविज्ञाना भीमे संसार सागरे।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> केवल कर्मकृत विकृति को आत्मा पर आरोपित करके ज्ञान से भ्रष्ट हुए भयंकर संसार सागर में भ्रमण करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि कर्मकृत विकृति आत्मा पर आरोपित करना यथार्थ नहीं है। व्यवहार में इन्द्रिय, गति, नामकर्म, आयुष्यकर्म तथा अन्य कर्मों के कारण जो भेद दिखाई देते हैं, व्यवहारनय इन भेदों के लिए कारणरूप आत्मा में उत्पन्न हुई कर्मकृत विकृति को मानता है। अर्थात् पुण्य के उदय से प्राप्त भौतिक सुख संपत्ति से, विषयभोग से आत्मा को आनंद होता है- पाप के उदय से, शरीर में कोई व्याधि हो जाने पर आत्मा को वेदना होती है, आत्मा को दुःख होता है। आत्मा राग करती है, आत्मा द्वेष करती है, इस प्रकार मानना योग्य नहीं है। निश्चयनय

के अनुसार कर्मकृत विकृति को आत्मा पर आरोपित करना यथार्थ नहीं है। आत्मा तो विशुद्ध है। ये सब कर्मकृत विकार है। आत्मा का स्वभाव तो त्रिकाल ज्ञानानंदमय है। परंतु अज्ञान के कारण कर्मकृत विकृति का आरोपण आत्मा में होता है। जैसे दर्पण के सामने कोई काला व्यक्ति आए या गौरा आए, रूपवान आए या कुरूप आए जैसा व्यक्ति आता है वैसा दर्पण में दिखाई देता है, किन्तु क्या वह वास्तविक रूप से दर्पण में है ? क्या दर्पण में विकृति उत्पन्न होती है ? नहीं, दर्पण तो स्वच्छ है, शुद्ध है, न वह काला है, न गोरा। ठीक वैसे ही, आत्मा भी शुद्ध है।

सब दोष कर्म के सिर पर डालकर आत्मविशुद्धि के लिए पुरुषार्थ नहीं करने वाले ऐसे अज्ञानी जीव संसार में भ्रमण करते रहते हैं। निश्चयनय के अनुसार आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझकर उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(६६४) उपाधिभेदजं भेदं वेत्त्यज्ञः स्फटिके यथा।
तथा कर्मकृतं भेदमात्मन्येवाभिमन्यते।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे अज्ञानी व्यक्ति उपाधि के भेद से उत्पन्न हुए भेद को स्फटिक से सम्बन्धित जानता है या स्फटिक में आरोपित करता है, वैसे ही कर्मकृत भेद को आत्मा पर आरोपित करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में आत्मा के सम्बन्ध में अज्ञानी व्यक्ति कर्मकृत विकृति का आरोपण करने की भूल करता है, उसे स्फटिक के उदाहरण से समझाया गया है। स्फटिक स्वच्छ पारदर्शक पत्थर होता है, परंतु उसके पास विभिन्न वर्ण के लाल, पीले, नीले आदि पुष्प या अन्य कोई रंगीन पदार्थ रख दिया जाए, तो उन रंगों के आधार पर अज्ञानी व्यक्ति स्फटिक को रंगीन मान लेता है, परंतु उसके समीप रखे हुए रंगीन पदार्थ को हटाकर उसके हाथ में स्फटिक प्रदान किया जाए, तो उसे विश्वास होता है कि वास्तव में स्फटिक रंगीन नहीं है, वह तो विशुद्ध है, निर्मल है। उसी प्रकार, जिनके पास विशुद्ध आत्मा को देखने की तात्त्विक-दृष्टि नहीं है, उन अज्ञानी लोगों को जीवों में भेद दिखाई देते हैं। देवगति और नरकगति तो प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, किन्तु तिर्यंचगति एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पेड़-पौधों से लेकर हाथी, घोड़े, सिंह आदि

सभी तिर्यंच में आते हैं, उनमें कितने भेद कितनी विचित्रताएँ हैं, उसी प्रकार मनुष्य में भी अलग-अलग प्रकार के स्वभाव वाले, काले-गोरे, मोटे, पतले, मधुर स्वर, कर्कश स्वर वाले - ऐसे कई प्रकार के भेद होते है। ये सब भेद केवल बाह्य-दृष्टि से हैं, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति इन्हें वास्तविक मानकर किसी के प्रति राग, किसी के प्रति द्वेष, किसी को इष्ट, किसी को अनिष्ट मानता रहता है। जैसे दर्पण पर धूल जम जाती है, तो चित्र स्पष्ट नहीं दिखाई देता है, जैसे-जैसे धूल साफ करते हैं, वैसे-वैसे चित्र स्पष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी कर्म से आवरित है। कर्मों के सम्पूर्ण आवरण दूर हो जाने पर आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

(६६५) उपाधिकर्मजो नास्ति व्यवहारस्त्वकर्मणः।
इत्यागमवचो लुप्तमात्मवैरूप्यवादिना।।१८।।

__अनुवाद -__ उपाधिरूप कर्म से उत्पन्न हुआ व्यवहार कर्मरहित (आत्मा) को नहीं होता है। इस आगमवचन का लोप आत्मा की विरूपता को मानने वाले करते हैं।

__विशेषार्थ -__ शुद्ध निश्चय नय के अनुसार यहाँ कहा गया है कि आत्मा अकर्मरूप है, अर्थात् आत्मा कर्म से रहित है, अर्थात् उपाधिरूप कर्म से उत्पन्न हुआ व्यवहार आत्मा को नहीं होता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न हुआ व्यवहार, अथवा देव, मनुष्य, नारकी आदि का व्यवहार, या बाह्य-लक्षणों से जो व्यवहार होता है, जैसे-यह विद्वान् है, यह मूर्ख है, यह तपस्वी है, यह सज्जन है, यह चोर है इत्यादि प्रकार का व्यवहार भी आत्मा को नहीं है, क्योंकि आत्मा कर्म की कर्त्ता नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मात्र ज्ञातादृष्टा है। वह कर्मपुद्गलों से भिन्न है। आत्मा और कर्म अनादिकाल से साथ रहते हुए भी एक भी आत्मप्रदेश पुद्गल-परमाणु में और एक भी पुद्गल का परमाणु आत्मप्रदेश में परिवर्तित नहीं होता है। जो आत्मा के लिए मात्र उपाधिरूप कर्म की दृष्टि से व्यवहार करते हैं, अर्थात् आत्मा में केवल कर्मजनित व्यवहार की ही बात करते हैं, उसके शुद्ध स्वरूप को दृष्टि में नहीं रखते हैं, उनके द्वारा आगमवचन का लोप होता है-इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय कहता है।

(६९६) एकक्षेत्रस्थिततोऽप्येति नात्मा कर्मगुणान्वयम्।
तथाभव्यस्वभावत्वाच्छुद्धो धर्मास्तिकायवत्।।१६।।

अनुवाद - एक क्षेत्र में रहते हुए भी आत्मा धर्मास्तिकाय की तरह शुद्ध रहती है, उसके तथाभव्यत्व स्वभाव के कारण कर्मगुणों के साथ संबंध नहीं जोड़ती है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप की, उसके स्वभाव की व्याख्या की गई है। आत्मा और कर्म के परमाणु एक ही आकाश-प्रदेश में रहे हुए हैं। किसी भी एक जीव का विचार किया जाए, तो उसका देह और उसकी आत्मा क्षेत्रावगाह में रहने पर भी, एक ही स्थान में साथ-साथ रहने पर भी जड़ पुद्गल परमाणुओं से बनी हुई यह देह आत्मस्वरूप नहीं हो जाती है, चेतन नहीं बन जाती है, ज्ञानमय नहीं बनती है तथा आत्मा कभी जड़स्वरूप नहीं बनती है, उसके ज्ञानादि लक्षण कभी नष्ट नहीं होते हैं, उसी प्रकार समस्त संसार में चौदह राजलोक में अनंतानंत जीव हैं और अनंतानंत कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणु भी हैं। दोनों एक ही क्षेत्र में एक ही आकाश-प्रदेश में रहे हुए हैं, फिर भी आत्मा कर्म के गुणवाला नहीं बनता है अर्थात् कर्म के शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि धारण नहीं करती है। आत्मा पर कर्म का कोई असर नहीं होता है, वह तो हमेशा अरूपी, शुद्ध, निरंजन, निराकार है।

प्रस्तुत श्लोक में शुद्धता की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय के साथ उसकी तुलना की गई है। द्रव्य छः प्रकार के होते हैं, उनमें से पाँच द्रव्य अजीव हैं। पाँच अजीव द्रव्यों में जीव व पुद्गल की गति में सहायक द्रव्यधर्मास्तिकाय है। यह सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। यह सूक्ष्म है, अरूपी है, शब्द, रूप, स्पर्श आदि से रहित है। चर्मचक्षुओं से उसे देखा नहीं जा सकता है। धर्मास्तिकाय की तरह कार्मणवर्गणारूपी पुद्गलास्तिकाय भी चौदह राजलोक (लोकाकाश) में व्याप्त है, परंतु उन पुद्गलों का प्रभाव धर्मास्तिकाय पर नहीं होता है। पुद्गलास्तिकाय से स्पर्शित रहने पर भी धर्मास्तिकाय द्रव्य अशुद्ध या मलिन नहीं होता है, उसी प्रकार चौदह राजलोक में जीवास्तिकाय और धर्मास्तिकाय-ये दोनों द्रव्य भी एक क्षेत्र में एक दूसरे को स्पर्शित किए हुए रहते हैं, फिर भी धर्मास्तिकाय, जो अचेतन

है, वह कभी चेतन नहीं बन सकता है और चेतन द्रव्यजीवास्तिकाय कभी जड़ नहीं बनता है। प्रत्येक द्रव्य अपना शुद्ध स्वभाव नहीं छोड़ता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई असर नहीं होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता है।

(६९७) यथा तैमिरिकश्चन्द्रमप्येकं मन्यते द्विधा।
अनिश्चयकृतोन्मादस्तथात्मानमनेकथा।।२०।।

अनुवाद - जैसे नेत्र-रोग वाला (तिमिर-रोग से ग्रसित) एक ही चन्द्र को दो (भिन्न- भिन्न) प्रकार से देखता है, अर्थात् उसे दो चन्द्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार निश्चय से अनभिज्ञ, उन्माद से युक्त व्यक्ति एक ही आत्मा को अनेक प्रकार का मानता है।

विशेषार्थ - कर्मकृत भेद को जो आत्मा के भेद के रूप में देखता है, उसकी तुलना नेत्ररोगी से की गई है। जो व्यक्ति तिमिर नामक नेत्र रोग से ग्रसित हो, उसे आकाश में एक चन्द्र होने पर दो चन्द्र दिखाई देते हैं, आकाश स्वच्छ होने पर भी उसे उसमें नीली-पीली इत्यादि रेखाएं दिखाई देती हैं। स्वच्छ नेत्र वाला व्यक्ति भी आँख को दबाकर विकृत करके देखे, तो उसे भी दो चन्द्र दिखाई देते हैं। इस भ्रम का कारण रोग या विकृति है, वास्तव में तो चन्द्र एक ही है। उसी तरह, निश्चय से अनभिज्ञ व्यक्ति मोह से उन्मत होकर एक ही प्रकार की आत्मा होने पर भी उसे अनेक प्रकार की मानता है। कर्मों की जुल्मी सत्ता के तले दबे हुए जीव द्वारा लादे गए स्वरूप को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ बैठे है, कर्मानुशासन को अपना अनुशासन मान लिया है, फलतः दीनता, हीनता और पराधीनता की भावना उसके रोम-रोम में बस गई है। निश्चय हमें अपने मूल स्वरूप का, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार स्वरूप का वास्तविक दर्शन कराता है और अनादिकाल से स्वीकारी हुई गलत मान्यता को उखाड़ फेकने के लिए प्रेरित करता है।

(६६८) यथानुभूयते ह्येकं स्वरूपास्तित्वमन्वयात्।
सादृश्यास्तित्वमत्येकमविरूद्धं तथात्मनाम्।।२१।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा के स्वरूप का अस्तित्त्व जैसे अन्वय से एक ही अनुभव होता है, उसी प्रकार सादृश्य से भी आत्मा का अस्तित्त्व एक और अविरुद्ध है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा के अस्तित्व का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं? प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बताया है कि आत्मा के अस्तित्त्व को दो प्रकार से अनुभव कर सकते हैं, एक, स्वरूप से और दूसरा, सादृश्य से। आत्मा के अस्तित्त्व में स्वरूप और सादृश्यता-दोनों प्रकार से एकरूपता का अनुभव होता है। आत्मा के अस्तित्त्व का विचार यदि स्वरूप से किया जाए, तो एक ही जीव अलग-अलग गति में जन्म लेते हुए भी एक ही है। उसी प्रकार एक ही देह में भिन्न-भिन्न अवस्था धारण करने पर भी आत्मा एक ही है, बदलती नहीं है। एक ही जीव कभी नरकगति में जाता है, कभी तिर्यंचगति में, कभी मनुष्यगति में, कभी देवगति में जाता है। चारों गतियों में चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए भी आत्मा स्वरूप से वही-की-वही है। जैसे माला के मोती घूमते रहते हैं, मोती भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु उनको जोड़ने वाला सूत्रधार एक ही होता है, वैसे ही एक ही जीव कभी देवगति में और देवगति में भी कभी व्यंतरदेव बना, कभी वैमानिकदेव, कभी किल्विषिकदेव बनता है। उसी प्रकार एक ही जीवन में मनुष्य बालक के रूप में जन्म लेता है, यौवन में आता है और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। कभी राजा होता है, कभी भिखारी हो जाता है, फिर भी स्वरूप से आत्मा वही-की-वही है। इस प्रकार जीव के संसार में परिभ्रमण करते हुए विविध प्रकार के देह धारण करते हुए भी, उसी देह में परिवर्तन होने पर भी स्वरूप से आत्मा का अस्तित्व एक ही है।

अब सादृश्य से आत्मा के अस्तित्त्व का विचार किया जाए, तो जैसे पिता के देह में रही हुई आत्मा और पुत्र के देह में रही हुई आत्मा, पुरुष के देह में रही हुई आत्मा और स्त्री के देह में रही हुई आत्मा-सभी आत्मद्रव्य की दृष्टि से एक समान हैं, उनके बाह्य-आकार, बाह्य-जीवन, विचार आदि अलग-अलग होने पर भी आत्मा एक जैसी है, उसी प्रकार

एक जीव मनुष्य हो, एक नरकगति का, एक देवगति का, या तिर्यंचगति का हो संसार में सभी जीवों में रही हुई आत्मा एक जैसी है, उनमें सादृश्यता है। चाहे चींटी की आत्मा हो या हाथी की, चाहे फल-फूल, वनस्पति हो या सिंह, मनुष्य आदि, सभी की आत्मा में कुछ भी कम या अधिक नहीं है, एक भी प्रदेश कम या ज्यादा नहीं है। सभी की आत्मा असंख्यप्रदेशी, अनंतज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, अक्षय, अव्यय और अजरामर होती है। यह बात यथार्थ और अविरुद्ध है। इस प्रकार, सभी आत्माएं एक समान हैं, स्वरूपतः शुद्ध हैं - इसका खण्डन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता है।

(६६६) सदसद्वादपिशुनात् संगोप्य व्यवहारतः।
दर्शयत्येकतारत्नं सतां शुद्धनयः सुहृत्।।२२।।

<u>अनुवाद -</u> सत-असतूरूपी कद को बताते हुए दुर्जन व्यवहारनय से रक्षण करके शुद्धनयरूपी मित्र सत्पुरुषों को एकतारूपी रत्न बताता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय के मध्य अन्तर स्पष्ट किया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि जीव को अंत में व्यवहारनय का आश्रय छोड़कर शुद्ध निश्चयनय का आश्रय लेना ही पड़ेगा। शुद्धनिश्चयनय को यहाँ मित्र से उपमा दी गई है और अमुक अपेक्षा से व्यवहारनय को यहाँ चुगलखोर या दुर्जन के रूप में दर्शाया गया है। मित्र हमेशा एक और नेक, अर्थात् सत्य-सलाह ही देते हैं, भटकाते नहीं हैं, जबकि दुर्जन या चुगलखोर कभी क्या बोलते हैं और कभी क्या। वे सम्मुख में तो बहुत मधुर बोलते है, प्रशंसा करते हैं और पीठ पीछे निंदा करते हैं, बदनाम करते हैं। 'मुख में राम बगल में छुरी' - ऐसा दुर्जन का स्वभाव होता है। शुद्ध निश्चयनय यहाँ मित्र के रूप में दर्शाया गया है। वह आत्मा के अभेद, विशुद्धस्वरूप का दर्शन कराता है, जिससे जीव को सत्यमार्ग मिल जाता है। उसका लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है, जबकि व्यवहारनय संसार में स्थूलदृष्टि से रही हुई विविधताओं का, कर्मकृत भेदों का दर्शन कराता है। वह नित्य और अनित्य की, एक और अनेक की, सूक्ष्म और बादर की, कथंचित् सत् और कथंचित् असत् की बात करता है। शुद्ध निश्चयनय ऐसे भेद-अभेद में, सद्-असद् के कथन में नहीं पड़ता है। वह सभी जीवों की

एकता बताता है। व्यवहारनय के आधार पर जीव को राग-द्वेष की परिणति होती है, जबकि शुद्धनिश्चय के आधार पर जीव को राग-द्वेष की परिणति नहीं होती है। निश्चयनय सभी आत्माओं की एकतारूपी मूल्यवान् रत्न सत्पुरुषों को प्रदान करता है। इसलिए वही सच्चा मित्र है।

(७००) नृनरकादिपर्यायैरप्युत्पन्नविनश्वरैः।
भिन्नैर्जहाति नैकत्वमात्मद्रव्यं सदान्वयि।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> उत्पन्न होती हुई तथा नष्ट होती हुई मनुष्य, नारकी आदि भिन्न-भिन्न पर्यायों के द्वारा भी सदा अन्वयवाला आत्मद्रव्य एकत्व को नहीं छोड़ता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में स्वरूप और सादृश्य की दृष्टि से आत्मद्रव्य की एकता को निरूपित किया था, प्रस्तुत श्लोक में उसी बात को पुनः स्पष्ट किया गया है। जीवों के द्वारा धारण की हुई पर्यायों का विचार किया जाए, तो सर्वप्रथम तो ये पर्यायें उत्पत्ति और विनाश के धर्म से युक्त हैं, परिवर्तनशील हैं। व्यवहार में हम कहते या सुनते हैं कि जिसका जन्म हुआ, उसका मरण निश्चित है, कोई भी अमर नहीं है। सभी अपनी-अपनी आयुष्य के पूर्ण होने पर पुराने शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण कर लेते हैं। "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्", प्रत्येक जीव के शरीर का चाहे जल्दी, चाहे लम्बे समय बाद, किन्तु अंत अवश्य होता है। मनुष्यादि जीवों की उत्पत्ति से विनाश तक की क्रिया के दौरान चाहे बाल्यावस्था हो, चाहे वृद्धावस्था, आत्मद्रव्य सभी अवस्थाओं में वही-का-वही रहता है। उसके बाद जन्म-जन्मान्तर से विचार करें, तो मनुष्य, नारकी, तिर्यंच, देव आदि भव एक ही जीव के होते हैं और भिन्न-भिन्न पर्यायें होने पर भी आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं होती है। ज्ञानादि गुणयुक्त आत्मा अपना एकत्व नहीं छोड़ती है। वह सदा ज्ञानादि गुणों से अन्वित रहती है तथा पर्यायों के बदलने पर भी वह नहीं बदलती है।

(७०१) यथैकं हेम केयूरकुंडलादिषु वर्तते।
नृनारकादिभावेषु तथात्मैको निरंजनः।।२४।।

अनुवाद - जैसे एक ही स्वर्ण बाजूबंद (ब्रेसलेट), कुंडल आदि में होता है, वैसे ही एक ही निरंजन आत्मा मनुष्य, नारकी आदि के भावों में होती है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में आत्मा की एकता को एक ही स्वर्ण के विविध अलंकारों का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। जैसे एक ही स्वर्ण के बाजूबंद बनवाये उसे तुड़वाकर कुंडल बना लिए, कुंडल तुड़वाकर चूड़ियाँ बनवा लीं, चूड़ियाँ तुड़वाकर हार बनवा लिया, हार तुड़वाकर मुकुट बना लिया, इस प्रकार एक ही स्वर्ण में से अनेक गहने बनवालिये। गहने बदलते गए, पुराने गहने का विनाश हुआ, नये गहने की उत्पत्ति हुई, परंतु उन गहनो में स्वर्ण वही का वही बना रहा। पर्यायें बदलती गई, पदार्थ वही का वही रहा। पर्याये के अनुरूप नाम व आकृति बदल गई, किन्तु तत्त्व नही बदला। साथ ही शुद्धस्वर्ण के चाहे कुंडल,हार, टीका कई छोटे-बड़े गहने हो किन्तु सभी में जो स्वर्ण हैवह एक जैसी ही है। वस्तु के भिन्न-भिन्न होने पर स्वर्ण के लक्षण नहीं बदलते है उसी प्रकार चारो गति में मिलकर भिन्न-भिन्न रूप, आकृति आदि के अनंतानंत जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे है, प्रतिसमय जन्म-मरण का चक्र चल रहा है। कितने ही जीवों की मृत्यु होती है तथा कितने ही नए जीवों का जन्म होता है, परंतु सभी जीवों में विशुद्ध आत्मा तो एक जैसी ही है। ज्ञानादि गुण, आत्मप्रदेश आदि सभी में समान ही हैं। एक जीव की जब मृत्यु होती है, तो वह पुरानी पर्याय का नाश होता है, उसके साथ ही नवीन पर्याय की उत्पत्ति होती है। जैसे कोई जीव मनुष्य-पर्याय से मृत्यु पाकर नरकादि गति में जन्म लेता है, अर्थात् मनुष्य-पर्याय का नाश हुआ और नारक पर्याय की उत्पत्ति हुई, किन्तु जीव तो वही-का-वही रहा, आत्मतत्त्व नहीं बदला। एक ही स्वर्णके विभिन्न आभूषणों की तरह एक ही आत्मा विविध पर्यायों को धारण करती है। आत्मा ने जो देह धारण किए वह भिन्न-भिन्न हैं, परंतु आत्मद्रव्य में परिवर्तन नहीं होता है। एक ही जन्म में बचपन, यौवन, वृद्धावस्था इत्यादि कितनी ही अवस्थाए दृष्टिगत होती हैं, परंतु उनमें रही हुई विशुद्ध आत्मा न छोटी होती है, न बड़ी। आत्मद्रव्य तो सर्वत्र, सर्वकाल एक जैसा ही रहता है।

(७०२) कर्मणस्ते हि पर्याया नात्मनः शुद्धसाक्षिणः।
कर्म क्रियास्वभावं यदात्मा तु ज्ञस्वभाववान्।।२५।।

अनुवाद - वे पर्यायें कर्म की ही हैं, शुद्ध साक्षीरूप आत्मा की नहीं, क्योकि कर्म क्रिया के स्वभाववाला है, जबकि आत्मा तो (ज्ञाता) स्वभाव वाली है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्म की कर्त्ता नहीं है, पुनः उसी बात को स्पष्ट किया गया है। मनुष्य तिर्यंच आदि सभी जीवों की जो भिन्न-भिन्न पर्यायें देखी जाती हैं, वे वस्तुतः कर्म की हैं। कर्म शरीररूप है और ये सभी पर्यायें भी शरीररूप हैं। कर्म क्रिया करने के स्वभाव वाला है। जैसे कर्म का उदय होता है, जीव के कार्मण शरीर में उसी प्रकार की क्रिया होती है। दूसरी ओर, आत्मा विशुद्ध है ,अर्थात् कार्मणवर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं से अलिप्त है, मुक्त है। पुनः, आत्मा साक्षीरूप है। इसके ज्ञान के उपयोग में पर्यायरूप ज्ञेय प्रतिबिम्बित होता है। वस्तुतः, शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कुछ भी उत्पन्न नहीं करती है, पुनः स्वयं भी उत्पन्न नही होती है। वह तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाली है।

(७०३) नापुनां कर्मणो वाऽसौ भवसर्गः स्वभावजः।
एकैक विरहेऽभावान्न च तत्त्वातरं स्थितम्।।२६।।

अनुवाद - यह भवसंसार कर्म-परमाणुओं के स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुआ है। एक-एक के विरह से उसका (संसार का) अभाव है तथा अन्य कोई तत्त्व से उसका अस्तित्त्व नहीं है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध निश्चयनय की संसार सम्बन्धी विचारणा को प्रस्तुत किया गया है।

सर्ग, अर्थात् रचना। भवसर्ग, अर्थात् जन्म-जरा-मरण-व्याधि से भरपूर चारों गति- रूपी संसार की रचना। संसार की रचना-यह किस प्रकार उत्पन्न होता है ? व्यवहारनय के अनुसार कर्म के कारण संसार का परिभ्रमण चला करता है। कर्म है, तो संसार है, कर्म के अभाव में संसार का अभाव हो जाता है, परंतु निश्चयनय यह नहीं स्वीकारता है, उसकी धारणा भिन्न है। जैसे निश्चयनय के अनुसार केवल कर्म-परमाणुओं के

क्रियारूपी स्वभाव से संसार का उद्भव नहीं होता है, उसी प्रकार केवल आत्मा के स्वभाव से भी संसार का उद्भव नहीं होता है। तात्पर्य यही है कि दोनों में से किसी एक का भी अभाव हो, तो संसार का भी अभाव है, अर्थात् संसार की उत्पत्ति नही हो सकती है। संसार का पर्याय केवल कर्म की नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की भी नहीं है। आत्मा नहीं हो और मात्र कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु हों, तो वे जन्म-जरा-मरणरूपी संसार उत्पन्न नहीं कर सकते है, उसी प्रकार सिद्धगति में केवल विशुद्ध आत्मद्रव्य है, परंतु कर्म के परमाणु वहाँ होते हुए भी आत्मा से संलग्न नहीं हैं, क्योंकि वहाँ कार्मण-परमाणु और आत्मा को जोड़ने वाला कोई माध्यम (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय,योग) ही नहीं है, इसलिए वहाँ भी संसार की रचना संभव नहीं हो सकती है।

व्यवहारनय के अनुसार आत्मा और कर्म - दोनों के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है, परंतु निश्चय का कहना है कि इस तत्त्वान्तर से भी संसार की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं। वे एक-दूसरे के स्वभाव को ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिए शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से जो भवसर्ग या संसार की रचना दिखाई देती है, वह भ्रमात्मक ही है, वास्तविक नहीं है।

(७०४) श्वेतद्रव्यकृतं श्वेत्यं भित्तिभागे यथा द्वयोः।
भात्यनंतर्भवच्छून्यं प्रपंचोऽपि तथेक्ष्यताम्।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे दीवार पर श्वेत द्रव्य से की हुई उज्ज्वलता दोनों में (दीवार और श्वेत द्रव्य) एकरूप हुए बिना और शून्य हुए बिना प्रकाशती है, उसी प्रकार प्रपंच, अर्थात् संसार को भी देखो।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा और कर्म का संयोग किस प्रकार का है ? तो शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से समझने के लिए यहाँ दीवार और चूने का दृष्टान्त दिया गया है। दीवार को श्वेत चूने से या श्वेत आइलपेन्ट से पोता जाता है, तब जो उज्ज्वलता दिखाई देती है, वह परस्पर एक-दूसरे में मिश्रित हुए बिना, अन्तर्भावित हुए बिना शोभित होती है। दीवार चूने में प्रवेश नहीं करती है और चूना दीवार में प्रवेश नहीं करता है। दोनों एक-दूसरे से

स्पर्शित होने पर भी, एक-दूसरे में मिश्रित दिखाई देने पर भी अपने-अपने स्वरूप में हैं। उसी प्रकार, आत्मा और कर्म का संयोग होने पर भी वे दोनों परस्पर एकरूप नहीं होते हैं, अर्थात् जड़ कर्म का अंतर्भाव चेतन आत्मा में नहीं होता है और चेतन आत्मा का अंतर्भाव जड़ कर्म में नहीं होता है। ये दोनों एक-दूसरे में मिश्रित हैं - इस प्रकार जो दिखाई देता है, वह भ्रम है। प्रपंच, अर्थात् संसार को भी इसी प्रकार से देखना चाहिए। अगर मान लिया जाए कि दोनों एकरूप हो जाते हैं, तो मृत शरीर में कोई क्रियाशीलता क्यों नहीं दिखाई देती है। राग-द्वेष, क्रोधादि भाव भी मृत शरीर में क्यों नहीं होते है। सिद्ध के जीव में भी कोई चेष्टा क्यों नहीं होती है ? तो फिर संसार की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का हल तो यही निकलता है कि संसार आत्मा और कर्म के संयोग से उत्पन्न होता है। परंतु यह मात्र संयोग ही है, आत्मा नहीं हो, तो केवल कर्म में संसार को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और कर्म नहीं हो, तो आत्मा संसार उत्पन्न नहीं कर सकती है। वस्तुतः, आत्मा और कर्म का संयोग होने पर भी वे एक-दूसरे में परिवर्तित नहीं होते हैं, अंतर्भावित नहीं होते हैं, एकरूप नहीं होते हैं। एक चेतन है और दूसरा जड़, दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं, जैसे-दूध और पानी एक-दूसरे में मिश्रित दिखाई देते है, परंतु पानी दूध में परिवर्तित नहीं होता है एवं दूध पानी में परिवर्तित नहीं होता है, विशेष विधि द्वारा दोनों को पृथक् किया जा सकता है।

(७०५) यथा स्वप्नावबुद्धोऽर्थो विबुद्धेन न दृश्यते।
व्यवहारमतः सर्गो ज्ञानिनां न तथेक्ष्यते।।२८।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे स्वप्न में जाना गया पदार्थ जागने के बाद नहीं दिखाई देता है, उसी प्रकार व्यवहारनय द्वारा माना गया संसार ज्ञानियों को नहीं दिखाई देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मनुष्य जब स्वप्न-अवस्था में होता है, तब उसे स्वप्न में जो दृश्य दिखाई देते हैं, वे दृश्य उस समय अत्यंत वास्तविक तथा सत्य लगते हैं। स्वप्न में कभी-भी मनुष्य को ऐसा नहीं लगता है कि यह तो स्वप्न है, सत्य नहीं है, यह अवास्तविक है, मिथ्या है और भ्रमरूप है। स्वप्न में वह जो भी कुछ देखता है, नगर, नदी, मंदिर, महल- सभी

वास्तविक लगते हैं। कभी-कभी वह अपने को देवरूप में, राजा के रूप में देखकर खुश होता है, कभी स्वप्न में ही भयंकर राक्षस आदि को देखता है, तो भयभीत हो जाता है, कभी-कभी तो चीख निकल जाती है, पसीने से तर-बतर हो जाता है, परंतु आँखें खुलने पर उसे समझ में आ जाता है कि यह तो स्वप्न था, वास्तविक नहीं था। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार को देखते हैं। ज्ञानी पुरुष भी जाग्रत हो जाते हैं, उनकी भ्रांति भी नष्ट हो जाती है, उन्हें लगता है कि यह संसार वास्तविक नहीं है। वे तो आत्मा को विशुद्ध मानते हैं। वे आत्मा को कर्म की कर्त्ता तथा कर्म की भोक्ता नहीं मानते हैं। विशुद्ध आत्मा कर्म से मुक्त है। आत्मा कर्ममुक्त हो, तो संसार की उत्पत्ति किस प्रकार हो ? इसलिए संसार स्वप्न जैसा ही है। जैसे चर्मचक्षुओं से देखने पर क्षितिज पर आकाश की सीमा व अंत दिखाई देता है, ऐसा लगता है कि क्षितिज पर पहुँचने पर आकाश का अंतिम छोर प्राप्त हो जाएगा, परंतु व्यक्ति जैसे-जैसे आकाश के अंत तक पहुँचने के लिए क्षितिज की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे क्षितिज भी आगे बढ़ता दिखाई देता है। क्षितिज की प्रतीति होती है, परंतु प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि वह व्यक्ति का मात्र भ्रम है, वास्तविकता नहीं है। वह दिखाई देता है, होता नहीं है। उसी प्रकार, ज्ञानियों की दृष्टि में संसार भ्रम है, स्वप्न की तरह है, वास्तव में नहीं है, किन्तु व्यवहारनय आत्मा को कर्म की कर्त्ता तथा कर्म की भोक्ता मानता है और इसी से संसार चलता है। व्यावहारिक-दृष्टि से संसार वास्तविक है, अतः इस संसार से यदि मुक्त होना चाहते हैं, तो उससे मुक्त होने के लिए आत्मज्ञान सहित तप, संयम आदि का आचरण करना चाहिए। व्यवहारनय संसार को भयानक बताकर उसका अंत करने की प्रेरणा देता है, जबकि निश्चयनय के अनुसार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर संसार जैसा कुछ है ही नहीं। वस्तुतः, दोनों नयों की समन्वयात्मक-दृष्टि ही हमारे आत्मकल्याण में सहायक होती है।

(७०६) मध्याह्ने मृगतृष्णायां पयः पूरो यथेक्ष्यते।
तथा संयोगजः सर्गो विवेकाख्यातिविप्लवेः।।२९।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे मध्याह्न में मृगजल (मृग-मरीचिका) में पानी का पूर दिखाई देता है, वैसे ही विवेक की विकलता के कारण संसार संयोग से उत्पन्न हुआ सा दिखाई देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध निश्चयनय से संसार का स्वरूप बताया गया है। इसको मृगजल का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। ग्रीष्मऋतु में मध्याह्नकाल में सूर्य की अत्यंत उष्ण किरणों से दूर तपी हुई रेत में जो प्रकाश फैलता है, वह प्रतिबिंबित होता है, उससे मनुष्य को ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि वहाँ पानी है। तृषा से व्याकुल मृग भी जल की प्रतीति होने पर उसे पीने के लिए दौड़ता है। जैसे-जैसे दौड़ता हुआ वह आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसे वह जल भी आगे-आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। वह दौड़ते-दौड़ते अंत में दम तोड़ देता है एवं उसे लेशमात्र भी जल नहीं मिलता है, उसकी तृषा नहीं बुझती है, क्योंकि वहाँ वास्तविक जल नहीं है, वह मात्र भ्रम है, इसलिए ऐसे दृश्य को मृगजल कहा गया है। मध्याह्नकाल की धूप में डामर की सीधी सड़क पर भी दूर से ऐसा मृगजल दिखाई देता है, किन्तु विवेकशील व्यक्ति को तुरंत समझ में आ जाता है कि यह भ्रम है। यह संसार इसी प्रकार के मृगजल के समान है। विवेक की विकलता के कारण, अज्ञानता के कारण संसार जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, परंतु शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से विचार करें, तो जीव कुछ नहीं करता है, इसलिए संसार की उत्पत्ति नहीं होती है। जो दिखाई देता है, वह मृगजल के समान भ्रममात्र है।

(७०७) गंधर्वनगरादीनामंबरे डम्बरो यथा।
तथा संयोगजः सर्वो विलासो वितथाकृतिः।।३०।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे आकाश में गंधर्वनगरी आदि का आडम्बर दिखाई देता है, उसी प्रकार संयोग से उत्पन्न हुआ सर्व विलास मिथ्या आकृति वाला है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकर्त्ता ने संसार को आकाश में प्रतीत होती गंधर्वनगरी की उपमा दी है। आकाश में छोटे-बड़े, काले-सफेद बादलों

का आवागमन दृष्टिगोचर होता है। ये बादल विविध आकृति में दिखाई देते हैं। कभी-कभी सूर्योदय के पूर्व या सायंकाल सूर्यास्त के पूर्व सूर्य की किरणों के संयोग से रंग-बिरंगी बदलियों में, जैसे गंधर्वनगरी हो - ऐसी आकृति का आभास होता है, परंतु यह मात्र आभास ही है, भ्रम ही है। ये आकृतियाँ वास्तव में गंधर्वनगरी नहीं, मात्र बदलियाँ हैं। अल्प समय में ही बदलियों के हट जाने पर सभी आकृतियों के मिथ्या होने की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुआ संसाररूपी समग्र विलास भी वास्तविक नहीं है, यथार्थ नहीं है, मिथ्या है।

(७०८) अति शुद्धनयायत्तमेकत्वं प्राप्तमात्मनि।
अंशादिकल्पनाप्यस्य नेष्टा यत्पूर्णवादिनः।।३१।।

<u>अनुवाद</u> - इस प्रकार आत्मा सम्बन्धी शुद्ध नय के अधीन ऐसा एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि इस पूर्णवादी (निश्चयनय) को अंश आदि की कल्पना भी इष्ट नहीं है।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में आत्मद्रव्य से संबंधित भेद और अभेद की विचारणा की गई है। संसार में जीवों के मध्य कितनी विविधताएँ, विषमताएँ हैं। ये सभी भेद कर्मकृत है, परंतु सभी जीवों में जो आत्मतत्त्व है, वह समान है। शुद्धनिश्चयनय का आश्रय लेने पर आत्मा का एकत्व प्राप्त होता है, अर्थात् अभेदबुद्धि प्राप्त होती है। भेद या विविधता तो बाह्य है। पूर्णवादी, अर्थात् पूर्णता का पक्ष लेने वाले को अंश आदि की कल्पना, अर्थात् प्रदेश आदि की कल्पना भी इष्ट नहीं है। जगत् के सभी जीवों में परसामान्य से चैतन्य का एकत्व है। भिन्न-भिन्न जीवों की या आत्मप्रदेशों की दृष्टि से आंशिक विभाजन की कल्पना भी पूर्णवादी को आवश्यक नहीं लगती है। वे संग्रहनय की दृष्टि से कहते हैं कि संसार में एक ही आत्मद्रव्य है। सभी चेतनद्रव्य में अंश की भिन्नता नहीं है। चाहे परमात्मा की, अर्थात् सिद्ध की आत्मा हो या संसारी की आत्मा हो, सभी आत्माओं में अभेद है, इनमें भेद करना भ्रामक है।

(७०९) एक आत्मेति सूत्रस्याप्ययमेवाशयो मतः।
प्रत्यग्ज्योतिषमात्मानमाहुः शुद्धनयाः खलु।।३२।।

अनुवाद - 'आत्मा एक है'- इस सूत्र का भी यही आशय है, क्योंकि शुद्ध नय आत्मा को शुद्ध ज्योति वाला कहते हैं।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक की आत्मा के एकत्व की बात को यहाँ आगम का आधार देकर पुष्ट किया गया है। स्थानांगसूत्र में प्रथम अध्ययन का प्रथम सूत्र 'एगे आया', अर्थात् आत्मा एक है। चौदह राजलोक में अनंत आत्माएँ होने पर भी आगम में 'आत्मा एक है,'- यह कहा गया है, तो इसका आशय क्या है ? इसका आशय यही है कि सभी जीवों में स्वरूप की दृष्टि से एक ही समान शुद्ध आत्मा विराजमान है। सभी की आत्मा शुद्ध प्रकृष्ट ज्योति रूप है। आत्मा का कोई भी रूप, रंग, आकृति, प्रकार, भेद नहीं है। इस प्रकार सभी आत्माओं में अभेद होने से संग्रहनय की दृष्टि से संसार में 'एक ही आत्मा है' - यह कहा गया है। प्रस्तुत श्लोक में नय शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है, क्योंकि जितने भी शुद्ध नय हैं, उन सभी के अनुसार 'आत्मा एक ही है'- इस प्रकार मानते हैं। इन नयों के आधार पर आत्मा का स्वगुणों के साथ एकत्व है और सभी आत्माओं के साथ भी एकत्व है। महासामान्य की दृष्टि से सभी आत्माओं में एक ही चैतन्य रहा हुआ है। आत्मा ज्ञानस्वरूप और ज्ञानप्रकाशमय है, ज्योतिस्वरूप है। उ. यशोविजयजी ने ज्ञानसार में भी कहा है-"मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ और ज्ञान मेरा गुण है।"

अतः, शुद्ध आत्मस्वरूप को देखने वाले सभी शुद्ध नयों की अपेक्षा से, संसार में आत्मा एक है - इस प्रकार कहा गया है। ऐसी एकत्वरूप आत्मा का अनुभूतिपूर्वक दर्शन करना अत्यंत दुष्कर है।

(७१०) प्रपंचसंचयक्लिष्टान्मायारूपाद्बिभेमि ते।
प्रसीद भगवन्नात्मन् शुद्धरूपं प्रकाशय।।३३।।

अनुवाद - हे भगवन् आत्मा ! प्रपंच के संचय से क्लिष्ट - ऐसे आपके मायावी रूप से मैं डरता हूँ। इसलिए मुझ पर प्रसन्न हो जाओ और शुद्ध रूप को प्रकाशित करो।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा का कर्म से युक्त अशुद्ध स्वरूप तथा कर्म से मुक्त विशुद्ध स्वरूप दोनों के मध्य अत्यधिक अंतर है। कर्मों के प्रपंच के कारण क्लिष्ट बना हुआ स्वरूप इतना अधिक मायावी है कि लोग उसे ही वास्तविक मान लेते हैं। कर्मों के कारण आत्मा विभिन्न देह धारण करती है- कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी देव, लेकिन जीव जिस देह को धारण करता है, उसी से प्रेम करने लग जाता है। कर्म के संयोग के कारण वह किसी का पुत्र होता है, किसी का पिता या किसी का पति, लेकिन वह उसी रूप को वास्तविक मान लेता है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। इसका स्वरूप इतना लुभावना और मायावी रहता है कि अच्छे-अच्छे व्यक्ति भी इसमें फँस जाते है, वास्तविकता को भूल जाते हैं। संसारी-जीवों की प्रपंच-लीला से ज्ञानियों को भी भय रहता है। सुअर गंदी वस्तुओं का सेवन करता है, नालियों में लोटता है, उसे देखकर मानव को घृणा होती है, परंतु सूअर को उसमें अतिशय आनंद का अनुभव होता है, उसी प्रकार अविवेकी अज्ञानी मनुष्य को पुण्योदय से प्राप्त भौतिक-सामग्री में, मायावी-सुख में मग्न देखकर ज्ञानियों को खेद होता है। वे सदा इस प्रपंच से भयभीत रहते हैं, सावधान रहते हैं, दूर रहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार उ. यशोविजयजी अपनी शुद्धस्वरूपी आत्मा की प्रार्थना कर रहे हैं कि 'हे भगवान् आत्मा! मुझ पर प्रसन्न होइए और मेरे शुद्ध रूप को प्रकाशित करिए, क्योंकि मुझे मायावी-प्रपंच से डर लगता है।' उन्होंने अपनी आत्मा को भगवान का संबोधन देकर यह अभिव्यक्त किया है कि स्वयं की आत्मा ही परमात्मा है। वे अपने परमात्मस्वरूप को, शुद्ध स्वरूप को देख रहे हैं और प्रेरणा दे रहे हैं कि विकृति और माया के जाल में फंसी हुई आत्मा को उसमें से मुक्त कर उसके विशुद्ध स्वरूप को प्रकट करो।

(७११) देहेन सममेकत्वं मन्यते व्यवहारवित्।
कथंचिन्मूर्ततापत्तेर्वेदनादिसमुद्भवात्।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> व्यवहार को जानने वाला देह के साथ (आत्मा का) एकत्व मानता है, क्योंकि (आत्मा को) किसी प्रकार मूर्त्तता की प्राप्ति होने से वेदना आदि का उद्भव होता है।

विशेषार्थ - आत्मा मूर्त्त है या अमूर्त्त ? रूपी है या अरूपी ? इन प्रश्नों का समाधान करते हुए व्यवहारविद् इस प्रकार कहते हैं कि आत्मा में कुछ अंश में मूर्त्तता है, क्योंकि उसमें वेदना का उद्‌भव होता है। देह और आत्मा एक क्षेत्र में रहे हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति देह पर लकड़ी से या अन्य साधन से प्रहार करें ,तो वेदना का जो अनुभव होता है वह आत्मा को होता है। चूंकि मृत शरीर को वेदना का अनुभव नहीं होता है, इसलिए आत्मा ही वेदना का अनुभव करती है। मूर्त्त द्रव्यकृत परिणाम मूर्त्तद्रव्य में ही होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, सिद्धगति के जीवों को कोई मूर्त्तद्रव्य से प्रहार करे, तो उनको वेदना नहीं होती है, क्योंकि वे अमूर्त्त हैं, परंतु देहधारी जीव पर प्रहार किया जाए, तो देह में ममत्व भाव होने से वेदना होती है, इसलिए आत्मा में कुछ अंश में मूर्त्तता को स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि कुछ अंश में आत्मा देह के साथ अभिन्न है। इस प्रकार व्यवहारनय की मान्यता है।

(७१२) तन्निश्चयो न सहते यदमूर्तो न मूर्तताम्।
अंशेनाप्यवगाहेत पावकः शीततामिव।।३५।।

अनुवाद - यह बात निश्चयनय नहीं स्वीकारता है, क्योंकि जैसे अग्नि कभी शीतलता को प्राप्त नहीं करती है वैसे अमूर्त्त (आत्मा) मूर्त्तत्त्व के अंश को भी स्पर्श नहीं करता है। (प्राप्त नहीं करता है।)

विशेषार्थ - व्यवहारनय कहता है कि आत्मा कथंचित् मूर्त्त है और देह के साथ उसकी एकता है, अभिन्नता है, क्योंकि देह पर प्रहार होता है, तो आत्मा अनुभव करती है, परंतु निश्चयनय इस बात को सहन नहीं करता है। वह कहता है कि आत्मा में अंश भी मूर्त्तत्त्व नहीं है। कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है। इसे अग्नि का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि अग्नि अंशरूप भी शीतलता को प्राप्त नहीं करती है। अग्नि उष्ण है, उसमें कभी भी ठंडक का अनुभव नहीं होगा, उसका स्वभाव ही उष्णता प्रदान करना और उष्ण रहना है, उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा कभी भी मूर्त्त, रूपी, साकार नहीं बन सकती है।

(७१३) उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् घृतमुष्णमिति भ्रमः।
तथा मूर्तांगसंबंधादात्मा मूर्त इति भ्रमः।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे ऊष्ण अग्नि के संयोग से, घी उष्ण है - ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही मूर्त्त अंग के संबंध से, आत्मा मूर्त्त है - ऐसा भ्रम होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> देह में आत्मा रही हुई है, परंतु वह देह से भिन्न है। संसारी-जीव के देह-आकार में रहने से सामान्य व्यक्ति को ऐसा भ्रम होता है कि आत्मा मूर्त्त है, आत्मा दुःखी है, आत्मा सुखी है। वस्तुतः, आत्मा अमूर्त्त है परंतु मूर्त्त देह के संयोग से आत्मा की मूर्त्तता का आभास होता है, इसलिए व्यवहार में मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं पतला हूँ, मैं मोटा हूँ इत्यादि बोलते हैं। वस्तुतः, आत्मा अरूपी है, अदृश्यमान् है। यहाँ दृष्टान्त दिया गया है- घी और अग्नि का। अग्नि का गुणधर्म उष्णता है और घी का गुणधर्म शीतलता, परंतु घी और अग्नि का संयोग होने पर, अर्थात् घी का बर्तन जलती गैस आदि पर रखने से घी गर्म हो जाता है। उस समय घी के शीतल परमाणुओं के मध्य अग्नि के उष्ण परमाणु प्रवेश कर जाते हैं, इसलिए घी गर्म है - ऐसा भ्रम होता है। वास्तव में, घी का स्वभाव ही शीतलता का है, इसलिए गर्म घी खाने वाले को भी वह शरीर में शीतलता करता है। इसी प्रकार, आत्मा शरीर में रहने पर मूर्त्त दिखाई देती है, परंतु स्वगुण-लक्षण से तो वह अमूर्त्त ही है।

(७१४) न रूपं न रसो गंधो न, न स्पर्शो न चाकृतिः।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> जिसका (आत्मा का) धर्मरूप नहीं है, रस नहीं है, गंध नहीं है, स्पर्श नहीं है, आकृति नहीं है और शब्द भी नहीं है, उसका मूर्त्तत्व कहाँ से हो ?

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में पूर्व की बात को ही स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि आत्मा की अमूर्त्तता पुद्गल से किस प्रकार भिन्न है। मूर्त्त पुद्गल-द्रव्य शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध व आकृति वाला होता है, जबकि अमूर्त्त आत्मा में रूप नहीं है अरूपी है, रस नहीं है, गंध नहीं है, स्पर्श नहीं है, शब्द नहीं है, आकृति नहीं है, निराकार है परंतु आत्मा

देहस्वरूप मूर्त्त है - ऐसा भ्रम इसलिए होता है; क्योंकि देह और आत्मा ऐकक्षेत्रावगाही है, इसलिए देह के साथ एकता की बुद्धि होती है, अभिन्नता का आभास होता है। देह और आत्मा के एक-दूसरे के साथ क्षीर-नीरवत्, लौह-अग्निवत् रहने पर भी समझना चाहिए कि देह कभी-भी आत्मा नहीं हो सकती है, चेतन नहीं हो सकती है, अमूर्त्त नहीं हो सकती है और आत्मा कभी-भी देह नहीं हो सकती है, जड़ नहीं हो सकती है, मूर्त्त नहीं हो सकती है। देह और आत्मा का एकत्व व्यवहार में उपचारमात्र से कहा जाता है, जैसे- योद्धाओं द्वारा किए गए युद्ध का आरोपण स्वामी या राजा पर होता है, जैसे राजा ने युद्ध किया, राजा जीता या राजा हार गया' - ऐसा लोकव्यवहार में कहते हैं, उसी प्रकार कर्मसमूह से उत्पन्न भावों का आरोपण अविवेक के कारण आत्मा में होता है और देह तथा आत्मा में एकत्व की अनुभूति होती है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय से दोनों के मध्य एकत्व नहीं है - यह जानना चाहिए। देह के साथ एकत्वबुद्धि के कारण देह के प्रति राग का जन्म होता है। देह के प्रति जो अनुकूल पुद्गल होते हैं, उनके प्रति राग हो जाता है और जो प्रतिकूल पुद्गल हैं, उनके प्रति द्वेष हो जाता है, परंतु जीव अगर निश्चयनय से शुद्ध, अमूर्त्त आत्मद्रव्य का चिंतन करे और स्वरूप के प्रति अभिमुख होने का अभ्यास करे, तो देह के साथ उसकी तादात्म्य-बुद्धि कम होती जाती है, जिससे उसके राग-द्वेषादि भी कम होते जाते हैं एवं मोक्षमार्ग में वह आसानी से गमन करता है।

(७१५) दृशाऽदृश्यं हृदाऽग्राह्यं वाचामपि न गोचरः।
स्वप्रकाशं हि यद् रूपं तस्य का नाम मूर्तता।।३८।।

__अनुवाद -__ जो रूप दृष्टि से दिखाई नहीं दे, हृदय द्वारा ग्राह्य नहीं, वाणी द्वारा गोचर नहीं, परंतु जो स्वयं प्रकाश है, उसे मूर्त्तता किस प्रकार हो सकती है ?

__विशेषार्थ -__ प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार आत्मा को इन्द्रियों आदि से अग्राह्य बताकर उसकी अमूर्त्तता को सिद्ध करते हैं। ग्रंथकार का कहना है कि उसका रूप दृष्टि द्वारा दिखाई दे - ऐसा नहीं हैं, हृदय से वह ग्राह्य नहीं है और उसे वाणी से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। जो स्थूल पुद्गलरूप पदार्थ होते हैं, उनका आकार होता है, उन्हें आँखों से देख

सकते हैं, द्रव्य मन से उन्हें ग्रहण कर सकते हैं, वाणी का विषय बना सकते हैं, उनका रूप-रंग बता सकते है। पुद्गल एक परमाणु में भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सब पाए जाते हैं, जबकि आत्मा अमूर्त्त है, उसे चक्षु से नहीं देख सकते हैं, उसे द्रव्य मन द्वारा भी ग्रहण नही कर सकते हैं। वह वचनातीत है, उसका शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते हैं। उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सूर्य आदि की तरह वह स्वयं ही प्रकाशित है। ज्ञान उसका प्रकाश है।

(७१६) आत्मा सत्यचिदानन्दः सूक्ष्मात्सूक्ष्मः परात्परः।
स्पृशत्यापि न मूर्तत्वं तथा चोक्तं परैरपि।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> सत्, चित् और आनंदस्वरूप, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, पर-से-पर - ऐसी आत्मा मूर्त्तत्त्व को स्पर्श भी नहीं करती है। अन्य दार्शनिकों ने भी इस प्रकार कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा सत् स्वरूप है, यथार्थस्वरूप है। देह से भिन्न स्वसत्ता को धारण करने वाली है। आत्मा चित्-स्वरूप है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। पुनः, आत्मा आनंदस्वरूप है। इस प्रकार आत्मा सच्चिदानंदस्वरूप है। यह कहना अत्यंत सरल है, परंतु अंतर में उसका बोध होना, अनुभव होना अत्यंत कठिन है, क्योंकि आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। पुद्गल-परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होता है, वह चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देता है, परंतु आत्मा तो इससे भी सूक्ष्म है। पुनः, आत्मा पर-से-पर है। पर, अर्थात् श्रेष्ठ, प्रकृष्ट सर्वोत्तम। जगत् में एक से बढ़कर एक श्रेष्ठ वस्तुएँ होती है। परंतु सर्वोत्तम स्थूल वस्तुएँ या इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भी आत्मा श्रेष्ठ है। कोई कहता है कि जगत् में आँख ही सर्वोत्तम है, उससे भी सम्पूर्ण जगत् का निरीक्षण कर सकते हैं, आँख के बिना दुनिया अंधेरी है। कोई कहता है कि बुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ है, वही ज्ञाता-दृष्टा है। पर का अर्थ यदि सूक्ष्म लें, तो आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। आत्मा स्थूल, मूर्त्त नहीं हो सकती है, वह मूर्त्तत्त्व को स्पर्श भी नहीं करती है। समस्त चेतन-सृष्टि में सत्-चित्-आनंद की परिपूर्णता का अनुभव करने के लिए, दृष्टा पुरुष के लिए सत्-चित्-आनन्दयुक्त पूर्णता की प्राप्ति आवश्यक है।

(७१७) इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४०।।

अनुवाद - इन्द्रियों को (स्थूल शरीर से) पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म) कहते हैं। इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है। वह (आत्मा) बुद्धि से भी पर है।

विशेषार्थ - उपाध्याय यशोविजयजी ने अपनी बात को समर्थन के लिए यहाँ श्रीमद् भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का बयालीसवां श्लोक दिया है।

आत्मतत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अमूर्त्त है - इस प्रकार अन्यदर्शनी भी कहते हैं। श्रीमद् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि कामशत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार एक समर्थ साधन है। आत्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। शरीर या विषयों से इन्द्रियां स्वयं सूक्ष्म हैं, पर हैं, श्रेष्ठ हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान होता है, परंतु विषयों के द्वारा इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता। विषयों में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे इन्द्रियों को प्रकाशित करें, प्रत्युत्त इन्द्रियाँ विषयों को प्रकाशित करती हैं। इन्द्रियाँ वही रहती हैं, परंतु विषय बदलते रहते हैं। इन्द्रियाँ व्यापक है और विषय व्याप्य हैं, इसलिए विषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म हैं। इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है क्योंकि जहाँ इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकती हैं, मन वहाँ भी पहुँच जाता है। इन्द्रियाँ मन को नहीं जानती, पर मन सभी इन्द्रियों को जानता है। इन्द्रियों में भी प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ही जानती है, अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं; जैसे - कान केवल शब्द को जानते हैं, परंतु स्पर्श, रूप, रस, गंध को नहीं जानते, त्वचा केवल स्पर्श को जानती है, पर शब्द, रूप, रस, गंध को नहीं जानती; नेत्र केवल रूप को जानते हैं, पर शब्द, स्पर्श, रस, गंध को नहीं जानते, रसना केवल रस को जानती है, पर शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध को नहीं जानती और नासिका केवल गन्ध को जानती है, पर शब्द, स्पर्श, रूप और रस को नहीं जानती, परन्तु मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को तथा उनके विषयों को जानता है, इसलिए मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म है। मन बुद्धि को नहीं जानता पर बुद्धि मन को जानती है। मन कैसा है ? शान्त है या व्याकुल, लोभी है

या उदार, शुद्ध है या अशुद्ध इत्यादि बातो को बुद्धि जानती है। इन्द्रियाँ ठीक काम करती हैं या नहीं ? इसको भी बुद्धि जानती है, तात्पर्य यह है कि बुद्धि मन को तथा उसके संकल्पों को भी जानती है तथा इन्द्रियों और उनके विषयों को भी जानती है, इसलिए इन्द्रियों से पर जो मन है, उस मन से भी पर बुद्धि है तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भी पर आत्मा है। सुख-दुःखरूप विकृति जड़ में ही होती है, चेतन आत्मा में विकृति नहीं होती। परंतु चेतन विकृति का ज्ञाता है। मुर्दा आँख होने पर भी देख नहीं सकता, कान होने पर भी सुन नहीं सकता। आत्मा की अनुपस्थिति में जड़ इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि काम नहीं करते हैं। आत्मा ही परमात्मा है, सबसे श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक और व्यापक है।

(७१८) विकले हनत लोकेऽस्मिन्नमूर्ते मूर्तताभ्रमात्।
पश्चत्याश्चर्यविद् ज्ञानी वदत्याश्चर्यवद्वचः।।४१।।

<u>अनुवाद -</u> अरे ! अमूर्त्त (आत्मा) में मूर्त्तता के भ्रम के कारण अविवेकी इन लोगों (के आचरण) के विषय में ज्ञानी आश्चर्य से देखते हैं और आश्चर्ययुक्त वचन बोलते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> सामान्य व्यक्ति और ज्ञानी की दृष्टि में विशद अन्तर होता है। सामान्य व्यक्ति बाह्य-चर्मचक्षु से जगत् को देखता है, उसका आकलन करता है, जबकि ज्ञानी के बाह्य-चक्षु के साथ-साथ आंतरचक्षु भी खुले हुए होते हैं, अतः वह आंतरचक्षु से पदार्थ के मर्म को, उसके यथार्थ स्वरूप को, देखता है। शरीर और आत्मा के एक क्षेत्र में रहने पर लोगों की क्रियाशीलता, चेष्टाओं को देखकर सामान्य व्यक्ति को यह भ्रम होता है कि आत्मा मूर्त्त है। जैसे चार कोने वाले किसी लोहे का अग्नि से तादात्म्य, अर्थात् सम्बन्ध होने पर लोहे में जलाने की शक्ति नहीं होने पर भी लोहा जलाने वाला है, लोहे से जल गया आदि व्यवहार होता है। अग्नि चार कोले वाली नहीं होने पर भी चार कोने वाली दिखाई देती है, वैसे ही आत्मा के मूर्त्त नहीं होने पर भी शरीर की क्रिया देखकर उसे आत्मा की मूर्त्तता का भ्रम हो जाता है, परंतु ज्ञानी नाशवंत शरीर के अंदर रही हुई अरूपी, अमूर्त्त, अमर आत्मा को देखते हैं। लोग अविवेक के कारण आत्मा के अमूर्त्त शुद्ध स्वरूप को नहीं पहचानते हैं और भेदबुद्धि नहीं होने पर शरीर

आदि पर अपार ममत्वभाव रखते हैं, राग-द्वेष करते हैं। अज्ञानियों के इस प्रकार के व्यवहार को देखकर ज्ञानियों को आश्चर्य होता है ? दूसरी ओर, जब ज्ञानी आत्मा की अमूर्त्तता की, शुद्धता की, उसके भगवान्स्वरूप की चर्चा करते हैं, तो अज्ञानियों को आश्चर्य होता है। इस प्रकार दोनों की सोच में विशद अन्तर है।

(७१६) वेदनाऽपि न मूर्तत्वनिमित्ता स्फुटमात्मनः।
पुद्गलानां तदापत्तेः किंत्वशुद्ध स्वशक्तिजा।।४२।।

<u>अनुवाद -</u> स्पष्ट है कि वेदना भी आत्मा के मूर्त्तत्त्व के निमित्त से नहीं होती है। अगर इस प्रकार हो, तो पुद्गलों को वह (वेदना) प्राप्त होती है - ऐसी आपत्ति आएगी, परंतु वह (वेदना) स्वयं की (आत्मा की) अशुद्ध शक्ति से उत्पन्न होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय कहता है कि जीव जो सुख-दुःख रूपी संवेदन का अनुभव करता है वह आत्मा में मूर्त्तत्व हो, तो ही अनुभव कर सकता है। अमूर्त्तत्व में संवेदना नहीं होती, अतः आत्मा को आंशिक रूप से मूर्त्तरूप में स्वीकारना पड़ेगा, परंतु निश्चयनय कहता है कि जहाँ मूर्त्तत्व हो, वहाँ वेदना हो - ऐसा सिद्धान्त हो, तो फिर पुद्गलों को भी उस संवेदना का अनुभव होना चाहिए, क्योंकि पुद्गल, मूर्त्त शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध से युक्त, रूपी एवं साकार है, परंतु यह सामान्य अनुभव है कि पुद्गल, अर्थात् टेबल, कुर्सी, पाठ, वस्त्र, अलंकार तथा मृत शरीर आदि जड़ वस्तुओं को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। प्रश्न उठता है कि फिर जीव को सुख-दुःख का अनुभव किस प्रकार होता है? इसका उत्तर यही है कि वेदना का यह अनुभव आत्मा की अशुद्ध शक्ति से उत्पन्न हुआ है। आत्मा की शक्ति दो प्रकार की होती है - १. आत्मा की शुद्ध शक्ति २. अशुद्ध शक्ति। कर्मों के संयोग के कारण आत्मा की मलिन हुई चेतना अशुद्ध शक्ति। राग-द्वेष, क्रोध, माया, लोभ से मलिन चेतना अशुद्ध शक्ति है। कर्मरहित आत्मा की स्वयं की शक्ति शुद्ध शक्ति। सिद्ध गति के जीवों में शुद्ध शक्ति होती है। वे मात्र ज्ञाता, दृष्टा होते है। वे स्वयं के स्वभाव के परिणमन से विशुद्ध ज्ञान, चेतना से ज्ञेय पदार्थों को ज्ञान का विषय बनाते हैं, इसलिए उनको पर पदार्थ का अवलम्बन नहीं होता, जैसे दर्पण के

सामने कोई सुन्दर वस्तु आती है, तब उसका सुन्दर प्रतिबिम्ब बताने पर भी दर्पण को उसके प्रति राग नहीं होता तथा जब उसके सामने कुरूप वस्तु आती है, तब उसका कुरूप प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी उसके प्रति द्वेष नहीं होता, ठीक उसी प्रकार अनंतज्ञान तथा अनन्तदर्शन द्वारा शुभ-अशुभ द्रव्यों एवं उनके गुणपर्यायों को जानने पर भी आत्मा का शुद्ध चैतन्य स्वरूप उसके प्रति राग-द्वेष की परिणति से दूषित नहीं होता है। संसार में रहे हुए जीवों की चेतना अशुद्ध होने से तथा शरीर और कर्मों से पृथक् होने पर भी पर पदार्थों का अवलंबन लेकर रागादि परिणति या संवेदना का अनुभव करती है, इसलिए वेदना अशुद्ध आत्मशक्ति से ही उत्पन्न हुई है।

(७२०) अक्षद्वारा यथा ज्ञानं स्वयं परिणमत्ययम्।
तथेष्टानिष्टविषयस्पर्शद्वारेण वेदनाम्।।४३।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे यह (आत्मा) इन्द्रियों द्वारा स्वयं ज्ञानरूप में परिणमित होती है, वैसे ही इष्ट और अनिष्ट विषय के स्पर्श द्वारा वेदना का अनुभव करती है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक को ही यहाँ स्पष्ट किया गया है। छद्मस्थ संसारी-जीव श्रवणादि इन्द्रियों के अवलंबन द्वारा, घट-पट आदि के ज्ञान को स्वयं परिणमित करता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट के परिणमन वाली होती है। उसी प्रकार इष्ट या अनिष्ट, अनुकूल या प्रतिकूल विषयों के स्पर्श द्वारा सुख-दुःखादि अनुभवरूप वेदना को भी वह स्वयं परिणमित करता है, अनुभव करता है, परंतु सुख-दुःखादिरूप वेदना के परिणमन के कारण आत्मा में मूर्त्तता मानने की आवश्यकता नहीं है- ऐसा निश्चयनय का कथन है।

(७२१) विपाककालं प्राप्यासौ वेदनापरिणामभाक्।
मूर्तं निमित्तमात्रं नो घटे दंडवदन्वयि।।४४।।

<u>अनुवाद -</u> यह (आत्मा) विपाक-काल को प्राप्त करके वेदना के परिणाम को भोगने वाली होती है, इसलिए मूर्त्तता उसका निमित्तमात्र है। जैसे घट में दंड अन्वयी (जोड़ने वाला) नहीं है, वैसे (मूर्त्तत्त्व, आत्मा में अन्वयी नहीं है)

विशेषार्थ - आत्मा में मूर्त्तत्त्व नहीं है, परंतु शरीर और आत्मा के एक क्षेत्र में रहने पर शरीर के मूर्त्तत्व से, आत्मा के मूर्त्तत्व का भ्रम होता है। व्यवहारनय इस प्रकार कहता है कि आत्मा में सत्ता में रहे हुए कर्म विपाककाल प्राप्त होने पर जब उदय में आते हैं, तब आत्मा सुख-दुःख की वेदना का अनुभव करती है। कार्मणवर्गणा से बने हुए पुद्गल स्वरूप कर्म मूर्त्त हैं एवं उनको भोगनेवाली आत्मा है, इसलिए आत्मा में मूर्त्तत्व है - यह स्वीकारना पड़ेगा। इसके उत्तर में निश्चयनय कहता है कि इसमें शुभ-अशुभ कर्म तो निमित्तमात्र हैं, परंतु निमित्त होने मात्र से वे कर्म आत्मा में एकरूप हो गए हैं- ऐसा नहीं कह सकते हैं। कर्म की आत्मा के साथ संनिधि है, संयोग है, परंतु इससे आत्मा और कर्म-दोनों एकरूप नहीं होते, दोनों अपने-अपने स्वाभाविक लक्षण का त्याग नहीं करते है तथा दूसरे द्रव्य के लक्षण को नहीं स्वीकारते हैं। कर्म के विपाक के परिणाम से आत्मा वेदना के परिणाम वाली होती है, परंतु यह मूर्त्तता तो निमित्तमात्र है। प्रस्तुत श्लोक में घट का दृष्टान्त दिया गया है, जिसके अनुसार घट में मिट्टी उपादान कारण है और दंड, चक्र आदि निमित्त-कारण हैं। दंड और चक्र, घट के साथ एकरूप नहीं हुए।

निश्चयनय कहता है कि ऐसी उपादान आत्मा मूर्त्तकर्म के निमित्त से विपाककाल में वेदना के परिणाम वाली होती है, परंतु इससे आत्मा में मूर्त्तत्व सिद्ध नहीं होता है। जैसे रसोइया रोटी बनाने में निमित्त होता है, परंतु आटा स्वयं रोटी में परिणमित होता है, उसी प्रकार वेदना तो आत्मा की अशुद्ध शक्ति के कारण ही उद्भवित होती है।

(७२२) ज्ञानख्या चेतना बोधः कर्माख्या द्विष्टरक्तता।
जन्तोः कर्मफलाख्या सा वेदना व्यपदिश्यते।।४५।।

अनुवाद - जीव का (आत्मा का) बोध ज्ञान नामक चेतना कहलाती है। द्वेषत्व और रागत्व, कर्मचेतना कहलाती है। वेदना, कर्मफलात्मक चेतना कहलाती है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में आत्मा की संवेदना की चर्चा को ही अधिक स्पष्ट किया गया है। निश्चयनय के अनुसार आत्मा अमूर्त्त, अरूपी

है। उसमें जो संवेदना का अनुभव होता है, उससे भी उसके मूर्त्तत्त्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

देहधारी जीवों को जो वेदना का अनुभव होता है, उसे प्रक्रिया और चेतना की दृष्टि से तीन भागों में बाँट सकते है - १. जीव की ज्ञानचेतना २. जीव की कर्मचेतना ३. जीव की कर्मफलचेतना। जीव की ज्ञानचेतना यह बोधरूप है। जीव को विषयादि स्वरूपों का जो ज्ञान होता है, वह शुद्ध चिद्रूप स्वशक्ति से होता हुआ बोध है। जीव की जो शक्ति ज्ञानरूप में परिणमित होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। द्रव्यकर्म के निमित्त से जीव की राग-द्वेषरूपी परिणति-यह अशुद्ध शक्ति से उत्पन्न हुई परिणति है। शुभ-अशुभ, राग-द्वेषादि के भाव - ये भाव कर्मरूप चेतना हैं, जो द्रव्यकर्म निमित्त होते हैं।

कर्म के फलस्वरूप जीव को सुख-दुःख का जो अनुभव होता है, वह कर्मफल- चेतना है। यह वेदना अशुद्ध शक्ति की परिणतिरूप है। इस प्रकार की वेदना-यह भी आत्मा की ही चेतना है, इसलिए वेदना के उद्भव से आत्मा में मूर्त्तत्व मानने की आवश्यकता नहीं है।

(७२३) नात्मा तस्मादमूर्तत्वं चैत्यं चातिवर्तते।
अतो देहेन नैकत्वं तस्य मूर्तेन कर्हिचित्।।४६।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए आत्मा अमूर्त्तत्त्व और चैतन्यता का कभी भी उल्लंघन नहीं करती है, अतः उसका (आत्मा का) मूर्त्त देह के साथ कभी भी एकत्व नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा का अमूर्त्तत्त्व और चैतन्यत्व अखण्डित रहता है, शाश्वत रहता है। वह कभी भी अमूर्त्तत्त्व और चेतन्यता का उल्लंघन नहीं करती है। आत्मा और देह एक क्षेत्र अवगाह में रहते हैं और देह में मूर्त्तत्व है तथा पुद्गलस्वरूप होने से उसमें अजीवत्व है, फिर भी देह के कारण आत्मा मूर्त्त नहीं बनती है, या पुद्गल के जड़त्व स्वभाव के कारण आत्मा चेतनारहित नहीं होती है, क्योंकि आत्मा और पुद्गल के स्वभाव भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार निश्चयनय के अनुसार आत्मा का देह के साथ किंचित् भी एकत्व नहीं है।

(७२४) सन्निकृष्टान्मनोवाणीकर्मादेरपि पुद्‌गलात्।
विप्रकृष्टाद्धनादेश्च भाव्यैवं भिन्नताऽत्मनः।।४७।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार मन, वाणी और कर्म आदि निकट के पुद्‌गलों से तथा धनादि दूर के पुद्‌गलों से आत्मा की भिन्नता का विचार करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में निश्चयनय द्वारा बताया गया है कि आत्मा और देह एक-दूसरे से भिन्न हैं। प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया है कि देह से संबंधित ऐसे अत्यंत निकट के पुद्‌गलों से और देह से संबंधित ऐसे दूर के पदार्थों से भी आत्मा भिन्न है। देह और आत्मा एकक्षेत्र अवगाह में रहे हुए है। शरीर पाँच प्रकार के होते हैं। संसारी-जीव के तेजस शरीर और कार्मण शरीर हमेशा साथ में रहते हैं। आत्मा जब एक शरीर को छोड़कर (मृत्यु होने पर) दूसरा शरीर धारण करती है, तब विग्रहगति में भी आत्मा के साथ तेजस् और कार्मण-शरीर रहते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि संसारी-जीव की एक समय के लिए भी तेजस् और कार्मण शरीर से जुदाई नहीं होती है। संसारी-जीव के आठ (रुचक-प्रदेश को छोड़कर) प्रत्येक प्रदेश पर पुद्‌गल-परमाणु रहे हुए हैं। तेजस् और कार्मण-शरीर के पुद्‌गल-परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। वे आँखों से अदृश्य होते है। द्रव्य मन से आत्मा जब विचार करती है, तब मनोवर्गणा के पुद्‌गल-परमाणु के निमित्त से जीव में अनुकूल अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। जीव जब वाणी द्वारा वचन बोलता है, तब भाषावर्गणा के पुद्‌गल-परमाणु सक्रिय हो जाते हैं। जीव जब काया की क्रिया करता है, तब श्वासोच्छ्‌वास तथा अन्य अनुरूप पुद्‌गल-परमाणु सक्रिय बन जाने से आत्मा में वैसे अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। ये सभी प्रकार के परमाणु आत्मा के अत्यंत समीप रहे हुए हैं। आत्मा के प्रदेश-प्रदेश पर क्षीर-नीर की तरह मिश्र हैं, फिर भी पुद्‌गल-परमाणु अजीव-द्रव्य हैं और आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। आत्मा चेतन और मन, वाणी, कर्म - सभी जड़ है। ये सभी मिटने वाले हैं, आत्मा शाश्वत है। आत्मा का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब परपर्याय हैं, ये आत्मा पर मेलस्वरूप चिपकी हुई हैं। जैसे मैले या गंदे वस्त्र में धूल सम्पूर्ण वस्त्र में एक रूप हो जाती है, फिर भी धूल का एक कण भी वस्त्र

में परिणत नहीं होता है और वस्त्र का एक धागा भी धूल में परिणत नहीं होता है, उस वस्त्र को सर्फ, साबुन, गरम पानी आदि का उपयोग करके पुरुषार्थ द्वारा धूल से मुक्त किया जा सकता है, उसी प्रकार मन, वाणी, कर्म आदि आत्मा के समीप रहते हुए भी आत्मा से भिन्न हैं, यह गन्दगी है, अशुद्धता है, परपर्याय है। जो आत्मा का है, वह कभी नष्ट नहीं होता है और जो नष्ट होता है वह आत्मा का नहीं हो सकता है। पुद्गल की सभी पर्यायें परिवर्तनशील हैं, इनका विनाश और उत्पत्ति चलती रहती है, अतः जड़स्वरूप पुद्गल की पर्यायें आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं और पुरुषार्थ द्वारा कर्मों को समाप्त कर आत्मा को इन पर्यायों से मुक्त किया जा सकता है। जहाँ देह ही अपनी नहीं है, वहाँ देह से सम्बन्ध रखने वाले स्वजन, धन, मकान, दुकान आदि अपने कैसे हो सकते हैं। ये तो आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं ही। व्यवहार में चाहे मेरा धन, मेरा परिवार, मेरा मकान आदि शब्दों का प्रयोग होता हो, लेकिन निश्चयनय के अनुसार आत्मा का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

(७२५) पुद्गलानां गुणो मूर्तिरात्मा ज्ञानगुणः पुनः।
पुद्गलेभ्यस्ततो भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः।।४८।।

<u>अनुवाद -</u> पुद्गल का गुण मूर्त्तता है, जबकि आत्मा का गुण ज्ञान है, इसलिए जिनेश्वरों ने आत्मद्रव्य को पुद्गल से भिन्न कहा है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीवद्रव्य अजीवद्रव्य से भिन्न है। तीन काल में भी कभी जीवद्रव्य अजीव नहीं हो सकता है और अजीवद्रव्य जीव नहीं हो सकता है। अजीवद्रव्य पाँच प्रकार के कहे गए हैं- १. पुद्गलास्तिकाय २. धर्मास्तिकाय ३. अधर्मास्तिकाय ४. आकाशास्तिकाय और ५. काल। प्रत्येक द्रव्य का एक-एक ऐसा लक्षण है, जो अन्य द्रव्यों से स्वतंत्र अस्तित्व दर्शाता है। प्रस्तुत श्लोक में पुद्गलास्तिकाय और जीव के लक्षण पर चर्चा की गई है। आत्मा का प्रमुख गुण ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान गुण अवश्य होता है और आत्मा के सिवाय अन्य अजीव द्रव्यों में ज्ञान गुण का अस्तित्त्व नहीं है।

पुद्गल का गुण मूर्त्तता है, साकारता है। जिनेश्वरदेव ने आत्मद्रव्य को पुद्गलद्रव्य से भिन्न कहा है। मूत्तता या आकार इन्द्रियों से ग्राह्य होता है, परंतु ज्ञानगुणस्वरूपी आत्मा इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं बनती है। प्रत्येक

आत्मा अपने ज्ञानगुण का संवेदन कर सकती है, परंतु इन्द्रियों द्वारा दूसरी आत्मा के ज्ञानगुण को ग्रहण कर सकती है। देहधारी जीव में पुद्गलद्रव्य आत्मा के (रुचक-प्रदेश को छोड़कर) अणु-अणु में विद्यमान है इस कारण से एकत्वबुद्धि होती है- यह भ्रम है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य अपना धर्म छोड़कर आत्मद्रव्य नहीं होता और आत्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य नहीं बनता अर्थात् पुद्गल ज्ञानमय चेतन नहीं हो जाता और आत्मद्रव्य मूर्तता और जड़ता को प्राप्त नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का बुद्ध भी नहीं कर सकता है। सूक्ष्मदृष्टि से चिंतन-मनन करने पर आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य में भिन्नता समझ में आ जाती है।

(७२६) धर्मस्य गतिहेतुत्वं गुणो ज्ञानं तथात्मनः।
धर्मास्तिकायात्तद्भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः।।४६।।

<u>अनुवाद</u> - धर्मास्तिकाय का गुण गति में सहायकत्व है और आत्मा का गुण ज्ञान है, इसलिए जिनेश्वरों ने धर्मास्तिकाय से आत्मद्रव्य को भिन्न कहा है।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक में जीवद्रव्य की धर्मास्तिकाय से भिन्नता दर्शाई गई है। आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ जैसा अभेद का भ्रम होता है, वैसा धर्मास्तिकाय के साथ नहीं होता। धर्मास्तिकाय-द्रव्य जीवद्रव्य की तरह रस, वर्ण, गंध, शब्द और स्पर्श से रहित अर्थात् अमूर्त्त है, निराकार है और असंख्य प्रदेशात्मक है, किन्तु इसका प्रमुख लक्षण गति करवाने का है। जिस प्रकार पानी स्वयं गति किए बिना मत्स्यों की गति में सहकारी कारण बनता है उसी तरह धर्मास्तिकाय स्वयं गति किए बिना जीव तथा पुद्गलों की गति में सहकारी कारण बनता है। आत्मा का गुण ज्ञान है। इस प्रकार दोनों के गुण भिन्न-भिन्न होने से दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है। व्यवहारनय के अनुसार जीव को गति करने के लिए धर्मास्तिकाय की आवश्यकता रहती है, इसलिए आत्मा का धर्मास्तिकाय के साथ सम्बन्ध है, परंतु दोनों के मध्य अभेद नहीं है और न ही दोनों अपने-अपने गुणों को छोड़कर एक दूसरे में परिणत होते हैं।

(७२७) अधर्मे स्थितिहेतुत्वं गुणो ज्ञानगुणोऽसुमान्।
ततोऽधर्मास्तिकायान्यमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः।।५०।।

अनुवाद - अधर्मास्तिकाय का गुण स्थिति-सहायकत्व है, आत्मा का गुण ज्ञान है, इसलिए जिनेश्वरों ने आत्मद्रव्य को अधर्मास्तिकाय से भिन्न कहा है।

विशेषार्थ - अधर्मास्तिकाय का गुण स्थितिहेतुत्व है, अर्थात् जीव तथा पुद्गलों की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक है। जिस प्रकार छाया पथिकों की स्थिरता में सहायक बनती है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय व्यवहार से जीव तथा पुद्गलों की स्थिरता में निमित्त कारण है। आत्मा का ज्ञान गुण है। अधर्मास्तिकाय भी अरूपी तथा स्वतंत्र द्रव्य है। आत्मा का अधर्मास्तिकाय से संबंध रहता है। व्यवहारनय से जीव को ठहरने के लिए अधर्मास्तिकाय-द्रव्य की आवश्यकता रहती है। फिर भी दोनों द्रव्यों के मध्य अभेद नहीं है, दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं, भिन्न हैं।

(७२८) अवगाहो गुणो व्योम्नो ज्ञानं खल्वात्मनो गुणः।
व्योमास्तिकायात्तद्भिन्नमात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः।।५१।।

अनुवाद - आकाशास्तिकाय का गुण स्थान प्रदान करना (अवगाहना) है, परंतु आत्मा का गुण ज्ञान है। इसलिए जिनेश्वरों ने आत्मद्रव्य को आकाशास्तिकाय से भिन्न कहा है।

विशेषार्थ :- ग्रंथकार एक-एक द्रव्य का प्रमुख लक्षण बताकर जीवद्रव्य का गुण ज्ञान होने से जीवद्रव्य से उनकी भिन्नता को बता रहे हैं। जीवद्रव्य ज्ञानमय होने से सभी अजीव द्रव्यों से भिन्न है। प्रस्तुत श्लोक में जीवद्रव्य को आकाशास्तिकाय से भिन्न बताया है। धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकायों को आकाश अवकाश देता है। चौदह राजलोक में जीव तथा पुद्गल आकाश के आधार पर रहे हुए हैं। धर्मास्तिकाय आदि चारों अस्तिकाय लोकाकाश को अवगाहित करते हुए हैं, फिर भी आत्मद्रव्य और आकाशास्तिकाय-दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, क्योंकि दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार सभी द्रव्यों के कार्य (गुण) भिन्न-भिन्न हैं, अतः सभी द्रव्य एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं।

(७२९) आत्मा ज्ञानगुणः सिद्धः समयो वर्तनागुणः।
तद्भिन्नं समयद्रव्यादात्मद्रव्यं जगुर्जिनाः।।५२।।

अनुवाद - आत्मा का ज्ञान-गुण सिद्ध है। समय (काल) का गुण वर्तना है, इसलिए जिनेश्वरों ने आत्मद्रव्य को कालद्रव्य से भिन्न कहा है।

विशेषार्थ - काल, द्रव्य है या नहीं-इस विषय में मतभेद हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कालश्चेत्येक सूत्र द्वारा यह सूचित किया है कि कोई-कोई आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य मानते है। आगम में काल के दो रूप बताए गए हैं- १. निश्चयकाल और २. व्यवहारकाल। निश्चय काल समय के रूप में अनंत है। व्यवहारकाल भी समय, आवलिका, आगपाण, मुहूर्त्त, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि के रूप में सागरपर्यन्त है तथा उससे भी आगे अनंतानंत तक भी कहा गया है। कालद्रव्य का गुण वर्तना कहा गया है। जीव-अजीव आदि द्रव्यों में जो परिवर्तन होता है, उस परिणमन में कालद्रव्य उदासीन कारण है। अतः कालद्रव्य और जीव दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न है। क्योंकि जीव का गुण ज्ञान है और काल का गुण वर्तना है। दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न होने से दोनों द्रव्य भी पृथक्-पृथक् है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना कार्य करते हुए एक दूसरे के साथ रहते हुए भी एक दूसरे से पृथक् है। कोई भी द्रव्य अपना लक्षण छोड़कर दूसरे द्रव्य के लक्षण को धारण नहीं करता है।

(७३०) आत्मनस्तदजीवेभ्यो विभिन्नत्वं व्यवस्थितम्।
व्यक्तिभेदनयादेशादजीवत्वमपीष्यते।।५३।।

अनुवाद - इसलिए आत्मा का अजीव द्रव्य से भिन्नत्व व्यवस्थित है। व्यक्ति का भेद करने वाले नय (व्यवहारनय) के आदेश से (आत्मा का) अजीवत्व भी सिद्ध हो सकता है।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोकों में बताया गया है कि पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये पाँच द्रव्य अजीव है और ज्ञानमय जीव द्रव्य से भिन्न है। यह भिन्नत्व निश्चय नय से है और यह भिन्नत्व ही व्यस्थित है।

परंतु कोई एक नय की अपेक्षा से आत्मा में जैसे जीवत्व है वैसे ही तर्क के द्वारा अजीवत्व भी है, यह भी सिद्ध किया जा सकता है। तर्क द्वारा तो कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक में व्यक्तिभेद नय का दृष्टान्त दिया गया है। भेद अर्थात् पृथक्-पृथक् करना। व्यक्तिभेद नय अर्थात् पदार्थ का व्यक्ति की अपेक्षा से वर्गीकरण करना और फिर उसे परस्पर घटाना। यह एक प्रकार का व्यवहारनय है।

निश्चयनय के अनुसार सभी जीव जीवत्व की दृष्टि से, आत्मा की सत्ता की दृष्टि से एक समान है। प्रत्येक जीव में सिद्धत्त्व बीज रूप में रहा हुआ है। इसलिए सभी जीव सिद्धत्त्व की अपेक्षा से समान है। व्यवहारनय जीवों के भिन्न-भिन्न प्रकार से भेद करता है। जैसे जीव के दो प्रकार है- १. संसारी जीव और २. सिद्ध जीव। वेद की अपेक्षा से जीव के तीन प्रकार है, गति की अपेक्षा से जीव के चार प्रकार है, जाति की अपेक्षा से जीव के पाँच प्रकार है और काया की अपेक्षा से जीव छः प्रकार के है। इस प्रकार व्यवहार नय भेद करता है। सब संसारी जीव और सिद्ध के जीव को एक दूसरे के प्रतियोगी के रूप में रखकर व्यवहारनय तर्क करता है कि, जिसमें प्राण हो वह जीव है और जिसमें प्राण नहीं हो वह अजीव है। द्रव्य प्राण संसारी जीवों में है परंतु सिद्ध के जीवों में नहीं है। इस अपेक्षा से सिद्ध के जीव अजीव कहलाते हैं। दूसरी ओर सिद्धगति के जीवों की अपेक्षा से जिसमें भाव, प्राण, पूर्णतः प्रगट हो वह जीव और जिसमें प्रगट नहीं होने से वह अजीव कहलाता है। इस प्रकार, आत्मा में अजीवत्व सिद्ध किया जा सकता है।

(७३१) अजीवा जन्मिनः शुद्धभावप्राणव्यपेक्षया।
सिद्धश्च निर्मलज्ञाना द्रव्यप्राणव्यपेक्षया।।५४।।

<u>अनुवाद -</u> शुद्धभाव-प्राण की अपेक्षा से संसारी-जीव अजीव हैं और द्रव्य प्राण की अपेक्षा से निर्मलज्ञान वाले सिद्ध अजीव है।

<u>विशेषार्थ -</u> वास्तविक रूप में तो जहाँ-जहाँ चेतना पाई जाती है, वहाँ-वहाँ जीव होता है, परंतु किसी एक अपेक्षा से तर्क द्वारा किसी जीव को अजीव भी सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव में वह तर्क नहीं, कुतर्क ही होता है और कुतर्कों द्वारा तो किसी भी बात को सिद्ध किया जा सकता

है, जैसे - रोहगुप्त ने कुतर्क द्वारा जीव, अजीव और नोजीव, नो-अजीव - इस त्रैराशिकवाद को सिद्ध किया था, उसी प्रकार जीव को अजीव के रूप में सिद्ध कर सकते हैं।

जिसमें प्राण हो, वह जीव और जिसमें प्राण नहीं हो, वह अजीव है। संसारी जीवों में ज्ञान, दर्शन, वीर्य, नित्यस्थिति आदि शुद्धभावप्राण नहीं होते हैं, अर्थात् उनमें पूर्णरूप से प्रकट नहीं हैं, पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं होते हैं, इसलिए शुद्धभावप्राण नहीं होने से वे जीव नहीं, अजीव हैं। दूसरी ओर, सिद्धगति के जीवों में इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य-ये चार द्रव्यप्राण नहीं होते हैं, अतः वे जीव नहीं है, अजीव हैं। इस प्रकार संसारी-जीवों को और सिद्धगति के जीवों को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से अजीव सिद्ध कर सकते हैं, परंतु यह तो केवल बौद्धिक-व्यायाम है, तर्क का खेल है, वास्तव में जीव चाहे संसारी हों या सिद्धगति के, वे जीव ही हैं।

(७३२) इन्द्रियाणि बलं श्वासोच्छ्वासावायुस्तथा परम्।
द्रव्यप्राणाश्चतुर्भेदाः पर्यायाः पुद्गलाश्रिताः।।५५।।

<u>अनुवाद -</u> इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास और आयु के चार प्रकार के द्रव्यप्राण हैं। इनके पर्याय पुद्गल आश्रित है।

<u>विशेषार्थ -</u> द्रव्यप्राण मुख्य रूप से चार प्रकार के बताए गए हैं- १. इन्द्रिय २. बल ३. श्वासोच्छ्वास और ४. आयुष्य। प्राण का अर्थ होता है - जीवन धारण करने की शक्ति। उत्तरभेदसहित प्राण दस प्रकार के भी होते हैं- १. स्पर्शनेन्द्रिय बल २. रसनेन्द्रिय बल ३. घ्राणेन्द्रियबल ४. चक्षुरिन्द्रियबल ५. श्रोत्रेन्द्रियबल ६. मनोबल ७. वचन बल ८. कायबल ९. श्वासोच्छ्वास १०. आयुष्यबल। इन प्राणों के द्वारा ही संसारी जीव का अस्तित्व रहता है। दस प्राणों में से एकेन्द्रिय जीव को चार प्राण होते हैं एक इन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय तथा कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। बेइन्द्रिय में रसनेन्द्रिय और वचनबल सहित छः प्राण होते हैं। तेईन्द्रिय जीवों में घ्राणेन्द्रिय सहित सात प्राण होते है। चउरिन्द्रिय में चक्षु-इन्द्रिय सहित आठ प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय में मनोबल सहित दस प्राण होते है। इन द्रव्यप्राणों के द्वारा संसारी-जीव जीता है। द्रव्यप्राणों के वियोग हो जाने पर मृत्यु हो जाती है, परंतु ये द्रव्यप्राण पुद्गल के

आश्रित हैं। ये पुद्‌गल की ही पर्यायें है। ये उत्पाद और व्ययरूप हैं। जीव इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास आदि के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है और उन्हें इन्द्रिय आदि में परिणमित करता है।

(७३३) भिन्नास्ते ही आत्मनोऽत्यन्तं तदेतैर्नास्ति जीवनम्।
ज्ञानवीर्यसदाश्वासनित्यस्थिति विकारिभिः।।५६।।

अनुवाद - वे (द्रव्यप्राण) आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं इसलिए ज्ञान, वीर्य, सदाश्वास और नित्यस्थिति की विकृति वाले उनके (द्रव्यप्राणों के) द्वारा जीवन नहीं होता है।

विशेषार्थ - इन्द्रियबल, श्वासोच्छ्‌वास और आयुष्य-ये चार द्रव्यप्राण पुद्‌गल के आश्रित होने से आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं। इनसे आत्मा का जीवन नहीं है। यदि व्यवहार नय से हम आकलन करें, तो शरीर और आत्मा एक ही क्षेत्र में अवस्थित होने के कारण उनके मध्य कथंचित् अभेद है। उसी प्रकार द्रव्य प्राण पुद्‌गल के परिणामरूप होते हुए भी आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहने के कारण द्रव्यप्राण और आत्मा के मध्य मथंचित् अभेद है। इस प्रकार व्यवहारनय कहता है। परंतु शुद्ध निश्चय नय के अनुसार द्रव्यप्राण आत्मा से भिन्न है। वस्तुतः ये द्रव्यप्राण आत्मा के भावप्राणों के विकार स्वरूप है। आत्मा के चार भावप्राण है - ज्ञान, वीर्य, सदाश्वास और नित्यस्थिति। इनके विकार इस प्रकार हैं - १. ज्ञानरूपी भावप्राण का विकार इन्द्रिय रूपी द्रव्यप्राण है, क्योंकि ज्ञानगुण को प्रगट करने में इन्द्रियाँ ही उपयोगी है। इन्द्रियों का निर्माण पुद्‌गलों से ही होता है फिर भी इनके निमित्त से ज्ञानगुण अभिव्यक्त होताहै। श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा उपदेश सुना जाता है, रसनेन्द्रिय द्वारा उपदेश दिया जाता है। ज्ञान गुण को बोलकर अभिव्यक्त किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ज्ञान करवाती है। २. वीर्यरूपी भावप्राण का विकार बलरूपी द्रव्यप्राण है। पुद्‌गल-आश्रित शरीर में जो बल प्रकट होता है, वह आत्मा की वीर्य-शक्ति के प्रवर्त्तन में निमित्त बनता है। मनोबल, वचनबल और कायिकबल इन तीनों द्वारा आत्मा के वीर्य को आंशिक रूप से अभिव्यक्त किया जाता है। ३. सदाश्वास अर्थात् नित्य चैतन्य रूप भावश्वासोच्छ्‌वास। इसके विकार रूप द्रव्य श्वासोच्छ्‌वास है। ये श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा के पर्याय

रूप है। ४. नित्यस्थितिरूप भावप्राण के विकार रूप द्रव्यप्राण आयुष्य है। आयुष्य नित्य स्थितिरूप नहीं है परंतु कुल काल के लिए स्थिति रूप है। ये चारों द्रव्यप्राण विकार स्वरूप है परंतु आत्मा स्वयं निर्विकारी है। इसलिए ये द्रव्यप्राण आत्मा के नहीं हो सकते है। ये आत्मा से भिन्न होते हैं इनके रहने या नहीं रहने से आत्मा की स्थिति में आत्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है अतः इनके द्वारा आत्मा का जीवन संभव नहीं हो सकता है।

(७३४) एतत्प्रकृतिभूताभिः शाश्वतीभिस्तु शक्तिभिः।
जीवत्यात्मा सदेत्येषा शुद्धद्रव्यनयस्थितिः।।५७।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा इसकी (ज्ञान, वीर्य आदि की) स्वाभाविक (प्रकृतिभूत) शाश्वती शक्ति से सदा जीवंत है, इस प्रकार शुद्ध द्रव्यनय की स्थिति है।

<u>विशेषार्थ -</u> द्रव्यप्राण और भावप्राण के मध्य विशद अन्तर है। द्रव्यप्राण दिखाई देते हैं, जबकि भावप्राण दिखाई नहीं देते हैं, परंतु संसारी या सिद्ध-अवस्था में जीव भावप्राण द्वारा जीता है। ज्ञान, वीर्य, सदाश्वास और नित्यस्थिति - यह आत्मा की स्वभावगत शाश्वत त्रिकालवर्ती, अविनाशी शक्ति है। इस शक्ति का कभी भी अंत नहीं आ सकता है, अर्थात् ये शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होती हैं - इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहता है। यह नय संसार में जीव की कर्म के उदयवाली अवस्था को, अर्थात् विकारी-अवस्था को नहीं देखता है, उसकी विकाररहित शुद्ध ज्ञानादि शक्तियुक्त अवस्था को देखता है।

(७३५) जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैखे जीवति।
इदं चित्रं चरित्रं के हन्त पर्यनुयुंजताम्।।५८।।

<u>अनुवाद -</u> जीव जिन प्राणों द्वारा नहीं जीता है, फिर भी उन्हीं प्राणों द्वारा जीता है- इस आश्चर्यकारी चरित्र को भला कौन जान सकता है ?

<u>विशेषार्थ -</u> द्रव्यप्राण और भावप्राण के संदर्भ में जीव की अवस्था में कैसी विचित्रता दृष्टिगत होती है, ग्रंथकार इस पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं। यह सामान्य अनुभव की बात है कि इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य-ये चार द्रव्यप्राण नहीं हों, तो संसारी-जीव नहीं जी सकता है।

व्यवहारनय की दृष्टि से इन प्राणों का वियोग हो जाना जीव की मृत्यु है। इन प्राणों का घात करना, इनको विनष्ट करना हिंसा कहलाती है। इन द्रव्यप्राणों के अभाव में उसके (संसारी-जीव के) जीवन का अंत हो जाता है, परंतु सिद्ध-अवस्था में इन द्रव्यप्राणों के बिना जीव जीता है और सदाकाल के लिए जीता है। सिद्धालय में द्रव्यप्राण होते नहीं है और हो भी नहीं सकते, क्योंकि द्रव्य प्राण कर्म का परिणाम है आत्मा की विकारी-अवस्था का परिणाम हैं, जबकि मोक्ष में आत्मा की विकारहित शुद्ध अवस्था होती है, कर्मों से मुक्त अवस्था होती है, अतः उन्हें द्रव्यप्राण नहीं होते हैं, फिर भी वे जीते हैं। इस प्रकार जिन प्राणों के बिना संसारी-जीव जी नहीं सकता है, उन्हीं प्राणों के बिना सिद्धगति के जीव जीते हैं- यह कैसी आश्चर्यजनक घटना है ?

(७३६) नात्मा पुण्यं न वा पापमेते यत्पुद्गलात्मके।
आद्यवालशरीरस्योपादानत्वेन कल्पिते।।५६।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा पुण्यरूप नहीं है, अथवा पापरूप नहीं है, क्योंकि वह (पुण्य-पाप) पुद्गलात्मक है। आद्य बाल-शरीर (गर्भस्थ शिशु) के उपादानत्व से यह कल्पित है।

<u>विशेषार्थ -</u> नौ तत्त्वों में जी तत्त्व को अजीवतत्त्व से पृथक् सिद्ध करने के बाद ग्रंथकार प्रस्तुत श्लोक में जीवतत्त्व की पुण्य तथा पापतत्त्व से भिन्नता को सिद्ध करते है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है और पुण्य शुभकर्म की प्रकृतिरूप हैं और पाप अशुभ कर्म की प्रकृतिरूप। वस्तुतः, पुण्य और पाप-दोनों कर्मस्वरूप हैं, अर्थात् पुद्गलात्मक हैं, जड़ हैं, इसलिए ये आत्मा से भिन्न हैं। आत्मा न पुण्यरूप है, न पापरूप।

यह शरीर शुभ या अशुभकर्म के अनुसार शुभ या अशुभ पुद्गलों से सतत बनता रहता है। जीव एक शरीर में से ही अन्य शरीर वाला होता है। वर्तमान में वैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि सात वर्ष में शरीर का एक भी सेल वही-का-वही नहीं रहता है, सम्पूर्ण शरीर की रचना बदल जाती है। पुद्गलों का स्वभाव चय-अपचय, पूरण-गलन, वृद्धि-हानि

का है। अपना वर्तमान शरीर नए पुद्गलों को ग्रहण करता है और पुराने पुद्गलों को छोड़ देता है, इस प्रकार पूर्व-शरीर से उत्तर-शरीर का निर्माण होता है। इसलिए उत्तर-शरीर के लिए पूर्व-शरीर उपादानकारण है। इस प्रकार, पुद्गल की ही विघटन-उत्पादन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है, परंतु पुद्गल तो जड़ है, इसलिए आत्मा से वह भिन्न है।

वर्तमान शरीर के पुद्गलों की चय-अपचय की क्रिया की बात ठीक है। यहाँ तो मान सकते हैं कि पुद्गल से ही पुद्गल का निर्माण हुआ, आत्मा इससे भिन्न, परंतु माता के उदर में जिस क्षण बालक का अवतरण होता है, उस समय उसे शरीर कहाँ होता है ? पूर्वजन्म की कोई आत्मा ही जीर्ण शरीर का त्याग करके अवतरित होती है, अतः अब जो नया शरीर बनेगा उसका उपादानकारण कौन होगा ? क्या आत्मा होगी ? नहीं इस प्रश्न का समाधान भी पुण्य-पापरूप कार्मणशरीर से ही होगा। जीव जब एक शरीर का त्याग करके किसी नवीन स्थान पर या गर्भ में अवतरित होता है, तब स्थूल-शरीर औदारिक, वैक्रियक आदि साथ में नहीं होते हैं, किंतु कार्मणशरीर और तेजस्शरीर तो हमेशा जीव के साथ ही रहता है, अर्थात् जीव इन दो शरीर के साथ ही अवतरित होता है, अतः कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु तो जीव के साथ ही होते हैं, यह जीव का शरीर है। उस क्षण भी शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) प्रकार के पुद्गल-परमाणु होते हैं। यह कार्मणशरीर पुण्य-पाप के अनुसार नए पुद्गलों को ग्रहण करता है और औदारिक स्थूल शरीर का निर्माण करता है। यहाँ भी पुद्गलों का ही चय-अपचय होता रहता है। अतः, आद्य बालशरीर में भी पुण्य-पाप घटित होता है, इसलिए वहाँ भी आत्मा पुण्य और पाप से भिन्न है।

(७३७) पुण्यकर्म शुभं प्रोक्तमशुभं पापमुच्यते।
तत्कथं तु शुभं जन्तून् यत् पातयति जन्मति।।६०।।

<u>अनुवाद</u> - शुभकर्म को पुण्य और अशुभकर्म को पाप कहा गया है। उनमें जीवों को जो भवभ्रमण में डालता है, उसको (पुण्य को) शुभ किस प्रकार कह सकते हैं ?

<u>विशेषार्थ</u> - आत्मा पुण्य और पापरूप नहीं है। पुण्यरूपी शुभकर्म और पापरूपी अशुभ कर्म पुद्गलस्वरूप हैं, इसलिए आत्मा का पुद्गल के साथ

कोई संबंध नहीं है - इस प्रकार निश्चयनय कहता है, अतः निश्चयनय के अनुसार पुण्य और पाप-दोनों ही हेय, त्यागने योग्य हैं और दोनों अशुभ हैं। इधर, व्यवहारनय पुण्य को शुभ कहता है और पाप को अशुभ, क्योंकि शुभकर्म से पुण्य बंधता है और अशुभकर्म से पाप। तत्त्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय में कहा गया है कि- शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य। व्यवहारनय के अनुसार जिससे आत्मा पवित्र हो, वह पुण्य है। आत्मा पवित्र होती है - राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दोषों में कमी आने से। अतः पुण्य निर्दोषता का द्योतक है। इसके विपरीत, जिससे आत्मा का पतन होता है, वह पाप है। दया, दान, करुणा, सेवा आदि सद्‌प्रवृत्तियों से पुण्य का उपार्जन होता है। मिथ्यात्वी जीव के पुण्य का अनुभाग बढ़कर जब तक चतुःस्थानिक नहीं हो जाता है, तब तक वह सम्यग्दर्शन के सम्मुख नहीं होता है, अतः पुण्य सम्यग्दर्शन में सहायक है, बाधक नहीं। पुण्य के उदय से प्राप्त मनुष्यजन्म, आर्यदेश, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रिय की परिपूर्णता, निरोगी शरीर, सद्‌गुरु का योग, धर्मश्रवण की रुचि, मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा, इसके लिए पुरुषार्थ, सभी प्रकार की अनुकूलताएँ आदि प्रकृतियाँ साधक के लिए साधना में एवं मुक्ति में सहायक हैं। पुण्य का अनुपालन पाप का प्रक्षालन है। पुण्य नौका के समान है, जिस पर चढ़कर साधक सिद्धि को पा लेता है। नौका छूट जाने से नौका हेय नहीं हो जाती है, उसी प्रकार पुण्य छूट जाने से पुण्य को हेय नहीं कहा जा सकता है। तीर्थंकर नामकर्म भी सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का ही परिणाम है, अतः पुण्य को हेय नहीं कहा जा सकता है। उच्च गोत्र यशकीर्ति, देवगति आदि समस्त पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग जब तक उत्कृष्ट न हो, तब तक किसी को भी केवलज्ञान नहीं होता है और केवलज्ञान प्राप्त नहीं होने पर मुक्ति भी नहीं मिल सकती है, अतः पुण्य मोक्ष-प्राप्ति में साधक है, बाधक नहीं। तिर्यंचगति और नरकगति के दुःख, मनुष्यजन्म में भी दुःख, दरिद्रता, दौर्भाग्य, नीच कुल, विविध प्रकार की शारीरिक और मानिसक-यातनाएँ इत्यादि पाप के उदय से प्राप्त होती हैं, अतः पुण्य और पाप के मध्य विशद अन्तर है। सैद्धान्तिक-दृष्टि से अगर विचार किया जाए तो जो कर्म संसार में परिभ्रमण करवाते हैं, उनको शुभ किस प्रकार कह सकते हैं ? चूंकि शुभ तथा अशुभ-दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होने पर

ही मोक्ष प्राप्त होता है, अतः निश्चयनय के अनुसार पुण्य और पाप-दोनों संसार में भ्रमण कराने वाले हैं, इसलिए दोनों को अशुभ मानना चाहिए।

(७३८) न ह्यायसस्य बंधस्य तपनीयमयस्य च।
पारतंत्र्याविशेषेण फलभेदोऽस्ति कश्चन।।६१।।

<u>अनुवाद -</u> लोहे की बेड़ी और स्वर्ण की बेड़ी - दोनों में परतंत्रता की समानता होने से उसमें फल का कोई भेद नहीं है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> पुण्य और पाप - दोनों की यहाँ शुद्ध निश्चयनय से चर्चा की गई है। प्रस्तुत श्लोक में पुण्य को स्वर्ण की बेड़ी के समान तथा पाप को लोहे की बेड़ी के समान बताया गया है। बन्धन आखिर बन्धन है, परतंत्रता किसी को भी पसंद नहीं होती है। व्यक्ति को चाहे सोने की बेड़ी में बाँधकर रखा जाए, तो भी उसे आनंद नहीं होगा, वह उस बेड़ी को तोड़ने का ही प्रयास करेगा। बेड़ी का स्वभाव ही बन्धन में डालने का है। पुण्य द्वारा देवगति, मनुष्यगति, यशकीर्ति, सातावेदनीय, त्रसदशक, उच्चगोत्र, शुभवर्ण, शारीरिक एवं मानसिक-सभी प्रकार की अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं। पाप से अनेक प्रकार की विपदाएँ, नरकादि गति, गंभीर बीमारी, अपकीर्ति, दरिद्रता, शारीरिक-मानसिक प्रतिकूलताएँ प्राप्त होती है। पुण्य का उदय भी जीव को संसार में रोककर रखता है और पाप का उदय भी व्यक्ति को संसार में रोककर रखता है। जब तक घाती और अघाती - दोनों कर्मों से मुक्ति नहीं होती है तब तक मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता है। पुण्य और पाप-दोनों ही पौद्गलिक है और कर्मबन्धन है। यह बंधन साधारण हो, या सुशोभित हो बेड़ी अर्थात् बेड़ी। इसमें अंत में मुक्त तो होना ही है, अतः पुण्य और पाप - दोनों के उदय में जीव की परतंत्रता है, स्वतंत्रता नहीं। इस प्रकार दोनों का फल समान है। दोनों संसार में रोककर रखने वाले हैं, मुक्ति में बाधक हैं- यह निश्चयनय का अभिमत है।

निश्चयनय और व्यवहारनय में बहुत अन्तर है। जीव को दुःख-दुर्गति प्रदान करवाने वाला पाप तो सर्वथा हेय, अनाचरणीय, एकान्तरूप से त्याज्य है- इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय-दोनों कहते हैं, परंतु व्यवहारनय के अनुसार पुण्य को एकान्तरूप से हेय, सर्वथा अनाचरणीय नहीं कहा जा सकता है। पुण्य मोक्ष का साक्षात्.कारण नहीं है-

यह सत्य है, परंतु पुण्यानुबंधी पुण्य निर्जरा के अनुकूल बाह्य-सामग्री प्राप्त करवाने में सहायक बन सकता है तथा परंपरा से, मोक्ष-प्राप्ति तक सहायक हो सकता है। पुण्य की कोई भी प्रकृति जीव के किसी गुण की उपलब्धि में एवं वीतरागता में बाधक नहीं है। मनुष्यभव के बिना मोक्ष नहीं है, और मनुष्यभव की प्राप्ति, बिना पुण्य के संभव नहीं है। दया, दान, अनुकंपा, वात्सल्य, मैत्री आदि भाव पुण्योपार्जन के हेतु हैं। यह नियम है कि जहाँ पुण्य का अभाव है, वहाँ निश्चित रूप से पाप है, क्योंकि शुद्ध भाव व धर्म के साथ पुण्य का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, जितना काया के साथ छाया का। पुण्य आत्मा के गुणों के विकास में सहायक है। पुण्य और पाप-दोनों विरोधी हैं, अतः जितना पाप घटता है, उतना ही पुण्य बढ़ता है। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि पाप के क्षय की सूचक है। कषाय की मन्दता से हुई पुण्य की अभिवृद्धि आत्मविशुद्धि का हेतु होने से मोक्ष की उपलब्धि में साधक है, अतः पुण्य स्वर्ण की बेड़ी न होकर सोने का आभूषण है। बेड़ी बन्धन में डालती है, आभूषण नहीं। बेड़ी बाध्यतावश धारण करना पड़ती है, जबकि आभूषण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। पुण्य त्याज्य नहीं है, पुण्य के साथ रही हुई फलाकांक्षा तथा कर्तृत्त्व-भोक्तृत्त्वरूप कषायभाव त्याज्य है, जैस- गेहूँ के साथ रहे हुए कंकर, मिट्टी एवं भूसा त्याज्य हैं, गेहूँ त्याज्य नहीं हैं। भोग चाहे पुण्य-प्रकृति का हो अथवा पाप प्रकृति का त्याज्य ही है, क्योकि भोग मोह के उदय का सूचक तथा कर्मबंध का हेतु है। किन्तु पुण्य त्याज्य नहीं है। पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाव होने पर ही वीतरागता आती है, केवलज्ञान होता है एवं मुक्ति मिलती है। पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाति होने से उनसे आत्मा का अहित नहीं होता है, अतः पुण्य त्याज्य नहीं है। उत्कृष्ट भूमिका प्राप्त होने पर पुण्य स्वतः ही छूट जाता है, लेकिन इतना अवश्य है कि पुण्य हमेशा निष्कामभाव से करना चाहिए।

(७३९) फलाभ्यां सुखदुःखाभ्यां न भेदः पुण्यपापयोः।
दुःखान्न भिद्यते हन्त यतः पुण्यफलं सुखम्।।६२।।

<u>अनुवाद -</u> सुख-दुःखरूप फल से पुण्य और पाप का भेद नहीं है, क्योंकि वस्तुतः पुण्य का फल जो सुख है, वह दुःख से भिन्न नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय के अनुसार पुण्य शुभकर्म है और पाप अशुभकर्म। पुण्य का फल सुख, अनुकूलताएँ हैं, जबकि पाप का फल दुःख, प्रतिकूलताएँ हैं। सामान्य व्यक्ति का यह अनुभव है कि पुण्य से सुख-संपत्ति तथा उच्चगति की प्राप्ति होती है और पाप से दुर्गति और दुःख की प्राप्ति होती है। निश्चयनय के अनुसार सुख एवं दुःख रूपी क्रमशः पुण्य और पाप कर्म दोनों ही पौद्गलिक है। दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू के समान है। मनुष्य जिसे सुख रूप में पहचानता है वास्तव में उसमें भी दुःख ही रहा हुआ है। इसलिए सुख और दुःख के मध्य भेद करने की आवश्यकता नहीं है। दोनों आत्मा के स्वरूप नहीं है। पुण्य और पाप दोनों का तात्त्विक अनुभव तो दुःख रूप ही है। आदमी एक पहलू को चाहता है एक को नहीं, यश को चाहेगा अपयश को नहीं, सुख को चाहे दुःख नहीं, लेकिन जो यश चाहेगा उसे अपयश भी मिलेगा ही, जो लाभ चाहेगा, वह हानि में पड़ेगा ही, जिसे जीवन के प्रति मोह होगा, उसे मृत्यु भयभीत करेगी ही। अगर दुःख में गिरने से बचना है, तो सुख के आकर्षण को छोड़ देना होगा। जो सुख के आकर्षण को छोड़ देता है, फिर उसे कोई दुःखी नहीं कर सकता है। जैसे कोई रेत से तेल निकालना चाहे और नहीं निकले, तो इसमें रेत का कसूर नहीं है, रेत में तेल है ही नहीं। पुण्य और पाप दोनों ही पौद्गलिक-पर्याय हैं, परपर्यायें हैं, अतः पुण्य भी सुखरूप नहीं है, तात्त्विक-रूप से दुःख ही है।

(७४०) सर्वं पुण्यफलं दुःखं कर्मोदयकृतत्वतः।
तत्र दुःखप्रतीकारे विमूढानां सुखत्वधीः।।६३।।

<u>अनुवाद -</u> सभी पुण्यफल कर्मोदय के कारण प्राप्त होने से दुःखमय हैं। दुःख के प्रतिकाररूप उसमें (पुण्यफल में) मूढ़ व्यक्तियों को सुख की बुद्धि होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> सुख और दुःख का स्वरूप यहाँ तात्त्विक-दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। सामान्य व्यक्ति को सुख का अनुभव होता है, वह पुण्य के फलरूप है, परंतु पुण्योदय है क्या ? यह भी कर्म का उदय है और कर्म क्या है ? आत्मा की विकृति है। आत्मा का स्वभाव तो आनंदस्वरूप है। आत्मा स्व-स्वभाव से सुख का अनुभव करती है। कर्म आत्मा की

विभावदशा है, इसलिए यह सुख का अनुभव किस प्रकार करा सकता है ? अतः, आत्मा में कर्म के उदय से जो विकृति पैदा होती है, वह सुख का कारण नहीं बन सकती है। पुनः, प्रश्न उठता है कि पुण्य के उदय से सुख का जो अनुभव होता है, वह क्या है ? वह वास्तविक सुख नहीं है। वस्तुतः, वह दुःख का प्रतिकाररूप है। प्रतिकार, अर्थात् उपाय अथवा दुःख है, क्योंकि उस समय मानसिकशांति या स्थिरता नहीं होती है। वास्तविक सुख खुजली के न होने में है, खुजलाने में नहीं। इसी प्रकार मन में इन्द्रिय भोगों की इच्छा उत्पन्न हो जाने पर उसे भोगने से उत्पन्न सुख, सुख नहीं सुखाभास है। मनुष्य खाता है और उसे आनंद होता है, उसका कारण भूख से पीड़ा उत्पन्न हुई, भोजन मिलने पर वह शान्त हो गई और आनंद हुआ। इसी प्रकार, मनुष्य जल पीता है, तृषा को शांत करने के लिए। पहले बुखार उत्पन्न करो, फिर उसे दूर करने का उपाय करो और दूर हो जाए, तो सुख प्राप्त करो। इच्छाओं की पूर्ति में मनुष्य सुख मानता है, अनुकूलता में उसे सुख का अनुभव होता है क्योंकि अनुकूलता, प्रतिकूलता को दूर करती है। मनुष्य को संपत्ति से सुख का अनुभव होता है, क्योंकि संपत्ति के प्राप्त होते ही लक्ष्मी के अभाव का दुःख चला जाता है, इसलिए पुण्य के उदय से मिलता हुआ जो सुख है, वह सुख नहीं है, दुःख को समाप्त करने का उपाय है। यदि आत्मा से भिन्न पदार्थों में ही सुख देने की शक्ति होती, तो वे सब प्राणियों को सब क्षेत्र व सब काल में समान रूप से सुख पहुँचाते, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है, अतः अनात्म-पदार्थों से सुख-प्राप्ति की मान्यता मिथ्या है, कल्पनाजन्य है, वास्तविक नहीं है। तात्पर्य यह है कि इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं, आकांक्षाओं की पूर्ति से होने वाला सुख, सुख नहीं, सुखाभास है, वास्तव में तो सुख के मूल में दुःख ही रहा हुआ है। पुण्य के उदय से दुःख का सामना करने के लिए अनुकूल सामग्री मिल जाती है। सुख के मूल में दुःख छुपा हुआ है, परंतु मूढ़ अज्ञानी व्यक्तियों को यह समझ में नहीं आता है।

(७४१) परिणामाच्च तापाच्च संस्काराच्च बुधैर्मतम्।
गुणवृत्तिविरोधात्व दुःखं, पुण्यभवं सुखम्।।६४।।

<u>अनुवाद -</u> पुण्य से उत्पन्न हुए सुख को ज्ञानियों ने परिणाम के कारण, ताप के कारण, संस्कार के कारण तथा गुणवृत्ति के विरोध के कारण दुःखरूप माना है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि पुण्य से उत्पन्न हुए सुख को ज्ञानियों ने हेय और दुःखरूप किन-किन कारणों से माना है। तात्त्विक-दृष्टि से देखा जाए पुण्य के उदय से प्राप्त पौद्गलिक-सुख दुःखरूप ही हैं। अज्ञान, मोह आदि के कारण जीव को उसमें सुख होने का भ्रम उत्पन्न होता है। सामान्य बुद्धि से यह समझना कठिन है कि सुख भयानक कैसे हो सकता है, वह दुःखरूप कैसे हो सकता है ? परंतु ज्ञानियों ने इसकी परीक्षा करने के चार प्रकार बताए हैं- १. परिणाम २. ताप ३. संस्कार ४. गुणवृत्ति। किसी भी कार्य का परिणाम अन्त में क्या आता है? यह देखकर ही हम उसकी हेयता या उपादेयता का निर्णय कर सकते हैं। पुण्य से प्राप्त जिस धन संपत्ति रूप साधन से एवं विषयभोग से हम सुखी होना चाहते है उससे सुख मिलता नहीं है। मानव जाति के सम्पूर्ण इतिहास में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसे विषयभोग से दुःखरहित सुख मिला हो। पुण्य के उदय में व्यक्ति भोग में मस्त हो जाता है, अनेक प्रकार के पापाचरण करता है और अंत में दुर्गति को प्राप्त होता है। विषयभोग के सुख का अंत नीरसता में होता है। भोग्य सामग्री व भोक्ता दोनों के बने रहने पर भी यह प्रतिक्षण क्षीण होता है और क्षीण होते-होते अंत में समाप्त हो जाता है। इससे तृप्ति कभी भी नहीं होती है। यह व्यक्ति को पराधीन बनाता है तथा प्रमाद उत्पन्न करता है। पुण्य के उदय से प्राप्त सामग्री में व्यक्ति आसक्त होकर विलासी हो जाता है। यह वक्रता, कठोरता, क्रूरता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि को बढ़ाता है। इससे भोगी को बार-बार मरना पड़ता है, यह विकारयुक्त होता है तथा निजसुख से विमुख करता है। इसकी स्मृति से कामना उत्पन्न होती है और अभाव रूप दुःख का अनुभव होता है। यह रति-अरतिमय होने से अविरति उत्पन्न करता है। नवीन भोग की प्रवृत्ति को जन्म देता है तथा सुख-दुःख का भय

पैदा करता है। इसकी प्राप्ति में पर की सहायता अपेक्षित है। यह तन, मन और आत्मा में विकार उत्पन्न करके आरोग्य का क्षय करता है, अस्वस्थ्य बनाता है। इससे व्यक्ति दूषित हो जाता है तथा आत्मा पर बुरे संस्कार पड़ते है। अतः संसार में सामान्य व्यक्तियों को जिन पौद्‌गलिक सुख को प्रदान करने वाले पदार्थों में, विषयों में आनंद दिखाई देता है वहीं ज्ञानियों को इसमें मात्र सुखाभास दिखाई देता है, क्योंकि पुण्य से प्राप्त सुख दुःख को ही उत्पन्न करने वाला है। अतः पुण्य से प्राप्त सुख में आसक्त नहीं होना चाहिए।

(७४२) देहपुष्टेर्नरामर्त्यनायकानामपि स्फुटम्।
महाजपोषणस्येव परिणामोऽतिदारुणः।।६५।।

<u>अनुवाद</u> - मनुष्य और देवों के नायकों को भी देह की पुष्टि का परिणाम बड़े बकरे के पोषण की तरह स्पष्ट रूप से अत्यंत भयंकर है।

<u>विशेषार्थ</u> - पुण्य प्रकृतियों का भोग भी कर्मबंध का हेतु ही है, क्योंकि भोग मोह के उदय का सूचक है। जिसके पुण्य का उदय प्रबल है, जिसके पास अपार सम्पत्ति है, सत्ता है, ऐश्वर्य है और जो सुख भोग में दिन-रात मग्न रहता है, जिन्हें पानी मांगने पर दूध मिले, ऐसे भाग्यशाली हैं, जो पाँचों इन्द्रियों के सुख में आकण्ठ डूबे हुए हैं, जो "आ लोक मीठा तो परलोक कोने दीठा"- इस बुद्धि के शिकार बने हुए हैं, जो भोगों की नश्वरता को नहीं समझते है, उनके प्रति तीव्र आसक्ति रखते हैं, वे सब जीव कसाई के घर में हरे-हरे चने खाकर अलमस्त बने हुए उस बकरे के समान हैं, जिसको किसी उत्सव के लिए मांसाहार प्राप्त करने के लिए, तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। उत्तराध्ययन में भी यह दृष्टान्त दिया गया है। अधिक आहार की प्राप्ति के लिए बकरे को पौष्टिक वस्तुएँ खिलाई जाती हैं, जिससे बकरा खुश हो जाता है, बकरे का पुष्ट होना ही उसके त्रास का कारण हो जाता है, उसी प्रकार हरे चने जैसे दिव्य सुख मिलें, किन्तु पुण्य से प्राप्त वे सुख ही भोगी मनुष्य के त्रास का कारण बन जाते है। कसाई से भी अधिक भयंकर कर्मसत्ता छोड़ने वाली नहीं है। जितना मजा किया, उससे भी कई गुना अधिक ब्याज सहित सजा मिलती है। बकरा तो मौत प्राप्त करके उस वेदना से मुक्त हो जाता है, परंतु

कर्मसत्ता तो लम्बे समय तक दुःखित, पीड़ित करती रहती है, दुर्गति में धकेल देती है, अतः पुण्य से प्राप्त ऐसे सुख में कभी भी मदहोश नहीं बनना चाहिए। यह सुख शाश्वत नहीं है और अंत में दुःख प्रदान करने वाला है, अतः "उस सुख के पीछे क्या भागना, जिसके पीछे हो गम की कतारें।"

(७४३) जलूकाः सुखमानिन्यः पिबन्त्यो रूधिरं यथा।
भुंजाना विषयान् यान्ति दशामन्तेऽतिदारूणाम्।।६६।।

<u>अनुवाद -</u> रुधिर का पान करने में सुख मानने वाली जलाक की तरह विषयों को भोगने वाले अंत में अत्यंत भयंकर दशा को प्राप्त करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> पापानुबंधी पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त भोगोपभोग सामग्री में, अनुकूलता में मग्न रहने वाले पुद्गलानंदी जीवों के लिए प्रस्तुत श्लोक में एक छोटे से प्राणी जलोक का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे किसी व्यक्ति का रक्त विकृत हो गया हो, तो प्राचीनकाल में उस रक्त को बाहर निकालने के लिए जलोक का प्रयोग किया जाता था। जलोक एक छोटा-सा जन्तु है। जलोक चमड़ी पर इतनी सख्ती से चिपक जाती है कि फिर वह आसानी से निकलता नहीं है। शरीर के साथ वह एकरूप हो जाती है। धीरे-धीरे वह शरीर का खून पीकर मोटी होती जाती है। मोटी हो जाने पर उसको शरीर पर से उखाड़कर दबा दिया जाता है, जिससे उसके द्वारा पीया गया रक्त बाहर निकल जाता है। पुनः, जलोंक को शरीर पर चिपका दिया जाता है और फिर निकालकर निचोड़ दिया जाता है। यह प्रक्रिया बार-बार की जाती है। जलोंक जब खून पीती है, तब वह उसमें मस्त हो जाती है, आनंदित होती है, किन्तु जब उसे निकालकर निचोड़ा जाता है, तो उसे अपार, असह्य, वेदना होती है, कभी-कभी तो वह मर भी जाती है, उसी प्रकार पौद्गलिक-सुखों के भोग में मस्त बने मानव भी जलोंक की तरह भोगों से चिपक जाते हैं एवं जीवन के अन्तिम समय तक उनका त्याग नहीं करते हैं तथा आनंदित होते हैं, किन्तु उन्हें पता नहीं है कि पुण्योदय समाप्त होते ही उनकी कैसी करुण अवस्था होने वाली है ? विषय-भोग भोगते समय वे आनंदित होते हैं, किन्तु उन्हें आदि और अन्त में कष्ट ही होता है। अधिक विषयभोगों का सेवन करने पर व्यक्ति कई रोगों का शिकार हो जाता है।

वह क्षणिक आनंद में मस्त होकर उसके होने वाले परिणाम को नजर अंदाज कर देता है, उपेक्षा कर देता है।

(७४४) तीव्राग्निसंगसंशुष्यत्पयसामयसामिव।
यत्रौत्सुक्यात्सदाक्षाणां तप्तता तत्र किं सुखम्।।६७।।

<u>अनुवाद -</u> तीव्र अग्नि के संयोग से जिसका जल सूख गया है- ऐसे लोहे की तरह उसमें (विषय-सुख में) सदा उत्सुकता के कारण इन्द्रियों की अतृप्तता (संतप्तता) रहती है, उसमें सुख कहां से हो ?

<u>विशेषार्थ -</u> शास्त्रों में बताया गया है, चार गड्ढे कभी नहीं भरते हैं, हमेशा अतृप्त रहते हैं - १. समुद्र २. श्मशान ३. पेट ४. तृष्णा। असंख्य नदियाँ भी निरन्तर समुद्र के उदर में समाती रहें, फिर भी समुद्र कभी तृप्त नहीं होता है। असंख्य लोगों को श्मशान की भेंट चढ़ाया, श्मशान में जलाया, लेकिन आज तक श्मशान भी कभी तृप्त नहीं हुआ। पेट भी सुबह भोजन से तृप्त किया, शाम को खाली। अनादिकाल से कितना अनाज पेट में डाला गया, किन्तु पेट कभी तृप्त नहीं होता है। चौथा तृष्णा का गडढ़ा तो सबसे विशाल है। संसार के सारे पदार्थ भी तृष्णा को पूर्ण नहीं कर सकते हैं, इन्द्रियों को कभी तृप्त नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अतृप्त रहना उनका मूल स्वभाव है। भोगों के उपभोग में व्यक्ति सुखानुभूति समझता है और सुखानुभूति के संस्कार नवीन भोगेच्छा को जन्म देते हैं। जैसे-जैसे अनुकूल वातावरण मिलता जाता है, वैसे-वैसे इन्द्रियाँ अनुकूल विषयों की अधिकाधिक स्पृहा करती रहती है। क्षणिक तृप्ति की टेकरी में अतृप्ति का लावा-रस भरा हुआ है। इसके लिए प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे अग्नि में तप्त लोहे पर पानी के छींटे डाले जाएं, तो तुरंत सूख जाते हैं और लोहा फिर वैसा-का-वैसा ही तप्त रहता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों को भोगने के लिए सतत् उत्सुकता से तपी हुई रहती हैं, इसलिए पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त सुखों के अन्दर अतृप्ति रूप, ताप रूप दुःख रहा हुआ है। जिस प्रकार घृत, मिट्टी का तेल या पेट्रोल डालकर अग्नि को बुझाने का प्रयास अनुचित है, क्योंकि इससे अग्नि शांत न होकर और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार भोगों की आग बुझाने के लिए भोग्य-सामग्री का संग्रह करके सुखी होने का प्रयास करना

मिथ्या है, क्योंकि इससे इन्द्रियाँ शांत न होकर अधिक प्रज्वलित होती हैं एवं अतिभोग से प्राणी को जड़ता, प्रमाद, ग्लानि, निर्बलता आदि का शिकार होना पड़ता है। इस प्रकार, विषयों के भोग में सुख कभी भी संभव नहीं है।

(७४५) प्राक्पश्चाच्चारतिस्पर्शात् पुटपाकमुपेयुषि।
इन्द्रियाणां गणे तापव्याप एव न निर्वृत्तिः।।६८।।

<u>अनुवाद -</u> प्रारंभ में और अंत में भी अरति के स्पर्श से पुटपाक (औषधि) के प्राप्त करने के समान इन्द्रियों के समूह को संताप ही प्राप्त होता है, सुख प्राप्त नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पुण्य से प्राप्त सुखों के साथ दुःख तो जुड़ा हुआ है ही। व्यक्ति संपत्ति, शक्ति, सत्ता, महत्ता, रूप, सौन्दर्य आदि आत्मेतर, अर्थात् आत्मा से भिन्न पदार्थों की प्राप्ति में सुख मानकर उनकी प्राप्ति के लिए अनंतकाल से अनवरत प्रयत्नशील है। व्यक्ति सोचता है कि अमुक-अमुक पदार्थों के मिल जाने या अमुक-अमुक परिस्थिति की प्राप्ति के पश्चात् मैं सुखी हो जाऊंगा। पुण्य व पुरुषार्थ के फलस्वरूप अभीष्ट वस्तुएँ व परिस्थितियाँ तो प्राप्त हो जाती हैं, परंतु उसे तृप्तिरूप सुख नहीं मिल पाता। व्यक्ति दिन-रात सुखोपभोग सामग्री को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करता है। सर्वप्रथम उसे विषय-उपभोग सामग्री को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होती है और वह उन सामग्रियों को प्राप्त करने के लिए बेचैन हो जाता है, दुःखी हो जाता है। उनको पाने के लिए अथक पुरुषार्थ करता है। पुण्य से सामग्री प्राप्त हो भी गई, लेकिन उसे भोगने के पश्चात् भी सुख प्राप्त नहीं होता है, प्रत्युत् असंतोष, ग्लानि, आतुरता, अरति, उद्वेग, थकान का अनुभव होता है। फिर किसी नई भोगेच्छा का जन्म होता है और उसे प्राप्त करने के लिए वह पुनः परिश्रम करने लगता है। इस प्रकार प्राणी बार-बार नवीन कामनापूर्ति का लक्ष्य बनाकर आगे-आगे दौड़ता है और दौड़ते-दौड़ते थककर चूर हो जाता है तथा अंतिम समय तक सुख से वंचित होकर काल के गाल में समा जाता है। इस प्रकार अल्पसुख के लिए जीव उसके आदि व अन्त में अनेक दारुण कष्टों को उठाता है। उसका सुख पुटपाक (औषधि) के समान कष्टों से परिपूर्ण है। कितनी ही वनस्पतियाँ ऐसी होती हैं, जिनको पानी में उबाला जाए या जलाकर भस्म कर दिया जाए, तो वे

अधिक लाभकारी नहीं होती हैं, परंतु उस औषधि के मिश्रण को मिट्टी के बर्तन में लेकर बाहर से चारों ओर से उसे पहले और बाद में तपाया जाए, तो वह औषधि लाभ करती है। इस प्रकार औषधि को प्राप्त करने की विधि पुटपाक कहलाती है। इस औषधि को प्राप्त करने के लिए जिस तरह प्रारंभ में तथा पश्चात् भी कष्ट उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भौतिक विषयों का सुख भी कष्टों से परिपूर्ण रहता है।

(७४६) सदा यत्र स्थितो द्वेषोल्लेखः स्वप्रतिपंथिषु।
सुखानुभवकालोऽपि तत्र तापहतं मनः।।६६।।

<u>अनुवाद -</u> सुख के अनुभव के समय भी जहाँ निरंतर अपने शत्रुओं के प्रति द्वेष का चिंतन रहा हुआ है, वहाँ मन क्लेश से हताश ही रहता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव जब मन-वचन-काया से सुखोपभोग में मग्न रहता है, तब भी उसका चित्त विविध प्रकार की चिंताओं से, क्लेशों से उद्विग्न रहता है। उसे निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं होती है। सुख प्राप्त करने के साधनों की अनुकूलता, प्रतिकूलता तथा संबंधित व्यक्तियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के कारण चित्त में राग-द्वेष, स्वार्थ-लोभ आदि की परंपरा चलती है। कोई उसके सुख में अल्प भी बाधक बनता है, तो उसके प्रति द्वेष चलता रहता है। अनुकूलताओं का, सुखों का वियोग न हो जाए, इसकी उसे चिंता रहती है। सुख के विरोधी साधनों और व्यक्तियों के प्रति द्वेषबुद्धि उसके सुखोपभोग में संक्लेश उत्पन्न करती है। हृदय में व्यक्तियों के प्रति कड़वाहट रखकर कभी-भी प्रसन्नतापूर्वक नहीं जीया जा सकता है। वास्तविक सुख भोगेच्छा के अभाव में है, भोग भोगने में नहीं। शराबी मदिरा पीकर उत्तेजित व मूर्च्छित होने, तज्जन्य बकवास करने, गंदे नाले में गिरने आदि सुखों को भोगने में सुख मानता है, परंतु दुःख को सुख मानना सुख नहीं, सुखाभास है। इसी प्रकार, मोह की मदिरा पीकर धन-परिवार, विषय-भोग में मुग्ध या मूर्च्छित होने एवं तज्जन्य कष्टों को भोगने में सुख मानना सुखाभास ही है, अतः राग-द्वेष, ताप-संताप-क्लेश से युक्त विषय-भोग के सुखों के त्याग में ही वास्तविक सच्चिदानन्द की सुखानुभूति संभव है।

(७४७) स्कंधात्स्कंधान्तरारोपे भारस्येव न तत्त्वतः।
अक्षाह्लादेऽपि दुःखस्य संस्कारो विनिवर्तते।।७०।।

<u>अनुवाद -</u> वस्तुतः, एक स्कंध से दूसरे स्कंध पर भार रखने से वह दूर नहीं होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के आनंद में भी वस्तुतः दुःख का संस्कार निवृत्त नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रायः सांसारिक-प्राणी दुःख का भोग ही करते रहते हैं। ऐसे लोग आए हुए दुःख को किसी सुख से दबाना, हटाना चाहते हैं। इससे दुःख कम तो हो जाता है, परंतु नष्ट नहीं होता है, दुःख का संस्कार एवं प्रभाव बना रहता है। व्यक्ति की किसी आकांक्षा या इच्छा की पूर्ति होने पर वह स्वयं को कुछ देर के लिए सुखी महसूस करता है, परंतु तत्काल ही दुःखी भी महसूस करता है, क्योंकि एक इच्छा के पूर्ण होते ही अनगिनत नई इच्छाओं का जन्म हो जाता है। जितना एक इच्छा की पूर्ति से सुखी हुए, उससे अधिक दुःखी हो गए, क्योंकि इच्छा तो एक ही पूर्ण हुई, लेकिन जन्म ले लिया अनगिनत नई इच्छाओं ने, अतः दुःख घटने के बजाय बढ़ता ही जाता है। जैसे कोई व्यक्ति एक स्कन्ध पर भार उठाए हुए है, फिर जब वह स्कन्ध दर्द करने लगता है तब वह भार वहाँ से उठाकर दूसरे स्कन्ध पर रख लेता है। उस समय, पहले स्कन्ध से भार उठाने पर कुछ राहत का अनुभव होता है, कुछ सुख का अनुभव होता है, परंतु कुछ ही समय में पुनः दूसरा स्कन्ध दर्द करने लगता है, इस प्रकार वह दुःखरहित सुख की अनुभूति नहीं कर सकता। भार जो कष्टमय है, वह दूर नहीं हुआ, उसी प्रकार सांसारिक-सुख की प्राप्ति के लिए पूर्व में रहे हुए दुःख के संस्कार निवृत्त नहीं होते है। इन्द्रियों के भोगकाल में भी इच्छाओं की अतृप्ति, उत्सुकता, निराशा, दीनता, हीनता, अनास्था, तनाव, द्वन्द्व और कुण्ठा के भाव चेतना को चारों ओर से घेरे रहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति कांटों से बचने के लिए बबूल के काँटे तोड़ता रहे, पर बबूल की जड़ को समाप्त नहीं करे, तो वह व्यक्ति बबूल के पहले के कांटे को दूर करता जाएगा और बबूल के नए कांटे आते रहेंगे और कांटो से छुटकारा कभी न होगा। इसी प्रकार, व्यक्ति इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए पुरुषार्थ करता जाता है,

नई-नई इच्छाएँ उसे दुःखी करती रहती हैं, इस प्रकार उसका दुःख का काँटा नष्ट नहीं होता है।

(७४८) सुखं दुखं च मोहश्च तिस्रोऽपि गुणवृत्तयः।
विरुद्धा अपि वर्तन्ते दुःखजात्यनतिक्रमात्।।७१।।

अनुवाद - सुख, दुःख और मोह - इन तीनों की गुणवृत्ति परस्पर विरूद्ध हैं, फिर भी दुःख की जाती का उल्लंघन नहीं करने से दुःखरूप ही हैं।

विशेषार्थ - बुद्धि की तीन अवस्थाएँ, तीन गुण हैं सत्त्व, रजस् और तमस्। सत्त्वगुण सुख का अनुभव कराता है, रजो गुण दुःख का अनुभव कराता है और तमोगुण मोह का अनुभव कराता है। इसलिए सत्त्व, रजस् और तमस्-इन तीनों की क्रमशः सुख, दुःख और मोह-ये तीन वृत्तियाँ हैं। बुद्धि में केवल एक ही गुण हो, अन्य दो गुण नहीं हों या दो गुण हों, एक नहीं हो - ऐसा कभी नहीं होता है। बुद्धि में तीनों गुणों का और उनकी वृत्तियों का संयुक्त प्रवाह निरंतर चला करता है। इसमें कोई एक गुणवृत्ति प्रधान होती है और अन्य दो गौण होती हैं। इस प्रकार तीनों गुणवृत्ति जब तक विषम अवस्था में होती हैं, तब तक एक ही स्थान पर रह सकती हैं, परंतु ये तीनों जब सम अवस्था में आ जाती हैं, तब एक-दूसरे की विरोधी बन जाती हैं। तात्पर्य यह है कि ये तीनों गुणवृत्तियाँ सम अवस्था में परस्पर विरोधी होने पर भी विषम अवस्था में साथ में रहती हैं। जब विषम अवस्था में तीनों होती है कोई भी एक गुणवृत्ति अत्यंत प्रबल या बलवान् बन जाती है और दूसरी दो कमजोर गुणवृत्ति की विद्यमानता नहीं हो - ऐसा नहीं होता है, मात्र उनकी शक्ति कम हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतिकूलता में दुःखानुभूति के समय तो दुःख है ही, किन्तु अनुकूलता में या सत्त्वगुणवृत्ति की प्रबलता के कारण जब सुखानुभूति हो, तब भी अल्प रूप में दुःखानुभव और मोहानुभव तो वहाँ रहा हुआ है ही। इस प्रकार, जीव को निराकुल एकान्त सुख का अनुभव कभी नहीं होता है। प्रत्येक सुखानुभूति के समय दुःख तो समाया हुआ ही है। दुःख की जाति का अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं होता है। सुख-दुःख संयुक्त ही हैं, अतः पुण्य के उदय से सांसारिक-सुख का अनुभव होता है, उसमें भी दुःखानुभव

समाया हुआ है ही, वही यहाँ दर्शाया गया है। निराकुल एकान्त सुखानुभूति तो स्व से ही प्राप्त होती है, स्व के अन्दर ही प्राप्त होती है।

(७४६) क्रुद्धनागफणाभोगोपमो भोगोद्भवोऽखिलः।
विलासश्चित्ररूपोऽपि भयहेतुर्विवेकिनाम्।।७२।।

<u>अनुवाद -</u> भोग से उत्पन्न हुआ समस्त सुखानुभव क्रोधयुक्त सर्प के फैले हुए फण के समान है। वह सुंदर होने पर भी विवेकी पुरुष के भय का कारण है।

<u>विशेषार्थ -</u> पुण्योदय से प्राप्त सुख, भोगोपभोग तात्त्विक-रूप से परिणाम में दुःखरूप ही है। प्रस्तुत श्लोक में भोगोपभोग को क्रोधित सर्प की उपमा दी गई है। कोई जहरीला नाग क्रोधित है और अपने फणों को फैलाए हुए है। फण दिखने में अत्यंत सुंदर, आकर्षक, चिकना है। अगर कोई बालक या मूर्ख व्यक्ति उससे आकर्षित होकर उसे पकड़ने जाता है, तो वह सर्प तुरंत उसे डंक मार देता है एवं व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, इसलिए विवेकवान् व्यक्ति, चाहे फण कितना भी सुंदर हो, वह सर्प के समीप भी नहीं जाता है, क्योंकि उसका विवेक जाग्रत है, वह सर्प की भयंकरता को समझता है।

उसी प्रकार, यह सांसारिक-सुखोपभोग, जो दिखने में अत्यंत आकर्षक है, मोहित करने वाला है, किन्तु परिणाम में अत्यंत भयंकर है, दुर्गति में ले जाने वाला है। ज्ञानसार में कहा गया है कि एक-एक इन्द्रिय की परवशता से जीवात्मा की कैसी करुण दुर्दशा होती है। पतंगा दीपक की ज्योति के आसपास खूब नाचता है। चक्षु-इन्द्रिय द्वारा रूप के प्रति आसक्त बना पतंगा जैसे ही ज्योति का आलिंगन करने जाता है, वह जलकर भस्म हो जाता है। सुगन्ध का दीवाना भ्रमर, जो लकड़ी को भी छेद सकता है, कोमल कमल के पुष्प में बंद होकर अपनी जान गवां देता है। रसनेन्द्रिय के सुख में भान भूला गजेन्द्र और मधुर स्वर को श्रवण करने के शौकीन हिरणों को भी मौत का शिकार होना पड़ता है। एक-एक इन्द्रिय के परवश बने जीवों की ऐसी दुर्दशा होती है, तो मानव पुण्य से प्राप्त पाँचों इन्द्रियों के भोग में आकण्ठ डुबे हुए हैं ? उनकी कैसी दुर्गति व दुर्दशा होगी, इस पर अज्ञानी व्यक्ति विचार नहीं करते हैं, परंतु बुद्धिमान्, विवेकशील व्यक्ति

ऐसे सुखोपभोग से आकर्षित नहीं होते हैं, आसक्त नहीं होते हैं, अपितु भयभीत रहते हैं।

(७५०) **इत्थमेकत्वमापन्नं फलतः पुण्यपापयोः।**
मन्यते यो न मूढात्मा नान्तस्तस्य भवोदधेः।।७३।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार फल की दृष्टि से पुण्य और पाप के एकत्व को प्राप्त हुआ जो अज्ञानी व्यक्ति नहीं मानता है, उसके भवसागर का अंत नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने पूर्व श्लोकों में पुण्य और पाप पर जो विस्तार से चर्चा की है, उसके उपसंहारस्वरूप प्रस्तुत श्लोक दिया गया है। शुद्ध निश्चय नय से देखा जाए, तो आत्मा पुण्य और पाप से सर्वथा भिन्न है। पुण्य और पाप-दोनों आत्मा को बंधन में रखने वाले हैं, संसार के कारावास में रोककर रखने वाले हैं। फल की दृष्टि से पुण्य और पाप में बिल्कुल भी भिन्नता नहीं है, क्योंकि जब तक पाप है, तब तक संसार का परिभ्रमण है, वैसे ही जब तक पुण्य है, तब तक भी संसार का परिभ्रमण तो है ही। पुण्य और पाप-दोनों से मुक्त होने पर ही संसार का परिभ्रमण समाप्त हो सकता है, इसलिए ज्ञानी के मन में पुण्य की भी महिमा नहीं होती है। पुण्य से प्राप्त हुए भोगोपभोग ज्ञानी के लिए भय के हेतु हैं। विवेकवान् व्यक्ति पुण्य से प्राप्त सामग्री को संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर उसका त्याग कर देते हैं। ज्ञानी को पुण्य के प्रति राग और पाप के प्रति द्वेष नहीं होता है। वे तो दोनों को दुःख के हेतुरूप देखते हैं। अज्ञानी व्यक्ति पुण्य के और पाप के दुःखदायी परिणामों को नहीं समझता है, इसलिए उसके भवभ्रमण का अंत नहीं होता है। व्यवहारनय से पुण्य के दो भेद हैं- पापानुबंधी पुण्य और पुण्यानुबंधी पुण्य। फलासक्ति से किया गया पुण्य प्रायः पापानुबंधी पुण्य होता है और वह आत्मा को पतन के गर्त में ले जाता है, किन्तु निष्कामभाव से की गई दया, दान, अनुकंपा, वात्सल्य, मैत्री आदि भावों से पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन होता है, जिससे व्यक्ति को मोक्षप्रदायक सामग्री, मानव-भव, सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की शरण आदि प्राप्त होते हैं, अतः पुण्यानुबंधी पुण्य को एकान्त रूप से हेय नहीं कह सकते हैं और न ही पुण्य और पाप को एक ही तुला में रख सकते हैं।

(७५१) दुःखैकरूपयोर्भिन्नस्तेनात्मा पुण्यपापयोः।
शुद्धनिश्चयतः सत्यचिदानन्दमयः सदा।।७४।।

<u>अनुवाद -</u> पुण्य और पाप-दोनों ही दुःख के एक ही स्वरूप वाले होने से आत्मा से भिन्न हैं। शुद्ध निश्चय नय से आत्मा सदा सत्-चित्-आनंदमय है अथवा सच्चिदानन्द- स्वरूप है।

<u>विशेषार्थ -</u> पुण्य और पाप से आत्मा भिन्न है और वह आत्मा सच्चिदानंदस्वरूप है, ऐसी शुद्ध निश्चयनय की मान्यता है। शुद्ध निश्चयनय पुण्य और पाप दोनों को एक ही तराजू में रखता है और दोनों को दुःख रूप तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाला मानता है। व्यवहारनय के अनुसार पुण्य सुख रूप है और पाप दुःख रूप है। यह बात आवश्यक है कि आत्मा चेतन रूप है और पुण्य और पाप दोनों ही पुद्गल के स्वरूप है, अजीव है, किन्तु सिद्ध अवस्था में ही जीव कर्मों से मुक्त होता है अर्थात् सच्चिदानंदमय होता है। परंतु संसार में आत्मा पुण्य और पाप के साथ अर्थात् शुभ कर्म और अशुभ कर्म के साथ एक क्षेत्र अवगाह होने के कारण किंचित् रूप से अभिन्न है, अर्थात् मोह के कारण जीव को उनमें अभिन्नता का आभास होता है, किन्तु निश्चय नय के अनुसार तो चेतनद्रव्य आत्मा और अजीवद्रव्य पुण्य और पाप या शुभकर्म और अशुभकर्म चाहे आत्मा के साथ क्षीर-नीर की तरह, एक क्षेत्र-अवगाह में स्थित हैं, फिर भी इनका एकत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता है। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में परिणमित होते हैं। कोई भी द्रव्य अपने मूल स्वभाव को छोड़कर अन्य द्रव्य के स्वभाव को धारण नहीं कर सकता है। आत्मा का स्वभाव सत्, चित् और आनंदरूप है और तीनों कालों में यही स्वभाव रहने वाला है, किंतु आत्मा देह के साथ रहने से जीव को एकरूपता का भ्रम होता है। ज्ञानी को तो देह और आत्मा की भिन्नता का बोध होता है और उसका वेदन होता है।

इस प्रकार संसाररूपी कारागृह में रोककर रखने वाले, दुःख को प्रदान करने वाले पुद्गलस्वरूपी पुण्य-पाप के साथ सच्चिदानंद आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

(७५२) तत्तुरीयदशाव्यंग्यरूपमावरणक्षयात्।
भात्युष्णोद्यतशीलस्य घननाशाद्रवेरिव।।७५।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे मेघ के नष्ट हो जाने पर ऊष्ण प्रकार के स्वभाव वाला सूर्य दिखाई देता है, उसी प्रकार आवरण का क्षय होने से चतुर्थ अवस्था में आत्मा का वह स्वरूप प्रकट होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> संसारी-आत्मा पर अनादिकाल से कर्मों का आवरण छाया हुआ है, अतः आत्मा का शुद्ध स्वरूप दिखाई नहीं देता है, जैसे - आकाश में सूर्य है, परंतु उसके प्रकाश व उष्णता का घने बादल के कारण अनुभव नहीं होता है।, बादलों के कारण सूर्य का प्रकाश नहीं दिखाई दे, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि आकाश में सूर्य नहीं है। सूर्य आकाश में ही रहता है और उसका प्रकाश भी उसमें विद्यमान है लेकिन मात्र आवरण के कारण वह अनुभव नहीं होता है, किंतु जैसे ही बादल हट जाते हैं, वैसे ही निर्मल स्वच्छ आकाश में सूर्य के तीव्र प्रकाश तथा उष्णता का अनुभव होता है। उसी प्रकार, आत्मा भी कर्म के आवरण से ढकी हुई है, अतः उसका मूल स्वरूप आवरित हो गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप, अनंत ज्ञानादि नष्ट हो गए हैं। वे तो सदा शाश्वत उसमें विद्यमान ही हैं।

आत्मा की चार दशाएं बताई गई हैं - १. सुषुप्ति २. जाग्रत ३. स्वप्न और ४. उजागर। अन्य दर्शन के अनुसार चतुर्थ दशा में आत्मा स्वयं परब्रह्म या परमात्मा के साथ एकरूप हो जाती है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा की चौथी उजागर-दशा, अर्थात् केवलज्ञान के प्रकाश वाली अवस्था। इस दशा का प्रारंभ आत्मा के निर्विकल्प उपयोग से होता है। तेरहवें गुणस्थान पर जब केवलज्ञान प्रकट होता है, तब यह दशा स्थिर हो जाती है। प्रश्न उठता है कि आत्मा सच्चिदानंदमय है, अनंत ज्ञानादि से युक्त है, तो उसका अनुभव क्यों नहीं होता है ? वह क्यों नहीं दिखाई देती है ? उसका कारण यही है कि आत्मा में तो यह दशा शाश्वत होने पर भी उस पर आवरण होने के कारण नहीं दिखाई देती है। यह आवरण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय - इचार घाती-कर्मरूप है। इन आवरणों का क्षय होते ही तुरंत चतुर्थ उजागर-दशा, अर्थात्

केवलज्ञान के प्रकाशवाली, शुद्ध, आनंदमय दशा प्रकट हो जाती है। दर्पण के धूल से या कपड़े से आवरित होने के कारण उसमें प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है, किंतु धूल साफ कर देने पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देने लगता है, अतः आत्मा पर छाए हुए कर्मों के आवरण को दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(७५३) जायन्ते जाग्रतोऽक्षेभ्यश्चित्राधी सुख-वृत्तयः।
सामान्यं तु चिदानंदरूपं सर्वदशान्वयि।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> जाग्रत (आत्मा) को इन्द्रियों द्वारा विविध सुखवृत्तियों की बुद्धि उत्पन्न होती है, परंतु सभी अवस्थाओं में चिदानंदस्वरूप तो समान रूप से अन्तर्गत रहा हुआ है।

<u>विशेषार्थ -</u> जो जाग्रत है, अर्थात् द्रव्यनिद्रा से रहित है तथा भावनिद्रा से युक्त है - ऐसे व्यक्ति में विविध प्रकार की सुखोपभोग की वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। वह इन्द्रियों द्वारा सुख का अनुभव करता है, किंतु निद्रावस्था में उन पौद्गलिक-सुखों का अनुभव, आनंद नहीं होता है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों द्वारा होने वाला सुखानुभव निरन्तर नहीं रहता है, मात्र भोगकाल के समय ही रहता है, परंतु इन्द्रियातीत आत्मा के चिदानंद स्वरूप का अनुभव तो निरंतर, हमेशा होता है। उसके लिए कोई भी अवस्था प्रतिबंधक नहीं है, वह सभी दशा में अंतर्भूत है। जीव की इन्द्रिय-सहित अवस्था या इन्द्रियों से रहित सिद्ध की अवस्था-इन दोनों ही दशाओं में चिदानंद स्वरूप का समान रूप से अनुभव होता है, क्योंकि इसमें पर की आवश्यकता नहीं रहती है। आत्मानंद का अनुभव स्वाधीन तथा शाश्वत है।

(७५४) स्फुलिंगैर्न यथा वह्निर्दीप्यते ताप्यतेऽथवा।
नानुभूतिपराभूती तथैताभिः किलात्मनः।।७७।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे अग्नि के कण द्वारा अग्नि प्रकाशमान नहीं होती है और वह ताप भी प्रदान नहीं करता है, वैसे ही इनके (सुख की वृत्तियों) द्वारा आत्मा का अनुभव या पराभव नहीं होता है।

विशेषार्थ - यदि आत्मा का स्वरूप सत्, चित् और आनंद से युक्त हो तो जब इन्द्रियों द्वारा सुख का, दुःख का अनुभव होता है, तब आत्मा का सच्चिदानंद स्वरूप क्यों प्रकाशित या प्रतीत नहीं होता है ? इसका उत्तर ग्रंथकार ने एक दृष्टांत द्वारा प्रदान किया है कि इन्द्रियों द्वारा सुख या दुःख का अनुभव तो प्रखर अग्नि की ज्वालाओं में से उड़े हुए एक कण के समान है। उस कण की शक्ति ही कितनी है ? वह कण अग्नि का ही होने पर भी उसमें प्रकाश देने की शक्ति या कुछ गरम करने की शक्ति, उष्मा प्रदान करने की शक्ति नहीं होती है। क्षण मात्र में ही वह कण बुझ जाता है, नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार, इन्द्रियों द्वारा आत्मा का चिदानंद स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है। इन्द्रियों द्वारा अनुभूत दुःख आत्मा का पराभव नहीं कर सकता है, अर्थात् उसके चिदानंद स्वरूप को वह विकृत नहीं कर सकता है। आत्मा का सच्चिदानंद स्वरूप तो इन्द्रियातीत ही है।

(७५५) साक्षिणः सुखरूपस्य सुषुप्तौ निरहंकृतम्।
यथा भानं तथा शुद्धविवेके तदतिस्फुटम्।।७८।।

अनुवाद - सुषुप्ति में सुखरूप और साक्षी (ऐसी आत्मा) का जैसे अहंकाररहित भान होता है, वैसे ही शुद्ध विवेक में वह (भान) अधिक स्पष्ट होता है।

विशेषार्थ - आत्मा देह से भिन्न है तथा सुखरूप है, साक्षीरूप है, मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, परंतु जीव को अज्ञान के कारण, शरीरादि पुद्गलों की अत्यंत निकटता के कारण उसमें कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व-भाव उत्पन्न होते हैं, जैसे- मैं समाज-सेवा करता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं खाता हूँ, मैं कमाता हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बीमार हूँ आदि भाव उसे जाग्रत अवस्था में उत्पन्न होते हैं, किन्तु जब व्यक्ति बेहोशी में हो, गहरी निद्रा में सोया हुआ हो, तब जाग्रत-अवस्था में जो संकल्प-विकल्प उठ रहे थे, जो कर्तृत्त्व-भोक्तृत्त्वभाव थे, वे उपशांत हो जाते हैं। उसे अपनी देह का भी भान नहीं रहता है, तब शुद्ध चेतना का मंद और अस्पष्ट अनुभव होता है, परंतु इससे भी अधिक स्पष्ट अनुभव जाग्रत, बोध-दशा में होता है। जब तक, शरीर से स्वयं पृथक् है- इस प्रकार का बोध नहीं होता है, तब तक कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व की बुद्धि रहती है, परंतु

यह उसका भ्रम है। जब स्वरूप का बोध हो जाता है, विवेक प्रकट होता है, तब "मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मैं तो मात्र साक्षीरूप हूँ"- इस प्रकार की प्रतीति होती है। यह साक्षीभाव आत्मिक-सुख के संवेदन-रूप में होता है।

प्रस्तुत अधिकार में पश्चात् के श्लोकों में विभिन्न नयों की अपेक्षा से आत्मचर्चा की गई है, अतः प्राथमिक कक्षा के पाठकों के लिए यहाँ नयों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। वस्तुएं अनंतधर्मात्मक हैं, उनमें से निश्चित किए हुए अंश को, अर्थात् एक देश (भाग या गुण) को ग्रहण करे, लेकिन अन्य अंश के प्रति उदासीन रहे, अन्य अंश का निषेध नहीं करे, उसे नय कहते हैं। नय की परिभाषा करते हुए जैनाचार्यों ने कहा कि 'वक्ता का अभिप्राय' ही नय कहा जाता है, अतः इस आधार पर सिद्धसेन दिवाकर ने नयों के भेद के सम्बन्ध में कहा है कि जितनी कथन करने की शैलियाँ हो सकती हैं, उतने ही नयवाद हो सकते हैं, अर्थात् नय के प्रकार हो सकते हैं।

प्रमुख नय दो प्रकार के होते हैं- १. द्रव्यार्थिक-नय और २. पर्यायार्थिक-नय। द्रव्यार्थिक-नय द्रव्य को प्रमुख और पर्याय को गौण करके कथन करता है तथा पर्यायार्थिक-नय के कथन में पर्याय की प्रमुखता तथा द्रव्य की गौणता रहती है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक-ग्रन्थों में शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चय नय, सद्भूतनय, असद्भूतनय, उपचरितनय, अनुपचरितनय आदि कई भेद बताए गए हैं।

शुद्ध निश्चयनय वस्तु को अखण्ड रूप में देखता है, जैसे- आत्मा है। अशुद्ध निश्चय नय इसमें भेद-विवक्षा करता है, जैसे- आत्मा में ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, वीर्यगुण है, चारित्रगुण है आदि-आदि।

इसी प्रकार द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनुपचरित-असद्भूत-नय की अपेक्षा से है। चूंकि सम्बन्ध आरोपित नहीं है, इसलिए अनुपचरित है, किन्तु अशाश्वत है, नाशवान् है। कर्म बंधते और छूटते रहते हैं, इसलिए असद्भूत भी हैं।

मोटे रूप से जैनदर्शन में सप्तनयों की अवधारणा प्राप्त होती है। सप्त नयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र-ये चार नय पदार्थ से

संबंधित हैं, अतः अर्थनय कहलाते हैं और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूतनय ये कथन से संबंधित हैं, अतः इन्हें शब्दनय भी कहा गया है।

नैगमनय पदार्थ को सामान्य, विशेष एवं उभयात्मक मानता है। यह एक अंश या संकल्प उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण कर लेता है। नैगमनय संबंधी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि सम्पादित की जाने वाली क्रिया के अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक-पक्ष की ओर ध्यान न देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति स्तम्भ के लिए किसी जंगल में लकड़ी लेने जाता है और उससे पूछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो, तो वह कहता है, मैं स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः, वह जंगल से स्तम्भ नहीं, अपितु लकड़ी ही लाता है, लेकिन उसका संकल्प या प्रयोजन स्तम्भ बनाना ही है, अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही कथन करता है। यह नय भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों को ग्रहण करता है, उदाहरणार्थ - चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन कहना - आज महावीर भगवान् का जन्मदिन है। यह भूतग्राही नैगमनय का कथन है। शब्दों के जितने एवं जो अर्थ लोक-प्रचलित हैं, उन सबको मान्य करना नैगमनय का विषय है।

संग्रहनय - यह समूह की अपेक्षा से विचार करता है। जैनाचार्यों के अनुसार जब विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर जब कोई कथन किया जाता है, तो वह संग्रहनय का कथन माना जाता है, जैसे-भारतीय गरीब हैं, या बर्तन-इस शब्द से लोटा, गिलास आदि सभी बर्तन आ जाते हैं।

व्यवहारनय - व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी दृष्टि कह सकते हैं। केवल सामान्य के बोध से या कथन से हमारा व्यवहार नहीं चल सकता है। व्यवहार के लिए हमेशा भेदबुद्धि का (विशेष का) आश्रय लेना पड़ता है, जैसे- संग्रहनय के अनुसार 'बर्तन' शब्द से सभी बर्तनों का ग्रहण हो जाता है, किंतु व्यवहारनय लोटा, गिलास, थाली आदि भेद करके कथन करता है। दूसरा उदाहरण, जैसे- घी के घड़े में लड्डू रखे हैं - यह कथन भी

व्यवहारनय का है। यहाँ घी के घड़े का तात्पर्य वह घड़ा है, जिसमें पहले घी रखा जाता था।

ऋजुसूत्रनय - यह केवल वर्तमान की पर्याय को ही ग्रहण करता है। भूत और भविष्य की पर्यायों को गौण रखता है। इसे बौद्धदर्शन का समर्थक बताया जाता है। इस नय के आधार पर कहा गया कोई भी कथन अपने तात्कालिक-सन्दर्भ में सत्य होता है, अन्यकालिक संदर्भों में नहीं, जैसे - भारतीय व्यापारी प्रामाणिक नहीं हैं- यह कथन केवल वर्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। ऋजुसूत्रनय के दो प्रकार होते हैं। निश्चय से एक ही समय की पर्याय को जो ग्रहण करता है, वह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और व्यवहार से पर्याय के अमुक समुदाय को ग्रहण करता है, वह स्थूल ऋजुसूत्रनय है, जैसे- आज का दिन, वर्तमान माह, वर्तमान वर्ष, वर्तमान चौबीसी आदि ऋजुसूत्रनय की स्थूल पर्यायें हैं।

शब्दनय - शब्दनय हमें यह बताता है कि शब्द का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रियापद आदि के आधार पर बदल जाता है, जैसे तट, तटी, तटम् - इन तीनों शब्दों में लिंगभेद है, अतः तीनों पदों से वाच्य तट अलग-अलग है। दूसरा उदाहरण, जैसे काश्मीर भारत का हिस्सा था और कश्मीर भारत का हिस्सा है - इन वाक्यों में एक भूतकालीन-काश्मीर की बात कहता है, दूसरा वर्तमानकालीन-कश्मीर की।

समभिरूढ़नय - यह नय पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद को स्वीकार करता है। इस नय का अभिप्राय यह है कि जीव, आत्मा, प्राणी - ये शब्द अलग-अलग हैं, अतः इनके अर्थ भी अलग-अलग मानना चाहिए।

एवंभूतनय - इस नय के अनुसार एक लेखक उसी समय लेखक कहा जा सकता है, जब वह लेखन का कार्य करता हो। एक चिकित्सक उसी समय चिकित्सक कहलाता हैं, जब वह रोगी का इलाज कर रहा हो। गच्छति इति गो, गाय जब चलती है, तभी उसके लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। 'राजा' शब्द का प्रयोग उसी समय कर सकते हैं, जब वह राजसिंहासन पर बैठा हो और हाथ में राजदंड हो, अन्य समय वह राजा नहीं कहा जाएगा। इन्द्र, शक्र और शचिपति-इन तीनों शब्दों का व्यवहार में

एक ही अर्थ है, परंतु एवंभूतनय के अनुसार जब वह शक्ति का प्रयोग करता है, तब 'शक्र' है और शचि, इन्द्राणी साथ में हो, तब वह शचिपति कहलाता है। व्यापारी व्यापार करता हो, उस समय ही व्यापारी है, अन्य समय नहीं, उसी प्रकार अध्यापक जब पढ़ा रहा हो, तब ही अध्यापक कहलाता है। इस प्रकार नय का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ दिया गया है।

(७५६) तच्चिदानंदभावस्य भोक्तात्मा शुद्धनिश्चयात्।
अशुद्धनिश्चयात्कर्मकृतयोः सुखदुःखयो।।७६।।

<u>अनुवाद -</u> शुद्ध निश्चयनय से (आत्मा) चिदानंद स्वभाव की भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से कर्मकृत सुख-दुःख की (भोक्ता) है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रत्येक नय का दृष्टिकोण अलग-अलग होता है। शुद्ध निश्चयनय वस्तु के अखण्ड शुद्ध स्वरूप को ही देखता है। शुद्ध निश्चयनय प्रत्येक वस्तु के आदर्श स्वरूप को ही देखता है, अशुद्ध को नहीं। इस नय के अनुसार जब आत्मा का विचार किया जाता है, तो आत्मा का ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, आनंदस्वरूप, शुद्ध और निर्मल स्वरूप ही दिखाई देता है। यह नय जब स्वर्ण पर विचार करता है, तो इसे सौ टंच शुद्ध स्वर्ण ही नजर आता है, उसमें अशुद्धि या मिलावट की वह उपेक्षा करता है, इसलिए शुद्ध निश्चयनय के आधार पर आत्मा स्वयं के चिदानंद स्वभाव की ही भोक्ता है।

अशुद्ध निश्चयनय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानता अवश्य है, लक्ष्य में रखता है, परंतु वह आत्मा की वर्तमान काली अशुद्ध अवस्था को भी स्वीकार करता है। संसार में बाह्य-पदार्थों के निमित्त से स्वयं रागादि भाव करके आत्मा अशुद्ध होती है, उस पर कर्म के आवरण आ जाते हैं और आत्मगुणों को आवरित कर देते हैं। कर्म के कारण जीव चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता है तथा जैसे-जैसे शुभ-अशुभ कर्म उदय में आते हैं, उसी के अनुरूप वह सुख व दुःख भोगता है, अनुभव करता है, इसलिए आत्मा सुख तथा दुःख की भी भोक्ता है।

इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से और अशुद्ध निश्चयनय से - दोनों नयों से देखने पर जीव को स्वयं के यथार्थ स्वरूप का तथा वर्तमानकालीन

अशुद्ध स्वरूप - दोनों का बोध होता है। इससे स्वयं में रही हुई अशुद्धि को दूर करके, कर्मों के आवरण को हटाकर, अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकटाने के लिए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

(७५७) कर्मणोऽपि च भोगस्य स्रगादेर्व्यवहारतः।
नैगमादि व्यवस्थापि भावनीयाऽनया दिशा।।८०।।

<u>अनुवाद -</u> जीव कर्मों का भोक्ता है तथा व्यवहारनय से माला (अन्य वस्तुओं) का भी भोक्ता है। इस मार्ग (दिशा) के द्वारा नैगमनय आदि की भी व्यवस्था जान लेना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> जैसे निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्धनिश्चय नय दो भेद है वैसे ही व्यवहारनय के निरूपचरित असद्भुत व्यवहारनय और उपचरित असद्भूत व्यवहारनय ऐसे दो भेद हैं। शुद्ध निश्चयनय आत्मा के शुद्ध स्वरूप, चिदानंद स्वरूप को ही देखता है और अशुद्ध निश्चयनय आत्मा को सुख-दुःख आदि का भोक्ता मानता है परंतु ये दोनों नय आत्मा कर्मों का भोक्ता है या स्थूल पदार्थों का भोक्ता है इस प्रकार नहीं मानते है क्योंकि आत्मद्रव्य और कर्म पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य है और दोनों के मध्य तादात्म्य भाव नहीं है। जबकि व्यवहारनय वर्तमान वास्तविक परिस्थिति का और संयोगों का स्वीकार करते है। जीव कर्म बांधता है और कर्म पुद्गलों के कारण वह सुख दुःख का अनुभव करता है तथा मैं कर्म को भोगता हूँ, शुभ कर्म के उदय से मैं सुखी हूँ, मेरे अशुभ कर्मों का उदय है- इस प्रकार के वचन निरूपचरित असद्भूत व्यवहारनय से बोले जाते हैं, अतः निरूपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय आत्मा को कर्मों का भोक्ता मानता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से आत्मा, देह के द्वारा जो स्थूल पदार्थ भोगे जाते है उनकी भी भोक्ता है अर्थात् खाना, पीना, पुष्पमाला आदि को पहनना, आभूषणों आदि का उपयोग करना आदि। उपचार से आत्मा इन सभी का भी भोक्ता है। चूंकि इस प्रकार कहा जाना है कि मैं खाता हूँ, मैं नाटक देखता हूँ, मैं संगीत सुनता हूँ, मैं पुष्प की सुगंध लेता हूँ आदि वचन-व्यवहार होता है, अतः ये कथन इसी नय के आधार पर होते है। इस प्रकार व्यवहारनय के आधार पर ही नैगम आदि अन्य नयों की भी व्यवस्था समझ लेना चाहिए।

(७५८) कर्ताऽपि शुद्धभावानामात्मा शुद्धनयाद्विभुः।
प्रतीत्य वृत्तिं यच्छुद्धक्षणानामेष मन्यते।।८१।।

<u>अनुवाद -</u> शुद्ध नय से विभु-ऐसी आत्मा शुद्ध भावों की कर्त्ता भी है, क्योंकि यह (शुद्ध नय) शुद्ध क्षणों की वृत्ति को (आत्मा के कारण) होने वाली मानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में आत्मा को भोक्तृत्त्व-भाव बताया गया है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा चिदानंद स्वभाव की भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा सुख-दुःख की भोक्ता है। प्रस्तुत श्लोक में निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का कर्तृत्त्व बताया गया है।

निश्चयनय के आधार पर आत्मा विभु या प्रभु है। स्थानांगसूत्र में कहा गया है 'एगे आया', अर्थात् आत्मा एक है, इसलिए आत्मद्रव्य की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं, एकरूप हैं, उनमें अंतर नहीं हैं, अतः इस अपेक्षा से कह सकते हैं कि समस्त विश्व में चौदह राजलोक में रही हुई आत्माएँ मात्र एक ही आत्मा हैं, उनमें अभेद हैं, समान आत्मस्वरूप है। यह आत्मा विभु या प्रभु है।

किसी अपेक्षा से निश्चय नय पर्यायार्थिकनय है। वह पर्याय का आश्रय लेकर विचार करता है। पर्यायें प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययशील हैं। शुद्ध आत्मद्रव्य प्रतिक्षण शुद्ध भावों को उत्पन्न करता है। पूर्वक्षण, उत्तरक्षण का कारण बनता है। आत्मा की शुद्ध पर्यायों की परंपरा चलती है, इनमें सातत्य रहा हुआ है, इसलिए उसे संतान भी कहा जाता है। प्रत्येक क्षण शुद्ध भाव उत्पन्न होते रहने की अपेक्षा से आत्मा को स्वयं को शुद्ध भावों का उत्पादक या कर्त्ता माना जाता है।

(७५६) अनुपप्लवसाम्राज्ये विसभागपरिक्षये।
आत्मा शुद्धस्वभावानां जननाय प्रवर्तते।।८२।।

<u>अनुवाद -</u> अभ्रान्तदशा (विवेकयुक्त दशा) का साम्राज्य स्थापित होने पर और विभावदशा का क्षय होने पर आत्मा शुद्ध स्वभाव को उत्पन्न करने के लिए पुरुषार्थ करती है।

विशेषार्थ - उपप्लव; अर्थात् आपत्ति, दुर्दशा, भ्रान्ति। अनुपप्लव; अर्थात् अभ्रान्तदशा, अर्थात् तत्त्व का रागरहित यथार्थ दर्शन। जब तक व्यक्ति विवेकरहित भ्रान्त-अवस्था में रहता है, तब तक उसे भेदज्ञान स्पष्ट नहीं होता है। आत्मा और देह की भिन्नता स्पष्ट नहीं होने पर देह तथा देह से संबंधित पदार्थों आदि के प्रति उसकी आसक्ति या ममत्व-भाव बना रहता है। उसमें अहंबुद्धि जाग्रत होती है। अहं और मम के आस-पास ही वह घूमता रहता है। आत्मा की शुद्ध दशा प्रकट करने के लिए उसके शुद्ध स्वरूप का ज्ञान तथा अनुभव होना आवश्यक होता है और शुद्ध स्वरूप के ज्ञान के लिए भ्रान्तदशा का, अविवेक का दूर होना आवश्यक है। उसके बाह्य चक्षु के साथ-साथ आन्तर चक्षु भी खुलना आवश्यक है। दूसरी ओर, आत्मा की विभावदशा की धारा का, राग-द्वेष की धारा का क्षय होना भी आवश्यक है। इस प्रकार राग-द्वेष की धारा का उत्तरोत्तर जैसे-जैसे क्षय होता जाता है, वैसे-वैसे चित्त की विशुद्धि होती जाती है और शुद्ध स्वभाव प्रकट होने लगता है।

(७६०) चित्तमेव हि संसारो रागादि क्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते।।८३।।

अनुवाद - रागादि क्लेश से वासित चित्त ही संसार है, उससे विमुक्त हुआ वह चित्त ही मोक्ष कहलाता है।

विशेषार्थ - उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्याय में कहा गया है - 'रागो य दोसो बिय कम्मबीयं', अर्थात् राग और द्वेष-ये दो ही कर्म के बीज हैं, कर्मबंध के हेतु हैं, ये ही संसार में परिभ्रमण कराते हैं। जब तक राग-द्वेष का चक्र चलता रहता है, तब तक व्यक्ति संसाररूपी चक्की में पिसता रहता है। जहाँ कषाय हैं, राग-द्वेष हैं, वहां कर्मबंध है, जहाँ कर्मबन्ध है, वहाँ संसार-परिभ्रमण है, जहाँ संसार परिभ्रमण है, वहाँ दुःख ही दुःख है, अतः प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि रागादि क्लेश से संस्कारित चित्त ही संसार है। राग-द्वेषादि के कारण ही यह संसार खड़ा हुआ है। राग के साथ ही द्वेष जुड़ा हुआ है। जैसे ही चित्त से राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, वैसे ही चित्त में बसा हुआ संसार नष्ट होता जाता है। जब आत्मा सम्पूर्ण रूप से राग-द्वेष से मुक्त हो जाती है, तो उसके भव का अंत हो

जाता है। बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार राग-द्वेषरूपी बीज के अभाव में संसार की उत्पत्ति संभव नहीं है। राग-द्वेषादि के नष्ट होने पर आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रकट होता है तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है।

(७६१) यश्च चित्तक्षणः क्लिष्टो नासावात्मा विरोधतः।
अनन्य विकृतं रूपमित्यन्वर्थं ह्यदः पदम्।।८४।।

अनुवाद - जो चित्तक्षण (राग-द्वेष) से क्लिष्ट है, वह (आत्म स्वभाव के) विरोधी होने से आत्मा नहीं है, क्योंकि अन्य से विकृत नहीं हुआ रूप-ऐसे अन्वर्थ वाला यह पद ('आत्मा' पद) है।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक में बताया गया है कि राग और द्वेषादि से युक्त चित्त ही संसार है और इनसे विमुक्त हुआ चित्त ही मोक्ष है। प्रस्तुत श्लोक में इसी विषय को अधिक स्पष्ट किया गया है। नय की धारणा है कि क्लिष्ट चित्तक्षण, वह आत्मा नहीं है, अन्य से विकृत नहीं हुआ-ऐसा शुद्ध क्लेशमुक्त चित्त ही आत्मा है, अतः वह विकृति से मुक्त चित्त को आत्मा मानने के लिए तैयार नहीं है। चूंकि विकृति तो आत्मा का स्वभाव ही नहीं है, आत्मा का लक्षण ही नहीं है, इसलिए देहधारी क्लिष्ट चित्त, राग-द्वेष से मुक्त चित्त को वह आत्मा कहने के लिए तैयार नहीं है। 'आत्मा' शब्द का अन्वर्थ ही इस प्रकार है। 'आत्मा' और वह भी क्लेश से युक्त-इस प्रकार कहना ही यथार्थ नहीं है, शब्द में ही विरोधाभास है। 'आत्मा' और 'क्लेश'-ये दो शब्द परस्पर ही विरोधी हैं। अशुद्ध-ऐसा विशेषण आत्मा शब्द के लिए योग्य नहीं, क्योंकि आत्मा शब्द सुनते ही राग-द्वेष से रहित, निर्मल स्फटिक के समान अनंत ज्ञानमय स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। आत्मा ही परमात्मा है, ब्रह्म है, परम पवित्र है, अनंत शक्तिमान् है, अतः अशुद्ध विकृतियों से परिपूर्ण स्वरूप के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग करना यथार्थ नहीं है। इस प्रकार शब्दनय शब्द की व्युत्पत्ति तथा यौगिक अर्थ पर ही भार देता है और कहता है कि जो रागादि क्लेश से रहित विशुद्ध निर्विकार असंक्लिष्ट होती है, वही 'आत्मा' पद के योग्य है।

(७६२) श्रुतं चानुपयोगश्चेत्येतन्मिथ्या यथा वचः।
तथात्माऽशुद्धरूपश्चेत्येवं शब्दनया जगुः।।८५।।

<u>अनुवाद -</u> 'श्रुत है और अनुपयोगवाला है'- इस प्रकार का वचन जैसे मिथ्या है, वैसे ही 'आत्मा' है और अशुद्ध रूपवाला है - ऐसा वचन भी मिथ्या है, इस प्रकार शब्दनय कहता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में बताया गया है कि 'क्लेश वाली आत्मा' - इस पद में क्लेश और आत्मा-ये दोनों शब्द एक-दूसरे के विरोधी हैं। उसके समर्थन में प्रस्तुत श्लोक में उदाहरण दिया गया है कि श्रुत और अनुपयोग-ये दोनों शब्द एक-दूसरे के विरोधी हैं, अतः 'अनुपयोग वाला श्रुत' पद का प्रयोग करना उचित नहीं है। श्रुत, अर्थात् श्रुतज्ञान वाला और अनुपयोग, अर्थात् उपयोग बिना का। श्रुतज्ञानी कभी भी उपयोगशून्य नहीं हो सकते हैं ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध हैं। अगर कोई श्रुतज्ञानी है, तो वह उपयोग बिना का नहीं हो सकता है और जो बिना उपयोग वाला है, वह श्रुतज्ञानी नहीं हो सकता है। उसी प्रकार, 'अशुद्ध आत्मा' परस्पर विरुद्ध शब्द है। अगर अशुद्ध है, तो वह आत्मा नहीं है और यदि आत्मा है, तो वह अशुद्ध नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में नय शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है इसलिए यहाँ शब्द नय ही नहीं, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय की भी यही धारणा है। ये तीनों नय शब्द और उसकी व्युत्पत्ति, अन्वय के आधार पर उसके अर्थ पर ही भार देता हैं। ये नय कहते हैं कि उपयोग ही ज्ञान है, क्लेशयुक्त ज्ञान ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार, आत्मा विशुद्ध ही है, आत्मा कभी भी अशुद्ध नहीं हो सकती है। 'आत्मा' और 'अशुद्ध' ये दो शब्द परस्पर विरोधी होने से मिथ्या है।

(७६३) शुद्धपर्यायरूपस्तदात्मा शुद्धस्वभावकृत्।
प्रभामाऽप्रथमत्वादिभेदोऽप्येवं हि तात्त्विकः।।८६।।

<u>अनुवाद -</u> शुद्ध पर्यायरूप आत्मा ही शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता है। इस प्रकार प्रथमत्व और अप्रथमत्व आदि भेद भी तात्त्विक ही हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> शब्दादि नय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध पर्यायरूप है और शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता है। आत्मा को जो मात्र शुद्ध द्रव्यस्वरूप ही माना जाए तथा शुद्ध पर्यायरूप और शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता नहीं माना जाए, तो आत्मा को तीनों काल में एक ही रूप वाली, पर्याय-रहित मानना पड़ेगा। संसारी-अवस्था में वह अशुद्ध पर्यायरूप है और सिद्ध-अवस्था में वह शुद्ध पर्यायरूप है। समयसिद्ध, अप्रथम (द्वितीयादि) समयसिद्ध - ऐसे भेद भी बताए गए है।। अब आत्मा को जो शुद्ध पर्यायरूप और शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता नहीं माना जाए, तो आगम की बात अयथार्थ सिद्ध होती है।

आगम में सिद्ध के भिन्न-भिन्न भेद कहे गए हैं, उनमें काल की अपेक्षा से भी कहे गए हैं। प्रथम समय के सिद्ध, अर्थात् अमुक समय में शुद्ध स्वभाव के कर्त्ता ऐसे सिद्ध। प्रथम पर्याय द्वितीय पर्याय को उत्पन्न करती है, इसलिए आत्मा की पर्याय में प्रथमत्व और अप्रथमत्व-ऐसा स्वरूपभेद है।

सिद्धत्व में यह भेद तात्त्विक है, औपचारिक नहीं। पर्यायास्तिकनय से देखा जाए, तो आत्मा शुद्ध है। उस समय उसमें जो सिद्धत्व प्रकट हुआ है, वह प्रथम समय का है। उसके बाद द्वितीय समय उसी आत्मा की शुद्ध पर्याय में रहा हुआ सिद्धत्त्व, वह द्वितीय समय का, अर्थात् अप्रथम समय का सिद्धत्त्व है, इसलिए सिद्धत्त्व के ये भेद तात्त्विक ही हैं।

(७६४) ये तु दिक्पटदेशीयाः शुद्धद्रव्यतयाऽत्मनः।
शुद्धस्वभावकर्तृत्वं जगुस्तेऽपूर्वबुद्धयः।।८७।।

<u>अनुवाद -</u> परंतु दिगम्बर का एक वर्ग इस प्रकार कहता है कि 'आत्मा शुद्ध द्रव्यस्वरूप में शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता हैं', यह उनकी अपूर्व बुद्धि का परिणाम है।

<u>विशेषार्थ -</u> दिक् अर्थात् दिशा, पट अर्थात् वस्त्र। दिक्पट, अर्थात् मात्र दिशाओं को अपना वस्त्र मानकर नग्न-अवस्था में रहने वाले मुनि। दिगम्बरों में भी अलग-अलग नय की अपेक्षा से अलग-अलग मतों का प्रवर्त्तन है। उनमें से एक वर्ग इस प्रकार मानता है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के आधार पर आत्मा शुद्ध द्रव्यस्वरूप शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता है। वह अपने शुद्ध

स्वभाव को उत्पन्न करती है। ग्रंथकार का कहना है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आधार पर शुद्ध आत्मा को शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता नहीं कह सकते हैं। इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए ये एवंभूतनय का आश्रय लेते हों, तो यह उचित नहीं है। यह उनकी कदाग्रही बुद्धि का परिणाम है। द्रव्य अगर स्थिर हो, तो कर्त्ता नहीं हो सकते हैं, क्योंकि पर्याय ही पर्याय को उत्पन्न करती है, अर्थात् पर्याय, पर्याय की कर्त्ता है। पर्याय द्रव्य की कर्त्ता नहीं हो सकती है।

(७६५) द्रव्यास्तिकस्य प्रकृतिः शुद्धा संग्रह गोचरा।
येनोक्ता संमतौ श्रीमत्सिद्धसेन दिवाकरैः।।८८।।

<u>अनुवाद -</u> क्योंकि श्रीमद् सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मति तर्क' में द्रव्यार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति संग्रहनय के विषय में आ जाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा शुद्ध स्वभाव की कर्त्ता है- इस मत की आलोचना करते हुए ग्रंथकार समर्थन के रूप में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के वचन को प्रस्तुत करते हैं। श्रीमद् सिद्धसेन दिवाकर ने 'सन्मति तर्क' नामक अपने ग्रंथ में कहा है -

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो।।

द्रव्यास्तिकनय की शुद्ध प्रकृति, वह संग्रहनय की प्ररूपणा का विषय है तथा वस्तु के अनुसार शब्द के अर्थ का निश्चय करना-यह तो संग्रहनय का व्यवहार है।

द्रव्यार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति, वह संग्रहनय है और संग्रहनय के आधार पर आत्मा शुद्ध स्वभाव वाला, त्रैकालिक ध्रुव है। वह हमेशा शुद्ध स्वभाव में ही रहती है, उसके स्वरूप में कभी भी परिवर्तन नहीं होता है, इसलिए शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के आधार पर आत्मा अपने स्वरूप की कर्त्ता नहीं है।

(७६६) तन्मते च न कर्तृत्वं भावानां सर्वदान्वयात्।
कूटस्थः केवलं तिष्ठत्यात्मा साक्षित्व माश्रितः।।८६।।

अनुवाद - उस (नय) के आधार पर भावों का सदा अन्वय होने से (आत्मा का) कर्तृत्त्व नहीं, साक्षीत्व का आश्रय करने वाली आत्मा केवल कूटस्थ रही हुई है।

विशेषार्थ - संग्रहनय के आधार पर भाव हमेशा अन्वित रहते हैं, जुड़े हुए रहते हैं, अर्थात् भावों का सातत्य रहता है, इसलिए आत्मा का शुद्ध स्वभाव सतत निरंतर उसी प्रकार रहता है। आत्मा का ऐसा स्वभाव या स्वरूप होने के कारण फिर उसमें स्वभाव का कर्तृत्त्व संभव नहीं हो सकता है। संग्रहनय कहता है कि आत्मा का कर्तृत्त्व नहीं, परंतु साक्षीत्व होता है और साक्षी भाव का आश्रय करने वाली आत्मा केवल कूटस्थ नित्य रहती है। कूटस्थनित्य, अर्थात् शाश्वत, जो कभी उत्पन्न नहीं हुई, जिसका कभी अंत होने वाला नहीं है और जो हमेशा स्थिर स्वभाव वाली होती है, जो कभी अपने स्वरूप का परिवर्तन नहीं करती है। अगर आत्मा ऐसी कूटस्थ हो, तो फिर वह स्वभाव की कर्त्ता है या अपने स्वभाव को उत्पन्न करती है- ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? कदापि नहीं कह सकते हैं।

(७६७) कर्तुं व्याप्रियते नायमुदासीन इव स्थितः।
आकाशमिव पंकेन लिप्यते न च कर्मणा।।६०।।

अनुवाद - उदासीन की तरह रही हुई यह (आत्मा) कुछ भी करने के लिए प्रवृत्त नहीं होती है, जैसे आकाश कीचड़ से, वैसे ही वह (आत्मा) कर्म से लिप्त नहीं होती है।

विशेषार्थ - शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहता है कि आत्म सदा उदासीन है। वह कोई भी प्रवृत्ति नहीं करती है। उसका कुछ करने का प्रयोजन भी नहीं होता है, इसलिए इस प्रकार की स्थिति में आत्मा कर्म से किस प्रकार बंध सकती है। उदाहरण के तौर पर, आकाश कुछ भी प्रवृत्ति नहीं करता है, तो वह कीचड़ से लिप्त किस प्रकार हो ? जो मनुष्य घर के बाहर ही कदम नहीं रखता हो, उसके पैर कीचड़ वाले किस प्रकार हो सकते हैं ? उसी प्रकार, आत्मा कूटस्थनित्य है, कुछ करती नहीं है, इसलिए वह कर्म से लिप्त

नहीं होती है। यह कहावत है कि जो चलता है, वही गिरता है, जो चले ही नहीं, वह गिरे भी कैसे ? उसी प्रकार, आत्मा कुछ प्रवृत्ति करती नहीं है, अतः वह कर्म से लिप्त भी नहीं होती है।

(७६८) स्वरूपं तु न कर्त्तव्यं ज्ञातव्यं केवलं स्वतः।
दीपेन दीप्यते ज्योतिर्न त्वपूर्वं विधीयते।।६१।।

<u>अनुवाद -</u> (आत्म का) स्वरूप कर्त्तव्य नहीं है, केवल स्व को जानने का ही है। दीप से ज्योति प्रकाशमान् होती है, परंतु कुछ नवीन नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है, उसका ज्ञायक स्वभाव है, उसका कार्य मात्र जानने का ही है। आत्मा अपने स्वरूप का कर्त्ता नहीं है, इसलिए वह अपने स्वरूप को उत्पन्न करती है - इस प्रकार नहीं कह सकते हैं। स्वरूप तो स्वयमेव है ही। जैसे दीपक ज्योतिस्वरूप प्रकाशमान् होता है, उसमें कुछ नया, अपूर्व (जैसा पूर्व में कभी हुआ नहीं) करने का नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा को स्व के स्वभाव में कुछ भी करने का नहीं होता है, उसका स्वरूप त्रिकालवर्ती है, उसका स्वरूप तीनों कालों में एक जैसा ध्रुव ही है।

(७६९) अन्यथा प्रागनात्मा स्यात् स्वरूपाननुवृत्तितः।
न च हेतु सहस्रेणाप्यात्मता स्यादनात्मनः।।६२।।

<u>अनुवाद -</u> अन्यथा स्वरूप के सातत्य (अनुवृत्ति) के अभाव के कारण आत्मा पूर्व समय में अनात्मा (जड़) हो जाएगी और उस अनात्मा की आत्मा हजारों हेतु से भी नहीं होगी।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक के समर्थन में ही यहाँ कहा गया है कि आत्मा अनादि-अनंत है, आत्मा त्रिकालवर्ती है, त्रिकालध्रुव है। उसके चेतन प्रवाह में सातत्य है। अगर यह माना जाए कि आत्मा अपने स्वरूप का कर्त्ता है, तो फिर इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा मुक्त हुई, उसके पहले उसके स्वरूप की अनुवृत्ति स्वरूप का सातत्य नहीं था। आत्मा अगर चेतन के रूप में उत्पन्न हुई हो, तो उसके पहले वह जड़ अनात्मा होना चाहिए, परंतु जड़ वस्तु हजारों प्रयत्न करने पर भी चेतन नहीं बन सकती है। अनात्मा

का कभी भी आत्मत्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए इस अर्थ में आत्मा अपने स्वरूप की कर्त्ता है- इस प्रकार नहीं कह सकते हैं।

(७७०) नये तेनेह नो कर्ता किन्त्वात्मा शुद्धभावभृत्।
उपचारात्तु लोकेषु तत्कर्तत्वमपीष्यताम्।।६३।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए इस नय (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय) के आधार पर तो आत्मा कर्त्ता नहीं, परंतु शुद्ध भाव को धारण करने वाली है। लोगों में उपचार से (व्यवहारनय से) चाहे उसका (आत्मा का) कर्त्तृत्त्व माना जाता हो।

<u>विशेषार्थ -</u> शुद्ध द्रव्यार्थिकनय आत्मा के शुद्धस्वरूप को मानता है। यह नय पर्याय को नहीं स्वीकारता है, इसलिए इस नय के आधार पर आत्मा अपने शुद्ध भाव की कर्त्ता है- इस प्रकार नहीं मान सकते हैं। आत्मा हमेशा शुद्ध भाव को धारण करने वाला ही है। व्यवहारनय से आत्मा का कर्त्तृत्व माना जाता है। संसार में अनेक वस्तुएँ बनती हुई दिखाई देती है, जैसे रसोइया रोटी बनाता है, तो रसोइए को रोटी का कर्त्ता कहा जाता है, कुम्हार घड़े बनाता है तो कुम्हार को घड़े का कर्त्ता कहा जाता है, परंतु वास्तव में तो रसोइया रोटी का कर्त्ता और कुम्हार घट का कर्त्ता नहीं है। गेहूँ, मक्का आदि का आटा रोटी के रूप में परिणमित होता है अर्थात् आटे से रोटी का निर्माण होता है। अगर रसोइया ही रोटी का कर्त्ता होता, तो वह गेहूँ के आटे की तरह रेत से भी रोटी बना सकता, परंतु ऐसा नहीं होता है, इसलिए रसोइया रोटी बनाने वाला नहीं है। उसी प्रकार, मिट्टी भी स्वयं घट में परिणमित होती है, किन्तु कुम्हार के सान्निध्य के कारण कुम्हार का कर्त्तृत्त्व उपचार से माना जाता है, अतः न रसोइया रोटी का कर्त्ता है और न कुम्हार घट का कर्त्ता है, लोक-उपचार में उन्हें कर्त्ता माना जाता है- इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय कहता है।

(७७१) उत्पत्तिमात्मधर्माणां विशेषग्राहिणो जगुः।
अव्यक्तिरावृतेस्तेषां नाभावादिति का प्रमा।।६४।।

<u>अनुवाद -</u> विशेष का ग्रहण करने वाले नय (पर्यायार्थिकनय) आत्मा के गुणों की उत्पत्ति कहता है, क्योंकि आवरण के कारण वे (गुण) अव्यक्त हैं,

परंतु अभाव (अनुपस्थिति) के कारण अव्यक्त नहीं हैं, तो इस प्रकार कहने का प्रमाण क्या है ?

विशेषार्थ - विशेष, अर्थात् पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिकनय मानता है कि प्रत्येक क्षण पर्याय की उत्पत्ति होती है। पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय को उत्पन्न करती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर पर्याय की परंपरा चलती है। इस पर्याय-परंपरा में पूर्व-पर्याय उत्तर-पर्याय की कर्त्ता है अर्थात् पूर्व के आत्मधर्म उत्तर के आत्मधर्मों को उत्पन्न करते है। इस प्रकार इसका सातत्य चलता रहता है। इसमें आवरण के कारण विद्यमान ही नहीं है, आवरण के कारण वे प्रकट नहीं होते हैं, अतः आत्मधर्म का अनुभव नहीं होता है, वह व्यक्त नहीं है। इस आधार पर उनका अभाव नहीं मान सकते हैं। आत्मधर्म अभाव के कारण अव्यक्त नहीं है, बल्कि आवरण के कारण अव्यक्त है।

(७७२) सत्त्वं च परसंताने नोपयुक्तं कथंचन।
संतानिनामनित्यत्वात् संतानोऽपि न च ध्रुवः।।६५।।

अनुवाद - अन्य के संतान में (आत्मधर्मों का) अस्तित्व किसी भी प्रकार युक्त नहीं है। पुनः, संतानी का अनित्यत्व होने से संतान भी ध्रुव नहीं हो सकती है।

विशेषार्थ - द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय-दोनों के मध्य आत्मधर्मों की उत्पत्ति के विषय में मतभेद हैं, इसका निर्देश पूर्व में किया गया है। प्रस्तुत श्लोक में इसे अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

पर्यायार्थिकनय पर्याय की उत्पत्ति और उसी के आधार पर आत्मधर्मों की उत्पत्ति को मानता है, किंतु द्रव्यार्थिकनय की मान्यता है कि आत्मधर्मों की उत्पत्ति नहीं होती है। आत्मधर्म तो शाश्वत् हैं, वे तो वहाँ विद्यमान हैं, किंतु आवरण के कारण अभिव्यक्त नहीं हैं, प्रकट नहीं हैं, जैसे- किसी मोटे पर्दे के पीछे रखी हुई वस्तुएँ दिखाई नहीं देती हैं, अदृश्य होती हैं, लेकिन पर्दे को जैसे ही हटाते हैं, पीछे रखी हुई वस्तुएँ प्रकट हो जाती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं की उत्पत्ति नवीन हुई या पूर्व में पर्दे के पीछे वस्तुओं का अभाव नहीं था, मात्र पर्दे के कारण उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता था, उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती थी। वैसे ही,

आत्मधर्म तो विद्यमान ही है। पर्यायार्थिकनय प्रश्न उठाता है कि आत्मधर्म विद्यमान होने का प्रमाण क्या है ? अगर पर्याय न हो, तो क्या आत्मधर्मों की उत्पत्ति होती है ?

प्रस्तुत श्लोक में 'संतान' और 'संतानी' पारिभाषिक-शब्द का प्रयोग किया गया है। संतान, अर्थात् सातत्य। एक में से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की उत्पत्ति होती है - इस प्रकार चलती हुई परंपरा को संतान कहते हैं। संतानी, अर्थात् संतान को उत्पन्न करने वाला। संतान को अगर पुत्र माना जाए, तो संतानी पिता हुआ।

पर्यायार्थिकनय आत्मधर्मों की उत्पत्ति स्वीकारता है। प्रत्येक समय वर्तमान पर्याय (संतानी) उत्तरपर्याय (संतान) को उत्पन्न करती है। इस प्रकार पर्याय की परंपरा निरंतर चलती रहती है। नवीन उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है, वह भी बाद में पूर्वपर्याय बनकर नष्ट हो जाती है, इसलिए संतानी यदि नित्य नहीं हो, नाशवान् हो, तो संतान किस प्रकार ध्रुव हो सकती है ?

पुनः, अशुद्ध-अमुक्त संसारी-आत्मा और शुद्ध-मुक्त सिद्ध-आत्मा - ये दोनों भिन्न हैं। अशुद्ध-अमुक्त संसारी-आत्मा की संतति अन्य में, अर्थात् शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सिद्ध आत्मा में नहीं हो सकती है, एक की पर्याय दूसरे की पर्याय नहीं बन सकती है, इसलिए भी संतान ध्रुव नहीं है आत्मा के ज्ञानादि गुणों की पर्याय में अगर इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया सतत चलती रहती हो, तो वह पर्याय नित्य नहीं है, इसलिए आत्मा में नित्यत्व सिद्ध नहीं होता है।

(७७३) व्योमाप्युत्पत्तिमत्तत्तदवगाहात्मना ततः।
नित्यता नात्मधर्माणां तद्दृष्टान्तबलादपि।।६६।।

<u>अनुवाद -</u> आकाश द्रव्य भी अवगाहनास्वरूप उत्पत्ति मय है। इस दृष्टान्त के बल से भी आत्मधर्मों की नित्यता नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने यहाँ आकाश की अनित्यता का दृष्टान्त देकर एक अपेक्षा से आत्मधर्मों की अनित्यता को सिद्ध किया है। पर्यायार्थिक या विशेषग्राही नय आत्मधर्मों को उत्पत्तिमय मानता है। अगर आत्मधर्म

उत्पत्तिमय हो, तो इसका पुष्ट करने के लिए आकाश का दृष्टान्त दिया गया है। आकाशद्रव्य एक है, अखण्ड है, परंतु उसका अवगाहनारूपी धर्म, अर्थात् स्थान प्रदान करने का धर्म उत्पत्तिमय है। आकाश का कार्य अन्य द्रव्यों को अवगाहना देने का है। अन्य द्रव्य उसी स्वरूप में एक स्थल पर त्रिकाल नहीं रहते हैं, इसलिए आकाश द्वारा दी गई अवगाहना प्रत्येक क्षण परिवर्तित होती है, जैसे- किसी स्थान पर घट रखा है, वहाँ घटाकाश है, यदि घट को हटाकर उस स्थान पर पट रख दिया जाए, तो घटाकाश का नाश हो जाता है तथा पटाकाश की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार, वस्तुओं के आधार पर आकाश की उत्पत्ति होती है। वस्तुएँ भी प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही हैं। कई नए पुद्गल-परमाणुओं का संयोग होता रहता है और कई पुराने परमाणु वस्तु से अलग हो जाते हैं। वस्तु में हुए इन परिवर्तनों के आधार पर आकाश में भी परिवर्तन होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश का अवगाहना देने का धर्म परिवर्तनशील है, उत्पत्तिमय है, अतः आकाशद्रव्य के धर्मों की तरह आत्मद्रव्य के धर्म भी अनित्य हैं, नित्य नहीं हैं।

(७७४) ऋतुसूत्रनयस्तत्र कर्तृतां तस्य मन्यते।
स्वयं परिणमत्यात्मा यं यं भावं यदा यदा।।९७।।

<u>अनुवाद -</u> जिन-जिन भावों में आत्मा स्वयं जब-जब परिणमित होती है, तब-तब ऋजुसूत्रनय आत्मा को इसका कर्त्ता मानता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में आत्मा के कर्त्तृत्त्व के विषय में ऋजुसूत्रनय का दृष्टिकोण दर्शाया गया है।

ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान का ही विचार करता है। वह वर्तमान पर्याय को ही स्वीकारता है। भूत तथा भविष्य की पर्याय को नहीं स्वीकारता है। इस नय के अनुसार जिस समय आत्मा स्वयं जिस भावरूप में परिणमित होती है, उस समय आत्मा उस भाव की कर्त्ता समझी जाती है। शब्द आदि तीनों नय आत्मा को केवल शुद्ध भाव की कर्त्ता के रूप में मानते हैं, परंतु ऋजुसूत्र नय कहता है कि जिस क्षण में आत्मा शुद्ध भावरूप में परिणमित होती है, उस क्षण वह शुद्ध भावों की कर्ता है और जिस क्षण अशुद्धभावरूप में परिणमित होती है, उस क्षण वह अशुद्ध भाव की कर्त्ता है, जैसे- जिस समय व्यक्ति किसी को पढ़ा रहा है, उस समय

वह अध्यापक है, जिस समय वह गा रहा है ,उस समय वह गायक है। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय आत्मा के शुद्ध तथा अशुद्ध-दोनों प्रकार के भावों को स्वीकारता है। जिस समय आत्मा जैसे भाव में परिणमित होती है, उस समय वह उसी की कर्त्ता होती है, चाहे वे भाव शुद्ध हों या अशुद्ध भाव हो।

(७७५) कर्तृत्वं परभावानामसौ नाभ्युपगच्छति।
क्रियाद्वयं हि नैकस्य द्रव्यस्याभिमतं जिनैः।।६८।।

<u>अनुवाद -</u> यह (नय) परभावों का कर्त्तृत्त्व स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि एक द्रव्य की दो क्रिया जिनेश्वरों ने नहीं स्वीकारी है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व में ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से आत्मा का कर्त्तृत्त्वभाव बताया गया है। प्रस्तुत श्लोक में इसी नय की अपेक्षा से परभावों का कर्त्तृत्त्व बताया गया है। ऋजुसूत्रनय स्वयं में परिणमित शुद्ध या अशुद्ध भावों का कर्त्तृत्त्व आत्मा में स्वीकारता है, किन्तु वह आत्मा से भिन्न ऐसे बाह्य पौद्‍गलिक-भावों का कर्त्तृत्व नहीं स्वीकारता है, क्योंकि इस ऐसा करने से आत्मा की स्वयं की और अजीव द्रव्य की इस प्रकार दो द्रव्य की क्रिया एक साथ स्वीकार करना पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि आत्मा के स्वयं के भावों का कर्त्तृत्त्व और बाह्य देहादि की क्रियाओं का कर्त्तृत्व - इस प्रकार जड़ व चेतन दो द्रव्यों के कर्त्तृत्व को स्वीकारने की आपत्ति आएगी, परंतु जिनेश्वर भगवान् ने कहा है कि कोई भी एक द्रव्य दो द्रव्य की क्रिया नहीं कर सकता है, इसलिए आत्मा देह आदि की या अन्य घट-पट आदि पुद्‍गल-द्रव्य की क्रिया की कर्त्ता नहीं है- इस प्रकार ऋजुसूत्रनय की मान्यता है।

(७७६) भूतिर्या हि क्रिया सैव स्यादेकद्रव्यसन्ततौ।
न साजात्यं विना च स्यात् परद्रव्यगुणेषु सा।।६९।।

<u>अनुवाद -</u> एक द्रव्य की संतति में जो जनकत्व (उत्पत्ति) है, वही क्रिया है। वह (क्रिया) परद्रव्य के गुणों में सजात्य (समान जातित्व) बिना नहीं हो सकती है।

<u>विशेषार्थ -</u> ऋजुसूत्र की मान्यता को पुनः यहाँ स्पष्ट किया गया है। यह नय पर्यायार्थिक-नय है, अर्थात् वह आत्मा की पर्यायों की धारा को स्वीकार करता है। उसका कहना हैं कि जीवद्रव्य और पुद्‍गलद्रव्य-दोनों

भिन्न-भिन्न है और प्रत्येक की धारा पृथक्-पृथक् है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की धारा के साथ में तादात्म्यभाव नहीं रख सकता है। जीव जब कर्म बांधता है, तब कर्म पुद्गल-आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ (रूपक-प्रदेश के सिवाय) क्षीर-नीर के समान एक हो जाते हैं, परंतु फिर भी उनके साथ एकरूपता नहीं होती है, जड़ चेतन नहीं हो जाता या चेतन जड़ नहीं हो जाता है, क्योंकि दोनों की क्रिया भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य की स्वयं के भावों की संतति होती है। अर्थात् सातत्य या धारा होती है। अपने उन भावों के साथ उस द्रव्य का तादात्म्य होता है। द्रव्य में जो जनकत्व या पर्यायों की उत्पत्ति है, वही उसकी क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य में नए-नए भाव या पर्याय-रूप जो संतति होती है, उसमें स्वद्रव्यत्व होता है, अर्थात् सजातीयता होती है। आत्मा का साजात्य पुद्गल में नहीं हो सकता है, अर्थात् परद्रव्य के पर्यायों का कर्तृत्व आत्मा का नहीं हो सकता है।

(७७७) नन्वेवमन्यभावानां न चेत्कर्ता परो जनः।
तदा हिंसादयादान हरणाद्यव्यवस्थितिः।।१००।।

<u>अनुवाद -</u> वास्तव में अगर इस प्रकार अन्य भावों का कर्त्ता अन्य कोई न हो तो हिंसा, दया, दान, चोरी आदि की अव्यवस्था होगी।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय के आधार पर आत्मा मात्र स्वभाव की ही कर्त्ता है। आत्मा अपने से भिन्न ऐसे अन्य पदार्थों के भावों की कर्त्ता नहीं है, परंतु व्यवहारनय कहता है कि यदि आत्मा को पौद्गलिक-भावों की प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रिया की कर्त्ता नहीं माना जाए, तो लोक में अव्यवस्था हो जाएगी, क्योंकि संसार में देहधारी जीवों द्वारा ही सभी क्रियाएँ सम्पन्न होती है, जैसे- कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है, किसी के यहाँ चोरी करता है, डाका डालता है और अनेक प्रकार के दुष्कृत्य करता है; दूसरी ओर, कोई जीव दया करता है, किसी को मृत्यु के मुख से बचा लेता है, अहिंसा का पालन करता है, गरीबों को औषधि, वस्त्र, भोजन आदि का दान देता है। इस प्रकार संसार में प्रतिदिन शुभ व अशुभ घटनाएँ घटती रहती हैं। यदि इन घटनाओं का कर्त्ता आत्मा को नहीं माना जाए, तो व्यक्ति बुरा कार्य करके भी मुकर जाएगा। वह अपना बचाव करते हुए कहेगा कि उसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि उसकी आत्मा परभावों की या

परद्रव्य की क्रिया की कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार तो समाज में कोई व्यवस्था ही नहीं रह पाएगी। दाता, दयालु, चोर, डाकू, न्यायाधीश आदि की व्यवस्था नहीं रहेगी। समाज में अराजकता फैल जाएगी। फिर तो यह भी नहीं कह सकते हैं कि मनुष्य को शुभ कर्म के फलस्वरूप सुगति और अशुभ कर्मों के फलस्वरूप कुगति प्राप्त होती है।

(७७८) सत्यं पराश्रयं न स्यात् फलं कस्यापि यद्यपि।
तथापि स्वगतं कर्म स्वफलं नातिवर्तते।।१०१।।

<u>अनुवाद -</u> यह सत्य है कि पर के आश्रय वाला फल किसी को नहीं होता है, फिर भी स्वयं में रहे हुए कर्म स्वयं के फल का उल्लंघन नहीं करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय ने आत्मा को परभावों की कर्त्ता नहीं स्वीकारने पर जो समस्या बताई, उसे स्वीकारते हुए निश्चयनय कहता है कि यह बात सत्य है कि आत्मा को अगर अन्य भावों की कर्त्ता नहीं स्वीकारें, तो हिंसा आदि दुष्कृत्य तथा दानादि सुकृत्य घटित नहीं होंगे। हिंसादि के फल की प्राप्ति हिंसक को नहीं होगी, उसी प्रकार दानादि सुकृत्य के फल की प्राप्ति भी दानी को नहीं होगी, परंतु सूक्ष्म रूप से अगर चिंतन किया जाए, तो हिंसक को हिंसा के फल की प्राप्ति होगी ही, जब कोई व्यक्ति किसी जीव की हिंसा करता है, तब हिंसा करने के पूर्व ही उसकी आत्मा में कलुषित परिणाम होते हैं। जिसकी हिंसा की है या करना है, उस व्यक्ति के निमित्त से उसकी स्वयं की आत्मा में हिंसक भाव की कुछ क्रिया होती है और इस परिणाम से कर्मबंध होते है। वे कर्म हिंसक को फल अवश्य प्रदान करते हैं और फल का अतिक्रमण नहीं होता है, इसलिए व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि इस मनुष्य ने अमुक जीव की हिंसा की, जिसका फ़ल उसे मिला है, परंतु निश्चय से इस प्रकार कह सकते हैं कि हिंसा से इसकी आत्मा में जो अशुभ परिणति होती है उस अशुभ परिणति का फल उसे प्राप्त होता है। उसी प्रकार, शुभ परिणति का फल भी प्राप्त होता है।

(७७९) हिनस्ति न परं कोऽपि निश्चयान्न च रक्षति।
तदायुः कर्मणो नाशे मृतिर्जीवनमन्यथा।।१०२।।

<u>अनुवाद -</u> निश्चय से कोई दूसरे को मारता नहीं है और रक्षा भी नहीं करता है। उसके आयुष्यकर्म के नाश होने पर मृत्यु है, अन्यथा जीवन है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय का कथन है कि हिंसक व्यक्ति दूसरे कोई जीव की हिंसा करता है, तो वह जीव मृत्यु को प्राप्त होता है और हिंसक को इसका दोष लगता है, हिंसक को अपने दुष्कृत्य का फल भोगना पड़ता है, परंतु निश्चयनय का कथन है कि कोई किसी की हिंसा नहीं कर सकता है और कोई किसी का रक्षण भी नहीं कर सकता है। उस जीव का स्वयं का आयुष्यकर्म पूरा होता है, तो ही उसकी मृत्यु होती है, हिंसक तो मात्र निमित्त है। अगर उसका आयुष्यकर्म प्रबल हो, तो किसी की सामर्थ्य नहीं कि उसे मार सके।

आयुष्यकर्म दो प्रकार का होता है, एक-सोपक्रम और दूसरा निरूपक्रम। हिंसक सोपक्रम आयुष्यवाले की हिंसा में निमित्त बन सकता है। निरूपक्रम आयुष्यवाले की हिंसा नहीं हो सकती है। उपपात जन्मवाले चरमशरीरी, उत्तम पुरुष तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों की आयु निरूपक्रम, अर्थात् अनपवर्तनीय होती है। इनकी कोई हत्या नहीं कर सकता है, न ही इनकी आकस्मिक मृत्यु होती है।

(७८०) हिंसादयाविकल्पाभ्यां स्वगताभ्यां तु केवलम्।
फलं विचित्रमाप्नोति परापेक्षां विना पुमान्।।१०३।।

<u>अनुवाद -</u> केवल अपने में रहे हुए हिंसा और दया के परिणामों (विकल्पों) से पुरुष, अन्य की अपेक्षा बिना ही विचित्र फल को प्राप्त करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि जीव को स्वयं अपने ही परिणामों का फल प्राप्त होता है, उसमें दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा नहीं होती है। कभी मनुष्य में दूसरों की हिंसा करने के, अथवा दुःखी या दीनहीन व्यक्ति को देखकर उसका दुःख दूर करने के भाव उत्पन्न होते है। ऐसे हिंसा, दया आदि के विकल्पों का मनुष्य में स्वयं में ही जन्म होता है और उससे ही उसे फल की प्राप्ति होती है। स्वयं में उत्पन्न हुए अच्छे-बुरे

भाव ही फल के रूप में परिणमित होते हैं। इसमें अन्य व्यक्तियों, जिनकी हिंसा करना है, उनकी अपेक्षा नहीं रहती है। किसी को मारने के भाव उत्पन्न हुए, तो वह व्यक्ति उसकी हत्या चाहे नहीं भी कर सके तो भी परिणाम के आधार पर उसे फल की प्राप्ति तो होगी ही। वैसे ही किसी जीव को बचाने के दया के परिणाम उत्पन्न हुए, तो वह जीव चाहे नहीं भी बच पाए, तो भी जीव को उसके शुभ फल की प्राप्ति होगी। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति जो भी विचार करे, उसके अनुरूप वह आचरण करे ही। किसी व्यक्ति को भिखारी को देखकर करुणा के भाव उत्पन्न हुए। वह उसके लिए भोज्य-पदार्थ आदि लेने अन्दर जाता है। जब तक वह भोजन लेकर आता है, तब तक भिखारी चला जाता है। भिखारी को वह भोजन नहीं दे पाया, किन्तु भोजन देने के भाव उसमें उत्पन्न हुए, अतः ये शुभ भाव ही फल में परिणमित हो जाते हैं। इसमें दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा नहीं रहती है। दूसरा व्यक्ति उपस्थित हो या न हो, उसे शुभ या अशुभ विकल्पों के आधार पर फल की प्राप्ति हो जाती है। व्यक्ति में उत्पन्न हुए विविध भाव ही फल में परिणमित होते हैं, इसमें अन्य व्यक्ति की अपेक्षा नहीं रहती है।

(७८१) शरीरी म्रियतां मा वा ध्रुवं हिंसा प्रमादिनः।
दयैव यतमानस्य वधेऽपि प्राणिनां क्वचित्।।१०४।।

<u>अनुवाद -</u> जीव मरे या नहीं मरे, प्रमादी को अवश्य हिंसा का दोष लगता है। अप्रमत्त (यतना करने वाले) से कदाचित् प्राणी का वध हो भी जाए, तो भी उसमें दया ही है।

<u>विशेषार्थ -</u> सारा संसार राग-द्वेषमय भावों पर टिका हुआ है, इसलिए कहा गया है कि 'भावना भयनाशिनी, भावना भववर्धिनी', भावना ही भव का नाश करती है और भावना ही भव को बढ़ाती है। हिंसा और दया के विषय में जैनदर्शन में अत्यंत सूक्ष्मता से विचार किया गया है। कई बार मन में हिंसा के भाव होते हैं, फिर भी जीव बच जाता है। कई बार जीव को मारने के भाव नहीं होते हैं, परंतु उसे बचाने के, उसका रक्षण करने के भी भाव नहीं होते हैं। कई व्यक्ति पूर्णतः सावधानी से जीव-रक्षा का ध्यान रखते हुए यतनापूर्वक कार्य करते हैं। इस प्रकार जीव के भिन्न-भिन्न

परिणाम होते हैं और उनके परिणामों के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है कि किसे हिंसा का दोष लगता है, किसे नहीं। प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि किसी व्यक्ति के मन में जीव को मारने के भाव नहीं हैं, परंतु उसके मन में लापरवाही है, प्रमादयुक्त आचरण है, तो जीव चाहे न भी मरे, तो भी हिंसा का दोष लगता है। इसके विपरीत, व्यक्ति अप्रमत्त है, जीवरक्षण के भाव हैं, फिर भी किसी जीव की हिंसा हो जाए, तो वह हिंसक नहीं कहलाता है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि प्रमादपूर्वक असावधानी से राग-द्वेषयुक्त होकर जो प्राणों का व्यपरोपण (घात) होता है, वह हिंसा है। जिसमें प्रमत्तयोग नहीं है, वह प्राणवध हिंसा की सदोष कोटि में नहीं आता है। वह केवल द्रव्यहिंसा है भावहिंसा नहीं है। दशवैकालिक में इस बात को और स्पष्ट करते हुए कहा है -

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं मासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासन्तो, पावकम्मं न बंधइ।।

यतनापूर्वक सावधानी के साथ चलता हुआ, खड़ा रहता हुआ, बैठता हुआ, सोता हुआ, खाता हुआ और बोलता हुआ जीव पापकर्म का बन्ध नहीं करता है। स्पष्ट है कि इन क्रियाओं में योगों की प्रवृत्ति होने से कर्मों का आस्रव होता है, परंतु शास्त्रकार कहते हैं कि यतनापूर्वक की जाने के कारण इन क्रियाओं से कर्मबन्ध नहीं होता है, अर्थात् यतनापूर्वक की जाने वाली क्रियाओं से प्राणवध हो जाने पर भी वह हिंसा की सदोष कोटि में नहीं आता है। क्योंकि वहाँ प्रमत्तयोग नहीं है और जीवरक्षणरूप दया के भाव हैं। कोई साधु ईर्यासमिति का पालन करते हुए अप्रमत्तभाव से चल रहा हैं। जीव-रक्षण का उसके हृदय में भाव है। फिर भी कभी अचानक चींटी चलती हुई साधु के पैर में आ जाए, तो भी उसे हिंसा का दोष नहीं लगता है। उसे उसके दयाभाव के अनुरूप ही शुभ फल की प्राप्ति होती है। हिंसा-अहिंसा के विषय में जीव की स्वयं की आंतरिक परिणति कैसी है, उस पर ही फल आश्रित है, अर्थात् उसके आधार पर ही फल की प्राप्ति होती है।

(७८२) परस्य युज्यते दानं हरणं वा न कस्यचित्।
न धर्मसुखयोर्यत्ते कृतनाशदिदोषतः।।१०५।।

<u>अनुवाद -</u> अन्य किसी को किसी भी वस्तु का दान या चोरी घटित नहीं होती है। कृतनाश इत्यादि दोष के कारण से धर्म और सुख के वे (दान और चोरी) कारण नहीं हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> निश्चय नय कहता है कि आत्मा सभी पदार्थों से अलग है। वह अपने स्वयं के भावों का कर्त्ता है। इसलिए मनुष्य अन्य किसी को दान देता है या किसी के धन की चोरी कर लेता है, पराए माल को अपना बना लेता है, तो यह घटित नहीं होता है। दूसरे को दान देने से धर्म नहीं हो जाता है और दूसरे के धन पर अधिकार जमा लेने से, चोरी कर लेने से वह सुखी नहीं हो जाता है। अगर इस प्रकार हो, तो कृतनाश और अकृत आगम (नहीं किए हुए का आगमन) का दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि अपना धन दूसरे को देने से अपनी भोगप्राप्ति का नाश होता है, अर्थात् जिस धन का स्वयं को भोग करना था उसका भोग दूसरा करता है और दूसरे का धन चोरकर उसे स्वयं भोग करने से अकृत आगम का, अर्थात् दूसरे की भोग प्राप्ति का नाश करके स्वयं उसको प्राप्त करने का दोष आता है।

इस श्लोक का दूसरी प्रकार से इस प्रकार अर्थ कर सकते हैं कि मनुष्य अपने स्वयं के धर्म और सुख को प्रदान नहीं कर सकता है, उसकी चोरी नहीं कर सकता है। चूंकि हम अपने स्वयं का सुख किसी अन्य को प्रदान नहीं कर सकते तथा न ही स्वयं द्वारा किया हुआ धर्म (धर्म का फल) किसी को दे सकते हैं, क्योंकि इसमें कृतनाश का दोष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार किसी दूसरे के धर्म की या सुख की चोरी भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि इसमें अकृतआगम का दोष उत्पन्न होता है।

(७८३) भिन्नाभ्यां भक्तवित्तादिपुद्गलाभ्यां च ते कुतः।
स्वत्वापत्तिर्यतो दानं हरणं स्वत्वनाशनम्।।१०६।।

<u>अनुवाद -</u> पुनः, (आत्मा से) भिन्न ऐसे भोजन, वित्त आदि पुद्गलों द्वारा यह किस प्रकार घटित होता है ? क्योंकि दानस्वत्व आपत्तिरूप है और चोरीस्वत्व नाशरूप है।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय के अनुसार जीव पुद्गल से भिन्न है। भोजन, धन आदि पुद्गलस्वरूप हैं। वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, अथवा वे आत्मा के स्वयं के नहीं हैं। उनमें आत्मा का स्वत्व नहीं है, इसलिए आत्मा का उनके पर अधिकार नहीं है। जो आत्मा के स्वयं के नहीं हैं, उनका दान व चोरी किस प्रकार हो सकती है ? क्योंकि दान देना-यह स्वत्व की आपत्तिरूप है, अर्थात् जो वस्तु स्वयं की नहीं है, उस पर पहले स्वयं का आरोपन करना पड़ता है। उदारणार्थ, धनादि का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यह धन मेरा है और मैं इसका दान करता हूँ, इस प्रकार जो अपना नहीं है, उसे अपना स्वीकार करने की आपत्ति आती है। दूसरी ओर यह चोरी करने या दूसरे के स्वत्व के नाश रूप है, अर्थात् जिस धन का दूसरे की आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसे दूसरे का मानकर उसकी चौरी करना अर्थात् दूसरे ने अपने धन को खोया- ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार निश्चयनय से भोजन, धनादि का दान- ये आत्मा में घटित नहीं होते हैं। न कोई जीव किसी को दान कर सकता है और न कोई जीव किसी के धन की चोरी कर सकता है।

(७८४) कर्मोदयाच्च तद्दामं हरणं वा शरीरिणाम्।
पुरुषाणं प्रयासः कस्तत्रोपनमति स्वतः।।१०७।।

<u>अनुवाद -</u> पुनः, दान और चोरी जीवों के कर्मोदय से होती है। वह स्वतः परिणमित होती है तो फिर उसमें जीवों का (पुरुषों का) क्या पुरुषार्थ है ?

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय इस प्रकार कहता है कि कोई व्यक्ति दूसरे को दान देता है वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है और दान प्राप्त करने वाले को हर्ष होता है, आनंद होता है। जैसे अकालादि से ग्रस्त गरीब व्यक्ति को भोजन-धनादि का दान दिया जाता है तो उसका दुःख दूर होता है और उसे सुख की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यदि किसी का धन चौर लिया जाय या उसे नष्ट कर दिया जाय तो उसे दुःख होता है। चोरी, भ्रष्टाचार आदि भी संसार में प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है तथा चौर का स्वार्थ, लोभ, उसकी क्रूर प्रवृत्ति भी स्पष्ट नजर आती है। उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति से दूसरों को कष्ट होता है, यह भी दृष्टिगत होता है। इसलिए दान देने वाला दूसरों को

सुख पहुँचाता है उनके दुःख में सहायक होता है अतः वह पुण्य प्रवृत्ति करता है और चोरी करने वाला, पाप प्रवृत्ति करता है ऐसा कह सकते हैं।

निश्चयनय इस प्रकार कहता है कि जिस व्यक्ति को दान की प्राप्ति हुई है, वह उस व्यक्ति के उस प्रकार के कर्म के, अर्थात् लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है और दानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही व्यक्ति दान कर पाता है। यदि किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म का उदय है तो वह दाता, देय वस्तु सभी उपलब्ध होते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता है, *चोरी के प्रसंग पर भी यही बात लागू होती है*, इसलिए दान और चोरी उन-उन जीवों के कर्मोदय से होती है। वे कर्म स्वतः परिणमित होते हैं, इसमें अन्य किसी पुरुष का प्रयास नहीं है। जो पुरुष दान देता है या चोरी करता है, वह उसमें मात्र निमित्त है। उसके प्रयास से न वह दान दे सकता है और न ही चोरी कर सकता है।

इस श्लोक का अगर दूसरी प्रकार से अर्थ किया जाए, तो दान और चोरी की क्रिया स्वतः परिणमित होती है। अगर जीव के उस प्रकार के कर्म का उदय हो, तो ही दूसरे को दान देने का भाव होता है या दूसरे का धन चोरने की वृत्ति होती है। जब इस प्रकार के कर्मोदय के कारण जीव को दूसरे की सहायता करने की अनुकंपायुक्त बुद्धि होती है, तब वस्तुतः वह स्वयं के ही शुभोपयोग का दान करता है। इसी प्रकार, कर्मोदय के कारण अन्य को हानि पहुँचाने का दुष्टभाव उसे होता है, तब वह स्वयं के ही शुभोपयोग की चोरी करता है। इस प्रकार दान या चोरी में जीव का कोई प्रयास नहीं है।

(७८५) स्वगताभ्यां तु भावाभ्यां केवलं दानचौर्ययोः।
अनुग्रहोपघातौ स्तः परापेक्षा परस्य न।।१०८।।

<u>अनुवाद -</u> केवल दान और चोरी के भावों से वह (आत्मा) स्वयं के ऊपर ही अनुग्रह या उपघात करती है। इसमें पर या अन्य की अपेक्षा नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक की बात को स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि किसी व्यक्ति के मन में दूसरे को दान देने की भावना उत्पन्न होती है,

तो वह उस भावना से स्वयं के ऊपर ही उपकार करता है और अगर किसी व्यक्ति के मन में चोरी करने के भाव उत्पन्न होते हैं, तो वह उस समय स्वयं का ही उपघात करता है, अर्थात् स्वयं की आत्मा को ही हानि पहुँचाता है अन्य के अनिष्ट का चिंतन करने से उसकी हानि हो, या नहीं हो किन्तु स्वयं का नुकसान तो हो ही जाता है। अन्य का अनिष्ट या हानि तो उसके कर्म से जुड़ी हुई है। उसे अन्य कोई लाभ या हानि नहीं पहुँचा सकता है। दान की क्रिया करने के पहले ही दान करने वाले के मन में जो भाव उत्पन्न होता है, उस भाव के उत्पन्न होने के साथ ही स्वयं के ऊपर उपकार हो ही जाता है तथा दान के भाव से स्वयं की आत्मा को ही लाभ होता है। दूसरी ओर चोरी के भाव से वह स्वयं को ही नुकसान पहुँचाता है। अतः, कोई किसी पर उपकार नहीं कर सकता है तथा अपकार भी नहीं कर सकता है। स्वयं के भावों द्वारा ही स्वयं का उपकार या अपकार होता है। उपकार या अपकार में अन्य की अपेक्षा नहीं होती है।

(७८६) पराश्रितानां भावानां कर्तृत्वाद्यभिमानतः।
कर्मणा बध्यतेऽज्ञानी ज्ञानवांस्तु न लिप्यते।।१०६।।

<u>अनुवाद -</u> पराश्रित भावों के कर्तृत्त्व आदि के अभिमान से अज्ञानी कर्म द्वारा बंधता है, परंतु ज्ञानवान् लिप्त नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पर के आश्रित जो भाव होते हैं, वे पराश्रित कहलाते हैं। पुद्गल परद्रव्य है, अतः उसके आश्रय से जो भाव होते है वे पराश्रित भाव कहलाते हैं, जैसे-धन पुद्गलरूप है, परद्रव्य है। अज्ञानी व्यक्ति धन के निमित्त से अपने-आपको धनवान् मानता है। उस धन का किसी को दान देकर वह अभिमान करता है - 'मैंने दान दिया, मैं दानी हूँ।' इस प्रकार व्यवहार में अनेक प्रसंगों पर जीव परद्रव्य के निमित्त अहंकार करता है - जैसे मैं कमाता हूँ, मैं खिलाता हूँ, मैं भोगता हूँ, मैं सेवा करता हूँ, मैं दूसरे को सुख पहुँचाता हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं कलाकार हूँ, मैं हर कार्य में निपुण हूँ इत्यादि अभिमान करता है। परंतु यह अभिमान उसके अज्ञान का ही परिणाम है। इसमें कर्म का बंधन होता है। द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं है। घट पट आदि द्रव्यों को आत्मा करता है ऐसा मानना यह व्यवहारीजनों का व्यवहार या अज्ञान है। ज्ञान

होने के बाद परद्रव्य का कर्त्तृत्त्व नहीं रहता है। इसलिए ज्ञानी को कर्त्तृत्त्व का अभिमान नहीं होता है। वस्तुतः कर्त्तृत्त्व का विचार भी उनको नहीं आता है। इसलिए वे कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।

(७८७) कर्तैवमात्मा नो पुण्यपापयोरपि कर्मणोः।
रागद्वेषाशयानां तु कर्तेष्टानिष्टवस्तुषु।।११०।।

__अनुवाद -__ इस प्रकार आत्मा पुण्य-पाप रूपी कर्म का भी कर्त्ता नहीं है परंतु इष्ट-अनिष्ट वस्तु में राग और द्वेष के कारण कर्ता है।

__विशेषार्थ -__ पूर्व श्लोक में कहा गया है कि आत्मा पराश्रित भाव का कर्ता नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में अशुद्ध निश्चय नय से कहा गया है कि आत्मा पुण्य रूपी शुभ कर्म का और पाप रूपी अशुभ कर्म का कर्ता भी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ कर्म के पुद्गल परमाणु आत्मा से चिपके हुए होने पर भी आत्मा से पृथक हैं, अलग है क्योंकि कर्म पुद्गल अजीव है। वह परद्रव्य है। आत्मा उसका कुछ नहीं कर सकती है और वे पुद्गल भी आत्मा का कुछ नहीं कर सकते हैं। अनादि काल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकार सहित अवस्थाएँ हो रही है। परमार्थ या तात्त्विक दृष्टि से देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावों को नहीं छोड़ता है एवं पुद्गल जड़त्व को नहीं छोड़ता है। आठो प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म सभी पुद्गल मय है। जीव पुद्गल कर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता है क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? जीव पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गल कर्म रूप परिणमन नहीं करा सकता क्योंकि चेतन जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है ? परमार्थ से जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता है अरूपी रूपी को कैसे ग्रहण कर सकता है ? इस प्रकार पुण्य-पाप रूपी कर्म जीव के कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता भी नहीं है। परंतु आत्मा में अज्ञानता के कारण ईष्ट-अनिष्ट ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं। आत्मा इन भावों का अर्थात् राग और द्वेष का कर्ता है, पुण्य-पाप रूपी कर्म का कर्ता नहीं है।

(७८८) रज्यते द्वेष्टि वार्थेषु तत्तत्कार्यविकल्पतः।
आत्मा यदा तदा कर्म भ्रमादात्मनि युज्यते।।१११।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा उन-उन कार्यों के विकल्प से जब-जब पदार्थों में राग या द्वेष करता है, तब तक भ्रम से आत्मा में कर्म जुड़ते है अर्थात् आत्मा का कर्म से संयोग होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पुद्गल कर्म को परमार्थतः पुद्गल द्रव्य ही करता है। जीव तो पुद्गल कर्म की उत्पत्ति के अनुकूल इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष के परिणामों का कर्ता है। आत्मा में इष्ट वस्तु के निमित्त से सुख का विकल्प होता है और अनिष्ट वस्तु के निमित्त से दुःख का विकल्प होता है। इन विकल्पों के कारण आत्मा विषयवस्तु में राग या द्वेष करती है। जब-जब यह राग द्वेष होता है तब-तब उनके कारण आत्मा में कर्म का बन्ध होता है, ऐसा भ्रम होता है। वस्तुतः कर्म, पुद्गल, आत्मप्रदेशों के साथ संलग्न होने से एकरूप हो गये ऐसा भ्रम होता है परंतु आत्मा और कर्मपुद्गल भिन्न-भिन्न द्रव्य है। आत्मा कर्मभाव को प्राप्त नहीं होती है। तथा कर्म आत्मभाव को प्राप्त नहीं होते है, परंतु कर्म बंधे ऐसा भ्रम होता है। जीव और पुद्गल के निमित्त नैमित्तिक भाव देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव और पुद्गल कर्म का कर्ता और भोक्ता है। परमार्थतः जीव पुद्गल की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी जब तक भेदज्ञान नहीं हो तब तक बाह्य रूप से उनकी प्रवृत्ति एक सी दिखाई देती है।

(७८९) स्नेहाभ्यक्ततनोरंगं रेणुना श्लिष्यते यथा।
रागद्वेषानुविद्धस्य कर्मबंधस्तथा मतः।।११२।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे तेल द्वारा मालिश किए हुए शरीर के अंग पर धूल चिपक जाती है उसी प्रकार राग-द्वेष युक्त (जीव) को कर्मबंध माना गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव पौद्गलिक कर्म का कर्त्ता नहीं है इस कथन को ग्रंथकार ने एक दृष्टान्त से स्पष्ट किया है।

स्नेह शब्द के दो अर्थ होते है - राग और तेल। जिस मनुष्य के शरीर पर तेल की मालिश की गई है ऐसे स्निग्ध शरीर वाले मनुष्य के शरीर पर धूल के सूक्ष्म कण चिपक जाते हैं। मनुष्य उन रज कणों को

चिपकाने के लिए कोई पुरुषार्थ नहीं करता है परंतु तेल का स्वभाव ही ऐसा चिकना है कि उस पर धूल चिपके बिना नहीं रह सकती है। उसी प्रकार राग और द्वेष से व्याप्त जीव को कर्मपुद्गल चिपकते हैं अर्थात् उसे कर्मबंध होते हैं। जैसे धूल शरीर के साथ रहने पर भी शरीर से एकरूप नहीं बनती है उसे साबुन आदि लगाकर, जल से धोकर, साफ किया जा सकता है उसी प्रकार कर्मपुद्गल आत्मा से चिपके रहने पर भी एकरूप नहीं हो जाते है। जीव पुरुषार्थ करके उसमें मुक्त हो सकता है।

(७६०) लोहं स्वक्रिययाभ्येति भ्रामकोपलसंनिधौ।
यथा कर्म तथा चित्रं रक्तद्विष्टात्मसंनिधौ।।११३।।

<u>अनुवाद</u> - जैसे लोहा स्वयं की क्रिया द्वारा ही चुंबक पत्थर के पास आता है, उसी प्रकार विचित्र प्रकार के कर्म राग और द्वेषवश आत्मा के पास आते है।

<u>विशेषार्थ</u> - आत्मा स्वयं विशुद्ध है। वह स्वयं द्रव्यकर्म से नहीं बंधती है। परंतु उसमें राग-द्वेष की परिणति होते ही भावकर्म बंधते है। उस समय कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से चिपक जाते हैं अर्थात् द्रव्यकर्म बंधते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मा स्वयं कर्म से बंधती नहीं है, कर्म की कर्ता नहीं है, कर्म तो स्वयं ही राग द्वेष के कारण आत्मा से चिपक जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे लोहा स्वयं चुम्बक की ओर आकर्षित होता है, चुम्बक से चिपक जाता है, लोह चुम्बक लोहे की ओर नहीं जाता है उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष के परिणाम उत्पन्न होते हैं। तब कर्म की पौद्गलिक कर्मरज जो स्वयं जड़ है वे आकर्षित होकर आत्मा से चिपक जाती है। इस प्रकार द्रव्यकर्म बंधते है।

(७६१) आत्मा न व्यापृतस्तत्र रागद्वेषाशयं सृजन्।
तन्निमित्तोपनम्रेषु कर्मोपादानकर्मसु।।११४।।

<u>अनुवाद</u> - वहाँ (कर्म के विषय में) राग-द्वेष के भाव को उत्पन्न करती हुई आत्मा उसके (राग-द्वेष के) निमित्त से उत्पन्न ऐसे कर्म जिसमें उपादान है ऐसे कर्मों से व्यापार वाली नहीं होती है अर्थात् उन कर्मों को आकर्षित करने का कार्य आत्मा नहीं करती है।

<u>विशेषार्थ -</u> अशुद्ध निश्चय नय का मन्तव्य है कि आत्मा राग-द्वेष के भावों को ही उत्पन्न करती है। इसलिए आत्मा मात्र भाव कर्म को ही करता है। इन भावकर्मों के निमित्त द्रव्यकर्म आकर्षित होकर आते हैं परंतु इन कर्म पुद्गलों को आकर्षित करने का व्यापार आत्मा नहीं करती है, अर्थात् पुद्गल ही पुद्गल को आकर्षित करता है। शुद्ध आत्मा का इन कर्मपुद्गलों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा में द्रव्यकर्म जो आकर्षित होकर आते हैं उन कर्मों का उपादान भावकर्म है। भावकर्म या मन-वचन-काया के योग जब तक रहते हैं तब तक कर्मपुद्गल ग्रहण होते रहते हैं, परंतु इनको ग्रहण करने का कार्य विशुद्ध आत्मा स्वयं नहीं करती है। प्रस्तुत श्लोक में 'कर्म' शब्द दिया है उसका तात्पर्य यहाँ 'पूर्वकर्म' भी ले सकते हैं अर्थात् पूर्व कर्म ही नवीन या वर्तमान कर्म का उपादान कारण है और यह परंपरा जब तक चलती रहती है तब तक आत्मा कर्म से मुक्त न हो। एक बार कर्म से मुक्त हो जाने के बाद अर्थात् सिद्ध बन जाने के बाद पुनः आत्मा से कर्म नहीं चिपकते है। क्योंकि उसमें कार्मण वर्गणा को आकर्षित करने वाले राग-द्वेषादि तत्त्व नहीं रहते हैं।

(७६२) वारि वर्षन् यथाम्भोदो धान्यवर्षी निगद्यते।
भावकर्म सृजन्नात्मा तथा पुद्गलकर्मकृत्।।११५।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे जल को वर्षाने वाले मेघ धान्य को बरसाने वाले कहलाते हैं, वैसे ही भावकर्म को उत्पन्न करती हुई आत्मा पुद्गलकर्म (द्रव्यकर्म) की कर्त्ता कहलाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा भाव कर्म की कर्त्ता है परंतु व्यवहार में लोग उसे द्रव्य कर्म की कर्त्ता भी मानते हैं। इस प्रकार का जहाँ उपचार किया जाता है वह व्यवहारनय से होता है। प्रस्तुत श्लोक में मेघ का दृष्टान्त दिया कि मेघ जल को बरसाता है अर्थात् मेघ जल का उपादान कारण है। किन्तु मेघ द्वारा प्रदत्त जल के कारण धान्य की अच्छी उत्पत्ति होती है। मेघ स्वयं धान्य की उत्पत्ति नहीं करता है उसका कार्य तो केवल जल प्रदान करना है। फिर लोगों में यह व्यवहार प्रचलित है कि मेघ से धान्य की उत्पत्ति हुई या मेघ ने धान्य बरसाया। यह वचन एक अपेक्षा से सत्य है क्योंकि मेघ के अभाव

में वर्षा नहीं होती है और वर्षा के अभाव में धान्य की उत्पत्ति नहीं होती है, अकाल की संभावना रहती है। अतः मेघ धान्य की उत्पत्ति में परम्परा से निमित्त कारण है किन्तु मेघ स्वयं धान्य में परिणत नहीं होता है या धान्य प्रदान नहीं करता है, फिर भी मेघ को व्यवहार से धान्य बरसाने वाला कहते है। उसी प्रकार आत्मा द्रव्यकर्म की कर्त्ता नहीं है, द्रव्यकर्म के कर्त्ता तो भावकर्म है किन्तु फिर भी व्यवहार से आत्मा को द्रव्यकर्म की कर्त्ता कहा जाता है। निश्चयनय से आत्मा द्रव्य कर्म की कर्त्ता नहीं है।

(७६३) नैगमव्यवहारौ तु ब्रूतः कर्मादिकर्तृताम्।
व्यापारः फलपर्यन्तः परिदृष्टो यदात्मनः।।११६।।

<u>अनुवाद -</u> परंतु नैगमनय और व्यवहारनय कर्मादि का कर्तृत्त्व (आत्मा में) स्वीकारते हैं, क्योंकि आत्मा का व्यापार फल पर्यन्त दिखाई देता है।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय कहता है कि आत्मा स्वयं के भाव का ही कर्त्ता है, द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा के भाव के निमित्त से कर्म पुद्गल स्वयं आकर्षित होकर आते हैं और उसी के अनुसार परिणमित होते हैं। उसमें आत्मा का कोई कर्तृत्त्व नहीं है। इस प्रकार निश्चयनय अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से देखता है किन्तु नैगमनय और व्यवहारनय की स्थूल तथा व्यापक दृष्टि है। उनकी मान्यता है कि आत्मा जिस प्रकार राग-द्वेषादि भावों की कर्त्ता है उसी प्रकार द्रव्यकर्म की भी कर्त्ता है। आत्मा में जिस प्रकार के भाव होते हैं उसी के अनुसार कार्मण-वर्गणा आकर्षित होकर भाव के अनुरूप कर्म में परिणत हो जाती है। यदि आत्मा में उस-उस प्रकार के परिणाम ही उत्पन्न नहीं हो तो कर्मपुद्गल परमाणु आकर्षित होकर आते भी नहीं है इसलिए आत्मा द्रव्यकर्म की भी कर्त्ता हुई।

पुनः आत्मा अपने भाव कर्म का कर्त्ता है यह सत्य है परंतु जितने समय के पश्चात् कर्म का फल मिलता है उतने समय तक आत्मा का ही व्यापार है। रागादि भाव उतने समय तक नहीं रहते है परंतु भावकर्म का फल प्राप्त होने में तो कितना ही समय निकल जाता है क्योंकि जिस समय कर्म बंधा उसी समय वह फल प्रदान करे यह आवश्यक नहीं है। कर्म कितने ही समय तक आत्मा के साथ बंधा हुआ रहता है। कभी-कभी तो कितने ही भवों के बाद उस कर्म का फल मिलता है। इस मध्य के काल में

आत्मा का जो कुछ भी व्यापार होता है तो ही पूर्व के भवों को राग-द्वेषादि के सुख दुःखादि रूप फल वर्तमान भव में प्राप्त होते हैं। यह व्यापार द्रव्यकर्म करता है। इस प्रकार व्यवहार नय कहता है कि आत्मा जो रागादि उत्पन्न करती है उसके अनुसार द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। यह द्रव्यकर्म दीर्घकाल और कभी तो अनेक भवों तक सत्ता में स्थित रहता है। उसके बाद द्रव्यकर्म द्वारा फल का विपाक प्राप्त होता है अर्थात् द्रव्यकर्म उदय में आकर फल प्रदान करते हैं। जैसे मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, अर्थात् यह कर्म इतने समय तक आत्मा के साथ रहता है। इसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है। अर्थात् मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधने पर सात हजार वर्ष के बाद में ही वह उदय में आता है और सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक वह सत्ता में रहता है। इस प्रकार रागादि की उत्पत्ति और फल के विपाक इन दोनों के मध्य के आत्मा के व्यापार की निरंतरता इसी द्रव्यकर्म द्वारा सुरक्षित रहती है। इसलिए फल पर्यन्त द्रव्यकर्म द्वारा आत्मा का व्यापार स्पष्ट दिखाई देता है। अतः आत्मा द्रव्यकर्म की कर्त्ता है, इस प्रकार सिद्ध होता है।

(७६४) अन्योऽन्यानुगतानां का तदेतदिति वा भिदा।
यावच्चरमपर्यायं यथा पानीयदुग्धयोः।।११७।।

<u>अनुवाद -</u> अथवा अन्योन्य (एक दूसरे में) मिले हुए उनमें 'वह यह है' इस प्रकार का भेद दूध और पानी की तरह अन्तिम पर्याय तक कहाँ से हो?

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चय नय कहता है कि जीव और अजीव ये दो द्रव्य कभी भी एकरूप नहीं होते हैं। वे सदा पृथक्-पृथक् ही रहते है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में कर्म पुद्गल के परमाणु विद्यमान होने पर भी वे उनसे पृथक् है। जबकि व्यवहारनय की मान्यता है कि आत्मा और कर्मपुद्गल क्षीर-नीर की तरह, लोह-अग्नि की तरह एकरूप है। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। निगोद से लेकर जीव मोक्षगति प्राप्त करता है तब तक निरन्तर साथ में ही रहते है उसके मध्य एक भी समय ऐसा नहीं होता है कि आत्मा से कर्म पृथक् हो। जब तक जीव संसार में है तब तक तो आत्मा कर्म से मुक्त नहीं हो सकती है। अन्तिम पर्याय तक अर्थात् मोक्ष मिलने तक यही स्थिति रहती है। जब तक आत्मा कर्म से रहित नहीं होती

है तब तक 'यह आत्मा है' या 'ये कर्म है' इस प्रकार भेद नहीं कर सकते हैं। अगर इस प्रकार की परिस्थिति हो तो आत्मा को द्रव्य कर्म का कर्ता कहने में क्या समस्या है ?

आत्मप्रदेशों में कर्म बंधने की और निर्जरा की अर्थात् कर्म के अलग होने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। फिर भी सम्पूर्ण रूप से कर्मयुक्त होने की स्थिति तो मुक्ति के समय ही होती है। संसारी अवस्था में तो नवीन-नवीन कर्म बंधते रहते हैं और पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते है। अतः कोई भी कर्म विशेष आत्मा के साथ अनादि नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में कर्म की 'चरम पर्याय' का तात्पर्य एक कर्म या कर्म विशेष की अपेक्षा से नहीं है। यहाँ कर्म को सामान्य अर्थ में लेना है अर्थात् आत्मा के साथ कर्म की परम्परा अनादि है क्योंकि नवीन कर्मों की उत्पत्ति और पुराने कर्मों का क्षय हो रहा है जैसे छेद वाली नाव नदी पार कर रही हो तो छेद में से पानी नाव में आता है। इधर नाव में आये हुए पानी को पुनः बाहर फेंका जा रहा है फिर भी नाव पानी से रहित नहीं होती है क्योंकि इधर पुराने जल को खाली किया जा रहा है परंतु नवीन जल पुनः छिद्र में से आ रहा है। अतः छिद्रों को बंध नहीं किया जाय तब तक नाव जल से रहित नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक कर्म के आश्रव रूपी छिद्रों को बंद नहीं किया जाए तब तक कर्म आते ही रहते है। मन-वचन और कार्या के योग से जब तक मुक्ति नहीं हो तब तक कर्म का आस्रव पूर्ण रूप से बंध नहीं होता है। संसारी अवस्था में तो योग से मुक्ति संभव नहीं है - योग से मुक्त तो जीव चौदहवें गुणस्थान में होता और योग से मुक्त होने पर जीव कर्म से मुक्त हो जाता है किन्तु उसके पूर्व आत्मा और कर्म में भेद नहीं किया जा सकता है।

(७६५) नात्मनो विकृतिं दत्ते तदेषा नयकल्पना।
शुद्धस्य रजतस्येव शुक्तिधर्म प्रकल्पना।।११८।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए इस नय (निश्चय नय) की कल्पना आत्मा के विकार को प्रदान नहीं करती है अर्थात् आत्मा में विकार नहीं देखती है, जैसे 'शुद्ध चाँदी' में 'सीप' की कल्पना नहीं होती है।

विशेषार्थ - सभी नयों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है इसलिए भिन्न-भिन्न नय आत्मा और कर्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मान्यता रखते हैं। व्यवहार नय आत्मा को कर्म का कर्ता स्वीकार करता है। पूर्व श्लोक में कहा गया है कर्मपुद्गल और आत्मप्रदेश दूध और पानी की तरह एक दूसरे में घुले-मिले हैं, परंतु निश्चयनय कहता है कि अन्य नयों की आत्मा और कर्म के विषय में चाहें कुछ भी कल्पना हो, इससे आत्मा के स्वरूप में विकृति नहीं होती है। आत्मा तो सदैव शुद्ध और निर्विकारी ही है। किसी के कहने से वह विकारी नहीं हो जाती है। प्रस्तुत श्लोक में चाँदी और सीप का उदाहरण दिया गया है चाँदनी रात में शुद्ध चाँदी का टुकड़ा और 'सीप' एक समान दिखाई देते हैं अनजान व्यक्ति भ्रमित हो जाता है। वह उस समय यदि चाँदी में सीप की कल्पना करे तो उसकी कल्पना से चाँदी सीप नहीं हो जाती है। चाँदी तो चाँदी ही रहती है। उसी प्रकार यदि कोई विशुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में विकृति की कल्पना करे तो उससे आत्मा विकृति वाली नहीं हो जाती है।

(७६६) मुषितत्वं यथा पान्यगतं पथ्युपचर्यते।
तथा पुद्गलकर्मस्या विक्रियात्मनि बालिशैः।।११६।।

अनुवाद - जैसे मुसाफिर से संबंधित हुई लूट का उपचार मार्ग पर किया जाता है उसी प्रकार पुद्गल कर्म में रही विक्रिया का अज्ञानी आत्मा में उपचार करते हैं।

विशेषार्थ - शुद्ध निश्चय नय द्वारा दूसरा दृष्टान्त देकर पुनः यह समझाया गया कि आत्मा अविकारी है, निर्मल है। प्राचीन समय में गमनागमन के उतने साधन नहीं थे। एक ग्राम से दूसरे ग्राम व्यक्ति प्रायः पैदल या घोड़े आदि पर बैठकर जाता था। कई मार्ग असुरक्षित थे, उन पर लूट आदि की घटना होती रहती थी। अतः कोई पथिक किसी मार्ग पर डाकुओं द्वारा लुटा जाता तो यह कहा जाता कि यह मार्ग लुटारु है या मार्ग लुटाया है। वस्तुतः तो मार्ग लुटारु नहीं है। लूटा तो डाकुओं ने है किन्तु उपचार मार्ग पर किया जाता है। या मार्ग लुटाया नहीं, लुटाया तो मुसाफिर है। यहाँ मुसाफिर से संबंधित लूट का उपचार मार्ग पर किया गया है। उसी प्रकार आत्मा द्रव्यकर्म नहीं करती है, परंतु अज्ञानी, बालबुद्धि के लोग जो

व्यवहार में ही रहत है, वे इस प्रकार कहते हैं कि जीव कर्म बांधता है। वस्तुतः पुद्गल कर्म की कोई भी विक्रिया आत्मा में घटित नहीं होती है, या आत्मा उसकी कर्ता नहीं है क्योंकि आत्मा विकारी नहीं है। जो विकार होता है वह कर्मपुद्गलों में होता है। सूक्ष्म दृष्टि से यह तथ्य समझ में आता है।

(७६७) कृष्णः शोणोऽपि चोपाधेर्नाशुद्ध स्फटिको यथा।
रक्तो द्विष्टस्तथैवात्मा संसर्गात्पुण्यपापयोः।।१२०।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार स्फटिक अशुद्ध नहीं, परंतु उपाधि के कारण काला अथवा लाल दिखाई देता है उसी प्रकार पुण्य और पाप के संसर्ग से आत्मा रागी या द्वेषी भासित होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> विशुद्ध आत्मा को पूर्व में भी स्फटिक की उपमा दी गई है। कर्मकृत भेद विशुद्ध आत्मा के नहीं है, परंतु ऐसा भ्रम होता है। वैसे ही यहाँ कहा गया है कि पुण्य और पाप के संसर्ग से आत्मा रागी और द्वेषी लगती है, परंतु वास्तव में यह भ्रम है, मात्र आभास है। जैसे स्फटिक स्वयं निर्मल है, विशुद्ध है परंतु कोई काली वस्तु उसके पास में रखी हो तो उसकी काली छाया स्फटिक में गिरती है, इसमें स्फटिक काला दिखाई देता है उसी प्रकार लाल वस्तु के संसर्ग से स्फटिक लाल आभासित होता है। यहाँ लाल रंग राग को सूचित करता है काला रंग द्वेष को सूचित करता है। जिस प्रकार लाल-काले रंग से स्फटिक भी लाल-काला दिखाई देता है वैसे ही शुद्ध निर्मल आत्मा भी पुण्य और पाप के संसर्ग से राग और द्वेष वाली दिखाई देती है। शुद्धनिश्चय नय से तो आत्मा विशुद्ध है वह रागी नहीं तथा द्वेषी भी नहीं है। राग और द्वेष उसका स्वभाव नहीं है, परंतु उसकी विभाव दशा है। इसलिए तात्त्विक दृष्टि से विशुद्ध आत्मस्वरूप को समझना चाहिए।

(७६८) सेयं नटकला तावद् यावद्विविधकल्पना।
यद्रूपं कल्पातीतं तत्तु पश्यत्यकल्पकः।।१२१।।

<u>अनुवाद -</u> ज़ब तक विविध प्रकार की कल्पना है तब तक नटकला है परंतु जो कल्पनातीत रूप है उसे तो कल्पनामुक्त (ज्ञानी पुरुष) ही देखते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> नट अपनी कला को प्रदर्शित करने के लिए विविध रूप धारण करता है। वह कभी राजा बन जाता है, कभी भिखारी का वेश धारण कर लेता है, कभी पुलिस का वेश धारण कर लेता है तो कभी सेठ-साहूकार बन जाता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के रूप धारण करके वह लोगों को मोहित करता है। कई नट अपनी कला में इतने निपुण होते हैं कि लोगों को उनमें सत्य का भ्रम होने लगता है। नट रोता है तो वे रोने लग जाते है। नट हँसता है तो वे हँसने लग जाते है। जिस प्रकार नट को नाटकीय विविध रूपों में लोगों को वास्तविकता का आभास होता है किन्तु वास्तव में नट, नट ही है, वह न राजा है न भिखारी, यह भ्रम ही है। उसी प्रकार इस संसार में जीव बाह्य भावों में कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व की कल्पना करता है। वह जिस प्रकार की पर्याय धारणा करता है उसी को सत्य मान लेता है। वह स्वयं को गरीब, धनवान, दुःखी या सुखी आदि मानता है। संसार के विविध रूपों को देखकर वह उसमें खो जाता है। जैसे नाटक देखने वाला नाटक को देखते समय उसे सत्य मानकर उसमें मग्न हो जाता है, उसी प्रकार बाह्य भावों में रहकर जीव सतत् संसार में मग्न रहता है। जब-जब कर्म के आधार पर जो-जो पर्याय धारण करता है तब-तब वह उसी पर्याय में पूर्णतः आसक्त हो जाता है, किंतु जब जीव की तात्त्विक दृष्टि उजागर होती है तब वह विविध प्रकार की कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है तब उसे प्रतीति होती है कि ये सब बाह्य भाव, पर्यायें क्षणिक है, मिथ्या है शाश्वत् नहीं है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही शाश्वत् है। वह स्वयं के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना से बाहर निकल जाता है। वह अब बाह्य पर्यायों में राग नहीं करता है, परंतु स्वरूप में स्थिर हो जाता है एवं कल्पनातीत अवस्था को प्राप्त करता है या कल्पनातीत दशा का दृष्टा बनता है।

(७६६) कल्पनामोहितो जन्तुः शुक्लं कृष्णं च पश्यति।
तस्यां पुनर्विलीनायमशुक्लाकृष्णमीक्षते।।१२२।।

<u>अनुवाद -</u> कल्पना से मोहित हुआ जीव शुक्ल और कृष्ण को देखता है परंतु उसका विलय होते ही अशुक्ल और अकृष्ट को देखता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक की बात को ही पुनः स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार कहते है कि संसार का जीव अपने बाह्य स्वरूप को ही वास्तविक मानकर

उसी के आधार पर अपना जीवनयापन करता है। कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व की कल्पना से मोहित हुआ जीव अपने को बाह्य दृष्टि से जैसा दिखाई देता है वैसा ही मान लेता है। मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं गौरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं छोटा हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मेरा मकान सुन्दर है, मेरी दुकान अच्छी है, मेरे आभूषण सुन्दर है इत्यादि प्रकार का व्यवहार करता है तथा उन पर्यायों में ही मग्न होकर राग तथा द्वेष करता ही रहता है। यह सब व्यवहार कल्पना से मोहित होने के कारण होता है, परंतु तत्त्वबोध होने पर मनुष्य की जब कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व की कल्पना विलीन हो जाती है तब उसे निर्मल आत्मा का स्वरूप समझ में आता है। उसे यह अनुभव होता है, फिर बाह्य पर्यायों की "मैं गौरा, मैं काला हूँ" मिथ्यादृष्टि निकल जाती है। "मैं अखंड त्रिकाली ध्रुव, सच्चिदानंदमय विशुद्ध आत्मा हूँ" ऐसी अनुभूति होती है।

(८००) तद्ध्यानं सा स्तुतिर्भक्तिः सैवोक्ता परमात्मनः।
पुण्यपापविहीनस्य सद्रूपस्यानुचिन्तनम्।।१२३।।

<u>अनुवाद -</u> पुण्यपापविहीन जो आत्मस्वरूप का चिंतन है वही परमात्मा का ध्यान, वही स्तुति और वही भक्ति है, ऐसा कहा गया है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> आत्मा का स्वरूप पुण्य और पाप विहीन है। पुण्य अर्थात् शुभ कर्म और पाप अर्थात् अशुभ कर्म। शुद्ध निश्चय नय के अनुसार विशुद्ध आत्मा शुभ-अशुभ कर्म का कर्ता नहीं है एवं शुभाशुभ कर्म की भोक्ता भी नहीं है। अशुद्ध निश्चय नय के अनुसार जब तक रागादि भाव उत्पन्न होते हैं तब तक आत्मा भावकर्म की कर्ता है परंतु ऐसे रागादि भावों से रहित जो विशुद्ध आत्मा है वही परमात्मा है। उसी परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, उसी का अनुचिंतन करना चाहिए तथा उसकी ही स्तुति करना सार्थक है। उसी का गुणगान करना तथा उसी की भक्ति करना चाहिए, इसलिए उसी वीतराग की शरण में जाकर स्वयं में रहे हुए अनभिव्यक्त परमात्मा को प्रकट करना चाहिए।

(८०१) **शरीररूप लावण्यवप्रच्छत्रध्वजादिभिः।**
वर्णितैर्वीतरागस्य वास्तवी नोपवर्णना।।१२४।।

<u>अनुवाद -</u> वीतराग के शरीर, रूप, लावण्य, गढ़, छत्र, ध्वज आदि के वर्णनों द्वारा की जाती हुई स्तुति वास्तविक स्तुति नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में कर्मरहित, पुण्यपाप से रहित-ऐसे विशुद्धस्वरूप परमात्मा का ध्यान या चिंतन ही वास्तविक स्तुति और भक्ति है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन स्तुति स्तोत्र हैं, जिनमें तीर्थंकर परमात्मा के शरीर का, रूपलावण्य का तथा छत्र, ध्वज, सिंहासन आदि बाह्य-ऐश्वर्य का वर्णन है। तीर्थंकर भगवान् की अनुपम महिमा को अतिशयों और प्रातिहार्यों द्वारा दर्शाया गया है, तो क्या यह योग्य नहीं है ? क्या वे स्तोत्र मिथ्या है ? जैसे भक्तामरस्तोत्र में गाथा क्रमांक २८ से ३१ तक अशोकवृक्ष, सिंहासन, चँवर और छत्रत्रय आदि प्रातिहार्यों द्वारा परमात्मा की महिमा का गुणगान किया गया है। गाथा क्रमांक १२ में परमात्मा के रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है - हे परमात्मन् ! जिन शांत सुन्दर परमाणुओं से आपकी रचना हुई है, ऐसा लगता है कि लोक में वे उतने ही परमाणु थे इसलिए आपके समान सुन्दर अन्य कोई दूसरा रूप नहीं है। आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी गाथा क्रमांक १६ से २६ तक परमात्मा के अष्टप्रातिहार्यों के चित्रण द्वारा प्रभु की महिमा का वर्णन किया गया है। माता मरुदेवी का नंद स्तवन में 'त्रिगड़े बेसी धर्म कहता, सुणे पर्षदा बार, जोजनगामिनी वाणी मीठी, सरसंती जलधार', इस प्रकार की पंक्तियाँ है, अथवा भगवान महावीर स्वामी के स्तवन में 'कंचनवर्णी काया थाहरी देखी दिल हर्षवे' या ऋषभदेव भगवान के स्तवन में 'वगर धोई तुझ निर्मली काया कंचनवान्' इस प्रकार परमात्मा के बाह्य ऐश्वर्य को दर्शाने वाले भी सैंकड़ों स्तवन, स्तोत्र स्तुतियाँ है, तो इस प्रकार की परमात्मा की स्तुति क्या योग्य नहीं हैं ? इसका उत्तर यही है कि इस प्रकार की स्तुति सर्वथा अयोग्य है ऐसा नहीं है। इस प्रकार की स्तुतियाँ भी योग्य ही है। व्यवहार नय यह बताता है कि तीर्थंकर परमात्मा के अन्य जीवों की अपेक्षा शरीर आदि के अतिशय कितने उत्कृष्ट है, कैसे लोकोत्तर है। तीर्थंकर परमात्मा पूर्व के प्रकृष्ट कर्म के उदय से,

निकाचित तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से जगत् के जीवों का कल्याण करते हैं। वे तीन ज्ञान सहित जन्म लेते है और कितने ही अतिशय उनमें जन्म से ही होते है। उनके जन्म के पूर्व ही चौंसठ इन्द्र उनकी वन्दना करते हैं। जन्म होते ही कई देवी-देवता उनकी सेवा करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। दीक्षा लेते ही उन्हें चतुर्थ मनःपर्यव ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा केवल ज्ञान के पश्चात् दूसरे कई अतिशय प्रगट होते हैं तथा देव समवसरण और प्रातिहार्यों की रचना करते हैं। इस प्रकार स्तुति स्तोत्र आदि द्वार परमात्मा की लोकोत्तरता की अर्थात् अलौकिकता की सामान्य व्यक्ति को प्रतीति होती है। पुनः तीर्थंकरों के आठ प्रातिहार्यों की गणना बारह गुणों में भी होती है। इस प्रकार व्यवहार नय तीर्थंकर परमात्मा के वीतरागभाव उपरांत बाह्य स्वरूप को भी प्रधानता प्रदान करता है।

परंतु निश्चयनय कहता है कि वीतराग भगवान की यह स्तुति वास्तवित नहीं है। वास्तविक स्तुति तो उनकी वीतरागता की है, उनके विशुद्ध स्वरूप की है।

(८०२) व्यवहारस्तुतिः सेयं वीतरागात्मवर्तिनाम्।
ज्ञानादीनां गुणानां तु वर्णना निश्चयस्तुतिः।।१२५।।

<u>अनुवाद -</u> यह व्यवहार स्तुति है तथा वीतराग आत्मा में रहे हुए ज्ञानादि गुणों का वर्णन निश्चयस्तुति है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में व्यवहारस्तुति और निश्चयस्तुति में भेद बताया गया है। अरिहंत भगवान के शरीर, रूप, अतिशय, समवसरण प्रातिहार्य आदि बाह्य संपदाओं का वर्णन करने वाले स्तोत्र, स्तुतियाँ, स्तवन भी अयोग्य या निरर्थक नहीं है। व्यवहारनय से इस प्रकार की स्तुति की जाती है। यह व्यवहार स्तुति प्राथमिक भूमिका के जीवों के लिए योग्य, आवश्यक और उपयोगी है। हमारे तीर्थंकर परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है ऐस भाव उन जीवों में उत्पन्न होते है उनके हृदय के भक्ति भावों में वृद्धि होती है। वे अन्य मिथ्या देवी-देवताओं की ओर आकर्षित नहीं होते है। अन्य दर्शनियों में प्रचलित परमात्मा के शृंगार, वेशभूषा आदि के प्रति बालजीव आकर्षित होते है। बालजीवों को तात्त्विक ज्ञान रहता नहीं है। वे आत्म रमणता, आत्म स्वरूप आदि से अनभिज्ञ रहते हैं। उनको इसमें रूचि भी

नहीं होती है। प्राथमिक कक्षा वाले के सामने बी.ए. या एम.ए. कोर्स रख दिया जाय तो उसे न वह समझ पाएगा और न ही उसमें रूचि होगी। उसी प्रकार निश्चय से अनभिज्ञ, अज्ञानी जीवों के लिये इस प्रकार की व्यवहारस्तुति उपयोगी है। व्यवहार स्तुति का यदि उच्छेद कर दिया जाये तो अनेक जीव मोक्षमार्ग पर आरूढ़ नहीं हो सकते है या मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं इसलिए व्यवहार स्तुति की भी आवश्यकता है।

जिन स्तुतियों में, स्तवनों में तीर्थंकर परमात्मा के ज्ञानादि गुणों का वर्णन किया गया हो, जिसमें वीतराग की महिमा दर्शाई हो ऐसी स्तुति स्तवन आदि निश्चय स्तुति स्तवन है जैसे देवचंद्रजीकृत श्री श्रेयांसनाथ भगवान का स्तवन -

श्री श्रेयांस प्रभु तणे, अति अद्‌भुत सहजानंद रे -
निजज्ञाने करी ज्ञेय नो, ज्ञायक ज्ञात पद ईश रे
देखे निज दर्शन करी निज दृश्य सामान्य जगीश रे -
निज रम्ये रमण करो प्रभु, चारित्र रमता राम रे
भोग अनंत ने भोगवो, भोगे विण भोगता स्वामी रे -

इस प्रकार इस स्तवन में परमात्मा के अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों का तथा उनकी अक्षय स्थिति, निष्कलंक, अपराजित अकृत्रिम, निर्विकल्प ऐसी आत्मा की विशुद्ध दशा का अत्यंत मनोहर ढंग से वर्णन करके परमात्मा की स्तुति की है। ऐसे अनेक आचार्यों द्वारा रचित स्तवन स्तोत्र, स्तुतियाँ है जिसमें भगवान् के आन्तरिक गुणों की विशुद्ध आत्मा के दिव्य गुणों की महिमा दर्शाई गई है। मोक्षाभिलाषी जीव को इस प्रकार की निश्चयस्तुति तक पहुँचना है। व्यवहार स्तुति में ही नहीं अटकना है। इसलिए ही निश्चयस्तुति को वास्तविक स्तुति या उच्च प्रकार की योग्य स्तुति कहा गया है। जिनेश्वर परमात्मा की महिमा को उनकी पुण्य प्रकृति के उदय से समझने के साथ-साथ उनके आत्मवीर्य के प्रकर्ष से भी समझने का है। चूंकि मूल तो आत्मस्वरूप को समझकर उसे ही प्राप्त करना है, इसीलिए निश्चयस्तुति का महत्त्व अधिक है। कितने ही स्तवनों, स्तोत्रों में व्यवहार तथा निश्चय-दोनों का समन्वय प्राप्त होता है।

(८०३) **पुरादिवर्णनाद्राजा स्तुतः स्यादुपचारतः।**
तत्त्वतः शौर्यगांभीर्यधैर्यादिगुणवर्णनात्।।१२६।।

<u>अनुवाद -</u> नगर आदि के वर्णन से की गई राजा की स्तुति औपचारिक या व्यावहारिक-स्तुति कहलाती है। शौर्य, गांभीर्य, धैर्य आदि गुणों के वर्णन से वह तात्त्विक-स्तुति कहलाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में व्यवहार-स्तुति और तात्त्विक-स्तुति के अन्तर को दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार नगर की सुन्दरता वहाँ के विशाल महल, सुन्दर उद्यान, विशाल नहरें, मजबूत कोट, राज्य का वैभव समृद्धि इत्यादि के वर्णन द्वारा राजा की जो स्तुति की जाती है, वह स्तुति उपचार से है। वह राजा की वास्तविक स्तुति नहीं है। राजा की वास्तविक स्तुति तो उसके शौर्य, गंभीरता, संकट में धैर्यशाली, उदार, दयालु, प्रकृति से भद्र, न्यायाभिमुख, प्रजा का हित चिन्तन, निडरता, पराक्रम आदि गुणों के वर्णन द्वारा की जाती है। यह स्तुति तात्त्विक कहलाती है। व्यक्ति के आन्तरिक-वैभव के गुणों का वर्णन ही वास्तविक स्तुति है। उसी प्रकार तीर्थंकर परमात्मा के देह लावण्य, अतिशय, प्रातिहार्य, समवशरण आदि द्वारा जो स्तुति की जाती है वह व्यावहारिक स्तुति कहलाती है। इस प्रकार की स्तुति उपचार से की जाती है। इस प्रकार की स्तुति में पुण्य से प्राप्त बाह्य वैभव आदि का वर्णन होता है। इसमें आत्मगुणों का वर्णन नहीं होता है। तीर्थंकर परमात्मा के ज्ञानादि गुणों द्वारा की गई स्तुति तात्त्विक-स्तुति है। यह निश्चयनय का अभिमत है। निश्चय नय तात्त्विक स्तुति को ही स्तुति के रूप में स्वीकार करता है, परंतु जिस प्रकार नगर आदि की शोभा द्वारा राजा की स्तुति कर ही नहीं सकते हैं, वह सर्वथा अयोग्य है - ऐसा नहीं है, उसी प्रकार समवशरण आदि के वर्णन द्वारा तीर्थंकर की स्तुति कर ही नहीं सकते हैं - ऐसा नहीं है। लेकिन यह औपचारिक-स्तुति है, यह ध्यान में रहना चाहिए।

(८०४) **मुख्योपचारधर्माणामविभागेन या स्तुतिः।**
न सा चित्त प्रसादाय कवित्वं कुकवेरिव।।१२७।।

<u>अनुवाद -</u> मुख्य और उपचार धर्म के विभाग के बिना जो स्तुति होती है, वह चित्त के आनंद के लिए नहीं होती है। वह कुकवि के कवित्व-तुल्य है।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक में बताया गया है कि व्यवहारस्तुति और निश्चयस्तुति-दोनों में अन्तर है। निश्चयस्तुति को मुख्य स्तुति तथा व्यवहारस्तुति को उपचारस्तुति कहते हैं। तीर्थंकर परमात्मा के अनंतचतुष्टय आदि गुणों का जिसमें वर्णन हो, वह निश्चयस्तुति तथा जिसमें समवशरण आदि बाह्य-वैभव का वर्णन हो, वह व्यवहारस्तुति या उपचारस्तुति कहलाती है। स्तुति के रचनाकार के चित्त में दोनों प्रकार की स्तुतियों का भेद स्पष्ट होना चाहिए। यदि रचनाकार के चित्त में दोनों प्रकार की स्तुतियों का अभेद हो अर्थात् भेद स्पष्ट नहीं हो तो वह दोनों स्तुतियों का सम्मिश्रण कर देगा। चूंकि दोनों प्रकार की स्तुतियां अलग-अलग कक्षा के जीवों के लिए हैं, इसलिए मुख्य स्तुति और उपचारस्तुति के मध्य विभाग किए बिना स्तुतियों की रचना की हो, तो उन स्तुतियों द्वारा उन-उन कक्षा के जीवों को आह्लाद उत्पन्न नहीं होता है। किसी कवि के काव्य में छंद, मात्रा या अनुप्रास आदि की क्षति हो, कल्पना यथार्थ नहीं हो या विषयवस्तु का उचित प्रकार से निरूपण नहीं किया गया हो, तो वह काव्य कुकाव्य बन जाता है। कवि के पास कवित्व शक्ति तो है, परंतु नीरक्षीर-विवेकशक्ति नहीं है, तो इस प्रकार की कविताओं से सुज्ञ वाचकों को संतोष नहीं होता है, आनंद नहीं आता है। उसी प्रकार, मुख्य स्तुति और उपचारस्तुति के मध्य भेद, स्तुति की रचना करने वाले या स्तुति सुनने वाले, बोलने वाले आदि को स्पष्ट नहीं हो, तो उससे आनंद की अनुभूति नहीं होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्तुतिकर्त्ता के मन में स्तुति की रचना के पूर्व दोनों प्रकार की स्तुति में भेद स्पष्ट होना चाहिए, साथ ही स्तुति का श्रवण करने वाले या बोलने वाले को भी स्तुतिकार ने तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति किस प्रकार की है ? मुख्य या उपचाररूप, व्यवहारनय से या निश्चय नय से आदि का विभाग करना आना चाहिए, तो ही वास्तविक आनंद की अनुभूति होगी, अन्यथा उत्तम स्तुति भी मन में आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होगी।

(८०५) **अन्यथाभिनिवेशेन प्रत्युतानर्थकारिणी।**
सुतीक्ष्णखड्गधारेव प्रमादेन करे धृता।।१२८।।

<u>अनुवाद -</u> अन्यथा अभिनिवेश से की गई स्तुति प्रमाद से हाथ में धारण की हुई तीक्ष्ण तलवार की धार के समान अनर्थ करने वाली होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय और निश्चयनय से की गई स्तुति के मध्य भेद स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। संसार में कई जीवों की भूमिका, उनकी योग्यता इस प्रकार की होती है कि उनके लिए व्यवहारनय की स्तुति, अर्थात् तीर्थंकर परमात्मा की बाह्य संपदारूप स्तुति उपयुक्त होती है। अगर उनके लिए भी निश्चयनय की स्तुति का ही आग्रह रखा जाए, तो वे भटक जाएंगे, उसका अर्थ नहीं समझ पाएंगे। कहा जाता है कि शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही सुरक्षित रह सकता है, अन्य में नहीं। बिना योग्यता के वस्तु ग्रहण कर ली जाए, तो उसमें लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है, उसी प्रकार जिसने निश्चयनय से की गई स्तुति को ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त नहीं किया, योग्यता प्राप्त नहीं की तो उसे निश्चयनय से की गई स्तुति आनंद प्रदान करने वाली नहीं होती है और कभी-कभी तो उसे उस स्तुति का भावार्थ नहीं समझ पाने के कारण अरुचि हो जाती है, उद्वेग हो जाता है। इसी प्रकार, जो निश्चयनय की भूमिका पर स्थित है, ऐसे साधक को उपचार स्तुति से आनंद प्राप्त नहीं होता है। अतः किसी भी एक प्रकार की ही स्तुति होना चाहिए। निश्चयनय की स्तुति होना चाहिए अथवा व्यवहारनय की ही स्तुति होना चाहिए- इस प्रकार का आग्रह या अभिनिवेश अनर्थकारी होता है। परमात्मा की स्तुति के सम्बन्ध में आग्रहबुद्धि का त्याग करके समत्वबुद्धि रखना चाहिए। तलवार मूठ की अपेक्षा धार की ओर से पकड़ ली जाए, तो उससे रक्षण के बजाए स्वयं को ही हानि होती है, हाथ कट जाता है, रक्त बहने लगता है और दर्द होता है, उसी प्रकार स्तुति के लिए गलत आग्रह रखने के परिणाम से भी खेद उत्पन्न होता है। निश्चयवादियों को इस प्रकार के अभिनिवेश का त्याग कर देना चाहिए कि 'हम ही सत्य हैं, अन्य मिथ्या हैं या निश्चयस्तुति ही सत्य है, व्यवहारस्तुति मिथ्या है।'

(८०६) मणिप्रभामणिज्ञानन्यायेन शुभकल्पना।
वस्तुस्पर्शितया न्याय्या यावन्नानंजनप्रथा।।१२६।।

अनुवाद - मणिप्रभा-मणिज्ञान के न्याय की तरह जब तक उच्च आध्यात्मिक-दशा (अनंजन प्रथा) प्राप्त न हो, तब तक वस्तु को स्पर्श करने की शुभ कल्पना न्याययुक्त है।

विशेषार्थ - अतिशय, समवशरण, अष्टप्रातिहार्य आदि के वर्णन द्वारा जिनेश्वर देव की, की गई स्तुति सर्वथा अयोग्य ही है - ऐसा नहीं कह सकते हैं। संसार में सभी जीव एक समान उच्च कक्षा वाले, उच्च आध्यात्मिक-दशा वाले नहीं होते हैं। उच्च आध्यात्मिक-दशा वाले जीव तो कम ही होते हैं। अधिकतर जीव तो सामान्य दशा वाले या मध्यम दशा वाले होते हैं। कितने ही जीव तो जीवनपर्यन्त उसी भूमिका में रहते हैं और कुछ जीव क्रमशः उच्च आध्यात्मिक-दशा के योग्य बन जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में 'अनंजन-प्रथा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अनंजन- अन् + अंजन। 'अन्' उपसर्ग है। 'अंजन' का अर्थ निरंजन, अर्थात् राग-द्वेषयुक्त सांसारिकदशा (प्रथा)। अनंजन, अर्थात् राग-द्वेष से रहित अवस्था, जिसमें राग तथा द्वेष का अंजन न हो, वह अनंजन है। ग्रंथकार कहते हैं कि जब तक उच्च आध्यात्मिक दशा प्राप्त नहीं हुई हो, तब तक व्यवहारस्तुति की शुभकल्पना न्याययुक्त है।

यहाँ मणिप्रभा-मणिज्ञान नामक संस्कृत न्याय का दृष्टान्त दिया गया है। मणि, अर्थात् रत्न और प्रभा, अर्थात् तेज। बालक या सामान्य अज्ञानी व्यक्ति सर्वप्रथम रत्न के तेज से, उसके प्रकाश से ही आकर्षित होते हैं। कई जीव तो उसे चमकीला पत्थर मानकर उसे बड़ी सावधानी से अपने पास रखते हैं। उन्हें रत्न के मूल्य, उसके गुण आदि के विषय में जानकारी नहीं होती है। शनैः-शनैः वे स्वयं या किसी के द्वारा उसके मूल्य को, गुणों को समझते हैं। तत्पश्चात् उन्हें भिन्न-भिन्न रत्नों के मूल्य का ज्ञान हो जाता है तथा वे उनके महत्व को समझने लगते हैं, परंतु रत्न की ओर आकर्षित होने में, उसके समीप लाने में निमित्त तो रत्न का अद्भुत तेज ही बनता है। उसी प्रकार, सामान्य व्यक्ति तीर्थंकर भगवान के तेज से उनके पुण्योदय से, बाह्य वैभव से प्रभावित होते हैं और उनकी भक्ति के लिए आकर्षित

होते हैं। उसके बाद वे जैसे-जैसे उनका सान्निध्य प्राप्त करते है वैसे-वैसे उनके आंतरिक सौन्दर्य का, गुण वैभव का, स्वरूप का ज्ञान उन्हें हो जाता है। इसलिए स्वरूपज्ञान के पहले की गई व्यवहारस्तुति की शुभ कल्पना भी योग्य ही है।

(८०७) पुण्यपापविनिर्मुक्तं तत्त्वतस्त्वविकल्पकम्।
नित्यं ब्रह्म सदा ध्येयमेषा शुद्धनयस्थितिः।।१३०।।

<u>अनुवाद -</u> पुण्य और पाप से मुक्त तत्त्वतः अविकल्प-स्वरूप, नित्य ब्रह्म का अर्थात् आत्मा का ध्यान धरना यह शुद्ध नय की स्थिति है।

<u>विशेषार्थ -</u> विशुद्ध आत्मा नौ तत्त्वों में पुण्य तत्त्व से भिन्न और मुक्त है। वह कर्म की कर्त्ता नहीं है, भोक्ता भी नहीं है- इस प्रकार पूर्व के श्लोक (५६) में कहा गया था। इस चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार ने इसी बात को पुनः दोहराकर साधक को निर्देश दिया है कि निर्विकल्परूप, नित्य और ब्रह्मस्वरूप आत्मा का हमेशा ध्यान करना चाहिए।

पुण्य भी कर्मरूप है और पाप भी कर्मरूप है। चाहे शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म, ये पुद्गलस्वरूप हैं, जबकि शुद्ध आत्मा कर्म से रहित है, निरावरण है। इसलिए आत्मा पुण्य और पाप से रहित है। पुनः, आत्मा को कुछ इष्ट नहीं है और कुछ अनिष्ट भी नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ममत्व है। यदि इष्ट और अनिष्ट कुछ है ही नहीं, तो उनको प्राप्त करने के विकल्प भी नहीं होते हैं, इसलिए आत्मा निर्विकल्परूप है। आत्मा शाश्वत् है, नित्य है, अजरामर है, अनादि-अनंत है। वह स्वरूप से शुद्ध है। मोक्ष के अभिलाषी आत्मार्थी साधकों को ऐसे विशुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से यहाँ उपदेश दिया गया है।

(८०८) आश्रवः संवरश्चापि नात्मा विज्ञानलक्षणः।
यत्कर्मपुद्गलादानरोधावाश्रवसंवरौ।।१३१।।

<u>अनुवाद -</u> ज्ञान लक्षणवाली आत्मा आश्रवरूप या संवररूप नहीं है, क्योंकि कर्मपुद्गलों का ग्रहण - वह आश्रव है और उसका निरोध संवर है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार आत्मस्वरूप का निश्चय करने के लिए, आत्मस्वरूप को दर्शाने के लिए वे सर्वप्रथम आत्मा या जीवतत्त्व की अन्य

तत्त्वों से भिन्नता बता रहे हैं। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा पुण्यरूप भी नहीं है और पापरूप भी नहीं है - यह दर्शाने के बाद अब शुद्ध निश्चयनय के आधार पर प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बताया है कि आत्मा आश्रवरूप भी नहीं है और संवररूप भी नहीं है, अर्थात् आत्मा आश्रव और संवर से भिन्न है। आश्रव अर्थात् कर्मपुद्गलों का आना, प्रवेश करना या ग्रहण करना और संवर अर्थात् कर्मपुद्गलों को आते हुए रोकना। शुभाशुभ कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते है। व्यवहारनय कहता है कि जीव स्वयं कर्मों को ग्रहण करता है, बांधता है तथा जीव ही पुरुषार्थ द्वारा उन आते हुए कर्मों पर रोक लगाता है, अवरुद्ध करता है, इसलिए आत्मा आश्रवरूप भी है और आत्मा संवररूप भी है।

शुद्ध निश्चयनय का अभिमत है कि कर्मपुद्गल अजीव हैं, इसलिए अजीव की कर्मपुद्गलों के ग्रहण करने की क्रिया उनके निरोधरूप संवर की क्रिया को चेतन आत्मा नहीं करती है। आत्मा स्वयं ज्ञानलक्षण वाली है, ज्ञात-दृष्टा है, इसलिए वह न कर्मपुद्गलों को ग्रहण करती है और न ही उनका निरोध करती है।

(८०६) आत्मादत्ते तु यैर्भावैः स्वतंत्र कर्मपुद्गलान्।
मिथ्यात्वाविरति योगाः कषायास्तेऽन्तराश्रवाः।।१३२।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा जिन भावों द्वारा स्वतंत्र कर्मपुद्गलों को ग्रहण करती है वे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग भाव-आश्रव हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> शुद्ध निश्चयनय कहता है कि आत्मा आश्रवरूप तथा संवररूप नहीं है। चाहे आत्मा आश्रव और संवररूप नहीं हो, परंतु उस-उस प्रकार के ही कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्र अवगाह में क्षीर-नीर की तरह रहते हैं, उसका कारण क्या है? सिद्धशिला पर सिद्ध के जीव, अर्थात् आत्मा भी है और कर्मपुद्गल के परमाणु भी हैं, फिर भी दोनों का संयोग नहीं होता है। इसके उत्तर में अशुद्ध निश्चयनय कहता है कि स्वतंत्र, स्वरूपतः शुद्ध ऐसी आत्मा के जब राग-द्वेषयुक्त परिणाम होते हैं, तब कर्म पुद्गलों के ग्रहण की क्रिया होती है। अशुद्ध भाव-आत्मा के स्वयं के हैं, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग आदि के रूप में आत्मा में अशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं यह आभ्यंतर आश्रव कहलाता है इसे भाव

आश्रव भी कह सकते है क्योंकि ये आत्मा के स्वयं के ही भाव है। इसी भावाश्रव के कारण ही कर्मपुद्गल ग्रहण होने की क्रिया होती है इसे द्रव्यआश्रव कहते है। भावाश्रव के अभाव में द्रव्य आश्रव भी नहीं होता है।

(८१०) भावनाधर्मचारित्रपरीषहजयादयः।
आश्रवोच्छेदिनो धर्मा आत्मनो भावसंवराः।।१३३।।

<u>अनुवाद -</u> भावना, धर्म, चारित्र, परीषहजय आदि जो आश्रव को अवरुद्ध करने वाले, अर्थात् रोकने वाले आत्मा के धर्म हैं, वे भावसवर हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जिस प्रकार भाव-आश्रव है, उसी प्रकार भावसंवर भी है। व्यवहारनय के आधार पर आत्मा जिन कर्मपुद्गलों को ग्रहण करती है, उन्हें आश्रव कहते है और जिन कर्मपुद्गलों का निरोध करती है, उन्हें संवर कहते हैं।

शुद्ध निश्चयनय के आधार पर आत्मा सच्चिदानंदस्वरूपी, शुद्ध अखण्ड, त्रिकाल ध्रुव है, अतः आत्मा को आश्रव या संवर नहीं होता है। अशुद्ध निश्चयनय कहता है कि आत्मा स्वयं कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने की या रोकने की क्रिया नहीं करती है, परंतु उसमें जो अशुद्ध भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों के कारण स्वयमेव कर्मपुद्गलों के परमाणुओं के आने की क्रिया होती है और इसके विपरीत ऐसे शुद्ध भाव भी उत्पन्न होते हैं कि कर्म पुद्गलों को अवरुद्ध करने की, उन्हें रोकने की क्रिया होती है। अशुद्ध निश्चयनय के अनुसार जिस प्रकार द्रव्य-आश्रव के हेतुभूत आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि के अशुद्ध परिणाम भाव आश्रव कहलाते हैं, ठीक वैसे ही आत्मा में ऐसे शुभ भाव उत्पन्न होते हैं, जिससे भाव आश्रव का नाश होता है या वे अवरुद्ध होते हैं, ऐसे परिणाम भावसंवर कहलाते हैं।

किन-किन भावों से कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने की क्रिया अवरुद्ध होती है ? प्रस्तुत श्लोक में इसका समाधान किया गया है। अनित्य, अशरण संसार आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षा तथा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आदि दस यतिधर्म, सामायिक इत्यादि पाँच प्रकार के चारित्र तथा क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि

बाईस प्रकार के परीषहों पर विजय प्राप्त करने रूप आदि जो भावसंवर हैं, उनसे कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। ये सब आत्मा के भाव है। परीषहजय चारित्र आदि में कदाचित् बाह्य-क्रिया होने पर भी उस समय में आत्मा में रमण करते हुए शुभ भाव को ही भावसंवर कहते हैं, क्योंकि परीषह आदि बाह्य-क्रिया भी आन्तरिक-भावों द्वारा सम्पन्न होती है। परीषह आदि को सहन करने के भाव, चारित्र आदि के पालन करने के भाव पहले उत्पन्न होते हैं, फिर वे क्रिया के रूप में परिणमित होते हैं।

(८११) आश्रवः संवरो न स्यात् संवरश्चाश्रवः क्वचित्।
भवमोक्षफलाभेदोऽन्यथा स्याद्धेतु संकरात्।।१३४।।

<u>अनुवाद -</u> आश्रव कभी भी संवर नहीं होते हैं और संवर कभी भी आश्रवरूप नहीं होते हैं। अगर इस प्रकार नहीं हो, तो संसार और मोक्षरूपी फल के हेतु के मिश्रण के कारण अभेद हो जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय से आत्मा आश्रवरूप भी नहीं है और संवररूप भी नहीं है। आश्रव संसार के हेतु हैं और संवर मोक्ष के हेतु हं। चाहे आश्रव हो या संवर, बात तो अंत में कर्मपुद्गल की ही है। कर्मपुद्गलों को ही ग्रहण करना और कर्मपुद्गलों को ही रोकना है, तो फिर आश्रव और संवर-दो भिन्न-भिन्न तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका कारण यह है कि आश्रव और संवर, अर्थात् कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने की और निरोध करने की-दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं और दोनों का फल भी भिन्न-भिन्न है। वस्तुतः, आश्रव और संवर परस्पर विरुद्ध हैं। मिथ्यात्व, अविरति आदिरूप भावाश्रव का फल बंध अथवा संसार है जबकि भावना, यतिधर्म आदिरूप भावसंवर का फल मोक्ष है। यदि आश्रव और संवर को एकरूप मान लिया जाए, तो दोनों के हेतु का मिश्रण हो जाता है। मिथ्यात्व आदि आश्रव मोक्ष के हेतु तथा भावना आदि संवर संसार के हेतु बन जाएंगे। आश्रव मोक्ष के संवर के मध्य यदि अभेद हो जाए, तो संसार और मोक्ष के मध्य भी अभेद हो जाएगा, परंतु यह स्वीकार्य नहीं है, इसलिए आश्रव और संवर-दोनों को पृथक-पृथक ही स्वीकार करना चाहिए। आश्रव कभी भी संवर नहीं बन सकता है और संवर कभी भी आश्रव नहीं बन

सकता है। आचारांग में जो सूत्र कहा गया है कि "जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा" यह केवल द्रव्य क्रिया की अपेक्षा से कहा गया है कि जो आश्रव के स्थान वे संवर के बन जाते है तथा जो संवर के स्थान है वे आश्रव के बन जाते है। क्रिया चाहे संवर की दिखाई दे रही हो, धार्मिक स्थान पर बैठा हुआ व्यक्ति द्रव्य से आसन आदि बिछाकर सामायिक में बैठा हो किन्तु उसके आत्मा में मिथ्यात्व, कषाय आदि के भाव हो तो वह क्रिया संवर की दिखाई देने पर भी वास्तव में संवर नहीं होता है क्योंकि क्रिया चाहे संवर की प्रतीत होती हो किन्तु भावों में आश्रव की क्रिया चल रही है, भाव अशुद्ध है। उसी प्रकार कई बार क्रिया आश्रव की दिखाई देती है किन्तु आत्मा में शुद्ध भावों का अविर्भाव होता है, आत्म में शुद्ध भाव चलते है तो वहाँ बाह्य क्रिया आश्रव की प्रतीत होने पर भी संवर होता है। किंतु भाव आश्रव कभी भी भाव संवर नहीं होता है और भाव संवर कभी भी भाव आश्रव के रूप में परिणत नहीं होता है।

(८१२) कर्माश्रवं च संवृण्वन्नात्मा भिन्नैर्निजाशयैः।
करोति च परापेक्षामलंभूष्णुः स्वतः सदा।।१३५।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा स्वयं के भिन्न परिणामों (अध्यवसायों) से कर्म का आश्रव या संवर करते हुए अन्य की अपेक्षा नहीं रखती है। वह हमेशा स्वतः समर्थ है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा स्वयं आश्रवरूप या संवररूप नहीं है, परंतु फिर भी आश्रव और संवर की क्रिया तो होती ही है। आठ रुचक प्रदेशों को छोड़कर प्रत्येक आत्मप्रदेश में कर्मपुद्गल परमाणु क्षीर-नीर की तरह रहते हैं, तो यह क्रिया किस प्रकार होती है। अशुद्ध निश्चय नय के अनुसार आत्मा स्वयं के शुभ और अशुभ परिणामों द्वारा क्रमशः संवर और आश्रव के अनुकूल स्थिति का सर्जन करती है। आश्रव के लिए आत्मा में भिन्न परिणाम उत्पन्न होंगे और संवर के लिए आत्मा के जो परिणाम हैं, उनमें भी भिन्नता रहती है, इसलिए आत्मा स्वयं के ही शुभाशुभ परिणामों से आश्रव या संवर की स्थिति उत्पन्न करती है। इस प्रकार करने में आत्मा स्वयं ही समर्थ स्वभाव वाली है, इसके लिए परद्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है।

(८१३) निमित्तमात्रभूतास्तु हिंसाहिंसादयोऽखिलाः।
ये परप्राणिपर्याया न ते स्वफलहेतवः।।१३६।।

<u>अनुवाद -</u> हिंसा, अहिंसा आदि सभी मात्र निमित्तभूत हैं। जो पर प्राणी की पर्यायें हैं, वे स्वयं के (आत्मा के) फल के हेतुरूप नहीं हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय के अनुसार हिंसादि आश्रवरूप हैं और अहिंसा आदि संवररूप हैं, परंतु निश्चयनय की मान्यता है कि हिंसा या अहिंसा 'पर प्राणी' की पर्यायें हैं। जिस प्राणी का आयुष्य पूरा हो गया हो उसकी हिंसा होने की हो वह उस प्राणी के पर्याय की हिंसा है। जिस प्राणी के रक्षण होने का हो उस प्राणी की पर्याय का नाश नहीं होना वह अहिंसा। ये पर प्राणी के पर्याय आत्मा को सुख-दुःख रूपी फल प्रदान नहीं कर सकते है। आत्मा में स्वयं में उत्पन्न होते हुए भाव ही आश्रव या संवर रूप है। बाह्य हिंसा या अहिंसा तो मात्र उसमें निमित्त बनती है। आत्मा में अहिंसा के शुद्ध परिणाम हो कदाचित् जीव की हिंसा हो जाए तो भी वह बाह्य हिंसा उसे दुःख प्रदान नहीं कर सकती है। इसके विपरीत बाह्य अहिंसा की क्रिया हो और आत्मा में हिंसा के भाव चल रहे हो तो वह बाह्य अहिंसा व्यक्ति को सुख प्रदान नहीं कर सकती है।

(८१४) व्यवहारविमूढस्तु हेतूंस्तानेव मन्यते।
बाह्य क्रियारतस्वान्तस्तत्त्वं गूढं न पश्यति।।१३७।।

<u>अनुवाद -</u> व्यवहार से विमूढ़ (प्राणी) उन्हीं (हिंसादि) को ही हेतुरूप मानता है। जिसका स्वयं का अंतःकरण बाह्यक्रिया में रत है वह गहन तत्त्व को नहीं देखता हैं

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार का कहने का आशय यह है कि जो व्यवहारनय को ही मुख्य मानते है, उसके लिए कदाग्रह रखते है साथ ही निश्चय से द्वेष रखते है, अरूचि रखते है ऐसे मोह से मूढ़ व्यक्ति बाह्य क्रियाओं में ही रत रहते है, उसी में इतिश्री मान लेते है। वे बाह्य हिंसा आदि को ही आश्रव के हेतु और अहिंसा आदि को संवर के हेतु के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। वे कर्म के बंध होने में तथा कर्मबंध के रूकने में आत्मा की किस प्रकार की भावदशा हेतुभूत होती है इस गूढ़ रहस्य को

नहीं समझ पाते है। वस्तुतः जिसमें आत्मतत्त्व का और कर्म सिद्धान्त का यथार्थ विवेक हो, समझने की बुद्धि हो उसमें ही स्थूल और सूक्ष्म हेतुओं को परखने की अर्थात् उनकी परीक्षा करने की शक्ति होती है। वे ही तत्त्व के गूढ़ रहस्य को प्राप्त कर सकते है।

(८१५) हेतुत्त्वं प्रतिपद्यन्ते नैवैतेऽनियमस्पृशः।
यावन्त आश्रवाः प्रोक्तास्तावन्तो हि परिश्रवाः।।१३८।।

<u>अनुवाद -</u> नियम को स्पर्श नहीं करने वाले इस (हिंसादि) हेतुत्त्व को स्वीकार नहीं करते है। (आगम में) जितने आश्रव कहे गये है उतने ही संवर भी कहे गये हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहार नय बाह्य हिंसादि क्रिया को आश्रव को हेतुरूप और अहिंसा आदि की क्रिया को संवर के हेतुरूप मानते है। परंतु यह शाश्वत नियम नहीं है। कई बार हिंसादि संवर के हेतु बन सकते है उसी प्रकार अहिंसा आदि भी कई बार आश्रव के हेतु भी बन सकते हैं। इस प्रकार बाह्य हिंसादि आश्रव और संवर दोनों के हेतु बन सकते है। आत्मा के अध्यवसाय किस प्रकार के है ? उसी के ऊपर आश्रव और संवर का आधार रहता है। बाह्य क्रिया में आश्रव संवर से संबंधित दृढ़ नियम नहीं हो सकता है, परंतु आत्मा के अध्यवसाय के लिए यह दृढ़ नियम है कि जो अध्यवसाय आश्रव के हेतुरूप है वे अध्यवसाय आश्रव के हेतुरूप ही रहेंगे। वे कभी संवर के हेतु नहीं बन सकते हैं और जो अध्यवसाय संवर के हेतुरूप है वे संवर के ही हेतु रहेंगे कभी भी वे आश्रव के हेतु नहीं बन सकते हैं। बाह्य हिंसादि क्रियाओं में तथा अहिंसादि क्रियाओं में दोनों विकल्पों की शक्यता होने से आचारांग सूत्र में कहा गया है 'जो आश्रव है वे ही संवर है और जो संवर है वे ही आश्रव है' इसका तात्पर्य यही है कि हिंसादि और अहिंसादि दोनों आश्रव के उसी प्रकार संवर के स्थान बन सकते हैं। जैसे पृथ्वीचंद्र को राज्य सिंहासन और गुणसागर को चंवरी मण्डप में फेरे लगाते हुए केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये बाह्य क्रिया पूर्णतः आश्रव की प्रतीत होती है किन्तु उनकी आत्मा के अध्यवसाय संवर और निर्जरा के चल रहे थे इसलिए आश्रव के स्थान पर ही उन्हें अध्यवसायों के आधार पर संवर तथा निर्जरा करके केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

(८१६) तस्मादनियतं रूपं बाह्यहेतुषु सर्वथा।
नियतौ भाववैचित्र्यादात्मैवाश्रवसंवरौ।।१३९।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए बाह्य हेतुओं में सर्वथा अनियत रूप है। भावना या परिणामों के वैचित्र्य के कारण आत्मा ही आश्रव और संवर के रूप में नियत है।

<u>विशेषार्थ -</u> बाह्य हेतुओं में आश्रव और संवर का स्वरूप अनियत है। बाह्य हिंसादि हेतुओं में सर्वथा आश्रव ही हो और अहिंसादि हेतुओं में सर्वथा संवर ही हो ऐसा शाश्वत् नियम नहीं है। बाह्य हेतुओं में आश्रव होता ही नहीं या संवर होता ही नहीं ऐसा नियम भी नहीं है। किसी उदाहरण में ऐसा भी हो सकता है। इसलिए बाह्य हेतुओं का स्वरूप अनियत है इस प्रकार कहा गया है। वस्तुतः आत्मा में विविध प्रकार के विलक्षण भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए जो भाव आश्रव रूप होते हैं वे भावाश्रव और जो परिणाम संवर रूप होते है वे भावसंवर है ऐसा अवश्य नियत हो सकता है। इसलिये भाव आश्रव और भाव संवर ये दोनों आत्मा के ही परिणाम है। इसमें आश्रव का परिणाम कभी भी संवर नहीं बन सकता है और संवर का परिणाम कभी भी आश्रव नहीं बन सकता है। दोनों प्रकार के परिणाम नियत होते है। पुनः दोनों प्रकार के परिणाम आत्मा से भिन्न नहीं है। इसलिए आत्मा ही आश्रव है और आत्मा ही संवर है ऐसा कह सकते हैं।

(८१७) अज्ञानाद्विषयासक्तो बध्यते विषयैस्तु न।
ज्ञानाद्विमुच्यते चात्मा न तु शास्त्रादिपुद्गलात्।।१४०।।

<u>अनुवाद -</u> विषय में आसक्त हुई आत्मा अज्ञान से बँधती है परंतु विषयों के द्वारा नहीं बंधती है। आत्मा ज्ञान से मुक्त होती है परंतु शास्त्रादि पुद्गल से नहीं।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहार नय हिंसादि को आस्रवरूप और अहिंसा आदि को संवर रूप मानता है। जबकि निश्चय नय आत्मा के स्वयं के शुभाशुभ परिणाम को ही संवर और आश्रव के रूप में मानता है। बाह्य विषयों द्वारा जीव कर्म बांधता है इस प्रकार नहीं कह सकते है किंतु जीव अज्ञान के

कारण कर्म से बांधता। विषय जो जड़ है। विषय तो न अच्छे हैं ने बुरे है लेकिन उनके निमित्त आत्मा में जो अच्छे या बुरे परिणाम उत्पन्न होते है वे ही संवर या आश्रव रूप बनते हैं विषयों के विद्यमान रहने पर भी ज्ञानी व्यक्ति कर्म से लिप्त नहीं होता है जबकि विषय विद्यमान हो या नहीं हो अज्ञानी व्यक्ति कर्म से लिप्त होता रहता है। इसलिए वास्तव में अज्ञान ही कर्म बंध का कारण है। उसी प्रकार शास्त्र आदि पौद्‌गलिक जड़ पदार्थों से जीव कर्म बांधते हुए अवरूद्ध होता है रूकता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, परंतु जीव ज्ञान से कर्मबंधन से बचता है क्योंकि शास्त्रादि के विद्यमान नहीं होने पर ज्ञानी हमेशा आत्मा के उच्च अध्यवसायों के द्वारा, ज्ञान के द्वारा कर्मबंधन से अवरूद्ध होता है, जबकि अज्ञानी जीव शास्त्र को सुनते हुए भी कर्म से लिप्त हो सकता है। इसलि शास्त्र आदि को संवर का कारण नहीं कह सकते है। वस्तुतः ज्ञान ही संवर का हेतु है ज्ञानसार में उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा कि 'ज्ञान-सिद्धो न लिप्यते' ज्ञान सिद्ध आत्मा कज्जल गृह समान इस संसार में रहते हुए भी निरंतर अलिप्त रहती है। ज्ञान रूपी रसायन से भावित आत्मा को कर्म रूपी काजल स्पर्श करने में पूर्णतया असमर्थ है। व्यवहारनय हिंसादि को आश्रव रूप तथा विषयों को आश्रव के अंग के रूप तथा शास्त्र आदि को संवर के अंग के रूप में स्वीकार करता है परंतु निश्चयनय इन विषयों को नहीं परंतु आत्मा के उस प्रकार के अध्यवसायों को ही मुख्य मानकर भाव आश्रव और भावसंवर को ही यथार्थ रूप में आश्रव और संवर के रूप में स्वीकार करता है। निश्चयनय अज्ञान को आश्रव के अंग रूप और ज्ञान को संवर के अंग के रूप में स्वीकार करता है।

(८१८) शास्त्रं गुरोश्च विनयं क्रियामावश्यकानि च।
संवरांगतया प्राहुर्व्यवहारविशारदाः।।१४१।।

<u>अनुवाद -</u> व्यवहारनय के पंडितों ने शास्त्र, गुरु का विनय, क्रिया तथा आवश्यक को संवर को अंगरूप कहे हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय कर्म पुद्‌गलों के निरोध के लिए संवर के अंग के रूप में, शास्त्र, गुरु का विनय तथा सामायिक चतुर्विंशति स्तव, वंदन,

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग, प्रतिलेखन आदि आवश्यक क्रियाओं को मानता है। श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है -

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणई पावगं।
उभयंति जाणइ सोच्चा जं सेयं त समायरे।।

शास्त्र को सुनकर ही कल्याण का अर्थात् संवर आदि का मार्ग जानते है और सुनकर ही पापमार्ग को जानते है। शास्त्र को सुनकर दोनों मार्ग को जानते है और फिर उसमें जो आत्म कल्याण का मार्ग है उसका आचरण करते है। इस प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय से चिंतन, मनन से जीव में संवर के भाव उत्पन्न होते है। शास्त्राभ्यास से मोक्षमार्ग की पहचान होती है। हेय और उपादेय का ज्ञान होता है। कर्म का बंधन किन-किन कारणों से, किस प्रकार होता है ? उनका क्षय किस प्रकार कर सकते है ? उनका उपशम किस प्रकार कर सकते हैं ? यह भी शास्त्र द्वारा ही समझ में आता है। इस प्रकार जीव में संवर के भाव उत्पन्न करने में शास्त्र प्रबल निमित्त बनते है। गुरुभगवंत के प्रति विनय से, समर्पण से, जीव का मान कषाय मंद होता है। उसमें नम्रता और लघुता आती है। शास्त्र का अध्ययन भी गुरु के अधीन होकर ही हो सकता है। गुरु के प्रति सच्चा समर्पण होने से अहं और द्रोह भाव का नाश होता है। चित्त में सम्यक् परिणाम रहते हैं। गुरु भक्ति आत्मा में संवर के भाव पैदा करती है, जिससे भारी कर्मों का बंध न हो, इसकी जाग्रति आती है। शास्त्रोक्त क्रियाएं जिनेश्वर भगवान की स्तुति, गुरु वंदन प्रतिक्रमण इत्यादि आवश्यक क्रियाएं भी संवर के भाव को उत्पन्न करने में निमित्त बनती है। इस प्रकार व्यवहारनय के अनुसार इस प्रकार की सभी बाह्य क्रियाओं द्वारा कर्मों का अवरूद्ध करने का रोकने का कार्य आसानी से हो जाता है, क्योंकि शुभ क्रियाओं द्वारा आत्मा में भी निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसलिए बाह्य क्रिया रूप इन साधनों को संवर के अंग के रूप में माना गया है। जीव में संवर भाव को उत्पन्न करने में ये प्रबल निमित्त बनते हैं। इस प्रकार यह व्यवहारनय की मान्यता है।

(८१६) विशिष्टा वाक्तनु स्वान्तपुद्गलास्ते ऽफलावहाः।
ये तु ज्ञानादयो भावाः संवरत्वं प्रयान्ति ते।।१४२।।

<u>अनुवाद -</u> वाणी, शरीर और मन (स्वान्त) के जो विशिष्ट पुद्गल हैं वे फल को वहन करने वाले नहीं, परंतु जो ज्ञानादि भाव है वे संवरत्व को प्राप्त करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चयनय की मान्यता है कि शास्त्र अभ्यास, गुरु का विनय और आवश्यक आदि सभी बाह्य क्रियाएं है। ये सब पुद्गल का व्यापार है, शास्त्राभ्यास करते समय, बोलते समय या सुनते समय शास्त्र की गाथाओं में वाणी का उपयोग होता है। यह सब वचन का व्यापार है। इसमें वचन वर्गणा के पुद्गलों का व्यवहार है। गुरु के प्रति विनय भाव रखना यह मानसिक व्यापार है। इसलिए इसमें मनोवर्गणा के पुद्गलों का व्यवहार है। आवश्यक आदि क्रियाएँ शरीर के द्वारा होती है इसलिए उसमें काया का व्यापार है। इस प्रकार इन सभी बाह्य क्रियाओं में पुद्गल का व्यापार है। पौद्गलिक क्रिया संवर का फल प्रदान नहीं कर सकती है क्योंकि संवर आत्मा का परिणाम है। संवर तो आत्मा में रहे हुए ज्ञानादि गुणों से उत्पन्न होता है। वस्तुतः निश्चयनय आत्मा के ज्ञानादि गुणों और परिणाम के ऊपर बल देता है और कहता है कि ये ही संवर भाव को उत्पन्न करते है। संवर भाव आत्मा में ही विद्यमान है।

व्यवहारनय, शास्त्राभ्यास, गुरुविनय, आवश्यकादि क्रियाओं को आत्मा में संवर भाव को उत्पन्न करने में निमित्त कारण मानता है। निश्चयनय ज्ञानादि को उपादान कारण मानता है। निश्चयनय निमित्त कारण को महत्त्व नहीं देता है।

शास्त्राभ्यास और आवश्यकादि बाह्य क्रियाओं से आत्मा में संवरभाव अवश्य उत्पन्न होते ही हैं ऐसा नहीं है। ये सभी क्रियाएं करते हुए भी कभी-कभी संवरभाव उत्पन्न नहीं होता है परंतु दूसरी और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शास्त्राभ्यास, गुरु का विनय, आवश्यकादि क्रियाओं से संवर भाव उत्पन्न होता ही नहीं है ऐसा भी नहीं है। इसलिए निश्चयनय को पूर्णतः समझे बिना ही, शास्त्राभ्यास, गुरु का विनय, आवश्यक आदि क्रियाओं का त्याग करने की शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। व्यवहारनय से सारी

क्रियाओं का आचरण करते हुए भी निश्चयनय को लक्ष्य में अवश्य रखना चाहिए। क्योंकि अंत में तो निश्चय में ही स्थिर होना है।

(८२०) **ज्ञानादिभावयुक्तेषु शुभयोगेषु तद्गतम्।**
संवरत्वं समारोप्य स्मयन्ते व्यवहारिणः।।१४३।।

<u>अनुवाद -</u> ज्ञानादि भाव से युक्त ऐसे शुभ योगों में, उसमें रहे हुए संवरत्व का आरोपण करके व्यवहारवादी गर्व करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> निश्चय और व्यवहार का झगड़ा बहुत पुराना है। निश्चयनय कहता है कि वस्तुतः आत्मा के ज्ञानादि भाव में ही संवरत्व है जबकि व्यवहारनय वाले ज्ञानादि भावयुक्त शुभयोगों में ही संवरत्व का आरोपण करते हैं। शास्त्राभ्यास, गुरु का विनय, आवश्यकादि क्रियाएँ, समिति गुप्ति का पालन आदि व्यवहारनय के अनुसार ये शुभयोग है। निश्चय कहता है कि ऐसे पौद्गलिक शुभ योगों को संवर के रूप प्रसिद्ध करके व्यवहारनय वाले मिथ्याभिमान करते है। उन्होंने शुभयोगों को ज्ञानादि भावयुक्त इस प्रकार का विशेषण दिया है परंतु उससे बाह्य योग संवर रूप नहीं बन सकते हैं। संवर तो आत्मा के भाव ही है वह पुद्गल स्वरूप नहीं होता है। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यही है कि ज्ञानादि भाव आत्मा में है तो ही वे संवर रूप बन सकते है। इसके साथ में शुभयोग जुड़े हुए हो तो उसमें शुभयोग स्वयं संवररूप नहीं बन सकते हैं। लेकिन शुभयोग संवर के योग्य शुभभावों को उत्पन्न करने में निमित्त तो है ही, जिस प्रकार घट के निर्माण में कुम्हार, चाक आदि निमित्त है उसी प्रकार बाह्य क्रियाएँ चाहे स्वयं संवर में परिणमित नहीं होती है किन्तु संवर भाव को उत्पन्न करने में निमित्त होती है।

(८२१) **प्रशस्तरागयुक्तेषु चारित्रादिगुणेष्वपि।**
शुभाश्रवत्वमारोप्य फलभेदं वदन्ति ते।।१४४।।

<u>अनुवाद -</u> प्रशस्त राग से युक्त चारित्र आदि गुणों में भी शुभ आस्रव का आरोपण करके वे फल का भेद कहते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में निश्चयवादियों ने व्यवहारनय वाले शुभयोगों में संवर तत्त्व के आरोपण करने में जो भूल की है वह बताई। प्रस्तुत

श्लोक में व्यवहारनय वाले आस्रव तत्त्व सम्बन्धी जो भूल करते है उसको निश्चयनय वालों ने दर्शाया है। चारित्र यह आत्मा का गुण है और इस गुण का फल मोक्ष है। जीव संयम या दीक्षा ग्रहण करते समय संयम के प्रति जो राग होता है वह प्रशस्त राग है। संयम के प्रति तीव्र राग चारित्र गुण को प्रगटाता है परंतु व्यवहारनय वाले चारित्र गुण की अपेक्षा राग को प्राधान्यता प्रदान करते है और प्रशस्तराग का फल देवगति है इस प्रकार कहते हैं परंतु राग तो आश्रव है। प्रशस्त राग को शुभ आश्रव के रूप में स्वीकार करके चारित्रगुण में आस्रव का वे आरोपण करते है और इससे फल में भेद हो जाता है। मोक्ष के स्थान पर देवगति फल के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यवहारनय वाले फल में भेद उत्पन्न करते है। चारित्र गुण का फल मोक्ष है और शुभाश्रव का फल देवगति है। अतः शुभास्रव का आरोपण चारित्र रूपी गुण में करते हैं तो उसका फल भी देवगति माना जाएगा। इस प्रकार एक के स्थान पर दूसरे फल की प्राप्ति बताते हैं।

(८२२) भवनिर्वाणहेतूनां वस्तुतो न विपर्ययः।
अज्ञानादेव तद्गानं ज्ञानी तत्र न मुह्यति।।१४५।।

<u>अनुवाद -</u> वस्तुतः संसार और निर्वाण के हेतु का विपर्यय नहीं होता है। अज्ञान के कारण ही इस प्रकार का कथन कहा जाता है। ज्ञानी उसमें मोहित नहीं होते है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व के दो श्लोक में यह बताया गया है कि जहाँ संवर नहीं है वहाँ संवर बताया गया है और जहाँ आस्रव नहीं है वहाँ आस्रव बताया गया है अर्थात् शास्त्राभ्यास आवश्यकादि क्रियाओं को संवर के रूप में दर्शाया गया तथा चारित्रादि गुणों में शुभास्रव का आरोपण कर दिया, परंतु संवर मोक्ष का हेतु तथा आस्रव संसार का हेतु है। तात्त्विक रूप से जो भव अर्थात् संसार का हेतु है वह संसार का हेतु ही रहने वाला है, और जो निर्वाण का हेतु है वह निर्वाण का ही रहने वाला है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। जो भव का हेतु है वह कभी भी निर्वाण का हेतु नहीं बन सकता है। उसी प्रकार जो निर्वाण का हेतु है वह कभी भी संसार का हेतु नहीं बन सकता है। अज्ञान के कारण अज्ञानियों द्वारा ऐसा विपर्यय

हो जाता है, परंतु ज्ञानियों का दर्शन विशुद्ध होने के कारण वे उसमें मोहित नहीं होते हैं।

(८२३) तीर्थकृन्नामहेतुत्वं यत् सम्यक्तवस्य वर्ण्यते।
यच्चाहारकहेतुत्वं संयमस्यातिशायिनः।।१४६।।

(८२४) तपःसंयमयोः स्वर्ग हेतुत्त्वं यच्च पूर्वयोः।
उपचारेण तद्युक्तं स्याद् घृतं दहतीतिवत्।।१४७।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यक्त्व को तीर्थंकर नामकर्म का हेतु कहा जाता है, अतिशय उत्कृष्ट संयम को आहारक नामकर्म का हेतु तथा इस प्रकार पूर्व के तप और संयम स्वर्ग के हेतु कहे गये हैं। ऐसा उपचार से घटित होता है, जैसे 'घी जलता है या जलाता है' इस प्रकार का कथन उपचार से घटित होता है, वैसे ही यह भी घटित होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> व्यवहारनय के अनुसार सम्यक्त्व, तप, संयम आदि को शुभ आस्रव कहा गया है, उसका तात्पर्य यहाँ स्पष्ट किया गया है क्योंकि तप, संयम आदि जो मोक्ष के हेतु होते हैं, वे संसार के हेतु नहीं बन सकते है। आस्रव और संवर से सम्बन्धित व्यवहारनय़ के कथन को उपचार से समझना चाहिए। सर्वप्रथम यहाँ सम्यक्त्व को तीर्थंकर नामकर्म के हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है दूसरा उत्कृष्ट संयम को आहारक नामकर्म के हेतु के रूप में माना गया है और तीसरा पूर्व के तप और संयम स्वर्ग के हेतु कहे गये है। ये तीनों बात उपचार से घटित होती है। प्रस्तुत श्लोक में दृष्टान्त दिया गया कि घी का दीपक प्रज्वलित हो तो उसमें बाती जलती है अर्थात् बाती से ज्योत प्रगट होती है और दीपक का घी शनैः शनैः समाप्त होता है। उस समय कोई अगर यह कहे कि घी जलता है तो यह कथन उपचार से लेना चाहिए क्योंकि ज्योति में अग्नि है और वह जलती है। घी नहीं जलता है दीपक में घी तो घी के स्वरूप में ही है और ज्योति की अग्नि के अग्नि के स्वरूप में है परंतु घी नहीं हो तो ज्योति अधिक देर जलती हुई नहीं हर सकती है। इसलिए घी जलता है ऐसा जो प्रयोग होता है वह व्यवहार से मात्र उपचार ही है यथार्थ कथन नहीं है। 'घी जलता है' इस प्रकार का अर्थ करें तो गरम-गरम घी के हाथ पैर पर छींटे उड़ जाये तो व्यक्ति जल जाता है छाले हो जाते हैं। तब वह कहता है कि घी ने

जलाया या जल गया परंतु वास्तव में घी में रही उष्णता ने उसको जलाय। घी नहीं जला सकता। घी का स्वभाव तो ठंडा है; परंतु उपचार से कहा जाता है कि 'घी ने जलाया।'

उसी प्रकार सम्यक्त्व से कर्म की निर्जरा होती है। तीर्थंकर का जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद पूर्व के भव में 'सवि जीव करुं शासन रसी' ऐसी उत्कृष्ट करूणा की भावना भाते हैं। सभी जीवों को शासन का रसिक बनाऊं सभी जीव मोक्ष प्राप्त करे, यह भावना प्रशस्त राग से उत्पन्न हुई, और यह राग ही तीर्थंकर नामकर्म का हेतु है, न कि सम्यक्त्व, परंतु सम्यक्त्व के अभाव में इस प्रकार का प्रशस्त राग कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए सम्यक्त्व तीर्थंकर नामकर्म का हेतु है यह उपचार से कहा जाता है। उसी प्रकार संयम से कर्म की निर्जरा होती है परंतु संयम पर्याय में प्रशस्त भावों से पूर्वधरों को कई लब्धियाँ प्रगट होती है। उन लब्धियों में किसी को आहारक लब्धि की भी प्राप्ति होती है। कुछ शंका उपस्थित होने पर लब्धिधर साधक आहारक लब्धि के प्रयोग द्वारा समवशरण में क्षण में ही अपनी शंका का समाधान साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा से करके आ जाता है। इस प्रकार उत्कृष्ट संयम का पालन करते हुए प्रशस्त भावों के कारण आहारक लब्धि के प्रगट होने से संयम को आहारक नामकर्म के हेतु के रूप में उपचार से कहा गया है।

वैसे ही पूर्व के तप और संयम से निर्जरा होती है परंतु उसके साथ जो प्रशस्त राग जुड़ा हो तो वह राग स्वर्ग का हेतु बनता है। इसलिए उपचार से कहा जाता है कि तप और संयम स्वर्ग के हेतु हैं। वस्तुतः तप और संयम तो मोक्ष के हेतु हैं परंतु उसके साथ जुड़ा हुआ राग ही स्वर्ग का हेतु है।

(८२५) येनांशेनात्मनो योगस्तेनांशेनास्रवो मतः।
येनांशेनोपयोगस्तु तेनांशेनास्य संवरः।।१४८।।

<u>अनुवाद</u> - जितने अंश में आत्मा का योग है उतने अंश में उसका आस्रव कहा गया है और जितने अंश में (ज्ञानादि) उपयोग है उतने अंश में उसका संवर है।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक की चर्चा को प्रस्तुत श्लोक में निश्चयनय की दृष्टि से समझाया गया है। जितने अंश में आत्मा का योग है उतने अंश में आस्रव है। योग अर्थात् शरीर, वचन और मन जब सक्रिय होते हैं अर्थात् प्रवृत्तिउन्मुख होते है तब आत्मा के प्रदेशों में जो स्पन्दन-कम्पन होता है, वह योग कहलाता है। वह योग निमित्त की दृष्टि से तीन प्रकार का होता है- १. मनोयोग २. वचनयोग और ३. काय योग।

वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम तथा शरीरनाम कर्म की वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशों में कम्पन होना काययोग है। उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई वाग् लब्धि के कारण जब जीव वचन बोलने को उद्यत होता है, उस समय का आत्मप्रदेशों का कम्पन वचनयोग है। ऐसे ही वीर्यान्तरायकर्म तथा अनिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई मनोलब्धि से मनन रूप क्रिया करने को जब जीव उद्यत होता है, तब वह मनोयोग कहलाता है। जितने अंश में आत्मा का योग अर्थात् मन वचन काया का व्यापार उतने अंश में आस्रव है और जितने अंश में आत्मा का उपयोग उतने अंश में संवर है। एक ही जीव में आस्रव और संवर का अंश समकाल में हो सकता है। उपयोग का एक अर्थ है आत्म ज्ञान का प्रगटत्व। यहाँ उपयोग अर्थात् जीव का विशुद्ध चैतन्य भाव में रमण करना। इस प्रकार जीव में योगधारा और उपयोगधारा दोनों साथ होती है। इसमें जितने अंश में योगधारा उतने अंश में आस्रव और जितने अंश में उपयोगधारा उतने अंश में संवर है। इसलिए एकान्त रूप से बाह्य हिंसा आदि को आस्रव और बाह्य अहिंसा आदि को संवर कहना या सराग चारित्र को शुभ आस्रव कहना उचित नहीं है।

(८२६) **तेनासावंशविश्रान्तौ बिभ्रदास्रवसंवरौ।**
भात्यादर्श इव स्वच्छास्वच्छभागद्वयः सदा।।१४६।।

अनुवाद - इसलिए उतने-उतने अंश में विश्रान्ति प्राप्त आस्रव और संवर दोनों को धारण करते हुए वह (आत्मा) स्वच्छ और अस्वच्छ ऐसे दो भाग वाले काँच (आदर्श) की तरह सदा दिखाई देती है।

विशेषार्थ - आस्रव और संवर से युक्त आत्मा की स्थिति को काँच का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। काँच कभी सम्पूर्ण रूप से अस्वच्छ होता है

अर्थात् मलिन होता है, कभी पूर्ण रूप से स्वच्छ होता है और कभी थोड़ा मलिन और थोड़ा स्वच्छ होता है अर्थात् एक ही समय में काँच अमुक भाग में स्वच्छ तथा अमुक भाग में मलिन भी हो सकता है। ठीक ऐसे ही आत्मा की स्थिति भी हो सकती है। जितने अंश में आत्मा का शुद्ध उपयोग है उतने अंश में संवर और जितने अंश में मन-वचन और काया के योग में चंचलता है उतने अंश में आस्रव। संवर को स्वच्छ भाग के रूप में और आस्रव को अस्वच्छ भाग के रूप में माने तो काँच के दृष्टान्त की तरह आत्मा में भी स्वच्छ और अस्वच्छ दोनों भाग साथ-साथ दिखाई देते हैं।

यहाँ पर सदा शब्द का प्रयोग किया गया है वह तेरहवें गुणस्थानक तक के सभी संसारी जीवों की अपेक्षा से प्रयुक्त किया गया है। यदि 'सदा' शब्द का इस प्रकार का अर्थ करें कि आत्मा हमेशा आस्रव और संवर के अंश वाला ही होता है तो यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर आत्मा के शाश्वत् रूप से संसारी ही स्वीकारना पड़ेगा परंतु ऐसा नहीं है। जब गाढ़ मिथ्यात्व होता है तब आत्मा में केवल आस्रव होता है संवर नहीं, वह दशा सम्पूर्ण रूप से मलिन होती है और जब चौदहवें गुणस्थान पर स्थित आत्मा में आस्र नहीं होता है सर्वसंवर होता है तब सम्पूर्ण रूप से निर्मलता की स्थिति होती है। इसलिए यहाँ आस्रव और संवर दोनों अंश में वश्रान्ति पाए हुए संसारी जीव की सदा की स्थिति का विचार किया गया है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है। चौथे गुणस्थानक से तेरहवें गुणस्थानक तक आस्रव और संवर का अंश बढ़ता घटता रहता है। इसलिए दर्पण में स्वच्छता और मलिनता की स्थिति शाश्वत् नहीं है उसी प्रकार आत्मा में स्वच्छता और मलिनता की स्थिति उसी रूप में हमेशा नहीं रहती है। उसमें कभी वृद्धि होती रहती है परंतु जब तक आस्रव और संवर दोनों है तब तक अमुक भाग स्वच्छ और अमुक भाग अस्वच्छ ऐसी स्थिति सदा रहती है।

(८२७) शुद्धैव ज्ञानधारा स्यात् सम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरम्।
हेतुभेदाद्विचित्रा तु योगधारा प्रवर्तते।।१५०।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद ज्ञानधारा शुद्ध ही होती है और हेतु के भेद के कारण योगधारा विचित्र (शुद्ध और अशुद्ध) चलती है।

विशेषार्थ - जीव के आंतरिक परिणमन के साथ में आस्रव और संवर किस प्रकार से रहे हुए हैं इसका सूक्ष्म चिंतन यहाँ किया गया है। संसारी जीवों में दो धारा निरन्तर चलती रहती है। एक उपयोग धारा और दूसरी योगधारा। उपयोग धारा को ज्ञान धारा भी कहा जाता है तथा योगधारा को वीर्यधारा भी कहा जाता है। ये दोनों धाराएँ शुद्ध और अशुद्ध प्रकार की होती है। अशुद्ध धारा आस्रवरूप होती है और शुद्ध धारा संवररूप होती है। जब मिथ्यात्व का नाश होता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तब ज्ञानधारा या उपयोगधारा शुद्ध बनने लगती है और आस्रव भाव मंद हो जाता है तथा संवर भाव प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थानक पर प्राप्त होता है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थानक पर उपयोगधरा अधिक शुद्ध होती है और संवर भाव प्रगट होता है। परंतु यह गुणस्थानक अविरति सम्यग्दृष्टि का है। अविरति के काल में मन, वचन और काया के योग की धारा शुद्ध नहीं होती है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थानक पर योगधारा आस्रव रूप होती है। जीव जैसे-जैसे उच्च गुणस्थानक की ओर जाता है वैसे-वैसे उसकी योगधारा शुद्ध बनती जाती है। अविरति में से जीव अप्रत्याख्यान कषाय के नष्ट होने पर देशविरति गुणस्थानक पर आता है तब योगधारा आंशिक शुद्ध होती है। आंशिक रूप से शुद्ध हुई योगधारा से आंशिक रूप से संवरभाव प्रगट होता है। मन-वचन और काया के योग तेरहवें गुणस्थानक तक हेते हैं। इसलिए चतुर्थ गुणस्थानक से तेरहवें गुणस्थानक तक जितने-जितने अंश में योगधारा की शुद्धि बढ़ती जाती है उतने-उतने अंश में आस्रव चालु रहता है। कर्मबंध के चार हेतु है - १. मिथ्यात्व २. अविरति ३. कषाय और ४. योग। मिथ्यात्व के नाश होने के बाद चतुर्थ गुणस्थानक की प्राप्ति होती है अतः चतुर्थ गुणस्थानक में मिथ्यात्व का अभाव रहता है फिर भी कर्मबंध के तीन हेतु अविरति, कषाय और योग रहते है। ये आस्रवरूप हैं। जैसे-जैसे विरति प्राप्त होती है वैसे-वैसे कषाय मंद होते जाते हैं और दसवें गुणस्थानक पर केवल आंशिक लोभ का ही उदय रहता है। बारहवें गुणस्थानक पर सभी कषाय सत्ता में से ही चले जाते हैं और तेरहवें गुणस्थान के अंत में योगों का निरोध होता है। इस प्रकार आत्मा में क्रमशः शुद्धता बढ़ती जाती है और अशुद्धता घटती जाती है। तेरहवें गुणस्थानक

तक शुद्ध और अशुद्ध योगधारा मिश्ररूप से चलती है। हेतुभेद के कारण योगधारा में इस प्रकार की विचित्रता होती है अर्थात् योगधारा में शुद्धि तथा अशुद्धि में कमी वृद्धि होती है।

(८२८) सम्यग्दृशो विशुद्धत्वं सर्वास्वपि दशास्वतः।
मृदुमध्यादिभावस्तु क्रियावैचित्र्यतो भवेत्।।१५१।।

__अनुवाद -__ सम्यग्दृष्टिजीव को सभी अवस्थाओं में विशुद्धत्व ही होता है। मृदु मध्यम आदि भाव तो क्रिया की विचित्रता के कारण होता है।

__विशेषार्थ -__ पूर्व श्लोक की बात को यहाँ स्पष्ट किया गया है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद सभी प्रवृत्ति में विशुद्धता ही होती है और वह संवर रूप होती है, परंतु अविरति में से देशविरति और देशविरति में से सर्वविरति रूप बाह्य क्रिया के कारण योगधारा धीरे-धीरे अधिक शुद्ध होती जाती है और प्रारंभ में जो संवरभाव मृदु था अब वह मध्यम प्रकार का और बाद में उत्कृष्ट प्रकार का होता है। इस प्रकार क्रिया की विचित्रता के कारण अर्थात् तरतमता के कारण संवर भाव मृदु मध्यम आदि भाव वाला होता है। उपयोगधारा की बढ़ती हुई विशुद्धि के साथ योगधारा की विशुद्धि भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

(८२९) यदा तु सर्वतः शुद्धिर्जायते धारयोर्द्वयोः।
शैलेशीसंज्ञितः स्थैर्यात् तदा स्यात्सर्वसंवरः।।१५२।।

__अनुवाद -__ जब दोनों धाराओं की सभी से विशुद्धि होती है तब स्थिरता के कारण शैलेशी नामक सर्वसंवर होता हैं

__विशेषार्थ -__ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद जीव की ज्ञानधारा विशुद्ध बनती है और वह संवर रूप होती है परंतु क्रिया की विचित्रता के कारण जीव की अशुद्ध योगधारा उत्तरोत्तर विशुद्ध होती जाती है। उसमें जितने अंश में अशुद्धि उतने अंश में आश्रव और जितने अंश में विशुद्धि उतने अंश में संवर। इस प्रकार चौथे गुणस्थानक पर सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जो दोनों धाराएँ चलती है वे सम्पूर्ण रूप से शुद्ध तो चौदहवें गुणस्थानक पर ही होती है। इस *गुणस्थानक* पर *शैलेशीकरण होता है।* आत्मप्रदेशों में शैलेशीकरण होते ही मन-वचन और काया के योग का

निरोध होता है (योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का कंपन) योगनिरोध होते ही आत्मप्रदेश मेरू पर्वत की तरह निष्कंप, स्थिर बन जाता है। आत्मप्रदेशों के निष्कंप बनते ही वे नये पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित नहीं करते है। इसलिए आस्रव की क्रिया रूक जाती है। इस प्रकार आत्मप्रदेशों का स्थैर्यप्राप्त होते ही योगधारा भी विशुद्ध हो जाती है और वह भी संवररूप बन जाती है। इस प्रकार चौदहवें गुणस्थानक पर शैलेशी अवस्था में सर्वसंवर होता है अर्थात् अब कर्मबंधन की शक्यता नहीं रहती है। आत्मा सर्वकर्मों से मुक्त हो जाती है।

(८३०) ततोऽर्वाग् यच्च यावच्च स्थिरत्वं तावदात्मनः।
संवरो योगचांचल्यं याक्तवत्किलाश्रवः।।१५३।।

<u>अनुवाद -</u> उससे पूर्व जैसा और जितना आत्मा का स्थिरत्व उतना आत्मा का संवर और जितनी योग की चंचलता उतना आस्रव जानना चाहिए।

<u>**विशेषार्थ -**</u> शैलेशी की या सर्वसंवर के पूर्व की जो अवस्था है उसमें जितना स्थिरत्व उतना आत्मा का संवरभाव है और जितनी योगों की चंचलता है उतना आस्रव भाव है। चौथे गुणस्थानक पर आंशिक संवर भाव की प्राप्ति होती है क्योंकि चौथे गुणस्थानक पर मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। अतः ज्ञानधारा विशुद्ध बनने से संवरभाव की प्राप्ति होती है। अविरति सम्यग्दृष्टि को रागादि भाव होते है परंतु कदाग्रह नहीं होता है। यथार्थ बोध की उसे अल्पता हो सकती है परंतु उसे अश्रद्धा नहीं होती है और कुदेव-कुगुरु-कुधर्म में श्रद्धा नहीं होती है। जैसे-जैसे उसके रागादि भाव शांत होते जाते हैं वैसे-वैसे उसकी ज्ञानधारा विशुद्ध होती हुई संवर रूप बनती जाती है। देश विरति और सर्वविरति गुणस्थानक पर विशुद्ध ज्ञानधारा के साथ सम्यक् चारित्र जितने-जितने अंश में प्राप्त होता जाता है उतने-उतने अंश में उसकी योगधारा या वीर्यधारा विशुद्ध बनती जाती है और वह संवर रूप होती है। दसवें-ग्यारहवें गुणस्थानक तक सूक्ष्म कषाय रहा हुआ है। ग्यारहवें गुणस्थानक पर कषाय का उदय नहीं होता है परंतु उपशमित रूप में रहते हैं और बारहवें गुणस्थानक पर कषायों का सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है। परंतु

मन-वचन-काया के योग तो रहते ही हैं, इसलिए योग के कारण आत्मप्रदेशों में कंपन, चंचलता रहती है। तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थानक पर भी योग रहते है किन्तु कषाय नहीं होने से मात्र इर्यापथिक आस्रव होता है। चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थानक पर योगनिरोध होते ही स्थिरता और सर्वसंवर प्राप्त होता है। इस प्रकार जितना आत्मा का स्थिरत्व उतना संवर और जितनी योग की चंचलता उतना आस्रव होता है।

(८३१) अशुद्धनयतश्चैवं संवराश्रवसंकथा।
संसारिणां च सिद्धानां न शुद्धनयतो भिदा।।१५४।।

<u>अनुवाद -</u> अशुद्ध नय से इस प्रकार आस्रव और संवर का वर्णन (कथा) है। शुद्धनय के आधार पर तो संसारी और सिद्ध के जीवों के मध्य कोई भेद नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोकों में आस्रव और संवर तत्त्व की चर्चा, व्यवहारनय से, अशुद्ध निश्चयनय से तथा शुद्ध निश्चयनय से की गई है। शुद्धनिश्चयनय का मंतव्य है कि विशुद्धआत्मा आस्रव रूप भी नहीं है और संवर रूप भी नहीं है। आत्मा आस्रव तथा संवर तत्त्व से भिन्न है। व्यवहारनय की मान्यता है कि जीव के लिए हिंसादि आस्रवरूप है और अहिंसा आदि संवररूप है। अशुद्ध निश्चयनय हिंसा-अहिंसा को परद्रव्य की पर्याय मानता है इसलिए बाह्य स्थूल हिंसा-अहिंसा को वह आस्रव-संवर रूप नहीं मानता है परंतु आत्मा में उत्पन्न होते हुए उस प्रकार के भाव को आस्रव रूप और संवररूप मानता है।

शुद्धं निश्चयनय तो आस्रव और संवर की बात ही नहीं स्वीकार करता है। वह तो आत्मा को सर्वकर्म से रहित, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप, त्रिकाली ध्रुव, निरंजन, शुद्ध रूप में ही देखता है। अगर इस प्रकार हो तो संसारी जीव की आत्मा और सिद्ध शिला के ऊपर विराजमान सिद्धभगवन्त की आत्मा, दोनों के मध्य कोई अन्तर ही नहीं रहता है। निश्चयनय कहता है कि सभी जीवों में सिद्ध स्वरूपी परमात्मा रहा हुआ है। इसलिए वह सिद्ध और संसारी इस प्रकार के भेद को नहीं स्वीकारता है। क्योंकि आत्मा स्वरूपतः शुद्ध ही है।

(८३२) निर्जरा कर्मणां शाटो नात्मासौ कर्मपर्ययः।
येन निर्जीर्यते कर्म स भावस्त्वात्मलक्षणम्।।१५५।।

__अनुवाद -__ निर्जरा अर्थात् कर्मों का क्षय (शाट) वह आत्मस्वरूप नहीं है, कर्म की पर्याय है। जिसके द्वारा कर्म की निर्जरा होती है वे भाव ही आत्मा के लक्षण है।

__**विशेषार्थ -**__ आस्रव और संवर तत्त्व से आत्मा को भिन्न दर्शाने के पश्चात् अब निर्जरा तत्त्व से आत्म तत्त्व की भिन्नता दर्शाई गई है। निर्जरा अर्थात् कर्म पुद्‌गलों का आत्मप्रदेशों से अलग होना। निर्जरा अर्थात् झड़ जाना, निर्जरित हो जाना। कर्म के पुद्‌गल परमाणु आत्मा में रागादि भाव में उत्पन्न होने पर चिपकते हैं। ये ही पुद्‌गल परमाणु जब आत्मा से अलग हो जाते हैं, झड़ जाते है तब उस प्रक्रिया को निर्जरा कहते है। निर्जरा की प्रक्रिया में कर्म पुद्‌गलों का नाश नहीं होता है परंतु वे आत्मप्रदेशों में से निकल जाते है। इस प्रकार कर्मपुद्‌गल जब आत्मप्रदेशों से चिपकते हैं तब पुद्‌गलों की एक अवस्था की स्थिति होती है। ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शन का आवरण करने वाले दर्शनावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म होते हैं और इनकी आत्मा के साथ रहने की स्थिति अर्थात् काल निश्चित होता है जब वे आत्मप्रदेशों से निकल जाते हैं तब दूसरी अवस्था या स्थिति होती है। कर्मपुद्‌गलों की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है।

कर्मपुद्‌गल पुद्‌गल स्वरूप अजीव तत्त्व है और आत्मा चेतन स्वरूप है। दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता है। निश्चय नय से देखा जाय तो आत्मा स्वयं कर्म की निर्जरा नहीं करती है। परंतु आत्मा में ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं कि उन भावों की उपस्थिति में कर्मपुद्‌गल वहाँ नहीं रह सकते हैं। उन्हें आत्मा प्रदेशों से अलग होना पड़ता है। इसलिए निर्जरा के समय कर्म पुद्‌गलों की एक अवस्था का सर्जन होता है। प्रत्येक निर्जरा की प्रक्रिया के समय कर्मपुद्‌गल एक ही क्रम में एक ही स्थिति में नहीं होते है, उनकी स्थिति सतत् परिवर्तित होती रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्जरा कर्म की पर्याय है। कर्म की पर्याय भी सतत् परिवर्तित होती रहती है। इस प्रकार निर्जरा के समय आत्मा कर्मपुद्‌गलों से पृथक् भावों को प्राप्त करती है और कर्मपुद्‌गल

आत्मा से पृथक् भाव प्राप्त करते हैं परंतु यह पृथक् भाव अपने आप ही नहीं होता है। आत्मा में कोई ऐसे उच्च अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं तो ही कर्म पुद्गल निर्जरित होते हैं। आत्मा में जो भाव उत्पन्न होते हैं वहीं निर्जरा है। यह भाव आत्मा के स्वयं के हैं, यह आत्मा का परिणमन है, यही आत्मा का लक्षण है। इसलिए आत्म परिणमन से कर्म की निर्जरा होती है उस भाव को भाव निर्जरा कहते हैं। उस समय कर्म पुद्गलों की जो अवस्था निर्मित होती है उसे द्रव्य निर्जरा कहते हैं। भाव निर्जरा द्रव्य निर्जरा में निमित्त बनती है।

(८३३) सत्तपो द्वादशविधं शुद्धज्ञानसमन्वितम्।
आत्मशक्तिसमुत्थानं चित्तवृत्तिनिरोधकृत्।।१५६।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मविश्वास का उत्थान करने वाला, चित्तवृत्ति का निरोध करने वाला शुद्धज्ञान युक्त ऐसा उत्तमतप बारह प्रकार का हैं।

<u>**विशेषार्थ -**</u> तप से कर्म की निर्जरा होती है। तप संवर का भी उपाय है और निर्जरा का भी उपाय है। आवश्यक मलयगिरि (खण्ड २, अ.१) में कहा गया है - तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः। जो आठ प्रकार के कर्मों को जलाए वह तप है। जिन क्रियाओं से कर्मों का क्षय हो और आत्मा की विशुद्धि हो, वे सभी तप है। तप के द्वारा करोड़ों भव का संचित कर्मपुंज भी उसी तरह भस्म हो जाता है जिस प्रकार अग्नि के कारण रूई का ढेर। उत्तराध्ययन में कहा गया है - "भवकोड़िसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ" जैसे घी को तपाने से उसमें रही हुई दुर्गन्ध मर जाती है, स्वर्ण का मैल दर करने के लिए उसे अग्नि में डाला जाता है, दूध को तपाने से मावा बनता है उसी तरह तप रूपी अग्नि में तपकर कर्म निर्जरीत हो जाते है और आत्मा विशुद्ध हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति जी ने नवें अध्ययन के तीसरे सूत्र में कहा है 'आत्मशोधिनी क्रिया तपः'। 'तपसा निर्जरा च' इस प्रकार आत्मा की विशुद्धि करने वाली क्रिया तप है। तप के अनेक प्रकार है परंतु उनमें उत्तम प्रकार के तप के बारह भेद बताए गए हैं। बारह प्रकार के तप के भेद की तरह निर्जरा भी बारह प्रकार की होती है। बारह प्रकार के तप में छः प्रकार का तप बाह्य तथा छः प्रकार का तप आभ्यंतर तप कहलाता है। बाह्य तप वह है जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा

जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा सहित होने से दृष्टिगोचर होता है। आभ्यंतर तप वह है, जिसमें मानसिक वृत्तियों की प्रधानता हो तथा जो प्रायः बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रहित होने से दूसरों को दृष्टिगोचर न भी हो। बाह्य तप का महत्त्व आभ्यन्तर तप की पुष्टि में उपयोगी होने से है।

बाह्य तप के छः भेद हैं - १. अनशन २. ऊनोदरी ३. वृत्तिसंक्षेप (भिक्षाचर्या) ४. रसपरित्याग ५. कायक्लेश ६. प्रतिसंलीनता।

आभ्यन्तर तप के भी छः भेद है - १. प्रायश्चित्त २. विनय ३. वैयावृत्त्य ४. स्वाध्याय ५. ध्यान ६. व्युत्सर्ग।

१. अनशन :- आत्मा मूलतः अनाहारी है। शरीर में आबद्ध होने की परतंत्रता के कारण उसे आहार करना पड़ता है। इसलिए मुमुक्षु आहार की गुलामी को अधिक से अधिक निराहार रहकर तोड़ता है। चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है। अनशन तप दो प्रकार का होता है- मर्यादित समय के लिए किया जाने वाला इत्वरिक अनशन तथा जीवन पर्यन्त के लिए किया जाने वाला यावत्कथित अनशन होता है। एक उपवास से लेकर छः मास के उपवास तक इत्वरिक अनशन होता है।

२. ऊनोदरी तप :- आहार, उपधि और कषाय को नयून करना ऊनोदरी तप है। भूख से एक दो कवल भी कम खाना ऊनोदरी तप कहलाता है। इसके दो भेद है - १. द्रव्य ऊनोदरी २. भाव ऊनोदरी।

द्रव्य ऊनोदरी के तीन उत्तर भेद है - १. आहार की अल्पता २. वस्त्र की अल्पता ३. उपकरण की अल्पता।

भाव ऊनोदरी के आठ भेद है - १. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ ५. राग ६. द्वेष ७. क्लेश - इन दोषों को कम करना तथा ८. अल्प बोलना।

३. वृत्तिसंक्षेप या वृत्तिपरिसंख्यान तप :- इसका अभिप्राय है लालसा कम करना। विभिन्न वस्तुओं के प्रति अपनी इच्छाओं को कम या सीमित करना। श्रावक के चौदह नियम जो प्रतिदिन चिन्तन किये जाते हैं, इसी तप की ओर संकेत करते है अर्थात् इस तप की साधना के अन्तर्गत आते हैं। उत्तराध्ययन में वृत्तिपरिसंख्यान के स्थान पर 'भिक्खयरिया' शब्द का प्रयोग

किया गया है। साधु की अपेक्षा से इसे भिक्षाचरी तप कहा गया है। साधु इस तप के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अभिग्रह लेता है।

४. रसपरित्याग :- इस तप का उद्देश्य स्वादवृत्ति पर विजय पाना है। जीभ को स्वादिष्ट लगने वाली और इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली भोज्य वस्तुओं का त्याग करना, रसपरित्याग तप है। इसमें मुख्यतः घी, तेल, दूध, दही, मिठाई इन विकृतियों का त्याग किया जाता है। साथ ही मिर्च मसालेदार गरिष्ठ वस्तुओं का भी त्याग होता है।

५. कायक्लेश :- कायक्लेश का अर्थ है, शरीर को इतना अनुशासित कर लेना - साध लेना कि ठण्ड, गर्मी आदि की बाधाएं और उपसर्ग-परीषह सहन करते हुए भी स्थिर तथा अव्यथित रह सके। कायक्लेश तप में स्वेच्छा से केशलौच, आसन आतापना, शीत-ताप आदि सहन करना तथा इसी के अन्तर्गत प्राणायाम का अभ्यास आता है।

६. प्रति संलीनता (विविक्तशय्यासन) :- अब तक जो इन्द्रिय, योग आदि बाह्य प्रवृत्तियों में लीन थे उन्हें अन्तर्मुखी बनाना - आत्मा की ओर मोड़ना अर्थात् इन्द्रिय, कषाय और योगों के विषय संचार को रोकना प्रतिसंलीनता तप है। इसके चार प्रकार हैं - १. इन्द्रियप्रतिसंलीनता - इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर जाने से रोकना। २. कषाय प्रतिसंलीनता - चारों कषायों का शमन करना। ३. योग प्रतिसंलीनता - मन-वचन-काया के योगों की चपलता का निरोध। ४. विविक्तशय्यासनसेवना - विकारोत्पादक, दोषवर्धक स्थानों का त्याग करना अर्थात् स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित एकान्त स्थान पर रहना। आभ्यन्तर तप के छः भेद -

१. प्रायश्चित्त तप :- अंगीकृत व्रतों में प्रमादजनित दोषों का शोध करना प्रायश्चित्त कहलाता है। इसमें माया से रहित होकर सरलतापूर्वक अपने दोषों की आलोचना निंदा, गर्हा, गुरु के समक्ष करना चाहिए और गुरु उसकी शुद्धि के लिए जो तपादि करने के लिए कहे वह करना चाहिए। प्रायश्चित्त दस प्रकार का होता है।

२. विनय :- ज्ञान, दर्शन, चारित्र के प्रति तथा गुरुजनों, गुणवानों के प्रति भक्ति बहुमान रखना, नमस्कार करना, उनकी आशातना से बचना, विनम्रता

रखना तथा छोटों के प्रति स्नेहवात्सल्य रखना। वस्तुतः विनय तप से मान विगलित होता है।

३. वैयावच्च या वैयावृत्य तप :- निःस्वार्थ और अग्लान भाव से गुरु, ज्येष्ठ साधु, वृद्ध, रोगी आदि की सेवा करना-परिचर्या करना। चतुर्विध संघ आदि की खानपान, वस्त्र, पात्र, औषध आदि के द्वारा यथायोग्य सेवा करना।

४. स्वाध्याय :- ज्ञान को प्राप्त करने के लिए और आत्मचिंतन के लिए विविध प्रकार से अभ्यास करना। स्वाध्याय को असाधारण तप कहा गया है। इसके पाँच भेद है - वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

५. व्युत्सर्ग :- शरीर और सभी प्रकार की सामग्री के ऊपर ममत्व का त्याग करके एक आसन पर बैठक लोगस्स आदि का चिंतन करना, आत्मरमणता में रहना। कायोत्सर्ग के दो भेद है - १. द्रव्य व्युत्सर्ग और २. भाव व्युत्सर्ग। शरीर आदि बाह्य पदार्थों का ममत्व कम करना द्रव्य व्युत्सर्ग और काषायिक विकारों का, कर्मबंध के कारणों का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है।

यद्यपि सकल संसारी आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम अनवरत गतिशील रहता है तथापि मोक्षमार्ग की अंगभूत निर्जरा ही उपादेय होती है। यह बारह प्रकार का तप यदि शुद्ध ज्ञानयुक्त हो तो कर्मनिर्जरा का विशेष कारण बनता है। वास्तव में मोक्षमार्ग की अंगभूत निर्जरा तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से प्रारंभ होती है और जिन अवस्था में परिपूर्ण होती है। तप से निर्जरा होती है। तप अशुभ चित्तवृत्ति का निरोध करता है और आत्मा की शक्ति को अभिव्यक्त करता है।

(८३४) यत्र रोधः कषायाणां ब्रह्मध्यानं जिनस्य च।
ज्ञातव्यं तत्तपः शुद्धमवशिष्टं तु लंघनम्।।१५७।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें कषायों का निरोध हो, ब्रह्मचर्य और जिनेश्वर का ध्यान हो उस तप को शुद्ध जानना चाहिए। शेष तो लंघन है।

<u>विशेषार्थ -</u> तप विविध प्रकार का होता है - उसमें बाह्य तप में अनशन, ऊनोदरी आदि छः तप है। बाह्य तप का संबंध विशेषरूप से देह के साथ फिर मन के साथ होता है। अनशन में आहार का त्याग होता है।

तप का उद्देश्य शरीर दमन के साथ इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त करना, कर्म की निर्जरा प्राप्त करना है। साध्य को लक्ष्य में रखकर यदि साधनों का उपयोग किया जाए तब तो ठीक है लेकिन साध्य को भुला दिया जाय तो साधन निरूपयोगी सिद्ध होते है। संसार में कई प्राणी आत्मशुद्धि के लक्ष्य को भूलकर केवल शारीरिक कष्ट सहन करने का मार्ग अपनाते है। कोई पंचाग्नि तप तपते है, कोई मास-मास तक उपवास करके पारणें में कुशमात्र खाते हैं लेकिन यह सब अज्ञान तप है। ऐसे तप का कोई आत्मिक लाभ नहीं होता है क्योंकि ऐसे तप का उद्देश्य ही गलत है। जिसका उद्देश्य ही अशुद्ध है तो कार्य शुद्ध कैसे हो सकता है ? सांसारिक वासनाओं से या यश की लालसा से किया हुआ तप बाल तप की कोटि में आता है। ऐसे तप से आत्मसंशोधन नहीं होता है। आत्म शुद्धि के उद्देश्य से किया हुआ तप ही कर्मों की निर्जरा का कारण होता है। तप के साथ चित्त के अध्यवसायों का भी संबंध है। एक ओर उपवास आदि तप हो दूसरी ओर चित्त के अध्यवसाय मलिन हो, कषायों में तीव्रता हो तो वह तप तो गजस्नानवत् निष्फल होता है। हाथी स्नान भी करता जाता है और अपनी सूंढ से धूल उड़ाकर अपने शरीर पर भी डालता जाता है, यही स्थिति कषाय विजय के बिना तप करने की होती है। तप से तो निरंतर कषाय में मन्दता आनी ही चाहिए। बाह्य तप का उत्तमफल प्राप्त करना हो तो उसके साथ कषायों का निरोध होना चाहिए, ब्रह्मचर्य का पालन होना चाहिए और जिनेश्वर का ध्यान होना चाहिए। बाह्य तप के साथ आभ्यंतर तप जुड़ता है तो ही वह तप उत्कृष्ट बनता है। केवल बाह्य तप मात्र कायाकष्ट बनकर रह जाता है। केवल भूखे रहना तो तप नहीं मात्र लंघन है। आहार-त्याग के साथ-साथ कषाय एवं विकारों का भी त्याग आवश्यक है साथ ही जिनेश्वर देव के प्रति भक्ति, बहुमान, ध्यान आदि भी होना चाहिए।

(८३५) बुभुक्षा देहकार्श्यं वा तपसो नास्ति लक्षणम्।
तितिक्षाब्रह्मगुप्त्यादिस्थानं ज्ञानं तु तद्वपुः।।१५८।।

<u>अनुवाद -</u> क्षुधा और शरीर की कृशता यह तप का लक्षण नहीं है, परंतु तितिक्षा ब्रह्मचर्य, गुप्ति आदि का स्थानरूप ज्ञान वही उसका (तप का) शरीर है।

विशेषार्थ - बुभुक्षा अर्थात् भूखे रहना, भूख सहन कर लेना। उपवास आदि बाह्य तप में व्यक्ति को चारों प्रकार के आहार का त्याग रहता है। भूखे रहने से शरीर को पोषण नहीं मिलता है अतः शरीर सूख जाता है। क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से प्राणी को भूख लगती है और मोहनीय कर्म के उदय से भोजन करने की इच्छा होती है। कभी-कभी प्रतिकूलताओं के कारण भोजन नहीं मिल पाने के कारण, या अकाल आदि के कारण व्यक्ति को अनिच्छा से भूखे रहना पड़ता है परंतु यह तप नहीं है। स्वेच्छा से उपवास आदि बाह्य तप किया हो परंतु अंतर में तप की परिणति न हो तो ऐसा तप मात्र बाह्य क्रियारूप बनता है। यह तप भी कर्म की निर्जरा में सहायक नहीं होता है। कहा गया है - 'जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्त दंसिणो।' जो सम्यग्ज्ञानी, महाभाग, वीर और सम्यग्दृष्टि है उनका तप आदि अनुष्ठान शुद्ध है। उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान को ही तप का शरीर कहा है। ज्ञानयुक्त तप हो वही वास्तविक तप है। आत्मज्ञान के बिना वस्तुतः तितिक्षा, ब्रह्मचर्य, गुप्ति आदि का भी यथार्थ रूप से पालन नहीं होता है। तितिक्षा ब्रह्मचर्य आदि ज्ञानयुक्त हो वहीं तप का लक्षण है। तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता। जिसने विवेक पूर्वक क्रोधादि कषायों का शमन किया हो और समत्व भाव में दृढ़ हो वही व्यक्ति सहनशील होता है, सहिष्णु होता है। जब तक भेदज्ञान के द्वारा शरीर तथा आत्मा में भेद स्पष्ट नहीं होता है तब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है और व्यक्ति पूर्णरूप से क्षमावान् सहनशील नहीं हो पाता है। यदि तप किया हो, साथ ही किसी के एक वचन भी सुनने की शक्ति नहीं हो, सहनशीलता नहीं हो तो वह तप वास्तविक तप नहीं है। 'ब्रह्मगुप्ति' को एक शब्द के रूप में लेने पर ब्रह्मचर्य और उसकी नव वाड़ का अर्थ ले सकते है और ब्रह्म तथा गुप्ति दो शब्द ले तो ब्रह्मचर्य तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति, कायगुप्ति इस प्रकार भी ले सकते हैं। वस्तुतः तप द्वारा उत्कृष्ट कर्मनिर्जरा तो आत्मज्ञान युक्त होने पर ही होती है। इसलिए बाह्य तप के साथ अपनी आत्मा के भावों का निरीक्षण करते रहना चाहिए। तब ही बाह्य तप आभ्यंतर तप तथा कर्मनिर्जरा का निमित्त बन सकता है।

(८३६) ज्ञानेन निपुणेनैक्यं प्राप्तं चन्दनगंधवत्।
निर्जरामात्मनो दत्ते तपो नान्यादृशं क्वचित्।।१५६।।

<u>अनुवाद -</u> चंदन और उसकी गंध की तरह सम्यग्ज्ञान के साथ एकरूप हुआ तप ही आत्मा को निर्जरा प्रदान करता है उसके अलावा दूसरे (तप) के द्वारा कभी निर्जरा नहीं होती।

<u>विशेषार्थ -</u> जिस प्रकार चन्दन को उसकी गन्ध से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता है। गन्ध चन्दन के अणु-अणु में व्याप्त है। दोनों एकरूप है। चन्दन को चाहे घिसो, टुकड़े करो तो भी वह सुगन्ध ही देता है, वह सुगन्ध से पृथक नहीं होता है उसी प्रकार तप और निपुणज्ञान अर्थात् आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध यदि एकरूप हो गए है तो उससे कर्म की निर्जरा होती है। तप के साथ जब आत्मबोध एकरूप हो जाता है तब तप से निर्जरा होती है।

तप से पुण्य भी बंधता है और तप से कर्म की निर्जरा भी होती है। जो बाल तप है, जो तप संयम के राग से होता है उस तप से मुख्य रूप से पुण्य बंधता है। जो तप ज्ञान के साथ एकरूप हो जाता है उस तप से कर्म की निर्जरा होती है। विवेक सहित किए गए तप में न अभिमान की झलक होती है, न कोई लालसा, इच्छा होती है। एकान्त कर्मनिर्जरा का ही उनका लक्ष्य होता है।

(८३७) तपस्वी जिनभक्त्या च शासनोद्भासनेच्छया।
पुण्यं बध्नाति बहुलं मुच्यते तु गतस्पृहः।।१६०।।

<u>अनुवाद -</u> शासन प्रभावना की इच्छा से जिनभक्ति द्वारा तपस्वी विपुल पुण्य बांधता है परंतु स्पृहारहित हो तो वह (तपस्वी) मुक्त होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> तपश्चर्या करने के अनेक उद्देश्य है। तप करने वाले की कक्षाएँ भी भिन्न-भिन्न होती है। तपश्चर्या के काल में जीव के विविधप्रकार के भाव होते है। तपसा निर्जरा च अर्थात् तप से निर्जरा होती है इस प्रकार सूत्र में कहा गया है किन्तु तप से एकान्त निर्जरा ही नहीं होती है। विशिष्ट प्रकार के शुभभावों से किए गए तप के द्वारा मुख्यरूप से विशाल पुण्य का उपार्जन भी होता है। कितने ही तपस्वी दीर्घ तपश्चर्या करके उसके बदले

कुछ लौकिक फल मांग लेते हैं, निदान कर लेते हैं। कितने ही तप में मायाचार होता है। यश की कामना से कुछ लोग तप करते है। कुछ लोग रूप सम्पन्नता को, शरीर की स्वस्थता को प्राप्त करने की लिए तप करते है। अन्य प्रकार के प्रशस्त आशय से भी तप किया जाता है। कभी-कभी महामारी, अकाल, युद्ध आदि के निवारण के लिए व्यक्तिगत या सामुदायिक तप होता है जैसे द्वारिका नगरी बारह वर्ष तक आयंबिल के तप के प्रभाव से ध्वंस होने से बची रही। किसी महोत्सव के प्रारंभ में भी सामुदायिक तप होता है। कितने ही लोग जब कठिन तपश्चर्या करते हैं तब अन्य अजैन लोग भी जैन धर्म से प्रभावित होते है और जैनधर्म के गुणगान करते है। इस प्रकार जिनशासन की प्रभावना होती है। जैसे चम्पा श्राविका ने छः माह के उपवास किए थे तब अकबर उस तपस्या से प्रभावित होकर आचार्य हीरसूरीश्वरजी का भक्त हो गया और आचार्यश्री ने अकबर के द्वारा अनेक जिनशासन की प्रभावना करवाई। इस प्रकार शासन की प्रभावना या उन्नति के आशय से जिनभक्ति से प्रेरित होकर कई महापुरुष, साधु आदि तपस्या करते है। उसमें उनका प्रशस्तराग रहता है। इस प्रकार के तप से पुण्य बंधता है क्योंकि इसमें स्पृहा, आकांक्षा, इच्छा रहती है। यदि कोई बिना किसी इच्छा, स्पृहा, आकांक्षा के मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से तप करता है वह तप कर्म की निर्जरा में सबल निमित्त बनता है। जिनशासन की प्रभावना आदि के लिए उच्च प्रशस्त भाव से की जाती हुई तपश्चर्या का निषेध है ऐसा नहीं कह सकते हैं परंतु उससे पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन होता है निर्जरा अल्प होती है यह बात स्पष्ट रहना चाहिए।

(८३८) कर्मतापकरं ज्ञानं तपस्तन्नैव वेत्ति यः।
प्राप्नोतु स हतस्वान्तो विपुलां निर्जरां कथम्।।१६१।।

<u>अनुवाद -</u> जो कर्म को तपाये वह ज्ञान ही तप है ऐसा जो नहीं जानता है वह हत चित्तवाला अर्थात् अज्ञानी विपुल निर्जरा किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ?

<u>विशेषार्थ -</u> बाह्य और आभ्यन्तर तप भी अनेक प्रकार का होता है। सामान्य जीवों के बालतप से लेकर ज्ञानी महापुरुषों के तप तक की अनेक श्रेणियाँ होती है। इसमें तप का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य या आदर्श कौनसा ? विपुल

कर्म की निर्जरा ही इसका आदर्श है। जिस प्रकार गीली लकड़ी की अपेक्षा सूखी लकड़ी और सूखी के साथ-साथ जीर्ण लकड़ी शीघ्र जलकर भस्म हो जाती है इसी तरह गीले (निकाचित्) पाप कर्मों को बाह्य तथा आभ्यन्तर तप की आग में तपा देना चाहिए। इस प्रकार तपी हुई कर्मरूपी लकड़ी ध्यानरूपी अग्नि से शीघ्र जल जाती है। ध्यान आभ्यन्तर तप है। लेकिन यह तब ही सम्भव है जब तप के साथ ज्ञान संयुक्त हो। इसलिए स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। तप सहित ज्ञानगुण की जैसे-जैसे वृद्धि होती है वैसे-वैसे कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु आत्मा से अलग हो जाते है। इसमें कर्म की निर्जरा विपुल मात्रा में होती है। इसलिए साधक को ज्ञानोपयोग में स्थिर रहना चाहिए। जो इस रहस्य को नहीं जानते है वे हताश चित्त वाले है अर्थात् अज्ञानी है। वे उपवास आदि बाह्य तप करते है उससे अल्प भी निर्जरा नहीं होती है ऐसा नहीं है परंतु जितनी विपुलमात्रा में निर्जरा होना चाहिए उतनी मात्रा में नहीं होती है। क्योंकि उनका विवेक जाग्रत नहीं होता है। ज्ञान सहित तप हो तो निर्जरा अधिक होती है।

(८३६) अज्ञानी तपसा जन्मकोटिभिः कर्म यन्नयेत्।
अन्तं ज्ञानतपोयुक्तस्तत् क्षणेनैव संहरेत्।।१६२।।

<u>अनुवाद -</u> अज्ञानी करोड़ों जन्म के तप के द्वारा जिन कर्मों की निर्जरा करता है उनक (कर्मों) की ज्ञानतप से युक्त (ज्ञानी) क्षण में नाश कर सकता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मुख्य रूप से बारह प्रकार का तप है। छः बाह्य तप है और छः आभ्यन्तर तप। तप से कर्म की निर्जरा होती है परंतु प्रत्येक प्रकार के तप से अमुक-अमुक प्रकार की अमुक मात्रा में ही निर्जरा होती है ऐसा कोई नियम नहीं है। एक का एक ही तपस्वी किसी समय अमुक प्रकार का तप करता है तो उसकी विपुल निर्जरा होती है और वही तपस्वी किसी अन्य समय में वहीं तप करता है तो उतने प्रमाण में निर्जरा नहीं भी हो क्योंकि चित्त के भावों के साथ और आत्मबोध के साथ भी निर्जरा का संबंध है। भाव के उल्लासपूर्वक किए गए तप से निर्जरा अधिक होती है। एक ही प्रकार का तप दो तपस्वी साथ-साथ कर रहे हो - जैसे दो व्यक्ति आयम्बिल साथ-साथ कर रहे हो फिर भी उनके कर्मों की निर्जरा का प्रमाण

एकसमान हो यह आवश्यक नहीं है। एक स्पृहा कामना सहित आयम्बिल करता हो साथ ही विवेक जाग्रत नहीं हो दूसरा स्पृहा रहित होकर ज्ञानसहित निर्लिप्त भाव से आयम्बिल करता हो तो दोनों परिणामों में अन्तर होने के कारण फल में भी अन्तर आ जाता है। जो बाल-जीव है अज्ञानी है उसे तप के द्वारा कर्म की निर्जरा अत्यल्प मात्रा में होती है जैसे तामली तापस घोर तपश्चर्या करता था परंतु उसकी तपश्चर्या अज्ञान युक्त थी। अज्ञानी की तपस्या का कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता है ऐसा नहीं है। पुरुषार्थ उनका इतना होता है कि उन्हें चिंतामणि रत्न की प्राप्ति होना चाहिए परंतु मिलता है पत्थर का टुकड़ा। अर्थात् जिस घोर तप के द्वारा जीव कर्म से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता था उसी तप के द्वारा ज्ञान के अभाव में उसे मात्र देवलोक या बाह्य भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती है, परंतु भवभ्रमण समाप्त नही होता है। शान्तसुधारस में सम्यक् तप अर्थात् ज्ञानी के तप की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है –

'किमुच्यते सत्तपसः प्रभावः, कठोर कर्मार्जितकिल्बिषोऽपि।
दृढ़प्रहारीव निहत्य पापं, यतोऽपवर्गं लभतेऽचिरेण।।

सम्यक् तप अर्थात् ज्ञान सहित तप की महिमा अपरंपार है। ब्रह्म, स्त्री, भ्रूण और गाय की हत्या करने वाले कठोर कर्मों को उपार्जित करने वाले दृढ़ प्रहारी की आत्मा जब जाग्रत हो गई, उसके ज्ञान चक्षु खुल गए तब उसने कठोर तप करना प्रारंभ किया। उस सम्यक् तप के प्रभाव से उसी भव में उसके निकाचित कठोर कर्म जलकर राख हो गये अर्थात् सभी कर्मों का क्षय हो गया, निर्जरा हो गई और उसने उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लिया। इस प्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी के तप में बाह्य दृष्टि से भेद नहीं दिखाई देता है किन्तु आन्तरिक परिणामों में विशद अन्तर होता है जिसके फलस्वरूप अज्ञानी करोड़ों वर्ष तक करके जितने कर्मों की निर्जरा करता है उतने कर्मों की निर्जरा ज्ञानी श्वासोश्वास में कर देता है क्योंकि वे भावोल्लास के साथ विवेकपूर्वक बाह्य तथा आभ्यंतर तप का आचरण करते हैं। किसी को इस विधान में अतिश्योक्ति लग सकती है परंतु यह यथार्थ है। तप में ज्ञान का अत्यंत महत्त्व है। या ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट तप है।

(८४०) ज्ञानयोगस्तपः शुद्धमित्याहुर्मुनिपुंगवाः।
तस्मान्निकाचितस्यापि कर्मणो युज्यते क्षयः।।१६३।।

अनुवाद - ज्ञानयोग रूपी तप शुद्ध है, इस प्रकार श्रेष्ठ मुनिपुंगवों ने कहा है, इससे निकाचित कर्मों का भी क्षय होता है।

विशेषार्थ - सामान्य प्रकार के तप और शुद्ध प्रकार के उच्च तप के मध्य अन्तर है। यह बात यथार्थ है कि तप से कर्म की निर्जरा होती है। ज्ञानसहित शुद्ध तप से विशिष्ट निर्जरा होती है। कर्म बंध की दृष्टि से चार प्रकार के है - स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित। इन्हें एक दृष्टान्त के द्वारा समझ सकते हैं - सूईयों का समूह या ढेर जिसे स्पर्श करते ही वह बिखर जाता है उसी प्रकार के स्पृष्ट कर्म होते हैं जो आवश्यकादि क्रिया करने पर निर्जरीत हो जाते हैं। उन सूईयों को धागे में पिरो दिया जाए तो वे उतनी शिघ्रता से अलग नहीं जो पाएगी, एक-एक करके निकालना पड़ेगा। अतः धागे में पिरोई सूइयों के समान बद्ध कर्म होते है जो गुरु के समक्ष आलोचना आदि लेने से निर्जरीत हो जाते हैं। उन सूइयों में यदि जंग लगकर वे एक दूसरे से चिपक गई हो तो उन्हें पृथक करने के लिए कुछ विशेष पुरुषार्थ करना पड़ेगा वैसे ही निधत्त प्रकार के कर्म होते हैं। उन्हें आत्मा से पृथक करने के लिए कुछ विशिष्ट आराधनाएँ, तपादि करना पड़ते है। किन्तु उन सूइयों को यदि अग्नि पर रखकर द्रव्य रूप में परिणत करके ठंडा करके लोहे के धन रूप में बना दिया जाए तो फिर उन सूइयों को पृथक करना अत्यंत कठिन होता है। वैसे ही लोहे के धन रूप निकाचित कर्म होते हैं ये निकाचित कर्म अपना फल देकर ही आत्मा से पृथक होते है परंतु ऐसे घोर निकाचित कर्मों का भी सफाया ज्ञानयोग रूपी तप से हो सकता है।

ज्ञानयोग रूपी तप शुद्ध तप है इस प्रकार अनुभवियों ने, श्रेष्ठमुनियों ने कहा है। ज्ञानयोग यह श्रुतज्ञानरूपी अथवा आत्मज्ञानरूपी निर्मल उपयोग है। इस उपयोग के समय जगत् के सभी पदार्थों के प्रति उदासीनता का भाव रहता है। किसी भी पदार्थ की स्पृहा नहीं रहती है। सभी पदार्थ केवल ज्ञेय रूप रहते है। ऐसी उच्च ज्ञानदशा वाले महापुरुष

उच्चतर गुणस्थानकों पर आरोहण करते हैं तब श्रेणी का प्रारंभ करते हुए आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानक पर निकाचित कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

(८४१) यदिहापूर्वकरणं श्रेणी शुद्धा च जायते।
ध्रुवः स्थितिक्षयस्तत्र स्थितानां प्राच्यकर्मणाम्।।१६४।।

<u>अनुवाद -</u> क्योंकि इसमें अपूर्वकरण और शुद्धश्रेणी उत्पन्न होती है। वहाँ रहे हुए पूर्वकर्मों की स्थिति का क्षय अवश्य होता है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> ज्ञानोपयोग में स्थिरता आने पर जब अपूर्वकरण और शुद्ध क्षपक श्रेणी उत्पन्न होती है तब पूर्व में बाँधे हुए सभी निकाचित कर्मों का क्षय हो जाता है। छः प्रकार के आभ्यंतर तप में ध्यान और कायोत्सर्ग द्वारा विपुल कर्म की निर्जरा होती है। यह ध्यानादि तप शुद्ध तप है, यह ज्ञानयोग है। इस तप के द्वारा जीव आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानक पर आरोहण करता है। अभी चारित्र मोहनीय कर्म सत्ता में है परंतु ज्ञानयोग के द्वारा जीव जब शुद्ध क्षपकश्रेणी प्रारंभ करता है तब मोहनीय आदि निकाचित घाती कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

(८४२) तस्माद् ज्ञानमयः शुद्धस्तपस्वी ज्ञावनिर्जरा।
शुद्धनिश्चयतस्त्वेषा सदा शुद्धस्य कापि न।।१६५।।

अनुवाद - इसलिए ज्ञानमय शुद्धतपस्वी यह भाव-निर्जरा है, परंतु शुद्ध निश्चयनय से सदा शुद्ध (आत्मा) को यह (निर्जरा) बिल्कुल नहीं होती है।

विशेषार्थ - यहाँ निर्जरा तत्त्व की चर्चा का समापन करते हुए ग्रंथकार कहते है कि ज्ञानमय शुद्ध तपस्वी यह भाव निर्जरा है। शुद्धतप यह भाव निर्जरा है यह कहने की अपेक्षा ग्रंथकार ने शुद्धतपस्वी यह भावनिर्जरा है, इस प्रकार कह करके तप तथा तपस्वी के मध्य अभेद बताया है। जीव जब बारहवें गुणस्थानक पर पहुँचता है, शुद्ध क्षपक श्रेणी का प्रारंभ करता है तप तप-तपस्वी में एकाकार हो जाता है। तप और तपस्वी के मध्य कोई भेद नहीं रहता है इसलिए तपस्वी को भावनिर्जरा कहा है।

शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि शुद्धात्मा को कर्म की निर्जरा करने की नहीं होती है। आत्मा निर्जरा से भिन्न है निर्जरा यह कर्म की पर्याय है। आत्मा सदा शुद्ध ही है।

(८४३) बंधः कर्मात्मसंश्लेषो द्रव्यतः स चतुर्विधः।
तद्धेत्वध्यवसायात्मा भावतस्तु प्रकीर्तितः।।१६६।।

<u>अनुवाद -</u> कर्म के साथ आत्मा का संश्लेष वह बंध। द्रव्य से चार प्रकार का है तथा उसके हेतुभूत अध्यवसाय भाव से बंध कहलाते है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा के अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा तत्त्वों के साथ विभिन्न नयों की दृष्टि से सम्बन्धों की चर्चा करने के बाद अब बंध तत्त्व की चर्चा की गई है।

कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे बंध कहते है। कर्मपुद्गल आत्मा के साथ लोह अग्निवत् से एकरूप हो जाते है उसे बंध कहते है। द्रव्य से यह बंध चार प्रकार का होता है - प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश। प्रकृति अर्थात् कर्म का स्वभाव या प्रकार, स्थिति अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों के रहने का काल, रस अर्थात् कर्म की फ़ल देने की शक्ति या सामर्थ्य और प्रदेश अर्थात् कर्मदलिकों का समूह। राग-द्वेष से युक्त अध्यवसायों के कारण जैसे ही कर्मपुद्गल के परमाणु आत्मा में प्रवेश करते है और आत्मा के साथ संश्लिष्ट होते है उसी समय कर्म का स्वभाव अर्थात् ज्ञान का आवरण करने वाला, दर्शन का आवरण करने वाला आदि तथा कर्म का आत्मा के साथ रहने का समय, उसके फल देने की शक्ति तथा कर्मों के दलिकों की संख्या आदि निश्चित हो जाते है।

कर्म के द्रव्यबंध के हेतुभूत जो अध्यवसाय है अर्थात् आत्मा के जो परिणाम है वह भावबंध कहलाते है। द्रव्यबंध पुद्गलमय होने से आत्मा के नहीं है आत्मा से भिन्न है। कर्म के पुद्गलों के साथ कर्म के पुद्गलों का ही सम्बन्ध हो सकता है परंतु बंध को उत्पन्न करने वाले परिणाम आत्मा के होने से आत्मा को बंधरूप कहा है।

(८४४) वेष्टयत्त्यात्मनात्मानं यथा सर्पस्तथासुमान्।
तत्तद्भावैः परिणतो बध्नात्यात्मानमात्मना।।१६७।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे सर्प अपने शरीर के द्वारा अपने शरीर को ही लपेटता है उसी प्रकार जीव उस भाव के द्वारा परिणत होकर स्वयं की आत्मा के द्वारा स्वयं की आत्मा को बांधता है।

विशेषार्थ - आत्मा स्वयं के भाव द्वारा किस प्रकार बंधती है इसे सर्प का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। सर्प जब कुंडली मारकर बैठता है (आहार पचाने के लिए या केंचूली उतारने के लिए) तब स्वयं ही स्वयं को लपेटता है, बांधता है। उसी प्रकार आत्मा स्वयं के रागादि भावों के द्वारा स्वयं को ही बांधती है। शुद्ध आत्मा अशुद्धभाव रूपी आत्मा से बंधाती है। आत्मा द्रव्यकर्म से नहीं बँधती है। आत्मा और कर्मपुद्गल ये दोनों पृथक्-पृथक् द्रव्य है। एक चेतन है, एक जड़ है। इसलिए दोनों एकरूप नहीं होते है। इसलिए आत्मा कर्मपुद्गल से नहीं बंधती है, परंतु स्वयं के रागादि परिणामों से बंधती है। ऐसा अशुद्ध निश्चय नय कहता है।

(८४५) बध्नाति स्वं यथा कोशकारकीटः स्वतंतुभिः।
आत्मनः स्वगतैर्भावैर्बन्धने सोपमा स्मृता।।१६८।।

अनुवाद - जैसे रेशम का कीड़ा स्वयं के ही तंतुओं द्वारा स्वयं को ही बांधता है उसी प्रकार आत्मा के स्वयं में रहे हुए भावों के द्वारा होते बंधन के विषय में यही उपमा याद आती है।

विशेषार्थ - पूर्व के श्लोक में सर्प की उपमा देने के पश्चात् ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में आत्मा के बंध के विषय में रेशम के कीड़े की उपमा देकर समझाया है। यह कीड़ा स्वयं की लार द्वारा तंतुओं का निर्माण करता है, फिर उन तंतुओं के द्वारा स्वयं को ही लपेटता है। उसी प्रकार आत्मा स्वागत भावों से, स्वयं के ही रागादि परिणामों से स्वयं को बांधता है। इसलिए व्यवहार में आत्मा कर्मपुद्गलों से बंधाती है या आत्मा कर्म से बंधती है इस प्रकार कहते है किन्तु वास्तव में तो आत्मा स्वयं के वैभाविक परिणामों से ही बंधती है।

(८४६) जंतूनां सापराधानां बंधकारी नहीश्वरः।
तद्बंधकानवस्थानादबंधस्याप्रवृत्तितः।।१६९।।

अनुवाद - बंध कर्म की अनवस्था दोष के कारण तथा बंधरहित की प्रवृत्ति के अभाव के कारण ईश्वर अपराधी जीवों के बंध करने वाला नहीं है।

विशेषार्थ - अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्म से नहीं बंधाती है। वह स्वयं अपने परिणामों से ही बंधती है। अन्य दर्शनियों में एक मान्यता यह भी है कि जगत् की जीवों को शुभ-अशुभ कर्म के बंधन में डालने वाला ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर जगत् के जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल नियत करता है। अन्यदर्शनी ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता-सृजनहार तथा विष्णु को सृष्टि का पालनकर्त्ता और शंकर को सृष्टि का संहार करने वाला मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ईश्वर सज्जन पुरुषों को, अच्छे कर्म करने वाले को उपहार देता है, उन्हें शुभ फल प्रदान करता है और जो जीव अपराधी है, बुरे कर्म करता है उसे ईश्वर सजा प्रदान करता है। बंधतत्त्व की दृष्टि से विचार करें तो इस मान्यता वाले लोग कहते हैं कि ईश्वर ही जीवों को उनके कार्य के अनुरूप बंधन में डालने वाला है और ईश्वर ही मुक्त करने वाला है। इस सृष्टि का संचालन कोई अदृष्ट तत्त्व कर रहा है और वह अदृष्ट तत्त्व ही ईश्वर है। वह ऊपर बैठा-बैठा सृष्टि को चला रहा है। वह जीवों को उसके शुभ-अशुभ कार्यों के लिए उनके अनुरूप शुभ-अशुभ फल प्रदान करता है, जिसे उस व्यक्ति को भोगना पड़ता है।

ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है यह मान्यता जैनदर्शन को स्वीकृत नहीं है क्योंकि इस प्रकार की कल्पना करने से अनेक प्रश्न उठते हैं, जिनका समाधान संतोषप्रद नहीं है। यदि ईश्वर ने सृष्टि बनाई तो क्यों बनाई ? किसके द्वारा बनाई ? सृष्टि का निर्माण करने वाले तत्त्वों को किसने बनाया? ईश्वर का निर्माण किसने किया ? यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो उसने इस प्रकार की हल्की सृष्टि का निर्माण क्यों किया ? जीवों को उपहार देने की या सजा देने की ईश्वर को इच्छा क्यों हुई ? ईश्वर यदि राग-द्वेष से रहित है तो वह किसी को उपहार और किसी को सजा क्यों देता है ? आदि कई प्रकार के प्रश्न उठते है ?

बंध तत्त्व की दृष्टि से विचार किया जाए तो ईश्वर स्वयं बंध सहित है या बंध रहित है ? यदि ईश्वर को बंधसहित माना जाए तो उस ईश्वर को बंधन में डालने के लिए पुनः दूसरे ईश्वर की कल्पना करना पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष खड़ा हो जाएगा। यदि ईश्वर को बंध रहित माना

जाए, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार माना जाए तो ऐसे ईश्वर को प्रवृत्ति ही नहीं होती है, क्योंकि जो बंध रहित है वह प्रवृत्ति कैसे करेगा ? प्रवृत्ति करना ही स्वयं बंधन है। ईश्वर यदि प्रवृत्ति करे तो राग-द्वेष आए बिना रहे नहीं और जहाँ राग-द्वेष हो वहाँ बंध तो होता ही है। इस प्रकार जीव के बंधतत्त्व के मध्य ईश्वर को लाने की आवश्यकता ही नहीं है। जीव स्वयं ही अपने भावकर्मों द्वारा बंधता है यही स्वीकार करना पड़ेगा।

(८४७) न चाज्ञानप्रवृत्त्यर्थे ज्ञानवन्नोदना ध्रुवा।
अबुद्धिपूर्वकार्येषु स्वप्नादौ तददर्शनात्।।१७०।।

<u>अनुवाद</u> - जो बुद्धिपूर्वक नहीं करने के हो ऐसे स्वप्न आदि कार्यों में वह (प्रेरणा) नहीं दिखाई देने से अज्ञानजनित प्रवृत्ति के लिए ज्ञानवान् (ईश्वर) की प्रेरणा नहीं हो सकती है।

<u>विशेषार्थ</u> - संसारी जीवों की विभिन्न प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है। इसमें कितनी ही प्रवृत्तियों के कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें मनुष्य अत्यंत कुशलतापूर्वक सम्पन्न करता है। कई व्यक्ति अपनी अपूर्व बुद्धि का प्रयोग करके कई आविष्कार, कई खोज करते हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। कई लोग ऐसे भी होते हैं 'बुद्धि के बैल' जो सामान्य कार्य भी ठीक तरह से नहीं कर पाते है। जीवों की प्रवृत्ति या तो बुद्धि से होती है या अज्ञान से होती है। अन्य दर्शनों का कहना है कि जो व्यक्ति अपनी बुद्धि से कार्य करता है उसके लिए तो मान सकते है कि इसके कार्य में इसकी बुद्धि की व्यावहारिक ज्ञान की प्रेरणा रही है, परंतु अज्ञानी व्यक्ति कोई भी अच्छा या बुरा कार्य करता है तो उसमें किसी न किसी की प्रेरणा तो होना चाहिए ? जिस व्यक्ति को जो कार्य नहीं आता है तो वह स्वयं अपने आप नहीं सीख जाता है, वह दूसरे से उस कार्य के अनुभवी ज्ञानवान से प्रेरणा प्राप्त करके सीखता है। चाहे कोई व्यापार हो या कोई कला हो, जैसे घट का निर्माण करना हो तो उसे सीखने के लिए उसके अनुभवी कुम्हार से प्रेरणा लेना पड़ती है। मूर्त्ति का निर्माण करना सीखना हो तो शिल्पी से प्रेरणा लेना पड़ती है। किसी चित्र को बनाना सीखना हो तो चित्रकार के पास अभ्यास करना पड़ता है। बीमार व्यक्ति को स्वस्थ्य होने के लिए डॉक्टर की सलाह के अनुसार औषधी लेना पड़ती है। इस प्रकार हम देखते है कि इन कार्यों

को सीखने के लिए किसी न किसी शिक्षक की, प्रेरक की आवश्यकता रहती है। उसी प्रकार संसार के अज्ञानी जीवों की कर्मबंध की जो प्रवृत्ति होती है, उसमें भी कोई अदृष्ट ज्ञानवान् की प्रेरणा रही हुई है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार ईश्वरवादी कहते है। उनकी मान्यता है कि यह अदृष्ट ज्ञानवान् ही ईश्वर है। इसलिए अज्ञानी अपराधी जीवों को ईश्वर कर्मबंध करवाता है।

जैनदर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता है। वे उपर्युक्त बात का खण्डन करते हुए कहते है कि आज्ञानी की प्रवृत्ति में प्रेरक तत्त्व ईश्वर है यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि संसार में जिस प्रकार ज्ञानवान् की प्रेरणा से प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार ज्ञानवान् की प्रेरणा के बिना भी प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके लिए ग्रंथकार दृष्टान्त देते हैं कि स्वप्न अवस्था में, बेहोशी में या नींद में अनजाने में व्यक्ति बुद्धि बिना ही कार्य करता है। इसमें किसी ज्ञानवान् की प्रेरणा नहीं रहती है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव के कर्मबंध में किसी ज्ञानवान् की प्रेरणा स्वीकारने की आवश्यकता नहीं है। इसमें जीव के स्वयं के ही शुभ-अशुभ भाव बंध के परिणाम वाले होते हैं।

(८४८) तथाभव्यतया जन्तुर्नोदितश्च प्रवर्तते।
बध्नन् पुण्यं च पापं च परिणामानुसारतः।।१७१।।

<u>अनुवाद -</u> परिणाम के अनुसार पाप और **पुण्य** बांधता हुआ जीव स्वयं तथा भव्यता से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> कितने ही लोग इस प्रकार मानते है कि ईश्वर जिस प्रकार करवाता है, उस प्रकार जीव करता है। बाजी ईश्वर के हाथ में है, ईश्वर जैसे नचाता है, वैसे ही सब नाचते हैं। जैस कठपुतली के संचालक के हाथ में उसकी डोरी रहती है, वह कठपुतली को जैसे नचाना चाहता हो, वैसा नचाता है, उसी प्रकार जीव के जीवन की डोर ईश्वर के हाथ में हैं। यदि ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जाए, तो प्रश्न उठता है कि संसार में ज्ञानी या अज्ञानी सभी जीवों से शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति कौन करवाता है ? इसका समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि प्रत्येक जीव स्वयं में जो शुभ-अशुभ परिणाम होते है उसी के आधार पर शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति

करता है और पुण्य तथा पाप का बंध करता है, इसलिए पुण्य तथा पाप के कर्मबंधन में उसकी स्वयं की तथा भव्यता, अर्थात् उस प्रकार के भाव की योग्यता रही हुई है। जीव में भवस्थिति के अनुसार जैसे-जैसे परिणाम होते हैं, उसके अनुरूप ही वह उस प्रकार के कार्य करता है, इसलिए इसमें कोई ज्ञानवान् ईश्वर की अपेक्षा नहीं रहती है।

(८४६) रोगस्थित्यनुसारेण प्रवृत्ति रोगिणो यथा।
भवस्थित्यनुसारेण तथा बंधेऽपि वर्ण्यते।।१७२।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे रोग की स्थिति के अनुसार रोगी की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार भवस्थिति के अनुसार बंध के विषय में भी यह कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव किस प्रकार कर्मबंध करता है, उसके लिए यहाँ रोगी का दृष्टान्त दिया गया है। स्वस्थ व्यक्ति अपने खान-पान आदि के विषय में अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है, किन्तु रोगी व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार खाने-पीने आदि की प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जैसे किसी को टाईफाइड हो गया हो, या डायबिटीज़ या हार्ट की बीमारी हो या ब्लडप्रेशर बढ़ता या घटता हो, या एलर्जी हो, श्वास या कफ की बीमारी हो, चक्कर आते हों, तो उस समय वह प्रवृत्ति स्वेच्छा से नहीं करता है, उससे हो जाती है। डॉक्टर ने अमुक वस्तु खाने के लिए इंकार किया हो, फिर भी रोगी उसकी उपेक्षा करके खा लेता है, डॉक्टर ने सिगरेट पीने के लिए स्वीकृति नहीं दी हो, उसे संयम में रहने की सलाह दी हो, फिर भी व्यक्ति असंयमी बन जाता है। ऐसा कार्य रोगी के पास से कौन करवाता है ? किसी रोगी का रोग अधिक समय तक चलता है या वह निरोगी रहता ही नहीं है और किसी व्यक्ति का रोग अल्पावधि में ही चला जाता है - ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण क्या है ? इसमें रोग की स्थिति ही कारणभूत है। उसी प्रकार, प्रत्येक जीव की भवस्थिति भिन्न-भिन्न होती है। किसी की दीर्घ होती है, किसी की अल्प होती है। प्रत्येक जीव स्वयं की भवस्थिति के अनुसार शुभ-अशुभ कर्म बांधता है। जिसकी दीर्घ स्थिति हो, वह उस प्रकार के कर्म बांधता है और जिसकी अल्प स्थिति हो, वह उस प्रकार के कर्म बांधता है। जब भवस्थिति का अंत होता है, तब जीव मुक्त बनता है।

(८५०) शुद्धनिश्चयतस्वात्मा न बद्धो बंधशंकया।
भयकंपादिकं किन्तु रज्जावहिमतेरिव।।१७३।।

<u>अनुवाद -</u> शुद्ध निश्चयनय से आत्मा बंधती नहीं है, परंतु बंध की शंका होने पर वह रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होने के समान भय, कंप आदि को प्राप्त करती है।

<u>विशेषार्थ -</u> अशुद्ध निश्चयनय के अनुसार आत्मा स्वयं के परिणामों से स्वयं ही बंधती है, परंतु शुद्धनिश्चयनय के अनुसार आत्मा कर्म की कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है इसलिए आत्मा को कर्मबंध भी नहीं हैं, फिर भी जो निश्चयनय के अनुसार दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार करता है कि आत्मा कर्म से न बंधती है, न मुक्त होती है, ऐसे उच्चकोटि के सम्यग्दृष्टिश्रावक या मुनि भी चोरी, असत्यवाणी, निंदा, भ्रष्टाचार, मायाकपट आदि पाप करने से डरते हैं, भय, कंप आदि का अनुभव करते हैं, इसका कारण क्या है ? इन कृत्यों को करते हुए उसे डरना नहीं चाहिए या कार्यों को करने में उसे हिचकिचाहट का अनुभव नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे मानते हैं कि आत्मा कुछ करती नहीं है। इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि जैसे अंधेरे में रस्सी हो, तो भी उसमें सर्प की शंका होने पर मनुष्य भयभीत हो जाता है, काँपने लगता है, वैसा ही साधक महापुरुषों को होता है। आत्मा को कर्मबंध नहीं होता है, परंतु उन्हें कर्मबंध होने की शंका होती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को देखने की उनकी दृष्टि होती है। इतना होने पर भी देह और आत्मा की एकक्षेत्र अवगाह, अविरत सहस्थिति होने के कारण और संसारी-जीवों की दशा सतत नजर के सामने होने के कारण इस प्रकार की शंका उन्हें होती है।

(८५१) दृढ़ज्ञानमयीं शंकामेनामपनिनीषवः।
अध्यात्मशास्त्रमिच्छन्ति श्रोतुं वैराग्यकांक्षिणः।।१७४।।

<u>अनुवाद -</u> इस दृढ़ अज्ञानमयी शंका को दूर करने की इच्छा वाले और वैराग्य की अभिलाषा वाले, वे अध्यात्मशास्त्र को श्रवण करने की इच्छा करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक में यह बताया गया है कि निश्चयनय को मानने वाले दृढ़तापूर्वक, 'आत्मा विशुद्ध है, कर्म से अबद्ध है'- यह स्वीकार करते हैं, फिर उनको बंध की शंका के कारण भय, कंप आदि रहते हैं यदि तत्त्वज्ञानी यह जानते हैं कि आत्मा कभी बंधती नहीं है, तो फिर वे वैराग्य की आकांक्षा वाले क्यों होते हैं ? अध्यात्मशास्त्र के अध्ययन करने की इच्छा क्यों करते हैं ? आत्मा को अगर कर्मबंध होता हो, तो ही उसे अवरुद्ध करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता रहती है। मैं विशुद्ध आत्मा हूँ, मैं कर्म का कर्त्ता नहीं या भोक्ता नहीं हूँ, मेरी आत्मा को किसी प्रकार के कोई कर्म बाँध नहीं सकते हैं, अर्थात् मेरी आत्मा सदा कर्मबंध से मुक्त है"-इस प्रकार मानने वाले तत्त्वज्ञानियों के लिए क्या शास्त्रश्रवण निरर्थक नहीं है ?

इसका समाधान करते हुए प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि - तात्त्विक रूप से तो जीव कर्म से बंधा हुआ नहीं है, अतः कर्म से बंधा हुआ नहीं होने के कारण कर्मबंध के निवारण के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता रहती है, उसकी उसे आवश्यकता नहीं रहती है, परंतु अनादिकाल के देहास से उत्पन्न दृढ़ अज्ञान के कारण 'मैं बंधाया हुआ हूँ'- इस प्रकार की शंका साधकों को भी होती है, इसलिए इस शंका से मुक्ति पाने के लिए, अर्थात् इस शंका के निवारण की इच्छा वाले साधक भी अपनी शंकानिवारण के उपाय के रूप में और अपनी उच्च स्थिति को टिकाए रखने के लिए वैराग्य की आकांक्षा रखते हैं और स्वयं को वैराग्य उत्पन्न हो और स्थिर रहे, इसलिए अध्यात्मशास्त्रों के श्रवण की इच्छा रखते हैं, इसलिए शुद्ध निश्चयनय को स्वीकार करने वाले साधक अपनी शंका को दूर करने के लिए अध्यात्मशास्त्र के श्रवण की इच्छा रखते हैं, इसमें कुछ भी अयोग्य नहीं है। केवल अध्यात्मशास्त्र को श्रवण करने की इच्छा होने से 'आत्मा कर्म से बंधती है'-यह मानने की आवश्यकता नहीं है, उनकी इस मान्यता में अंतर नहीं आता है।

(८५२) दिशः प्रदर्शकं शाखाचन्द्रन्यायेन तत्पुनः।
प्रत्यक्षविषयां शंकां न हि हन्ति परोक्षधी।।१७५।।

<u>अनुवाद -</u> वह (अध्यात्मशास्त्र) भी शाखाचन्द्रन्याय की तरह दिशा बताने वाला है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष विषय की शंका को दूर नहीं करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> पूर्व श्लोक की बात को यहाँ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अध्यात्म शास्त्र का कार्य केवल दिशा बताने का है, मार्ग बताने का है, वहाँ पहुँचाने का काम उसका नहीं है, इसलिए अध्यात्मशास्त्र द्वारा होता हुआ अबद्ध आत्मा की अवस्था का ज्ञान शाब्दिक है, परोक्ष है, जबकि आत्मा के बंध के विषय की शंका तो प्रत्यक्ष है, अतः प्रत्यक्ष शंका को परोक्षज्ञान दूर नहीं कर सकता है। यहाँ अध्यात्मशास्त्र के ज्ञान को शाखाचन्द्रन्याय की उपमा दी गई है। आकाश में दूज का चन्द्र किसी को नहीं दिखाई देता हो, तो उसे बताने के लिए पहले कोई समीप का बड़ा पदार्थ बताकर उसके आधार पर चन्दमा की स्थिति बताई जाती है, जैसे- इस इमारत या इस वृक्ष की शाखा के ठीक ऊपर या सामने या नीचे दाहिनी ओर या बाई ओर चन्द्र है, इस प्रकार संकेत करने से देखने वाले का चन्द्र शीघ्र दिखाई देता है।

संस्कृत भाषा में इसी प्रकार का दूसरा न्याय है -'वशिष्ठ-अरुंधती न्याय।' अरुंधती नामक तारा अत्यंत छोटा है, अतः वह आकाश में तत्काल नजर नहीं आता है, उसे बताने के लिए बड़े तारे वशिष्ठ की ओर संकेत किया जाता है कि इस तारे से उतनी दूरी पर या उस दिशा में अरुन्धती तारा है। इस प्रकार बताने से वह तारा देखने वाले को शीघ्र नजर आ जाता है।

इसी प्रकार, अध्यात्मशास्त्र का कार्य दिशा बताने का है तथा इस शास्त्र का ज्ञान परोक्ष बुद्धिरूप है। वह प्रत्यक्ष विषय की शंका को तुरंत दूर नहीं कर सकता है। कोई व्यक्ति सिनेमा, नाटक या जादू का खेल देख रहा हो, तब मन से तो उसे पता होता है कि यह यथार्थ नहीं है, यह मात्र नाटक या युक्ति है। जब दर्शक प्रत्यक्ष नाटक देखते हैं, तब उसमें उन्हें सत्य का आभास होता है और नाटक के अनुरूप उनकी भावदशा बदलती

रहती है। नायक को दुःखी देखकर देखने वाले दर्शक भी दुःखी हो जाते हैं। जादू के खेल में भी जादूगर जो भी जादूभरी घटनाएँ बताता है, उनमें सत्य का आभास होने लगता है। इस विषय में उनकी शंका का शीघ्र निवारण नहीं होता है। उसी प्रकार, आत्मा अबद्ध है - इस प्रकार शास्त्र द्वारा जानने पर भी संसार में संसारी-जीवों के कर्म के उदय के अनुसार उनकी परिवर्तित होती हुई विचित्र दशा प्रत्यक्ष दिखाई देती है और अबद्ध आत्मा तो इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती है इसलिए उनकी शंका का निवारण तुरंत नहीं हो पाता है।

(८५३) शंखे श्वैत्यानुमानेऽपि दोषात्पीतत्वधीर्यथा।
शास्त्रज्ञानेऽपि मिथ्याधीसंस्काराद्बंधधीस्तथा।।१७६।।

<u>अनुवाद -</u> जिस प्रकार शंख में श्वेतत्त्व अनुमान से जानने पर भी दोष के कारण उसमें पीतत्त्व की बुद्धि होती है उसी प्रकार शास्त्र का ज्ञान होने पर भी मिथ्याबुद्धि के संस्कार से (आत्मा में) बंध की बुद्धि होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में शंख का दृष्टान्त देकर उसी बात को अधिक स्पष्ट किया गया है। शंख श्वेत होता है यह सभी जानते हैं। यदि किसी को पीलिया का रोग हो गया हो, तो उसे सभी वस्तुएँ पीतवर्ण की दिखाई देती है। उसे शंख भी पीला ही नजर आता है। हालांकि उसके मन में यह विश्वास होता है कि शंख श्वेत है, फिर भी उसे प्रत्यक्ष में वह पीतवर्ण का ही दिखाई देता है। पीला दिखने के कारण उसके मन में शंका हो जाती है कि क्या शंख पीले भी होते हैं ? इसी प्रकार शास्त्र द्वारा जीव को ज्ञान होता है कि आत्मा अबद्ध है, निरंजन है, फिर भी अनादिकाल से चले आ रहे देहाध्यास के संस्कार के कारण, अर्थात् मिथ्यादृष्टि के संस्कार के कारण उसे शंका रहती है कि आत्मा कर्म से बद्ध है या नहीं ? इस प्रकार शास्त्र द्वारा ज्ञान होने पर भी शंका तुरंत दूर नहीं होती है।

(८५४) श्रुत्वा मत्वा मुहुः स्मृत्वा साक्षादनुभवन्ति ये।
तत्त्वं न बंधधीस्तेषामात्माऽबंधः प्रकाशते।।१७७।।

<u>अनुवाद -</u> जो बार-बार तत्त्व के विषय में सुनकर, मनन करके, स्मरण करके उसका साक्षात् अनुभव करते हैं। उनको बंध की बुद्धि नहीं होती है, उनको आत्मा बंधरहित दिखाई देती है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> पूर्व में बताया गया है कि आत्मा अबद्ध है- ऐसा शास्त्रज्ञान होने पर भी जीव को मिथ्यात्व के संस्कार के कारण यह भ्रमबुद्धि रहती है कि आत्मा को कर्मबंध होते हैं, इसलिए शास्त्रज्ञान से भ्रमबुद्धि का निवारण नहीं होता है। अगर ऐसा ही हो तो प्रश्न उठता है कि यदि शास्त्रज्ञान शंका का निवारण नहीं कर सकता है, तो फिर शास्त्रज्ञान निरर्थक है - ऐसा मानना चाहिए, परंतु ऐसा नहीं है। शास्त्रज्ञान निरर्थक नहीं है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार है, 'आत्मा अबद्ध है'-इस प्रकार आत्मा का स्वरूप बताने वाला शास्त्रज्ञान निरर्थक कैसे हो सकता है? 'आत्मा अबद्ध है'-इसका ज्ञान शास्त्र देता है। आत्मस्वरूप का किस प्रकार अनुभव करना आदि मार्ग को बताने वाला शास्त्र है, परंतु शास्त्र का उपयोग जिस प्रकार होना चाहिए, वैसा नहीं हुआ, इसलिए शास्त्रों के वचनों को बार-बार सुनना चाहिए, उनका चिंतन-मनन करना चाहिए, उसका स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार सतत अभ्यास करने से, चिंतन मनन करने से मिथ्याबुद्धि का, मिथ्यासंस्कार का नाश होता है और आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर पुरुषार्थ करने से आत्मा के अबद्ध स्वरूप का वेदन होता है, अनुभव-ज्ञान प्राप्त होता है और आत्मा विभाव-दशा के असर से मुक्त होने लगती है तथा कर्मबंध से रहित शुद्ध आत्मा का आभास होने लगता है।

(८५५) द्रव्यमोक्षः क्षयः कर्मद्रव्याणां नात्मलक्षणम्।
भावमोक्षस्तु तद्धेतुरात्मा रत्नत्रयान्वयी।।१७८।।

<u>अनुवाद -</u> कर्मपुद्‌गलों (कर्मद्रव्यों) का क्षय, वह तो द्रव्यमोक्ष है। यह आत्मा का लक्षण नहीं है। उसके (द्रव्यमोक्ष के) हेतुभूत रत्नत्रयी से युक्त ऐसी आत्मा, वह भावमोक्ष है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में द्रव्यकर्म और भावकर्म तथा द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष के मध्य रहे हुए सूक्ष्म भेद को स्पष्ट किया गया है। सामान्य रूप से कहा जाता है कि जब ज्ञानावरणीय आदि चार घाति कर्मों का क्षय हो जाता है, तब केवलज्ञान प्राप्त होता है और नामकर्म आदि चार अघातीकर्मों के क्षय होने पर जीव को मोक्षगति की प्राप्ति होती है, यह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है।

शुद्ध निश्चयनय तो कहता है कि आत्मा द्रव्यकर्म की कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। द्रव्यकर्म आत्मा से बंधते भी नहीं हैं, तो फिर द्रव्यकर्म से आत्मा को मुक्ति प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता है, क्योंकि जिसका बंधन हीं नहीं है उससे मुक्ति कैसी ? आत्मा का यह लक्षण ही नहीं है। अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा भावकर्म की कर्त्ता है और उसे भावकर्म से ही मुक्ति प्राप्त करना है। आत्मा की विभावदशा, आत्मा, में उठते हुए रागादि परिणाम- ये भावकर्म हैं।

आत्मा के प्रदेशों में लगे हुए कर्मदलिकों में से आत्मा को मुक्ति प्राप्त करना चाहिए, ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है- इस प्रकार निश्चयनय कहता है, क्योंकि कर्मदलिक तो पुद्‌गल हैं, जड़ हैं, रूपी हैं, जबकि आत्मा तो चेतन है, जीवद्रव्य है, अरूपी है। दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, दोनों के स्वरूप, लक्षण आदि पृथक्-पृथक् हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं में ही परिणमित होता है। आत्मा स्वयं ही, स्वयं के अन्दर ही इस प्रकार परिणमित होती है कि फिर कर्मपुद्‌गल परमाणु वहाँ रह ही नहीं सकते है। इस प्रकार परिणमित होना ही भावमोक्ष है। चार प्रकार के घाति तथा चार प्रकार अघाति कर्मों का क्षय होता है। इस बात को निश्चयनय भी स्वीकार करता है परंतु उसका कहना है कि द्रव्य कर्मों का द्रव्यमोक्ष है। कर्मों का क्षय होना यह कर्म के पर्याय है। आत्मा का वह स्वभाव नहीं है। आत्मा द्रव्यकर्मों से स्वतंत्र है। आत्मा का भावमोक्ष होना चाहिए। यह किस प्रकार होता है ? आत्मा जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्नत्रयी से सम्पूर्ण रूप से अन्वित होती है, युक्त होती है तब भावमोक्ष होता है। आत्मा जब विभाव में से हटकर स्वभाव में स्थिर होती है, राग-द्वेष आदि परिणाम उसमें से सर्वथा निकल जाते है और

आत्मा अपने स्वगुणों, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के साथ एकाकार हो जाती है। तब भावमोक्ष होता है। यह यथार्थ है कि यह भावमोक्ष द्रव्यमोक्ष का हेतु बनता है। जब तक भावमोक्ष नहीं होता है तब तक द्रव्यमोक्ष भी नहीं होता है। जैसे ही भावमोक्ष होता है वैसे ही द्रव्यमोक्ष अपने आप हो जाता है।

(८५६) ज्ञानदर्शनचारित्रैरात्मैक्यं लभते यदा।
कर्माणि कुपितानीव भवन्त्याशु तदा पृथक्।।१७६।।

अनुवाद - जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ आत्मा का एक्य सध जाता है, तब, कर्म जैसे कुपित हो गए हों, उस प्रकार वे तत्काल पृथक् हो जाते हैं।

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक में कहा गया है कि आत्मा जब स्वगुणों ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ एकत्व को प्राप्त करती है, तब भावमोक्ष होता है और भावमोक्ष हो जाने से द्रव्यमोक्ष तो स्वतः ही हो जाता है। यह भावमोक्ष तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानक की स्थिति है। जब आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन और सर्वसंवररूपी चारित्र-ऐसे उत्कृष्ट गुणों के साथ ऐसा अनुभव करती है, तब मानो ज्ञानावरणीय आदि घाती-कर्म क्रोधित हो गए हो, रूठ गए हों - इस प्रकार स्वतः ही आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जब दो प्रेमी-प्रेमिका में परस्पर प्रेम हो, मित्रता हो, तब वे दोनों अत्यंत निकटता का अनुभव करते हैं। जैसे एक-दूसरे के बिना वे रह नहीं सकते हैं इस प्रकार आभास होता है किन्तु किसी कारणवश या प्रेमिका को यह पता चले कि यह व्यक्ति किसी दूसरी लड़की से प्रेम करता है, तो दोनों में झगड़ा हो जाता है और प्रेमिका क्रोधित होकर प्रेमी से अलग हो जाती है, उसी प्रकार जीव जब तक विभावदशा में होता है, तब तक कर्म उसके साथ मित्रता रखते हैं और उससे चिपके हुए रहते हैं, परंतु जीव जब अपने रत्नत्रयी स्वभाव में स्थिर हो जाता है, तब उसकी कर्म के साथ अनबन हो जाती है और उस समय लगता है मानो कर्म कुपित होकर आत्मा को छोड़कर भाग गए हो। निश्चयनय की दृष्टि से तात्पर्य यह है कि आत्मा को कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए- इस प्रकार कहने की अपेक्षा स्वयं के ज्ञान-दर्शन, चारित्र रूपी स्वभाव में ऐसे स्थिर हो जाना चाहिए कि कर्म को

वहाँ रहने का कोई अवकाश ही न रहे। यह ध्यान में रखना चाहिए कि भावमोक्ष के बिना द्रव्यमोक्ष संभव नहीं है।

(८५७) अतो रत्नत्रयं मोक्षस्तदभावे कृतार्थता।
पाषण्डिगणलिंगैश्च गृहिलिंगैश्च कापि न।।१८०।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार रत्नत्रय मोक्ष है। उसके अभाव में संन्यासी के वेश से या गृहस्थ-लिंग द्वारा कुछ भी सार्थकता सिद्ध नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ :-</u> सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयी की साधना ही मोक्षस्वरूप है। इनकी परिपूर्णता होने पर द्रव्यकर्म तो स्वतः ही चले जाते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्ग में रत्नत्रयी की ही प्रधानता है, परंतु संसार में भिन्न-भिन्न धर्म के क्षेत्र में धर्म का आचरण अनेक रूप में देखने को मिलता है। इस प्रकार का धार्मिक आचरण करने वाले, व्रत आदि को ग्रहण करने वाले कितने ही गृहस्थ भी होते हैं और साधु-संन्यासी भी। अन्य दर्शनी भी अपने अनुरूप आराधना, साधना, ध्यान आदि करते हैं। व्रतधारी श्रावकों में भी कोई एक-दो व्रत, कोई पाँच अणुव्रत, कोई बारह व्रतधारी श्रावक होते हैं। साधु भगवन्त पंचमहाव्रतधारी होते है और कई प्रकार के तप, त्याग, स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाएँ करते हैं। यह बात सत्य है कि रत्नत्रय ही मोक्ष है, किन्तु रत्नत्रय की आराधना प्रथम दिन में ही परिपूर्ण नहीं हो जाती है, उसके परिपूर्ण होने में कितने ही वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, कितने ही भव भी निकल जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानक पर रहे हुए केवलज्ञानी मुनियों में रत्नत्रय पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं, परंतु चतुर्थ गुणस्थानक से बारहवें गुणस्थानक पर रहे हुए साधकों में रत्नत्रयी का आविर्भाव अंशरूप में होता है। अंशरूप में भी रत्नत्रयी का साधक में आविर्भाव होने पर वह योग्य दिशा में ही अपने कदम बढ़ाता है। रत्नत्रयी की उपस्थिति में दिशा में साधक योग्य ही जाएगा, इसलिए उसकी आराधना सार्थक या कृतार्थ है।

कितने ही, धर्म का आचरण करने वाले ऐसे भी लोग होते हैं, जिनमें रत्नत्रयी का अंशरूप में भी प्रकटन नहीं हुआ है, जिनमें रत्नत्रयी का अभाव ही है। ऐसे साधक गृहस्थ भी हो सकते हैं और वेशधारी साधु-संन्यासी भी हो सकते हैं। वे जैन भी होते हैं, अजैन भी होते है। कुछ

पाखण्डी भी होते हैं, छल-कपट, माया करके अन्य को ठगने वाले होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूपी आत्मा के गुणों का अंश-आविर्भाव भी जब तक नहीं होता है, तब तक उनकी साधना का मोक्षमार्ग में कोई मूल्य नहीं है, फिर साधक चाहे गृहस्थ हो या वेशधारी साधु हो। अगर उनकी बाह्य-धर्मक्रिया रत्नत्रयी के आविर्भाव में निमित्त बनती है, तो ही उसका मूल्य है, अन्यथा मोक्षमार्ग के लिए वह व्यर्थ है, निरर्थक है।

(८५८) **पाखण्डिगणलिंगेषु गृहिलिंगेषु ये रताः।**
न तो समयसयरस्य ज्ञातारो बालबुद्धयः।।१८१।।

<u>अनुवाद -</u> जो पाखण्डीगण के वश में या गृहस्थी के वेश में आसक्त हैं, वे बालबुद्धि वाले सिद्धान्त के तत्त्व को जानने वाले नहीं हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> जो मात्र वेशधारण करके उसमें ही आसक्त होने वाले हैं, अपनी आन्तरिक परिणति पर कोई ध्यान नहीं देते हैं, आत्मचिंतन नहीं करते हैं, वे समय के सार को, अर्थात् शास्त्र के सार को नहीं जानते हैं। समय का एक अर्थ आत्मा भी होता है। जो बाह्यवेश, बाह्य-आचारों को ही प्रधान मानते हैं, उसके आधार पर ही अपने-आपको महान् चारित्रधर मानते हैं, बाह्य-वेश और आचारों की महिमा का ही गुणगान करते हैं, किन्तु उनकी आन्तरिक-परिणति कितनी मलिन है, कितनी राग-द्वेष की परिणति है,इसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है, वे कभी आत्मस्वरूप में रमण नहीं करते हैं, आत्मा के ज्ञानादि गुणों को प्रकाशित नहीं करते हैं। वे बालबुद्धि वाले अज्ञानी साधक समय के सार को नहीं जानते हैं। वे प्राथमिक भूमिका के साधक हैं। उनको मोक्षमार्ग की यथार्थ रूप से जानकारी नहीं होती है। वे बस वेश और बाह्य-आचारों में ही साधना की परिपूर्णता मान लेते हैं।

(८५९) **भावलिंगता ये स्युः सर्वसारविदो हि ते।**
लिंगस्था वा गृहस्था वा सिध्यन्ति धूतकल्मषाः।।१८२।।

<u>अनुवाद -</u> जो भावलिंग में आनंदित हैं, वे सर्वसार को जानने वाले हैं। लिंगस्थ हों, परंतु निष्पाप-ऐसे वे सिद्धिपद को प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ - मात्र द्रव्यलिंग में ही पूर्णता मानने वाले साधक बालबुद्धि वाले हैं। वे शास्त्र के सार को नहीं जानते हैं, परंतु जो-जो भावलिंगी हैं, वे सर्वशास्त्र की साररूप आत्मा को जानते हैं। जो भावलिंगी हैं, वे आवश्यक नहीं है कि पंचमहाव्रतधारी जैन साधुवेश में ही हों, भावलिंगी गृहस्थ भी हो सकते हैं, अन्यलिंगी संन्यासी आदि भी हो सकते हैं। भावलिंगी, अर्थात् आंतरिक-परिणामों की शुद्धि से जिसने सम्यग्ज्ञानी आत्मा के लक्षणों को प्रकट किया है। ऐसे महापुरुष अपने ज्ञानादि गुणों को जैसे-जैसे प्रगट करते जाते हैं, वैसे-वैसे उनका कर्मरूपी मल स्वतः नष्ट होता जाता है। वे उत्तरोत्तर ज्ञानादि गुणों में वृद्धि प्राप्त करते हुए, ऊपर के आरोहण करते हुए, अंत में केवलज्ञान तथा सिद्धिपद को प्राप्त करते है। मोक्षमार्ग में भावों का ही विशेष महत्व है। बाह्य-आचार तो भावशुद्धि के साधन हैं। जिन साधनों से साध्य को प्राप्त नहीं किया जाए, या साधनों में आसक्त होकर साध्य को ही भूल जाए, तो उन साधनों का कोई मूल्य नहीं है।

(८६०) भावलिंग हि मोक्षांगं द्रव्यलिंगमकारणम्।
द्रव्यं नात्यंतिकं यस्मान्नाप्यैकान्तिकमिष्यते।।१८३।।

अनुवाद - भावलिंग ही मोक्ष का अंग है, द्रव्यलिंग इसका कारण नहीं है, क्योंकि आत्यंतिक उसी प्रकार एकांतिक नहीं कह सकते हैं।

विशेषार्थ - रत्नत्रयीरूपी भावलिंगी ही मोक्ष का अंग है, कारण है। बाह्य-वेश, बाह्य आचार आदि लक्षणरूपी द्रव्यलिंग मोक्ष का अंग या कारण नहीं है। द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण क्यों नहीं है ? इस विषय में स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार ने कहा है कि -द्रव्यलिंग ऐकान्तिक भी नहीं हो सकता है और आत्यंतिक भी नहीं हो सकता है। प्रस्तुत श्लोक में ऐकान्तिक और आत्यंतिक न्याय की परिभाषा के दो शब्द प्रयोग किए गए है। ऐकान्तिक अर्थात् अन्त समय तक रहने वाला, परिपूर्ण स्थिति को प्राप्त कराने वाला। ऐकान्तिक अर्थात् ऐसा लक्षण कि यह जहाँ पर हो वहाँ कार्य होता ही है और उस लक्षण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है, परंतु द्रव्यलिंग के लिए यह ऐकान्तिक है ऐसा नहीं कह सकते हैं। द्रव्यलिंग अर्थात् मुनिवेष आदि बाह्य आचार हो तो ही मोक्ष होता है अन्यथा नहीं होता है यह नियम नहीं है। क्योंकि द्रव्यलिंग के अभाव में जीव गृहस्थ वेष में भी मोक्ष गए है,

जैसे मरूदेवी माता। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए सकल कर्मो के क्षय के लिए द्रव्यलिंग की अनिवार्यता नहीं है। अर्थात् द्रव्यलिंग ऐकान्तिक नहीं है। वस्तुतः द्रव्यलिंग की उपयोगिता भावलिंग को प्राप्त करने के लिए है।

भावलिंग ऐकान्तिक है क्योंकि जहाँ-जहाँ ज्ञानादि गुणों के आविर्भाव रूप- रत्नत्रयीरूप भावलिंग है वहाँ मोक्षप्राप्ति का कार्य अवश्य सिद्ध हो सकता है। जहाँ भावलिंग का अभाव हो वहाँ प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है। इस प्रकार भावलिंग ऐकान्तिक है अर्थात् जहाँ है वहाँ मोक्ष है और जहाँ भावलिंग नहीं है। वहाँ मोक्ष भी नहीं है। आत्यंतिक शब्द के दो अर्थ है- एक अर्थ है अत्यधिक अर्थात् जिस पर कितना ही भार दिया जाय तर्क वितर्क किए जाए परंतु वह लक्षण मिथ्या सिद्ध नहीं होता है अंतिम समय तक वह लक्षण टिका हुआ रहता है। द्रव्यलिंग के ऊपर अधिक भार नहीं दे सकते है। क्योंकि उसके अभाव मे भी प्राप्ति का कार्य हो सकता है। भावलिंग पर अतिशय भार देने पर भी वह अयोग्य नहीं ठहरता है। क्योंकि उसके अभाव में मोक्षप्राप्ति का कार्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता है। इसका दूसरा अर्थ होता है कि अंत समयतक जिसमें उत्तरोत्तर वृद्धि की जा सके। यह वृद्धि मध्य में ठहरती नहीं है। जीव को अंतिम परिपूर्ण स्थिति तक पहुँचाती है। इस अर्थ में भी द्रव्यलिंग आत्यंतिक नहीं हो सकता है, और भावलिंग आत्यंतिक हो सकता है, भावलिंग रत्नत्रयी की परिपूर्णता तक केवलज्ञान और सिद्धगति तक पहुँचाता है। यहाँ द्रव्यलिंग को अकारण कहा है अर्थात् द्रव्यलिंग और मोक्ष का उपादान कारण नहीं है, निमित्त कारणहो सकता है, भावलिंग मोक्ष का उपादान कारण है। निश्चयनय की दृष्टि में निमित्त कारणों का विशेष महत्त्व नहीं है इसलिए द्रव्यलिंग को अकारण कहा है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि द्रव्यलिंग सदा सर्वदा निरर्थक है। किसी अपेक्षा से इसकी भी उपयोगिता है। प्राथमिक भूमिका में तो द्रव्यलिगं को गौण नहीं कर सकते है क्योंकि यह भावलिंग का निमित्त कारण तो है ही।

(८६१) यथाजातदशालिंगमर्थादव्यभिचारि चेत्।
विपक्षबाधकाभावात् तद्धेतुत्वे तु का प्रमा।।१८४।।

अनुवाद - जिस प्रकार जन्म हुआ, वैसी दशा, अर्थात् यथाजात दशा रूप लिंग अर्थ से अव्यभिचारी कारण है, यदि इस प्रकार हो तो भी विपक्ष में बाधक प्रमाण के अभाव होने से उसके हेतुत्त्व में क्या प्रमाण है ?

विशेषार्थ - पूर्व श्लोक में बताया गया है कि द्रव्यलिंग की अपेक्षा भावलिंग का महत्त्व अधिक है। मोक्ष के लिए द्रव्यलिंग की अनिवार्यता नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में दिगम्बर मत के सम्बन्ध में विचार किया गया है। दिगम्बर-मुनि नग्न होते हैं। वे किसी प्रकार का साधुवेश धारण नहीं करते हैं। वे यथाजात-अवस्था में होते हैं, अर्थात् जिस प्रकार जन्म हुआ, वैसी ही अवस्था-बालक की तरह नग्न-अवस्था। यहाँ प्रश्न उठता है कि उन्होंने साधुवेश धारण नहीं किया, तो क्या उन्हें द्रव्यलिंगी कह सकते है ? कह सकते हैं, क्योंकि चाहे उन्होंने वेश धारण नहीं किया हो, परंतु उनकी नग्नावस्था उनके साधुत्व का बाह्य-लक्षण या पहचान बनती है, अर्थात् नग्नावस्था उनके लिए द्रव्यलिंग है।

दिगम्बर की मान्यता है कि जब तक दीक्षित साधुओं की नग्न अवस्था नीहं होती है तब तक उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है। नग्न अवस्थारूपी लिंग, अर्थात् लक्षण मोक्ष प्राप्ति के लिए अव्यभिचारी कारण है। अव्यभिचारी, अर्थात् कायम के लिए अन्तिम समय तक साथ-साथ हो, हमेशा रहने वाली। नग्नावस्था केवलज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष प्राप्ति तक साथ-साथ ही रहती है, कभी-भी अलग हो सकती है, अर्थात् यथाजात-दशा या नग्नावस्था मोक्षप्राप्ति के लिए अव्यभिचारी कारण है, उसके बिना केवलज्ञान तथा मोक्ष संभव नहीं है-इस प्रकार दिगम्बर की मान्यता है।

दिगम्बर की इस मान्यता का खण्डन करते हुए ग्रंथकार तर्क करते हैं। किसी भी एक विषय में शास्त्रार्थ या वादविवाद होता है, तब विपक्ष द्वारा जो तर्क किए जाते हैं, उनका खण्डन करना भी आवश्यक होता है। स्वपक्ष या स्वमत के समर्थन के लिए जिस प्रकार तर्क किए जाते हैं, उसी प्रकार विपक्ष के तर्कों का खण्डन कर सके वैसे वितर्क भी करना चाहिए। इस प्रकार वाद-विवाद में खण्डन और मंडन या साधक और बाधक दोनों प्रकार

के प्रमाण आवश्यक है। केवल मंडनात्मक या केवल खंडनात्मक तर्क अधूरे माने जाते हैं। खंडन और मंडन दोनों हो तो ही वाद-विवाद में निर्णय हो सकता है। अब दिगम्बर मत वालो ने स्वपक्ष का मंडन करने के लिए तर्क किया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए नग्नावस्था अनिवार्य है, परंतु इससे अन्य लिंग या अवस्था में मोक्ष नहीं होता है यह बात सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि विपक्ष की जो बात कि भावलिंग ही मोक्ष प्रदान करता है, भावलिंग मोक्ष का उपादान कारण है, द्रव्यलिंग की अनिवार्यता नहीं है - इस तर्क के खण्डन के लिए उनके पास कोई जवाब नहीं है। विपक्ष का खण्डन करने के लिए उनके पास कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए यथाजात-दशा मोक्षप्राप्ति के लिए अव्यभिचारी कारण है, उनका यह मत सिद्ध नहीं होता है।

(८६२) वस्त्रादिधारणेच्छा चेद्बाधिका तस्य तां विना।
धृतस्य किमवस्थाने करादेरिव बाधकम्।।१८५।।

<u>अनुवाद -</u> यदि वस्त्र आदि धारण करने की इच्छा (मोक्ष में) बाधक हो, तो बिना इच्छा के हाथ आदि की तरह धारण किए हुए (वस्त्र आदि के) होने में क्या बाधक है ?

<u>**विशेषार्थ -**</u> पूर्व श्लोक में कहा गया है कि विपक्ष का खण्डन करने के लिए प्रमाण का अभाव होने के कारण दिगम्बर की यह मान्यता कि नग्नता मोक्ष का अव्यभिचारी (अनिवार्य) कारण है, सिद्ध नहीं होती है। दिगम्बर मत वाले विपक्ष का खण्डन करने के लिए तर्क देते हैं कि वस्त्र आदि धारण करने की इच्छा ही मोक्ष की प्राप्ति में बाधक होती है, क्योंकि जहाँ इच्छा होती है, आसक्ति होती है, वहाँ मोक्ष नहीं होता है। कोई व्यक्ति मुनित्व धर्म को स्वीकार करता है और नग्नावस्था में नहीं रहता है और साधुत्व के लिंग या लक्षण के रूप में वस्त्र आदि धारण करने की इच्छा करता है, तो यह इच्छा मोक्ष में बाधक बनती है, अतः यथाजात-अवस्था मोक्षप्राप्ति का अव्यभिचारी कारण है।

इसके उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं कि मनुष्य के हाथ-पैर इसके साधन हैं, उपकरण हैं, उन्हें इच्छा से धारण किया, अथवा बिना इच्छा के ? यदि नग्न मुनि की हाथ-पैर को धारण करने में कोई इच्छा नहीं होती है, तो उसी प्रकार मुनि साधुत्व के लक्षणरूप वस्त्र आदि उपकरण धारण किए

हुए हो, तो वह भी बिना इच्छा, बिना आसक्ति के हो सकते हैं, इसलिए मोक्षप्राप्ति के लिए यथाजातलिंग नहीं, बल्कि भावलिंग ही अव्यभिचारी कारण माना जा सकता है।

(८६३) स्वरूपेण च वस्त्रं चेत् केवलज्ञानबाधकम्।
तदा दिक्पटनीत्यैव तत्तदावरणं भवेत्।।१८६।।

<u>अनुवाद -</u> जो वस्त्र स्वरूप से ही केवलज्ञान में बाधक हो, तो दिगम्बर के न्याय द्वारा ही वह (वस्त्र) उसका (केवलज्ञान का) आवरण होगा।

<u>विशेषार्थ -</u> दिगम्बर, मोक्षप्राप्ति के लिए नग्नावस्था पर विशेष बल देते हैं। ग्रंथकार का कहना है कि जब तक वस्त्र धारण किए हुए हो, तब तक साधुत्व नहीं होता है और जब तक साधुत्व नहीं होता है, तब तक केवलज्ञान नहीं होता है। यदि इस प्रकार कहा जाए तो इसका अर्थ यह हुआ कि वस्त्र केवलज्ञान में बाधक हैं, अर्थात् जब तक शरीर पर वस्त्र हैं, तब तक केवलज्ञान आवरित होता है-यह मानना पड़ेगा। यदि यह स्वीकार किया जाए, तो ज्ञानावरणीय कर्म के प्रकारों में वस्त्र-ज्ञानावरणीय-कर्म भी स्वीकार करना पड़ेगा, परंतु शास्त्रों में इस प्रकार के कर्म की कहीं भी चर्चा नहीं आई है, इसलिए केवलज्ञान की प्राप्ति में वस्त्रत्याग की अनिवार्यता नहीं है। केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब नग्नावस्था हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। कहा गया है- "भावना भवनाशिनी, भावना भव वर्धिनी" भावना ही भव का नाश करती है और भावना ही भव की वृद्धि करती है। वस्त्र आदि होने या नहीं होने से केवलज्ञान का, मोक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है। आसक्ति, ममत्व चाहे वस्त्र के प्रति हो या शरीर के प्रति वह जरूर केवलज्ञान और मोक्ष में बाधक बनती है, किन्तु आसक्ति से रहित चाहे वस्त्र धारण किए हों या शरीर हो, कोई भी केवलज्ञान में बाधक नहीं बनते हैं।

(८६४) इत्थं केवलिनस्तेन मूर्ध्नि क्षिप्तेन केनचित्।
केवलित्वं पलायेतेत्यहो किमसमंजसम्।।१६७।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार तो केवली के मस्तक पर किसी के द्वारा वह (वस्त्र) डालने से केवलज्ञान भाग जाता है, (पलायन कर जाता है) यह कैसी असमंजस की बात है ?

विशेषार्थ - "नग्नावस्था के बिना साधुत्व नहीं, केवलज्ञान नहीं और मोक्ष नहीं" यह दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है। दिगम्बर का मंतव्य है कि जब तक वस्त्र आवरणरूप हैं, तब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्र बाधक बनता है जबकि श्वेताम्बर की मान्यता है कि वस्त्र केवलज्ञान में बाधक नहीं हो सकता है, वस्त्र के होने या नहीं होने से केवलज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में तर्क किया गया है कि ऐसा मानो कि सभी केवलज्ञानी नग्नावस्था में ही हों, परंतु कुछ केवलज्ञानी ध्यान में बैठे हों, शीत-ऋतु या पौष माह की अत्यधिक ठंड हो, कोई श्रावक या भक्त करुणाभाव से प्रेरित होकर केवली भगवन्त के मस्तक के ऊपर वस्त्र डाल देता है, लपेट देता है तो उस वस्त्र के कारण केवलज्ञानी का केवलज्ञान तुरंत नष्ट हो जाना चाहिए, पलायित हो जाना चाहिए। परंतु यह तो हास्यास्पद बात लगती है। इस प्रकार केवलज्ञान कभी भी जाता नहीं है। इसलिए वस्त्र केवलज्ञान का बाधक नहीं बन सकता है। वस्त्र केवलज्ञान में बाधक है यह बात अयोग्य, अप्रीतिकर लगती है।

(८६५) भावलिंगात् ततो मोक्षो भिन्नलिंगेष्वपि ध्रुवः।
कदाग्रहं विमुच्यैतद्भावनीयं मनस्विना।।१८८।।

अनुवाद - इसलिए भिन्न लिंग वालों में भी भावलिंग से अवश्य मोक्ष है। मनस्वी (बुद्धिमान्) पुरुष को कदाग्रह का त्याग करके इस सम्बन्ध में भावपूर्वक विचार करना चाहिए।

विशेषार्थ - ज्ञान, दर्शन, चारित्र-इन रत्नत्रयीरूप आत्मा के गुणों का आविर्भाव, इन भावलिंग की मोक्षप्राप्ति में अनिवार्यता है। व्यक्ति ने चाहे किसी भी प्रकार का वेश धारण कर रखा है, वह किसी भी परम्परा का हो, किसी भी धर्म का हो, चाहे दिगम्बर हो, चाहे श्वेताम्बर हो, चाहे जैन परंपरा का साधु हो या अन्य परंपरा का संन्यासी हों, या गृहस्थ हो जिसमें भी भावलिंग उपस्थित है उसकी मुक्ति निश्चित है। चाहे व्यक्ति वस्त्रधारी हो या वस्त्र रहित हो यदि भावलिंग का अभाव है, रत्नत्रयी प्रगट नहीं हुए हो तो उसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है, मोक्ष का बिल्कुल सीधा-सरल रास्ता है, उसका न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध है न किसी प्रकार की मान्यता से,

परंतु प्रत्येक संप्रदाय वाले अपने संप्रदाय की सामाचारी के आधार पर ही सम्यग्दर्शन और मोक्ष की प्राप्ति को मानते है एवं उसके लिए आग्रह रखते हैं।

कभी-कभी तो व्यक्ति संप्रदाय के मोक्ष में इतना कदाग्रही हो जाता है कि अपने संप्रदाय के अलावा सभी को मिथ्यात्वी, संसार की वृद्धि करने वाला मानता है। ग्रंथकार कहते हैं कि किसी भी बात के लिए कदाग्रह का त्याग करके, विवेकपूर्वक चिंतन-मनन करके, मुक्त मन से विचार करके सत्य को स्वीकार करना चाहिए।

(८६६) अशुद्धनयतो ह्यात्मा बद्धो मुक्त इति स्थितिः।
न शुद्धनयतस्त्वेष बध्यते नापि मुच्यते।।१८६।।

<u>अनुवाद -</u> अशुद्ध नय से तो आत्मा बद्ध है और मुक्त भी है-ऐसी स्थिति है, परंतु शुद्ध नय से तो यह (आत्मा) बंधती भी नहीं है और मुक्त भी नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> मोक्ष तत्त्व की चर्चा करने के बाद उपसंहार के रूप में ग्रंथकार कहते हैं कि अशुद्ध निश्चय की दृष्टि से देखा जाए, तो आत्मा भावकर्म की कर्त्ता है और भोक्ता है तथा आत्मा भावकर्म से भी बंधती है और भावकर्म से मुक्त भी होती है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाए, तो आत्मा कर्म की कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। आत्मा न कर्म से बंधती है और न ही कर्म से मुक्त होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव को किसी एकांतिक विचारों के प्रवाह में, धारणा में नहीं बह जाना चाहिए। उसे शान्त चित्त से समत्वभाव धारण कर उदारतापूर्वक विभिन्न पक्षों को, नयों को समझकर उसमें से सार ग्रहण करना चाहिए। किसी एक नय को स्वीकार करके अन्य नयों की उपेक्षा करने पर उन्हें मिथ्या कहने पर स्वयं मिथ्यात्वी हो जाता है।

(८६७) अन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मतत्त्वविनिश्चयम्।
नवभ्योऽपि हि तत्त्वेभ्यः कुर्यादेवं विचक्षणः।।१६०।।

<u>अनुवाद -</u> इस प्रकार विचक्षण व्यक्ति को नौ तत्त्वों से भी अन्वय और व्यतिरेक द्वारा आत्मतत्त्व का निश्चय करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> तत्त्व नौ प्रकार के हैं - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। ग्रंथकार का निर्देश है कि इन तत्त्वों में अन्वय और व्यतिरेक द्वारा आत्म तत्त्व का निश्चय करना चाहिए। अन्वय शब्द का अर्थ है - जोड़ना, एकरूप होना या अभेद और व्यतिरेक अर्थात् भेद, पृथक्त्व व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा का अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष सभी तत्त्वों के साथ सम्बन्ध है। व्यवहारनय अर्थात् जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, प्रतीत होता है। आत्मा का अजीव अर्थात् पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश (आठ रूचक- प्रदेश को छोड़कर) में कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणु रहे हुए हैं, अर्थात् आत्मा और शरीर एकक्षेत्रावगाही हैं, अतः व्यवहार से शरीर पर प्रहार आदि करने से आत्मा को पीड़ा होती है। उसी प्रकार, आत्मा के शुभ भाव से पुण्य, अशुभ भाव से पाप का आस्रव होता है तथा पुण्य और पाप के प्रभाव से जीव सुखी-दुःखी होता है। जीव व्रत आदि धारण कर आते हुए कर्मों को रोकता है और तपश्चर्या आदि करके कर्मों की निर्जरा भी करता है। व्यवहार से जीव कर्म का बंध करता है और कर्मक्षय करके मोक्ष भी प्राप्त करता है। इस प्रकार व्यवहार से देखा जाए, तो नौ तत्त्वों के साथ आत्मा का प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाए, तो आत्मा जीव द्रव्य है, चेतन है जबकि पुद्गल आदि जड़द्रव्य हैं, अतः निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। जीव द्रव्य भी स्वतंत्र है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में रहते है, अपने-अपने गुणों में परिणमित होते हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कर्म की कर्त्ता नहीं है, भोक्ता भी नहीं है, न आत्मा का बन्धन है और न मोक्ष। आत्मा का आस्रव और संवर तत्त्व से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी शुद्धनिश्चयनय की धारणा है। विचक्षण लोगों को नवतत्त्व का सापेक्ष चिंतन करके तथा किस दृष्टि से भेद है, किस अपेक्षा से अभेद आदि पर विचार करके, आत्मस्वरूप का निश्चय करके उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(८६८) इदं हि परमाध्यात्ममममृतं ह्यद एव च।
इदं हि परमं ज्ञानं योगोऽयं परमः स्मृतः।।१६१।।

<u>अनुवाद -</u> यही परम अध्यात्म है, यही अमृत है, यही परमज्ञान है और यही परमयोग कहलाता हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मतत्त्व के उत्कृष्ट संवेदन को यहाँ परम अध्यात्म के रूप में दर्शाया गया है। व्यवहारनय और निश्चयनय द्वारा आत्मदशा का निर्णय करना अध्यात्म है। क्योंकि जब तक जीव आत्मस्वरूप का निश्चय नहीं करेगा, तब तक वह मोक्ष दशा से मुक्त नहीं हो पाएगा, न भ्रम टूटेगा, न भ्रमणा मिटेगी। अतः आत्मतत्त्व निश्चय करके उसका संवेदन, अनुभव करना चाहिए। आत्मनिश्चय जीव को अजरामर ऐसे मोक्ष को प्राप्त कराने में सहायक होने से तथा सभी कर्मरूपी रोगों से मुक्त करवाने वाला होने से परम अमृत-रूप है। यही तत्त्वबोधरूपी और तत्त्वसंवेदनरूपी परमज्ञान है। अयोगी अवस्था तक ले जाने वाला, मोक्षगति के साथ जोड़ने वाला यही परमयोग है। इस प्रकार उच्च्व दशा के साधक को जो आत्मज्ञान प्राप्त होता है, उस आत्मज्ञान की महिमा यहाँ दर्शाई गई है।

(८६९) गुह्याद्गुह्यतरं तत्त्वमेतत्सूक्ष्मनयाश्रितम्।
न देयं स्वल्पबुद्धीनां ते ह्येतस्य विडंबकाः।।१६२।।

<u>अनुवाद -</u> गूढ़ से भी गूढ़ ऐसा यह तत्त्व सूक्ष्म नय के आश्रित है। अल्पबुद्धि वाले को यह प्रदान नहीं करना क्योंकि वे इसकी विडंबना करने वाले है।

<u>विशेषार्थ -</u> शुद्ध आत्म द्रव्य का ज्ञान अत्यंत गूढ़ है रहस्यमय है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। उसका अनुभव तो उससे भी अधिक गूढ़ है। ऐसे गूढ़ तत्त्व की चर्चा सामान्य बुद्धि वाले भवाभिनंदी के सामने नहीं करना चाहिए। इस सूक्ष्म तत्त्व का चिंतन, मनन, विचार, सूक्ष्म नय के आश्रित है। किसी भी एक नय को ही पकड़ने से उसी का कदाग्रह रखने पर व्यक्ति भटक जाता है। उसकी गति तो होती है किन्तु प्रगति नहीं होती है। विविध नयों का ज्ञान होना आवश्यक है। माध्यस्थ गुण होना आवश्यक है। व्यवहारनय, अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय इत्यादि की अपेक्षा से आत्मतत्त्व का विचार

करना चाहिए, उसका संवेदन करना चाहिए। सामान्य, अनिपुण, अरुचि वाले जीवों के समक्ष तत्त्वज्ञान की गहन चर्चा नहीं करना चाहिए, ज्वर से तप्त व्यक्ति को गरिष्ठ भोजन जिस प्रकार हानिकारक होता है उसी प्रकार पौद्गलिक सुखों में उन्मत्त, कर्मज्वर से तप्त व्यक्ति के समक्ष तत्त्वज्ञान का गरिष्ठ भोजन परोसा जाए तो वह उसे पचा नहीं सकता है, उसे समझ में नहीं आ सकता है, तथा वह उसका उपहास करता है। प्रायः संसारी लोग ऐन्द्रिक विषयों के भोगोपभोग में मस्त रहने वाले होते है। जिनका आध्यात्मिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे बाह्य जीवन जीने वाले के सामने आत्मतत्त्व की चर्चा करने की अपेक्षा मौन रहना ही अच्छा है। योग्य अधिकारी, लघुकर्मी, आत्मरसिक, सुपात्र जीव के समक्ष ही सूक्ष्मनयाश्रित आत्मतत्त्व की, आत्मस्वरूप के अनुभव की चर्चा करना चाहिए।

(८७०) जनानामल्पबुद्धीनां नैतत्तत्त्वं हितावहम्।
निर्बलानां क्षुधार्तानां भोजनं चक्रिणो यथा।।१९३।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे निर्बल क्षुधातुर को चक्रवर्ती का भोजन कल्याणकारी नहीं है उसी प्रकार अल्पबुद्धिवाले व्यक्तियों को यह तत्त्व कल्याणकारी नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> यह अनुभव की बात है जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति बिना शक्ति के पराक्रम करने का दुःसाहस करता है तो उसे स्वयं ही हानि उठाना पड़ती है, पराजय का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार भौतिक क्षेत्र में यह बात लागू होती है उसी प्रकार तात्त्विकज्ञान के क्षेत्र में भी यह बात लागू होत है। सूक्ष्मनय के अनुसार आत्मतत्त्व को योग्य प्रकार से समझना और उसका अनुभव करना सभी के लिए संभव नहीं है। इसके लिए उच्चपात्रता चाहिए, सूक्ष्म समझ चाहिए। यदि अल्पबुद्धि वाले, अविवेकी व्यक्ति के समक्ष ऐसे गूढ़ तत्त्व की चर्चा की तो उसकी अल्पबुद्धि मिथ्याबुद्धि के कारण विपरीत परिणाम भी आ सकता है। वह किसी एक ही नय के आधार पर तत्त्व का समग्रनिर्णय करने का मिथ्यासाहस वह कर सकता है। अपात्र व्यक्ति को शुद्ध निश्चयनय से आत्मतत्त्व की बात समझाने से उसी का अहित होता है। प्रस्तुत श्लोक में चक्रवर्ती का दृष्टान्त दिया गया। चक्रवर्ती का शरीर अत्यंत सुदृढ़ होता है। अतुल बल उसमें होता है। उसकी पाचनशक्ति भी उतनी ही अच्छी होती है। वह अत्यंत

पौष्टिक, गरिष्ठ भोजन भी सरलतापूर्वक पचा सकता है। यदि चक्रवर्ती के भोजन को किसी गरीब, दुर्बल, अनेक दिनों से भूखे व्यक्ति को खिलाया जाए तो वह व्यक्ति उस गरिष्ठ भोजन को नहीं पचा सकेगा। उसे वायु, पित्त, अपच हो सकता है या वह मृत्यु की शरण में भी जा सकता है। दुर्बल व्यक्ति को उसकी काया के अनुरूप ही हल्का भोजन, अल्प प्रमाण में दिया जाए तो हितकर है। गरिष्ठ भोजन, पौष्टिक, मूल्यवान भोजन चाहे कितना भी अच्छा हो लेकिन उसके लिए हितकारी नहीं है, बल्कि हानिकारक है। उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति के समक्ष निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप की चर्चा करने से उसके हित की अपेक्षा अहित ही हो जाता है।

(८७१) ज्ञानांशदुर्विदग्धस्य तत्त्वमेतदनर्थकृत्।
अशुद्धमंत्रपाठस्य फणिरत्नग्रहो यथा।।१६४।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे अशुद्ध मंत्र का पाठ करने वाले के लिए नाग के रत्न को ग्रहण करना अनर्थकारी है, उसी प्रकार ज्ञान के अंश से दुर्विदग्ध के लिए यह तत्त्व (अनर्थकारी) है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में नाग रत्न के दृष्टान्त द्वारा पुनः यह स्पष्ट किया गया कि अयोग्य पात्र के लिए आत्म तत्त्व का उपदेश अनर्थकारी है। गारूड़ी विद्या को जानने वाले, गारूड़ी मंत्र से मणिधारी नाग को वश में करके उसके मस्तक पर रही हुई मणि को निकाल लेते हैं। वे गारूड़ी मंत्र विद्या के अच्छे जानकार होते है। वे मंत्र का पूर्णतः शुद्ध व स्पष्ट उच्चारण करते है। मंत्र का अत्यंत शुद्धतापूर्वक उच्चारण किया जाये तो ही काम सिद्ध होता है। अशुद्ध उच्चारण से काम सिद्ध नहीं होता है और होने की अपेक्षा हानि होने की संभावना रहती हे। विषैले नाग को वश में करना अत्यंत दुर्लभ है। उसमें प्राणों को खतरा है। मंत्र का उच्चारण पूर्णतः शुद्ध नहीं हो तो नाग वश में नहीं होता है और रत्न लेने वाले को डंक मारकर उसके प्राणों को हर लेता है। अशुद्ध उच्चारण से मणि तो प्राप्त नहीं होती है उल्टे प्राण चले जाते है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के विषय में जिसे अल्पज्ञान है परंतु अभिमानी है,अपात्र और अनधिकारी है, कदाग्रही है, अपरिपक्व है ऐसे व्यक्तियों के लिए निश्चयनय युक्त आत्मज्ञान का विषय अनर्थकारी सिद्ध होता है। वे स्वयं भ्रमित हो जाते है और अपने अधूरे

ज्ञान से उपदेश द्वारा अन्य लोगों को भी भ्रमित करते हैं। सूक्ष्म तत्त्व को समझने के लिए सूक्ष्मबुद्धि और विशुद्ध श्रद्धा की आवश्यकता होती है।

(८७२) व्यवहारविनिष्णातो यो ज्ञीप्सपि विनिश्चयम्।
कासारतरणाशक्तः स तितीर्षति सागरम्।।१६५।।

अनुवाद - व्यवहार (नय) के सम्बन्ध में जो निपुण नहीं है, वह निश्चय (नय) को जानने की इच्छा करे तो वह तालाब के भीतर तैरने में अशक्त होने पर सागर में तैरने की इच्छा करता है।

विशेषार्थ - सभी नयों में परस्पर पूरक ऐसे दो नय है - व्यवहारनय और निश्चयनय। एक में वास्तविकता का विचार है। प्रत्यक्ष में जो स्थिति दिखाई दे रही है उसका विचार है और दूसरे में आदर्श स्थिति का विचार है, शुद्ध स्थिति का विचार है। इसलिए जैन दार्शनिक चर्चा में दोनों नयों की दृष्टि से विचार करना स्वाभाविक है। अपने-अपने स्थान पर दोनों ही नयों का महत्त्व है, इसलिए दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। जब एक ही नय को प्रधान मानकर दूसरे की उपेक्षा की जाती है तब विवाद खड़ा होता है। वस्तुतः दोनों नयों के मध्य माध्यस्थ दृष्टि रखना चाहिए। ऐसा नहीं है कि व्यवहारनय हमेशा उपेक्षित, गौण और निश्चयनय हमेशा मुख्य या प्रधान ही होता है। कभी-कभी व्यवहारनय भी मुख्य बन सकता है और यह बात सत्य है कि जो व्यक्ति व्यवहार में निपुण नहीं है, कुशल नहीं है वह निश्चयनय में परिपक्व नहीं बन सकता है। वस्तुतः व्यवहारनय की परिपक्वता स्वतः निश्चयनय की ओर ले जाती है। व्यवहारनय को समझे बिना निश्चयनय का अनुसरण करने पर पदार्थ को समझने में भूल हो जाती है। व्यक्ति भ्रमित हो जाता है, भटक जाता है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने दृष्टान्त दिया कि जिस व्यक्ति को तालाब के अल्प पानी में तैरना भी नहीं आता हो और वह समुद्र को भुजा से तैरकर किनारे पर पहुँचने की आशा रखता है तो वह व्यर्थ है। उसकी आशा सफल नहीं होती है और किनारे पर पहुँचने की अपेक्षा व्यक्ति समुद्र में ही डूब जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति व्यवहार नय में तो निपुण नहीं है और मात्र निश्चय को जानकर उसके द्वारा वह संसार रूपी सागर का किनारा प्राप्त करना चाहता है तो प्रायः यह संभव नहीं है। व्यक्ति किनारा तो प्राप्त नहीं कर

सकता है प्रत्युत संसार समुद्र में ही डूब जाता है। अतः व्यवहार नय को जाने बिना निश्चयनय की बात करना हास्यास्पद है।

(८७३) व्यवहारं विनिश्चित्य ततः शुद्धनयाश्रितः।
आत्मज्ञानरतो भूत्वा परमं साम्यमाश्रयेत्।।१६६।।

अनुवाद - व्यवहारनय का अच्छी तरह निश्चय करके फिर शुद्धनय का आश्रय करने वाले को आत्मज्ञान में मग्न होकर परम समता का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

विशेषार्थ - प्रस्तुत अधिकार का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार ने यह दर्शाया है कि आत्मज्ञान में व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों का अत्यधिक महत्त्व है। व्यवहारनय को सम्पूर्ण रूप से जानने वाले ही निश्चयनय में आत्मज्ञान में स्थिर हो सकता है। दोनों में से एक भी नय की उपेक्षा करके, एक नय का ही आश्रय लेने वाला भटक जाता है। आत्मज्ञान में मोक्षमार्ग में, अध्यात्ममार्ग में प्रगति करने के लिए दोनों नयों का ज्ञान होना आवश्यक है। इन दोनों नयों में से ऐसा भी नहीं है कि एक नय मुख्य है और एक नय गौण है। अपने-अपने स्थान पर दोनों नयों का समान महत्त्व है, दोनों ही मुख्य है। इसलिए दोनों नय मनुष्य की दो आँख के समान या रथ के दो पहिये के समान है। आत्मज्ञान में प्रगति करते हुए साधक नीचे की भूमिका से क्रमशः ऊपर की भूमिका पर पहुँचता है। निम्न भूमिका पर स्थित साधक ने अगर व्यवहारनय को ही नहीं पचाया हो अर्थात् व्यवहारनय की नींव ही मजबूत नहीं हो तो निश्चयनय तक पहुँचना कठिन है, निश्चयनय का महल निर्मित होना दुष्कर है। निम्न गुणस्थानक पर स्थित साधक के लिये आवश्कादि क्रियाओं का व्यवहार अपेक्षित है, वह उनकी अपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकता है। ऊपर के गुणस्थानक पर पहुँचने पर व्यवहारनय का त्याग नहीं करना पड़ता है वह तो स्वतः ही छूट जाता है। वस्तुतः नय के प्रति बनी हुई ग्रंथी भी साधक को उच्च दशा प्राप्त करने में विघ्नभूत है। आत्मज्ञान में मग्न साधक को, परम समता में स्थिर होने वाले साधक को नयवाद का ज्ञान होने पर भी नय के विषय में उनका पूर्वाग्रह नहीं होता है। वे नयातीत होते है।

----oo----

प्रबंध - छठवाँ

उन्नीसवां अधिकार - जिनमतस्तुति अधिकार

(८७४) उत्सर्पद्व्यहारनिश्चयकथाकल्लोलकोलाहल।
त्रस्यद्दुर्नयवादिकच्छपकुलं भ्रश्यत्कुपक्षाचलम्।।
उद्यद्युक्तिनदीप्रवेशसुभगं स्याद्वादमर्यादया।
युक्तं श्री जिनशासनं जलनिधिं मुक्त्वा परं नाश्रये।।१।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें व्यवहार और निश्चय की कथाओं की उछलती हुई लहरों के कोलाहल से दुःखी हुई दुर्नयवाही कछुओं के कुल वाले, नष्ट हुए कुपक्ष रूपी पर्वतवाले, विस्तृत युक्ति रूपी नदियों के प्रवेश से जो सुभग है और स्याद्वाद रूपी मर्यादा से जो युक्त है ऐसे जिनशासनरूपी समुद्र (जलनिधि) को छोड़कर अन्य किसी का आश्रय मैं ग्रहण नहीं करूं।

<u>विशेषार्थ -</u> जिनशासन, जिनागम, जिनवाणी की महिमा दर्शाने के लिए, उसका यथार्थ रूप से गुणगान करने के लिए ग्रंथकार ने जिनवाणी के लिए भिन्न-भिन्न उपमाओं का प्रयोग किया है। प्रस्तुत श्लोक में जिनशासन को महासागर की उपमा दी गई है। जिस तरह महासागर में बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं जिससे कछुए डरकर भाग जाते हैं और लहरों के टकराने से आस-पास के पर्वत टूट-टूट कर नीचे गिरते हैं और समुद्र में हजारों नदियाँ मिलती हैं अर्थात् अपना जल समुद्र को प्रदान करती है फिर भी समुद्र कभी भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है, उभराकर बाहर नहीं आता है। उसी प्रकार जिनागम (जिनशासन) रूपी महासागर में निश्चय और व्यवहार की लहरें उठती हैं। इस कारण में दुर्नयवादी के मिथ्या पक्ष तथा कथन, कुतर्क रूपी कछुएँ डरकर, हताश होकर, दुःखी होकर दूर भाग जाते है। इस महासागर में विस्तृत युक्तियों-रूपी-नदियों के मिलने से, इसकी शोभा में अभिवृद्धि होती है। फिर भी यह जिनागम रूपी महासागर कभी भी स्याद्वाद रूपी अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता है, अर्थात्

इसकी कोई भी युक्ति, कोई भी तर्क एकान्तवाद का सहारा लेकर नहीं होता है। इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसे मनोहर, गहन, सुभग, सुन्दर जिनशासन रूपी महासागर प्राप्त होने के बाद में किसी अन्य का आश्रय क्यों ग्रहण करूं ? जहाँ आत्मकल्याण की पूर्ण सुलभता है, अनुकूलता है, उस जिनागम का त्याग करके मैं अन्य किसी शास्त्र का या वाणी का सहारा नहीं लेना चाहता हूँ।

(८७५) पूर्णः पुण्यनयप्रमाणरचनापुष्पैः सदास्थारसै।
स्तत्त्वज्ञानफलः सदा विजयते स्याद्वादकल्पद्रुमः।।
एतस्मात् पतितैः प्रवादकुसुमैः षड्दर्शनारायमभू-।
र्भूयः सौरभमुद्वमत्यभिमतैरध्यात्मवार्तालवैः।।२।।

<u>अनुवाद -</u> सम्यग्दर्शन रूपी रस वाले, पवित्र नय और तत्त्वज्ञानरूपी फल से युक्त ऐसा स्याद्वाद रूपी कल्पद्रुम सदा विजय प्राप्त करता है। इसके ऊपर से पतित प्रवाद रूपी पुष्पों द्वारा और अभिमत अध्यात्म की बातों के अंश से षड्दर्शनरूपी उद्यान की भूमि खुशबू को फैलाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में जिनवाणी की महिमा बताते हुए ग्रंथकार कहते है कि षड्दर्शनरूपी उद्यान में स्याद्वाद रूपी कल्पवृक्ष सदा विजय को प्राप्त होता है। जैनदर्शन षड्दर्शन को स्वीकार करता है परंतु वह स्याद्वाद शैली के द्वारा। वह किसी भी दर्शन को मिथ्या न कहकर उस दर्शन का मन्तव्य किस दृष्टिकोण से सत्य है, वह तत्त्वों का प्रतिपादन किस शैली से, कौन से नय से कर रहा है, उसका स्पष्टीकरण जैनदर्शन में प्राप्त होता है। स्याद्वाद शैली को अपनाकर किसी दर्शन के सत्यांश को प्रतिपादित किया जा सकता है। जैनदर्शन महासागर है उसमें षड्दर्शनरूपी नदियाँ मिली हुई है। प्रस्तुत श्लोक में षड्दर्शन को बगीचे की उपमा दी गई है जिसमें स्याद्वाद रूपी कल्पवृक्ष की खुशबू चारो ओर फैल रही है। वहाँ क्लेशमय वाद-विवाद का वातावरण निर्मित नहीं होता है। जो एकान्तवाद के आग्रही है, जो एक नय को सत्य तथा अन्य को मिथ्या स्वीकार करते है, जहाँ अनेकान्तवाद का अभाव है, स्याद्वाद की खुशबू नहीं है वहाँ वाद-विवाद, एक दूसरे को परास्त करने का वैमनस्यपूर्ण वातावरण होता है। एक दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा होती है। सभी सत्य के अंश रूप होते हुए भी पूर्ण सत्य

होने का दावा करते है, तथा अन्य दर्शन को मिथ्या घोषित करते हैं। परंतु जैनदर्शन में तो किसी न किसी अपेक्षा से छहो दर्शनों की बात को स्वीकार किया गया है। अतः जैनदर्शन षड्दर्शन का समूह है। यहाँ किसी प्रकार का वाद-विवाद या एकान्त नहीं है तथा किसी भी दर्शन का खण्डन करके उसे नीचे गिराने की दृष्टि नहीं है। जैनदर्शन में किसी भी बात को नय तथा प्रमाण के साथ स्पष्ट किया गया है। जैनदर्शन समन्वयात्मक दर्शन है, यहाँ प्रत्येक दर्शन के सत्यांशों को स्वीकार करके समन्वय की भूमिका निर्मित की गई है। इसलिए यहाँ प्रवाद युक्त (प्रकृष्ट वाद) रूपी पुष्प महक रहे हैं। ये नय तथा प्रमाण की खुशबू से मुक्त है। जिसमें सम्यग्दर्शन रूपी रस है तथा इस स्याद्वाद रूपी कल्पतरू के तत्त्वज्ञानरूपी फल है। इस स्याद्वादरूपी कल्पतरू के षड्दर्शन रूपी सम्पूर्ण उद्यान महक रहा है। चारों ओर उसकी खुशबू फैल रही है। जहाँ स्याद्वाद है वहाँ कभी पराजय नहीं है। स्याद्वादरूपी कल्पतरू सदा विजयशील है।

(८७६) **चित्रोत्सर्गशुभापवादरचनासानुश्रियालंकृतः।**
श्रद्धानंदनचंदनद्रुमनिभप्रज्ञोल्लसत्सौरभः।।
भ्राम्यद्भिः परदर्शनग्रहगणैरासेव्यमानः सदा।
तर्कस्वर्णशिलोच्छ्रितो विजयते जैनागमो मंदरः।।३।।

<u>अनुवाद</u> - चित्रविचित्र उत्सर्ग और शुभ अपवाद की रचनारूपी शिखरों की शोभा से जो अलंकृत है, श्रद्धारूपी नंदनवन में रहे हुए चंदन के वृक्ष जैसी प्रज्ञा की सौरभ जिसमें फैल रही है। परिभ्रमण करते हुए परदर्शनरूप ग्रहों के समूह से जो सदा सेवित है और तर्करूपी स्वर्ण की शिलाओं से जो उन्नत है,ऐसा जिनागमरूपी मेरूपर्वत विजय को प्राप्त हो।

<u>विशेषार्थ</u> - जैनदर्शन की विभिन्न विशेषताओं को उजागर करते हुए ग्रंथकार ने उनको विशिष्ट उपमाओं से अलंकृत किया है। प्रस्तुत श्लोक में जिनागम को मेरूपर्वत की उपमा से अलंकृत किया गया है। जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार मेरूपर्वत स्वर्ण का बना हुआ है। मेरूपर्वत चार वनों द्वारा घिरा हुआ है। उसमें एक नन्दनवन है जहाँ चन्दन के वृक्षों की सुगन्ध चारों ओर फैल रही है। मेरूपर्वत के आसपास ग्रह परिभ्रमण करते हैं।

जिस मेरूपर्वत अनेक अनेक चित्र विचित्र शिखरों से युक्त है उसी प्रकार जिनागमरूपी मेरूपर्वत में कई प्रकार के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के शिखर है जिनके द्वारा जिनागमरूपी मेरूपर्वत सुशोभित होता है। असमें श्रद्धारूपी नंदनवन है और प्रज्ञारूपी चंदन के वृक्ष की सौरभ है। जिनागमरूप मेरूपर्वत पर तर्क रूपी स्वर्ण की शिलाएँ है तथा अन्य दर्यानरूपी ग्रह जिनागमरूपी मेरूपर्वत के आसपास चक्कर लगा रहे है। ऐसा मेरूपर्वत चारों ओर विजय प्राप्त करता है। (विजयशील है)

(८७७) स्यादोषापगमस्तमांसि जगति क्षीयन्त एव क्षणात्।
अध्वानो विशदीभवन्ति निबिडा निद्रा दृशोर्गच्छति।।
यस्मिन्नभ्युदित प्रमाणदिवसप्रांरभकल्याणिनी।
प्रौढ़त्वं नयगीर्दधाति स रविर्जैनागमो नन्दतात्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> जिसके उदय से जगत् में दोषरूपी अंधकार का क्षण में ही नाश हो जाता है, रास्ते स्पष्ट हो जाते है तथा आँखों की गहन निद्रा चली जाती है। प्रमाणरूपी दिवस के प्रारंभ से कल्याणकारी नयवाणी प्रौढ़त्व धारण करती है ऐसा जिनागमरूपी सूर्य आनंद को प्राप्त हो।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में जिनागम के लिए सूर्य की उपमा दी गई है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही रात्रि का घनघोर अंधेरा भी दूर हो जाता है। उसी प्रकार जिनागम रूपी सूर्य के उदय होते ही दोष या मोह रूपी रात्रि का नाश हो जाता है तथा अज्ञान और मिथ्यात्व का घोर अंधकार दूर हो जाता है तथा सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से चारों ओर के रास्ते स्पष्ट दिखाई देते हैं उसी प्रकार जिनागमरूपी सूर्य के उदय होने से धर्म के मार्ग (द्रव्यमार्ग), दान, शील आदि तथा भावमार्ग, क्षमा, सरलता आदि स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिससे व्यक्ति भटकता नहीं है और अपनी भूमिका के अनुरूप मार्ग का चयन करके आत्म विकास की ओर प्रगति करता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश हो जाने पर निद्रधीन व्यक्ति जागृत हो जाता है, उसकी आँखें की गाढ़ निद्रा दूर हो जाती है उसी प्रकार जिनागम रूपी सूर्य के प्रकाश से प्रमादरूपी गाढ़ निद्रा दूर हो जाती है और व्यक्ति सावधान हो जाता है, सजग हो जाता है तथा धर्मकार्य में अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है।

उसके उल्लास और उत्साह में वृद्धि होती है तथा व्रतों में अतिचार रूपी शिथिलता दूर होती हे। जैसे सूर्य के उदय होने पर पक्षी चहचहाने लगते हैं, दिवस का प्रारंभ हो जाता है तथा लोगों का आवागमन शुरू हो जाता है उसी प्रकार जिनागम रूपी सूर्य के उदय होने पर प्रमाण रूपी दिन का प्रारभ हो जाता है तथा कल्याणकारी ऐसी मंगलमयी नयवाणी प्रौढ़त्व बनती है अर्थात् जिनागम में वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप का सामान्य रूप में कथन किया गया है तथा वस्तु के अमुक-अमुक अंश को भी विशेष रूप से नय द्वारा प्रतिपादित किया गया है अर्थात् वस्तु के सामान्य तथा विशेष दोनों स्वरूपों को प्रमाण व नय से स्पष्ट किया गया है। नययुक्त ऐसे जिनवाणी को जो भी सहर्ष स्वीकार करता है उसका कल्याण होता है। यह जिनवाणी अनेक जीवो के कल्याण करने वाली होती है। जिनागमरूपी सूर्य आनंद तथा समृद्धि को प्राप्त करे तथा जयवंत रहे। विजयशील है।

(८७८) अध्यात्मामृतवर्षिभिः कुवलयोल्लांस विलासैर्गवां।
तापव्यापविनाशिभिर्वितनुते लब्धोदयो यः सदा।।
तर्कस्थाणुशिरः स्थितः परिवृतः स्फारैर्नयैस्तारकैः।
सोडयं श्री जिनाशासनामृतरूचिः कस्यैति नो रूच्यताम्।।५।।

<u>अनुवाद -</u> जो सदा उदय को प्राप्त हुआ अध्यात्मरूपी अमृत की वृष्टि करने वाली तथा ताप के संताप की दूर करने वाली, वाणी के विलास के द्वारा भव्यजनरूपी कमल (कुवलय) को उल्लसित करता है। जो तर्करूपी महादेव के मस्तक पर रहा हुआ है और नयरूपी ताराओं से घिरा हुआ है, यह पर्यवेष्टित जिनशासनरूपी चंद्र किसको रूचिकर न हो ?

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में जिनागम की चंद्र से उपमा दी गई है। चंद्रमाँ का उदय चांदनी रात सभी को प्रिय होती है। उसकी मधुर शीतल अमृत के समान चांदनी मन के ताप को, संताप को दूर कर देती है। चंद्र महादेव के मस्तक पर दिखाई देता है तथा चंद्र ताराओं से पर्यवेष्टित होता है। यह चंद्र तो केवल शुक्ल पक्ष में ही पूर्णिमा के दिन पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है जबकि जिनागमरूपी चंद्र की यह विशेषता है कि वह चाहे शुक्ल पक्ष हो या कृष्ण पक्ष सदा सर्वदा पूर्णरूप से प्रकाशित रहता है। यह चंद्र अध्यात्मरूपी अमृत की वृष्टि करके भव्य जीवों के हृदय को उल्लसित

करता है। यह आत्मरूपी अमृत की वृष्टि जीवों के आत्मविकास में सहायक होती है तथा जीवों को अमरता की ओर, शाश्वतता की ओर ले जाती है। यह जिनागम रूपी चंद्र मन वचन और काया के योग द्वारा बंधे हुए कर्मों के क्लेश को, दुःख को नष्ट करने वाला होता है। यह मिथ्यात्व रूपी व्यापक पाप के संताप को दूर करके सम्यक्त्व रूपी शीतलता प्रदान करता है। यह चंद्र तर्करूपी महादेव के मस्तक पर रहता है अर्थात् तर्कों द्वारा जिनागम उच्च, गौरवान्वित स्थान को प्राप्त करने का अधिकारी है। जिनागम रूपी चंद्र नय रूपी ताराओं से परवेष्टित है। जिनवाणी तर्कयुक्त है और भी नय से अपूर्ण नहीं है। जिनवाणी के सभी कथन सापेक्ष है। कोई भी कथन निरपेक्ष नहीं है। सभी नयों के विविध दृष्टिकोणों की चर्चा इसमें है, ऐसा जिनागम रूपी चंद्र किसको रूचिकर न हो ? अर्थात् सभी भव्यजीवों को रूचिकर, प्रिय प्रतीत होता है।

(८७९) बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः।।
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते।।६।।

<u>अनुवाद -</u> बौद्धों का मत ऋजुसूत्र (नय) में से, वेदांतियों और सांख्यों का मत संग्रह (नय) में से, योग और वैशेषिक का मत नैगम नय में से, शब्द ब्रह्म को जानने वाले (मीमांसकों) का मत शब्द नय से उत्पन्न हुआ है। सभी नयों द्वारा गुम्फित जैनदृष्टि की श्रेष्ठता तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है।

<u>विशेषार्थ -</u> जैनागमों में सभी नयों का समन्वय है। जैनदर्शन मानता है कि वस्तु में अनेक धर्म है। इन धर्मों में से किसी भी धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता है। जो लोग एक धर्म का निषेध करके दूसरे धर्म का समर्थन करते है वे एकान्तवाद की चक्की में पिसे जाते हैं। जिनागमों में पदार्थ के निरूपण में ऐकान्तिक दृष्टि नहीं है तथा अन्य मत के प्रति द्वेषभाव भी नहीं है। किसी भी वस्तु के एक धर्म को तो सर्वथा सत्य मान लेना और दूसरे धर्म को सर्वथा मिथ्या कहना वस्तु की पूर्णता को खंडित करना है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म अवश्य ही एक दूसरे के

विरोधी हैं, किन्तु सम्पूर्ण वस्तु के विरोधी नहीं है। वस्तु तो दोनों को समान रूप से आश्रय देती है। यही दृष्टि स्याद्वाद है, अनेकान्तवाद है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का समन्वय कैसे हो सकता हैं ? पदार्थ में वे किसी ढंग से रहते हैं ? हमारी प्रतीति से उनका क्या साम्य है, इत्यादि प्रश्नों का जैन आगमों में सुन्दर समाधान है। सभी को स्थान देने वाली जैनदृष्टि की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष ही है। महान दार्शनिक आचार्य हरिभद्रसूरीश्वर ने लिखा है-

पक्षपातो न मे वीरे द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमत् वनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।

भगवान महावीर के प्रति मेरे मन में पक्षपात नहीं है और कपिल आदि अन्य दर्शनियों के प्रति द्वेष नहीं है, जिसका वचन युक्तिसंगत हो वही स्वीकार्य है। जिनागमों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण के ज्ञान द्वारा ही उनकी हृदय की उदारता परिलक्षित होती है। जैनदर्शन ने सभी नयों का समन्वय किया है। बौद्ध आदि विभिन्न दर्शनों ने किसी एक नय (दृष्टिकोण) का आग्रह रखा और शेष नयों की उपेक्षा की। इस दृष्टि से किसी न किसी एक नय के द्वारा ही उन दर्शनों का उद्भव हुआ। उनके मत में एकान्तवाद का आग्रह होता है। बौद्ध दर्शन का अगर विचार करे तो यह दर्शन सभी को क्षणिक मानता है। प्रत्येक क्षण वस्तु बदल रही है। पुरानी नष्ट हो रही है और नई उत्पन्न हो रही है। यह नय मात्र वर्तमान परिस्थिति को ही स्वीकार करता है। ऋजुसूत्र नय वस्तु के मात्र वर्तमान पर्याय का विचार करता है तथा भूतकाल और भविष्यकाल की उपेक्षा करता है। इसलिए सभी अनित्य है, क्षणिक है इस प्रकार मानने वाले मात्र वर्तमान पर्याय को ही स्वीकार करने वाले बौद्धधर्म का उद्भव ऋजुसूत्र नय से हुआ है इस प्रकार कह सकते है।

वेदांतदर्शन ब्रह्म को सत्य मानता है और जगत् को मिथ्या मानता है- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। संग्रह नय वन को देखता है उसमें उत्पन्न हुए विविध वृक्षों की विवक्षा उसे स्वीकार नहीं है। वेदांत दर्शन तथा सांख्यदर्शन दोनों ही संग्रह नय का अनुसरण करते हुए आत्मा को कूटस्थ, नित्य, शुद्ध, अकर्ता मानते है। योग दर्शन और वैशेषिक दर्शन सामान्य और विशेष दोनों

को स्वीकार करते हैं। ये दोनों नय नैगमनय से उत्पन्न हुए। शब्द को ही ब्रह्म मानने वाले अर्थात् वेदवचन को ब्रह्म मानने वाले और उसका प्रतिपादन करने वाले मीमांसक दर्शन का उद्भव शब्द नय से हुआ। ये सर्वज्ञता का अभाव दर्शाते हैं। मीमांसक शब्द को ही उसकी जाति, विभक्ति, वचन, कारक सहित पकड़ कर रखते है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शन किसी एक नय को पकड़कर उसी का हठाग्रह रखते है। अन्य दृष्टिकोण पर विचार करने के लिए, उसे स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं है। जैनदर्शन अनेकांतवाद को स्वीकार करता है। वह सभी नयों के समन्वय को मानता है। सभी नय अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य है और वस्तु के किसी न किसी अंश को या धर्म को अभिव्यक्त करते है। इसलिए जैनदर्शन में तर्क और नय की दृष्टि से कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती है अनेकान्तवाद के कारण इसकी श्रेष्ठता प्रत्यक्ष की दिखाई देती है।

(८८०) ऊष्मा नार्कमपाकरोति दहनं नैव स्फुलिंगावली।
नाब्धिं सिंधुजलप्लवः सुरगिरिं ग्रावा च नाभ्यापतनू।
एवं सर्वनयैकभावगरिमस्थानं जिनेन्द्रागमं।
तत्तद्दर्शनसंकथांशरचनारूपा न हन्तुं क्षमा।।७।।

<u>अनुवाद -</u> जैसे ऊष्मा सूर्य को, अग्नि कणों को समूह अग्नि को नदी के जल का पूर समुद्र को और (पर्वत के) ऊपर की शिला मेरूपर्वत को नहीं हटा सकती है उसी प्रकार सभी नयों को भावज्ञें का (समन्वयात्मक) एक मात्र गौरवयुक्त स्थानरूप जिनागम को उसी के अंश से निर्मित उन-उन दर्शनों की कथा नष्ट करने के लिए (परास्त करने के लिए) समर्थ नहीं है।

<u>विशेषार्थ -</u> किसी भी वस्तु को उसी का अशं उसे नष्ट करने के लिए समर्थ नही होता है, क्योंकि यह स्वाभाविक ही है कि जितनी शक्ति उस वस्तु के अंश में है उससे कई गुना अधिक शक्ति वस्तु के समय स्वरूप में होती है। प्रस्तुत श्लोक में अनेक दृष्टांतों द्वारा इस बात को स्पष्ट किया गया है। जैसे सूर्य की एक किरण या अनेक किरणों का समूह सूर्य का नाश करने में समर्थ नहीं है। अग्नि से अग्नि कण प्रगट होते है। अगर ये कण चाहे कि हम अग्नि को नष्ट कर देंगे तो यह कदापि संभव नहीं है। हाँ

अग्नि अवश्य उन कणों की उत्पत्ति में बाधक बन सकती है, क्योंकि कणों का अस्तित्त्व ही अग्नि द्वारा है। अग्नि के अभाव में वे नहीं ठहर सकते है, उनकी उत्पत्ति ही संभव नहीं है। किसी नदी में पूर या तूफान आया हो और उस समय नदी अहंकार करते हुए कहे कि हम ही समुद्र है। समुद्र की हमें आवश्यकता नहीं है और समुद्र को हटाने के लिए, नष्ट करने के लिए प्रयत्न करे तो वह नदी को अपने में ही मिला लेता है, उसका स्वतंत्र अस्तित्त्व समुद्र अपने में नहीं रहने देता है। मेरू पर्वत के ऊपर की शिलाएँ चाहे कि हम गिरकर मेरूपर्वत को चूर्ण कर दे, तोड़ दे तो वे स्वयं ही पर्वत पर गिरकर नष्ट हो जाएगी। मेरूपर्वत को तो अंश मात्र भी हानि नहीं पहुँचा सकती है। उसी प्रकार जिनागम में सभी दर्शनों का समन्वय स्याद्वाद शैली में हुआ इसलिए कोई भी दर्शन जिनागम को खण्डित करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि जिनागम सम्पूर्ण है, सभी नयों तथा प्रमाणों से युक्त है, उसका खण्डन एकान्तवादी हठाग्रही कैसे कर सकते हैं ? जिनागम के सामने उनकी शक्ति है ही कितनी ?

(८८१) दुःसाध्यं परवादिनां परमतक्षेपं विना स्वं मतं।
तत्क्षेपे च कषायपंककलुषं चेतः समापद्यते।।
सोऽयं निःस्वनिधिग्रहव्यवसितो वेतालकोपक्रमो।
नायं सर्वहितावहे जिनमते तत्त्वप्रसिद्धयर्थिनाम्।।८।।

<u>अनुवाद -</u> दूसरों की मान्यता (मत) के ऊपर आक्षेप किए बिना परवादियों (विपक्ष) के समक्ष अपने मत को सिद्ध करना अत्यंत कठिन है परंतु इस प्रकार आरोप (आक्षेप) लगाने से चित्त कषायरूपी कादव से कलुषित होता है। निर्धन के भण्डार को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हुए बेताल के क्रोध जैसा उपक्रम सभी के हितकर जिनमत में तत्त्वज्ञान के इच्छुक को देखने को नहीं मिलता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जब तत्त्वचर्चा में वादविवाद होता है तब स्वमत का मंडन और परमत का खंडन किया जाता है। कितने ही वादी परमत का ख़ंडन करने में जितने कुशल होते है, उतने कुशल स्वमत का मंडन करने में भी नहीं होते हैं। कितने ही वादी मात्र परमत का खंडन करके स्वमत को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। एकान्त दृष्टिकोण के कारण ही वाद-विवाद

खड़े होते हैं। जहाँ एक प्रकार का एकान्तवाद खड़ा होता है वहाँ उसका विरोधी एकान्तवाद तुरन्त मुकाबले में खड़ा हो जाता हैं। दोनों की टक्कर प्रारम्भ होते देर नहीं लगती है। एक पक्ष जिस अंश में सत्य है, दूसरा पक्ष उसी अंश में मिथ्या है। इसलिए उनमें परस्पर कलह होता है। एक पक्ष स्वयं को सत्य सिद्ध करने के लिए और विपक्ष को मिथ्या सिद्ध करने के लिए कुतर्क, आरोप-प्रत्यारोप, छल-कपट आदि का आश्रय लेता है। दूसरा पक्ष भी उसी तरह प्रथम पक्ष को मिथ्या सिद्ध करने के लिए उसका खण्डन करने के लिए और स्वपक्ष का मंडन करने के लिए कुतर्क आदि का आश्रय लेता हैं। इस कारण वह चर्चा या वाद-विवाद क्लेशमय एवं कलुषित हो जाता है। वातावरण में वैमनस्य भाव की वृद्धि होती है तथा परस्पर शत्रुता बढ़ती है। जब प्रतिपक्षी के तर्कों का खण्डन करने की शक्ति नहीं होती है या खण्डन करने में विफल होता है तब वादी क्रोधित हो जाते हैं। वह रोष किसके जैसा है ? ग्रंथकार ने उस रोष को एक दृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त किया है - कोई वेताल लूटने के लिए निकला है और जिसके भण्डार को उसने लूटने की योजना बनाई उसका भण्डार ही खाली है, वह निर्धन है। परिणामस्वरूप निष्फल हुआ वेताल निर्धन व्यक्ति पर क्रोधित होता है, परंतु इससे उसको सफलता नहीं मिलती है। जिनमत का जिसे गहन अभ्यास है, रूचि है श्रद्धा है ऐसे तत्त्वज्ञानी तो स्वपक्ष के मंडन में इतने निपुण होते है कि उन्हें परमत के खंडन करने की, उन पर आक्षेप लगाने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। उसका खंडन अपने आप हो जाता है। इसलिए ऐसे प्रसंग पर क्रोधित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है और न वातावरण भी कलुषित होता है। जिनागम किसी का खण्डन नहीं करता है। वह तो वस्तु को अनंतधर्मात्मक स्वीकार करता है। अतः विविध दृष्टिकोणों का उसमें समन्वय हो जाता है। अतः जिनमत में तत्त्वज्ञान के इच्छुक को इस प्रकार के क्लेशमय वातावरण का अनुभव ही नहीं होता है।

(८८२) वार्ताः सन्ति सहस्रशः प्रतिमतं ज्ञानांशबद्धक्रमा-।
श्चेतस्तासु न नः प्रयाति नितरां लीनं जिनेन्द्रागमे।।
नोत्सर्पन्ति लताः कति प्रतिदिशं पुष्पैः पवित्रा मधौ।
ताभ्यो नैति रतिं रसालकलिकारक्तस्तु पुंस्कोकिलः।।६।।

अनुवाद - प्रत्येक मत में ज्ञान अंश से युक्त हजारों कथाएँ है परंतु जिनेन्द्रागम में अत्यंत मग्न हुआ मन उस ओर आकर्षित नहीं होता है। वसंत ऋतु में प्रत्येक दिशा में पुष्पों से पवित्र ऐसी कितनी ही लताएँ नहीं दिखाई देती ? अर्थात् दिखाई देती है परंतु आम्र की मंजरी में आसक्त हुआ नर कोकिल उन लताओं से प्रीति नहीं करता है।

विशेषार्थ - किसी एक बात का प्रतिपादन करने के लिए, उसे स्पष्ट करने के लिए दुनिया के प्रत्येक धर्म में अनेक दृष्टान्त, कथाएँ कही गई हैं। उनमें भी ज्ञान का अंश होता है, व्यक्ति को आकर्षित करने वाले तत्त्व होते हैं परंतु जिनेश्वर भगवान द्वारा कथित आगमों में जो कथाएँ होती है या जो चर्चाएँ है, जो तत्त्व कहे गए हैं वे सभी नय से परिपूर्ण होते हैं। इसलिए एक बार जिसने जिनागम का रसास्वादन कर लिया है, वह फिर अन्य दर्शनों के प्रति आकर्षित नहीं होता है। अन्य मत में दर्शाई गई कथाएँ या तत्त्व उसे विस्मयकारी प्रतीत नहीं होते हैं। ग्रंथकार कहते है कि स्वयं को भी ऐसी अन्य दार्शनिक कथाओं में रूचि नहीं है, आकर्षण नहीं है। क्योंकि उनका मन भी जिनागम के प्रति आसक्त है। जैसे बंसत ऋतु में चारों ओर का वातावरण मनोहर हो जाता है। सभी दिशाएँ कितने ही सुगंधित सुमनों से महक जाती है परंतु रस का रसिक नरकोकिल तो आम्र की मंजरी की ओर ही जाता हैं, अन्य पुष्पों की ओर आकर्षित नहीं होता है। उसी प्रकार तत्त्वरसिक जिनागम से ही संतुष्ट होते है, उनका ध्यान अन्य कथाओं के प्रति रागी नहीं बनता हैं।

(८८३) शब्दो वा मतिरर्थ एव वसु वा जातिः क्रिया वा गुणः।
शब्दार्थः किमिति स्थिता प्रतिमतं संदेहशंकुव्यथा।।
जैनेन्द्रे तु मते न सा प्रतिपदं जात्यन्तरार्थस्थितेः।
सामान्यं च विशेषमेव च यथा तात्पर्यमन्विच्छति।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> क्या यह (पदार्थ आत्मादि द्रव्य) शब्द स्वरूप है ? बुद्धिरूप है ? अर्थरूप है? द्रव्य (धन) रूप है ? जाति, क्रिया या गुणरूप है ? अथवा शब्दार्थ रूप है ? इस प्रकार प्रत्येक मत में संदेहरूपी शल्य का कष्ट रहा हुआ है परंतु जिनेन्द्र के मत में तो प्रत्येक पद में जात्यन्तर का अर्थ होने से वह (व्यथा) नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष ही यथार्थ तात्पर्य की खोज करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। हजारों वर्ष पूर्व ऋषि, मुनियों ने आत्मादि द्रव्य के सम्बन्ध में तत्त्वचिंतन किया है। विभिन्न दार्शनिकों, विद्वानों के मन में आत्मादि तत्त्व के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् कल्पनाएँ, विचार उत्पन्न हुए। क्या यह शब्द रूप है, अर्थ रूप है? या उभयरूप अर्थात् शब्दार्थ रूप है ? क्या यह बुद्धि रूप है ? क्या यह द्रव्यरूप है ? क्या यह जाति रूप है ? क्या यह क्रियारूप है ? या यह ज्ञानादि गुणरूप है? पदार्थ की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न तत्त्व चिंतकों ने किसी एक ही लक्षण को पकड़ कर रखा और उसकी खोज की। किसी ने सामान्य लक्षण को ग्रहण किया तो किसी ने मात्र विशेष को पकड़ कर रखा। परंतु इस प्रकार करने से पक्ष और विपक्ष में कई प्रकार के तर्क उठे। खण्डन, मण्डन तथा वाद-विवाद होने लगा। इससे संशय, निराशा, असमंजस की स्थिति उत्पन्न हुई। मानसिक व्यथा उत्पन्न हुई। जबकि जैनधर्म में प्रत्येक पदार्थ के सामान्य गुण और विशेष गुण दोनों का ही विचार किया गया। उसी प्रकार आत्मा के शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप और वैभाविक स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का चिंतन किया गया। वस्तु के किसी एक दो गुणधर्म का नहीं बल्कि समग्र वस्तु के स्वरूप का चिंतन-मनन किया और अंत में यह निष्कर्ष निकाला कि वस्तु में अनेक गुणधर्म है। विरोधी गुण भी एक ही वस्तु में रहे हुए है। इस प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् समय में नित्यानित्य, शुद्धाशुद्ध,

कर्तृत्त्व-अकर्तृत्त्व इत्यादि प्रकार के विरूद्ध गुणधर्म (जात्यन्तर) देखने को मिल सकते है। जैसे आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य है पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। कर्मयुक्त आत्मा अर्थात् संसारी आत्मा अशुद्ध है और कर्मयुक्त आत्मा अर्थात् सिद्ध की पर्याय विशुद्ध है। इस प्रकार यथार्थ विवेक और ज्ञान के कारण तथा विभिन्न नयों और प्रमाणों द्वारा वस्तु का स्वरूप निश्चित करने के कारण जैनदर्शन में इस प्रकार की संशय आदि की व्यथा नहीं है।

(८८४) यत्रानर्पितमादधाति गुणतां मुख्यं तु वस्त्वर्पितं।
तात्पर्यानवलम्बनेन तु भवेद् बोधः स्फुटं लौकिकः।।
संपूर्णं त्वभासते कृतधियां कृत्स्नाद्विवक्षाक्रमात्।
तां लोकोत्तरभंगपद्धतिमयीं स्याद्वादमुद्रां स्तुमः।।११।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें अनर्पित वस्तु गौणत्व और अर्पित वस्तु मुख्यत्व को प्राप्त होती है, तात्पर्य का अवलंबन किए बिना अर्थात् समझे बिना ही लौकिक बोध स्फुट होता है परंतु निपुण बुद्धि वाले को समग्र विवक्षा के क्रम से संपूर्ण वस्तु के स्वरूप का आभास होता है उस लोकोत्तर विकल्पों से युक्त (भंग रचना वाली) स्याद्वाद मुद्रा की हम स्तुति करते है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में स्याद्वाद की लाक्षणिकता तथा महत्त्व को दर्शाया गया है। जगत् के सामान्य लोग किसी भी वस्तु या परिस्थिति का बोध लौकिक रूप से प्राप्त करते है। प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ संपूर्ण स्वरूप का न उन्हें ज्ञान होता है और न ही दिखाई देता है। उन्हें तो वस्तु का जो गुणधर्म स्थूलरूप से दिखाई देता है उसी को ग्रहण करते है। सामान्य व्यक्ति घट या पट को देखता है या किसी जानवर गाय, बैल आदि को या मनुष्य आदि को देखता है तो उसे सामान्य प्रकार का बोध ही होता है कि 'यह घट है', 'यह पट है', 'यह गाय या बैल है', 'यह मनुष्य है', इस प्रकार सामान्य व्यक्ति एकान्तरूप से पदार्थ को एक मुख्य लक्षण से या पदार्थ के व्यवहार की गतानुगतिकता से पहचानता है। इस प्रकार अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी बोध सामान्य प्रकार का होता है। व्यवहार में इसी प्रकार से होता है जैसे किसी व्यक्ति में कोई एक स्थूल दोष को देख लेने पर उसके संपूर्ण जीवन को दूषित ठहरा दिया जाता है जैसे यह क्रोधी

है, यह अभिमानी है, यह चोर है, यह झूठा है इत्यादि। परंतु जहाँ तत्त्वदृष्टि खुलती है, विवेक जाग्रत होता है, वहाँ प्रत्येक वस्तु के तात्पर्य को समझने की इच्छा होती है और उसे समझने के लिए कुशाग्र बुद्धि की प्राप्ति होती है। सूक्ष्म बुद्धि द्वारा तात्पर्य बोध तत्त्वबोध या रहस्य बोध होता है, और इस प्रकार का बोध प्राप्त करने के लिए सप्तभंगी, स्याद्वाद, नयवाद या अनेकान्तवाद का ज्ञान आवश्यक है। श्रमण भगवान महावीर को केवलज्ञान होने के पहले कुछ स्वप्न आए थे, ऐसा भगवती सूत्र में उल्लेख है। उन स्वप्नों में से एक स्वप्न इस प्रकार है- 'एक बड़े चित्रविचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर प्रतिबुद्ध हुए।' चित्रविचित्र पंख वाला पुंस्कोकिल कौन है ? यह स्याद्वाद का प्रतीक है। जैनदर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त स्याद्वाद का कैसा सुन्दर चित्रण है। जहाँ एक ही तरह के पंख होते है वहाँ एकान्तवाद होता है, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद नहीं। जहाँ विविध वर्ण के पंख होते है वहाँ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद होता है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तु के चित्रविचित्र पंख है। आगमों में वस्तु के स्वरूप का सभी दृष्टियों से प्रतिपादन किया गया है। जिसकी स्याद्वाद-दृष्टि विकसित है। जिसके अनेकान्त लोचन खुल गये हैं उसे तो प्रत्येक वस्तु देखने पर उसके समग्र स्वरूप का क्रम चिंतन में आ जाता है। किस अपेक्षा से वस्तु नित्य है, किस अपेक्षा से अनित्य है। किस समय कौनसा गुणधर्म गौण रूप में ग्रहण करना और कौनसा गुणधर्म मुख्य रूप से ग्रहण करना, इसका उन्हें तुरंत बोध हो जाता है। कौनसी वस्तु कब गौण हो जाती है और कब मुख्य हो जाती है इसका उन्हें ज्ञान हो जाता है। स्याद्वाद में कोई नय स्वयं को ईष्ट ऐसे भाव को अर्पित करता है अर्थात् इच्छा करता है तब वह वस्तु मुख्य बन जाती है। एक ही व्यक्ति किसी अपेक्षा से विद्वान् भी होता है और किसी अपेक्षा से मूर्ख भी होता है। इस प्रकार स्याद्वाद की पद्धति लौकिक व्यवहार की पद्धति से अत्यंत श्रेष्ठ है। यह जीव को उच्चतम भूमिका पर ले जाती है, जहाँ क्लेश, व्यथा आदि का कोई स्थान नहीं है। स्याद्वाद के बिना व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास नहीं है। स्याद्वाद के बिना सम्यग्दर्शन नहीं है। इसलिए स्याद्वादी दृष्टि को लोकोत्तर कहा गया है। जीव के उच्च्व आध्यात्मिक विकास में सहायक स्याद्वाद-मुद्रा की ग्रंथकार स्तुति करते हैं, प्रशंसा करते है।

(८८५) आत्मीयानुभवाश्रयार्थविषयोऽप्युच्चैर्यदीयक्रमो।
म्लेच्छानामिव संस्कृतं तनुधियामाश्चर्यमोहावहः।।
व्युत्पत्तिप्रतिपत्तिहेतुविततस्याद्वादवाग् गुंफितं।
तं जैनागममाकलय्य न वयं व्याक्षेपभाजः क्वचित्।।१२।।

अनुवाद - स्वानुभव का आश्रय ही जिसके अर्थ का विषय है और जिसका उच्चक्रम है तथा व्युत्पत्ति, प्रतिपत्ति हेतु द्वारा विस्तृत स्याद्वाद से जो गुम्फित है, म्लेच्छों को संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में (आश्चर्य) होता है वैसे ही अल्पबुद्धि के लिए जो आश्चर्यकारी और मोहित करने वाला है ऐसे जिनागम को जानने के पश्चात् हम कभी भी भ्रमित नहीं होते है।

विशेषार्थ - जिनागम अनेक विशेषताओं से युक्त है जिसे सुनकर या अल्पबुद्धि को आश्चर्य होता है और सुज्ञजनों को उसमें आनंद आता है। जिनागम का विषय आध्यात्मिक तथा अनुभव पर आधारित है। इसमें कपोल-कल्पनाएँ नहीं है। जिसे जिनेश्वर देवों ने एवं अन्य महात्माओं ने अपने जीवन में, ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभव किया है एवं आत्मा के सच्चिदानंद स्वरूप को प्राप्त किया है उसे ही आगम में प्ररूपित किया गया है। अतः आगम का विषय अनुभूत है। आध्यात्मिक अनुभूति का विषय जिसमें नहीं हो वह साहित्य जीव को उच्चभूमिका की ओर किस प्रकार ले जाया जा सकता है ? जिनागम ऐसा साहित्य है जो जीव को उच्च भूमिका की ओर ले जाता है। जिनागम में स्याद्वादशैली से जो वस्तु का स्वरूप समझाया गया है वह तत्त्वप्रधानशैली अल्पक्ष की समझ में नहीं आती है। सामान्य व्यक्ति तो उन बातों को सुनकर आश्चर्यचकित हो जाता है, कई अल्पबुद्धि वाले लोग मतिमूढ हो जाते है। जैसे पण्डित लोग परस्पर संस्कृत भाषा में चर्चा करते है तो उसे सुनकर संस्कृत को नहीं जानने वाले म्लेच्छ लोग आश्चर्य से मुग्ध हो जाते हैं। उनकी बाते सुनने में, उनके हाव-भाव को देखने में उन्हें आनंद आता है। परंतु उन्हें समझ में कुछ भी नहीं आता है। उसी प्रकार आगम की तात्त्विक बातों को सुनकर अल्पबुद्धि वाले को आश्चर्य होता है परंतु उनकी समझ में कुछ नहीं आता है क्योंकि ये बाते अत्यंत गहन, गंभीर एवं रहस्यमय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके तत्त्व सर्वथा अगम्य है। प्रज्ञावान् के लिए वह गम्य है, रूचिकर है। इसमें तर्क

और नय की दृष्टि से, व्युत्पत्ति, प्रतिपत्ति हेतु आदि का आश्रय लेकर स्याद्वाद की शैली द्वारा समझाया गया है। इसमें सभी बाते केवल अंधश्रद्धा से नहीं कही गई हैं। ये सब बाते स्वानुभूति का विषय बन सकती है। इसलिए भव्य एवं अध्यात्म के रसिक बुद्धिशाली जीव को जिनागम प्रीतिकर लगता है।

इस प्रकार की भ्रांतिरहित, तर्कपूर्ण विषयों की चर्चा सुनने व समझने के बाद व्यक्ति के मन में अन्य किसी भी प्रकार का विक्षेप या चंचलता उत्पन्न नहीं होती है। यहाँ ग्रंथकार अपना (स्व का) अनुभव कह रहे हैं।

(८८६) मूलं सर्ववचोगतस्य विदितं जैनेश्वरं शासनं।
तस्मादेव समुत्थितैर्नयमतैस्तस्यैव यत्खंडनम्।।
एतत्किंचन कौशलं कलिलमलच्छन्नात्मनः स्वाश्रितां।
शाखां हेतुमिवोद्यतस्य कटुकोदर्काय तर्कार्थिनः।।१३।।

अनुवाद - सभी वचनों के अभिप्राय का मूल जिनेश्वर का शासन है, यह सुविदित है। उसमें से ही उत्पन्न हुए नय मतो से उसका ही खंडन करना यह तो स्वयं को आश्रय देने वाली शाखा को ही छेदने के लिए उद्यत हुए व्यक्ति के कौशल की तरह, कलिकाल के मल से आच्छादित हुए तार्किकों की तुच्छ कुशलता का अंत भी कटु है।

विशेषार्थ - सभी शास्त्रवचनों का मूल जिनेश्वर का शासन है अर्थात् जिनवाणी है। राग-द्वेष के विजेता, सभी जीवों के हितेच्छु श्री वीतराग परमात्मा की वाणी में अर्थात् जैनदर्शन में सभी नयों का समन्वय है। यहाँ किसी भी प्रकार के विवाद को स्थान नहीं है परंतु कई बार किसी एक नय मत का आश्रय लेकर दूसरे नय मत का खंडन किया जाता है यह सर्वथा अनुचित है। जैनाचार्यों में ही जब वाद-विवाद होता है तब यह परिस्थिति अत्यंत दुःखद होती है। जैसे कोई व्यक्ति जिस डाल पर बैठा हो, जिस डाल का आश्रय लिया हो उसी को काटने के लिए तत्पर हो तो उसे मूर्ख ही कहते हैं, उसी प्रकार कोई आचार्य एक मत या नय का आश्रय लेकर दूसरे नय या मत का खंडन करे तो स्वयं जिस डाल पर बैठा है उसी को काटने के लिए प्रयत्न करने के समान है। अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग करके

समन्वय के स्थान पर खंडन करते हैं, एक दूसरे पर आरोप- प्रत्यारोप करते हैं। यह कलिकाल का ही प्रभाव है, परंतु इसका परिणाम मधुर नहीं होता है बल्कि अत्यंत कटु परिणाम सामने आता है, मानसिक अशांति प्राप्त होती है और जिस समय का सदुपयोग आत्मकल्याण के लिए करना चाहिए उसी समय को व्यर्थ के वाद-विवाद में निष्फल कर देते हैं।

(८८७) **त्यक्तोन्मादविभज्यवाद रचनामाकर्ण्य कर्णामृतं।**
सिद्धान्तार्थरहस्यवित् क्व लभतामन्यत्र शास्त्रे रतिम्।।
यस्यां सर्वनया विशन्ति न पुनर्व्यस्तेषु तेष्वेव या।
मालायां मणयो लुठन्ति न पुनर्व्यस्तेषु रत्नेषु सा।।१४।।

अनुवाद - उन्माद का त्याग करके अनेकान्तवाद (विभज्यवाद) से युक्त कर्णप्रिय वचनामृत को सुनकर सिद्धान्त के अर्थ के रहस्य को जानने वाले क्या दूसरे शास्त्र के रागी बनते हैं ? उसमें (सिद्धान्त रचना या आगम में) सभी नयों का प्रवेश है परंतु पृथक्- पृथक् नयों में वह नहीं है। माला में मोती रहते हैं किन्तु बिखरे हुए मोतियों में माला नहीं होती है।

विशेषार्थ - सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उन्माद अर्थात् अभिमान का त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। अभिमान वस्तुस्थिति की यथार्थता को समझने में बाधक बनता है। इसलिए सत्य को प्राप्त करने के लिए नम्रता और सरलता को धारण करना चाहिए। प्रस्तुत श्लोक में विभज्यवाद शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी प्रश्न का विभाजन पूर्वक उत्तर देना, किसी एक अपेक्षा से इस प्रश्न का यह उत्तर भी हो सकता है। इस प्रकार एक प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं इसी दृष्टि को विभज्यवाद स्याद्वाद, अपेक्षावाद या अनेकान्तवाद कहते हैं। जो भिन्न-भिन्न नयों का योग्य विभाजन करके स्याद्वाद या विभज्यवाद द्वारा सत्य को प्राप्त करने की रुचि वाले हैं तथा सिद्धान्तों के रहस्य को जानने वाले है, उनको एकान्तिक अभिनिवेश (आग्रह) वाले शास्त्रों में रूचि नहीं होती है। यह स्वाभाविक है। जैनागम की यह विशेषता है कि इसमें सभी दर्शनों का और सभी नयों का समुचित समन्वय हुआ है। इसलिए जो अन्यत्र है वह सब जैनदर्शन में है परंतु जो जैनदर्शन में है वह सब अन्य किसी एक दर्शन में नहीं है क्योंकि स्याद्वाद में सभी नयों का समावेश हो जाता है। जैसे बिखरे हुए

पृथक्-पृथक् प्रत्येक मोती माला नहीं कहलाते हैं। किन्तु माला के अन्दर सभी मोतियों का समावेश हो जाता है। मोती में माला नहीं होती है किन्तु माला में सभी मोतियों का समावेश होता है। उसी प्रकार माला के समान ही जैनदर्शन है। जैनदर्शन में सभी दर्शन रूपी मोतियों का समावेश हो जाता है किन्तु कोई एक दर्शन रूपी मोती में जैनदर्शन रूपी माला के दर्शन नहीं हो सकते है। क्योंकि जैनदर्शन में सभी नयों का समन्वय है।

(८८८) अन्योन्यप्रतिपक्षभाववितथान् स्वस्वार्थसत्यान्नयान्।
नापेक्षाविषयग्रहैर्विभजते माध्यस्थ्यमास्थाय यः।।
स्याद्वादे सुपथे निवेश्य हरते तेषां तु दिङ्मूढतां।
कुंदेंदुप्रतिमं यशो विजयिनस्तस्यैव संवर्धते।।१५।।

अनुवाद - एक दूसरे के प्रतिपक्षीभाव से मिथ्या परंतु अपने-अपने अर्थ में सत्य ऐसे नयों के संबंध में जो मध्यस्थ भाव का आश्रय लेते हैं तथा अपेक्षा के विषय का आग्रह रखकर विभाजित नहीं करते है तथा स्याद्वादरूपी सन्मार्ग में स्थापित करके उनकी (अन्य दर्शनी की या अन्य दर्शन की) दिङ्मूढता (मलिनता) का हरण कर लेते हैं। ऐसे विजयंत पुरुष का कुंदपुष्प और चंद्र के समान (निर्मल) यश फैलता है।

विशेषार्थ - प्रत्येक, परिस्थिति, विचार, आचार आदि को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देख सकते हैं। इसमें ऐसा भी हो सकता है कि एक की दृष्टि से जो सत्य हो वह दूसरे की दृष्टि से मिथ्या हो जैसे एक पुस्तक का आगे से कवर सफेद है और पीछे से काला है। पुस्तक यदि खड़ी रखी हुई है तो जिन लोगों को आगे का पृष्ठ दिखाई दे रहा है वह तो कहेंगे कि पुस्तक सफेद है और जो लोग पुस्तक को पीछे की ओर से देख रहे हैं वे कहेंगे कि पुस्तक काली है। दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं। दोनों में सत्य का अंश है किन्तु जहाँ कदाग्रह होता है, परस्पर वैरभाव होता है तो प्रतिपक्षी को मिथ्या और स्वमत को सत्य ठहराने का प्रयास होता है। दोनों ही पक्ष को यह प्रतिभासित होता है कि हम प्रामाणिक है, हम सत्य है और प्रतिपक्षी मिथ्या है, अप्रामाणिक है। क्योंकि दोनों ने ही सत्य के अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मान लिया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयों के मध्य कदाग्रह होता है, उससे वैमनस्य भव उत्पन्न होता है, परंतु जिसने स्याद्वाद का अभ्यास

किया है और उसको जीवन में उतारा है, ऐसे पुरुषों में माध्यस्थ दृष्टि का विकास हो जाता है। जहाँ जितना जिस अपेक्षा से सत्य है वह वहाँ उतने सत्य को अवश्य ग्रहण करता है। आंशिक सत्य का भी वह अनादर या अस्वीकरण नहीं करता है। वे न्यायशास्त्र के अभ्यासी होते है, इसलिए पृथक्-पृथक् नयों की दृष्टि से समस्या को सुलझाना और योग्य विभाजन करके प्रश्नों का समाधान करना उन्हें आता है। इसलिए भिन्न-भिन्न नयों के मध्य हुए विवाद का श्रेष्ठ समाधान प्रदान कर सकते हैं। जिसमें इस प्रकार की शक्ति होती है, उन्हें स्वतः ही यश प्राप्त होता है। उनका यश मलिन नहीं होता है। वह कुंदपुष्प जैसा या चन्द्र के समान उज्ज्वल होता है और शुक्ल पक्ष के बीज के चन्द्र की तरह बढ़ता रहता है। श्लोक के अंत में ग्रंथकार ने श्लेष अलंकार का प्रयोग करके अपने नाम को ग्रंथित कर लिया है। ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी स्वयं न्यायविशारद थे। अतः उन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों की तत्त्व मीमांसा को स्याद्वाद की शैली से गुम्फित कर लिया है।

-----oo-----

प्रबंध सातवां

बीसवां अधिकार - अनुभव अधिकार

(८८६) शास्त्रोपदार्शितदिशा गलितासद्ग्रहकषायकलुषाणाम्।
प्रियमनुभवैकवेद्यं रहस्यमाविर्भवति किमपि।।१।।

अनुवाद - शास्त्र के द्वारा बताये हुए मार्ग से जिनके असद्ग्रह, कषाय और कलुषता नष्ट हो गए है उनको, अनुभव से ही जिसे जान सकते है, ऐसा प्रिय रहस्य प्राप्त होता है। (प्रगट होता है।)

विशेषार्थ - आत्मिक विकास के मार्ग में जितनी शास्त्रों के अभ्यास की आवश्यकता है उतनी ही स्वानुभव की भी आवश्यकता होती है। स्वानुभव के बिना आनंद की प्राप्ति नहीं होती है। स्वानुभव प्राप्त किए बिना, चिंतन, मनन, परिशीलन किए बिना, कितने ही शास्त्रों का अध्ययन कर ले, चाहे उन्हें मुखाग्र कर ले, फिर भी उससे आत्मिक विकास नहीं होता है। हाँ, पोथी पंडित अवश्य बन सकते है किन्तु अनुभव से जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है वह नहीं हो सकता है। इसलिए व्यवहार में भी कहते है कि -

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।
जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे अनुभवि।।

शास्त्र केवल मार्गदर्शन का कार्य कर सकते है। वे कौनसा मार्ग सत्य है, कौनसा मार्ग मिथ्या है यह बता सकते हैं परंतु उस मार्ग पर चलकर अनुभव तो स्वयं को ही करना पड़ता है। शास्त्रों में पूर्वाचार्यों, महापुरुषों के स्वानुभव का निचोड़ (सार) ही होता है। जो शास्त्रों का अभ्यास करके उनका चिंतन-मनन करते हैं, उनकी कितनी ही शंकाओं का समाधान हो जाता है। आगम शास्त्रों में पदार्थ के स्वरूप की भिन्न-भिन्न नयों से व्याख्या की गई है, अतः इससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है। जिस व्यक्ति के हृदय में कोई मिथ्या आग्रह का प्रवेश हो गया हो, कोई

कदाग्रह से बंध गया हो, ऐसे व्यक्ति भी यदि पवित्र हृदय से शास्त्र का अध्ययन करे और उसका खूब चिंतन-मनन करे तो उसका कादाग्रह भी नष्ट हो जाता है और उन्हें विषय का यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाता है। कदाग्रह के साथ ही कषाय भी जुड़े हुए रहते हैं। जो व्यक्ति स्वपक्ष के समर्थन में है उससे राग होता है और जो अपने पक्ष या मत के विपरीत बोलता है, खण्डन करता है उसके प्रति द्वेष हो जाता है। अतः कदाग्रह के जाने पर व्यक्ति का हृदय उदार और विशाल हो जाता है, अहंकार आदि कषाय नष्ट हो जाते हैं। इससे चित्त की निर्मलता तथा प्रसन्नता प्राप्त होती है। ऐसी निर्मल दशा जब प्रगट होती है तब जीव यदि अंतर्मुख बनकर आत्मा का अवलोकन करे, ध्यान करे तो उसे एक दिव्य अनुभव प्राप्त होता है। अंतर में कुछ प्रकाश की प्राप्ति होती है। स्वानुभव के कारण किसी अपूर्व रहस्य की प्राप्ति होती है। अपूर्व आनंद, सात्विक आनंद का अनुभव होता है। इस बात को आत्मिक अनुभव द्वारा ही समझ सकते है। मात्र शब्दों द्वारा उस ज्ञानी के अपूर्व आनंद को नहीं समझा जा सकता है।

(८६०) प्रथमाभ्यासविलासादाविर्भूयैव यत्क्षणाल्लीनम्।
चंचलतरूणीविभ्रमसममुत्तरलं मनः कुरुते।।२।।

<u>अनुवाद -</u> प्रथम अभ्यास के विला से प्रगट होकर जो क्षण में ही विलीन हो जाता है वह (रहस्य अथवा अनुभव) चंचल तरूणी के मनोहर कटाक्ष की तरह मन को उत्सुक करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मानुभव के अभ्यासी साधक की प्राथमिक स्थिति का यहाँ चित्रण किया गया है। प्रारंभकाल के अनुभव अत्यंत विलक्षण होते हैं। साधक को प्रारंभिक अभ्यास के दौरान आत्मानुभव की उत्कट अभिलाषा जब होती है और उसी प्रकार की उसकी तैयारी, उसका प्रयास तथा उसका आचरण होता है तब स्वयं के क्षयोपशम से ध्यान में एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त होने पर उसे आत्मदर्शन के रहस्य बोध का क्षणिक प्रकाशमय अनुभव होता है। वह अनुभव अपूर्व होता है। परंतु साधना के प्रारंभकाल में यह अनुभव अधिक समय तक ठहरता नहीं है। जैसे अग्नि में से चिंगारियाँ प्रगट होती है और क्षण में ही विलीन हो जाती है उसी प्रकार वह अनुभव चिंगारी के समान प्रगट होता है और विलीन हो जाता है, परंतु यह अनुभव

साधक को ऐसा रस लगा देता है, इतना आत्मरसिक बना देता है कि उसे दूसरा और कुछ दिखाई ही नहीं देता है। अब बार-बार ऐसे आत्मदर्शन के अनुभव को वह प्राप्त करना चाहता है। उसे दुनिया की किसी बात में रस उत्पन्न नहीं होता है। उसका मन तो बार-बार वहाँ दौड़कर जाता है। उसे लगता है कि यह अनुभव अधिक समय तक स्थिर रहे तो कितना अच्छा हो। ऐसा क्या उपाय करे, किस प्रकार पुरुषार्थ करे कि यह अनुभव अधिक समय तक स्थिर रह सके। इसके लिए वह सभी उपायों को अपनाता है। ग्रंथकार में आत्मसाधक की आत्मानुभव या आत्मदर्शन को प्राप्त करने की उत्सुकता को एक चंचल युवती के दृष्टांत के माध्यम से समझाया है। कोई युवक किसी सुंदर युवती के हावभाव को, उसके नयनों के कटाक्ष को एक बार देख लेता है तथा आकर्षित हो जाता है और पुनः उसका मन उसी को देखने के लिए मचलता है। उसको न खाना अच्छा लगता है, न पीना, न उसको नींद आती है और न ही चैन मिलता है। वह उस युवती को देखने का, उसे प्राप्त करने का हर संभव प्रयास करता है। उसी प्रकार साधक भी प्रारंभिक काल में एक बार हुए आत्मानुभव को बार-बार प्राप्त करना चाहता है और उसे स्थायी बनाना चाहता है।

(८६१) सुविदितयोगैरिष्टं क्षिप्तं मूढं तथैव विक्षिप्तम्।
एकाग्रं च निरूद्धं चेतः पंचप्रकारमिति।।३।।

<u>अनुवाद</u> - योग को अच्छी तरह जानने वाले (योगियों) ने क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध इस तरह पाँच प्रकार का चित्त कहा है।

<u>विशेषार्थ</u> - चित्त या मन का आत्मा के साथ गहन सम्बन्ध है। मन, वचन और काया इन तीनों के योग में मन का योग ही सबसे अधिक बलवान है। मन ही शुभ-अशुभ भावों का आधार है। मन ही सद्-असद् का विवेक करता है। यह मन बंदर की तरह चंचल है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगाशास्त्र में मन के विषय में लिखा है कि आंधी के समान यह चंचल मन मुक्ति के इच्छुक एवं तप करने वाले मनुष्य को भी कहीं भी ले जाकर पटक देता है। यदि व्यक्ति कुछ समय स्थिर बैठकर अपने मन का निरीक्षण करे, मन में उत्पन्न विचारों के प्रवाह का अवलोकन करे तो उसे पता चलता है कि उसका मन कुछ ही पलों में कितने विचार कर गया। कहाँ का

कहाँ पहुँच गया। अपने चित्त को किसी विषय में कुछ समय भी स्थिर रखना हो तो यह कार्य अत्यंत मुश्किल लगता है। यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे धीरे-धीरे स्थिर किया जा सकता है। मन के विलयन की या मन पर विजय प्राप्त करने की जो अवस्था है वह सहज साध्य नहीं है। उसके लिए मन को अनेक अवस्थाओं में से गुजरना होता है। चित्त की विभिन्न अवस्थाओं द्वारा व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को आँका जा सकता है।

प्रस्तुत श्लोक में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार बताएँ गए है - १. क्षिप्त २. मूढ़ ३. विक्षिप्त ४. एकाग्र ५. निरूद्ध। चित्त के इन पाँच प्रकारों के नाम इसकी लाक्षणिकता के आधार पर रखे गए है।

१. क्षिप्त अर्थात् फैंका हुआ अथवा इधर-उधर सतत् भटकने वाला चित्त। इस प्रकार का चित्त एक विषय से दूसरे विषय में दौड़ता रहता है। विषयों में निमग्न बहिर्मुख चित्त ही 'क्षिप्त चित्त' कहलाता है। २. मूढ़ अर्थात् अथान युक्त, ध्येय रहित चित्त। क्या करना और क्या नहीं करना आदि के विवेक बिना चित्त मूढ़ कहलाता है। इस अवस्था में व्यक्ति, निद्रा, आलस्य, प्रमाद में अपना समय व्यर्थ खोता है। ३. विक्षिप्त चित्त वाला राग और वैराग्य इन दोनों प्रकार के भावों का अनुभव करता है। विक्षिप्त अवस्था में मन कुछ समय के लिए एक विषय में स्थिर होता है, परंतु कुछ ही पल में पुनः अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है। ४. एकाग्र चित्त वह अवस्था है जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है। ५. निरूद्ध - अंकुश, मर्यादा, संयम में रहा हुआ चित्त। आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान की प्रवृत्तियों से मुक्त, माध्यस्थ भाव वाला, स्वभाव में रमण करने वाला चित्त। इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का शमन हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के बारहवें प्रकाश में चित्त की मुख्य चार अवस्थाएँ बताई है - १. विक्षिप्त मन - मन की अस्थिर अवस्था। इसमें संकल्प-विकल्प या विचारों की भागदौड़ लगी रहती है। यह प्रायः विषयोन्मुख होता है। २. यातायात मन - यह मन कभी बाह्य विषयों की

ओर जाता है, कभी अन्दर स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारंभ की अवस्था है। यातायात चित्त कथंचित् अन्तर्मुखी और कथंचित् बहिर्मुखी होता है। ३. श्लिष्टमन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इसमें जैसे-जैसे स्थिरता आती जाती है वैसे-वैसे आनंद भी बढ़ता जाता है। ४. सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था में जिसमें मन के संकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियों का विलय हो जाता है। यह परमानन्द की अवस्था है।

इस प्रकार ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी ने योगदर्शन के अनुसार चित्त की जो पाँच अवस्थाएँ बताई है तथा आचार्य हेमचन्द्र ने चित्त की चार अवस्थाओं का चित्रण किया है - इनमें केवल नामों में अन्तर है, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है।

(८६२) विषयेषु कल्पितेषु च पुरःस्थितेषु च निवेशितं रजसा।
सुखदुःखयुग्बहिर्मुखमाम्नातं क्षिप्तमिह चित्तम्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> कल्पित और सन्मुख रहें हुए विषयों में रजोगुण द्वारा स्थापित किया हुआ, जो सुख-दुःख से युक्त तथा अध्यात्म से बहिर्मुख है, ऐसे चित्त को यहाँ क्षिप्त कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> क्षिप्त अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है। इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता है। यह चित्त सदा बहिर्मुखी होता है। इस प्रकार के चित्तवाला व्यक्ति सन्मुख रहे हुए ऐन्द्रिक विषय सुखों में मग्न रहता है। उसके मन में हमेशा स्पर्श-रस आदि इन्द्रियों के विषयों की चाह बनी रहती है। अच्छा खाना-पीना, मूल्यवान वस्त्र आदि पहनना, शरीर को आभूषण आदि से श्रृंगारित करना, घूमना-फिरना, होटल में जाना, नाटक-सिनेमा आदि देखना आदि में उसकी अत्यंत रूचि होती है। वर्तमान में वह भोगों में डूबा हुआ रहता है। भूतकाल में किए हुए भोगों का स्मरण करके आनंदित होता है तथा भविष्यकाल में भोग भोगने की कल्पना में रत रहता है। इन्द्रियों से अथवा शरीर से भिन्न चेतन तत्त्व आत्मा है, इसका उसे ज्ञान नहीं होता है। यदि शाब्दिक ज्ञान हो भी तो उसमें श्रद्धा या रूचि नहीं होती है। ऐसा चित्त अतिशीघ्र सुखी व दुःखी हो जाता है। अपनी इच्छित वस्तु, ईष्ट विषयों का सम्पर्क, भोगोपभोग की अनुकूलता

प्राप्त होती है तो वह खुश हो जाता है। इस सुखाभास को ही वास्तविक सुख मान लेता है और यदि कुछ विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, कुछ प्रतिकूलता जीवन में आई, इष्ट विषयों की प्राप्ति नहीं हुई तो वह दुःखी हो जाता है, व्यग्र हो जाता है, आकुल-व्याकुल हो जाता है। इस प्रकार का चित्त बाह्य पदार्थों में ही परिभ्रमण करते रहने से बहिर्मुखी हो जाता है। अंतरात्मा में वह प्रवेश नहीं करता। कभी अन्दर की ओर नहीं झाँकता है। इस प्रकार के चित्त वाले व्यक्ति भवाभिनंदी होते हैं। उनको संसार अच्छा लगता है इसलिए वे संसार में ही परिभ्रमण करते रहते है।

(८६३) क्रोधादिभिर्नियमितं विरूद्धकृत्येषु यत्तमोभून्ना।
कृत्याकृत्यविभागासंगत मेतन्मनो मूढ़म्।।५।।

<u>अनुवाद -</u> तमोगुण द्वारा विरूद्ध कार्यों में (प्रवृत्त है) क्रोधादि से घिरे हुए है तथा कृत्य और अकृत्य का विभाग करने में असमर्थ है वह मन 'मूढ़' है।

<u>विशेषार्थ -</u> 'मूढ़' अवस्था में तम की प्रधानता रहती है। मूढ़ का अर्थ होता है – अज्ञानी, विवेकहीन, मूर्ख, मोहांध। मूढ़ चित्त वाले व्यक्ति तमोगुण की प्रधानता होने से निद्रा, आलस्य और क्रोधादि कषाय के गुलाम रहते है। प्रमादी होने के कारण निर्बल होते है। कषायों के आवेश से घिर जाने पर वह विवेक रहित हो जाता है। वह धर्म विरूद्ध, लोक विरूद्ध या समाज विरूद्ध कार्य करते हुए भी भयभीत नहीं होता है। उसे लज्जा या शर्म नहीं होती है। भविष्य के भयंकर परिणामों का वे विचार नहीं करते हैं लेकिन जब कोई संकट आ जाता है, विपत्ति में फँस जाते है तब पश्चाताप करते हैं। वे न्यायनीति, सदाचार आदि बातों का उपहास करते हैं। नैतिक और अनैतिक कार्यों का विवेक करना या भेद करना उन्हें अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार के मलिन चित्त वाले धर्म के मार्ग पर नहीं आ सकते है, कभी आ भी जाये तो स्थिर नहीं रह सकते। यह अवस्था भी योग के अनुकूल नहीं होती है।

**(८६४) सत्त्वोद्रेकात्परिहृत दुःखनिदानेषु सुखनिदानेषु।
शब्दादिषु प्रवृत्तं सदैव चित्तं तु विक्षिप्तम्।।६।।**

__अनुवाद -__ सत्त्वगुण के उद्रेक से जो दुःख के कारणों से दूर हुआ है और शब्द आदि सुख के कारणों में सदैव प्रवृत्त रहता है वह चित्त विक्षिप्त है।

__विशेषार्थ -__ प्रस्तुत श्लोक में विक्षिप्त चित्त के लक्षण बताये गये हैं। जिस चित्त में तामसी और राजसी भावों की अल्पता होती जाती है और उत्तरोत्तर सात्त्विक भावों में वृद्धि होती जाती है वह चित्त विक्षिप्त कहलाता है। इस प्रकार की चित्त की अवस्था वाले को भवभ्रमण का भय सताने लगता है। सत्त्व गुण के उत्कर्ष से उसमें उत्साह और उल्लास का भाव उत्पन्न होता है। वह दुःख के कारण रूप असत् कार्यों से दूर रहने का प्रयास करता है। ऐन्द्रिक विषयों में उसकी रुचि कम हो जाती है। वह शास्त्रों के उपदेश सुनने में, सत्कार्यों में प्रवृत्त रहता है। फिर भी विक्षिप्त चित्त सर्वथा शुद्ध नहीं होता है। वह कभी बहिर्मुख बन जाता है तथा कभी अंतर्मुखी हो जाता है। यहीं से साधक के योग का आरंभ होता है। साधक चित्त के बाह्य विषयों में दौड़ जाने पर पुनः उसे अन्दर की ओर मोड़ने का प्रयास करता है। यहाँ यह सावधानी रखना चाहिए कि चित्त क्षिप्त या मूढ़ अवस्था में न चला जाए। दूसरी ओर चित्त जहाँ है वही स्थिर न हो जाए अपितु अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर चित्त की शुद्धि करते रहना चाहिए।

**(८६५) अद्वेषादिगुणवतां नित्यं खेदादिदोषपरिहारात्।
सदृशप्रत्ययसंगतमेकाग्रं चित्तमाम्नातम्।।७।।**

__अनुवाद -__ अद्वेष आदि गुण से युक्त, खेदादि दोषों के नित्य परिहार से सदृश विषय में लगा हुआ चित्त एकाग्र कहा गया है।

__विशेषार्थ -__ प्रस्तुत श्लोक में चित्त की चतुर्थ अवस्था के लक्षण बताए गए है। चित्त की चतुर्थ अवस्था एकाग्र है। 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार इस प्रकार का चित्त किसी विषय में बिल्कुल एकाग्र हो जाता है, स्थिर हो जाता है। चित्त की इस प्रकार की अवस्था को आचार्य हेमचन्द्र ने 'श्लिष्ट' कहा है। साधक जब निरंतर ध्यान का अभ्यास करता रहता है तब

उसका चित्त विक्षिप्त दशा से एकाग्र दशा में आता है। इस अभ्यास के दौरान साधक में अनेक गुणों का विकास होता है और इन गुणों के कारण वह आगे बढ़ता जाता है। इन गुणों में महत्त्वपूर्ण गुण अद्वेष और अखेद है। साथ ही अभय गुण भी होना चाहिए। आनंदघनजी ने संभवनाथ भगवान् के स्तवन में कहा है कि 'सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय, 'अद्वेष, अखेद, संभवदेव ते धुर सेवो सेसे रे', जब तक किसी प्रकार की चिंता या भय होता है तब तक अद्वेष गुण भी प्रगट नहीं होता है। अद्वेष अर्थात् किसी भी प्राणी के प्रति किंचित् भी द्वेष नहीं, सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान ही प्रिय मानना। अद्वेष गुण के उत्पन्न होते ही ईर्ष्या, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोष भी दूर हो जाते हैं। राग-द्वेष की मंदता से व्यक्ति में अखेद गुण की उत्पत्ति होती है। शोक, संताप, दुःख का अभाव जहाँ हो वहाँ अखेद का प्रादुर्भाव होता है। अखेद गुण के उत्पन्न होने पर बाह्य कैसी भी प्रतिकूल परिस्थिति व्यक्ति को दुःखी नहीं कर सकती है। इससे व्यक्ति के वैरभाव आदि का नाश हो जाता है तथा चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस प्रकार इन दोषों का त्याग करने पर चित्त उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है और योग की साधना के लिए उसे योग्यता प्राप्त हो जाती है। योग की आठ दृष्टि के अनुसार विचार किया जाए तो साधक जब प्रथम मित्रा दृष्टि में आता है तब उससे खेद नामक दोष चला जाता है। इस प्रकार का चित्त बाह्य विषयों से सर्वथा निवृत्त होकर साधना के किसी एक का आलम्बन या एक विषय पर एकाग्र हो जाता है। उसमें सभी जीवों के प्रति समत्व भाव प्रगट होता है। 'अप्पा सो परमप्पा' की भावना उत्पन्न होती है।

(८६६) उपरतविकल्पवृत्तिकमवग्रहादिक्रमच्युतं शुद्धम्।
आत्मारामम्नीनां भवति निरूद्धं सदा चेतः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> विकल्पों की वृत्ति से विरमित, अवग्रह आदि क्रम से च्युत् हुआ, आत्मा में रमण करने वाले मुनियों का शुद्ध चित्त 'निरूद्ध' होता हैं।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में निरूद्ध चित्त का स्वरूप समझाया गया है। चित्त के जो पाँच प्रकार बताये है उनमें सर्वश्रेष्ठ चित्त 'निरूद्ध' है। आचार्य हेमचन्द्र ने चित्त की इस अवस्था को 'सुलीन' नाम से सम्बोधित किया है।

यह अवस्था निश्चल और परम आनंद वाली होती है। इस प्रकार के चित्त में संकल्प विकल्पों की तरंगे नहीं उठती है। विकल्पों से चित्त सर्वथा निवृत्त हो जाता है। ऐसे योगियों को बाह्य पदार्थ के प्रति ईष्ट-अनिष्ट या प्रियता-अप्रियता का भाव नहीं रहता है। वे तो अलौकिक आनंद का अनुभव करते हैं। अतः उनमें स्थल अनुकूल है या प्रतिकूल, काल कैसा है ? आदि विकल्पों का प्रादुर्भाव भी नहीं होता है। वे आन्तरिक रूप और बाह्य रूप से पूर्णतः संतुष्ट रहते है। उनमें कोई इच्छा या चाह नहीं रहती है। वे सर्वथा निःस्पृह होते हैं। अन्य जीवों के प्रति उनके मन में राग और द्वेष नहीं रहता है। सर्वत्र, सर्वकाल में उनके हृदय में समता का ही निवास रहता है। उनका चित्त आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से रहित होता है। वे परमात्मा के साथ आत्मा की अभिन्नता का अनुभव करते है। ऐसा चित्त मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा आदि भेदों के क्रम से अर्थात् इनके प्रतिबंध से मुक्त रहता है। परमानंद में लीन, आत्मस्वरूप में रमण करने वाले योगी का चित्त इस प्रकार का होता है।

(८९७) न समाधावुपयोगं तिस्रश्चेतोदशा इह लभन्ते।
सत्त्वोत्कर्षात् स्थैर्यादुभे समाधिसुखातिशयात्।।९।।

<u>अनुवाद -</u> इसमें चित्त की तीन अवस्था (क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त) समाधि में उपयोगी नहीं है। सत्त्व के उत्कर्ष से, स्थैर्य से और समाधि सुख के अतिशय के कारण दोनों (एकाग्र और निरूद्ध चित्त) उपयोगी है।

<u>**विशषार्थ -**</u> क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र ओर निरूद्ध इन पाँच प्रकार के चित्त में से कौनसा चित्त धारणा, ध्यान और समाधि की योग का साधना के लिए उपयोगी है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया हैं। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त ये तीन प्रकार के चित्त के समाधि की प्राप्ति में उपयोगी नहीं है। क्योंकि क्षिप्त चित्त वाला रजो गुण प्रेरित होकर विषय सुख में ही लीन रहता है। उसमें आत्मतत्त्व के प्रति रूचि ही नहीं होती है। मूढ़ चित्त वाला तमो गुण से प्रेरित होकर कषाय, निद्रा, प्रमाद आदि से ग्रस्त रहता है तथा विक्षिप्त चित्त वाला भी एक विषय में स्थिर नहीं रह सकता है। अतः ये तीनों चित्त योगसाधना के लिए अनुपयोगी है। एकाग्र और निरूद्ध चित्त में सत्त्व का उत्कर्ष होता है, वीर्य उल्लसित होता है और चित्त

में स्थिरता होती है। निरूद्ध अवस्था में चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है इसलिए ये दोनों प्रकार की चित्त की अवस्था समाधि के लिए उपयोगी है।

जो चित्त की निम्न अवस्थाएँ क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त बताई गई है, ये अवस्थाएँ जीवन पर्यन्त रहे अर्थात् क्षिप्त चित्त वाला जीवन पर्यन्त क्षिप्त चित्त वाला ही रहेगा यह आवश्यक नहीं है। कोई निमित्त मिल जाने पर पुरूषार्थ और अभ्यास द्वारा चित्त का विकास भी हो सकता है। विकास करते हुए क्षिप्त चित्त वाला भी एक दिन निरूद्ध अवस्था तक पहुँच सकता है। विक्षिप्त प्रकार के चित्त में योगारंभ की संभावना रहती है। इसलिए विक्षिप्त चित्त योग्यता प्राप्त होने पर एकाग्र या निरूद्ध बन सकता है।

(८६८) योगारंभस्तु भवेद्विक्षिप्ते मनसि जातु सानंदे।
क्षिप्ते मूढ़े चास्मिन् व्युत्थानं भवन्ति नियमेन।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> कभी आनंदमय हो जाने पर विक्षिप्त चित्त में योगारंभ हो सकता है परंतु यह (चित्त) क्षिप्त और मूढ़ हो तो उसमें अवश्य व्युत्थान (चलित) होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त चित्त के मध्य भेद बताते हुए विक्षिप्त चित्त में योग की संभावना को स्वीकार किया गया है। क्षिप्त और मूढ़ चित्त राग-द्धेष से युक्त तथा रजस् और तमस् गुणों की प्रधानता के कारण अतिचंचल होते है। ये दोनों चित्त ध्यान में समाधि में स्थिर नहीं रह सकते हैं क्योंकि ये दोनों चित्त पूर्णरूप से बहिर्मुखी होते हैं क्षिप्त और मूढ़ चित्त की अपेक्षा विक्षिप्त चित्त में कषायों की मंदता रहती है। ऐन्द्रिक विषयों के प्रति रूचि भी अल्प होती है। इसलिए विक्षिप्त चित्त में कभी-कभी योगारंभ की संभावना रहती है। यह चित्त राग और विराग के मध्य झूलता हुआ है। यदि यह राग की ओर अधिक झुक गया, राग का पलड़ा भारी हो गया और संसारी सुख में लीन हो गया तो उसका भी विकास अवरूद्ध हो जाता है। वह भी एकाग्र या निरूद्ध अवस्था तक नहीं पहुँचता है किन्तु कभी विक्षिप्त चित्त में वैराग्य का पलड़ा भारी हो गया तो कषायों के मंद हो जाने पर वह धर्म के रंग में रंग जाता है और प्रभु की भक्ति करते-करते प्रभुमय बन जाता है, आनंदमय बन जाता है। उत्साह व उल्लास से भरा हुआ उसका चित्त अधिक समय तक ऐसे भक्ति आदि

विषय में स्थिर रह सकता हैं उस समय वह योगांरभ के लिए योग्यता प्राप्त करता है। इस प्रकार विक्ष्प्ति चित्त में हमेशा नहीं परंतु कभी-कभी योगारंभ की संभावना रही हुई है परंतु क्षिप्त तथा मूढ़ चित्त में इस प्रकार की संभावना नहीं रहती है। राग-द्धेष की तीव्रता, विषय कषायों की उग्रता वाला, अत्यंत चपल, क्षिप्त तथा मूढ़ चित्त में योगारंभ की, यम, नियम आदि की धारणा, ध्यान, समाधि की संभावना नहीं है। ये चित्त इतने अधिक चंचल होते है कि इन्हें किसी एक शुभ में स्थिर रखने का प्रयास किया जाये तो क्षण में ही वहाँ से भाग जाता है। ध्यान के विषय से तुरंत वह बाहर निकल जाता है, अतिक्रमण कर जाता है।

(८६६) विषयकषायनिवृत्तं योगेषु च संचरिष्णु विविधेषु।
गृहखेलद्‌बालोपममपि चलमिष्टं मनाऽभ्यासे।।११।।

<u>अनुवाद -</u> विषय कषाय से निवृत्त हुआ, विविध प्रकार के योगों में गमन करने वाला, घर में खेलते हुए बालक के समान मन चंचल हो तो भी अभ्यासकाल में ईष्ट है।

<u>विशेषार्थ -</u> क्षिप्त और मूढ़ चित्त वाले विषय-कषाय होने के कारण वे योगसाधना नहींकर सकते हैं, दूसरी ओर खेद और द्धेष से रहित, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से मुक्त, माध्यस्थ भाव में विचरण करने वाले एकाग्र और निरूद्ध चित्त योगसाधना को अच्छी तरह साध सकते है। मध्य का चित्त विक्षिप्त प्रकार का है जिसमें दोनों प्रकार की शक्यता रही हुई है, उसमें उत्थान और पतन दोनों प्रकार की संभावना रही हुई है। यदि चित्त आनंद, उत्साह, उल्लास वाला हो, प्रभु भक्ति का रागी हो तो वह योगसाधना प्रारंभ कर सकता है किन्तु इससे विपरीत वह बाह्य विषयों में ही भटकने वाला हो, तो वह योग साधना नहीं कर सकता है। विक्षिप्त चंचल चित्त भी यदि इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों से निवृत्त होता जाता हैं, भोग-उपभोग में उसका रस क्षीण हो के स्पर्श आदि विषयों से निवृत्त हो जाता है, क्रोधादि कषय मंद हो गये हो, चित्त की शुद्धि और समत्व भाव बढ़ता जाता है और मोक्ष के हेतु विविध प्रकार की आराधनाओं में योग साधनाओं में उसे रूचि हो तो वह योग साधना में आगे बढ़ सकता है,

विकास कर सकता है। ऐसा चित्त चाहे चंचल हो तो भी वह योग साधना के लिए इष्ट है क्योंकि उसकी चंचलता भी मर्यादित हो गई है।

प्रस्तुत श्लोक में दृष्टांत दिया गया है कि छोटा बालक घर के बाहर सड़क पर खेलता हो, इधर-उधर भागता हो तो माता-पिता को चिंता होती है कि कहीं बालक वाहन के नीचे न आ जाय, कोई उसे उठाकर न ले जाये। पर बालक यदि घर के अंदर ही खेलता हो, उछल-कूद करता हो तो माता-पिता को चिंता नहीं होती है, वे अपने कार्य में लगे रहते है। उसी प्रकार चित्त यदि बाहर विषयों में भटकता है तो चिंता रहती है, किंतु जिसका चित्त विषयों से निवृत्त हो गया हो, आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान से दूर रहता हो और मोक्षमार्ग में जिसकी रूचि हो, विविध योगों में उसे रस हो तो ऐसा चित्त रहता हो तो भी योगसाधना के लिए वह आदरने लायक है, क्योंकि वह योग्य दिशा में मुड गया है। चंचल होते हुए भी गलत दिशा की ओर नहीं जाता है। अतः ऐसा चित्त अवश्य विकास को प्राप्त करके एकाग्र बन सकता है।

(६००) वचनानुष्ठानगतं यातायातं च सातिचारमपि।
चेतोऽभ्यासदशायां गजांकुशन्यायतोऽदुष्टम्।।१२।।

<u>**अनुवाद -**</u> वचनानुष्ठान में रहा हुआ, गमनागमन करने वाला और अतिचार सहित हो तो भी वह चित्त अभ्यासदशा में गजांकुश न्याय के अनुसार अदूषित है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> क्षिप्त और मूढ़ चित्त की तरह विक्षिप्त चित्त सर्वथा निरूपयोगी नहीं है। पूर्व श्लोक में यह बताया गया कि विक्षिप्त चित्त गृह आंगन में खेलते हुए बालक की तरह है अर्थात् ऐसे चित्त की चंचलता की मर्यादा होती है। अतः प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया कि अभ्यास काल के प्रारंभ में विक्षिप्त चित्त भी उपयोगी हो सकता है। विक्षिप्त चित्त को सतत् अभ्यास द्वारा एकाग्र तथा निरूद्ध चित्त की अवस्था तक ले जाया जा सकता है। गमनागमन करने वाला और अतिचार सहित दोष युक्त चित्त भी जग वचनानुष्ठान में रहता है तो वह दोषयुक्त नहीं है। प्रीति, भक्ति, वचन और अंसग ये चार प्रकार के धर्मानुष्ठान बताये गये हैं। इन चारों में से जिसका चित्त वचनानुष्ठान में रहा हुआ हो तो उसे परमात्मा के वचनों

में रूचि और श्रद्धा जागृत होती है। वह प्रत्येक अनुष्ठान में शास्त्रों के वचन को प्रधान मानता है साथ ही औचित्य का पालन करना भी नहीं भूलता है। चित्त की स्थिरता अभी प्राप्त नहीं हुई है चित्त की चंचलता बनी हुई है परंतु शास्त्र आज्ञा के प्रति रुचि, धर्मानुष्ठान करने में उत्साह होने के कारण धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा असंग अनुष्ठान तक और योग साधना मुें एकाग्रता और निरूद्ध (सुलीन) अवस्था तक पहुँचा जा सकता है। प्रस्तुत श्लोक में गजांकुशन्याय का दृष्टांत दिया गया है। हाथी का स्वभाव है मनोन्मत्त होने का, लेकिन मदोन्मत्त हाथी के सिर पर अंकुश (तीक्ष्ण शस्त्र) का प्रहार उस पर बैठा हुआ महावत कहता है तो हाथी तुरंत अंकुश में आ जाता है, शांत बन जाता है। हाथी को शिक्षित करने के लिए समय और धैर्य की आवश्यकता है फिर हाथी महावत आज्ञाकारी हो जाता है। उसी प्रकार विक्षिप्त चित्त चाहे प्रारंभ में भटकता हो, भूल करता हो पुरंत उसको सतत् अभ्यास द्वारा संयम में लाया जा सकता है और मोक्ष हेतु योगसाधना में उसे जोड़ सकते है। विक्षिप्त चित्त की चंचलता की मर्यादा होती है अतः ऐसे चित्त को अभ्यास द्वारा शीघ्र नियंत्रित किया जा सकता है इसलिए विक्षिप्त चित्त को अदुष्ट कहा गया है।

(६०१) ज्ञानविचाराभिमुखं यथा-यथा भवन्ति किमपि सानंदम्।
अर्थैः प्रलोभ्य बाह्यैरनुगृह्हीयात्तथा चेतः।।१३।।

<u>अनुवाद -</u> चित्त जैसे-जैसे ज्ञान-विचार के प्रति अभिमुख और कुछ आनंदयुक्त होता जाता है, वैसे-वैसे बाह्य-आलम्बनों का (के द्वारा) लोभ देकर उसको वश में कर लेना चाहिए।

<u>विशषार्थ -</u> योगसाधना के प्रारंभिक अभ्यासी को चित्त का निग्रह करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए ? किस प्रकार उसे वश में करना चाहिए। ग्रंथकार ने स्वानुभव के आधार पर इसका संकेत किया है। चित्त के अंदर प्रतिफल, शुभ-अशुभ-ऐसे विविध प्रकार के विचार रहने से उत्पन्न होते हैं। यह सत्य है कि चित्त क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता है। किन्तु चित्त एक विचार से दूसरे विचार या विषय के प्राप्त पर भटकते हुए भी कई बार उसकी अभिरुचि या मनोनुकूल विषय के प्राप्त होने पर वह कुछ पल उसमें स्थिर हो सकता है। जैसे व्यापारी का रुपयों की गणना करते समय, शिकारी

का शिकार करते समय, जुआरी का जुआं खेलते समय, रसलोलुपी का खाते समय, विषयासक्त मानव का विषयों के उपभोग के समय चित्त एकाग्र रहता है। जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्तियों में चित्त लीन हो जाता है उसी प्रकार मनोनुकूल, व्यावसायिक या व्यावहारिक-प्रवृत्तियों में तथा शुभ प्रवृतियों में भी मन एकाग्र हो सकता है। जैसे कितने ही चित्रकारों का चित्र बनाते समय, कवियों का कविता लिखते समय, लेखकों का लेखन करते हुए, गणितज्ञ की कोई समस्या सुलझाते हुए, मन स्थिर हो जाता है, लीन हो जाता है उनके आस-पास क्या हो रहा है उन्हें यह भी पता नहीं चलता है। वैसे ही कितने ही धर्मप्रेमी लोगों को प्रभु भक्ति, प्रभुदर्शन, शास्त्रवाचन, तपश्चर्या, जाप आदि धर्म क्रियाओं में अत्यंत रुचि होती है। अतः इन शुभक्रियाओं को करते हुए उनका मन भी एकाग्र हो जाता है। मन को एकाग्र करने के लिए कोई-न-कोई आलम्बन आवश्यक है। ये आलम्बन शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। आत्मविकास के क्रम में, साधना के क्रम में प्रगति करना है, आगे कदम बढ़ाना है तो पहले यह निश्चित कर लेना चाहिए कि उसे कौनसी प्रवृत्ति में अधिक आनंद आता है या कौन सी शुभ प्रवृत्ति करते हुए उसका चित्त एकाग्र बन जाता है। यह निरीक्षण करने के बाद उसे उस विषय या आलम्बन की बाह्य प्रवृत्ति को बढ़ावा देना चाहिए, क्योंकि साधना के प्रारंभिक-काल में इस प्रकार के बाह्य शुभ आलंबनों की आवश्यकता रहती है। स्वयं का चित्त जब-जब चंचल बनता है, तब-तब तुरंत उसे अपने अभिरुचि के शुभ विषय में जोड़ देना चाहिए, तो वह तुरंत शांत, स्वस्थ्य तथा प्रसन्न बन जाता है। इस प्रकार ग्रंथकार का आशय है कि साधना के प्रारंभिक काल में ज्ञान और शुभ विचारों की ओर उन्मुख हुए मन को उसकी अभिरुचि के शुभ विषयों का प्रलोभन देना पड़ता है। चित्त को बाह्य-आलम्बनों में एकाग्र करने के अभ्यास द्वारा उसे अधिक निर्मल शुद्ध तथा स्थिर बनाया जा सकता है। आत्म साधना के लिए तैयार किया जा सकता है।

(६०२) अभिरूपजिनप्रतिमां विशिष्टपदवाक्यवर्णरचनां च।
पुरुष विशेषादिकमप्यत एवालंबनं ब्रुवते।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए मनोहर जिनप्रतिमा, विशिष्ट पद, वाक्य, वर्ण की रचना और महापुरुष (विशेष) आदि को भी इस प्रकार के आलंबन कहे गए हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने बताया है कि मन को किस-किस प्रकार के शुभ आलंबन में जोड़कर शुद्ध तथा एकाग्र किया जा सकता है। चूंकि मन अतिचंचल है, दूषित है, अतः सीधे ही आत्मस्वरूप में रमणता या निरालंब ध्यान में स्थिर नहीं हो सकता है। यह अभ्याससाध्य है, अतः इस प्रकार की साधना के प्रारंभ में मन को सालंबन ध्यान में जोड़ना पड़ता है। अशुभ विषयों की ओर दौड़ते हुए मन को शुभ विषयों में जोड़ देने से वह धीरे-धीरे स्थिर तथा निर्मल बनता जाता है। ये शुभ आलंबन कौन-कौनसे हो सकते हैं ? यहाँ बताया गया है कि कोई मनोहर, मनभाव जिनप्रतिमा और जिनालय को चित्त में केन्द्रित करे, तो समग्र चित्त उसमें रूका हुआ रहता है या श्रेष्ठ ग्रंथ का कोई वाक्य, तात्त्विकज्ञान का कोई ग्रंथ, उसका पद या कोई विशिष्ट शब्दरचना का विचार करे, अथवा किसी महापुरुष जैसे गौतमस्वामी, अइमुत्तामुनि, गजसुकुमाल, हरिभद्रसूरि, यशोविजयजी, हेमचंद्राचार्य, कुंदकुंदाचार्य, राजेन्द्रसूरि आदि के जीवन, उनके कार्य का चिंतन करते हुए भी मन स्थिर हो सकता है। स्वयं ने कोई तीर्थयात्रा की हो तो उसका चित्र दृष्टि के समक्ष उपस्थित किया जा सकता है, उसे स्मृतिपटल पर उपस्थित कर चित्त को स्थिर किया जा सकता है। स्वयं को जो आध्यात्मिक-विषय प्रिय हो-ऐसे कोई विषय की किसी महापुरुष द्वारा लिखी हुई पुस्तकों के कुछ वाक्य धीरे-धीरे पढ़ना और उसे धारण करना, फिर जितने समय पढ़ा, उससे दोगुने समय उन वाक्यों पर चिंतन करने का अभ्यास करना- इस प्रकार अभ्यास करने से मानसिक बल में अभिवृद्धि होती है और शुभ विचारों में मन एकाग्र हो जाता है। कोई पूज्य पुरुष, जैसे-भगवान् महावीर छद्मस्थ-अवस्था में राजगृही के पास वैभारगिरि के पहाड़ पर झाड़ियों के मध्य आत्मध्यान में निमग्न होकर खड़े हैं, पहाड़ के आस-पास नदी बह रही है, आस-पास हरियाली, शांत निर्मल, शुद्ध, वातवरण है आदि मानसिक-विचारों से कल्पना करके भगवान् महावीर का

चित्र का हृदय-पट पर आलेखन करना, उसे स्पष्ट रूप से देखने का प्रयत्न करना और उस पर मन को एकाग्र रखना- इस प्रकार समवशरण आदि का चित्र कल्पना से उपस्थित कर मन को स्थिर किया जा सकता है। चिंतन के लिए आलंबनरूप ऐसे विषय तो अनेक हैं, परंतु अपनी रुचि के अनुसार उसे पसंद कर नियमित अभ्यास द्वारा आगे बढ़ सकते हैं तथा मन को अधिक समय तक स्थिर रख सकते है। निरालंबन ध्यान तक पहुँचने के लिए पहले इस प्रकार के आलंबन से ध्यान में स्थिरता लाना आवश्यक है।

(६०३) आलम्बनैः प्रशस्तैः प्रायो भावः प्रशस्त एव यतः।
इति सालम्बनयोगी मनः शुभालम्बनं दध्यात्।।१५।।

<u>अनुवाद -</u> प्रशस्त आलंबनों के माध्यम से प्रायः प्रशस्त (शुभ) भाव होने के कारण सालंबन योगियों को मन को शुभ आलंबनों से जोड़कर रखना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> जीव निमित्तवासी है। जिस निमित्त का उससे संयोग होता है, प्रायः उसे उसी प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। अच्छे निमित्त या आलंबन से मन को जोड़ने पर प्रायः शुभ विचार आते हैं और बुरे निमित्त या आलंबन का संपर्क होने पर मन में अप्रशस्त विचार उत्पन्न होने लगते हैं, इसलिए पूर्व श्लोक में ग्रंथकार ने साधना के प्रारंभकाल में जिनप्रतिमा, महापुरुष, कोई विशेष शास्त्रवचन आदि का आलंबन लेने का निर्देश किया है। अंत में तो निरालंबन ध्यान ही प्राप्त करना है, परंतु प्रारंभ में आलंबनों की आवश्यकता होती है। आलंबन दो प्रकार के होते हैं- प्रशस्त आलंबन और अप्रशस्त आलंबन। इन आलंबनों को देखकर मन में उत्पन्न हुए भाव, चिंतन आदि की दृष्टि से इसके चार विभाग कर सकते हैं- १. प्रशस्त आलंबन और प्रशस्त भाव २. प्रशस्त आलंबन और अप्रशस्त भाव ३. अप्रशस्त आलंबन और अप्रशस्त भाव ४. अप्रशस्त आलंबन और प्रशस्त भाव। अच्छी वस्तु या आलंबन को देखकर व्यक्ति को अच्छे ही विचार आएं- यह भी आवश्यक नहीं है, जैसे-सुंदर अंगरचना से युक्त मनोहर प्रतिमा को देखकर किसी को उन आभूषणों की चोरी करने का मन हो जाता है। वह प्रतिमा को देखकर यह विचार करता है कि कब अवसर मिले और कब इन आभूषणों को लेकर भाग जाऊं। इसी प्रकार, अप्रशस्त

आलंबन को देखकर बुरे ही विचार आएं- यह भी आवश्यक नहीं है, जैसे-कुष्ठ रोगी को देखकर किसी को घृणा होने की अपेक्षा शरीर की नश्वरता, क्षणभंगुरता, शरीर के स्वभाव, सड़न-गलन आदि का विचार आता है। अध्यात्ममार्ग में प्रशस्त या शुभ आलंबन से योगियों को शुभ भाव आते हैं, परंतु प्रत्येक योगी के लिए इसी प्रकार हो-यह आवश्यक नहीं है। एक ही निमित्त या आलंबन को देखकर दो व्यक्तियों के मन में बिल्कुल भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न हो सकते हैं। प्रशस्त आलंबन से किसी को अप्रशस्त भाव भी उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रायः शब्द का प्रयोग किया है। प्रायः शुभ आलंबन से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं, अतः साधक को सलाह दी गई कि वह साधना के प्रारंभ में चित्त को प्रशस्त आलंबनों से जोड़कर रखे। अशुभ में शुभ और शुभ से शुद्ध तक पहुँचा जा सकता है, परंतु अशुभ से सीधे मन को शुद्ध निर्विकल्प दशा में ले जाएं- यह प्रायः संभव नहीं होता है।

(६०४) सालंबनं क्षणमपि क्षणमपि कुर्यान्मनो निरालंबनम्।
इत्यनुभवपरिपाकादाकालं स्यान्निरालंबम्।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> मन को कुछ क्षण सालंबन करना और कुछ क्षण निरालंब करना-इस प्रकार अनुभव के परिपक्व हो जाने से वह (मन) सदाकाल या हमेशा निरालंब हो जाएगा।

<u>विशेषार्थ -</u> मनुष्य का मन अत्यंत चंचल है। क्षणभर में ही वह कितने ही विचार कर लेता है, कितनी ही जगह भटककर आ जाता है। मन की चंचलता को कम करने के लिए ग्रंथकार ने उसे शुभ आलंबन में जोड़ने की सलाह दी है। अपनी अभिरुचि के प्रशस्त विषय में मन अधिक समय तक स्थिर रह सकता है, अर्थात् उस समय उसके विचार करने की, उछलकूद करने की मर्यादा हो जाती है, शुभ आलंबन में मन के स्थिर हो जाने से वह अशुभ विचारों में नहीं खोता है, इससे उसके परिणाम अच्छे रहते है तथा अशुभ कर्म का बंध नहीं होता है, शुभ कर्मों का ही बंध होता है। इस प्रकार, अशुभकर्म बंधन से बचा जा सकता है, परंतु साधक को वही पर ही नहीं रुक जाना है, आगे प्रगति करना है, निरालंब ध्यान में प्रवेश करना है, निर्विकल्प दशा प्राप्त करना है, शुभ विचारों से भी मुक्त होना है, निर्विचारी

बनना है, तो यह कार्य एक-दो दिन में सिद्ध नहीं होता है, इसके लिए चिर समय तक अभ्यास चाहिए। इसके लिए शास्त्रकार ने उपाय बताया है कि मन को प्रारंभ में कुछ समय शुभ आलंबन से जोड़कर रखना, फिर उसे निरालंबन ध्यान में ले जाना चाहिए। इसमें कोई विषय नहीं होता है, कोई विचार नहीं होता है। जब किसी शुभ विचार पर चिंतन-मनन कर रहे हों, तब अपना संपूर्ण मन उसमें स्थापित कर देना चाहिए और अच्छे से अच्छे विचार करना चाहिए। किन्तु जब मनन करने का काम समाप्त हो जाए तब संपूर्ण मन उसमें स्थापित कर देना चाहिए और अच्छे विचार करना चाहिए, किन्तु जब मनन करने का काम समाप्त हो जाए, तब संपूर्णरूपेण विराम करना चाहिए। सभी विचारों का त्याग करके उसे आत्मस्वरूप में लीन करने का प्रयास करना। परंतु इस प्रकार क्षणभर ही चित्त निरालंब अवस्था में रहता है और तुरंत विषय से जुड़ जाता है। पुनः उसे धीरे-धीरे निरालंब बनाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार क्षण में निरालंब अवस्था और क्षण में सालंबन अवस्था प्राप्त होती है। अभ्यास करते रहने से चित्त निरालंब ध्यान में अधिक से अधिक स्थिर रहने लगता है। इस प्रकार अनुभव में वृद्धि होती जाती है तथा साधक फिर अपनी इच्छानुसार मन को निरालंब-ध्यान में प्रवेश करा सकता है। इस प्रकार जीवनपर्यन्त निरालंब बना जा सकता है।

जिस प्रकार परिश्रम करने के बाद शरीर को विश्रांति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मानसिक विचारों के व्यायाम में भी मनुष्य को विश्रांति की आवश्यकता होती है। विचार से विरति प्राप्त करने, मन को निर्विचारी बनाने से अमूल्य लाभ प्राप्त होता है।

(९०५) आलंब्यैकपदार्थं यदा न किंचिद्विचिन्तयेदन्यत्।
अनुपनतेन्धनवह्विवदुपशान्तं स्यात्तदा चेतः।।१७।।

<u>अनुवाद -</u> एक पदार्थ का अवलंबन लेकर जब अन्य कुछ भी चिंतन करने में नहीं आता है तब ईंधन नहीं मिलने से अग्नि की तरह चित्त उपशान्त हो जाता है।

<u>विशेषार्थ -</u> जब काम नहीं करना हो, तब यंत्र को गतिमान् (चालू) रखने से वह घिस जाता है उसी प्रकार मन की अमूल्य यंत्र रचना को

निष्प्रयोजन पुनः-पुनः भ्रमण कराने से कोई उपयोगी परिणाम उत्पन्न किए बिना ही वह जर्जरित हो जाता है। शक्ति के इस निरर्थक व्यय से कैसे बचा जा सकता है ? मन को कैसे शांत किया जा सकता है ? ग्रंथकार इसका समाधान करते हुए एक दृष्टांत के माध्यम से समझाते है कि जिस प्रकार अग्नि जल रही हो और उसमें ईंधन यदि नहीं डाला जाए, तो अग्नि धीरे-धीरे स्वयमेव शान्त हो जाती है, उसी प्रकार इस चंचल मन को एक शुभ विषय में एकाग्र कर दिया जाए, तो उसे अन्य विषय नहीं मिलने पर वह एक ही विषय में स्थिर हो जाता है, उपशान्त हो जाता है, अन्य कोई विकल्प नहीं उठते हैं और चित्त बाहर नहीं जाता है। प्रारंभ में अत्यंत सावधानी, जाग्रति रखना पड़ती है और मन जैसे ही अन्य विकल्पों में उलझे, वैसे ही पुरुषार्थ द्वारा पुनः उसे उसी विषय पर स्थिर करना पड़ता है। इस प्रकार, बार-बार अभ्यास करने से चित्त स्वयं अन्य विकल्पों में नहीं उलझता है, वह सहज रूप से शान्त हो जाता है।

(६०६) **शोकमदमदनमत्सरकलहकदाग्रहविषादवैराणि।**
क्षीयन्ते शान्तहृदामनुभव एवात्र साक्षी नः।।१८।।

<u>अनुवाद -</u> शान्त हृदय वाले के शोक, मद, काम, ईर्ष्या, कलह, कदाग्रह, विषाद और वैर क्षीण हो जाते हैं। इस विषय में हमारा (स्वयं का) अनुभव ही साक्षीरूप है।

<u>विशेषार्थ -</u> आध्यात्मिक विकास में महापुरुषों की अनुभववाणी अत्यंत उपकारी सिद्ध होती है। उपाध्याय यशोविजयजी मात्र एक बहुश्रुत पण्डित ही नहीं थे, बल्कि एक उच्चकोटि के आत्मसाधक भी थे, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उन्हें ऐसे अनेक श्रेष्ठ अनुभव प्राप्त हुए होंगे, जिनकी झलक उनके ग्रंथों में प्राप्त होती है। ग्रंथकार स्वयं के अनुभव से कहते हैं कि जो शान्त चित्तवाला हो जाता है, उसके जीवन से दुर्गुण स्वतः ही दूर हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति की कामनाएँ कम होने लगती है। पद, प्रतिष्ठा, पैसा आदि के लिए उसकी दौड़ बंद हो जाती है और साथ ही उन विषयों के प्रति उसकी आन्तरिक-रुचि भी नष्ट हो जाती है। जब बाह्य-पदार्थों का आकर्षण बिल्कुल नष्ट हो जाता है तब मनुष्य का मन एकदम शान्त हो जाता है। ऐसे शांत चित्त वाले के जीवन में उद्वेग के निमित्त उपस्थित होने पर भी वे

उसे दुःखी, खिन्न नहीं कर सकते हैं। जब व्यक्ति आध्यात्मिक साधना की ओर मुड़ जाता है तब उसके चित्त में कोई बाह्य पदार्थ या परिस्थिति विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकती है। इष्ट के वियोग से या अनिष्ट के संयोग से उसे शोक उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उसके लिए कोई भी व्यक्ति परिस्थिति या वस्तु ईष्ट या अनिष्ट नहीं होती है, वह समभाव में स्थित रहता है। ऐसी स्थिति में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय भी मंद हो जाते हैं तथा योगी के जीवन में रागादि भाव निर्मूल या उपशान्त हो जाते हैं। ब्रह्म (आत्मा) की उपासना में रुचि उत्पन्न होने से कामवासना भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि 'जहाँ राम, वहाँ काम नहीं'। जब व्यक्ति स्व में ही रमण करने लगता है, स्व में ही आनंद प्राप्त कर लेता है, तब उसे पर की आवश्यकता ही नहीं रहती है। उसे जैसे-जैसे आत्मा का अनुभव होने लगता है, वैसे-वैसे उसे सभी जीवात्माओं के प्रति प्रेमभाव, मैत्रीभाव उत्पन्न होने लगता है। उसका वैरविरोध क्षीण हो जाता है, ईर्ष्या, कलह, कदाग्रह, खेद आदि नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार योगसाधक के जीवन से दोष निकलते जाते हैं और गुणों का विस्तार होता जाता है।

इस प्रकार मन को शुभ विषय में एकाग्र करने पर और धीरे-धीरे उपशांत, निरालंब स्थिति में पहुँचने पर इस प्रकार का श्रेष्ठ अनुभव होता है और इसके लिए ग्रंथकार ने अपने स्वयं के अनुभव को साक्षी रूप में रखा है।

(९०७) शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते शान्तमात्मनः सहजम्।
भस्मीभवत्यविद्या मोहध्वान्तं विलयमेति।।१६।।

<u>अनुवाद</u> - मन के शान्त होने पर आत्मा की सहज और शान्त ज्योति प्रकाशित होने लगती है, अविद्या भस्मीभूत होती है, मोहरूपी अंधकार नष्ट हो जाता है।

<u>विशेषार्थ</u> - साधक अभ्यास करते-करते जब सालंबन-ध्यान में से निरालंबन ध्यान में प्रवेश करता है, तब वह शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करने लगता है। साधक की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, उसके कषाय मंद हो जाते हैं। वैर, विरोध, खेद, उद्वेग, मत्सर, कलह, कदाग्रह आदि का जीवन में कोई स्थान नहीं रहता है। देह और आत्मा के एकत्व का अज्ञान नष्ट हो

जाता है। भेदज्ञान के हो जाने पर आत्मा की ज्योति सहजरूप से अधिक प्रकाशित होती है। अज्ञान तथा मोह का अंधकार भी नष्ट हो जाता है। स्थूल मोह तो उनकी साधना के प्रारंभ में ही नष्ट होने लगता है, किन्तु निर्विकल्प, निरालंब-दशा में सूक्ष्म मोह भी चला जाता है। इस प्रकार आत्मज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशित होती है।

(६०८) बाह्यात्मनोऽधिकारः शान्तहृदामन्तरात्मनां न स्यात्।
परमात्मानुध्येयः सन्निहितो ध्यानतो भवति।।२०।।

अनुवाद - शान्त हृदय वाले अन्तरात्मा पर बहिरात्मा का अधिकार नहीं होता है। ध्यान धरने योग्य परमात्मा ध्यान के द्वारा उसके समीप ही रहे हुए हैं।

विशेषार्थ - जब चित्त से कामनाएँ विषय, कषाय आदि निकल जाते हैं और ध्यान के द्वारा मन स्थिर व शान्त हो जाता है, तब ऐसे शान्त हृदय वाले अन्तरात्मा पर बाह्य आत्मा का अधिकार नहीं होता है। यदि साधक तप-जप आदि करता है, त्याग-वैराग्य से युक्त है, फिर भी यदि उसे आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्राप्त करने की, मोक्ष की अभिलाषा नहीं हो, तो ऐसे जीव पर अभी बाह्य-आत्मा का अधिकार रहता है, परंतु जिसे मोक्ष की, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा है, विषय-कषायों से मुक्त शान्त चित्त वाले ऐसे जीव पर बाह्य-आत्मा का अधिकार नहीं होता है। बहिरात्मा से अंतरात्मा बना हुआ साधक ध्यान द्वारा इतनी उच्च्व दशा प्राप्त कर लेता है कि वह परमात्मस्वरूप के निकट पहुँच जाता है। फिर उसे ध्यान धरने के लिए बाह्य आलंबन की आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्योंकि ध्यान धरने योग्य परमात्मा ध्यान द्वारा उसके समीप ही रहे हुए होते हैं, उसके अन्दर ही परमात्व-तत्त्व प्रकट हो जाता है।

(६०९) कायादिर्बहिरात्मा तदधिष्ठातान्तरात्मतामेति।
गतनिःशेषोपाधिः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः।।२१।।

अनुवाद - कायादि बहिरात्मा है। उसका अधिष्ठाता, अर्थात् साक्षी रूप में रहा हुआ अंतरात्मा है। सभी उपाधि से रहित, वह परमात्मा है- इस प्रकार आत्मज्ञानी कहते है।

विशेषार्थ - समस्त संसार में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के अनंत जीव हैं तथा मोक्षगति को प्राप्त करने वाली, सिद्धशिला पर रही हुई आत्माएँ भी अनंत हैं। इन सबका वर्गीकरण एक अपेक्षा से तीन भागों में किया जा सकता है - १. बहिरात्मा २. अंतरात्मा और ३. परमात्मा। बहिरात्मा प्रकार के जीवों को देह में आत्मबुद्धि रहती है। उनका काया पर अपार ममत्व होता है। वे मात्र काया को ही सुखी करने की, उसे ही संभालने की बुद्धिवाले होते हैं। आत्मिक-तत्त्व को वे जानते नहीं है और मानते भी नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव बहिरात्मा ही होते हैं। संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों में भी अधिकांश जीव बहिरात्मा ही होते हैं, क्योंकि प्रायः तिर्यंच संज्ञी-पंचेन्द्रिय में विवेक का अभाव होता है, अतः उन्हें देह और आत्मा का भेदज्ञान नहीं होता है। तिर्यंच की अपेक्षा मनुष्य तो अति अल्प मात्रा में हैं और उनमें भी अधिकांश मनुष्यों में देह और आत्मा के प्रति अभेद बुद्धि रहती है। वे काया और माया में ही आसक्त रहते हैं, अतः मानव-जाति में भी बहुत बड़ा भाग तो बहिरात्मा के अन्तर्गत ही आता है। संसार में हमेशा बहिरात्मा की अपेक्षा अंतरात्मा प्रकार के जीव बहुत कम होते हैं। अंतरात्मा, अर्थात् काया में साक्षी की तरह रही हुई आत्मा। देह और आत्मा का भेद-ज्ञान बहुत कम जीवों को होता है और अंतरात्मा से परमात्मा बनने वाले जीव उससे भी कम होते हैं। जो काया आदि सभी प्रकार की उपाधि से मुक्त हो गए हैं, जिन्होंने अपने शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार स्वरूप को प्रकट कर लिया है, वे परमात्मा कहलाते हैं।

(६१०) **विषयकषायावेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु च द्वेषः।**
आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात्तदा व्यक्तः।।२२।।

अनुवाद - जब विषय कषाय का आवेश होता है, तत्त्वों पर अश्रद्धा होती है और गुणों के प्रति द्वेष होता है तथा आत्मा का अज्ञान होता है, तब बाह्यात्मा व्यक्त होता है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में बहिरात्मा के प्रमुख चार लक्षण बताए गए हैं-

१. विषय-कषाय के आवेश से युक्त - बहिरात्मा विषय-कषाय में डूबा हुआ रहता है। वह कस्तूरीमृग की तरह आत्मा में सुख-शोधन के बजाए बाह्य-पदार्थों में ही सुख की खोज करता है। वह पुद्गलानंदी तथा भवाभिनंदी होता है। वह स्वयं की देह, स्वजन, संपत्ति, पद, प्रतिष्ठा को ही सर्वस्व मानता है। पाँचों इन्द्रियों के विषय में उसे गहरी आसक्ति होती है। दिन रात भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। उसके क्रोधादि कषाय भी उग्र होते हैं और कषायों को वह अनुचित भी नहीं मानता है। उसका जीवन मोह व अज्ञान से युक्त तथा वासनामय होता है। वह परद्रव्यों पर तीव्र राग तथा द्वेष करता है।

२. तत्त्व में अश्रद्धा - बहिर्मुखी जीव को आत्मा, परमात्मा तथा उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों में रुचि नहीं होती है, श्रद्धा नहीं होती है। रत्नत्रय की साधना से भी उसे कोई लेना देना नहीं होता है।

३. गुणों के प्रति द्वेष - सद्गुणों और गुणीजनों के प्रति उसमें द्वेष रहता है। दूसरे शब्दों में, उसे सदाचरण, व्रत, तप, त्याग आदि के प्रति अरुचि रहती है। वह 'खाओ, पीओ और मौज करो' के सिद्धान्त वाला होता है।

४. आत्मा का अज्ञान - शरीर में शरीर से भिन्न आत्म तत्त्व रहा हुआ है, इस पर उसे विश्वास नहीं होता है, आत्मस्वरूप का उसे ज्ञान नहीं होता है। वह पाप का पक्षपाती होता है। बहिरात्मा की जीवनशैली वस्तुतः भौतिकवादी होती है। बहिरात्मा भी तीन प्रकार के होते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती आत्मा को तीव्र बहिरात्मा, सास्वादनगुणस्थानवर्त्ती आत्मा को मध्यम बहिरात्मा और मिश्रगुणस्थानवर्ती आत्मा को मन्द बहिरात्मा कहा गया है।

जैसे धतूरे का पान करने पर व्यक्ति को नशा चढ़ जाता है, उसे सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार बहिरात्मा पर मोह का नशा चढ़ा होता है, वह तत्त्व को अतत्त्व और अतत्त्व को तत्त्व मानता है, हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मानता है, सुदेव को कुदेव और कुदेव को सुदेव मानता है।

(६११) तत्त्वश्रद्धा ज्ञानं महाव्रतान्यप्रमादपरता च।
मोहजयश्च यदा स्यात् तदान्तरात्मा भवेद् व्यक्तः।।२३।।

<u>अनुवाद -</u> जब तत्त्वों पर श्रद्धा, ज्ञान, महाव्रत और अप्रमत्त दशा तथा मोह पर विजय प्राप्त होती है तब अंतरात्मा व्यक्त होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> बहिरात्मा जीव जब संसार में भौतिक-सुखों से थक जाता है, अथवा जब उसे सुख के बदले दुःख ही प्राप्त होता है और उसे भौतिकसुख की क्षणभंगुरता, पराधीनता आदि समझ में आती है, तब उसे संसार के प्रति निर्वेद उत्पन्न होता है। वह संसार से विमुख होने लगता है और उसकी आंतरिक-खोज प्रारंभ हो जाती है। ऐसे भयंकर संसार-समुद्र से उद्विग्न बनी जाग्रत आत्मा पूर्व प्रयत्न से संसाररूपी समुद्र को पार करने की इच्छा रखती है। सद्गुरु के समागम से, शास्त्रों के पठन से, उसका भेदज्ञान स्पष्ट होने लगता है। आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया में बहिरात्मा प्रगति करते हुए मिथ्यात्व की पकड़ को छोड़ देता है और अंतरात्मा बन जाती है। ऐसे अंतरात्मा को देह और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न है ऐसी प्रतीति होती है। वह देह में रहने पर भी साक्षीरूप में रहने का प्रयत्न करता है। साधक अंतरात्मा का आनंदघनजी ने भी स्तवनों और पदों के माध्यम से सुदंर चित्रण किया है वे भगवान सुमतिनाथ के स्तवन में अन्तरात्मा को अभिव्यक्त करते हुए कहते है- "कायादिक नो हो साखिधर रह्यो। अन्तर आतमरूप सुज्ञानि।"

शरीर आदि सारी प्रवृत्तियों में जो निर्लिप्त रहकर मात्र साक्षीरूप में ही रहता है वह अंतरात्मा कहलाता है। चतुर्थ गुणस्थानक से बारहवें गुणस्थान तक आत्मा अंतरात्मा कहलाती है। अंतरात्मा को हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का विवेक जाग्रत हो जाता है तथा संसार में रहते हुए भी वह अलिप्त भाव से जलकमलवत् निर्लेप होकर रहती है। अंतरात्मा संसार में रहते हुए भी उसके हृदय में संसार की स्थापना नहीं रहती है। उसका संसार में उसी प्रकार व्यवहार रहता है, जैसा कि धायमाता का दूसरों के बालक के साथ होता है। कहा भी गया है- "सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल। अन्तर भी न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल।।" सम्यग्दृष्टि बना अंतरात्मा प्रगति करते हुए अनुक्रम से अणुव्रत, महाव्रत गुरु की आज्ञा से

श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है तथा संयमपालन भी अप्रमत्त रूप से निरतिचार करने का प्रयास करता है। अप्रमत्त बनकर वह ऊपर की गुणश्रेणी पर आरोहण करता है। जो जीव समकित प्राप्ति के बाद परमात्मा बनने की दिशा में अंतर्मुख होकर अपना पुरुषार्थ प्रारंभ कर देती है ऐसी आत्माएँ अंतरात्मा कहलाती है। अंतरात्मा मोह पर विजय प्राप्त कर लेती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अंतरात्मा के तीन लक्षण बताएँ है- १. अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि होती है २. वह सदैव अष्टकर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयासरत रहती है और ३. सदैव अपने आत्मस्वरूप में रमण करती है। अंतरात्मा बने जीव स्वरूप का ध्यान करते हुए परद्रव्य से पराङ्मुख रहते हैं तथा सक्यक्त्वचारित्र का निरतिचार पालन करते हुए परमात्मपद को प्राप्त कर लेते है।

(६१२) ज्ञानं केवलसंज्ञं योगनिरोधः समग्रकर्महतिः।
सिद्धिनिवासश्च यदा परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः।।२४।।

<u>अनुवाद -</u> जब केवलसंज्ञावाला ज्ञान, योग का निरोध, समग्र कर्म का क्षय और सिद्धिनिवास प्राप्त होता है, तब परमात्मा व्यक्त होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप परमात्मा कहलाता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा है, प्रत्येक जीव में शिव है। उसका उद्घोष है "अप्पा सो परमप्पा", अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। सत्ता की दृष्टि से बीजरूप में प्रत्येक आत्मा में परमात्मस्वरूप रहा हुआ है किन्तु कर्मों के घनीभूत आवरण के कारण उसका शुद्ध स्वरूप अप्रकट है। कर्मों का क्षय होने पर उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने परमात्मस्वरूप के मुख्य चार लक्षण बताएं हैं, वे इस प्रकार हैं - १. केवलज्ञान २. योगनिरोध ३. समग्र कर्मों का क्षय ४. सिद्धिनिवास। ये लक्षण उन्होंने सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य में रखकर कहें हैं। तात्पर्य यह है कि जीव अपने परम विशुद्ध स्वरूप को प्रकट कर देह से रहित केवल आत्मस्वरूप सिद्धशिला पर रहे हुए हैं, वे ही आत्मा व्यक्त स्वरूप में परमात्मा कहलाते हैं। गुणस्थान की दृष्टि से देखा जाए, तो तेरहवें सयोगी केवली और चौदहवें अयोगी-केवली गुणस्थान पर रही हुई आत्मा परमात्मा है। जब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है, तब तक परमात्मस्वरूप प्रकट

नहीं होता है। जब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय-इन चार घातीकर्मों का क्षय न हो, तब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है। चार घातीकर्मों के क्षय के बाद अनंतचतुष्टय, अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख का प्रकटन हो गया है, वह अरिहन्त परमात्मा कहलाते हैं। जब तक आयुष्य पूर्ण नहीं हुआ हो और चार अधातीकर्मों का क्षय नहीं हुआ हो तब तक सदेह विचरते हुए परमात्मा हैं। अरिहन्त परमात्मा सर्वज्ञ, वीतराग और निर्विकल्प होते हैं। अन्य परम्परा की शब्दावली में हम इन्हे जीवन्मुक्त भी कह सकते हैं, क्योंकि अरिहन्त परमात्मा चारम शरीरी होते हैं, अर्थात् वे इस शरीर के पश्चात् अन्य शरीर को धारण नहीं करते है और चारों अघाती कर्मों के क्षय के पश्चात् सिद्धावस्था प्राप्त कर लेते हैं। केवलीभगवंत (अरिहंत परमात्मा) भी दो प्रकार के होते है- सामान्य कवेली और तीर्थंकर दोनो में अनंतचतुष्य की अपेक्षा से कोई भिन्नता नहीं है। दोनों ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य के स्वामी होते हैं, किन्तु तीर्थंकर में इतना विशेष होता है कि वे केवलज्ञान के पश्चात् चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं तथा धर्ममार्ग का पुनः प्रवर्त्तन करते हैं, अतः साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकरूप चतुर्विधसंघ की स्थापना करने के कारण वे तीर्थंकर कहलाते है। आत्म उपलब्धि की दृष्टि से सामान्य केवली और तीर्थंकर में कोई अन्तर नहीं है। केवली देहधारी होते हुए भी देहातीत होते हैं। देह और मन-वचन-काया के योग सहित होने के कारण वे सयोगी केवली कहलाते है। वे परमात्मस्वरूप हैं। आयुष्यपूर्ण होने के समय वे योग निरोध की, शैलेशीकरण की प्रक्रिया करते हैं और वे चौदहवें गुणस्थान पर अयोगीकेवली के रूप में होते हैं तथा अशरीरी सिद्धात्मास्वरूप सिद्धशिला पर उनका निवास होता है। वे अरूपी, निरंजन, निराकार, नित्य, सादि, अनंत-अवस्था में स्थित हो जाते हैं। जैसे बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर जन्म-मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है। जिस आत्मा ने अपने समस्त कर्मों का क्षय करके अव्याबाध सुख प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने केवलज्ञान की सम्पदा उपलब्ध कर ली है, जिनके जन्म-मृत्युरूप चक्र की गति रुक गई है, जिन्होंने सदा सर्वदा के लिए मुक्तावस्था, अर्थात् सत-चित् और आनंदमय शुद्धस्वरूप की उपलब्धि कर ली है, वे सिद्ध कहे जाते हैं।

(६१३) आत्ममनोगुणवृत्ती विविज्य यः प्रतिपदं विजानाति।
कुशलानुबंधयुक्तः प्राप्नोति ब्रह्मभूयमसौ।।२५।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मा और मन के गुणों की वृत्ति को जो प्रत्येक कदम पर विवेक के साथ जानता है, जो कुशल अनुबंध से युक्त है, वह इस ब्रह्मभाव को (परमात्मभाव को) प्राप्त करता है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने आत्मा के तीन प्रकार अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा बताने के पश्चात्, जीव परमात्मभाव को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है-यह बताया है। बहिरात्मभाव से निकलकर अंतरात्म की ओर गति करना और अंतरात्मा से विकास करते हुए। क्रमशः परमात्म-अवस्था को प्राप्त करना चाहिए। बहिरात्म से अंतरात्म बनकर परमात्मा बनने की साधना अत्यंत कठिन है। अनादिकाल से आत्मा कर्मों से घिरी हुई, विषय कषाय से ग्रस्त और अविवेक के पंजे में फँसी हुई है। देह और आत्मा की अभेद बुद्धि जीव में अनादिकाल से है, अतः इस विपरीत बुद्धि का त्याग करके भेदबुद्धि उत्पन्न करना कठिन है। इसके लिए आत्मा और मन के गुणों की वृत्तियों के विषय में आराधक को कदम-कदम पर विवेक की पहचान होना चाहिए। आत्मा का मुख्य गुण ज्ञानगुण है, परंतु पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण वह गुण आवरित रहता है, इसलिए आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में और कर्म की अशुद्ध धारा में अन्तर करना आना चाहिए। मन की गुणवृत्ति, अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्-इन तीनों में साधक को जाग्रतिपूर्वक हेय और उपादेय का विवेक करना चाहिए। राजसी और तामसी-प्रकृति का त्याग करके सात्त्विक गुणों को ही आश्रय प्रदान करना चाहिए। आत्मगुणों को प्रकट करने के लिए, दोषों के परिहार के लिए आत्मा को सदैव जाग्रत रहना चाहिए। इस प्रकार जाग्रत आत्मा पुण्यानुबंधी-पुण्य (कुशल अनुबंध) से युक्त होती है। इस प्रकार उच्चदशा प्राप्त करते हुए आत्मा परमात्मभाव को प्राप्त कर लेती है।

(६१४) ब्रह्मस्थो ब्रह्मज्ञो ब्रह्म प्राप्नोति तत्र किं चित्रम्।
ब्रह्मविदां वचसाऽपि ब्रह्मविलासाननुभवासः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> ब्रह्म में रहा हुआ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करता है, उसमें आश्चर्य क्या है? हम तो ब्रह्मज्ञानी के वचन से भी ब्रह्मविलास का अनुभव करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मस्वरूप को प्राप्त कर आत्मानंद का अनुभव सभी जीव को एक ही पद्धति से नहीं होता है। आत्मा में अनंत शक्ति रही हुई है, परंतु सभी जीवात्माओं के कर्मों के आवरण एक समान नहीं हैं। जैसे-जैसे कर्मों के आवरण हटते जाते हैं, वैसे-वैसे आत्मा के गुण अभिव्यक्त होते जाते हैं। प्रत्येक साधक का साधनाक्रम, साधनाकाल, गुरु का समागम, भिन्न-भिन्न हो सकता है। ब्रह्म, अर्थात् आत्मा या परमात्मा। जो आत्मा में स्थित है, आत्मस्वरूप में रमण करता है - ऐसे आत्मज्ञानी परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करे तो उसमें आश्चर्य क्या है ? जो साधना के विकासक्रम में अत्यंत आगे बढ़े हुए है वे स्वरूप का अनुभव करें, तो उसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, परंतु यहाँ लेखक स्वयं को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हमारे जैसे कितने ही ऐसे साधक भी है जो शुद्धस्वरूप का अनुभव करने वाले आत्मज्ञानी के वचनों को सुनकर ब्रह्मविलास का अनुभव करते हैं, परमानंद को प्राप्त करते हैं। आत्मज्ञानी के वचनों में भी अपूर्व बल होता है। मासतुष मुनि ने गुरु के एक वचन 'मा रूष् मातुष्' का चिंतन-मनन करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

(६१५) ब्रह्माध्ययनेषु मतं ब्रह्माष्टादशसहस्रपदभावैः।
येनाप्तं तत्पूर्णं योगी स ब्रह्मणः परमः।।२७।।

<u>अनुवाद -</u> ब्रह्म अध्ययन में अठारह हजार पदों के भावों द्वारा जो ब्रह्म कहा गया है, उसे जिसने पूर्ण प्राप्त कर लिया है, वह ब्रह्म का परमयोगी है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखने वाले परमयोगी कैसे होते है? उनके सर्वोत्कृष्ट आदर्श स्वरूप का चित्रण किया गया है। आचारांग सूत्र में ब्रह्म अध्ययन में साधु कैसे होना चाहिए ? उससे

सम्बन्धित विशेषताएँ कितने ही पदों द्वारा दर्शाई गई है। इन पदों का योग करने पर अठारह हजार पद होते है। इसलिए परम उत्कृष्ट मुनि को अठाइज्जेसु सूत्र में भी 'अठारस सहस्स शीलंग धारा' अर्थात अठारह हजार शील के अंगों को धारण करने वाले महामुनियों को वंदन किया गया है। इन सभी पदों के भावों को जो निरतिचार धारण करता है वह परमयोगी है। ३ योग X ३ करण X ४ संज्ञा X ५ इन्द्रिय X १० यतिधर्म X १० पृथ्वीकायिक आदि जीवों की अविराधना-इस प्रकार शील के १८००० भेद हैं। ऐसे आचाररूप ब्रह्मतत्त्व को, अर्थात् आत्मस्वरूप को जिस योगी ने पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया है, वह परमयोगी है। साधक के लिए उपासना का यह आदर्श है।

(६१६) ध्येयोऽयं सेव्योऽयं कार्या भक्तिश्च कृतधियाऽस्यैव।
अस्मिन् गुरुत्वबुद्धया सुतरः संसारसिंधुरपि॥२८॥

<u>अनुवाद -</u> बुद्धिमान् पुरुषों को यही मुनि ध्यान करने योग्य है, सेवन योग्य है, भक्ति करने योग्य है। उनमें गुरुबुद्धि रखने से संसार-सागर भी सरलतापूर्वक पार कर सकते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> आचारांगसूत्र में ब्रह्मभाव में रहे हुए मुनि के अठारह हजार शील के जो अंग बताए गए हैं, उनमें मोक्षगामी साधु का एक उत्कृष्ट कोटि का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की साधुता जहाँ दिखाई दे, वहाँ स्वतः शीश झुक जाता है। ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में निर्देश किया है कि तीनों योग और करण से दस यतिधर्म का पालन करने वाले, पूर्णतः अहिंसा का पालन करने वाले-पाँच इन्द्रियों के विजेता, आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह-इन चारों संज्ञाओं को जीतने वाले इस प्रकार अठारह शील के अंग को धारण करने वाले साधु भगवंत सेवा करने योग्य है, भक्ति करने योग्य हैं, बहुमानपूर्वक आदरने योग्य हैं, ध्येय हैं। उन्हें गुरुपद पर अवश्य स्थापित करना चाहिए, क्योंकि उनके दिव्य प्रभाव से, उनकी सेवा, भक्ति, बहुमान और समर्पण से आत्मशुद्धि होती है, निर्मलता आती है, मन की मलिनता दूर होती है और व्यक्ति सरलता से संसाररूपी सागर से पार हो जाता है। ऐसे परमयोगी हमारे लिए ध्येयरूप तब ही बनते हैं, जब उनमें रहे हुए लोकोत्तर गुणों की हमें प्रतीति हो, अतः ऐसे सुज्ञ सद्गुरु को

पहचानकर उनकी सेवा आदि द्वारा अपने भवभ्रमण का अंत करने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि सद्गुरु सन्मार्ग बताते हैं, भटके हुए राही को राह पर लाते हैं।

(८१७) अवलंब्येच्छायोगं पूर्णाचारासहिष्णवश्च वयम्।
भक्तया परममुनीनां तदीयपदवीमनुसरामः।।२६।।

<u>अनुवाद -</u> पूर्ण आचार को पालने में हम असमर्थ हैं, इसलिए इच्छा योग का अवलंबन लेकर परममुनियों की भक्ति द्वारा उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> अठारह हजार शील के अंगों को धारण करना यह मुनि-जीवन का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है, किन्तु उनका निरतिचार पालन करना अत्यंत दुष्कर है। यदि कोई सामान्य मुनि शास्त्रों के कहे हुए अठारह हजार शीलांग के पदों में से एक-एक लेकर स्वयं का निरीक्षण करे और निष्कपट रूप से उसका परिणाम प्रस्तुत करे तो वह कहेगा कि वहाँ तक हम अभी नहीं पहुँचे हैं, हम तो अभी बहुत पीछे हैं, तलेटी पर है। अठारह हजार शीलांग की बात एक ओर केवल पंचमहाव्रत के निरतिचार पालन के विषय में तथा क्रोधादि कषाय के विषय में अंदर झांककर देखे, तो स्वयं में कई अपूर्णता नजर आती है। अतः स्वयं की वास्तविक, दूषित आत्मदशा में ही संतोष मानकर बैठना नहीं है तथा निर्बलता को मात्र स्वीकार करके वहाँ रूकना भी नहीं है, आगे बढ़ना है। ध्येय तक पहुँचने के लिए पुरुषार्थ करना है। यदि स्वयं में इतनी योग्यता न हो तो ऐसे योग्य समर्थ मुनि की भक्ति कर उनके पीछे चलना चाहिये। जैसे एक आँख वाले व्यक्ति को पकड़ दस अंधे व्यक्ति भी रास्ता पार कर सकते है, उसी प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी जी सरलतापूर्वक, निष्कपटरूप से यह स्वीकार कर रहे हैं कि अठारह हजार शीलांग पूर्ण आचार का पालन करने के लिए हम असमर्थ हैं, परंतु जो उनका पालन करने में समर्थ हैं-ऐसे मुनियों के प्रति अत्यंत भक्ति, बहुमान धारण करके उनके मार्ग का अनुसरण करने की प्रबल इच्छा है। इच्छा-योग हो, तो सामर्थ्य-योग तक भी एक दिन अवश्य पहुँचा जा सकता है।

उपाध्याय यशोविजयजी जैसे आत्मसाधक, ज्ञानी महात्मा इस प्रकार निवेदन कर रहे हैं, तो सामान्य साधकों की बात ही क्या ?

(६१८) अल्पापि याऽत्र यतना निर्दंभा सा शुभानुबंधकरी।
अज्ञानविषव्ययकृद्विवेचनं चात्मभावानाम्।।३०।।

<u>अनुवाद -</u> इसमें (इच्छायोग में) यदि अल्प भी निष्कपट रूप से यतना की जाती है, तो वह शुभ अनुबंध करने वाली है। आत्मा के भावों का विवेचन अज्ञान-विष का नाश करने वाला है।

<u>**विशेषार्थ -**</u> इच्छायोग, अर्थात् ऐसे अठारह हजार शीलांग का पालन करने वाले मुनियों की आचार पालन की बातों को सुनने में रहे हों, उन मुनियों के प्रति भक्ति बहुमान हो, आदरपूर्वक उनकी आज्ञा पालन में तत्पर रहने की भावना हो और उनका अनुसरण करने में अल्प भी निष्कपट रूप से प्रयत्न हो, तो वह प्रयत्न शुभ अनुबंध करने वाला होता है। साधुत्व में कपट को अल्प भी अवकाश नहीं है। अगर साधु का बाह्य रूप भिन्न हो, बाह्य रूप से चारित्र का उत्कृष्ट पालन करता हो, किन्तु आन्तरिक-वृत्तियाँ दूषित हों, मन में शिथिलता हो, कपट करके अपने दूषणों को ढँक देता हो और भक्तों के मध्य बिल्कुल निर्मल निर्दोष प्रतीत होता हो, ऐसे व्यक्ति का शुभ अनुबंध नहीं होता है। ऐसे दंभ का त्याग करके मन-वचन और काया की एक समान वृत्ति रखकर निरतिचार साधुधर्म को पालन करने का प्रयत्न करता है, तो उसके अल्प प्रयास से भी शुभकर्म का ही बंध होता है। इससे उसके संयम का बल बढ़ता है एवं विशुद्ध आचरण करने की शक्ति प्राप्त होती है। इस तरह निर्दंभ यतना से बहिर्भाव चला जाता है तथा आत्मा की भिन्नता की स्पष्ट प्रतीति होती है। मोह और अज्ञानरूपी विष का नाश हो जाता है।

(६१९) सिद्धान्ततदंगानां शास्त्राणामस्तु परिचयः शक्त्या।
परमालंबनभूतो दर्शनपक्षोऽयमस्माकम्।।३१।।

<u>अनुवाद -</u> सिद्धान्त और उसके अंगरूप शास्त्रों का चाहे हमें (अपनी) भक्ति के अनुसार परिचय (ज्ञान) हो, परंतु हमारा आलंबनभूत तो यह दर्शनपक्ष, अर्थात् तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा ही है।

विशेषार्थ - ग्रंथकार ने स्वयं को लक्ष्य करके यह बात सभी के लिए कही है। इस पंचम विषमकाल, जिसमें बुद्धि, स्मरणशक्ति, संघयण आदि क्रमशः क्षीण होते जा रहे हैं, कौन इस प्रकार दावा कर सकता है कि वह सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत हो गया है ? साथ ही यह भी कौन कह सकता है कि वह सर्वथा शास्त्र के अनुसार चारित्र का उत्कृष्ट रूप से निरतिचार पालन करता हैं ? वस्तुतः, सिद्धान्त और उसके अंगरूप शास्त्रों का अभ्यास तो प्रत्येक साधक को अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार ही होता है। सभी का क्षयोपशम एक जैसा नहीं होता है। पुनः, इस काल में तो अति अल्प मति है, अतः अद्भुत स्मरण शक्ति को रखने वाले ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी स्वयं के लिए कह रहे हैं कि उनका अध्ययन, शास्त्रों का अभ्यास सम्पूर्ण नहीं है। तर्क, न्याय, दर्शन आदि विषयों में पारंगत, महान विद्वान स्वयं का अध्ययन सीमित बता रहे हैं तो अपने जैसे अल्पमति वाले का तो कहना ही क्या ? परंतु अभ्यास ही महत्त्वपूर्ण नहीं है अभ्यास से भी अधिक सिद्धान्त व शास्त्रों के ऊपर श्रद्धा महत्त्वपूर्ण है। ग्रंथकार कहते है कि स्वयं का जीवन भी शास्त्र के अनुसार नहीं है तो भी वे सिद्धान्त के पक्षधर है, श्रद्धापक्ष उनका मजबूत है। जब तक तत्त्वों पर श्रद्धा है तब तक आत्मविकास के पथ पर निरंतर प्रगति होती रहती है। वर्तमान काल में जीव शास्त्रों के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए असमर्थ होने पर भी तत्त्वों के ऊपर श्रद्धा मुख्य आलंबन रूप है। श्रद्धा से साधक पार हो जाता है। सत्य चाहे परिपूर्ण रूप जीवन में स्वीकारने में असमर्थ हो लेकिन सत्य के पक्षधर अवश्य होना चाहिए। उसके प्रति श्रद्धा अवश्य होना चाहिए।

(९२०) विधिकथनं विधिरागो विधिमार्गे स्थापनं विधीच्छूनाम्।
अविधिनिषेधश्चेति प्रवचनभक्तिः प्रसिद्धा नः।।३२।।

अनुवाद - विधि (मार्ग) को कहना, विधि के प्रति राग, विधि की इच्छा रखने वाले को विधिमार्ग में स्थापित करना और अविधि का निषेध करना-यह हमारी प्रसिद्ध प्रवचन-भक्ति है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में प्रवचन की प्रभावना-भक्ति किस-किस प्रकार कर सकते हैं ? यह बताया गया है। प्रवचनभक्ति सम्यग्दर्शन की शुद्धि का एक निमित्त-कारण है। ग्रंथकार स्वयं का अनुभव दर्शाते हुए कहते

हैं कि जिनेश्वर द्वारा कथित सिद्धान्तों के प्रति उनकी पूर्ण भक्ति तथा श्रद्धा है। वे विधि मार्ग का ही कथन करते है, शास्त्र से विपरीत कथन नहीं करते हैं। शास्त्रवचनों के प्रति हमें तीव्र अनुराग है, गहन रुचि है, अतः जो विधिमार्ग को जानने की इच्छा वाले है, जो शास्त्र द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलना चाहते हैं उनको वे विधिमार्ग बताते हैं, उस पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। क्या-क्या करने योग्य है और क्या करने योग्य नहीं है, किसी भी क्रिया को किस प्रकार सम्पन्न करना उसकी विधि क्या है ? आदि का वे शास्त्र के अनुसार निर्देश करते हैं तथा साथ ही अविधि का निषेध करते है। जो अविधि से क्रिया करते हैं, उनको वे प्रोत्साहित नहीं करते हैं, इस प्रकार प्रवचन की भक्ति करते हैं। श्रद्धा में, प्रवचन अर्थात् परमात्मा की वाणी पूर्ण रूप से बसी हुई है, किन्तु पूर्ण रूप से उसका पालन करने-रूप प्रवचन की भक्ति अभी उनमें अभिव्यक्त नहीं हुई है। उसको पूर्णतः जीवन में उतारने, उसके अनुसार चारित्र का पालन करने में वे असमर्थ हैं।

(६२१) अध्यात्मभावनोज्ज्वलचेतोवृत्त्योचितं हि नः कृत्यम्।
पूर्णक्रियाभिलाषश्चेति द्वयमात्मशुद्धिकरम्।।३३।।

<u>अनुवाद -</u> अध्यात्म भावना से उज्ज्वला चित्तवृत्ति के योग्य ऐसा हमारा कृत्य है। पूर्ण क्रिया की अभिलाषा है, ये आत्मा की शुद्धि करने वाले है।

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में स्वयं की जिनप्रवचन के प्रति भक्ति दर्शायी है। प्रस्तुत श्लोक में यह बताया है कि जिनप्रवचन के प्रति भक्ति-यह कार्य या कृत्य हमारे जैसे इच्छायोग वाले के लिए उचित ही है। अध्यात्मयोग और भावनायोग द्वारा निर्मल हुआ हमारा चित्त पुनः दूषित न हो, इसलिए इस प्रकार के कृत्य हमारे लिए करने योग्य है। उचित आचार का पालन अध्यात्म के प्रतिबन्धक तत्त्वों को दूर रखने वाला है। शास्त्र वचनानुसार विधि-कथन आदि जो कृत्य शक्य हैं, उन कृत्यों को हमें यथाशक्ति करने का प्रयास करना चाहिए। पूर्ण क्रियाविधि करने की शक्ति तो अभी हमारे अन्दर प्रकट नहीं हुई है। हम अभी सामर्थ्ययोग तक पहुँचे नहीं हैं, परंतु इस प्रकार पूर्ण क्रियाविधि करने की अभिलाषा मन में सतत रखना चाहिए और इस दिशा में हमारा पुरुषार्थ भी होना चाहिए। आत्मा अतीन्द्रिय होने से शास्त्र ही दीपक के समान हैं। शास्त्र वचनानुसार

यथाशक्य क्रिया का प्रारंभ कर देना और संपूर्ण क्रिया करने की भावना या अभिलाषा रखना - इस प्रकार शुभप्रवृत्ति का आरंभ और पूर्ण क्रिया की अभिलाषा ये दो जहाँ पर हो वहाँ तुरंत आत्मा की शुद्धि होने लगती है तथा शास्त्रवचनों का चिन्तन करने से हेय और उपादेय का विवेक विशद बनता जाता है और राग-द्वेष कम होते जाते हैं। सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव का चिंतन करना, गुणाधिक या पुण्याधिक जीवों को देखकर शास्त्रवचनों का अनुसरण करते हुए इर्ष्या भाव को मन में नहीं लाना अपितु उनकी प्रशंसा करना, प्रमोद गर्भित चिन्तन करना, हीन गुण या अनाराधक पापी जीव को देखकर शास्त्रानुसारी, उपेक्षा गर्भित चिन्तन करना - 'जिसकी जैसी भवितव्यता' ऐसा विचार करना, परंतु तिरस्कार या घृणा के विचार नहीं करना आदि-इन अध्यात्म की भावनाओं का भाने से चित्त निर्मल बनता है।

धर्मानुष्ठान के क्षेत्र में आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले जीव को बिना प्रमाद किए जितना शक्य हो सके, उतना करना तथा जो आचार या क्रियाविधि करने में समर्थ न हो, तो भी उसे करने की सतत अभिलाषा मन में होना चाहिए, उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखना चाहिए।

(६२२) द्वयमिह शुभानुबंधः शक्यारंभश्च शुद्धपक्षश्च।
अहितो विपर्ययः पुनरित्यनुभवसंगतः पन्थाः।।३४।।

<u>अनुवाद -</u> शक्य का आरंभ और शुद्ध का पक्ष- ये दो यहाँ शुभ अनुबंधरूप हैं तथा इससे विपरीत अहितकर है। यह अनुभव-संगत पंथ है।

<u>विशेषार्थ -</u> मानवजीवन एक प्रयोगशाला है, जिसमें आत्मतत्त्व की खोज करना है तथा अनादिकाल के कुसंस्कारों को दूर करना है। यह जीवन अत्यंत संक्षिप्त है, अतः एक भी क्षण का प्रमाद किए बिना साधक को आत्मसाधना में तत्पर हो जाना चाहिए। जिस प्रकार सांसारिक-प्रवृत्ति में ध्येय को प्राप्त करना हो, जैसे-करोड़पति बनने का लक्ष्य हो या डॉक्टर या इंजीनियर बनने का लक्ष्य हो, तो व्यक्ति प्रमाद का त्याग करके उसके अनुरूप दिन-रात पुरुषार्थ करता है, अनेक कष्टों को सहन करता है। उसी प्रकार जिसे मोक्ष की साधना में प्रगति करना हो तो उसे ध्येय को लक्ष्य में रखकर यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रारंभ कर देना चाहिए और जो शुद्ध आचरण

करने में असमर्थ हो तो भी शुद्ध का पक्ष ही लेना चाहिए। 'निश्चय राखी लक्ष्य मा पाले जे व्यवहार' इस प्रकार आचरण से साधक मिथ्या मार्ग पर जाने से रुक जाता है। शक्य का आरंभ और शुद्ध का पक्ष ये दो बाते शुभ कर्म का अनुबंध कराती हैं। यदि उपदेशक भी अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँचा है, सम्पूर्ण आचरण का निरतिचार पालन नहीं भी करता है, तो भी उपदेश तो शुद्ध पक्ष का ही प्रदान करना चाहिए। जो इससे विपरीत मार्ग अपनाता है, अर्थात् अविधि, अशुद्ध मार्ग का उपदेश देता है अविधि को प्रोत्साहन देता है, वह स्वयं का अहित करता है, साथ ही अन्य श्रोताओं का भी अहित करता है।

श्रद्धा और अनुभव द्वारा मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत श्लोक में शक्य का आरंभ और शुद्ध का पक्ष ग्रहण करने का जो निर्देश दिया गया है, वह अनुभवसिद्ध है।

(६२३) ये त्वनुभवाविनिश्चितमार्गाश्चारित्रपरिणतिभ्रष्टाः।
बाह्यक्रियया चरणाभिमानिनो ज्ञानिनोऽपि न ते।।३५।।

<u>अनुवाद -</u> जो अनुभव द्वारा मार्ग का निश्चय नहीं कर सकने के कारण चारित्र के परिणाम से भ्रष्ट हुए हैं और बाह्य-क्रिया द्वारा चारित्र के अभिमान वाले हैं, वे ज्ञानी भी नहीं हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में आत्मा के अनुभव की मुख्यता को दर्शाया गया है। अनुभव और श्रद्धा द्वारा ही ज्ञान और क्रिया फलित होती है। जिन्होंने स्व अनुभव के द्वारा अध्यात्ममार्ग का, मोक्षमार्ग का निश्चय नहं। किया, अर्थात् संसार सागर से तरने के लिए उचित आराधना नहीं की-ऐसे व्यक्ति चारित्र के परिणाम से भ्रष्ट हो जाते हैं। वे कितनी ही धार्मिक-क्रियाएँ मात्र बाह्य-दृष्टि से ही एवं उसके मर्म को समझे बिना करते रहते हैं तथा उसके बल पर संयमी होने का अभिमान करते हैं, परंतु वे स्वानुभव के अभाववश सच्चे संयमी नहीं हैं एवं सच्चे ज्ञानी भी नहीं हैं। आत्मानुभव के बिना वास्तविक ज्ञानी नहीं बन सकते हैं। क्रिया के साथ-साथ आत्मा को उन भावों से भावित करना आवश्यक है। ज्ञान का भी स्वानुभव द्वारा ही आनंद लिया जा सकता है। जैसे जिस व्यक्ति को जल-विहार का या तैरने का आनंद प्राप्त करना हो, तो मात्र तैरने का ज्ञान

प्राप्त कर लेने से वह उस आनंद का अनुभव नहीं कर सकता है, तैरने का वास्तविक आनंद तो उसे तब ही प्राप्त होगा, जब वह स्वयं पानी में तैरकर उसका अनुभव करे, उसी प्रकार स्वयं आत्मानुभव प्राप्त करके ही वास्तविक आनंद को प्राप्त कर सकते हैं।

(६२४) लोकेषु बहिर्बुद्धिषु विगोपकानां बहिष्क्रियासु रतिः।
श्रद्धां विना न चैताः सतां प्रमाणं यतोऽभिहितम्।।३६।।

<u>अनुवाद -</u> बाह्य-बुद्धि वाले लोगों में दांभिकों की बाह्य-क्रियाओं के प्रति राग होता है, सत्पुरुषों को ये (बाह्य क्रियाएँ) श्रद्धा के बिना प्रमाणरूप नहीं होता है, क्योंकि शास्त्र में इसके विषय में निम्नानुसार कहा गया है।

<u>विशेषार्थ -</u> संसार में कितने ही लोग बाह्य-बुद्धि वाले बालक जैसे होते हैं। जैसे बालक कोई भी आकर्षक वस्तु देखता है, तो उसको ग्रहण करने के लिए दौड़ता है, उसी प्रकार बालबुद्धि वाले जीव भी बाह्य-क्रियाओं, चेष्टाओं, वेश आदि देखकर उनके प्रति आकर्षित हो जाते हैं, उनके रागी हो जाते हैं। नाटक में जैसे बहुरुपिए का रूप, उसकी विभिन्न वेशभूषाएँ, चेष्टाएँ, अतिशयोक्ति से युक्त अनेक हँसाने वाली भंगिमाएं, चमत्कारिक घटनाओं को, उनकी क्रियाओं को देखकर सामान्य लोगों को उनमें रस उत्पन्न होता है, आश्चर्य होता है। उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी इस प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। कई लोग बाह्य क्रियाकांड में चुस्त होते हैं किन्तु अंदर से उनमें श्रद्धा नहीं होती है। उनकी क्रियाओं को, वेश को देखकर सामान्य बुद्धि वाले लोग मोहित हो जाते हैं। परंतु जो सूक्ष्म बुद्धि वाले सत्पुरुष है वे उन क्रियाओं के प्रति आकर्षित नहीं होते हैं। इस प्रकार की श्रद्धाविहीन क्रियाओं को महापुरुषों ने प्रमाणभूत नहीं माना, क्योंकि वे मोक्ष की साधनरूप नहीं बनती हैं।

(६२५) बालः पश्यति लिंगं मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम्।
आगमतत्त्वं तु बुधः परीक्षते सर्वयत्नेन।।३७।।

<u>अनुवाद -</u> बालक लिंग (बाह्य-चिह्न) को देखते हैं, मध्यम बुद्धिवाला आचरण का विचार करता है, परंतु ज्ञानी तो सभी प्रयत्नों द्वारा आगमतत्त्व की परीक्षा करते हैं।

<u>विशेषार्थ</u> - प्रस्तुत श्लोक को श्री हरिभद्रसूरी द्वारा रचित षोडशक नामक ग्रन्थ से ग्रंथकार ने लिया है। प्रथम सद्धर्मपरीक्षाषोडषक का यह दूसरा श्लोक है। साधु-संन्यासी आदि के विषय में सभी का अभिप्राय एक समान नहीं होता है, क्योंकि सभी अपनी-अपनी बुद्धि, ज्ञान और अनुभव के आधार पर सामने वाले व्यक्ति की परीक्षा करते हैं। कुछ लोगों की बुद्धि अल्प होती है। जिसके पास सार-असार, गौण-प्रधान, उत्सर्ग-अपवाद आदि मार्ग को समझने की विवेक-दृष्टि नहीं होती है, वह बाल-जीव कहलाता है। उसे धर्म करने की इच्छा, गुरुभक्ति करने की इच्छा होने पर भी वह मुख्य रूप से बाह्य वेश (ओघा, पात्रा, मोरपींछ, जटा, भगवा वस्त्र) को ही धर्मस्वरूप में देखता है। धर्म के रूप में बताई गई वेशभूषा आदि को धारण करने वाले सभी साधु संन्यासियों को वह समान रूप से वंदनीय, पूजनीय मानता है तथा सभी की समान रूप से भक्ति करता है। उनके आचरण कैसे है, वे संयम का पालन करते है या नहीं आदि वह कोई विचार नहीं करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि अविकसित है। 'जितने पत्थर उतने देव' इस उक्ति को बालजीव चरितार्थ करता है। उसकी मान्यता के वेश में उसे जिस-जिस व्यक्ति के दर्शन होंगे वह सभी को कुछ भी विचार किए बिना, समानरूप से वंदन करता है। किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना बालजीव सभी की उपासना करता है। तात्पर्य यह है कि बालजीव को यदि धर्म की अभिलाषा है तो उसकी दृष्टि में बाह्यवेश ही धर्मों का प्रमाण-पत्र बनता है। अतः उसकी धार्मिक क्रिया भी अविवेक से युक्त होती है। जो बालजीव नहीं है मध्यम कक्षा के जीव है वे साधु के वेश के साथ-साथ उनका आचार भी देखते हैं। साधु अपने व्रत-निय में कितना दृढ़ है ? उसका खान-पान आचारों का पालन शुद्ध है या नहीं, आदि के आधार पर वह साधु की भक्ति, बहुमान, सेवा आदि करता है। क्योंकि उसे पास सार-असार, हेय-उपादेय आदि को समझने की मध्यम कक्षा वाली विवेक दृष्टि विद्यमान है। परंतु उत्सर्ग अपवाद के मार्ग के सम्बन्ध में निर्णय करने की शक्ति उसकी विकसित नहीं है। बाह्य सदाचार की जितनी सूक्ष्मता सामने वाले व्यक्ति में उपलब्ध होती है उतनी उसके प्रति मध्यम बुद्धि धर्म परीक्षक का आदर-बहुमान बढ़ता जाता है। तात्पर्य यह है कि मध्यमबुद्धि धर्म परीक्षक के लिए आचारों की सूक्ष्मता धर्म को मापने का थर्मामीटर बनती है किन्तु

जो प्राज्ञ है, पण्डित है ऐसे जीव के पास विशिष्ट प्रकार की विवेकदृष्टि विकसित होने के कारण साधु का वेश, आचार पालन के साथ-साथ उसकी आंतर परिणति कैसी है यह भी देखता है। बाह्य वेश या बाह्य सदाचार ही धर्म नहीं है। परंतु त्रिकालबाधित सैद्धांतिक तारक तत्त्व यही धर्म है और उसको जिसने अच्छी तरह आत्मसात् किया है वही वास्तव में धर्मी है। बाह्य आडम्बर का धर्म के साथ साक्षात् सम्बन्ध जोड़ने की भूल विशिष्ट विवेक से सम्पन्न धर्मपरीक्षक कदापि नहीं करता है। कितने ही मिथ्यात्वी साधु संन्यासी मात्र वेशधारी होते है, यम, नियम का पालन बराबर करते है, लोगो में पूजनीय होते है परंतु सत् शास्त्रों के बोध को यदि प्राप्त नहीं किया हो तो इस बात की प्रतीति प्राज्ञ पुरुषों को हो जाती है। जैसे स्वर्ण की परीक्षा बालक नहीं कर सकते है उन्हें तो जहाँ पीला-पीला दिखाई देगा उस धातु को स्वर्ण मान लेंगे परंतु अनुभवी स्वर्णकार तो कस, छेद, ताप, ताड़न आदि द्वारा स्वर्ण की परीक्षा करता है उसी प्रकार प्राज्ञ पुरुष भी साधु वेश को धारण किए हुए साधकों की आगमतत्त्वों की रुचि, ज्ञान, आत्मा की अनुभूति किस प्रकार की है आदि को वह विविध परीक्षा करके समझ लेता है। इस परीक्षा में पास होने वाले साधु ही बाह्य-वेश को शोभित करते हैं। कड़वी तुंबी को ६८ तीर्थों में स्नान कराया जाए, तो भी उसकी कटुता दूर नहीं होती है, सर्प मात्र केंचुली का त्याग कर देने से निर्विष नहीं हो जाता है। उसी प्रकार परिवार आदि का त्यागकर देने से व्यक्ति तात्विक रूप से धर्मी या साधु नहीं हो जाता है। बाह्य ग्रंथि (परिग्रह) के त्याग रूप बाह्य लिंग तो पशु आदि के पास भी है। जहाँ-जहाँ बाह्य साधुवेश हो वहाँ-वहाँ अवश्य तात्त्विक धर्म की उत्पत्ति हो ही-ऐसा नियम नहीं है, अतः विवेकी जीव परीक्षा करके ही सत्य का निर्णय करते हैं।

(६२६) निश्चित्यागमतत्त्वं तस्मादुत्सृज्य लोकसंज्ञां च।
श्रद्धाविवेकसारं यतितव्यं योगिना नित्यम्।।३८।।

<u>अनुवाद -</u> इसलिए आगमतत्त्व का निश्चय करके तथा लोकसंज्ञा का त्याग करके योगियों को हमेशा श्रद्धा और विवेक-पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में आत्मविकास की साधना करने वाले योगियों को निर्देश दिया गया है। साधना के मार्ग में आगमतत्त्व की दृष्टि से, मोक्षमार्ग की दृष्टि से कितनी ही बार ऐसे प्रश्न या परिस्थिति उपस्थित हो जाती हैं, जो साधक को असमंजस की स्थिति में डाल देती हैं। संसारी-लोग प्रायः बहिर्मुखी होते हैं। कितने ही लोगों की धार्मिक क्रियाएं भौतिक-सुखों की प्राप्ति हेतु होती हैं। गृहस्थ-जीवन का त्याग करके पंचमहाव्रतों की आराधना करने वाले योगियों का एक ही ध्येय होता है, एक ही लक्ष्य होता है- वह मोक्षमार्ग का है, जबकि पद, प्रतिष्ठा, पैसा और परिवार के पीछे भागने वाले सामान्य गृहस्थ के जीवन मे रही हुई धम-क्रियाओं का ध्येय भिन्न होता है। साधु की अपेक्षा गृहस्थ बहुमती होते है। इसलिए धर्म क्रिया के सम्बन्ध में कभी-कभी साधु भी अपवाद रूप या संयोगवश गृहस्थ नेताओं के इशारे पर चलने लगते हैं। साधु को हमेशा लोकसंज्ञा का त्याग करना चाहिए। उन्हें लोगों की निंदा आदि की चिंता न करते हुए सत्यमार्ग पर अडिग रहना चाहिए। स्वयं का मार्ग या अभिप्राय सत्य है या नहीं-यह जानने के लिए उसे आगमग्रंथों का आश्रय लेना चाहिए। लाभ और हानि का विचार-यह आंतरविशुद्धि या भावचारित्र का कार्य है। जिसके पास भावसंयम की परिणति है, वह व्यक्ति कभी-भी अति नुकसान उठाकर अल्प लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता है। संयम के आचारों का पालन भी विवेक और श्रद्धापूर्वक करता है। शासन की अवहेलना हो- ऐसी कोई भी प्रवृत्ति वह नहीं करता है।

(६२७) निंद्यो न कोऽपि लोकः पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिनिश्चन्त्या।
पूज्या गुणगरिमाढ्या धार्यो रागो गुणलवेऽपि।।३६।।

अनुवाद - लोक में किसी की भी निंदा नहीं करना, पापी की भी भवस्थिति का विचार करना, गुणों के गौरव से युक्त को पूजनीय मानना, गुणों की अल्पता वाले के प्रति भी राग (प्रेम) धारण करना चाहिए।

विशेषार्थ - जिनमें भावचारित्र परिणत होता है- ऐसे विशिष्ट योगियों को आत्मगुणों का आस्वादन होने के कारण वे कभी भी साधु-साध्वी, श्रावक या अन्य किसी की भी चिंता निंदा, गर्ह्य या द्वेष आदि नहीं करते हैं। अमृत के घूंट पीने वाले को कभी भी विष की डकार नहीं आती है। वस्तुतः उनमें

ज्ञानियों की निंदा करने का स्वभाव ही नहीं होता है। इस जगत के जीव गुणों और दोषों से युक्त हैं। प्रत्येक जीव में कोई-न-कोई दोष दिखना संभव है। वीतराग के सिवाय सभी जीवों में अल्प या अधिक मात्रा में गुण और दोष-दोनों रहे हुए हैं। कोई व्यक्ति गुलाब के पौधे पर भी काँटे ही देखता है और किसी व्यक्ति को कांटों में भी गुलाब ही नजर आता है। ज्ञानी की दृष्टि विशुद्ध होती है। अन्य के दोषों को देखना, निंदा करना आदि सामान्य व्यक्ति के लक्षण है। सामान्यजन को निंदारस अत्यंत प्रिय होता है। सामान्य व्यक्ति को अन्य के दोष देखने में आनंद आता है। दूसरों के दोषों को देखकर उसे यह अनुभव होता है कि वह स्वयं भी बहुत अधिक निम्न कक्षा का नहीं है, यह जानकर वह खुश होता है। परंतु ज्ञानीजन गुणों को ही देखते है, "दोषवादे च मौनं", यह उनकी स्वाभाविक प्रकृति होती है। वे किसी दोष का कथन नहीं करते हैं। अपने में ही रमण करते हैं।

इस संसार में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं। ज्यादातर लोग पाप की अभिरुचि वाले होते हैं। कई लोग चोरी, हत्या, डकैती, अत्याचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, जुआ, शराब, शिकार आदि कई प्रकार के पाप करते हैं। सामान्यजन उन्हें देखकर उनसे घृणा करते हैं, किन्तु ज्ञानीजन का तो यह सिद्धान्त होता है 'पाप से घृणा करो पापी से नहीं' ऐसा तात्त्विक चिंतन जिनके पास है वे संसार के स्वरूप को समझते हैं। वे तो पानी जीव के कर्म विपाक का, भवस्थिति का ही विचार करते हुए उनके प्रति तिरस्कार भाव नहीं रखते हैं। उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखते हैं। शान्तसुधारस में कहा गया है कि -

'पश्यसि किं न मनः परिणामं, निजनिजगत्य नुसारं रे। येन जनेन यथा भवितव्यं, तद्भवता दुर्वारं रे।' जिस मनुष्य की जैसी गति होती है, वैसी ही मति होती है। इस बात को समझना चाहिए। जिन मनुष्य की जो भवितव्यता है उसको बदलना अत्यंत मुश्किल है। प्रत्येक जीव को इस भव में या पर भवों में अपने दुष्कृत्यों के फलों को भोगना है। अतः ज्ञानीजन में तो पापी जीवों के प्रति करुणा का भाव आता है। कहा जाता है कि भगवान महावीर पर ६ माह तक उपसर्गों की झड़ियाँ लगाने वाला संगम देव जब जाने लगा तो भगवान महावीर के नयन करुणा के अश्रु से भीने हो गये कि

इस जीव ने मेरे निमित्त कितने कर्मों का बन्धन कर लिया है ? इस प्रकार सभी जीवों के कर्मस्थिति, भवितव्यता का विचार करके किसी के प्रति तिरस्कार का भाव नहीं रखना चाहिए।

संसार में कई लोग गुणानुरागी होते है और कई लोग गुणों के द्वेषी होते हैं। स्वार्थ, अभिमान, ईर्ष्या आदि के कारण कई व्यक्ति में दूसारों के गुणों को स्वीकार करने का भाव ही नहीं आता है तो वे गुणों की अनुमोदना कहाँ से करे ? परंतु ज्ञानीजन गुणों की अनुमोदना करता है, गुणवान के प्रति पूज्यभाव रखता है। गुणों की अनुमोदना करने से, गुणानुरागी बनने से व्यक्ति में स्वयमेव वे गुण आने लगते हैं। जो गुण अपने में नहीं है किन्तु जिस किसी में भी वे गुण दिखाई दे तो उनके प्रति अत्यंत आदर भाव रखना चाहिए, उनके गुणों की प्रशंसा करना चाहिए क्योंकि उन गुणों को उसे भी पाना है। गुणानुरागी तत्त्वज्ञानी का आभूषण है, लक्षण है।

गुणवानों के प्रति पूज्यभाव होना ही चाहिए, परंतु अनेक दोषों से घिरे हुए व्यक्ति में भी कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है, अतः उस गुण को देखकर उसके प्रति भी प्रेम रखना चाहिए। अल्पांश गुण के प्रति भी प्रीति होना चाहिए। उसके प्रति प्रेम रखने से और उस गुण की प्रशंसा करने से उस व्यक्ति में भी गुणों का प्रादुर्भाव होना संभव है। गुणानुराग से राग-द्वेष अति अल्प हो जाते हैं, किसी के प्रति तिरस्कार के भाव नहीं आते हैं। श्रीकृष्ण को दुर्गन्धयुक्त मरी हुई कुतिया में भी उसकी सुन्दर दंतपंक्ति ही दिखाई दी, इसलिए घृणा का भाव लाए बिना वे उसके निकट पहुँचकर उसकी दंतपंक्ति को निहारने लगे। गुणदृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति को घूरे में भी एकाध पुष्प पड़ा हो, तो वह दिखाई देगा और वह घूरे की उपेक्षा कर देगा।

(६२८) ग्राह्यं हितमपि बालादालापैर्दुर्जनस्य न द्वेष्यम्।
त्यक्तव्या च पराशा पाश इव संगमा ज्ञेयाः।।४०।।

<u>अनुवाद -</u> बालक के पास से भी हितवचन को ग्रहण करना, दुर्जन के प्रलाप से द्वेष नहीं करना, पर की आशा का त्याग करना और संयोग को बंधन जैसे जानना चाहिए।

<u>**विशेषार्थ -**</u> यह आवश्यक नहीं है कि अधिक आयु वाले व्यक्ति हमेशा बुद्धिमान् हों, समझदार हों और बालक सदा नासमझ हो। कई बार छोटे-छोटे बालक भी इतनी बड़ी बात कह जाते हैं, इतनी महान् बात को सहज में ही अभिव्यक्त कर दते हैं, इतने अनुभव की बात कह देते हैं कि बड़े-बड़े व्यक्ति के दिमाग में भी वह बात नहीं आती है। ज्ञानीजन एक बालक से भी यदि कोई हितवचन सुनने को मिले, तो उसे ग्रहण कर लेते है। उन्हें जहाँ कहीं हितकारी, कल्याणकारी शिक्षा मिले, वे उसे तुरंत ग्रहण कर लेते है। ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि अभिमान का त्याग करके जहाँ कहीं हितकारी वचन सुनने को मिलें, उन्हें नम्रतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। जिस तरह माली फूलों को चुनता है उसी तरह गुणों को चुन-चुनकर ग्रहण करना चाहिए। दूसरी ओर, कोई यदि निंदा करे, दुष्टवचन बोले, असभ्य व्यवहार करे तो उसके प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए, माध्यस्थभाव से उसके प्रति करुणा का भाव रखते हुए उसके भी हित की कामना करना चाहिए। कुत्ता यदि भौंकता है, तो उसके साथ हम नहीं भौंकते है, यदि वह काटता है, तो उसे काटने के लिए हम नहीं दौड़ते हैं, इतना विवेक तो सामान्यजन भी रखते हैं, किन्तु ज्ञानीजन तो दुर्जनों द्वारा किए गए दुर्व्यवहार के प्रति भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते हैं।

पर की आशा नहीं रखना चाहिए। ज्ञानीजन अपनी इच्छाओं को सीमित रखते हैं। स्वयं को जो मिला, उसी में संतोष रखते हैं। वे तृष्णा के त्यागी होते हैं। परद्रव्य के संयोग से दुःख है ऐसा वे मानते हैं। स्वयं की देह को भी परद्रव्य के रूप में ही स्वीकारते हैं। देह का भी उन्हें ममत्व नहीं होता है। परद्रव्य या परव्यक्ति कभी सुख प्रदान नहीं कर सकता है। सुख तो स्वयं के अंदर ही रहा हुआ है- इस वास्तविकता को जानना चाहिए।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने ग्रंथ ज्ञानसार में भी कहा है -"परस्पृहा महादुःखम् निस्पृहत्त्वम् महासुखम्।" दूसरों की आशा रखना, अपेक्षा रखना ही सबसे बड़ा दुःख है और किसी भी व्यक्ति या वस्तु की चाह नहीं रखना आकांक्षा नहीं रखना ही सबसे बड़ा सुख है। जिसने इस सुख व दुःख की परिभाषा को जीवन में उतार लिया है वह व्यक्ति कभी भी पर की आशा नहीं रखता है। 'पर की आशा, सदा निराशा'। आनंदघनजी कहते हैं कि आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञान सुधारस पीजे। इसलिए ग्रंथकार दुःख के मार्ग से मुकत होने के लिए पर की आशा का त्याग करने का निर्देश देते हैं। ग्रंथकार ने आत्मविकास का एक और उपाय बताया है- संयोग बंधन जैसे जानना। अनादि काल से जन्म मरण करते हुए व्यक्ति ने अनंत माताओं की कुक्षी से जन्म लिया है, अनंत पिता के कुल में उत्पन्न हुआ, अनंत कुटुम्बों से, मित्रों से सम्बन्ध स्थापित कर लिया किन्तु कोई भी परभव में साथ नहीं आते है, उनके पूर्व किए गए पाप जरूर साथ में आते है। अतः सांसारिक सम्बन्धों को बढ़ाने की, मित्रजनों की मंडली में विस्तार करने की उत्सुकता नहीं होना चाहिए। जितने सांसारिक सम्बन्ध बढ़ते जाते है उतने ही कर्मबन्धन अधिक होते है। अतः यथाशक्य असंग रहने का प्रयत्न करना चाहिए और एकत्व भावना का विचार करना चाहिए। जो एक में आनंद प्राप्त होता है वह संग में नहीं। आध्यात्मिक विकास में क्रमशः आगे बढ़ते हुए एक ऐसी भूमिका आती है कि जहाँ संग में असंग रहने की कला या विवेक प्राप्त होता है। किन्तु साधक दशा में तो असंगत्व का लक्ष्य रखना चाहिए। कंगनों की आवाज से परेशान हुए नमिराज ने जब जाना कि एक-एक कंगन के रह जाने पर आवाज आना बंद हो गई तो इसी से उन्होंने बोध प्राप्त कर लिया और संयोग सम्बन्धों को दुःख का मूल जानकर उनका त्याग कर दिया। अतः संयोग को बंधनरूप जानकर उनसे मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

(६२६) स्तुत्या स्मयो न कार्यः कोपोऽपि च निन्दया जनैः कृतया।
सेव्या धर्माचार्यास्तत्त्वं जिज्ञासनीयं च।।४१।।

<u>अनुवाद -</u> अन्य लोगों द्वारा की गई स्तुति के प्रति गर्व नहीं करना और निंदा के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। धर्माचार्य की सेवा करना और तत्त्व की जिज्ञासा रखना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> आत्मप्रशंसा जिस प्रकार अहितकर है, उसी प्रकार अन्य के द्वारा की गई अपनी प्रशंसा से खुश होना, अभिमान धारण करना अत्यंत अहितकर है। दूसरों के द्वारा की गई प्रशंसा असजग व्यक्ति के लिए सूक्ष्म उपसर्ग के समान है, धीमे जहर के समान है, अतः स्वयं की जहाँ स्तुति (प्रशंसा) हो रही हो, वहाँ से दूर चले जाना चाहिए, अर्थात् उस स्थान का त्याग कर देना चाहिए। अपनी प्रशंसा सुनकर खुश नहीं होने वाले बहुत ही कम व्यक्ति होते हैं। सामान्यजन तो अपनी प्रशंसा सुनने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं, प्रशंसा सुनकर गर्व से फूले नहीं समाते हैं, अतः प्रशंसा मारक तत्त्व के समान है, इसलिए ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में सलाह दी है कि आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति को स्वप्रशंसा सुनकर अभिमान नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार स्वप्रशंसा सुनकर अभिमान जाग्रत होता है, उसी प्रकार स्वनिंदा सुनकर द्वेष जाग्रत होता है, परंतु साधक को सजग रहकर, अपनी निंदा सुनकर क्रोधित नहीं होना चाहिए, उदासीन-भाव धारण करना चाहिए। पू. राजेन्द्रसूरीश्वरजी ने एक सज्झाय में निंदक के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए कहा है - 'निंदक तु मत मरजे रे मारी निंदा करेगा कुण, धोबी धोवे लुगडा ज्युँ निंदक धोवे मैल", अर्थात् निंदा सुनकर निंदक के प्रति द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि धोबी की तरह निंदक भी मैल को धोता है। यदि निंदक द्वारा की गई निंदा, उसके द्वारा कथित दोष यदि वास्तव में विद्यमान है, तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि दोष नहीं है, तो यह चिंतन करना चाहिए कि संसार का स्वरूप ही ऐसा है। यहाँ वीतराग परमात्मा को भी नहीं छोड़ा गया, उनके प्रति भी द्वेष धारण करने वाले, उनकी निंदा करने वाले व्यक्ति भी उपस्थित थे, तो मैं तो मामूली साधक हूँ- इस प्रकार निंदक के प्रति द्वेषभाव से बचना चाहिए।

साधक को धर्माचार्य की सेवा करना चाहिए। जो सच्चे साधक हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, जगत् के सभी जीवों के प्रति करुणा का भाव धारण किए हुए हैं ऐसे हितेच्छु आचार्य के प्रति सेवा, समर्पण व भक्ति का भाव रखना चाहिए। बहुमान पूर्वक उनकी आज्ञा को धारण करना चाहिए। इस प्रकार सेवा सुश्रुवा करने से प्रमाद दूर होता है। साधना में उत्साह का वर्धन होता है, प्रगति होती है तथा धर्माचार्य का मार्गदर्शन प्राप्त होता रहता है।

साधकों को तत्त्व जानने की जिज्ञासा रखना चाहिए। तत्त्वरसिक लोग दुनियाँ में अत्यंत अल्प है। परंतु तत्त्व जिज्ञासा व्यक्ति को जाग्रत रहने पर बहुत उच्च्च भूमिका तक ले जाने में सहायक रूप होती है। छःद्रव्य, नवतत्त्व, कर्मसिद्धान्त, गुणस्थान स्याद्वाद इत्यादि तत्त्वों की इतनी सूक्ष्म मीमांसा पूर्वाचार्यों द्वारा की गई कि उसे स्पष्टरूप से जानने के लिए समझने के लिए जिज्ञासा का होना अत्यंत आवश्यक है। जिज्ञासा होने पर व्यक्ति को सत्य का मार्ग प्राप्त होता है। तत्त्वजिज्ञासु होने पर व्यक्ति अन्य निरर्थक प्रवृत्तियों से बच जाता है।

(६३०) शौचं स्थैर्यमदंभो वैराग्यं चात्मनिग्रहः कार्यः।
दृश्या भवगतदोषश्चिन्त्यं देहादि वैरूप्यम्।।४२।।

<u>अनुवाद -</u> शौच, स्थिरता, निष्कपटता, वैराग्य और आत्मनिग्रह करना, संसार के दोषों का दर्शन करना तथा देह आदि की विरूपता का चिंतन करना चाहिए।

<u>विशेषार्थ -</u> साधक को आत्मसाधना में प्रगति करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए ? उसी के सन्दर्भ में उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रस्तुत श्लोक में निम्नलिखित शिक्षाएँ प्रदान की है।

१. शौच - शौच अर्थात् पवित्रता। पवित्रता तीन प्रकार की होती है-मन, वचन और काया की पवित्रता। तन की शुद्धि तो स्नान आदि के द्वारा सरलतापूर्वक कर सकते हैं, किन्तु मात्र शरीर की शुद्धि हो और वाणी तथा मन की शुद्धि न हो तो अल्प भी आत्मविकास नहीं होता है। वाणी की कर्कशता और मन की मलिनता को दूर किए बिना काया से शुद्ध आचरण कर भी लो, तो वह आत्मविकास में सहायक नहीं है। कड़वी तुंबी जिस

प्रकार तीर्थों में स्नान करने से अपनी कटुता से मुक्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार काया की शुद्धता से या कायिक-आचरण की शुद्धता से आत्मा संसार से मुक्त नहीं हो सकती है। मन की मलिनता रखकर, चित्तवृत्तियों को दूषित रखकर अनेक बार शुद्ध संयम का काया से आचरण किया, फिर भी मुक्त नहीं हो सके। कायशुद्धि को एकान्त रूप से स्वीकार या अस्वीकार नहीं करना चाहिए। गृहस्थ और साधु की कायशुद्धि में भी अन्तर है। कितने ही धार्मिक-अनुष्ठानों में गृहस्थ के लिए भी कायशुद्धि की अपेक्षा नहीं है और कितने ही धार्मिक-अनुष्ठानों में व्यावहारिक और पारमार्थिक-दोनों दृष्टियों से कायशुद्धि को आवश्यक माना गया है। शरीर, वस्त्र, आसन, भूमि, उपकर आदि की शुद्धि बाह्य-शुद्धि है। प्रिय, हितकारी, अल्प तथा सत्यवचन से वाणी की शुद्धि प्राप्त होती है। कषायमुक्त कटुवचन, असत्य, अहितकारी वचन से वाणी अशुद्ध होती है, अप्रिय होती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ-ये चार भावनाएँ तथा अनित्य आदि बारह भावनाओं के चिंतन-मनन से मन की निर्मलता प्राप्त होती है। योगसाधना में मन-वचन-काया की शुद्धि आवश्यक मानी गई है।

२. **स्थिरता** - चंचलता का अभाव स्थिरता है। आत्म विकास को साधने के लिए स्थिरता का होना अत्यंत आवश्यक है। यह चित्त अत्यंत चंचल है इसको वश में करना अत्यंत कठिन है इसलिए कहा गया है कि 'जेणे मन जित्मुं तेने सघलुं जित्यु' चित्त यदि एकाग्र हो, किसी एक विषय में लगा हुआ हो तो अधिक शक्तिशाली बनता है। परंतु वह शुभ विषय में लगा हुआ होना चाहिए क्योंकि चित्त की एकाग्रता तो टी.वी. आदि देखने में या जुआँरी, शिकारी, बगुलों आदि को भी प्राप्त हो जाती है, परंतु अशुभ विषयों में चित्त की एकाग्रता आत्मघातक है और शुभ विषयों में चित्त की एकाग्रता आत्महितकारी है। अतः, मन को शुभध्यान, प्रभुभक्ति आदि में जोड़ देने से अभ्यास द्वारा एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की एकाग्रता आत्मसाधना में उपयोगी है।

३. **निष्कपटता** - मायाचार का अभाव। माया की प्रवृत्ति आत्मविकास में अत्यंत घातक है। अपने दोषों को ढंकने की वृत्ति, अपने दुर्भावों को छुपाने का प्रयत्न करने जैसा है। उससे अधिक श्रेष्ठ दिखने की प्रवृत्ति करना

मायाचार है। जिसके मन की प्रवृत्ति भिन्न, वचन भिन्न तथा काया की प्रवृत्ति भिन्न होती है वह मायावी कहलाता है। जैसे मन में किसी व्यक्ति के प्रति दुर्भाव हो लेकिन उसके समक्ष अत्यंत मधुर वचनों का प्रयोग करना काया से उसकीसेवा करना, यह माया है। कपट साधकों का सबसे बड़ा शत्रु है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो कपटी व्यक्ति स्वयं को ही छलता है, स्वयं का ही दुश्मन बनता है। सरलता, प्रामाणिकता आत्मविकास में सहायक है।

४. **वैराग्य** - वैराग्य अर्थात् संसार के प्रति आसक्ति का अभाव होना। संसार की असारता, क्षणभंगुरता जब समझ में आती है, पुनः-पुनः जन्म-मरण के भीषण दुःखों का अनुभव होता है, तब संसार को अर्थात् सांसारिक पदार्थ और सांसारिक सम्बन्धों का त्याग करने की भावना उत्पन्न होती है, वैराग्य का जन्म होता है। कई लोगों को क्षणिक वैराग्य उत्पन्न होता है, कई लोगों को स्थाई वैराग्य उत्पन्न होता है। शास्त्रकारों ने वैराग्य के तीन प्रकार बताएँ है - १. दुःखगर्भित २. मोहगर्भित और ३. ज्ञान गर्भित। वैराग्य की ग्रंथकार ने पूर्व में विस्तार से चर्चा कर दी है।

आत्मसाधना में ज्ञानगर्भित वैराग्य की ही प्रधानता है।

५. **आत्मनिग्रह** - साधक को आत्मनिग्रह करना चाहिए। अनादिकाल से जीव ऐन्द्रिक विषय भोगों का गुलाम बना हुआ है, कषायों से जकड़ा हुआ है। बहिर्मुखी बनकर बाह्य पदार्थों को भोगने में ही रत है। जब तक जीव बहिर्मुखी है तब तक अन्तर्मुखी नहीं बन सकता है। अंतर्मुख होने के लिए विषय और कषायों का त्याग आवश्यक है और विषय और कषाय से मुक्त होने के लिए मन और इन्द्रियों को जीतना आवश्यक है। प्रारंभिक अवस्था में इन्द्रियों का तप आदि द्वारा दमन करना चाहिए। जब अभ्यास बढ़ता जाता है तब मन और इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप से संय में आ जाती हैं। जिस प्रकार प्रशिक्षित घोड़ा सवार को परेशान नहीं करता है उसी प्रकार प्रशिक्षित इन्द्रियाँ और मन भी साधक को परेशान नहीं करते हैं। अतः आत्मसाधना में आत्मनिग्रह की अत्यंत आवश्यकता है। आत्मा का दमन करने वाला इस लोक में और परलोक में सुखी होता है।

६. साधक को संसार के दोषों का चिंतन करना चाहिए। जब तक संसार मन में बसा हुआ है, सांसारिक पदार्थों में सुख की कल्पना है तब तक

आत्मा के प्रति, मोक्ष के प्रति रुचि जाग्रत नहीं होती है। संसार अनेक विषमताओं से युक्त है। संसार की प्रत्येक घटना वैराग्य का पैदा करने वाली है। हजारों लाखों लोग संसार में प्रतिदिन मरते है और लाखों लोग प्रतिदिन जन्म धारण करते हैं। जो लोग इस नश्वर देह का त्याग करके जाते है साथ ही एकत्रित किए हुए कुछ भी पदार्थ नहीं ले जाते है। केवल पुण्य और पाप ही साथ में जाता है, और जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए आत्मा के शुद्धस्वरूप में अवस्थित होने के लिए पुण्य और पाप से भी मुक्त होना आवश्यक है। जन्म, जरा, मृत्यु, बुढ़ापा, दुःखों से भरपूर संसार में एक भी ऐसा गुण नहीं है कि जिसके लिए संसार में रहा जाए। अतः संसार को दोष युक्त जानकर उसे छोड़ने के लिए तत्पर बनना चाहिए।

७. देह की विरूपता - शरीर से राग का त्याग करने के लिए साधक को शरीर की विद्रुपता का चिंतन करना चाहिए। सामान्य लोगों को देह के साथ एकत्व बुद्धि होती है अर्थात् देह का होना ही अपना होना मानते है। देह आत्मा के भेद को जानकर देह की नश्वरता का चिंतन करना चाहिए। शरीर अशुचि और व्याधियों का घर है। जिस देह से अति प्रेम होता है, ममत्व होता है, वह देह अस्थि, रक्त, मांस, मज्जा आदि अशुचि पदार्थों से भरपूर है। ऊपर की चमड़ी को हटा दी जाए, तो स्वयं को ही स्वयं के शरीर से घृणा हो जाएगी। जैसे लहसुन अपनी स्वाभाविक गन्ध का त्याग नहीं करती है, उसी प्रकार शरीर को भी साबुन द्वारा धोया जाए या इत्र आदि से सुवासित किया जाए, यह अपनी स्वाभाविक दुर्गन्ध का त्याग नहीं करता है, शुद्ध नहीं होता है। आत्मविकास के इच्छुक साधक को इस प्रकार देह की विद्रुपता का विचार करके, देह के ममत्व का त्याग करना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को देह के प्रति गाढ़ आसक्ति होती है, परंतु देह की विरूपता का बार-बार विचार करना, जरावस्था आने पर इसकी जर्जरता का विचार करना, मृत्यु हो जाने पर इस नश्वर शरीर को किस तरह स्वयं के सम्बन्धी भी अग्नि को समर्पित कर देते हैं- इसका विचार करना चाहिए। भेदबुद्धि को पुष्ट करके, देह का ममत्वत्याग करके आत्मसाधना के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

(६३१) भक्तिर्भगवती धार्या सेव्यो देशः सदा विविक्तश्च।

स्थातव्यं सम्यक्त्वे विश्वस्यो न प्रमादरिपुः।।४३।।

<u>अनुवाद -</u> भगवान के प्रति भक्ति धारण करना, एकान्त स्थल का हमेशा सेवन करना, सम्यक्त्व में स्थिर रहना और प्रमादरूपी शत्रु का विश्वास नहीं करना चाहिए।

<u>**विशेषार्थ -**</u> मोक्ष के इच्छुक साधक को ग्रंथकार आगे और हितशिक्षा देते हुए कह रहे हैं कि साधक को जिनेश्वर के प्रति भक्ति, बहुमान रखना चाहिए। तीर्थंकर परमात्मा के प्रति निर्मल भक्ति जब तक हृदय में प्रकट नहीं होती है, तब तक आत्मा को भगवान् के स्वरूप में प्राप्त करना शक्य नहीं है। जन्म-जरा-मृत्यु से भयंकर बने हुए इस संसार में परमात्मा के सिवाय आत्मा की रक्षा करने वाला दूसरा कोई नहीं है। जैसे-जैसे परमात्मा के प्रति राग बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे विषयों से वैराग्य उत्पन्न होता जाएगा। परमात्मा की भक्ति से सुख में अलीनता, दुःख में अदीनता, चित्त की परम प्रसन्नता प्राप्त होती है। अपने सभी दोष सभी अशुद्धियों का नाश यह भक्तिरूपी मयूर कर सकता है, भक्तिरूपी दीपक कर सकता है। बावनाचंदन से युक्त वन में लाखों जहरीले सर्प हों, तो उन्हें एक-एक को पकड़कर दूर करने की अपेक्षा एक मोर को उस वन में लाकर छोड़ देने पर मोर की आवाज सुनते ही सारे सर्प भाग जाते हैं, उसी प्रकार अपने मन रूपी बावनाचंदन में लाखों दोषरूपी जहरीले सर्प हैं, उन्हे दूर करने के लिए तप, जप आदि इतने कामयाब नहीं होते हैं, जितने जिनेश्वर की भक्तिरूपी मयूर, जैसे ही जिनेश्वर की भक्तिरूपी मोर हृदय में प्रवेश करता है वैसे ही ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति आदि दोषरूपी सर्प भाग जाते हैं। जिनेश्वर की भक्ति दीपक के समान है दोषरूपी अंधकार को दूर करने के लिए जिनेश्वररूपी भक्ति का दीपक प्रगट कर देना चाहिए। मोक्षमार्ग का सबसे सरल और सुलभ उपाय परमानंद को प्रदान करने वाली प्रभुभक्ति का है। श्री हरिभद्रसूरीश्वर ने भक्तिमार्ग के लिए चार सोपान बताए हैं - १. प्रीतियोग- परमात्मा के प्रति असीम प्रीति होना चाहिए। २. भक्तियोग - भगवान के प्रति अनन्य निष्ठा, बहुमान, भक्ति होना चाहिए। 'मुक्ति से अधिक तुस भक्ति मुझ मन बसी' परमात्मा की भक्ति ही जीवन का सर्वस्व होना

चाहिए। भगवान की भक्ति के बिना चक्रवर्ती का जीवन भी तुच्छ है और परमात्मा की भक्ति के साथ झोपड़पट्टी में भी जन्म लेना श्रेष्ठ है। ३. वचनयोग - परमात्मा की वाणी के प्रति गहन रूचि और बहुमान भाव होना चाहिए। ४. असंगयोग - भगवार की भक्ति करते-करते भगवान से एकरूप हो जाना असंग योग है। प्रभु के प्रति शरणागति और समर्पण का भाव होना चाहिए।

२. साधक को हमेशा एकांत स्थल पसंद करना चाहिए। जिन्हें साधना करनी है उनहें अंतर्मुख बनना आवश्यक है और अन्तर्मुखी बनने के लिए एकान्त आवश्यक है। अन्य प्रवृत्तियों व्यक्तियों, भोगोपभोग के साधनों के मध्य रहने वाले प्रारंभिक दशा के साधक का चित्त बहिर्मुखी हुए बिना नहीं रहता है। आध्यात्मिक साधना में मन-वचन-काया के योग को संक्षिप्त तथा शुद्ध करना होता है। अतः उसके लिए एकान्त स्थल ही अनुकूल होता है। शांत, पवित्र, शुद्ध व एकान्त स्थल पर मन किसी विषय में आसानी से एकाग्र हो जाता है। साधक अभ्यास करते-करते जब उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है तब वह समुदाय में भी आत्मस्वरूप में रमण कर सकता है। परंतु जब तक ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं हो तब तक साधक को प्रायः एकान्त स्थल पर आत्मसाधना करनी चाहिए।

३. साधक को सम्यक्त्व में स्थिर रहना चाहिए। सम्यक्त्व की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाए, तो उसे अधिक निर्मल तथा स्थिर रखना अत्यंत कठिन है। कई बार सम्यक्त्व आकर चला जाता है। एक बार मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर साधक को सदा सावधान रहना चाहिए और सम्यक्त्व की सुरक्षा तथा शुद्धि के लिए उसे समकित के ६७ बोल का सेवन करना चाहिए।

४. प्रमादरूपी शत्रु का कदापि विश्वास नहीं करना चाहिए। मानसिक आलस्य, निष्क्रियता, उत्साह का अभाव, अकर्मण्यता आदि को व्यवहार से प्रमाद कहा जाता है। प्रमाद शारीरिक-अशक्ति और मन की निर्बलता के कारण होता है। प्रमाद की अवस्था में कार्य करने की भावना तो होती है, फिर भी मन करने के लिए तैयार नहीं होता है। ऐसी स्थिति का कई लोग अनुभव करते हैं, जैसे- परमात्मा की पूजा करने की भावना है, लेकिन

प्रमादवश परमात्मा के द्वार तक पहुँच नहीं सकते है, क्योंकि मन तैयार नहीं होता है। उस समय मन के अनुसार नहीं चलना चाहिए, बल्कि मन को धक्का मारकर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। निश्चयदृष्टि से प्रमाद, अर्थात् सांसारिक भावों में रहना, पौद्‌गलिक भावों में रहना। साधक को बाह्यभावों का त्याग करके निरन्तर आत्म साधना में रत रहना चाहिए। प्रमाद को जीवन का सबसे बड़ा शत्रु कहा गया है। एक सुभाषितकार ने कहा है -'प्रमादः एव मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।' छठे गुणस्थानक तक प्रमाद की उपस्थिति रहती है। शास्त्रकारों ने पाँच प्रकार के प्रमाद कहे है - निद्रा, विकथा, विषयसेवन, कषायसेवन और मदिरापान। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारों उग्र कषाय भी प्रमाद का ही एक अंग हैं।

प्रमाद आध्यात्मिक-चेतना को क्षीण कर देता है, अतः साधक को प्रमाद के प्रति निरंतर जागरूक रहना चाहिए, अर्थात् प्रमादरूपी चोर किसी रूप में भी हमारे अन्दर प्रवेश न कर जाए, इसकी पूर्णतः सावधानी रखना चाहिए।

(६३२) ध्येयात्मबोधनिष्ठा सर्वत्रैवागमः पुरस्कार्यः।
त्यक्तव्याः कुविकल्पाः स्थेयं वृद्धानुवृत्त्या च।।४४।।

<u>अनुवाद -</u> आत्मज्ञान की निष्ठा रखना, सर्वत्र आगम को आगे रखना कुविकल्पों का त्याग करना तथा वृद्धजनों का अनुसरण करना चाहिए।

विशेषार्थ - आत्मसाधक को हितशिक्षा के सन्दर्भ में चार हितशिक्षा निम्नानुसार दी गई है -

१. साधक को आत्मज्ञान की निष्ठा रखना चाहिए। आत्मज्ञान में श्रद्धा व विश्वास होना चाहिए। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अनंत बार वैभव, सत्ता, परिवार, पद, प्रतिष्ठा प्राप्त की है, परंतु कोई भी वस्तु उसे शाश्वत सुख प्रदान नहीं कर सकी, अतः व्यक्ति को प्राप्त करने योग्य आत्मज्ञान ही है। सभी सांसारिक-पदार्थ विनाशशील है, एक आत्मा ही त्रिकाल ध्रुव है। अतः साधक का एक ही ध्येय होना चाहिए कि किसी भी प्रकार आत्मानुभव, आत्मज्ञान प्राप्त करना है।

२. साधक को हर जगह आगम का आधार रखना चाहिए। आगम अर्थात् आप्त पुरुषों की वाणी, आगम अर्थात् परमात्मा की देशना। जब भी कोई शंका या प्रश्न उठे उसमें आगम को ही प्रमाण मानना चाहिए। क्योंकि यह सर्वज्ञ की वाणी है। हरिभद्रसूरीश्वरजी ने कहा है - अणाहा कहं हुंता न हुंतो जइ जिणागमो - यदि जिनागम नहीं होते तो हमारे जैसे अनाथ की क्या दशा होती ? जिनागम मोक्षमार्ग का आलंबन रूप है। उसी के द्वारा हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि तत्त्वों की जानकारी प्राप्त होती है। जिनागम कर्म निर्जरा का प्रमुख हेतु है।

३. कुविकल्पों का त्याग कर देना। मन में कई प्रकार के विचार आते रहते है। कई विचार तो सर्वथा निरर्थक होते है। मन एक जंगली पशु की तरह इधर-उधर चारों ओर भागता रहता है। यदि साधक सजग नहीं रहा और मन रूपी पशु को नियंत्रण में नहीं किया तो मन में दुष्टविचार भी उत्पन्न होकर अध्यवसायों को दूषित कर देते है। अतः ऐसे दुष्टविचार को चित्त में स्थिर नहीं रहने देना चाहिए। आर्तध्यान और रौद्रध्यान से सदा दूर रहना चाहिए और निरन्तर मन को शुभ ध्यान में जोड़े रखना चाहिए। दुष्ट विचारों के अनुरूप चाहे आचरण नहीं भी किया हो, बाह्य में प्रकट नहीं भी किया हो तो भी उन विचारों के कारण क्लिष्ट कर्म के बंधन हो जाते हैं। अतः साधक को सदा कुविकल्पों का त्याग करना चाहिए।

४. चतुर्थ हितशिक्षा है - वृद्ध पुरुषों का अनुसरण करना, उनकी आज्ञा में चलना, उनके बताए हुए मार्ग पर चलना। जो वयोवृद्ध हो, ज्ञान से वृद्ध हो, अनुभव से वृद्ध हो, उन वृद्धों के निर्देशन-अनुसार कार्य करना चाहिए। उनके पास व्यावहारिक-ज्ञान भी परिपक्व होता है, अतः वे सत्य एवं श्रेष्ठ मार्गदर्शन दे सकते हैं। यदि व्यक्ति मात्र उम्र से ही वृद्ध हो, अन्य योग्यता न हो, तो भी उसका आदर करना चाहिए। इससे उनके आशीर्वाद प्राप्त होते हैं, विनय तथा नम्रता के गुणों का विकास होता है।

(६३३) साक्षात्कार्यं तत्त्वं चिद्रूपानंदं मेदुरैर्भाव्यम्।
हितकारी ज्ञानवतामनुभववेद्यः प्रकारोऽयम्।।४५।।

<u>अनुवाद -</u> तत्त्व का साक्षात्कार करना, ज्ञानानंद की मस्ती में रहना चाहिए। अनुभव द्वारा जानने लायक ये प्रकार (हितशिक्षाएँ) ज्ञानियों के लिए हितकारी हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> अनुभव अधिकार के अंतिम श्लोक में ग्रंथकार ने अत्यंत उपयोगी दो हितशिक्षाएँ और प्रदान की हैं -

१. साधक को तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए। तत्त्व, अर्थात् आत्मतत्त्व। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है-आत्मा का अनुभव करना। यह कार्य अत्यंत कठिन है, किन्तु साधक जैसे-जैसे अपना अभ्यास बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उसे आत्मा और देह के मध्य रहा हुआ भेदज्ञान स्पष्ट होने लगता है तथा आत्मा का अनुभव होने लगता है। यदि साधक भीतर जाने का प्रयास ही नहीं करे, आत्मा को जानने का पुरुषार्थ ही नहीं करे और केवल बाह्य क्रियाएँ करता रहे तो उसकी साधना पूर्ण नहीं हो पाएगी। आध्यात्मिक मार्ग में आत्मसाक्षात्कार या आत्मदर्शन ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसके पश्चात् तो साधक क्रमशः प्रगति करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

२. उपाध्याय यशोविजयजी ने अंतिम शिक्षा देते हुए कहा है कि चिदानंद की मस्ती में रहना, ज्ञानानंद में मग्न रहना और आत्मा में रमण करना। आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि साधक को उच्च भूमिका पर पहुँचने पर ही होती है। आत्मसाक्षात्कार होने के बाद साधक को अन्य भौतिक पदार्थ तुच्छ, नीरस प्रतीत होते हैं। वह तो अपने अन्दर ही परम आनंद की अनुभूति करता है। आत्मदर्शन करने के पश्चात् ऊपर के गुणस्थानक पर आरोहण करने का बल प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार आत्मानुभव के इच्छुक साधक के लिए ग्रंथकार ने २६ हितशिक्षाएँ प्रदान की है।

----०००----

प्रबंध - सातवां

इक्कीसवां अधिकार - सज्जनस्तुति अधिकार

(६३४) येषां कैरवकुन्दवृन्दशशभृत्कर्पूरशुभ्रा गुणा।
मालिन्यं व्यपनीय चेतसि नृणां वैशद्यमातन्वते।।
सन्तः सन्तु मायि प्रसन्नमनसस्ते केऽपि गौणीकृत-
स्वार्था मुख्यपरोपकारविधयोऽत्युच्छृंखलैः किं खलैः।।१।।

<u>अनुवाद -</u> जिनके श्वेत कमल, कुंद पुष्प के समूह, चंद्र और कर्पूर के समान शुभ्र गुण मनुष्यों के चित्त की मलिनता को दूर करके विशुद्धता का विस्तार करते हैं, जो स्वार्थ का गौण करने वाले और परोपकार की प्रवृत्ति को मुख्य करने वाले हैं, वे संत मुझ पर प्रसन्न हों। फिर उच्छृंखल दुष्पुरुषों से क्या डरना ?

<u>विशेषार्थ -</u> ग्रंथकार ने ग्रंथ के अंतिम अधिकार में अध्यात्मरसिक सज्जनों की स्तुति की है। गुणानुरागी ग्रंथकार ने सज्जनों की स्तुति द्वारा अपने प्रमोदभाव को व्यक्त किया है।

सज्जन कैसे होते हैं ? उनके सद्‌गुणों का वर्णन करते हुए ग्रंथकार कहते है - इनके गुण श्वेत कमल जैसे कुंदपुष्प के समूह जैसे, चंद्र के प्रकाश के समान और कर्पूर जैसे शुभ्र होते हैं। उनके निर्मल गुणों में मन की मलिनता को दूर कर, विशुद्धता का विस्तार करने की शक्ति होती है। सज्जन पुरुष पारसमणि के समान होते है। लौहे के समान निर्गुणी व्यक्ति भी उनका स्पर्श पाकर, उनका सहवास पाकर स्वर्ण समान मूल्यवान् बन जाता है। अर्थात् सज्जनों के सम्पर्क से दुर्जनों में भी गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। निष्कारण करुणावंत सज्जन हमेशा निःस्वार्थ रूप से परोपकार की प्रवृत्ति में मग्न होते है। कहा गया है कि संत, सरोवर, तरु (वृक्ष) और मेघ-ये चारों निःस्वार्थभाव से लोगों पर उपकार करते हैं। सज्जन पुरुष स्वयं

अनेक कष्टों को सहन कर, सम्पर्क में आने वाले को ज्ञान व गुण की सम्पदा प्रदान कर उसे सुखी करते हैं। जहाँ भी सज्जन पुरुष उपस्थित होते हैं, वहाँ का वातावरण पवित्र, आनंदमय, उत्साहमय बन जाता है। सज्जनों के तप-त्याग, आचरण और भावों का प्रभाव ऐसा रहता है कि उनकी उपस्थिति में स्वार्थ, कपट, दुष्टता आदि ठहर नहीं सकते हैं। जब तक सज्जन पुरुषों की कृपा है, आशीर्वाद हैं, तब तक दुर्जनों से डरने की आवश्यकता ही नहीं है, इसलिए ग्रंथकार सज्जन पुरुषों से प्रार्थना करते हैं कि वे उन पर प्रसन्न होकर कृपावृष्टि करें।

(६३५) ग्रंथार्थान् प्रगुणीकरोति सुकविर्यत्नेन तेषां प्रथा-
मातन्वन्ति कृपाकटाक्षलहरीलावण्यतः सज्जनाः।।
माकन्दद्रुममंजरीं वितनुते चित्रा मधुश्रीस्ततः।
सौभाग्यं प्रथयन्ति पंचमचमत्कारेण पुंस्कोकिलाः।।२।।

अनुवाद - सुकवि प्रयत्नपूर्वक ग्रंथों के अर्थों को सरल करते हैं, सज्जन अपनी दिव्य कृपादृष्टि से उनकी (ग्रंथार्थों की) ख्याति को फैलाते हैं। सुंदर वसंतऋतु की लक्ष्मी आम्रवृक्ष की मंजरी का विस्तार करती है और बाद में कोकिल पंचमस्वर के चमत्कार द्वारा (आम्रवृक्ष के) सौभाग्य को फैलाती है (प्रसिद्धि करती है।)

विशेषार्थ - अच्छे ग्रंथ की रचना करना यह साधारण बात नहीं है। श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ की रचना करने के लिए छंद, अलंकार, शब्दों के विभिन्न अर्थों का ज्ञान, गहन अनुभव, हृदय की कोमलता का होना परम आवश्यक है। अच्छे कवि खूब पुरुषार्थपूर्वक प्रौढ़ अर्थगंभीर ग्रंथों की रचना करते हैं। एक-एक शब्द का चुनाव वे औचित्यपूर्वक करते हैं। सुंदर श्रेष्ठ अर्थपूर्ण रचना करने पर भी यदि उसका आदर न हो, तो कवि निराश हो जाता है। उसे अपना परिश्रम व्यर्थ लगता है। दुर्जन तो उत्तम ग्रंथ में भी दोषदृष्टि होने के कारण दोष ढूंढने का प्रयत्न करते हैं, परंतु सज्जन पुरुष ऐसे ग्रंथों को पढ़कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। वे ग्रंथ की ख्याति फैलाते हैं। अनेक लोगों के समक्ष उस ग्रंथ की प्रशंसा करते हैं और उसे पढ़ने के लिए उन्हें प्रेरित करते हैं। इस प्रकार वे ग्रंथ की चारों ओर प्रसिद्धि करते हैं। प्रस्तुत श्लोक में दृष्टांत दिया गया है कि वसंतऋतु जब आती है, तब

आम्रवृक्ष की टहनियों पर मनोहर मंजरियाँ (कलियाँ) आती हैं, परंतु कोयल के पंचमस्वर के आकर्षक स्वर से कलियों के सौभाग्य का विस्तार होता है। जगत् में अच्छी वस्तुओं का होना आवश्यक है और उस वस्तु की ख्याति फैलाने के लिए, उसकी अनुमोदना करने के लिए सज्जनों का होना भी आवश्यक है, क्योंकि सज्जन ही अपनी निर्मल दृष्टि व शुद्धभावों द्वारा उस वस्तु का या ग्रंथ का मूल्य आँक सकते हैं।

कोई भी कवि अपनी जो काव्यरचना करता है तो अनेक लोगों तक वह पहुँचे ऐसी उसके अंतर में भावना रहती है। परंतु उसे सभी लोगों के मध्य पहुँचाने का काम कौन करे ? यह काम सज्जन पुरुष ही कर सकते हैं। वे ही उस ग्रंथ की खुशबू को चारों ओर फैला सकते हैं। इस प्रकार कवि रचना करते है और सज्जन उस काव्य की प्रसिद्धि करते हैं। अतः गहन अभ्यास और चिंतन करके गंभीर अर्थयुक्त काव्यों की रचना को सामान्य लोगों तक पहुँचाने का कार्य सज्जनों के अनुग्रह के बिना संभव नहीं है। उनकी वात्सल्यमय, निर्मल, अभिदृष्टि यह कार्य करती है। जगत् में इस प्रकार परस्पर सहयोग से ही सत्कार्यों की सुवास फैलती है। जैसे वसंतऋतु का आगमन होता है, तब आम्रवृक्ष पर कलिकाएँ आती हैं, परंतु वसंतऋतु की प्रसिद्धि कौन करते है ? उत्साह और उमंग से युक्त कोकिल कलियों को देखते ही उसकी सुवास लेते ही वन, उपवन में मधुर स्वर से गायन करती है। कोकिल की आवाज से वसंतऋतु के आगमन की सूचना प्राप्त होती है। आम्र की कलियाँ और कोकिल का स्वर-इन दोनों का सुयोग वसंतऋतु की प्रसिद्धि करते हैं।

(६३६) दोषोल्लेखविषः खलाननबिलादुत्थाय कोपाज्ज्वलन्।
जिह्वाहिर्ननु कं गुणं न गुणिनां बालं क्षयं प्रापयेत्।।
न स्याच्चेत्प्रबलप्रभावभवनं दिव्यौषधी सन्निधौ।
शास्त्रार्थोपनिषद्विदां शुभहृदां कारूण्यपुण्यप्रथा।।३।।

<u>अनुवाद -</u> जो शास्त्रार्थ के रहस्यों को जानने वाले पवित्र हृदयवालों की कारुण्यरूपी पुण्य की प्रथा प्रबल प्रभाव वाले स्थानरूपी दिव्य औषधि पास में न हो, तो दोषों का उल्लेख करने वाला विषयुक्त क्रोधित, दुर्जनों के

मुखरूपी बिल में से निकला हुआ जिह्वारूपी सर्प गुणवानों के विकसित होते हुए किस गुण का क्षय न करे ?

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में इतने दुर्जन होते हुए भी गुणवान् पुरुषों के गुण किस प्रकार स्थिर रहते हैं ? जगत् में शुभ और अशुभ, इष्ट-अनिष्ट तत्त्व जिस प्रकार हैं, उसी प्रकार सज्जन और दुर्जन भी हैं। दुर्जनों का काम क्या है ? दुर्जन का स्वभाव इतना भयंकर होता है कि वह सज्जनों के गुणों को सहन नहीं कर सकता है, अतः वह दूसरों में दोषों की ही गवेषणा करता रहता है तथा उसकी कीर्ति को, प्रसिद्धि को नष्ट करने का प्रयास करता है। उसके मुख से निकले हुए निंदा, ईर्ष्या, द्वेष से युक्त कर्कश स्वर दूसरों के हृदय को जला देते हैं। दुर्जन के मुखरूपी बिल से निकला हुआ क्रोधरूपी सर्प, जिसको दंश देता है, उसे नष्ट कर देता है। इस विष का बड़े महापुरुषों पर तो प्रभाव कम पड़ता है, परंतु जो परिपक्व नहीं हैं, जिनका अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है, वे तो हताश हो जाते हैं, निराश हो जाते हैं। दुर्जनों की प्रवृत्ति से उनके विकसित होते हुए गुण तत्काल नष्ट हो जाते हैं। फिर भी दुर्जन व्यक्ति सज्जनों के सामने टिक नहीं सकता है, क्योंकि सज्जनों के पास शास्त्रार्थ को जानने वाले परोपकारी संतपुरुषों की करुणायुक्त कृपादृष्टिरूपी दिव्य औषधि रही हुई है। जहाँ दिव्य औषध हो, वहाँ विष अपना प्रभाव दिखाने में असमर्थ होता है, इसलिए इस जगत् में दुर्जन चाहे कितने भी हों, फिर भी संतपुरुष जब तक उपस्थित हैं, तब तक सज्जनों या गुणवानों के गुण सुरक्षित रहते हैं। उनके गुणों को दुर्जन नष्ट करने में समर्थ नहीं होते हैं। संतपुरुषों की कृपादृष्टि का दिव्य प्रभाव ही ऐसा होता है।

(६३७) **उत्तानार्थ गिरां स्वतोऽप्यवगमान्निः सारतां मेनिरे।**
गंभीरार्थसमर्थने बत खलाः काठिन्यदोषं ददुः।।
तत्को नाम गुणोऽस्तु कश्च सुकविः किं काव्यमित्यादिकां।
स्थित्युच्छेदमतिं हरन्ति नियतां दृष्टा व्यवस्थाः सताम्।।४।।

<u>अनुवाद -</u> जिसमें स्वयं समझी जा सके-ऐसी सरल अर्थ वाली वाणी हो, वहाँ दुर्जन कहते हैं कि 'यत तो निःसार है' और गंभीर अर्थ को व्यक्त करने वाली वाणी हो, तो कठिनता का दोष प्रदान करते हैं तो फिर गुण

किसको कहे ? सुकवि कौन ? सुकाव्य किसको कहें ? परंतु सत्पुरुषों की व्यवस्था (काव्य-विवेचन की उचित व्यवस्था) देखते हैं, देखते हैं तब (दुर्जनों की) उच्छेदक मति नष्ट हो जाती है।

<u>विशेषार्थ -</u> इस संसार में कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जिसे हर व्यक्ति या वस्तु में दोष ही दिखाई देता है। उनकी आदत या दृष्टि ही दोषों को ढूंढने की होती है। अतः उसे किसी भी स्थिति में संतोष नहीं होता है। वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ रचनाओं में भी दोष निकाल देता है। यदि काव्य जगत् का चिन्तन करें, तो कोई कवि समान्यजनों को दृष्टि समक्ष रखकर सरल भाषा में सुंदर काव्य की ऐसी रचना करें कि वह काव्य पढ़ते ही तुरंत समझा जा सके, जिसके अर्थ समझने में कठिनाई न हो तो उसे पढ़कर दुर्जन कहेगा - इस कविता में क्या है ? बिल्कुल सामान्य, निःसार है, तुच्छ है, ऐसी कविता तो कोई अनपढ़ या बालक भी लिख सकता ह। इस प्रकार वह कविता के उत्तर को ही गिरा देता है। दूसरी ओर, यदि किसी कवि ने कठिन, रहस्यमय, गूढ़ार्थयुक्त उत्तमोत्तम कविता की रचना की हो, तो उसे देखकर दुष्ट पुरुष कहता है - यह भी कोई कविता है, जो समझ में ही न आए, सिर ही चकरा जाए और अर्थ ऊपर से निकल जाए। ऐसी कविता का क्या अर्थ ? इस प्रकार दुष्ट पुरुषों को सरल कविता भी पंसद नहीं आती है और गूढ़ार्थ वाली कविता भी अच्छी नहीं लगती है। उनको दोनों में ही दोष नजर आता है। हर कविता में भूल ही दिखाई देती है। तब, यह प्रश्न उठता है कि यदि उनकी दृष्टि में सभी कविताएँ दोष से युक्त है तो काव्यगुण किसको कहे ? सुकवि की व्याख्या क्या हो ? तथा उत्तमोत्तम काव्य कैसा होता है ? जब ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते है तो यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार तो समग्र काव्य जगत् का ही उच्छेछ हो जाएगा। किसी को भी श्रेष्ठ कवि या काव्य नहीं कर सकेंगे। परंतु इस जगत् में ऐसे सज्जन लोग भी हैं और अच्छे विवेचक भी हैं, जिन्होंने कविताओं को परख तथा योग्य समर्थ दिया। उन्होंने काव्य की योग्य व्याख्याता की तथा काव्य साहित्य और उसके विवेचन की उचित व्यवस्था और परम्परा स्थापित की। अतः दुर्जनों की काव्य जगत् को नष्ट करने की उच्छेदक मति कुछ नहीं कर सकती है। परिणामस्वरूप, काव्यजगत् का कभी भी उच्छे नहीं हो सकता।

ऐसी आशा का जन्म होता है और कवि काव्य की रचना के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

(६३८) अध्यात्मामृतवर्षिणीमपि कथामापीय सन्तः सुखं।
गाहन्ते विषमुद्गिरन्ति तु खला वैषयमेतत्कुतः।।
नेदं चाद्भूतमिन्दुदीधितिपिबाः प्रीताश्चकोरा भृशं।
किं न स्युर्बल चक्रवाकतरूणास्त्वत्यन्तखेदातुराः।।५।।

<u>**अनुवाद -**</u> अध्यात्मरूपी अमृत की वर्षा करने वाली कथा का पान करके सज्जन पुरुष सुख का अनुभव करते हैं, जबकि दुर्जन विष का वमन करते हैं। इस प्रकार विषमता (विपरीतता) किस प्रकार होती है ? परंतु इसमें आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है। चंद्र की किरणों का पान करने से चकोर पक्षी अत्यंत आनंद का अनुभव करते हैं, परंतु क्या तरुण चक्रवाक और चक्रवाकी अत्यंत खेद से भयभीत नहीं हो जाते हैं ?

<u>**विशेषार्थ -**</u> प्रायः संसार के लोगों को पुद्गल की कहानी प्रिय लगती है, किन्तु आध्यात्मिक-बातों में सभी को रस नहीं आता है। पुद्गलानंदी जीवों को अध्यात्म जैसे गहन-गंभीर विषयों की चर्चा अप्रिय लगती है। अध्यात्मरूपी अमृत का पान करने के लिए योग्यता होना चाहिए। सज्जनों का स्वभाव है कि वे तात्त्विक-पदार्थों को सुनकर, गुणवान् व्यक्तियों को देखकर आनंद का अनुभव करते है। दुर्जन व्यक्तियों का इससे विपरीत स्वभाव है। वह अच्छी-से-अच्छी बात में भी दोष निकालते हैं, कुतर्क करते हैं। अध्यात्मरसिक अध्यात्मकथारूपी अमृत का पान करते हुए परमानंद का अनुभव करते हैं। भौतिक पदार्थों के रसिक उस अमृतमय कथा को सुनकर विष उगलते हैं, कुतर्क करते हैं, उसमें से दोष निकालते हैं तथा उसे अनुचित ठहराते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ग्रंथकार एक दृष्टान्त के माध्यम से बताते हैं कि जिस प्रकार पूर्णिमा के चंद्र की चाँदनी की अमृत-किरणों का पान करके चकोर पक्षी कितने सुख का अनुभव करता है, परंतु उसी समय चक्रवाक युगल की दशा ठीक इससे विपरीत होती है? वे अत्यंत दुःखी होते हैं, क्योंकि सूर्यास्त होते ही उनका विरह हो जाता है, इसलिए चन्द्र की शीतल चाँदनी भी उन्हें सुखकर नहीं होती है, बल्कि महासंतापकारी होती है। उसी प्रकार, अध्यात्मकथारूपी अमृत

सज्जनों को परमानंद प्रदान करने वाला होते हुए भी दुर्जनों के लिए संतापकारी है।

(६३६) किंचित्साम्यमवेक्ष्य ये विदधते काचेन्द्रनीलाभिदां।
तेषां न प्रमदावहा तनुधियां गूढा कविनां कृतिः।।
ये जानन्तिं विशेषमप्यविषमे रेखोपरेखांशतो।
वस्तुन्यस्तु सतामितः कृतधियां तेषा महानुत्सवः।।६।।

अनुवाद - जो कुछ समानता को देखकर काँच और इन्द्रनीलमणि के मध्य अभेद करते हैं, उन मंदबुद्धिवालों को कवियों की गूढ कृति आनंद प्रदान नहीं करती है। जो समान दिखने वाली वस्तुओं में सूक्ष्म भिन्नता (विशेषता) को भी जानते हैं उन बुद्धिमान् सत्पुरुषों के लिए वह कृति महोत्सवरूप, अर्थात् परमानंद प्रदान करने वाली हो जाती है।

विशेषार्थ :- प्रत्येक क्षेत्र में कितने ही मनुष्य सामान्य बुद्धि के और कितने ही विशेषज्ञ होते हैं। दोनों की वस्तु की परीक्षा करने की सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होती है। सामान्य बुद्धि वाले मनुष्य वस्तु के बाह्य स्वरूप को ही पहचान सकते हैं, परंतु वस्तु के अंतरंग गुणों की परीक्षा नहीं कर सकते है, किन्तु सूक्ष्मबुद्धि वाले लोग वस्तु के बाह्य-स्वरूप के साथ-साथ उसके अंतरंग गुणों को भी जान जाते हैं, जैसे- काँच और इन्द्रनील मणि दोनों समीप में रखे हों, तो सामान्य बुद्धि वाले बाहर से समान चमक एवं बनावट होने के कारण वे मणि को भी काँच के तुल्य मान लेते हैं, दोनों का मूल्य समान ही आँकते हैं। एक ग्वाले को यदि मणि प्राप्त भी हो जाए तो वह उसे चमकीला पत्थर मानकर बकरी के गले में बाँध देता है। परंतु उसकी कीमत नहीं आँक सकेगा। क्योंकि मणि को पहचानने की उसके पास सूक्ष्म बुद्धि नहीं है। अतः उसे प्राप्त करके भी प्रसन्नता नहीं होगी। उसी प्रकार उत्तम काव्य की पहचान करना सभी को नहीं आता है। कितने ही सामान्य बुद्धि के लोग तो गूढ़ रहस्यार्थ से युक्त श्रेष्ठ काव्य की रचना और सामान्य कविता दोनों को समान ही समझते है। जिस प्रकार रत्न की परीक्षा करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार काव्य की परीक्षा करने के लिए भी उसका विशेषज्ञ होना आवश्यक है। अल्प मतिवाले को गूढ़ार्थ वाली कविता अधिक आनंद प्रदान नहीं कर सकती है। जैसे

चित्रकला में एक-एक रेखा, उपरेखा के महत्त्व को समझने वाले विशेषज्ञ के चित्र को देखने से आनंद प्राप्त होता है, उसी प्रकार उत्तम काव्य रचना और प्रौढ़ अर्थयुक्त आध्यात्मिक रहस्यमय तत्त्वों से युक्त यह कृति योग्य व्यक्ति के लिए एक महोत्सव के समान है। काव्य का आनंद जगत् के भौतिक आनंद से कई गुना अधिक होता है।

(६४०) पूर्णाध्यात्मपदार्थसार्थ घटना चेतश्चमत्कारिणी।
मोहाच्छन्नदृशां भवेत्तनुधियां नो पंडितानामिव।।
काकुव्याकुल कामगर्वगहनप्रोद्दामवाक् चातुरी।
कामिन्याः प्रसभं प्रमोदयति न ग्राम्यान् विदग्धानिव।।७।।

<u>अनुवाद -</u> सम्पूर्ण अध्यात्म पदार्थ के अर्थ से युक्त रचना ज्ञानियों के चित्त को जिस तरह चमत्कृत करती है, वैसे ही (चमत्कार) मोह से जिसकी दृष्टि बंद है - ऐसे स्वल्प बुद्धिवाले को नहीं होता है। कामिनीओं की विशिष्ट उच्चारवाली उक्ति द्वारा व्याकुल और कामना के मद द्वारा गहन और मधुर वाक्चातुरी चतुर पुरुषों को जिस प्रकार अत्यंत आनंद प्रदान करने वाली होती है, वैसी ग्रामीण लोगों को नहीं होती है।

<u>विशेषार्थ -</u> संवेदनशील हृदयवाला व्यक्ति ही कविता की रचना कर सकता है। कविता को समझने के लिए भी संवेदनशील हृदय चाहिए। जिन पर से मोह का परदा उठ गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को अध्यात्म के विषय की गूढ़ अर्थ से युक्त कविताएँ जितना आनंद प्रदान करती हैं, उतना आनंद मोहांध अज्ञानी व्यक्ति को प्रदान नहीं करती हैं। काव्य के सर्जन करने के लिए जिस प्रकार उच्च्व सर्जक प्रतिभा का होना आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य को समझने के लिए भी सहृदयता और भावों की विशुद्धि का होना आवश्यक है। आध्यात्मिक-कविता को समझने के लिए विद्वत्ता की आवश्यकता भी रहती है, अतः आध्यात्मिक-पदार्थ वाली कविता मूढ व्यक्ति को रुचिकर नहीं लगती है। जिसकी जिसमें रुचि नहीं होती है, वह बात उसे समझ में नहीं आती है और न ही वह उसे आनंद प्रदान करती है, जैसे-शिक्षकगण को व्यापार-उद्योग की बातों में रुचि नहीं होगी तथा वैसी बातो में उन्हें आनंद नहीं आएगा। प्रस्तुत श्लोक में दृष्टांत दिया गया कि

कामिनीयों का वाक्चातुर्य, शृंगाररसिक वार्ता चतुर पुरुष को जिस प्रकार का रसानुभव कराती है वैसा रसानुभव अनपढ़ ग्रामीणजन को नहीं होता है।

(६४१) स्नात्वा सिद्धान्तकुंडे विधुकरविशदाध्यात्मपानीयपूरै।
स्तापं संसारदुःखं कलिकलुषमलं लोभतृष्णां च हित्वा।।
जाता ये शुद्धरूपाः शमदमशुचिताचंदनालिप्तगात्राः।
शीलालंकारसाराः सकलगुणनिधान् सज्जनांस्तान्नमामः।।८।।

<u>अनुवाद -</u> चंद्रकिरण जैसे निर्मल अध्यात्मरूपी जल के समूह द्वारा सिद्धांतकुंड में स्नान करके ताप का, संसार के दुःख का, कलह का, पापरूपी मल का तथा लोभरूपी तृष्णा का त्याग करके जो शुद्ध हुए हैं और शम, दम, पवित्रतारूपी चंदन के द्वारा जिसने अपने अंगों का विलेपन किया है तथा शीलरूपी अलंकार धारण किए हैं- ऐसे सकल गुणों के भण्डार सज्जनों को हम नमन करते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने सज्जनों की महिमा दर्शाई है। ये सज्जन सिद्धांत रूपी कुंड में स्नान करते हैं। उस कुंड में चंद्र के समान निर्मल अध्यात्म रूपी जल है अर्थात् सज्जन ज्ञानी पुरुष तत्त्वज्ञान से भरपूर, गहन आध्यात्मिक-विषयों के चिंतन-मनन में अपने चित्त को लगाए रखते हैं, इस कारण उनको अनेक आभ्यांतरिक लाभ होते हैं। जिस तरह शीतल जल में स्नान करने से शरीर की शुद्धि होती है, मल दूर होता है और ताजगी का अनुभव होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषयों में चित्त को एकाग्र रखने से, सांसारिक-संताप, चिंताएँ दूर हो जाती है। आध्यात्मिक व्यक्तियों को सांसारिक-प्रतिकूलताएँ विचलित नहीं करती है। उनमें उद्वेग-खेद आदि उत्पन्न नहीं होते हैं। वे सदा प्रसन्नमना रहते है। उनके हृदय में कलह को स्थान नहीं होता है, क्योंकि वे किसी बात का आग्रह नहीं रखते है। अपनी भूल को वे तुरंत स्वीकार कर लेते है, दूसरों के दोषों को देखते नहीं है। कलह से वे सदा दूर रहते हैं। उनका पापमल भी दूर हो जाता है क्योंकि वे संसार में, पौद्गलिक पदार्थों में आसक्त नहीं होते है। उनमें प्रायः इच्छाओं का अभाव सा होता है अतः लोभरूपी तृष्णा का भी उनमें प्रवेश नहीं होता है। जिस प्रकार स्नान के बाद विलोपन किया जाता है और शरीर को विभिन्न अलंकारों से सुशोभित किया जाता है उसी प्रकार

सज्जन पुरुष शम, दम और पवित्रता रूपी चंदन का लेप अपने शरीर पर करते हैं, अर्थात् वे कषायों का उपशम करते हैं तथा इन्द्रियों को नियंत्रण में रखते है तथा सदाचारी होते हैं, शील तथा संयम के अलंकारों से सुशोभित होते है। तप, त्याग, व्रत, आचार-विचार की पवित्रता उनके आत्मविकास में सहायक होती हैं। वे शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करते हैं। समुद्र जिस तरह रत्नों का भंडार होता है, उसी तरह सज्जन पुरुष सकल गुणरूपी रत्नों के भंडार होते हैं। ऐसे सज्जन पुरुषों को हम भावपूर्वक नमस्कार करते हैं।

(६४२) पाथोदः पद्यबंधैविपुलरसभरं वर्षति ग्रंथकर्ता।
प्रेम्णां पूरैस्तु चेतः सर इह सुहृदां प्लाप्यते वेगवद्भिः।।
त्रुट्यन्ति स्वान्तबंधाः पुनरसमगुणद्वेषिणां दुर्जनानां।
चित्रं भावज्ञनेत्रात् प्रणयरसवशान्निः सरत्यश्रुनीरम्।।६।।

<u>अनुवाद -</u> ग्रंथकर्त्तारूपी मेघ पद्यों की रचना द्वारा विपुल रस के समूह की वृष्टि करते हैं और सज्जनों (सुहृदों) के चित्त-सरोवर वेगवाले प्रेम के पूर से भर जाते हैं। उस समय असाधारण गुण द्वेषी दुर्जनों के हृदय के बांध टूट जाते हैं, परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि तब भावज्ञ उनके नेत्रों से प्रणयरस-वश होने के कारण अश्रु रूपी नीर बहने लगता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि उत्तम ग्रंथकर्त्ता की श्रेष्ठ रचना में कितनी सामर्थ्य होती है ? सज्जनों तथा दुर्जनों के ऊपर उनकी किस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है ? यहाँ ग्रंथकर्त्ता को मेघ के रूप में बताया गया है तथा उनके द्वारा की गई पद्यों की रचना को मेघवृष्टि की उपमा दी गई है। जिस प्रकार घनघोर मेघ जब पूर्ण सामर्थ्य के साथ बरसते है तब नदियाँ, सरोवर सब उबरने लगते है, कई बार बांध के ऊपर से पानी बहने लगता है। अधिक बारिश में कई बांध खण्डित भी हो जाते हैं। उसी प्रकार ग्रंथकर्त्तारूपी मेघ के द्वारा श्रेष्ठ पद्यरचनारूपी वृष्टि की जाती है तब सज्जनों के चित्तरूपी सरोवर प्रेमरूपी पूर से उभरने लगते हैं तथा दुर्जनों के हृदयरूपी बाँध खण्डित हो जाते हैं कहने का तात्पर्य यह है कि जो गुण के द्वेषी हैं, जिन्हें हर वस्तु में मात्र दोष ही दिखाई देते हैं, अच्छी रचनाओं को पढ़कर या देखकर भी उनको आनंद नहीं होता है, वे उसमें भी त्रुटियाँ निकालने का प्रयत्न करते हैं, परंतु दुर्जन हमेशा दुर्जन नहीं रहते

है। कई श्रेष्ठ काव्यों में दुर्जनों के हृदय को भी परिवर्तित करने की, द्रवित करने की सामर्थ्य होती है। महान् कवि की श्रेष्ठ कृति दुर्जनों के हृदय को संवेदनशील बना देती है। उनके हृदय में रही हुई पूर्वाग्रह, कदाग्रहरूपी ग्रंथियाँ टूट जाती है। वे भावुक होकर काव्य का रसास्वादन लेने लगते है। काव्य की धारा में इतना सामर्थ्य है कि वह दुर्जनों के हृदयरूपी बाँध को भी तोड़ देती है और काव्य का रस दुर्जनों के हृदय में भी प्रवेश कर जाता है। भावों से उनका हृदय आर्द्र बन जाता है और दुर्जनों के नयनों से भी हर्ष के अश्रु बहने लगते हैं। सज्जनों के नयनों से, काव्य के रसास्वाद से हर्ष के अश्रु बहें- यह तो स्वाभाविक है, किंतु दुर्जनों के नयनों से हर्ष के अश्रु बहें, तो यह आश्चर्यकारी है। श्रेष्ठ काव्यों की महिमा अपरंपार है। उनमें व्यक्ति के हृदय को परिवर्तन करने की सामर्थ्य रही हुई है।

(६४३) **उद्दामग्रंथभावप्रथनभवयशः संचयः सत्कवीनां।**
क्षीराब्धिर्मथ्यते यः सहृदय विबुधैर्मेरुणा वर्णनेन।।
एतडिंडीरपिंडी भवति विधुरुचेर्मंडलं विप्रुषस्ता।
स्तारा: कैलासशैलादय इह दधते वीचिपिक्षोभलीलाम्।।१०।।

<u>अनुवाद -</u> कठिन ग्रंथों के भावों को विस्तृत करने से सत्कवियों के यश-संचयरूपी क्षीर समुद्र का सहृदय पंडित वर्णनरूपी मेरु द्वारा मंथन करते हैं। उसमें से उत्पन्न हुआ झाग (मक्खन) का समूह चन्द्रकान्ति के मंडल रूप में शोभित होता है, उसके उछले हुए बिंदु वे तारे तथा (क्षीरसमुद्र की) उछलती हुई तरंगे कैलाशपर्वत आदि बनते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में सत्कवियों द्वारा जो महान् कार्य किया जाता है, उसकी महिमा का वर्णन विभिन्न उपमाओं द्वारा किया गया है। उत्तम कवि अध्यात्म के उत्कृष्ट और प्रौढ़ ग्रंथों के रहस्यों को कविता द्वारा प्रकाशित करते हैं। इससे सत्कवियों का यश चारों ओर फैलता है। उनका यश अत्यंत विस्तृत तथा निर्मल होने से उसे क्षीर समुद्र की उपमा दी गई है। काव्य ग्रंथ के वर्णन द्वारा, उसकी प्रशंसा द्वारा यशरूपी क्षीरसमुद्र का मंथन सज्जन पुरुष करते हैं। यदि क्षीरसमुद्र का मंथन करना हो तो मथानी भी मेरू के समान चाहिए। यहाँ यश क्षीरसमुद्र है और पंडितों के द्वारा वर्णन या विवेचनरूपी मेरू द्वारा उसका मंथन किया जाता है। जब

प्रशंसारूपी मेरु से यशरूपी क्षीरसमुद्र का मंथन किया जाए तो उस समय चारों ओर झाग-झाग के बिंदु उड़ते हैं और नवनीत या मक्खन के रूप में ऊपर आ जाते हैं। झाग के समूह या मक्खन को चंद्र की उपमा दी गई तथा बिंदुओं को तारों की उपमा दी गई है। यह मंथन सामान्य नहीं है, क्षीरसमुद्र का मंथन है। इस मंथन के समय समुद्र की लहरें ऊपर तक उछलती हैं। जहाँ इसका श्वेत जल गिरता है, वहाँ सभी ओर श्वेत-श्वेत हो जाता है। हिमाच्छादित कैलाश पर्वत सर्वोच्च है। यह श्वेत है, क्योंकि इसके ऊपर क्षीरसमुद्र की तरंगों के उछलने से झाग-झाग के रूप में श्वेत जल गिरता है। इस प्रकार सत्कवि के सर्वोत्तम ग्रंथ का उज्ज्वल यश पृथ्वी पर चारों ओर फैल जाता है।

तात्पर्य यह है कि पंडित पुरुष काव्य का विवेचन करके, उसकी प्रशंसा करके चारों ओर उसके यश को फैलाते हैं। जहाँ पंडित पुरुष काव्य की प्रशंसा करते हैं, वहाँ तो यश मक्खनरूप में सघन होता है, किन्तु उसके छींटे तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर उड़ जाते हैं।

(६४४) काव्यं दृष्ट्वा कवीनां हृतममृतमिति स्वः सदां पानशंकी।
खेदं धते तु मूर्ध्ना मृदुतरहृदयः सज्जनो व्याधुतेन।।
ज्ञात्वा सर्वोपभोग्यं प्रसृमरमथ तत्कीर्तिपीयूषपूरं।
नित्यं रक्षापिधानानियतमतितरां मोदते च स्मितेन।।११।।

<u>अनुवाद -</u> अत्यंत कोमल हृदयवाले सज्जन कवियों के काव्य को देखकर 'अरे इसने तो देवों के अमृत का हरण कर लिया है अब देव क्या पीएंगे ?' इस प्रकार शंकित होकर मस्तक को धुनाकर खेदित होते है परंतु उसकी (काव्य की) कीर्तिरूपी अमृत का पूर तो सभी को (मनुष्य और देव) उपभोग करने योग्य है। यह बढ़ता ही जाता है। इसके स्वामित्व और पिधान (ढंककर रखने का) का कोई नियम नहीं है-यह जानकर वे स्मित सहित हमेशा अत्यंत आनंद को प्राप्त करते है।

<u>विशेषार्थ :-</u> काव्य को धरती का अमृत कहा गया है। काव्य में जिन रसों का निरूपण किया जाता है, वे रस सांसारिक स्थूल, क्षुद्र रसों की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठ हैं। जिस काव्यकृति में अध्यात्मरस का निरूपण योग्य ढंग से किया गया है, उसमें अध्यात्म रसिक सज्जन पुरुषों का चित्त एकाग्र

हो जाता है, उनका आर्तध्यान या रौद्रध्यान नष्ट हो जाता है। ऐसी काव्यकृतियाँ जन्म-जरा-मरण का नाश करने में सहायक होती हैं। जहाँ अमृत तत्त्व होता है वहाँ जन्म-मरण का भय नहीं होता है। इसलिए श्रेष्ठ आध्यात्मिक काव्य कृतियों को अमृत की उपमा दी गई है। ऐसी श्रेष्ठ काव्यकृतियों की रचना करने वाले कवियों ने भी प्रथम तो स्वयं ने आध्यात्मिक अमृत का पान किया, उसका रसास्वादन किया, उसके बाद उस अमृत को अपनी रचनाओं में उतारा। ऐसी उत्तम काव्य रचना को देखकर उदार हृदयवाले सज्जनों को पहले तो यह शंका हो जाती है कि इस कवि ने अमृत का पान करके, उसे कविताओं के रूप में परिणत कर दिया, अब देव क्या पीयेंगे ? देवों का अमृत इस कवि ने चोर लिया है या छीन लिया है। इस प्रकार के विचार से वे खेदित होते हैं किन्तु जब वे देखते हैं कि कविताओं में अमृत सीमित नहीं है वह तो उभर रहा है, फैल रहा है, इसको कितना भी पान किया जाए यह खत्म नहीं होता है। देव भी इस अमृत का पान कर सकते हैं। काव्यामृत तो सर्वभोग्य है। देव क्या पीयेंगे इस प्रकार की शंका ही व्यर्थ है। इस काव्यामृत पर किसी का भी स्वामित्व नहीं है। इसका रक्षण करने की या छुपाने की, गुप्त रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह नष्ट होने वाला नहीं है, यह सोचकर सज्जन पुरुष अत्यंत आनंदित हो जाते हैं।

(६४५) निष्पाद्य श्लोककुंभं निपुणनयमृदा कुंभकाराः कवीन्द्रा।
दाढ्र्यं चारोप्य तस्मिन् किमपि परिचयात्सत्परीक्षार्कभासाम्।।
पक्वं कुर्वन्ति बाढं गुणहरणमति प्रज्ज्वलद्दोषदृष्टि-।
ज्वालामालाकराले खलजनवचनज्वाल जिह्वे निवेश्य।।१२।।

<u>अनुवाद -</u> कवीन्द्ररूपी कुंभकार ने निपुणनयरूपी मिट्टी द्वारा श्लोक रूपी घटों का निर्माण करके सत्परीक्षारूपी सूर्य किरणों के ताप से उनमें दृढ़ता का आरोपण किया है। फिर गुणों का हरण करने वाली प्रज्ज्वलित दोषदृष्टिरूप ज्वाला के समूह से भयंकर बनी हुई दुष्ट पुरुष के वचन की ज्वाला रूपी जीभ में रखकर उसे परिपक्व बनाते हैं।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में कवि को कुंभकार की उपमा दी गई है। जिस प्रकार कुंभार अपनी इच्छा के अनुसार विविध प्रकार के घटों का निर्माण करता है, उसी प्रकार कवि अपनी कल्पना के अनुरूप विविध प्रकार

के श्लोकरूपी कुंभ की रचना करता है। जिस प्रकार कुंभकार घट निर्माण के पूर्व मिट्टी की परीक्षा करता है। किस प्रकार की मिट्टी से घट, अच्छा बनेगा, पक्का बनेगा ? इसके लिए चिकनी एवं योग्य मिट्टी का चुनाव करता है। उसमें छिद्र न रह जाय उसका भी ध्यान रखता है, उसी प्रकार कवि भी श्लोकरूपी कुंभ का निर्माण करने के लिए निपुण नयरूपी मिट्टी का उपयोग करता है, अर्थात् वह अपने श्लोक की रचना इस प्रकार करते हैं कि भिन्न-भिन्न नय से उसकी परीक्षा की जाए, तो भी उसमें कुछ दोष नजर न आए। कवि स्याद्वाद शैली का आश्रय लेता है। वह शब्दों का चुनाव, विविध छंद, अलंकार आदि द्वारा कविताओं को सुंदर शब्द व भावाकृति में ढालता है। उसके पश्चात् वह किसी समर्थ काव्य परीक्षक रूपी सूर्य को बताते है ताकि उसमें कुछ भी दोष रह न जाए। कुंभार भी घट का निर्माण करके उन्हें सूर्य के प्रखर ताप में रखता है जिससे वे दृढ़ हो जाते हैं और फिर वे टेढ़े-मेढ़े अर्थात् विद्रूप नहीं होते है। फिर कुंभार घड़ों को निंभाड़े में रखता है, जिससे अग्नि की ज्वालाओं को सहन करके वे बिल्कुल परिपक्व हो जाते है। कवि भी अपनी काव्य रचना को परिपक्व बनाता है। दुर्जन, निंदक, दोषदृष्टि वाले, टीका करने वाले, उसके ऊपर स्वयं की अग्नि ज्वाला जैसी दृष्टि घुमाते है परंतु उसमें कुछ भी दोष या अपरिपक्वता नजर नहीं आती है। उस काव्य रचना को दुर्जन पुरुष भी जीव्हा द्वारा उच्चारण करके उसे परिपक्व बना देते है। तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ काव्यकृति सज्जन और दुर्जन दोनों की परीक्षा में सफल होती और अपनी सुदृढ़ता, परिपक्वता, सरसता का परिचय देती है। सज्जनों की दृष्टि सूर्य के समान है और दुर्जनों की दृष्टि अग्नि ज्वाला के समान है। घड़ो को पक्का बनाने के लिए सूर्य के प्रकाश और अग्नि की ज्वाला दोनों की आवश्यकता रहती है। महान कवियों की काव्य रचना काव्यवस्तु और काव्यशैली दोनों ही दृष्टि से श्रेष्ठ होती है।

(६४६) इक्षुद्राक्षारसौघः कविजनवचनं दुर्जनास्याग्नियंत्रा।
न्नानार्थद्रव्ययोगात्समुपचितगुणो मद्यतां याति सद्य।।
सन्तः पीत्वा यदुच्चैर्दधति हृदि मुदं घूर्णयन्त्यक्षियुग्मं।
स्वैरं हर्षप्रकर्षादपि च विदधते नृत्यगान प्रबंधम्।।१३।।

अनुवाद - कवियों के वचनरूप गन्ने व द्राक्षा के रस का समूह दुर्जन के (मुखरूपी) अग्नियंत्र द्वारा विविध प्रकार के अर्थरूपी द्रव्यों के योग से गुण की वृद्धि प्राप्त करके तत्काल मद्यरूप बन जाता है। सज्जन उसका पान करके, हृदय में अत्यंत आनंद प्राप्त करके दोनों आँखो को घुमाते हैं और हर्ष के अतिरेक के कारण स्वच्छंदता से नृत्य और गान का प्रबंध करते है।

विशेषार्थ - प्रस्तुत श्लोक में काव्य रस को गन्ने तथा द्राक्षरस की उपमा दी गई है। काव्य रस भी गन्ने और द्राक्षा के रस के समान मधुर होता है। जिस प्रकार द्राक्षा या गन्ने के रस को मुख में रखते ही मधुरता का आस्वादन लिया जा सकता है, उसी प्रकार माधुर्य रस वाली, सरल, सहज कविताओं को पढ़ते ही आनंद प्राप्त होता है। कविजन का वचन इक्षु और द्राक्षा के समूह जैसा है परंतु इन कविताओं के प्रति दुर्जनों की दोषदृष्टि रहती है। वे उसमें त्रुटियाँ निकालते है, परंतु एक अपेक्षा से दुर्जन भी हितकारी है। उसके द्वारा बताए गए दोषों का परिशोधन करने के बाद काव्य विशेष प्रभावशाली हो जाता है। ग्रंथकार ने दुर्जनों को अग्नियंत्र के समान माना है। इक्षु या द्राक्षा के रस को उबाला जाए, तो उसमें से अशुद्धि निकल जाती है और विविध द्रव्यों का उसमें मिश्रण किया जाता है, तो वह उत्तम पेय के रूप में काम आता है। उसका आसेवन करने पर मनुष्य को आनंद होता है, उसे कुछ नशा सा आ जाता है और वह नृत्य, गान करने लगता है। उसी प्रकार परिशुद्ध और दुर्जनों के अग्नियंत्र द्वारा परिपक्व काव्य रस का पान करने से सज्जन पुरुष नाचने लगते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सज्जन पुरुष श्रेष्ठ कविताओं को पढ़कर इतने आनंदित हो जाते हैं कि हर्ष का अतिरेक उनसे सहन नहीं होता है और वे नृत्य तथा गान के रूप में अपने हर्षातिरेक को अभिव्यक्त करते हैं।

प्राचीनकाल में श्रेष्ठ कवियों द्वारा निर्मित एक-एक श्लोक को सुनकर काव्यरसिक राजा उनको लाखो रुपयों का पुरस्कार प्रदान करता था।

श्रेष्ठ कविताएँ मद्यरूप होती हैं, अर्थात् उसमें इतनी मधुरता होती है कि सज्जन उसमें डूब जाते हैं, एकाग्र हो जाते हैं। उनको पढ़कर उत्साहित हो जाते हैं।

(६४७) **नव्योऽस्माकं प्रबंधोऽप्यनणुगुणभृतां सज्जनानां प्रभावात्।**
विख्यातः स्यादितीमे हितकरणविधौ प्रार्थनीया न किं नः।।
निष्णाता वा स्वतस्ते रविरूचय इवांभोरूहाणां गुणना-।
मुल्लासेऽपेक्षणीयो न खलु पररूचेः क्वापि तेषां स्वभावः।।१४।।

<u>अनुवाद -</u> हमारा यह प्रबंध (ग्रंथ-रचना) नवीन होने पर भी महागुणवान् सज्जनों के प्रभाव से प्रसिद्धि को प्राप्त करता है, इसलिए हमारी हितकारी कार्यविधि में क्या वे प्रार्थनीय (प्रार्थना करने योग्य) नहीं हैं ? (अवश्य हैं) अथवा सूर्य की किरणें जिस तरह कमलों को विकसित करती हैं उसी प्रकार वे (सज्जन) गुणों का विस्तार करने में स्वयं ही निपुण है, क्योंकि पररूचि की अर्थात् अन्य की इच्छा की अपेक्षा वाला उनका स्वभाव कभी नहीं होता है।

<u>विशेषार्थ -</u> प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार द्वारा यह अभिव्यक्त किया गया कि उनका यह प्रबंध (ग्रंथ) बिल्कुल नवीन है। प्रत्येक सर्जक को अपनी नवीन रचना लोगों के मध्य पहुँचाने के भाव होते है। कवि काव्य रचना करता ही इसलिए है कि स्व के साथ-साथ अन्य लोग भी उसका रसास्वादन करें। पुनः यह ग्रंथ का गहन तत्त्व मीमांसा का ग्रंथ है अतः ऐसे महाग्रंथ को सज्जनों के हाथ में रखकर उनका अभिप्राय जानने की इच्छा होती है, क्योंकि वे लोग ही उसका वास्तविक मूल्य आँक सकते है, उसकी प्रशंसा कर सकते हैं। उनके मुख से प्रशंसा सुनकर कवि को यह अनुभव होता है कि उनकी मेहनत सफल हुई है। ग्रंथकार यहाँ प्रश्न उठा रहे है कि गुण सम्पन्न सज्जनों के प्रभाव से यह ग्रंथ प्रसिद्ध हो, इसकी ख्याति फैले, इसके लिए क्या उनको प्रार्थना नहीं कर सकते है ? परंतु उनको प्रार्थना करने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि गुणानुरागी महापुरुष किसी की प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना ही स्वयमेव ही उस ग्रंथ की प्रसिद्धि के कार्य में रत रहते है। उनको जो ग्रंथ अच्छा लगता है उसकी अनुमोदना, उसकी चर्चा वे अन्य लोगों के समक्ष किए बिना नहीं रहते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर ग्रंथ की

प्रसिद्धि फैलती जाती है। सत्पुरुषों का यह लक्षण है कि अच्छे कार्य का प्रारंभ करने के लिए वे किसी के कहने की अपेक्षा नहीं रखते हैं। सूर्य के उदय होने पर कमल खिल जाता है, विकसित हो जाता है परंतु सूर्य कभी यह विचार नहीं करता कि पहले कमल मुझे प्रार्थना करे फिर मैं अपने प्रकाश को प्रदान करूं। वह तो निःस्वार्थ भाव से बिना किसी अपेक्षा के प्रकाश प्रदान करता है क्योंकि सूर्य का स्वभाव ही इतना उदार है। उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी हृदय से अत्यंत सरल एवं उदार होते है। वे ऐसी भावना नहीं रखते हैं कि कोई अपनी इच्छा को उनके समक्ष प्रकट करे उनसे प्रार्थना करें फिर वे उस कार्य को करें। वे तो निरपेक्ष और निःस्वार्थ होते हैं। दूसरों के गुणों को देखकर वे स्वयमेव प्रमोदभाव व्यक्त करते है। उल्लासपूर्वक वे उस गुण की प्रसिद्धि करते हैं।

(९४८) **यत्कीर्तिस्फूर्तिगानाबहितसुरवधूवृन्दकोलाहलेन।**
प्रक्षुब्धस्वर्गसिंधोः पतितजलभरैः क्षालितः शैत्यमेति।।
अश्रान्तभ्रान्तकान्तग्रहगण किरणैस्तापवान् स्वर्णशैलो।
भ्राजन्ते ते मुनीन्द्रा नयविजयबुधाः सज्जनव्रातधुर्याः।।१५।।

<u>अनुवाद</u> - सज्जनों के समूह में धुरी के समान मुनीन्द्र श्री नयविजयजी विबुध कैसे शोभित हो रहे है ? उनकी कीर्ति की महिमा का गान गाने में तल्लीन ऐसी देवांगनाओं के समूह के कोलाहल के कारण स्वर्ग की गंगा में पूर आ गया। इस कारण से उसमें से बहकर नीचे गिरे हुए जल के समूह (भार) से धुलकर मेरूपर्वत शीतल हो गया है, जो लगातार भ्रमण करते हुए सूर्य और ग्रहों की किरणों द्वारा बहुत तप्त हो गया था।

<u>विशेषार्थ</u> - भारतीय कवियों में अपनी कृति के अंत में अपने गुरु भगवंतों की, दादागुरुओं (गुरु के गुरु) की महिमा का गुणगान करने की प्राचीन परंपरा है। ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रस्तुत श्लोक में अपने गुरुभगवंत गणिवर्य श्री नयविजयश्री की महिमा का भक्तिभावपूर्वक गुणगान किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उनका अपने गुरु के प्रति कितना समर्पण भाव, बहुमानभाव होगा। मनोहर कल्पना द्वारा उन्होंने अपनी गुरु की महिमा को दर्शाया है। वे कहते है कि उनके गुरु श्रीनयविजयजी सज्जनों के समूह में अग्रेसर है, प्रमुख है। अतः उनकी कीर्ति भी चारों ओर फैली

हुई है केवल तिर्च्छालोक में ही नहीं बल्कि ऊर्ध्वलोक में भी स्वर्ग की देवांगनाएँ भी उनका गुणगान करने में मग्न हैं। वे उनका गुणगान करते हुए थकती नहीं हैं। वे समूहरूप में एकत्रित होकर उच्च्व स्वरों से उनके गुणों के विषय में चर्चा करती हैं। उस समय इतना अधिक कोलाहल होता है कि स्वर्गलोक की गंगा नदी में भी भारी उफान आ जाता है। इन नदियों का जल नीचे पृथ्वीलोक पर गिरता है। जब मेरुपर्वत के ऊपर जल गिरता है तो मेरुपर्वत धुल जाता है, साफ हो जाता है तथा शीतलता का अनुभव करता है। सूर्य तथा अन्य ग्रह मनुष्यलोक में मेरुपर्वत के आस-पास लगातार परिभ्रमण करते रहते हैं। इससे मेरुपर्वत अत्यंत तप्त हो गया, अतः उसे शीतल करने के लिए स्वर्ग की गंगा का उफान उस पर गिरा और उसकी तप्तता को दूर किया। ऐसी श्रीनयविजयजी की महिमा का अद्‌भुत प्रभाव है। उनकी महिमा का गुणगान करते हुए संसार के संतप्त प्राणी भी शीतलता का अनुभव करते हैं।

(९४९) चक्रे प्रकरणमेतत्पदसेवापरो यशोविजयः।
अध्यात्मधृतरूचीनामिदमानंदावहं भवतु।।१६।।

<u>अनुवाद -</u> ऐसे (गुरुभगवंत के) चरणों की सेवा में तत्पर यशोविजयजी ने इस प्रकरण की रचना की है। अध्यात्म में रुचि रखने वालों को यह आनंद प्रदान करने वाला हो।

<u>**विशेषार्थ -**</u> ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी की गुरुभक्ति भी अनुमोदनीय है। वे अपने चरणों की सेवा में, उनकी आज्ञा का पालन करने में सदैव तत्पर रहते थे। वे अपने प्रत्येक कार्य या रचना की सफलता का राज गुरुकृपा बता रहे हैं। गुरुकृपा वह चाबी है, जिससे सफलता के प्रत्येक द्वार खुल जाते हैं। यशोविजयजी ने अपनी प्रत्येक रचना में गुरु का स्मरण सतत रखा, उनके उपकारों को कभी भी विस्मृत नहीं किया। उनके गुरु गणिवर्य नयविजयजी का उनके प्रति अपार वात्सल्य था। उन्होंने यशोविजयजी द्वारा लिखित कितनी ही रचनाओं की हस्तप्रति तैयार की। अध्यात्मसार जैसे ग्रंथ की रचना करना अत्यंत कठिन है। संस्कृत में श्लोकों की रचना करना ही कठिन है, उसमें भी तत्त्व की बाते प्रवाहबद्ध रूप से साढ़े नौ सौ श्लोकों में दर्शाना एक महान् विद्वान् का कार्य ही हो सकता है।

ग्रंथकार ने इसमें सभी दर्शनों के मंतव्य को दर्शाकर उनके साथ जैनदर्शन का समन्वय स्थापित किया है। एकान्तवाद का सुंदर ढंग से उच्छेद करके स्याद्वाद की महत्ता को दर्शाया है। वैराग्यवर्धक विषयों को भी अत्यंत मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होंने अपने अनुभवों को भी दर्शाया है। श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा अन्य शास्त्रों का दोहन करके व्यवहारनय और निश्चयनय-दोनों की महत्ता को दर्शाया है। प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा ग्रंथकार के गहन अभ्यास, चिंतन-मनन उनकी ग्रहणशक्ति, स्मृति आदि कितनी तीव्र तथा सूक्ष्म होगी, यह स्वतः प्रतीत होता है। इस ग्रंथ में कितने ही शास्त्रों का सार है।

उपाध्याय यशोविजयजी जिस प्रकार बहुश्रुत, तत्त्वज्ञ थे, उसी प्रकार श्रेष्ठ कवि भी थे। ग्रंथ के कितने ही श्लोकों में एक श्रेष्ठ कवि की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। उनके द्वारा दी गई विविध उपमाएँ, रूपक आदि अलंकार सहित पदों में तत्त्वज्ञान और काव्य-तत्त्व के सुभग समन्वय का अनुभव कर सकते हैं। उनकी कल्पनाशक्ति और कवित्व-शक्ति इस ग्रंथ के अंतिम अधिकार में तो प्रत्येक श्लोक में हम देख सकते हैं।

ग्रंथ का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार ने अभिव्यक्त किया है कि गुरुकृपा से ही इस ग्रंथ की रचना संभव हुई है। इस ग्रंथ की रचना करने में जो आनंद ग्रंथकार ने अनुभव किया, वही परमानंद इस अध्यात्म-ग्रंथ में श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, रुचि रखने वाले को भी हो। ग्रंथकार ने ऐसे अद्भुत समर्थ ग्रंथ की रचना करके हम जैसे अल्पज्ञ लोगों पर अत्यंत उपकार किया है। खास तो उन लोगों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी है, जो अध्यात्म के प्यासे हैं, जिन्हें सामान्य जीवन से ऊपर उठकर एक साधक के जीवन में प्रवेश करने की आकांक्षा है।

--------oo--------

अध्यात्म एवं ज्ञान साधना का अनुपम केन्द्र

प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीछ के 18 विद्यार्थी जैन विश्व भारती लाडनू एवं विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से पी–एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, शोधार्थी कार्यरत हैं एवं डॉ. सागरमल जैन के निर्देशन में तैयार 21 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म एवं दर्शन आदि के लगभग 10,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्त लिखित पाण्डुलिपियाँ है। यहाँ 40 पत्र–पत्रिकाएँ भी नियमित आती है।

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन –अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्यों के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

सुविशाल गच्छाधिपति साहित्य मनीषी राष्ट्रसंत आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. द्वारा रचित ज्ञानवर्धक् साहित्य

1. जीवन ऐसा हो,
2. कर्म प्रकृति
3. नरक द्वार– रात्रि भोजन
4. जीवन धन
5. आध्यात्मिक विकास की पूर्णता एवं भूमिकाएं
6. मिला प्रकाशः खिला बसंत
7. मनवा पल पल बीती जाय
8. अरिहंते शरणं पवज्जामि
9. जीवन साधना, जीवन सौरभ
10. नवकार आराधना
11. नमो मन से नमो तन से
12. राजेन्द्र कोश में अ
13. जयन्त प्रवचन सरिता,
14. जयन्त प्रवचन निधि
15. जयन्त प्रवचन परिमल ,
16. जयन्त प्रवचन वाटिका
17. नवकार करे भवपार
18. कर्म सिद्धांत एक अनुशीलन
19. शीलत्व की सौरभ
20. मैं जानता हूँ
21. इसमें क्या शक है ?
22. अनोखी सलाह
23. किस्मत की बात
24. भाग्योदय
25. स्वर्ण प्रभा
26. आत्म दर्पण
27. पारसमणि
28. जीवन मंत्र
29. चिंतन निधि
30. अप्पो दीवो भव
31. जगमग ज्योति
32. मानस मोती
33. जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन
34. पानसर तीर्थ
35. भगवान महावीर ने क्या कहा ?
36. गुरुदेव
37. परमयोगी परम ज्ञानी
38. परम योगी श्रीमद् राजेन्द्र सूरि
39. चिर प्रवासी (मुक्तक ... जयन्तसेन सतसई, आदि आदि।

इनके अतिरिक्त पूजा सा... और प्रेरणा से प्रकाशित साहित्य।

प्राप्ति स्थान

श्री राज राजेन्द्र तीर्थ दर्शन ट्रस्ट, जयन्त सेन, म्युजियम
श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, राजगढ़, जिला धार (म.प्र.)

Design & Print at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720, 98276-77780, 98272-42489